ऊ

ऋ

समालोचनाएं

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन

[खण्ड १ : इतिहास और परम्परा]

लेखक :

मुनि श्री नगराजजी, डी० लिट्०

अणुव्रत-परामर्शक

भूमिका :

डॉ० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

डीन, कलासंकाय, कोल्हापुर विश्वविद्यालय

अध्यक्ष : अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन (अलीगढ़, १९६७)

एक अवलोकन :

डॉ० पं० सुखलालजी संघवी, डी० लिट्०

सम्पादक :

मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय',

बी० एस-सी० (ऑनर्स)

प्रकाशक :

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

प्रबन्ध सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया

प्रकाशक :
साहित्य प्रकाशन समिति
(जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा)
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१

प्रथम संस्करण :
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, सं० २०२६
३१ मार्च १९६९

पृष्ठ संख्या :
८३३

मूल्य :
रु० २५.००

मुद्रक :
न्यू रोशन प्रिन्टिंग वर्क्स
३१/१, लोअर चितपुर रोड
कलकत्ता-१

ĀGAMA AURA TRIPITAKA : EKA ANUSILANA

(A Critical Study of the Jaina and the Buddhist Canonical Literature)

[VOLUME 1 : HISTORY & TRADITION]

By

MUNI SHRI NAGARAJAJI, D. Litt.

Adviser Anuvrat Movement

Preface by

Dr. A. N. **Upadhye**, M.A., D. Litt.,

Dean of the Faculty of Arts, Kolhapur University

and

Chairman of the All India oriental conference, Aligarh, 1967.

A review by

Dr. Pt. Sukhalalji, D. Litt.

Formerly professor of Jaina Philosophy, Banaras Hindu University.

Edited by

Muni Shri Mahendra Kumarji "Pratham"

Muni Shri Mahendra Kumarji "Dviteeya",

B. Sc. (Hons.)

Published by

Jain Swetambar Terapanthi Mahasabha

3, Portuguese Church Street

CALCUTTA-1

प्रकाशकीय

महासभा 'आगम साहित्य प्रकाशन समिति' एवं 'साहित्य प्रकाशन समिति' इन दो विभागों के माध्यम से क्रमशः विभिन्न दृष्टियों से सम्पादित जैन आगम एवं अन्य जैन ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना में कुछ वर्षों से संलग्न है। स्वल्प-काल में महासभा द्वारा अद्यावधि ५१ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जो शोध-खोज, तटस्थ विशद विवेचन एवं सर्वाङ्गीण सम्पादन एवं सुन्दर साजसज्जा के कारण विद्वत् समाज में अत्यन्त उल्लास के साथ आदृत है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की शृंखला में एक अभिनव कड़ी है और महासभा के चरणों को एक नयी दिशा एवं प्रगति प्रदान करता है।

महासभा के प्रकाशनों में परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी की सर्व धर्म समभाव की व्यापक दृष्टि प्रसार पाए हुए है। वह दृष्टि उनके प्रसाद से मुनि श्री नगराजजी के इस महान् ग्रन्थ में अत्यन्त मुखरित हुई है। डॉ० उपाध्ये, डी० लिट्, पं० सुखलालजी संघवी, डी० लिट्० आदि के द्वारा ग्रन्थ का स्वागत हुआ, वह इस ग्रन्थ की महत्ता और विशिष्टता का सहज अंकन है। इस ग्रन्थ में चर्चित मुद्दे नए न भी हों पर उनकी समीक्षा और निष्कर्ष सर्वथा अपूर्व हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण-काल विषयक निर्णय और घटित-घटनाओं की परस्पर संगति सम्बन्धी निर्णय इतिहास के उलझे पृष्ठों की गुत्थियों को अत्यन्त कुशलता से सुलझा देते हैं। ग्रन्थ के पृष्ठ धैर्यपूर्ण अथक परिश्रम के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

हिन्दी ही नहीं, अपितु विदेशी भाषाओं में भी इस विषय के उपलब्ध ग्रन्थों में यह ग्रन्थ शिरोमणि रूप से उद्भासित होगा। निश्चय ही यह ग्रन्थ विद्वान् एवं साधारण पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा और भगवान् महावीर और बुद्ध के विषय में नये-नये तथ्य उपस्थित करेगा।

हिसार (पंजाब) के माघ-महोत्सव के अवसर पर (जनवरी, १९६६) मुनि श्री के सामीप्य में मुझे इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और मैं मुग्ध हो गया। मन में आया कि यह ग्रन्थ महासभा से प्रकाशित हो पाये तो यह उसके लिए अत्यन्त गौरव की बात हो। इस इच्छा की पूर्ति का अवसर भी प्राप्त हुआ। ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य सन् १९६७ में प्रारम्भ हुआ। उस समय के साहित्य समिति के संयोजक श्री सम्पतकुमारजी गधैया ने शुरू से ही मुद्रण-कार्य की देख-भाल मुझ पर छोड़ी। उनके द्वारा शुरू किया हुआ कार्य अब मेरे संयोजन-काल में सम्पूर्ण हो पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। कार्य की समाप्ति पर अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ।

ग्रन्थ की अन्तिम सामग्री तो मार्च १९६९ में ही प्राप्त हुई। महासभा के प्रेस की कठिनाइयों के कारण प्रकाशन में विलम्ब का अवसर उपस्थित था। इसी बीच मुनि श्री नगराजजी को कानपुर विश्वविद्यालय की ओर से डी० लिट्० की उपाधि द्वारा सम्मानित किया गया और बम्बई में इस सम्मान के उपलक्ष में एक विशिष्ट आयोजन ता० ६-४-६९ को सम्पन्न होने की सूचना प्राप्त हुई और यह आवश्यक हुआ कि ग्रन्थ जैसे भी हो उस अवसर पर प्रकाशित हो सके और उसका उद्घाटन समारोह भी उस अवसर पर सम्भव हो। श्री शोभाचन्दजी सुराना के सहयोग से रेफिल आर्ट प्रेस के माध्यम से कार्य समय पर सम्पन्न हो पाया इसके लिए मैं उनके प्रति आभारी हूँ। महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का दिन तो मेरे लिए कसौटी का ही दिन था। इस प्रकाशकीय का श्रीगणेश ही कर पाया था कि उस दिन सुबह ११ बजे मेरी धर्मपत्नी का स्वर्गवास हो गया। ग्रन्थ-विषयक अभिप्रायों को संकुचित ही रखता हुआ इसको समाप्त कर रहा हूँ।

९ बी, मदन चटर्जी लेन,
कलकत्ता-७
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, सं० २०२६

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक
साहित्य प्रकाशन समिति

आशीर्वचन

मैंने कुछ वर्ष पहले मुनि नगराज को जैन और बौद्ध धर्म के तुलनात्मक अध्ययन का निर्देश दिया था। उस निर्देश का उन्होंने हृदय और बुद्धि दोनों से पालन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ उसका स्वयंभू साक्ष्य है। इस ग्रन्थ में अध्ययन, मनन और चिन्तन तीनों का सुन्दर समन्वय है।

मैं समन्वय की नीति में विश्वास करता हूँ। उसकी पुष्टि धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से ही हो सकती है। दृष्टि की संकुचित सीमाओं को निर्बन्ध करने का इससे उत्तम कोई उपाय नहीं है।

मुनि नगराज ने प्रस्तुत ग्रन्थ लिखकर तुलनात्मक अध्ययन करने वालों का पथ प्रशस्त किया है। इससे जैन और बौद्ध दोनों धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले बहुत लाभान्वित हो सकेंगे। बौद्ध विद्वानों व भिक्षुओं के लिये यह अधिक काम का होगा; क्योंकि वे जैन साहित्य से कम परिचित हैं।

दोहन के बिना दूध नहीं मिलता और मन्थन के बिना नवनीत नहीं मिलता। प्राचीन आर्ष साहित्य के दोहन-मन्थन के लिए मेरी तीव्र आकांक्षा है। मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति शुभाशंसा प्रकट करता हूँ और चाहता हूँ कि वे भविष्य में इसी कोटि के अन्य ग्रन्थ भी प्रस्तुत करें।

कोचीन
३० मार्च '६९

आचार्य तुलसी

FOREWORD

Muni Shri Nagarajaji is a well-known author. He possesses a first hand knowledge of Jainism and of the Jaina way of life. He has a scholarly temper and an earnest desire to widen the horizon of his studies and the boundaries of his knowledge. He passīonately pursues the Anuvrata ideology with a view to making it intelligible to others, in comparison with modern ideas as well as in the back-ground of Jainism. He is one of those few authors who have tried to study Jain concepts in the light of modern science.

Shri Nagarajaji's present work "*Āgama aur Tripitaka: Eka Anuśīlana* (in hindi)" is, as indicated by its title, an exhaustive study of the Āgama, also known as Ganipitaka, of the Jainas and the Tripitaka of the Buddhists, putting together some common topics on which our attention is being focussed. Buddha and Mahāvīra have been great contemporaries ; and, as the Tripitaka reveals, there were other teachers in that age such as Purna Kāśyapa, Makkhali Gośāla, Ajitakeśa Kambala, Prakudha Kātyāyana and Saṃjayabelattha Putra. The Jain canon also gives a few details about them. Gośāla was a remarkable saint of that age ; but, unluckily, his doctrines have not come down to us by themselves. We do not possess any scriptures of the Ājivaka system : all that we know about it is from the Jaina and Buddhist sources. Muni Shri Nagarajaji gives exhaustive details about these teachers and their tenets.

It is well-known that there is plenty of disparate evidence and conflicting traditional information as well as a plethora of controversy amongst scholars about the dates of the Nirvāna of Buddha and Māhavīra. Shri Nagarajaji has surveyed, in this respect, all the accessible material and dīfferent traditions, specifying duly the śources etc., and his conclusion that Māhavīra attained Nirvāna in 527 B.C. and Buddha in 502 B. C. seems to be quite consistent in itself. Then he presents the lives of Māhavīra and Buddha in their various aspects and in exhaustive details. Biographies of their eminent pupils are succinctly given and quite welcome light is shed on contemporary kings like Srenika Bimbisāra, Kunika, Chanda Pradyota, Prasenajit, Chetaka and others. He has significantly reviewed important topics, doctrinal as well as moral, connected with Jainism and Buddhism as available in the canons.

In fine, this work has become a veritable respositary of useful information on Māhavīra and Buddha, their times and doctrines. The appendix gives some useful extracts from the Tripitaka for ready reference.

Muni Shrī Nagarajaji has earned our gratitude by presenting his study in such a thorough manner. Our thanks are also due to publishers who have neatly brought out this volume.

Dhavalā,
Kolhapur-1
16-11-67

A. N. Upadhye
(Dean of the Faculty of Arts,
University of Kolhapur)

भूमिका

मुनि श्री नगराजजी एक सुविख्यात लेखक हैं। जैन दर्शन और जैन आचार का उनका अपना मौलिक ज्ञान है। उनकी विद्वत्ता स्वभाव-सिद्ध है। उनमें अपने अध्ययन और ज्ञान के क्षितिज को विस्तृत करने की प्रबल उत्कण्ठा है। जैन दर्शन की पृष्ठभूमि में व आधुनिक विचार-प्रणालियों के सन्दर्भ में अणुव्रत-जीवन-दर्शन को जन-जन के लिए बुद्धिगम्य बनाने के लिए वे उत्कट रूप से प्रयत्नशील हैं। आप उन विरल लेखकों में से एक हैं, जिन्होंने जैन विचार का आधुनिक विज्ञान के आलोक में अध्ययन किया है।

जैसे कि शीर्षक से सूचित होता है, मुनि श्री नगराजजी का प्रस्तुत ग्रन्थ "आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन" जैन आगमों अर्थात् गणिपिटकों तथा बौद्ध त्रिपिटकों के एक सर्वाङ्गीण अध्ययन के रूप में है। इसमें दोनों परम्पराओं के समान विषयों की तुलना के द्वारा हमारा ध्यान केन्द्रित किया गया है। बुद्ध और महावीर दो महान् समसामयिक व्यक्ति थे। उस युग में पूरण काश्यप, मक्खली गोशाल, अजित केशकम्बल, प्रक्रुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्र; ये अन्य भी धर्मप्रवर्तक थे, ऐसा त्रिपिटक बताते हैं। जैन शास्त्र भी उनके विषय में कुछ अवगति देते हैं। गोशालक उस युग के एक उल्लेखनीय धर्मनायक थे। किन्तु दुर्भाग्य से उनकी मान्यताएँ प्रत्यक्षतः हमारे तक नहीं पहुँच रही हैं। वर्तमान युग में आजीवक सम्प्रदाय का कोई भी धर्म-शास्त्र उपलब्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में हम जो कुछ जानते हैं, वह जैन और बौद्ध शास्त्रों पर ही आधारित है। मुनि श्री नगराजजी इन धर्म-प्रवर्तकों तथा उनके सिद्धान्तों के विषय में परिपूर्ण जानकारी देते हैं।

यह एक सुविदित तथ्य है कि महावीर और बुद्ध के निर्वाण-काल के विषय में बहुत सारे परस्पर विरोधी प्रमाण उपलब्ध होते हैं तथा इस विषय में अनेक विवादपूर्ण पारस्परिक मान्यताएँ प्रचलित हैं। विद्वानों में भी इस विषय पर अत्यधिक मतभेद है। मुनि श्री नगराजजी ने इस सम्बन्ध में उपलब्ध समग्र सामग्री का एवं विभिन्न परम्पराओं का सर्वेक्षण किया है। उन्होंने इनके मूलभूत उद्गम आदि के विषय में भी यथोचित रूप से स्पष्टता की है। उनका निर्णय है कि महावीर ५२७ ई० पू० में तथा बुद्ध ५०२ ई० पू० में निर्वाण-प्राप्त हुए थे। प्रस्तुत निर्णय अपने आप में सब प्रकार संगत लगता है। आगे उन्होंने महावीर और बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत एवं सर्वाङ्गीण प्रकाश डाला है। तदनन्तर दोनों के प्रमुख शिष्य-शिष्याओं की संक्षिप्त जीवनी दी गई है। इसके बाद महावीर और बुद्ध के समकालीन राजा; जैसे श्रेणिक बिम्बिसार, कूणिक, चण्डप्रद्योत,

प्रसेनजित्, चेटक आदि पर बहुत ही श्लाघनीय प्रकाश डाला गया है। अगले प्रकरणों में शास्त्रों में उपलब्ध होने वाले जैन धर्म और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित सिद्धान्त-विषयक एवं आचार-विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अत्यन्त सारगर्भित समीक्षा की गई है।

थोड़े में कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ महावीर और बुद्ध एवं उनके युग व सिद्धान्तों की उपयोगी सूचनाओं का वस्तुतः ही एक भरा-पूरा भण्डार है। ग्रन्थ के परिशिष्ट में त्रिपिटकों के कुछ पाठ तात्कालिक सुलभता की दृष्टि से दिये गये हैं।

मुनि श्री नगराजजी ने अपने अध्ययन को इस प्रकार परिपूर्ण रूप में प्रस्तुत कर हमें कृतज्ञ किया है। ग्रन्थ की स्वच्छता व शालीनता के लिए प्रकाशक भी हमारी बधाई के पात्र हैं।

धवला
कोल्हापुर-१
१६-११-१९६७

ए० एन० उपाध्ये
(अध्यक्ष, कला-संकाय
कोल्हापुर विश्वविद्यालय)

एक अवलोकन

मुनि श्री नगराजजी द्वारा लिखित **'आगम और त्रिपिटक: एक अनुशीलन'** ग्रन्थ का श्रवण कर मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। मुनि श्री ने त्रिपिटक-साहित्य के जितने अवतरणों का अवलोकन व संकलन किया है, वह बहुत श्रमसाध्य एवं अपूर्व है। ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी बन पाया है। ग्रन्थ में चर्चित अनेक पहलुओं पर स्वतंत्र निबन्ध लिखे जा सकते हैं, ऐसा मैंने मुनि श्री को सुझाया भी है। जैन और बौद्ध परम्परा का तुलनात्मक अनुशीलन एक व्यापक विषय है। इस दिशा में विभिन्न लेखकों द्वारा पहले भी स्फुट रूप से लिखा जाता रहा है। मुनि श्री ने तीन खण्डों की परिकल्पना से इस कार्य को उठाया है, यह अपने-आप में प्रथम है। इस ग्रन्थ का पारायण मेरे समक्ष लगभग तीन सप्ताह चला। इस सन्दर्भ में मुनि श्री नगराजजी एवं मुनि श्री महेन्द्रकुमार जी 'द्वितीय' से सम्बन्धित पहलुओं पर विस्तृत चर्चा भी होती रही। मैं उनके मूल-स्पर्शी अध्ययन एवं तटस्थ चिन्तन से भी प्रसन्न हुआ। 'इतिहास और परम्परा' खण्ड के श्रवण से मेरे मन में जिन विचारों का उद्भव हुआ तथा जो धारणाएँ बनीं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण और श्रमण; इन दो धाराओं में अनेकविध भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ब्राह्मण संस्कृति में जहाँ हिंसामय यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड, भाषा-शुद्धि, मंत्र-शुद्धि आदि को प्रधानता दी गई है, वहाँ ये सभी पहलू श्रमण-संस्कृति में गौण रहे हैं। जैन और बौद्ध—श्रमण-संस्कृति की इन दोनों धाराओं में इस दृष्टि से बहुत अभिन्नता पाई जाती है। इन दोनों में वेदों की अपौरुषेयता को चुनौती दी गई है तथा जातिवाद की तात्त्विकता अमान्य रही है। मुख्यतः प्रधानता संयम, ध्यान आदि को दी गई है। गृहस्थ उपासकों की दृष्टि भी संयम की ओर अधिक रही है। ऐसे अनेक पहलू हैं जो इन दोनों श्रमण-धाराओं में समान रहे हैं।

महावीर (निगण्ठ नातपुत्त) और बुद्ध के अतिरिक्त पूरण काश्यप, अजित केशकम्बल, संजय वेलट्ठिपुत्त, मक्खली गोशालक व प्रकुध कच्चायन के नाम उस युग के श्रमण-नायकों के रूप में उपलब्ध होते हैं। बौद्धों के पालि-त्रिपिटकों में इनके परिचय एवं उनकी मान्यताओं के सम्बन्ध से विस्तृत ब्यौरा मिलता है। पर दुर्भाग्यवश आज हमें बुद्ध व निगण्ठ नातपुत्त को छोड़कर अन्य किसी श्रमण-नायक का संघ व साहित्य उपलब्ध नहीं होता है। बौद्ध ग्रन्थों में जो समुल्लेख निगण्ठ नातपुत्त व उनके शिष्यों से सम्बन्धित मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है

कि महावीर बुद्ध के युग में एक प्रतिष्ठित तीर्थङ्कर के रूप में थे व उनका निर्ग्रन्थ-संघ भी बृहत् एवं सक्रिय था।

समग्र बौद्ध-साहित्य में ऐसे इक्कावन समुल्लेख प्राप्त होते हैं[1], जिनमें बत्तीस तो मूल त्रिपिटकों के हैं, **मज्झिम निकाय** में दश, **दीघ निकाय** में चार, **अंगुत्तर निकाय** व **संयुत्त निकाय** में सात-सात, **सुत्त निपात** में दो एवं **विनयपिटक** में दो संदर्भ प्राप्त होते हैं। इन समुल्लेखों में विविध विषयों पर बुद्ध व निर्ग्रन्थों के बीच की चर्चाएँ, घटनाएँ व उल्लेख हैं।

कुछ सन्दर्भों में आचार-विषयक चर्चा की गई है, जिनमें मुख्य रूप से निर्ग्रन्थों के चातुर्याम संवर का विषय है। प्राणातिपात, मृषावाद, चौर्य व अब्रह्मचर्य की निवृत्ति रूप चार याम बताये गये हैं[2] तथा कहीं-कहीं कच्चे वारि व पापों की निवृत्ति के चार याम बताये गये हैं।[3] एक सन्दर्भ में भाषा विवेक की चर्चा है, जिसमें दूसरों को अप्रिय लगे ऐसे वचन बुद्ध बोल सकते हैं या नहीं—यह प्रश्न उठाया गया है।[4] मांसाहार की चर्चा में निर्ग्रन्थों द्वारा उद्दिष्ट मांस की निन्दा की गई है।[5] एक प्रसंग में साधु के आचार व बाह्य वेष के सम्बन्ध में चर्चा है।[6] भिक्षु के द्वारा प्रातिहार्य (दिव्य-शक्ति) का प्रदर्शन अकल्प्य बताने का प्रसंग भिक्षु के आचार-विषयक पहलू पर प्रकाश डालता है।[7] श्रावकों के आचार-विचार की चर्चा में उपोसथ-सम्बन्धी विवरण महत्त्वपूर्ण है।[8]

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ के 'त्रिपिटक साहित्य में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त' प्रकरण में ये संगृहित किये गये हैं। द्रष्टव्य, पृ० ४०२-५०८।

२. (क) संयुत्त निकाय, नाना तित्थिय सुत्त (प्रस्तुत ग्रन्थ के उक्त प्रकरण में प्रसंग संख्या ३१)।
(ख) संयुत्त निकाय, कुल सुत्त (प्र० सं० ६)।
(ग) अंगुत्तर निकाय, पंचक निपात (प्र० सं० ३९)।
(घ) मज्झिम निकाय, उपालि सुत्त (प्र० सं० २)।

३. दीघ निकाय, सामञ्ञफल सुत्त (प्र० सं० २२)।

४. मज्झिम निकाय, अभयराजकुमार सुत्त (प्र० सं० ३)।

५. विनय पिटक, महावग्ग, भैषज्य खन्धक (प्र० सं० १)।

६. संयुत्त निकाय, जटिल सुत्त (प्र० सं० ३३)।

७. विनय पिटक, चूलवग्ग, खुद्दकवत्थुखन्धक (प्र० सं० १८)।

८. अंगुत्तर निकाय, तिक निपात, (प्र० सं० २७)।

कुछ सन्दर्भ तत्त्व-चर्चा परक हैं। निर्ग्रन्थों की तपस्या[1] और कर्मवाद[2] की चर्चा अनेक स्थलों पर की गई है, जिसमें तपस्या से कर्म-निर्जरा व दु:ख-नाश के सिद्धान्त की समीक्षा की गई है। दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ व गृहपति उपालि के साथ बुद्ध की मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड के सम्बन्ध से चर्चा होती है।[3] तपस्या से निर्जरा का विधान जैन परिभाषा की दृष्टि से भी यथार्थ हुआ है। दण्ड, वेदनीय कर्म आदि शब्द-प्रयोग जैन सिद्धान्त में भी प्रयुक्त होते रहे हैं। आश्रव[4], अभिजाति (लेश्या)[5], लोक की सान्तता-अनन्तता[6], अवितर्क-अविचार समाधि (ध्यान)[7], क्रियावाद-अक्रियवाद[8], पात्र-अपात्र दान[9] आदि विषयों की चर्चा तत्त्वज्ञान की दृष्टि से जैन दृष्टिकोण के अभिमत को प्रस्तुत करती है। जैनों के सर्वज्ञता-वाद का अनेक स्थलों पर स्पष्ट उल्लेख व समीक्षा प्राप्त होती है।[10] निगण्ठ नातपुत्त के व्यक्तित्व की समीक्षा करने वाले कुछ सन्दर्भ मिलते हैं, जिनमें बुद्ध की तुलना में उनको न्यून बताने का प्रयत्न किया गया है।[11]

---

१. (क) मज्झिम निकाय, चूल दुक्खक्खन्ध सुत्त (प्र० सं० ५)।
(ख) अंगुत्तर निकाय, तिक निपात (प्र० सं० १०)।
(ग) मज्झिम निकाय, देवदह सुत्त (प्र० सं० ४)।
(घ) अंगुत्तर निकाय, चतुक्क निपात (प्र० सं० १२)।
(ङ) अंगुत्तर निकाय, चतुक्क निपात (प्र० सं० ३८)।

२. (क) मज्झिम निकाय, देवदह सुत्त (प्र० सं० ४)।
(ख) अंगुत्तर निकाय, चतुक्क निपात (प्र० सं० १२)।

३. मज्झिम निकाय, उपालि सुत्त (प्र० सं० २)।

४. अंगुत्तर निकाय, वप्प सुत्त (प्र० सं० १२)।

५. अंगुत्तर निकाय, छक्क निपात (प्र० सं० २८)।

६. अंगुत्तर निकाय, नवक निपात (प्र० सं० ११)।

७. संयुत्त निकाय, गामणी संयुत्त (प्र० सं० ८)।

८. विनय पिटक, महावग्ग (प्र० सं० १)।

९. मज्झिम निकाय, चूल सच्चक सुत्त (प्र० सं० २९)।

१०. (क) मज्झिम निकाय, सन्दक सुत्त (प्र० सं० ३०)।
(ख) मज्झिम निकाय, चूल सकुलुदायि सुत्त (प्र०सं० १३)।
(ग) अंगुत्तर निकाय, तिक निपात (प्र० सं० १०)।

११. (क) सुत्त निपात, धम्मिक सुत्त (प्र० सं० १४)।
(ख) दीघ निकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त (प्र० सं० २५)।
(ग) संयुत्त निकाय, दहर सुत्त (प्र० सं० २४)।
(घ) सुत्त निपात, सभिय सुत्त (प्र० सं० २३)।

महावीर के भिक्षु-संघ व श्रावक-संघ की स्थिति का चित्रण कुछ एक प्रकरणों में किया गया है। नालन्दा में दुर्भिक्ष के समय महावीर अपने बृहत् भिक्षु-संघ सहित वहाँ ठहरे हुए थे, ऐसा उल्लेख मिलता है।[1] महावीर के निर्वाण के पश्चात् संघ में हुए कलह या फूट का वर्णन कुछ प्रकरणों में पाया जाता है।[2] महावीर के श्रावक-संघ की अपेक्षा बुद्ध का संघ उनके प्रति अधिक आश्वस्त था, ऐसा भी बताने का प्रयत्न किया गया है।[3]

इस प्रकार बौद्ध त्रिपिटकों में जैन आचार, तत्त्वज्ञान, महावीर का व्यक्तित्व, उनकी संघीय स्थिति आदि का एक बृहत् ब्यौरा प्रस्तुत हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से एवं शोध व समीक्षा की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है।

ऐतिहासिक सामग्री की दृष्टि से जिस प्रकार बौद्ध त्रिपिटक तात्कालीन राजाओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार जैन आगम भी करते हैं। श्रेणिक बिम्बिसार, अजातशत्रु कूणिक, चण्ड प्रद्योत, वत्सराज उदयन, सिन्धु सौवीर के राजा उद्रायण आदि राजाओं के सम्बन्ध से दोनों धर्म-शास्त्रों में अपने-अपने ढंग से ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है। इनमें से कुछ जैन धर्म के तो कुछ बौद्ध धर्म के अनुयायी थे तथा कुछ दोनों धर्मों के प्रति सहानुभूति रखने वाले थे। मुनिश्री नगराजजी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में इस विषय की भी समालोचना की है।

जैन और बौद्ध शास्त्रों में जब तात्कालीन राजनैतिक व सामाजिक स्थिति का सामान रूप से चित्रण उपलब्ध होता है तथा बौद्ध त्रिपिटक निर्ग्रन्थों के विषय में मुक्त रूप से सामग्री प्रस्तुत करते हैं, तो एक जिज्ञासा होती है—जैन आगमों में बुद्ध और बौद्ध संघ के विषय में क्या कुछ सामग्री उपलब्ध होती है? महावीर और बुद्ध दोनों समसामयिक युगपुरुष थे, यह एक निर्विवाद विषय है। फिर भी जैन आगमों में बुद्ध का नामोल्लेख तथा बुद्ध व बौद्ध भिक्षुओं से सम्बन्धित कोई घटना-प्रसंग उपलब्ध नहीं होता। केवल **सूत्रकृतांग सूत्र** के कुछ एक पद्य बौद्ध मान्यताओं का संकेत देते हैं। वहाँ एक गाथा में बौद्धों को **खणजोइणो** बताया गया है तथा उसी गाथा में बौद्धों द्वारा पाँच स्कन्धों के निरूपण की चर्चा है।[4] उससे अगली गाथा में भी

---

१. संयुत्त निकाय, गामणी संयुत्त (प्र० सं० ७)।

२. (क) मज्झिम निकाय, सामगाम सुत्त (प्र० सं० १४)।

(ख) दीघ निकाय, पासादिक सुत्त (प्र० सं० १५)।

(ग) दीघ निकाय, संगीतिपर्याय सुत्त (प्र० सं० १६)।

३. मज्झिम निकाय, महासकुलुदायि सुत्त (प्र० सं० २६)।

४. पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥
—सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १, श्लोक १७

बौद्धों के चार धातुओं का नामोल्लेख है।[1] सूत्रकृतांग की अन्य कुछ गाथाएँ भी इस ओर संकेत करती हैं।[2] पर अंग-साहित्य का जो अंश निश्चित रूप से बहुत प्राचीन है, उसमें बौद्धों के उल्लेख का सर्वथा अभाव है; जबकि जैसे बताया गया—बौद्ध त्रिपिटकों में महावीर व उनके भिक्षुओं से सम्बन्धित नाना घटना-प्रसंग उपलब्ध होते हैं। वे समग्र समुल्लेख महावीर व उनके भिक्षु-संघ की न्यूनता तथा बुद्ध व बौद्ध भिक्षु-संघ की श्रेष्ठता व्यक्त करने वाले हैं। प्रश्न होता है—जैन आगमों में बुद्ध की चर्चा क्यों नहीं मिलती तथा बौद्ध त्रिपिटकों में महावीर की चर्चा बहुलता से क्यों मिलती है? क्या इसका कारण यह है कि महावीर व जैन भिक्षु अन्तर्मुख थे; अतः वे आलोचनात्मक व खण्डनात्मक चर्चाओं में क्यों रस लेते व उन्हें क्यों महत्त्व देते? यह यथार्थ है कि महावीर व जैन भिक्षु अपेक्षाकृत अधिक अन्तर्मुख थे और अपेक्षाकृत कम ही वे ऐसी चर्चाओं में उतरते। इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैन आगमों में ऐसी चर्चाओं का सर्वथा अभाव है। महावीर के प्रतिद्वन्द्वी धर्मनायक गोशालक की चर्चा वहाँ प्रचुर मात्रा में मिलती है। गोशालक को कुत्सित बतलाने में वहाँ कोई कसर नहीं रखी गई है। महावीर के विरोधी शिष्य जमाली की भी विस्तृत चर्चा आगमों में है। विविध तापसों एवं उनकी अज्ञानपूर्ण तपस्याओं का विस्तृत विवेचन भी वहाँ मिलता है। महावीर और बुद्ध के विहार व वर्षावासों के समान क्षेत्र व समान ग्राम थे तथा अनुयायियों के समान गृह भी थे; फिर भी बुद्ध एवं बौद्ध भिक्षु ही आगमों में अचर्चित रहे, यह एक महत्त्व का प्रश्न बन जाता है।

इसका बुद्धिगम्य कारण यही हो सकता है कि महावीर बुद्ध से ज्येष्ठ थे। उन्होंने बुद्ध से पूर्व ही दीक्षा ग्रहण की, कैवल्य लाभ किया एवं धर्मोपदेश दिया। उनका प्रभाव समाज में फैल चुका था। तब बुद्ध ने धर्मोपदेश प्रारम्भ किया। बुद्ध तरुण थे, उन्हें अपना प्रभाव समाज में फैलाना था। उनके प्रतिद्वन्द्वियों में सबसे बलवान् प्रतिद्वन्द्वी महावीर थे; अतः वे तथा उनके भिक्षु पुनः पुनः महावीर को न्यून बताकर स्वयं को आगे लाने का प्रयत्न करते।[3] ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भी तो वैसा ही किया है। उन्होंने सांख्य मत को प्रधान मल्ल मानकर उसकी विस्तृत समीक्षा की है और अन्य अण्वादिकारणवादों का निरसन उसके अन्तर्गत

---

१. पुढवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
   चत्तारि धाउणो रूवं एवमाहंसु आवरे॥
   —सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध १, अ० १, श्लोक १८।

२. सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० २, अ० ६, श्लोक २६-३०; देखें प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ६-१२।

३. बुद्ध ने स्वयं पहले जैन तप का अभ्यास किया था। पर वे उसमें सफल नहीं हुए। (सम्बन्धित विवेचन के लिए देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम प्रकरण)।

ही मान लिया है।[1] महावीर का प्रभाव समाज में इतना जम चुका था कि नवोदित धर्मनायक बुद्ध से उन्हें कोई खतरा नहीं लगता था। इसलिए वे उन्हें नगण्य समझ कर उनकी उपेक्षा करते। गोशालक ने महावीर के साथ ही साधना की थी। महावीर से दो वर्ष पूर्व ही गोशालक अपने-आप को जिन, सर्वज्ञ व केवली घोषित कर चुके थे। गोशालक का धर्म-संघ भी महावीर से बड़ा था, ऐसा माना जाता है। इस स्थिति में महावीर के लिए अपने संघ की सुरक्षा व विकास की दृष्टि से गोशालक की हेयता का वर्णन करना स्वाभाविक ही हो गया था। कुल मिलाकर यह यथार्थ लगता है कि महावीर के अभ्युदय में गोशालक बाधा रूप थे; अतः उन्हें पुनः-पुनः उनकी चर्चा करनी पड़ती और बौद्ध-संघ के विकास में महावीर बाधा रूप थे; अतः बुद्ध को पुनः-पुनः महावीर की चर्चा करनी पड़ती।

जमाली महावीर के संघ से ही पृथक् हुए थे; उनके द्वारा महावीर का संघ कुछ टूटा था; और भी टूट सकता था। इसलिए उनकी चर्चाएँ महावीर को करनी पड़ती थीं। महावीर की वर्तमानता में तापसों का भी अधिक प्रभाव था। ये बाह्य तप पर अधिक बल देते; महावीर उसको यथार्थ नहीं समझते। इसी तरह यदि बुद्ध महावीर के पूर्वकालीन व समबल होते तो अवश्य ही महावीर को उन प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता, जो बुद्ध द्वारा महावीर व उनके संघ एवं सिद्धान्तो के सम्बन्ध में उपस्थित किये गये थे। महावीर और बुद्ध, दोनों ही श्रमण-संस्कृति के धर्मनायक होने के नाते एक-दूसरे के बहुत निकट भी थे। निकट के धर्म-संघों में ही पारस्परिक आलोचना-प्रत्यालोचना अधिक होती है। पर यहाँ आलोचना एक ओर से ही हुई है। जैन आगमों का मौन महावीर की ज्येष्ठता और पूर्वकालिक प्रभावशीलता ही व्यक्त करता है।

त्रिपिटकों के कतिपय सम्मुलेख भी बुद्ध को तरुण और महावीर को ज्येष्ठ व्यक्त करते हैं। **सुत्त निपात** के अनुसार सभिय भिक्षु सोचता है—

"पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बल, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त और निर्ग्रन्थ नातपुत्त जैसे जीर्ण, वृद्ध, वयस्क, उत्तरावस्था को प्राप्त, वयोतीत, स्थविर,

---

१. सर्वव्याखानाधिकरणम्। सू० २८।

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः॥ २८ ॥ १.४.२८

"ईक्षते र्नाशब्दम् (१.१.५) इत्यारभ्य प्रधानकारणवाद सूत्रैरेव पुनः पुनराशंक्य निराकृतः......देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रन्थेष्वाश्रितः, तेन तत्प्रतिषेधे एव यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवादप्रतिषेधे। तेऽपि तु ब्रह्मकारणवादपक्षस्य प्रतिपक्षत्वात्प्रतिषेद्धव्याः।......अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति—एतेन प्रधानकारणवादप्रतिषेधन्यायकलापेन सर्वेऽण्वादिकारणवादा अपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता वेदितव्याः।

—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, प्र० मोतीलाल बनारसीदास, १९६४, पृ० १३९।

अनुभवी, चिर प्रव्रजित, संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर, बहुजन-सम्मानित श्रमण-ब्राह्मण भी मेरे प्रश्नों का उत्तर न दे सके, न दे सकने पर कोप, द्वेष व अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं और मुझ से ही इनका उत्तर पूछते हैं। श्रमण गौतम क्या मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे? वे तो आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन हैं। फिर भी श्रमण युवक होता हुआ भी महर्द्धिक और तेजस्वी होता है; अतः श्रमण गौतम से भी मैं इन प्रश्नों को पूछूँ।"[1]

संयुत्त निकाय के **दहर सुत्त** के अनुसार राजा प्रसेनजित् बुद्ध से कहता है—"पूरण काश्यप यावत् निगण्ठ नातपुत्त भी अनुत्तर सम्यग्-सम्बोधि का अधिकारपूर्वक कथन नहीं करते, तो आप अल्पवयस्क व सद्यः प्रव्रजित होते हुए भी यह दावा कैसे कर सकते हैं?"[2]

दीघ निकाय के **सामञ्ञफल सुत्त** के अनुसार भी अजातशत्रु के मंत्रीगण महावीर प्रभृति छः धर्मनायकों को चिर प्रव्रजित, अध्वगत व वयस्क बताते हैं।[3]

इसी प्रकार त्रिपिटक-साहित्य में ऐसे तीन प्रसंग उपलब्ध होते हैं, जो महावीर को बुद्ध से पूर्व-निर्वाण-प्राप्त सूचित करते हैं। महावीर की ज्येष्ठता के विषय में वे भी अनूठे प्रमाण माने जा सकते हैं। **दीघ निकाय** के **पासादिक सुत्त** व **मज्झिम निकाय** के **सामगाम सुत्त** के अनुसार भिक्षु चुन्द समणुद्देश पावा चातुर्मास बिताकर आता है और सामगाम में बुद्ध व आनन्द को सम्वाद सुनाता है—"अभी-अभी पावा में निगण्ठ नातपुत्त काल कर गया है। निगण्ठों में उत्तराधिकार के प्रश्न पर भीषण विग्रह हो रहा है।"[4] **दीघ निकाय** के **संगीति पर्याय सुत्त** के अनुसार सारिपुत्त पावा में[5] इसी उदन्त का उल्लेख कर भिक्षु-संघ को एकता का उपदेश देते हैं।

त्रिपिटक-साहित्य के तीन प्रसंग जब महावीर के पूर्व-निर्वाण की बात कहते हैं और त्रिपिटक-साहित्य में व आगम-साहित्य में इनका कोई विरोधी समुल्लेख नहीं है तब इस स्थिति में उक्त तीनों समुल्लेख स्वतः निर्विवाद रह जाते हैं। सम्भव यह भी हो जाता है कि ये उल्लेख

---

१. देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४५७-४५६।

२. देखें, वही, पृ० ४५५-४५६।

३. देखें, वही, पृ० ४५२।

४. देखें, वही, पृ० ४४२-४४४।

५. जैन परम्परा की चिर प्रचलित धारणा के अनुसार पावा गंगा के दक्षिण में राजगृह के समीप मानी जाती रही है। त्रिपिटक-साहित्य की सूचनाओं से तथा अन्य ऐतिहासिक गवेषणाओं से उक्त धारणा अयथार्थ सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः महावीर की निर्वाण भूमि (पावा) बौद्ध-शास्त्रों में उल्लिखित वही पावा है, जो गंगा के उत्तर में कुशीनारा के समीप बताई गई है।

त्रिपिटक-साहित्य में पीछे से जोड़े गये हों। सम्भव सब कुछ हो सकता है, पर उस सम्भावना के लिए जब तक कोई ठोस आधार न हो, तब तक उनकी सत्यता में सन्देह करने का कोई आधार नहीं बनता।

उत्तरकालिक बौद्ध-साहित्य (अट्ठकथा आदि) में भी निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त के विषय में विविध चर्चाएँ हैं। बुद्ध की श्रेष्ठता और महावीर की अश्रेष्ठता बताने का तो उनका हार्द है ही, परन्तु निम्नस्तर के आक्षेप व मनगढन्त घटना-प्रसंगों से भी वे चर्चाएँ भरी-पूरी हैं। जैन उत्तरकालिक साहित्य—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि—ग्रन्थों में भी बुद्ध की अवगणना सूचक उल्लेख नहीं मिलते। यह जैन साधकों व बौद्ध साधकों के मानसिक धरातल के अन्तर का सूचक है। जैन साधक सम्प्रदाय-चिन्ता से भी अधिक आत्म-कल्याण को महत्त्व देते रहे हैं।

ईस्वी सन् के आरम्भ से जब चर्चा-युग का प्रारम्भ हुआ, तब तो जैन साधक भी बौद्धों के विषय में उसी धरातल से बोलने व लिखने लगे। उत्तरवर्ती टीका-साहित्य व कथा-साहित्य इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं।

इन्हीं पहलुओं पर मुनि श्री नगराजजी ने अपने ग्रन्थ में विस्तार से चर्चा की है। गवेषकों व जिज्ञासुओं के लिए वह मननीय है।

—पण्डित सुखलाल संघवी

१-१२-६८
अनेकान्त विहार
अहमदाबाद

प्रस्तावना

भेद और अभेद दोनों दृष्टि-धर्म हैं। जहाँ जिसे खोजेंगे, वहाँ उसे पा जायेंगे। जैन और बौद्ध परम्पराएँ परस्पर भेद-बहुल भी हैं और अभेद-बहुल भी। दृष्टि की उभयमुखता से ही हम यथार्थ को पा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में यथार्थ दर्शन का उद्देश्य ही आधारभूत रहा है। भेद और अभेद के स्थापन की व्यामोहकता से बचे रहने का यथेष्ट ध्यान बरता गया है।

समन्वय की वर्णमाला में सोचने तथा समन्वय की पगडंडियों पर चलने-चलाने में जीवन का सहज विश्वास रहा है। साहित्य भी उसका अपवाद कैसे बनता? **"आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी"**, **"जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान"**, **"अहिंसा-पर्यवेक्षण"** आदि मेरे चिन्तन ग्रन्थों की शृंखला में ही **"आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन"** ग्रन्थ बन गया। तुलनापरक ग्रन्थ ही लिखूं, ऐसी योजना मैंने कभी नहीं बनाई। जीवन की सहज रुचि से ही यह फलित हुआ है। विचारित सुन्दरम् की अपेक्षा सहज सुन्दरम् सदैव विशिष्ट होता है।

प्रतिपादनात्मक साहित्य अश्रेष्ठ नहीं होता, पर वह बहुत श्रेष्ठ भी नहीं कहा जा सकता। जैन या बौद्ध किसी परम्परा पर विभिन्न भाषाओं में विभिन्न ग्रन्थ वर्तमान हैं ही। उन्हें हम अपनी भाषा व अपने क्रम से लिख कर कोई नया सृजन नहीं करते। पीढ़ियों तक वही पिष्टपेषण चलता रहता है। तुलनापरक व शोधपरक साहित्य में नवीन दृष्टि तथा नवीन स्थापनाएँ होती हैं। अध्येता उसमें बहुत कुछ अनवगत व अनधीत पाता है। ज्ञान की धारा बहुमुखी होती है व आगे बढ़ती है। मेरे इस दिशा में विशेषतः प्रवृत्त होने में यह भी एक आधारभूत बात रही है।

अध्ययन-काल से ही मन में यह संस्कार जम रहा था, महावीर और बुद्ध पर तुलनात्मक रूप से कुछ लिखा जाये तो बहुत ही रोचक, उपयोगी व अपूर्व बन सकता है। यदा-कदा स्फुट लेख इस सम्बन्ध में लिखता भी रहा। विगत ५-६ वर्षों से तो अन्य प्रवृत्तियों से विलग हो केवल इस ओर ही व्यवस्थित रूप से लग गया।

मंजिल की ओर बढ़ते हुए मैंने पाया, मेरे से पूर्व अन्य अनेक लोग इसी राह पर चले हैं। कोई दो डग, कोई दस डग। उनकी मंजिल दूसरी थी, उनकी राह दूसरी थी, पर सामीप्य व संक्रमण के क्षणों में दोनों राहें एक हुई हैं। मेरे लिए उन सब के विरल व विकीर्ण पद-चिह्न भी प्रेरक व दिग्सूचक बने। डॉ० ल्यूमैन ने इसी सन्दर्भ में **"महावीर और बुद्ध"** नाम से एक लघु पुस्तिका लिखी है। डॉ० जेकोबी ने अपने द्वारा

अनूदित **आचारांग, उत्तराध्ययन** आदि आगमों की भूमिका में तुलनापरक नाना पहलुओं का संस्पर्श किया है। डॉ० शार्पेन्टियर ने अपने द्वारा सम्पादित **उत्तराध्ययन सूत्र** की भूमिका में तथा अपने स्फुट लेखों में तुलनापरक चर्चाएं की हैं। डॉ० हर्नले ने अपने द्वारा सम्पादित व अनूदित **उपासकदशांग सूत्र** में भी इसी विषय को छूआ है। डॉ० शूब्रिंग ने जैन-धर्म पर लिखे गये अपने शोध-ग्रन्थ में यत्र-तत्र इस ओर संकेत किया है। डॉ० बाशम ने आजीवक सम्प्रदाय पर लिखे अपने शोध-ग्रन्थ में महावीर, बुद्ध और गोशालक के सम्बन्धों व मान्यताओं पर अपने ढंग से प्रकाश डाला है।

भारतीय विद्वानों में पं० सुखलालजी ने अपने स्फुट लेखों में अनेक तुलनापरक पहलू उभारे हैं। पं० बेचरदास दोशी ने **भगवती सूत्र** के सम्पादन में तथा पं० दलसुख मालवणिया ने **स्थानांग-समवायांग** के अनुवाद में अनेक स्थलों पर तुलनापरक टिप्पण देकर विषय को खोला है। इसी प्रकार पं० राहुल सांकृत्यायन, धर्मानन्द कौशाम्बी, डॉ० बी० सी० ला, डॉ० नथमल टांटिया, डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, भरतसिंह उपाध्याय प्रभृति अनेक विद्वानों ने यत्र-तत्र तुलनात्मक रूप से लिखा है। इनमें से अधिकांश ने इसे शोधकार्य की महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी दिशा मानकर इस पर स्वतंत्र एवं सर्वाङ्गीण कार्य अपेक्षित बताया है।

इन सबसे मुझे लगा, मैं अनजाने ही किसी भयावने जंगल में तो नहीं चल पड़ा हूं, जिसमें न राज-मार्ग है, न पगडंडियाँ और न आगे कोई मंजिल। मैं जिस ओर चला हूं, वह कोई बड़ी मंजिल है और जिस पर चला हूँ, वह अनेकों की जानी-बूझी राह है।

मैंने समग्र कार्य को तीन खण्डों में बाँटा है। प्रथम इतिहास और परम्परा खण्ड, द्वितीय साहित्य और शिक्षापद खण्ड, तृतीय दर्शन और मान्यता खण्ड। यह इतिहास और परम्परा खण्ड सम्पन्न हुआ है। भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी तक तीनों खण्डों का प्रणयन कर सकूं, ऐसा मेरा अभिप्रेत है।

ग्रन्थ की भाषा को मैंने साहित्यिक व दार्शनिक "लहजे" से बचाया है। इतिहास व शोध का सम्बन्ध तथ्य-प्रतिपादन से होता है। उनकी अपनी एक स्वतन्त्र शैली है। उसमें आलंकारिकता व गूढ़ता का कोई स्थान नहीं होता। शब्दों की शालीनता व भावों की स्पष्टता ही उसका मानदण्ड होती है।

शोध-साहित्य में मुख्यतः संक्षेप की शैली अपनाई जाती है। मैंने विस्तार की शैली अपनाई है। संक्षेप की शैली शोध-विद्वानों तथा उनमें भी विषय-सम्बद्ध विद्वानों के उपयोग की रह जाती है। मेरा आशय रहा है, शोध-विद्वानों के साथ-साथ सर्व साधारण के लिए भी ग्रन्थ की उपयोगिता रह सके।

ग्रन्थ का प्रत्येक प्रकरण अपने आप में परिपूर्ण एवं स्वतंत्र निबन्ध भी रह सके, ऐसा

ध्यान रखा गया है। यही कारण है, ग्रन्थ के अनेक प्रकरणों का शोध-पत्रिकाओं, अभिनन्दन-ग्रन्थों तथा प्राच्य सम्मेलनों में यथावत् उपयोग होता रहा है। काल-गणना से सम्बन्धित प्रकरण पृथक् पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो रहा है।

प्रतिपादनात्मक सौष्ठव अग्रिम प्रकरणों की अपेक्षा प्राक्तन प्रकरणों में कुछ दुर्बल रहा है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। बड़े ग्रन्थ के प्रारम्भ और अन्त में यह अन्तर रहना अस्वाभाविक भी नहीं है।

महामहिम आचार्य श्री तुलसी मेरे निर्यामक रहे हैं। जीवन की नाव आवर्त्तों से बचकर, ज्वारों को लाँघकर जो मंजिलें पार कर रही है, उसमें निर्यामक का कौशल एक अप्रतिम हेतु है ही। प्रथम खण्ड की सम्पन्नता भी एक बड़ी मंजिल का तय होना ही है।

आचार्यप्रवर ने तेरापंथ साधु-संघ में साहित्य की अनेक धाराओं का सूत्रपात किया है, जिसमें एक धारा यह तुलनात्मक अनुशीलन एवं शोध-साहित्य की है।

ग्रन्थ की सम्पन्नता के साथ-साथ एक ऐतिहासिक मूल्य का प्रसंग बना। महाप्राज्ञ पण्डित सुखलालजी के समक्ष ग्रन्थ का आद्योपान्त पारायण हुआ। वार्धक्य और व्यस्तता की अवगणना कर पण्डितजी ने ग्रन्थ-श्रवण में उल्लेखनीय रस लिया। इस सम्बन्ध में उन्होंने तुलनात्मक चर्चा एवं तटस्थ अन्वेषण के अनेक आयाम सुझाए। इस तीन सप्ताह के चिन्तन, मनन व ग्रन्थ-समीक्षण में मेरे लिए सर्वाधिक सन्तोष की बात यह बनी कि महावीर की ज्येष्ठता के विषय में पण्डितजी ने सुदृढ़ सहमति व्यक्त की एवं 'एक अवलोकन' लिखा।

अपनी ८८ वर्ष की आयु में इतना आयास उठाकर पण्डितजी ने ग्रन्थ को और मुझे भारवान् बनाया है।

सूक्ष्मदर्शी पण्डित बेचरदासजी ने ग्रन्थ-अवलोकन के सन्दर्भ में सुझाया, **सूत्रकृतांग** की **'पुत्तं पिया समारब्भ** ...'[1] गाथा भगवान् बुद्ध के 'सूकरमद्दव' आहार की ओर संकेत करती है, ऐसा प्रतीत होता है। 'जैन आगमों में बुद्ध व बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कोई घटना-प्रसंग नहीं है'[2]—इस मान्यता में यह गाथा अपवाद बन सकती है।

पण्डित बेचरदासजी का मानना है कि इस गाथा में बोधाभाव से **पोत्तिं** शब्द के बदले **पुत्तं** शब्द किसी युग से प्रचलित हो गया है। संस्कृत में पोत्रिन् शब्द सूकर का वाची है।[3] प्राकृत में द्वितीया विभक्ति के एकवचन में उसका पुत्तिं रूप बन जाता है।

---

१. पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असंजए।
भुंजमाणो य मेहावी कम्मुणा नो विलिप्पइ ॥

—सूत्रकृतांग, श्रु० १, अ० १, उ० २, श्लोक २८।

२. प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ८६।

३. वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः।
—अमरकोष, द्वितीय काण्ड, सिंहादिवर्ग, श्लोक २।
वराहः क्रोड-पोत्रिणौ। —अभिधान चिन्तामणि, तृतीय काण्ड, श्लोक १८०।

पण्डित बेचरदासजी के इस अनुमान का थोड़ा-सा समर्थन **सूत्रकृतांग चूर्णि** भी करती है। चूर्णिकार ने इस गाथा में 'पुत्र' शब्द की व्याख्या में "शूकरं वा छगलं वा" भी किया है।[1] पर बुद्ध के सूकरमद्दव आहार का कोई संकेत वहाँ नहीं है। इसी गाथा के उदाहरण में लावक पक्षी को मारकर भिक्षु को देने की एक अन्य कथा दी गई है।

प्रस्तुत गाथा का पदच्छेद चूर्णि में जिनदासगणि ने **"पुत्रम् अपि तावत् समारभ्य"** किया है; टीका में शीलंकाचार्य ने **"पुत्रं पिता समारभ्य"** किया है। कुछ एक विद्वान् चूर्णि के पदच्छेद को संगत मानने लगे हैं। उनकी दृष्टि में 'विशेष परिस्थिति में भी पिता पुत्र का वध करे' यह बात असामान्य है। प्रस्तुत गाथा के चूर्णिकृत पदच्छेद में भी **पुत्रम् अपि** तो रह ही जाता है। इस स्थिति में चूर्णि और टीका के पदच्छेद का अर्थ पुत्रवध के रूप में एक ही रह जाता है। पिता या माता तो अध्याहार से आ ही जाते हैं।

'पिता के द्वारा पुत्रवध' की बात वर्तमान युग में नितान्त असामान्य ही है। पर प्राचीन ग्रन्थों में तथाप्रकार का उल्लेख अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।

तेलोवाद जातक (बालोवाद जातक, सं० २४६)[2] के अनुसार 'भिक्षु उद्दिष्ट मांस के आहार से पापलिप्त होता है' इस बात का उत्तर देते हुए बोधिसत्त्व कहते हैं :

पुत्तदारं पि चे हन्त्वा देति दानं असञ्ञतो।
भुञ्जमानोऽपि सप्पञ्ञो न पापमुपलिम्पति ॥

यहाँ स्पष्ट रूप से पुत्र और स्त्री का वध कर भिक्षु को दान देने की बात कही है। यह गाथा पिता के द्वारा पुत्रवध के अर्थ की निर्विवाद पुष्टि करती है। **सूत्रकृतांग** की उक्त गाथा के साथ इसका भावसाम्य व शब्दसाम्य भी है।

चुल्ल पउम जातक[3] के अनुसार किसी एक भव में बोधिसत्त्व और उनके छः भाई अपनी सात पत्नियों सहित अरण्य पार करते हैं। मार्ग में प्रतिदिन एक-एक पत्नी का वध कर, उसके मांस से क्षुधा शान्त करते हैं।[4]

जैन आगम **ज्ञाताधर्मकथांग**[5] में बताया है—धन्ना सार्थवाह और उसके पुत्रों ने परस्पर स्वयं को मारकर अन्य सबको जीवित रहने की बात कही। अन्त में उन्होंने अपनी पुत्री तथा बहिन मृत सुषमा के मांस व रक्त से क्षुधा-तृषा शान्त की और वे अरण्य पार कर राजगृह

१. सूत्रकृतांग चूर्णि, प्र० ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे० संस्था, रतलाम, पृ० ५०।

२. देखें, प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० ४६४।

३. जातक संख्या १९३।

४. इस कथानक का अग्रिम भाग 'जितशत्रु राजा और सुकुमाला रानी' की प्रसिद्ध जैन कथा के समान ही है।

५. पूर्ण वृत्तान्त के लिए द्रष्टव्य, श्रुतस्कन्ध १, अध्याय १८।

पहुँचे। उनके इस उपक्रम में आस्वाद, देहोपचय आदि का उद्देश्य नहीं था। उनका लक्ष्य केवल अरण्य पार कर राजगृह पहुँचने का था। महावीर ने इस कथा-वस्तु के उदाहरण से बताया—"इसी प्रकार साधु भी वर्ण, रूप, बल या विषय के लिए नहीं, किन्तु मोक्ष-प्राप्ति के लिए आहार करते हैं।"[1]

संयुत्त निकाय के **पुत्तमंससुत्त**[2] के अनुसार—एक दम्पत्ति अपने इकलौते पुत्र को मारकर उसके मांस से क्षुधा शान्त कर अरण्य पार करते हैं। उन्होंने वह आहार दर्प, मद, मण्डन या विभूषा के लिए नहीं, अपितु अरण्य पार करने के लिए किया। बुद्ध ने इस कथा-प्रसंग के सन्दर्भ में कहा—"भिक्षुओ! आर्यश्रावक भी ऐसे ही दर्प, मद आदि के लिए आहार नहीं करते, किन्तु भव-कान्तार से पार होने के लिए करते हैं।"[3]

मनुस्मृति[4] में कहा गया है—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते॥
अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन्॥

---

१. धणेणं सत्थवाहेणं नो वण्णहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा सुंसुमाए दारियाए मंससोणिए आहारिए नन्नत्थ एगाए रायगिहं संपावणट्ठयाए एवामेव समणाउसो! जो अम्हं निग्गथो वा निग्गंथी वा इमस्स ओरालियसरीरस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कासवस्स सोणियासवस्स जाव अवस्सविप्पजहियव्वस्स नो वण्णहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा आहारं आहारेइ नन्नत्थ एगाए सिद्धिगमणसंपावणट्ठयाए।

—नायधम्मकहाओ, सं० एन० वी० वैद्य, पृ० २१४।

२. निदान वग्ग, निदान संयुत्त, २।१२।६३।

३. "तं किं मञ्जथ, भिक्खवे, अपि नु ते दवाय वा आहारं आहारेय्युं, मदाय वा आहारं आहारेय्युं, मण्डनाय वा आहारं आहारेय्युं, विभूसनाय वा आहारं आहारेय्युं" ति?

"नो हेतं, भन्ते।"

"ननु ते, भिक्खवे, यावदेव कन्तारस्स नित्थरणत्थाय आहारं आहारेय्युं" ति?

"एवं, भन्ते"।

"एवमेव ख्वाहं, भिक्खवे, कबलीकारो आहारो दट्ठब्बो ति वदामि। कबलीकारे, भिक्खवे, आहारे परिञ्ञाते पञ्चकामगुणिको रागो परिञ्ञातो होति। पञ्चकामगुणिके रागे परिञ्ञाते नत्थि तं संयोजनं येन संयोजनेन संयुत्ते अरियसावको पुन इमं लोकं आगच्छेय्य।

—संयुत्तनिकाय पालि, सं० भिक्खु जगदीसकस्सपो, पृ० ८४।

४. अध्याय १०, श्लोक १०४, १०५।

यहाँ अजीगर्त ऋषि[1] के पुत्रवध करने की और पाप से लिप्त न होने की बात कही गई है।

इन सब समुल्लेखों व प्रसंगों से यह स्पष्ट झलकता है कि किसी युग में पिता के द्वारा स्थितिवश पुत्रवध होने की एक सामान्य धारणा रही है और वही धारणा जैन, बौद्ध व वैदिक परम्परा में खण्डन या मण्डन के प्रसंग से दुहराई जाती रही है। इस स्थिति में **पुत्तं पिया समारब्भ** का पदच्छेद ही अधिक यथार्थ रह जाता है। **सूत्रकृतांग** में बौद्ध मान्यता के परिचय-प्रसंग से यह गाथा कही गई है। अग्रिम गाथाओं में इस मान्यता का निराकरण किया गया है।

विश्रुत विद्वान् डा० ए० एन० उपाध्ये ने ग्रन्थ का आद्योपान्त पारायण किया व काल-गणना के तथ्यों पर सहमति व्यक्त की, यह भी मेरे आत्मतोष का विषय बना।

प्रस्तुत खण्ड में विभिन्न भाषाओं के लगभग ३०० ग्रन्थ उद्धरण रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इससे भी अधिक विषय-सम्बद्ध ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है। मैं उनके रचयिताओं के प्रति स्वयं को कृतज्ञ अनुभव करता हूं। अनेक रचयिताओं के मन्तव्य का मैंने निराकरण भी किया है। उसमें भी मेरा अध्यवसाय विचार-समीक्षा का ही रहा है, साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन का नहीं। आशा है, सम्बन्धित विद्वान् उसे इसी सन्दर्भ में देखेंगे।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' ने प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन किया है। सम्पादन कितना श्रम-साध्य व मेधापरक हुआ है, यह तो जैन पारिभाषिक शब्दकोश, बौद्ध पारिभाषिक शब्दकोश आदि परिशिष्ट स्वयं बोल रहे हैं। ग्रन्थ के साथ उनका लगाव केवल सम्पादन तक ही नहीं रहा है, रूपरेखा-निर्माण से ग्रन्थ की सम्पन्नता तक चिन्तन, मनन, अध्ययन, अन्वेषण आदि सभी कार्यों में वे हाथ बटाते रहे हैं।

इस कार्य में परोक्ष सहयोग मुनि मानमलजी (बीदासर) का है। वे मेरी अन्य अपेक्षाओं के पूरक हैं। जीवन की कोई भी अपेक्षा अन्य अपेक्षाओं से नितान्त निरपेक्ष नहीं हुआ करती।

विद्यमान खण्ड से सम्बन्धित अन्तिम पंक्तियाँ आज मैं धरती और सागर के संगम-बिन्दु पर लिख रहा हूँ। अभिलाषा है, **आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन** ग्रन्थ भी जैन और बौद्ध संस्कृतियों का संगम-बिन्दु बने।

मुनि नगराज

अणुव्रत सभागार
८८, मेरिन ड्राइव
बम्बई-२
६ फरवरी, १९६९

---

१ यह कथा बह्वृच ब्राह्मण में अजीगर्त के आख्यान में स्पष्ट रूप से मिलती है।

सम्पादकीय

आगम और त्रिपिटकः एक अनुशीलन ग्रन्थ का यह "इतिहास और परम्परा" खण्ड भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत ही मौलिक है। प्रत्येक प्रकरण कोई नवीन स्थापना करता है या किसी अनवगत तथ्य को प्रकट करता है। विचार-समीक्षा लगभग सभी प्रकरणों का मुख्य अंग है। विवादात्मक पहलुओं को अपनी शालीन समालोचना के साथ मुनि श्री नगराजजी ने किसी आधारभूत तथ्य तक पहुँचाया है। समग्र खण्ड १८ प्रकरणों में विभक्त है।

प्रथम प्रकरण में बुद्ध की साधना पर निर्ग्रन्थ-साधना का कितना प्रभाव रहा है, इस विषय में कुछ एक मौलिक आधार प्रस्तुत किये गये हैं।

दूसरे प्रकरण में पूरण काश्यप, प्रक्रुध कात्यायन, अजित केशकम्बल और सञ्जय वेलट्ठिपुत्त; इन चार धर्मनायकों के जीवन-परिचय तथा उनकी मान्यताओं का शोधपूर्ण ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है, जिसमें अनेक अचर्चित पहलु सामने आये हैं।

तीसरा प्रकरण गोशालक और आजीवक सम्प्रदाय पर एक संक्षिप्त शोध-निबन्ध ही बन गया है। गोशालक का जीवन एवं उनका अभिमत, जैन व बौद्ध धर्म-संघोंसे उनका सम्बन्ध तथा आजीवक मत की मान्यताओं का आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है। डॉ० बाशम, डॉ० बरुआ आदि की कुछ धारणाओं का निराकरण भी इसमें किया गया है। उल्लेखनीय बात यह है कि मुनि श्री ने अपनी समीक्षा में गोशालक व आजीवक मत की हेयता को ही नहीं उभारा है, अपितु महावीर के द्वारा की गई आजीवक मत की प्रशंसा का भी यथोचित दिग्दर्शन कराया है।

जैन और बौद्ध परम्परा में गोशालक मुख्यता एक निंद्य-पात्र के रूप में ही प्रस्तुत किये गए हैं; पर मुनि श्री ने उन्हें एक समसामयिक धर्मनायक के रूप में देखा है और अपनी भाषा में उन्होंने सर्वत्र उनके लिए बहुवचन का ही प्रयोग किया है।

चौथा प्रकरण काल-निर्णय का है। महावीर और बुद्ध का जीवन-वृत्त इतिहास के क्षेत्र में जितना सुस्पष्ट हुआ है, उतना ही उनका तिथि-क्रम धुंधला व विवादास्पद रहा है। बुद्ध-निर्वाण की बीसों तिथियाँ विद्वज्जगत् में अब तक मानी जाती रही हैं। उनका कालमान ई० पू० ७ वीं शताब्दी से ई० पू० ४ थी शताब्दी तक का है। प्रस्तुत प्रकरण में आगम, त्रिपिटक व सर्वमान्य ऐतिहासिक तथ्यों की संगति से उनके तिथि-क्रम का एवं उनकी समसामयिकता का निर्णय किया गया है। इसके साथ-साथ शिशुनाग-वंश से चन्द्रगुप्त मौर्य तक की ऐतिहासिक काल-गणना को भी सुसंगत रूप दिया गया है।

काल-गणना के इस समीक्षात्मक प्रकरण में महावीर की ज्येष्ठता के विषय में मुनि श्री ने **दहर सुत्त** तथा **सभिय सुत्त** के दो अपूर्व और अकाट्य प्रमाण दे दिये हैं। ये प्रमाण एतद्-विषयक चर्चा में प्रथम बार ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रमाण अपने आप में इतने स्पष्ट हैं कि दोनों युग-पुरुषों के काल-क्रम सम्बन्धी विवाद सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

पाँचवें प्रकरण में दोनों ही युग-पुरुषोंकी पूर्वजन्म-विषयक समानता का विवरण दिया गया है। मरीचि तापस के विषय में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ घोषणा करते हैं कि यह अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर होगा। सुमेध तापस के विषय में प्रथम बुद्ध दीपंकर घोषणा करते हैं—यह अन्तिम बुद्ध गौतम होगा। इस अनूठी समानता का परिचय सम्भवतः विद्वज्जगत् को सर्वप्रथम ही मिलेगा।

छट्ठे प्रकरण में जन्म से प्रव्रज्या तक की विविध समान धारणाओं का ब्यौरा दिया गया है, जो युगपत् रूप से सर्वप्रथम ही साहित्यिक क्षेत्र में आई हैं।

अगले तीन प्रकरणों में क्रमशः साधना, परिषह और तितिक्षा, कैवल्य और बोधि युगपत् रूप से प्रस्तुत किये गये हैं। अनूठी समानताएँ सामने आई हैं।

दसवें प्रकरण में दोनों धर्म-संघों की दीक्षाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। बढ़ी-चढ़ी संख्याओं पर समीक्षा भी की गई है। परिव्राजकों व तापसों के दीक्षित होने का वर्णन दोनों ही परम्पराओं में बहुलता से मिलता है। महावीर के धर्म-संघ में कोडिन्न, दिन्न, सेवाल—ये तीन तापस अपने पाँच सौ-पाँच सौ शिष्यों सहित दीक्षित होते हैं। बुद्ध के धर्म-संघ में उरुवेल काश्यप, नन्दी काश्यप गया काश्यप ये तीन परिव्राजक अपने सहस्र शिष्यों सहित दीक्षित होते हैं।

ग्यारहवें प्रकरण में महावीर और बुद्ध के निकटतम अन्तेवासियों का बहुत ही रोचक एवं ज्ञानवर्धक परिचय दिया गया है। समान घटनाओं को खोला भी गया है। उदाहरणार्थ—"गौतम महावीर-निर्वाण के पश्चात् व्याकुल हुये। आनन्द (बुद्ध) निर्वाण से पूर्व ही एक ओर जाकर दीवाल की खूँटी पकड़ कर रोने लगे; जब कि उन्हें बुद्ध के द्वारा उसी दिन निर्वाण होने की सूचना मिल चुकी थी। महावीर-निर्वाण के पश्चात् गौतम उसी रात को केवली हो गये! बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् प्रथम बाद संगीति में जाने से पूर्व आनन्द भी अर्हत् हो गये। गौतम की तरह इनको भी अर्हत् न होने की आत्म-ग्लानि हुई।"

बारहवें प्रकरण में प्रमुख उपासक-उपासिकाओं के जीवन-वृत्त व घटना-प्रसंग दिये गये हैं। 'श्रमणोपासक' व 'श्रावक' शब्दों दोनों ही परम्पराओं में एकार्थवाची हैं।

तेरहवें प्रकरण में दोनों के दो प्रमुख विरोधी शिष्यों का वर्णन है। दोनों ही शिष्यों ने अपने-अपने शास्ता को मारने का प्रयत्न किया; दोनों ही प्रभावशाली थे; दोनों के ही पास लब्धि-बल था; दोनों को ही अन्त-समय में आत्म-ग्लानि हुई। दोनों के ही घटना-प्रसंग बहुत निकट एवं समान हैं।

चौदहवें "अनुयायी राजा" प्रकरण में श्रेणिक बिम्बिसार, अजातशत्रु कूणिक, अभयकुमार, उद्रायण, उदयन, चण्डप्रद्योत, प्रसेनजित्, चेटक, विडूडभ आदि राजाओं का दोनों परम्पराओं से सम्मत परिचय प्रस्तुत किया गया है। उक्त राजाओं में अधिकांश को दोनों ही परम्पराएँ अपना-अपना अनुयायी मानती हैं। यथार्थ में वे किस परम्परा के अनुयायी थे, यह पा लेना एक जटिल प्रश्न था। मुनि श्री ने एक तटस्थ पर्यवेक्षण एवं प्रामाणिक समीक्षा से यह निर्णायक रूप से बताया है कि कौन राजा यथार्थ में किस परम्परा का अनुयायी था। इस प्रश्न पर इतनी विस्तृत एवं आधारपूर्ण समीक्षा साहित्य के क्षेत्र में सचमुच ही एक नई देन है।

पन्द्रहवाँ "परिनिर्वाण" प्रकरण कितना सरस व समीक्षापूर्ण है, इसका परिचय हमें उसके प्रथम परिच्छेद से ही मिल जाता है। वहाँ बताया गया है— "महावीर का परिनिर्वाण 'पावा' में और बुद्ध का परिनिर्वाण 'कुसिनारा' में हुआ। दोनों क्षेत्रों की दूरी के विषय में **दीघनिकाय-अट्ठकथा** (सुमंगलविलासिनी) बताती है—"**पावानगरतो तीणि गावुतानि कुसिनारानगरं**" अर्थात् पावानगर से तीन गव्यूत (तीन कोस) कुसिनारा था। बुद्ध पावा से मध्याह्न में विहार कर सायंकाल कुसिनारा पहुँचते हैं। वे रुग्ण थे, अशक्त थे। विश्राम ले-लेकर वहाँ पहुंचे। इससे भी प्रतीत होता है कि पावा से कुसिनारा बहुत ही निकट था। कपिलवस्तु (लुम्बिनी) और वैशाली (क्षत्रिय-कुण्डपुर) के बीच २५० मील की दूरी मानी जाती है। जन्म की २५० मील की क्षेत्रीय दूरी निर्वाण में केवल ६ ही मील की रह गई। कहना चाहिए भावना से जो निकट थे, वे क्षेत्र से भी निकट हो गये।"

सोलहवें प्रकरण में महावीर और बुद्ध के विहार-क्षेत्रों और वर्षावास-क्षेत्रों की समय-सारिका प्रस्तुत की गई है। उससे यह भी जाना जा सकता है कि दोनों के कौन-कौन से वर्षावास एक साथ एक ही नगर में हुए।

सतरहवें सुविस्तृत प्रकरण में भगवान् महावीर व जैन-परम्परा से सम्बन्धित वे संदर्भ संगृहीत हैं, जो बौद्ध-साहित्य में उल्लिखित हैं। डॉ० जेकोबी ने "जैन सूत्रों" की भूमिका में इस प्रकार के ११ संदर्भ संगृहीत किये थे। उन्होंने इसे तब तक की उपलब्ध सामग्री का समग्र संकलन माना था। मुनि श्री ने प्रस्तुत प्रकरण में ५१ संदर्भ संगृहीत कर दिये हैं। मूल त्रिपिटकों के संदर्भ तो समग्र रूप से इसमें हैं ही तथा अट्ठकथाओं व इतर ग्रन्थों के भी उपलब्ध संदर्भ इसमें ले लिये गये हैं। शोध-विद्वानों के लिए यह एक अपूर्व संग्रह बन गया है। प्रत्येक संदर्भ पर समीक्षात्मक टिप्पण भी लिखे गये हैं। कुछ टिप्पण इतने विस्तृत हैं कि वे समीक्षात्मक लेख ही बन गये हैं। छः अभिजातियों का निरूपण पूरण काश्यप के नाम से भी मिलता है और गोशालक के नाम से भी। मुनि श्री ने इस गुत्थी को तार-तार कर खोल दिया है। उनका निष्कर्ष है—छः अभिजातियाँ मूलतः गोशालक द्वारा ही प्रतिपादित हुई हैं।

अभिजातियों के विषय में अर्थ-भेद भी एक पहेली बन रहा था। प्रस्तुत प्रकरण में उसे भी समाहित कर दिया गया है। छः लेश्याओं के साथ छः अभिजातियों की संक्षिप्त तुलना भी कर दी गई है।

अठारहवाँ प्रकरण "आचार-ग्रन्थ और आचार-संहिता" का है। इसमें जैन-आगम **निशीथ** और **विनयपिटक** की समानता को खोला गया है तथा उनके रचना-काल, रचयिताओं एवं भाषा-साम्य पर विचार किया गया है। जैन और बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार-नियमों का सुन्दर व सरस विवरण दिया गया है। दोनों धर्म-संघों की दीक्षा-प्रणाली एवं प्रायश्चित्त-विधि पर भी समीक्षा की गई है।

इस प्रकार उक्त अठारह प्रकरणों में मूल ग्रन्थ सम्पन्न होता है।

मुनि श्री की अब तक विभिन्न विषयों पर २५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। साहित्य-जगत् में उनका प्रचुर समादर हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ शोध व तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में मुनि श्री का अनूठा अनुदान सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के सम्पादन का दायित्व हम दोनों ने अपने ऊपर लिया और इस दिशा में कुछ कर पाये, यह कोई आभार की बात नहीं है। मुनि श्री नगराजजी के सान्निध्य से जो कुछ और जितना हमने सीखा व पाया, यह अणुरूप से उसका प्रतिदान भी हो सका, तो हम अपने को कृतकृत्य समझेंगे।

३ सितम्बर, १९६८

मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'
मुनि महेन्द्रकुमार 'द्वितीय'

विषयानुक्रमांक

परिशिष्ट—१ (Appendix–1) **५३७-६१३**

त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त : मूल पालि (Pāli Texts of the Tripitakas referring to Nigantha and Nigantha Nātaputta)

आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन

खण्ड—१

इतिहास और परम्परा

: १ :

महावीर और बुद्ध

एक या दो ?

भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध एक ही काल और एक ही देश में उत्पन्न हुए थे। दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे। दोनों ने ही युवावस्था में गृह-त्याग किया था, दोनों के एक-एक पत्नी[१] और एक-एक सन्तान थी। जैन और बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार सुदीर्घ साधना के पश्चात् दोनों को ही बोधिलाभ हुआ और उसके अनुसार दोनों का ही पथ-विस्तार हुआ। दोनों के ही अनुयायी श्रमण, भिक्षु और श्रावक कहलाये। दोनों के ही परिनिर्वाण पर मल्लकी, लिच्छवी उपासक राजा विद्यमान थे। अस्तु, भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के जीवन की ये असाधारण समानताएँ हैं, जो सहसा किसी एक विचारक को सोचने के लिए प्रेरित करती हैं—क्या महावीर और बुद्ध, इन दो नामों से पहचाने जाने वाला कोई एक ही तो महापुरुष नहीं है? यही तो कारण है कि, कई पश्चिमी विद्वान् मानने लगे कि बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति हैं; क्योंकि जैन और बौद्ध परम्परा की मान्यताओं में अनेकविध समानता है।

इतिहास के क्षेत्र में कुछ दिनों तक कुहासा-सा छाया रहा। किन्तु अनेकानेक प्रमाणों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि महावीर और बुद्ध—इन दो नामों से पहचाने जाने वाले दो पुरुष ही हैं। फिर भी उक्त समानताएं इतनी ज्वलन्त हैं कि इनकी ओर दृष्टिपात करने वाले विद्वान्, महावीर और बुद्ध एक ही थे, यह तथ्य समय-समय पर दुहराते ही जाते हैं। सन् १९६२ में लंका के प्रमुख विद्वान् डॉ० जयसूर्य राजगृह-यात्रा पर आये थे। वहाँ उन्होंने महावीर और बुद्ध के जीवन की उक्त समानताओं का ब्यौरा देते हुए पत्र-प्रतिनिधियों को बताया—"मेरे विचार में भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध कदाचित् ही दो पृथक् व्यक्ति रहे हैं। सम्भव है, इतिहासकार इस सम्बन्ध में निश्चित खोज करने में असमर्थ ही रहे हों।"[२]

समय-समय पर कुछ लोग इस तथ्य को भले ही दुहराते रहें, इतिहास बहुत स्पष्ट हो चुका है। यह कोई नई खोज न कहलाकर अब बीते युग की रट मात्र रह गई है। जब मैंने

---

१. दिगम्बर-परम्परा भगवान् महावीर को कुमारावस्था में ही प्रव्रजित मानती है।
२. हिन्दुस्तान, नई दिल्ली, ३१ मार्च, '६२।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म का अनुशीलन आरम्भ किया, सहसा मुझे भी लगा, महावीर और बुद्ध एक ही व्यक्ति हो सकते हैं, पर ज्यों-ज्यों विषय की गहराई में पहुंचा, उक्त धारणा स्वतः विलीन हो गई।

बुद्ध की साधना पर निर्ग्रन्थ-प्रभाव

भगवान् महावीर गौतम बुद्ध से ज्येष्ठ थे। भगवान् बुद्ध ने जब अपना धर्म-प्रचार प्रारम्भ किया था, तब भगवान् महावीर प्रचार की दिशा में बहुत कुछ कर चुके थे। भगवान् बुद्ध के एक जीवन-प्रसंग से यह भी पता चलता है कि वे अपनी साधनावस्था में पार्श्व-परम्परा या महावीर-परम्परा से किसी रूप में संबद्ध अवश्य रहे हैं। अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से वे कहते हैं—"सारिपुत्र! बोधि-प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी, मूंछों का लुंचन करता था। मैं खड़ा रह कर तपस्या करता था। उकड़ू बैठकर तपस्या करता था। मैं नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था।.........बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था। गर्भिणी व स्तनपान कराने वाली स्त्री से भिक्षा नहीं लेता था।"[१] यह समस्त आचार जैन साधुओं का है। कुछ स्थविर-कल्पिक साधुओं का और कुछ जिन-कल्पिक साधुओं का। इससे प्रतीत होता है कि गौतम बुद्ध पार्श्वनाथ परम्परा के किसी श्रमण-संघ में दीक्षित हुए और वहाँ से उन्होंने बहुत कुछ सद्ज्ञान प्राप्त किया।

जैन शास्त्रों व प्राचीन ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध की जीवन-गाथा विशेषतः उपलब्ध नहीं होती है। दिगम्बर-परम्परा के देवसेनाचार्य (८ वीं शत्ती) कृत **'दर्शनसार'** में गौतम बुद्ध द्वारा प्रारम्भ में जैन दीक्षा ग्रहण करने का आशय मिलता है। उसमें बताया गया है—"जैन श्रमण पिहिताश्रव ने सरयू नदी के तट पर पलाश नामक ग्राम में श्री पार्श्वनाथ के संघ में उन्हें दीक्षा दी और उनका नाम मुनि बुद्धकीर्ति रखा। कुछ समय पश्चात् वे मत्स्य-मांस खाने लगे और रक्त वस्त्र पहन कर अपने नवीन धर्म का उपदेश करने लगे।"[२] यह उल्लेख अपने

---

१. मज्झिम निकाय, महासिंहनाद सुत्त, १।१।२; धर्मानन्द कोसम्बी, भगवान् बुद्ध, पृ० ६८-६९।

२. सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बड्ढकित्तिमुणी॥
तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं॥
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय-दुद्ध-सक्करए।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो॥
—देवसेनाचार्य, दर्शनसार : पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०, श्लोक ६-८

आप में कोई बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व नहीं रखता, फिर भी तथाप्रकार के समुल्लेखों के साथ अपना एक स्थान अवश्य बना लेता है।

पं० सुखलालजी ने **'चार तीर्थंकर'** में व बौद्ध विद्वान् श्री धर्मानन्द कोशाम्बी ने **'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म'** में यही धारणा व्यक्त की है कि भगवान् बुद्ध ने पार्श्वनाथ की परम्परा को अवश्य स्वीकार किया था, भले ही ऐसा थोड़े समय के लिए हुआ हो। वहीं उन्होंने केशलुंचन आदि की साधनाएं कीं और 'चातुर्याम' का मर्म पाया।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं—"वास्तविक बात यह ज्ञात होती है कि बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उस काल में प्रचलित दोनों साधनाओं का अभ्यास किया, आलार और उद्रक के निर्देशानुसार ब्राह्मण मार्ग का और तब जैन मार्ग का और बाद में अपने स्वतंत्र साधना-मार्ग का विकास किया।"[1] उन्होंने यह भी माना है—"………वे मगध जनपद के सैनिक-सन्निवेश उरुवेला नामक स्थान में गये और वहां नदी और ग्राम के समीप, जहां भिक्षा की सुविधा थी, रह कर उच्चतर ज्ञान के लिए प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न का रूप उत्तरोत्तर कठोर होता हुआ तप था, जिसका जैन-धर्म में उपदेश है, जिसके करने से उनका शरीर अस्थि-पंजर और त्वचामात्र रह गया। उन्होंने श्वास-प्रश्वास और भोजन दोनों का नियमन किया एवं केवल मूग, कुलथी, मटर और हरेणुका का अपने अञ्जलिपुट की मात्रा-भर स्वल्प यूष लेकर निर्वाह करने लगे।"[2]

श्रीमती राइस डेविड्स का कहना है—"बुद्ध ने अपनी खोज का आरम्भ पांच परिव्राजकों के साथ किया, जो पंचवर्गीय भिक्षु कहलाते थे। उनके नाम थे—आज्ञाकौण्डिन्य, अश्वजित्, वाप्प, महानाम और भद्रिक। उन्होंने नैतिक और मानसिक जीवन में बुद्ध की बहुत प्रकार से सहायता की। उन्होंने तप करना आरम्भ किया, जिसका वैशाली के जैनों में बहुत प्रचार था। वे समकालीन सिद्धान्तों की भी चर्चा करते रहते थे। उन्होंने निर्ग्रन्थों से प्रकृति और कर्म के विषय में, आलार और उद्रक से ध्यान के विषय में एवं सांख्य से संसार विषयक ब्राह्मणेतर विचारों की पद्धति को लिया, जिसकी मथुरा या तक्षशिला में आचार्य कपिल ने सर्वप्रथम शिक्षा दी थी। और भी बहुत-सी बातों का वे पारस्परिक विचार करते थे। इस सामग्री में से गढ़ कर गौतम ने अपना नया मार्ग निकाला।"[3]

---

१. डा० राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता : डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अनूदित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५५, पृ० २३९

२. वही, पृ० २३९-४०

३. Mrs. Rhys Davids, *Sakya*, p. 123

श्रीमती राइस डेविड्स ने गौतम बुद्ध द्वारा जैन तप-विधि का अभ्यास किये जाने की अन्यत्र भी चर्चाएं की हैं—"बुद्ध पहले गुरु की खोज में वैशाली पहुंचे, वहां आलार और उद्दक से उनकी भेंट हुई, फिर बाद में उन्होंने जैनधर्म की तप-विधि का अभ्यास किया।"[1]

*

१. Mrs. Rhys Davids, *Gautama the Man*, pp. 22-25

: २ :

समसामयिक धर्म-नायक

भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के युग में श्रमणों व ब्राह्मणों का संघर्ष बहुत ज्वलन्त हो चुका था। श्रमण-सम्प्रदाय भी अनेक हो चुके थे। वे ब्राह्मण-परम्परा से लोहा ले रहे थे, तो एक ओर पारस्परिक वाद विवाद में भी लगे थे, ऐसा आगमों व पिटकों से विदित होता है।

त्रिपिटकों में

त्रिपिटकों में सात जिनों की चर्चा कई स्थानों पर मिलती है। वे सात जिन थे—पूर्ण काश्यप, मक्खली गोशाल, अजित केशकम्बल, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्र, निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र और गौतम बुद्ध। **दीघ निकाय** के **'सामञ्ञफल सुत्त'** में सातों धर्मनायकों की मान्यता का विवरण मिलता है। धर्मानन्द कोसम्बी ने उन मान्यताओं का सार निम्न रूप में उपस्थित किया है :[1]

१. पूर्ण काश्यप : अक्रियवादी

पूर्ण काश्यप अक्रियवाद के समर्थक थे। वे कहते थे—"अगर कोई कुछ करे या कराये, काटे या कटाये, कष्ट दे या दिलाये, शोक करे या कराये, किसी को कुछ दुःख हो या कोई दे, डर लगे या डराये, प्राणियों को मार डाले, चोरी करे, घर में सेंध लगाये, डाका डाले, एक ही मकान पर धावा बोल दे, बटमारी करे, परदारागमन करे या असत्य बोले, तो भी उसे पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धार वाले चक्र से यदि कोई इस संसार के पशुओं के मांस का बड़ा ढेर लगा दे, तो भी उसमें बिलकुल पाप नहीं है। उसमें कोई दोष नहीं है। गंगा नदी के दक्षिणी किनारे पर जाकर यदि कोई मार-पीट करे, काटे या कटवाये, कष्ट दे या दिलाये तो भी उसमें बिलकुल पाप नहीं है। गंगा नदी के उत्तरी किनारे पर जाकर यदि कोई अनेक दान करे या करवाये, यज्ञ करे या करवाये, तो भी उसमें कोई पुण्य नहीं मिलता। दान, धर्म संयम और सत्य-भाषण से पुण्य की प्राप्ति नहीं होती।"

---

१. भगवान् बुद्ध, पृ० १८१-१८३।

२. मक्खलि गोशाल : नियतिवादी

मक्खलि गोशाल संसार-शुद्धिवादी या नियतिवादी थे। वे कहते थे—"प्राणी की अपवित्रता के लिए कोई हेतु नहीं होता, कोई कारण नहीं होता। हेतु के बिना, कारण के बिना प्राणी अपवित्र होते हैं। प्राणी की शुद्धि के लिए कोई हेतु नहीं होता, कोई कारण नहीं होता। हेतु के बिना, कारण के बिना प्राणी शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य से कुछ नहीं होता। दूसरे के सामर्थ्य से कुछ नहीं होता। पुरुष के सामर्थ्य से कुछ नहीं होता। किसी में बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष-शक्ति नहीं है, पुरुष-पराक्रम नहीं है। सर्वसत्व, सर्वप्राणी, सर्वभूत, सर्वजीव तो अवश, दुर्बल एवं निर्वीर्य हैं। वे नियति (भाग्य), संगति एवं स्वभाव के कारण परिणत होते हैं और छः में से किसी एक जाति (वर्ग) में रह कर सुख-दुःख का उपभोग करते हैं।"

३. अजित केशकम्बल : उच्छेदवादी

अजित केशकम्बल उच्छेदवादी थे। वे कहते थे—"दान, यज्ञ और होम में कुछ तथ्य नही है। अच्छे या बुरे कर्मों का फल और परिणाम नहीं होता। इहलोक, परलोक, माता-पिता अथवा औपपातिक (देवता या नरकवासी) प्राणी नहीं हैं। इहलोक और परलोक का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर दूसरों को देने वाले दार्शनिक और योग्य मार्ग पर चलने वाले श्रमण ब्राह्मण इस संसार में नहीं हैं। मनुष्य चार भूतों का बना हुआ है। जब वह मरता है तब उसके अन्दर की पृथ्वी-धातु पृथ्वी में, आपो-धातु जल में, तेजो-धातु तेज में और वायु-धातु वायु में जा मिलती है तथा इन्द्रियां आकाश में चली जाती हैं। मृत व्यक्ति को अर्थी पर रख कर चार पुरुष श्मशान में ले जाते हैं। उसके गुण-अवगुणों की चर्चा होती है। उसकी अस्थियां श्वेत हो जाती हैं। उसे दी जाने वाली आहुतियां भस्म रूप बन जाती हैं। दान का झगड़ा मूर्ख लोगों ने खड़ा कर दिया है। जो कोई आस्तिकवाद बताते हैं, उनकी वह बात बिलकुल झूठी और वृथा बकवास होती है। शरीर के भेद के पश्चात् विद्वानों और मूर्खों का उच्छेद होता है, वे नष्ट होते हैं। मृत्यु के अनन्तर उनका कुछ भी शेष नहीं रहता।"

४. प्रक्रुध कात्यायन : अन्योन्यवादी

प्रक्रुध कात्यायन अन्योन्यवादी थे। वे कहते थे—"सात पदार्थ किसी के किये, करवाये, बनाये या बनवाये हुए नहीं हैं, वे तो वन्ध्य, कूटस्थ और नगर-द्वार के स्तम्भ की तरह अचल हैं। वे न हिलते हैं, न बदलते हैं। एक-दूसरे को वे नहीं सताते, एक-दूसरे का सुख-दुःख उत्पन्न करने में वे असमर्थ हैं। वे हैं—पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख, दुःख एवं जीव। इन्हें मारने वाला, मरवाने वाला, सुनने वाला, सुनाने वाला, जानने वाला अथवा इनका वर्णन करने वाला कोई भी नहीं है। जो कोई तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का सिर काट डालता है,

वह उसका प्राण नहीं लेता। इतना ही समझना चाहिए कि सात पदार्थों के बीच के अवकाश में शस्त्र घुस गया है।"

५. संजय वेलट्ठिपुत्र : विक्षेपवादी

संजय वेलट्ठिपुत्र विक्षेपवादी थे। वे कहते थे—"यदि कोई मुझे पूछे कि क्या परलोक है और अगर मुझे ऐसा लगे कि परलोक है, तो मैं कहूंगा—हां। परन्तु मुझे वैसा नहीं लगता। मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि परलोक नहीं है। औपपातिक प्राणी है या नहीं, अच्छे-बुरे कर्म का फल होता है या नहीं, तथागत मृत्यु के बाद रहता है या नहीं, इनमें से किसी भी बात के विषय में मेरी कोई निश्चित धारणा नहीं है।"

६. निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र : चातुर्याम संवरवादी

"निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) चातुर्याम संवरवादी थे। उनके चार संवर थे :

१. निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है, जिससे जल के जीव न मर जायें।

२. निर्ग्रन्थ सभी पापों का वारण करता है।

३. निर्ग्रन्थ सभी पापों के वारण करने से धुतपाप हो जाता है।

४. निर्ग्रन्थ सभी पापों के वारण करने में लगा रहता है।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ चार संवरों से संवृत रहता है, इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा (अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।"[1]

छः धर्मनायकों की उक्त मान्यताएं बौद्ध शास्त्रकारों ने निराकरण-बुद्धि से यहां प्रस्तुत की हैं, इसलिए यह नहीं मान लेना चाहिए कि उक्त धर्मनायकों की मान्यताओं का यह कोई सर्वांशतः प्रामाणिक और पर्याप्त ब्यौरा है। निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की उक्त मान्यता के पठन मात्र से ही स्पष्ट होता है कि बौद्ध शास्त्रकारों ने यहां पर्याप्त तटस्थता और पूर्ण जानकारी से काम नहीं लिया है। इसी प्रकार अन्य धर्म-नायकों के सम्बन्ध में भी यही सोचा जा सकता है। किन्तु कुल मिलाकर यह मान लेने में भी कोई हानि नहीं लगती कि स्थूल रूप से विभिन्न धर्म-नायकों की विभिन्न मान्यताओं का एक अस्पष्ट और अपूर्ण-सा प्रतिबिम्ब इनमें अवश्य आया है। जो मान्यताएं आज लुप्त हो चुकी हैं, उनकी जानकारी के लिए ये प्रकरण अवश्य उपयोगी हो जाते हैं।

'सामञ्ञफल सुत्त' के इस सारे प्रकरण का अभिप्राय भी अन्य सारे धर्म-नायकों की न्यूनता बतलाकर गौतम बुद्ध की श्रेष्ठता बतलाना है। वह भी इस सन्दर्भ में कि अजातशत्रु (कोणिक) गौतम बुद्ध के पास आता है और श्रामण्य का प्रत्यक्ष फल पूछता है। गौतम बुद्ध द्वारा यह पूछे जाने पर, "राजन्! यह श्रामण्यफल क्या आपने और तीर्थिकों से भी पूछा

---

१. दीघ-निकाय (हिन्दी अनुवाद), पृ० २१ का सार।

है ?" अजातशत्रु ने कहा—"मैं छहों धर्म-नायकों को यह प्रश्न पूछ चुका हूँ। उन्होंने अपने-अपने मत बतलाये, पर प्रश्न का यथोचित उत्तर नहीं दिया। भन्ते! जैसा कि पूछे आम, उत्तर दे कटहल, पूछे कटहल, उत्तर दे आम। अतः मुझे उनके उत्तर से कोई सन्तोष नहीं मिला।"

भगवान् बुद्ध ने अपनी ओर से प्रत्यक्ष श्रामण्य-फल बताते हुए कहा—"राजन्! आपके अभिप्राय के अनुसार चलने वाला, सेवाभावी, मधुरभाषी और प्रत्येक कार्य में तत्पर आपका एक कर्मकर सोचता है, पुण्य की गति और पुण्य का फल बड़ा अद्भुत और आश्चर्यकारी है। ये मगधराज अजातशत्रु भी मनुष्य हैं और मैं भी मनुष्य ही हूँ। ये पांच प्रकार के कामगुणों का भोग करते हुए देवता की तरह विचरते हैं और मैं इनका दास हूँ, अतः इनकी सेवा करता हूँ। मुझे पुण्य-कार्य करना चाहिए। सिर और दाढ़ी मुंड़वा कर, काषाय वस्त्र पहन, घर से बेघर हो प्रव्रजित हो जाना चाहिए। और उसने वैसा ही किया। शरीर, वचन और मन से संवृत होकर वह विहार करने लगा। मात्र भोजन और वस्त्रों में ही सन्तुष्ट रह कर एकान्त में लीन रहने लगा। राजन्! कोई नागरिक आकर आपको इस घटना से सूचित करे तो क्या आप चाहेंगे कि वह पुरुष उस साधना से लौट आये और पुनः कर्मकर होकर ही रहे?"

"नहीं भन्ते! ऐसा नहीं होगा। हम तो उसका अभिवादन करेंगे, प्रत्युत्थान करेंगे, उसकी सेवा करेंगे, उसको आसन देंगे और चीवर, पिण्डपात, शयन आसन, औषधि व पथ्य आदि के लिए उसे निमंत्रण देंगे। उसकी सभी तरह से देख-भाल करेंगे।"

"राजन्! यदि यह ऐसा ही है तो क्या यह सांदृष्टिक (प्रत्यक्ष) श्रामण्य-फल नहीं है?"

"अवश्य, भन्ते! यह सांदृष्टिक श्रामण्य-फल ही है।"

आगमों में

सूत्रकृतांग आगम में भी **'सामञ्ञफल सुत्त'** की तरह समसामयिक अनेक मतवादों का वर्णन मिलता है। वहाँ "कुछ एक ऐसा मानते हैं" की शैली से ही मुख्यतः लिखा गया है। मतों व मत-प्रवर्तकों के उल्लेख वहां नहीं हैं। इसी आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ० १, उद्देशक १, गाथा १३ में पूर्ण काश्यप के अक्रियवाद[1] की, गाथा १५-१६ में प्रक्रुध कात्यायन

---

१. कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ॥

के अन्योन्यवाद[1] की, गाथा ११-१२ में अजितकेश कम्बल के उच्छेदवाद[2] की स्पष्ट झलक मिलती है। इस आगम में वर्णित अज्ञानवाद में संजय बेलट्ठिपुत्र के विक्षेपवाद की झलक मिलती है। बौद्ध और आजीविकों के तो वहाँ स्पष्ट अभिमत मिलते ही हैं। टीकाकार श्री शीलांकाचार्य ने इन मतों की पहचान बौद्ध, बार्हस्पत्य, चार्वाक, वेदान्त, सांख्य, अदृष्टवाद, आजीवक, त्रैराशिक, शैव आदि मतों के रूप में की है।

जैन शास्त्रकारों ने तत्कालीन विभिन्न मतों को क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और वैनयिकवाद के विभागों में बाँटा है।

आर्द्रक मुनि

सूत्रकृतांग का **अद्दइज्जणाम (आर्द्रकीयाख्य)** अध्ययन भी **सामञ्ञफल सुत्त** की तरह उस समय के विभिन्न मतवादों का सुन्दर संकेत देता है। आर्द्रककुमार आर्द्रकपुर के राजकुमार थे[3]। उनके पिता ने एक बार अपने मित्र राजा श्रेणिक के लिए बहुमूल्य उपहार भेजे। उस समय आर्द्रककुमार ने भी अभयकुमार के लिए उपहार भेजे। राजगृह से भी उनके बदले में उपहार आये। आर्द्रककुमार के लिए अभयकुमार की ओर से धर्मोपकरण के रूप में उपहार आया। उसे पाकर आर्द्रककुमार प्रतिबुद्ध हुए। जाति-स्मरण ज्ञान के आधार से उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और वहाँ से भगवान् महावीर की ओर विहार किया। मार्ग में एक-एक कर विभिन्न मतों के अनुयायी मिले। उन्होंने आर्द्रककुमार से धर्म-चर्चाएँ कीं। आर्द्रककुमार मुनि ने भगवान् महावीर के मत का समर्थन करते हुए सभी मतवादों का खण्डन किया। वह सरस चर्चा-प्रसंग इस प्रकार है :

गोशालक—आर्द्रक ! मैं तुम्हें महावीर के विगत जीवन की कथा सुनाता हूँ। वह पहले एकान्त विहारी श्रमण था। अब वह भिक्षु-संघ के साथ धर्मोपदेश करने चला है। इस प्रकार उस अस्थिरात्मा ने अपनी आजीविका चलाने का ढोंग रचा है। उसके वर्तमान के आचरण में और विगत के आचरण में स्पष्ट विरोध है।

---

१. सन्ति पंच महब्भूया, इहमेगेसि आहिया।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए॥
दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं।
सव्वेऽवि सव्वहा भावा, नियत्ती भाव मागया॥

२. पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिआ।
संति पिच्चा न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया॥
नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो॥

३. डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने आर्द्रककुमार को ईरान के ऐतिहासिक सम्राट् कुरुष (ई० पू० ५५८-५३०) का पुत्र माना है। (भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६१, पृ० ६७-६८)

आर्द्रक मुनि—भगवान् महावीर का एकान्त-भाव अतीत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालों में स्थिर रहने वाला है। राग-द्वेष से रहित वे सहस्रों के बीच में रह कर भी एकान्त-साधना कर रहे हैं। जितेन्द्रिय साधु वाणी के गुण-दोषों को समझता हुआ उपदेश दे, इसमें किंचित् भी दोष नहीं है। जो महाव्रत, अणुव्रत, आश्रव, संवर आदि श्रमण-धर्मों को जान कर, विरक्ति को अपना कर, कर्म-बन्धन से दूर रहता है, उसे मैं श्रमण मानता हूँ।

गोशालक—हमारे सिद्धान्त के अनुसार कच्चा पानी पीने में, बीजादि धान्य के खाने में, उद्दिष्ट आहार के ग्रहण में तथा स्त्री-संभोग में एकान्त विहारी तपस्वी को कोई पाप नहीं लगता।

आर्द्रक मुनि—यदि ऐसा है, तो सभी गृहस्थी श्रमण ही है, क्योंकि वे ये सभी कार्य करते हैं। कच्चा पानी पीने वाले, बीज धान्य आदि खाने वाले भिक्षु तो केवल पेट भराई के लिए ही भिक्षु बने हैं। संसार का त्याग करके भी ये मोक्ष को पा सकेंगे, ऐसा मैं नहीं मानता।

गोशालक—ऐसा कह कर तो तुम सभी मतों का तिरस्कार कर रहे हो।

आर्द्रक मुनि—दूसरे मत वाले अपने मत का बखान करते हैं और दूसरों की निन्दा। वे कहते हैं—तत्त्व हमें ही मिला है, दूसरों को नहीं। मैं तो मिथ्या मान्यताओं का तिरस्कार करता हूँ, किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं। जो संयमी किसी स्थावर प्राणी को कष्ट देना नहीं चाहते, वे किसी का तिरस्कार कैसे कर सकते हैं?

गोशालक—तुम्हारा श्रमण उद्यान-शालाओं में, धर्मशालाओं में इसलिए नहीं ठहरता कि वहाँ अनेक तार्किक पण्डित, अनेक विज्ञ भिक्षु ठहरते हैं। उसे डर है कि वे मुझे कुछ पूछ बैठें और मैं उनका उत्तर न दे सकूँ।

आर्द्रक मुनि—भगवान् महावीर बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करते तथा वे बालक की तरह बिना विचारे भी कोई काम नहीं करते। वे राज-भय से भी धर्मोपदेश नहीं करते; फिर दूसरे भय की तो बात ही क्या? वे प्रश्नों का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते। वे अपनी सिद्धि के लिए तथा आर्य लोगों के उद्धार के लिये उपदेश करते हैं। वे सर्वज्ञ सुनने वालों के पास जाकर अथवा न जाकर धर्म का उपदेश करते हैं, किन्तु अनार्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं; इसलिए भगवान् उनके पास नहीं जाते।

गोशालक—जैसे लाभार्थी वणिक् क्रय-विक्रय की वस्तु को लेकर महाजनों से सम्पर्क करता है; मेरी दृष्टि से तुम्हारा महावीर भी लाभार्थी वणिक् है।

आर्द्रक मुनि—महावीर नवीन कर्म नहीं करते। पुराने कर्मों का नाश करते हैं। वे मोक्ष का उदय चाहते हैं, इस अर्थ में वे लाभार्थी हैं; यह मैं मानता हूँ। वणिक् तो हिंसा,

असत्य, अब्रह्म आदि अनेक पाप-कर्म करने वाले हैं और उनका लाभ भी चार गति में भ्रमण रूप है। भगवान् महावीर जो लाभ अर्जित कर रहे हैं, उसकी आदि है, पर अन्त नहीं है। वे पूर्ण अहिंसक, परोपकारक और धर्म-स्थित हैं। उनकी तुलना तुम आत्म-अहित करने वाले वणिक् के साथ कर रहे हो, यह तुम्हारे अज्ञान के अनुरूप ही है।

बौद्ध भिक्षु

बौद्ध भिक्षु—कोई पुरुष खली के पिण्ड को भी पुरुष मान कर पकाये अथवा तुम्बे को बालक मान कर पकाये तो वह हमारे मत के अनुसार पुरुष और बालक के वध का ही पाप करता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति पुरुष व बालक को खली व तुम्बा समझ कर भेदित करता है व पकाता है तो वह पुरुष व बालक के वध करने का पाप उपार्जित नहीं करता। साथ-साथ इतना और कि हमारे मत में वह पक्व मांस पवित्र और बुद्धों के पारणे के योग्य है।

आर्द्रककुमार! हमारे मत में यह भी माना गया है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन दो सहस्र स्नातक[1] (बोधिसत्त्व) भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह देवगति में आरोप्य[2] नामक सर्वोत्तम देव होता है।[3]

आर्द्रककुमार—इस प्रकार प्राण-भूत की हिंसा करना और उसमें पाप का अभाव कहना; संयमी पुरुष के लिए उचित नहीं है। इस प्रकार का जो उपदेश देते हैं और जो सुनते हैं, वे दोनों ही प्रकार के लोग अज्ञान और अकल्याण को प्राप्त करने वाले हैं। जिसे प्रमाद-रहित होकर संयम और अहिंसा का पालन करना है और जो स्थावर व जंगम प्राणियों के स्वरूप को समझता है, क्या वह कभी ऐसी बात कह सकता है? जो तुम कहते

---

१. श्री शीलांकाचार्य, सूत्रकृतांगवृत्ति, प्र० श्री गोडीजी पार्श्वनाथ जैन देरासरपेढ़ी, बम्बई, १९५० श्रु० २, अ० ६, गा० २९।

२. दीघ निकाय, महानिदान सुत्त में काम भव, रूप भव, अरूप भव—बुद्ध ने ये तीन प्रकार के भव बतलाये हैं। अरूप भव का अर्थ निराकार लोक बतलाया है।

३. पिन्नागपिंडीमवि विद्ध सूले, केइ पएज्जा पुरिसे इमेत्ति।
अलाउयं वावि कुमारएत्ति, स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं॥
अहवावि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीइ नरं पएज्जा।
कुमारगं वावि अलाबुयंति, न लिप्पइ पाणिवहेण अम्हं॥
पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा, सूलंमि केई पए जायतेए।
पिन्नायपिंडं सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए॥
सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णियए भिक्खुयाणं।
ते पुन्नखंधं सुमहं जीणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता॥
—श्री सूत्रकृतांग सूत्रम्, प्र० महावीर जैन, ज्ञानोदय सोसायटी, राजकोट, १९३८, श्रु० २ अ० ६।

हो। बालक को तुम्बा समझ कर और तुम्बे को बालक समझ कर पका ले, क्या यह कोई होने वाली बात है ? जो ऐसा कहते हैं, वे असत्य-भाषी और अनार्य हैं।

मन में तो बालक को बालक समझना और ऊपर से उसे तुम्बा कहना, क्या यह संयमी पुरुष के लक्षण हैं ? स्थूल और पुष्ट भेड़ को मार कर, उसे अच्छी तरह से काट कर, उसके मांस में नमक डाल कर, तेल में तल कर, पिप्पली आदि द्रव्यों से बघार कर तुम्हारे लिए तैयार करते हैं ; उस मांस को तुम खाते हो और यह कहते हो कि हमें पाप नहीं लगता ; यह सब तुम्हारे दुष्ट स्वभाव तथा रस-लंपटता का सूचक है। इस प्रकार का मांस कोई अनजान में भी खाता है, वह पाप करता है ; फिर यह कह कर कि हम जान कर नहीं खाते ; इसलिए हमें दोष नहीं है, सरासर झूठ नहीं तो क्या है ?

प्राणी-मात्र के प्रति दया-भाव रखने वाले, सावद्य दोषों का वर्जन करने वाले ज्ञातपुत्रीय भिक्षु दोष की आशंका से उद्दिष्ट भोजन का ही विवर्जन करते हैं। जो स्थावर और जंगम प्राणियों को थोड़ी भी पीड़ा हो ; ऐसा प्रवर्तन नहीं करते हैं, वे ऐसा प्रमाद नहीं कर सकते। संयमी पुरुष का धर्म-पालन इतना सूक्ष्म है।

जो व्यक्ति प्रतिदिन दो-दो सहस्र स्नातक भिक्षुओं को भोजन खिलाता है, वह तो पूर्ण असंयमी है। लोही से सने हाथ वाला व्यक्ति इस लोक में भी तिरस्कार का पात्र है, उसके परलोक में उत्तम गति की तो बात ही कहाँ ?

जिस वचन से पाप को उत्तेजन मिलता है, वह वचन कभी नहीं बोलना चाहिए। तथाप्रकार की तत्त्व-शून्य वाणी गुणों से रहित है। दीक्षित कहलाने वाले भिक्षुओं को तो यह कभी बोलनी ही नहीं चाहिए।

हे भिक्षुओ ! तुमने ही पदार्थ का ज्ञान प्राप्त किया है और जीवों के शुभाशुभकर्म-फल को समझा है। सम्भवतः इसी विज्ञान से तुम्हारा यश पूर्व व पश्चिम समुद्र तक फैला है और तुमने ही समस्त लोक को हस्तगत पदार्थ की तरह देखा है।

वेदवादी ब्राह्मण

वेदवादी—जो प्रतिदिन दो सहस्र स्नातक ब्राह्मणों को भोजन खिलाता है, वह पुण्य की राशि एकत्रित कर देव-गति में उत्पन्न होता है, ऐसा हमारा वेद-वाक्य है।

आर्द्रक मुनि—मार्जार की तरह घर-घर भटकने वाले दो हजार स्नातकों को जो खिलाता है, मांसाहारी पक्षियों से परिपूर्ण तथा तीव्र वेदनामय नरक में जाता है। दया-प्रधान धर्म की निन्दा और हिंसा-प्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला मनुष्य एक भी शील रहित ब्राह्मण को खिलाता है, तो वह अन्धकार युक्त नरक में भटकता है। उसे देव-गति कहाँ है ?

आत्माद्वैतवादी

आत्माद्वैतवादी[1]—आर्द्रकमुनि ! अपने दोनों का धर्म समान है। वह भूत में भी था और भविष्य में भी रहेगा। अपने दोनों धर्मों में आचार प्रधान शील तथा ज्ञान को महत्त्व दिया गया है। पुनर्जन्म की मान्यता में भी कोई भेद नहीं है। किन्तु हम एक अव्यक्त, लोकव्यापी, सनातन, अक्षय और अव्यय आत्मा को मानते हैं। वह प्राणीमात्र में व्याप्त है, जैसे—चन्द्र तारिकाओं में।

आर्द्रक मुनि—यदि ऐसा हो तो फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व दास ; इसी प्रकार कीड़े, पंखी, सर्प, मनुष्य व देव आदि भेद ही नहीं रहेंगे और वे पृथक्-पृथक् सुख-दुःख भोगते हुए इस संसार में भटकेंगे भी क्यों ?

परिपूर्ण कैवल्य से लोक को समझे बिना जो दूसरों को धर्मोपदेश करते हैं, वे अपना और दूसरों का नाश करते हैं। परिपूर्ण कैवल्य से लोक-स्वरूप को समझ कर तथा पूर्ण ज्ञान में समाधियुक्त बन कर जो धर्मोपदेश करते हैं, वे स्वयं तर जाते हैं और दूसरों को भी तार लेते हैं।

इस प्रकार तिरस्कार योग्य ज्ञान वाले आत्माद्वैतवादियों को और सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र युक्त जिनों को अपनी समझ में समान बतला कर हे आयुष्मन् ! तू अपनी ही विपरीतता प्रकट करता है।

हस्ती तापस

हस्ती तापस—हम एक वर्ष में एक बड़े हाथी को मार कर अपनी आजीविका चलाते हैं। ऐसा हम अन्य समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पा-बुद्धि रखते हुए करते हैं।

आर्द्रक मुनि—एक वर्ष में एक ही प्राणी मारते हो और फिर चाहे अन्य जीवों को नहीं भी मारते, किन्तु इतने भर से तुम दोष-मुक्त नहीं हो जाते। अपने निमित्त एक ही प्राणी का वध करने वाले तुम्हारे और गृहस्थों में थोड़ा ही अन्तर है। तुम्हारे जैसे आत्म-अहित करने वाले मनुष्य कभी केवल-ज्ञानी नहीं हो सकते।

तथारूप स्वकल्पित धारणाओं के अनुसरण करने की अपेक्षा जिस मनुष्य ने ज्ञानी के आज्ञानुसार मोक्ष-मार्ग में मन, वचन, काया से अपने आपको स्थित किया है तथा जिसने दोषों से अपनी आत्मा का संरक्षण किया है और इस संसार-समुद्र को तैरने के साधन प्राप्त किये हैं ; वही पुरुष दूसरों को धर्मोपदेश दे।

---

१. टीकाकार श्री शीलांकाचार्य ने (२-६-४९) इसे एकदण्डी कहा है। डा० हरमन जेकोबी ने अपने अंग्रेजी अनुवाद (*S.B.E.* vol. *XIV*, p. 417 n.) में इसे वेदान्ती कहा है। प्रस्तुत मान्यता को देखते हुए डा० जेकोबी का अर्थ संगत लगता है। टीकाकार ने भी अगली गाथा में यही अर्थ स्वीकार किया है।

सामञ्ञफल सुत्त की तरह **सूत्रकृतांग** का यह **अद्दइज्जनाम** अध्ययन पर-मत-निराकरण का तो है ही। प्रकरण की मूल गाथाओं में अधिकांशतः चर्चित मतों के नाम नहीं है। व्याख्याकारों ने भावानुगत संज्ञायें दी हैं। गाथा २८ में **बुद्धाण तं कप्पति पारणाए** का प्रयोग हुआ है। वहाँ अभिप्रेत है ; तथारूप मांस बुद्धों के पारणा के लिए विहित है। टीकाकार ने बुद्ध शब्द को बुद्धों के अर्थ में ही ग्रहण किया है। इसका अर्थ यदि व्यक्तिगत गौतम बुद्ध से नहीं लेते हैं तो कहा जा सकता है ; जैन आगमों में कहीं भी गौतम बुद्ध की नामग्राह चर्चा नहीं है। गाथा २९ में **सिणायगाणं**—स्नातक शब्द का प्रयोग हुआ है। टीकाकार ने उसका अर्थ बोधिसत्त्व किया है। किन्तु यह अर्थ भावानुगत ही कहा जा सकता है। अन्यत्र टीकाकार ने भी इसका अर्थ **नित्यं स्नायिनो ब्रह्मचारिणः स्नातकाः** किया है।

बुद्ध शब्द का प्रयोग जैसे बौद्धों की वक्तव्यता में हुआ है ; वैसे आर्द्रककुमार ने भी शील-गुणोपपेत जैन मुनि को बुद्ध[1] कहा है।

जीवन-परिचय

महावीर और बुद्ध के जीवन-वृत्त तो पर्याप्त रूप में यत्र-यत्र मिल ही रहे हैं ; शेष पाँच धर्मनायकों के प्रामाणिक और पर्याप्त जीवन-वृत्त नहीं मिल रहे हैं। इसका कारण उनके सम्प्रदायों का लोप हो जाना है। आगमों और त्रिपिटकों में किन्हीं-किन्हीं धर्म-नायकों के जीवन-प्रसंग यत्किंचित् रूप में मिलते हैं।

१. *पूर्णकाश्यप*

अनुभवों से परिपूर्ण मान कर लोग इन्हें पूर्ण कहते थे ; ब्राह्मण थे ; इसलिए काश्यप। वे नग्न रहते थे और उनके अस्सी हजार अनुयायी थे। एक बौद्ध किंवदन्ती के अनुसार यह एक प्रतिष्ठित गृहस्थ के पुत्र थे। एक दिन उनके स्वामी ने उन्हें द्वारपाल का काम सौंपा। उन्होंने इसे अपना अपमान समझा। वे विरक्त होकर अरण्य की ओर चल पड़े। मार्ग में चोरों ने इनके कपड़े छीन लिये। तब से वे नग्न ही रहने लगे। एक बार जब वे किसी ग्राम में गये, तो लोगों ने उन्हें पहनने के लिए वस्त्र दिये। उन्होंने यह कह कर वस्त्र लौटा दिये—"वस्त्र का प्रयोजन लज्जानिवारण है और लज्जा का मूल पापमय प्रवृत्ति है। मैं तो पापमय प्रवृत्ति से दूर हूँ ; अतः मुझे वस्त्रों का क्या प्रयोजन ?" पूरण काश्यप की निस्पृहता और असंगता देखकर जनता उनकी अनुयायी होने लगी।[2]

---

१. निग्गंथधम्मंमि इमं समाहि, अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए, अच्चत्थतं (ओ) पाउणती सिलो ॥

२. बौद्धपर्व (मराठी), प्र० १०, पृ० १२७ ; भगवती सूत्र, पं० बेचरदास द्वारा अनूदित व संशोधित, द्वितीय खण्ड, पृ० ५६।

जैन आगम भगवती सूत्र[1] में पूरण तापस का विस्तृत वर्णन मिलता है। वह भी भगवान् महावीर का समसामयिक था ; पर पूरण काश्यप के साथ उसकी कोई संगति हो, ऐसा नहीं लगता।

उनके निधन के सम्बन्ध में धम्मपदअट्ठकथा में एक बहुत ही अद्भुत तथा अस्वाभाविक-सा वृत्तान्त मिलता है। वहाँ बताया गया है—राजगृह में तैर्थिकों व बुद्ध के बीच प्रातिहार्य (दिव्यशक्ति) प्रदर्शन का वातावरण बना। राजा बिम्बसार के सम्मुख बुद्ध ने घोषणा की—"मैं आगामी आषाढ पूर्णिमा को श्रावस्ती में प्रातिहार्य-प्रदर्शन करूँगा।" तैर्थिक लोग भी उनके प्रातिहार्य को असफल और अपने प्रातिहार्य को सफल करने के लिए उनके साथ हो लिए। शास्ता क्रमशः श्रावस्ती पहुँचे। तैर्थिक भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने अपने भक्तों को सावधान किया। एक लाख कार्षापण एकत्रित किये। खैर के खम्भों से मण्डप बनाया। उसे नीले कमल से आच्छादित किया गया। प्रातिहार्य करने के लिए मिल-जुलकर सभी उस मण्डप में बैठ गये।

राजा प्रसेनजित् कौशल शास्ता के पास आया। उसने कहा—"भन्ते ! तैर्थिकों ने मण्डप बनाया है। मैं भी तुम्हारा मण्डप बनवाता हूँ।"

"नहीं, महाराज ! हमारा मण्डप बनाने वाला दूसरा है।"

"भन्ते ! मेरे अतिरिक्त यहाँ दूसरा कौन मण्डप बनायेगा ?"

"शक्र देवराज, महाराज !"

"भन्ते ! तो फिर प्रातिहार्य कहाँ करेंगे ?"

"गण्ड के आम के नीचे।"

यह बात सर्वत्र विश्रुत हो गई। तैर्थिकों ने अपने भक्तों द्वारा एक योजन तक के आम्र-वृक्षों को उखड़वा दिया। कोई अमोला[2] भी वहाँ नहीं रहने पाया।

शास्ता ने आषाढ़ पूर्णिमा को नगर में प्रवेश किया। राजा के उद्यानपाल गण्ड ने किसी झाड़ी की आड़ में एक बड़े पके आम को देखा। उसके गन्ध व रस के लोभ में मण्डराते हुए कौओं को उसने उड़ाया। हाथ में लेकर राजा को भेंट करने के उद्देश्य से चला। मार्ग में उसने शास्ता को देखा। सहसा उसका विचार उभरा ; राजा इस आम को खाकर मुझे आठ या सोलह कार्षापण देगा। मेरे जीवन-निर्वाह के लिए वह पर्याप्त नहीं होगा। यदि मैं इसे शास्ता को दूँ, तो अवश्य ही यह मेरे लिए अमित काल तक हितप्रद होगा। और वह उस आम को शास्ता के समीप ले गया। शास्ता ने उस आम का रस पीया और गण्ड से कहा—"इस गुठली को मिट्टी हटाकर यहीं रोप दो।" उसने वैसा ही किया। शास्ता

---

१. शतक ३, उद्देशक २।

२. उसी दिन पैदा हुआ आम का अंकुर।

ने उस पर हाथ धोये। देखते-देखते पचास हाथ ऊँचा आम का वृक्ष खड़ा हो गया। चार दिशाओं में चार और एक ऊपर, पचास हाथ लम्बी पाँच महाशिखाएँ हो गईं। उसी समय वृक्ष पुष्प व फलों से लद गया। प्रत्येक डाली पके हुए आमों से झुक गई। पीछे से आने वाले भिक्षु भी उन आमों को खाते हुए आगे बढ़े। राजा ने यह सारा उदन्त सुना। उसे बहुत आश्चर्य हुआ। इसे कोई काट न सके ; इस उद्देश्य से उसने वृक्ष के चारों ओर पहरा लगवा दिया।

वह आम्र-वृक्ष उद्यानपाल गण्ड के द्वारा रोपा गया था ; अतः गण्डम्ब-रुक्ख (गण्ड का आम्र वृक्ष) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। तैर्थिकों ने भी उसके आम खाये। जूठी गुठलियाँ उस पर फेंकते हुए साश्चर्य कहा—"श्रमण गौतम गण्डम्ब के नीचे प्रातिहार्य करेगा ; यह सुन अमोलों को भी उखाड़ दिया गया था। यह कहाँ से आ गया ?" तैर्थिकों को और हतप्रभ करने के लिए इन्द्र ने कुपित होकर वायुदेव को आज्ञा दी—"तैर्थिकों के मण्डप को हवा से उखाड़ कर कूड़े के ढेर पर फेंक दो।" सूर्यदेव को आज्ञा दी—"सूर्यमण्डल को स्थिर कर तैर्थिकों को भीषण ताप दो।" दोनों ने वैसा ही किया। इन्द्र ने वायुदेव को पुनः आदेश दिया—"जोरों से आंधी चलाओ।" उसने वैसा ही किया और पसीने से तरबतर हो रहे तैर्थिकों को धूल से ढँक दिया। सभी तांबे की चमड़ी वाले लगने लगे। वर्षा देव को आदेश दिया—"अब उन पर बड़ी बड़ी बूँदें गिराओ।" उसने भी वैसा ही किया। सभी तैर्थिकों का शरीर कबरी गाय की तरह हो गया और वे निर्ग्रन्थ लजाते हुए सामने से भाग निकले।

पूर्ण काश्यप के एक किसान भक्त ने भी प्रातिहार्य-प्रदर्शन के बारे में सुना। उसके मन में देखने की उत्कण्ठा हुई। उसने बैलों को वहीं छोड़ दिया। प्रातः लाई हुई खिचड़ी का पात्र और जोता[1] हाथ में लिए वह वहाँ से चल पड़ा। मार्ग में उसने पूर्ण काश्यप को भागते हुए देखा। उसने कहा—"भन्ते ! मैं तो आर्यों का प्रातिहार्य देखने जा रहा हूँ। आप कहाँ भागे जा रहे हैं ?"

पूर्ण काश्यप ने भागते हुए ही उत्तर दिया—"तुझे प्रातिहार्य से क्या ? यह पात्र और जोता मुझ दे।" तत्काल उन्होंने हाथ बढ़ाया। किसान ने दोनों वस्तुएं उनके हाथ में थमा दीं। पूर्ण काश्यप उन्हें लेकर नदी के तट पर गये। पात्र को जोते से गले में बांधा। लज्जावश वे कुछ भी न बोल सके। नदी की तेज धारा में कूद पड़े और बुलबुला उठाते हुए मर कर अवीचि (नरक) में उत्पन्न हुए।

पूर्ण काश्यप के इस मृत्यु-प्रसंग के विषय में यह कह देना कठिन है कि वह यथार्थता के तनिक भी समीप है। फिर भी बौद्ध कथाओं में ऐसा एक समुल्लेख है ; यह हमारी ज्ञान-

१. जुए की रस्सी, जिससे बैलों की गर्दन बाँधी जाती है।

बुद्धि का विषय है। कथानक की असम्बद्धता इससे भी व्यक्त होती है कि पूर्ण काश्यप की चर्चा करते हुए अन्त में निर्ग्रन्थों को भी उसमें लपेट लिया गया है। इसी अट्ठ-कथा में यह भी बतलाया गया है कि पूर्ण काश्यप किसी श्रीमन्त के यहां दास था। जन्म से उसका क्रम सौवां था ; अतः उसका नाम पूरण पड़ा। पर यह संगत नहीं है। जो जाति से काश्यप था ; वह जन्म से दास कैसे होता ?[१]

२—पकुध कात्यायन (प्रक्रुध कात्यायन)

ये शीतोदक-परिहारी थे। उष्णोदक ही ग्राह्य मानते थे।[२] ककुद्ध वृक्ष के नीचे पैदा हुए, इसलिए 'पकुद्ध' कहलाये।[३] प्रश्नोपनिषद् (१-१) में इन्हें ऋषि पिप्पलाद का समकालीन और ब्राह्मण बतलाया है। हालांकि वहाँ उनका नाम कबन्धी कात्यायन बताया गया है। पर कबन्धी और पकुध एक ही शारीरिक दोष (कूब) के वाचक हैं।[४] बौद्ध टीकाकारों ने इन्हें पकुध गोत्री होने से पकुध माना है।[५] पर आचार्य बुद्धघोष ने प्रक्रुध उनका व्यक्तिगत नाम और कात्यायन उनका गोत्र माना है।[६] डा० फीयर इन्हें ककुध कहने की भी राय देते हैं।[७]

३—अजितकेश कम्बल

ये केशों का बना कम्बल धारण करते थे ; इसलिए केशकम्बली कहे जाते थे। श्री एफ० एल० वुडवार्ड की धारणा के अनुसार यह कम्बल मनुष्य के केशों का ही बना होता था।[८] इनकी मान्यता लोकायतिक दर्शन जैसी ही थी। कुछ विद्वानों का यह भी अभिमत बनने लगा है कि नास्तिक दर्शन के आदि प्रवर्तक भारत में यही थे। बृहस्पति ने इनके अभिमतों को ही विकसित रूप दिया हो, ऐसा लगता है।[९]

४—संजयवेलट्ठि पुत्र

इनके जीवन-परिचय में कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनका नाम संजय वेलट्ठिपुत्र ठीक वैसा ही लगता है ; जैसे गोशाल मक्खली पुत्र। उस युग में ऐसे नामों की

---

१. Gf. G. P. Malalasekera, **Dictionary of Pali Proper Names,** Luzac and Co, London, 1960, VOL. II p. 242 n.

२—धम्मपद अट्ठ-कथा, १-१४४।

३—हिन्दू सभ्यता, पृ० २१६।

४—Barua, *Pre-Buddhistic Indian Philosophy*, p. 281.

५—*The Book of the Kindred Sayings*, Part I, p. 94 n.

६—धम्मपद अट्ठ-कथा, १-१४४, संयुत्तनिकाय अट्ठ-कथा, १-१०२।

७—*The Book of the Kindred Sayings*, Part I, p. 94 n.

८—*The Book of the Gradual Sayings*, Vol. I, Tr. by F. L. Woodward, p. 265 n.

९—Barua, *op. cit.*, p. 288.

प्रचलित परम्परा थी, जो माता या पिता के नाम से सम्बन्धित होते थे। मृगा-पुत्र[१], थावरचा-पुत्र[२] आदि अनेक तत्सम नाम जैन-परम्परा में मिलते ही हैं। आचार्य बुद्धघोष ने भी उसे वेलट्ठ का पुत्र माना है। कुछ विद्वान् सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के पूर्व आचार्य संजय परिव्राजक को ही संजयबेलट्ठि-पुत्र मानने लगे हैं।[३] पर यह यथार्थ नहीं लगता। ऐसा होता तो बौद्ध पिटकों में कहीं स्पष्ट उल्लेख भी मिलता। पर बौद्ध पिटक इतना ही कह कर विराम लेते हैं कि सारिपुत्र और मौद्गल्यायन अपने गुरु संजय परिव्राजक को छोड़कर बुद्ध के धर्म-संघ में आये।[४] परिव्राजक शब्द यह भी संकेत करता है कि संजय वैदिक संस्कृति से सम्बद्ध थे ; जब कि पूरण आदि सभी धर्म-नायक श्रमण-परिवार में गिने जाते हैं। डॉ० कामताप्रसाद ने संजयबेलट्ठि को सारिपुत्र का गुरु और एक जैन भिक्षु प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है[५], पर यह बुद्धिगम्य नहीं लगता। **उत्तराध्ययन**[६] के संजय और इतर चारण ऋद्धिधर संजय के रूप में बेलट्ठि को देखना अति निर्वाह-सा लगता है। केवल नाम-साम्य किसी तथ्य का निर्णायक आधार नहीं बन सकता। डॉ० जी० पी० मल्लशेखर ने **डिक्सनरी ऑफ पाली प्रोपर नेम्स**[७] में उसे सारिपुत्र और मौद्गल्यायन का गुरु माना है, पर इसके लिए उन्होंने कोई मौलिक प्रमाण नहीं दिया है।

संजय के विक्षेपवाद में लोग स्याद्वाद का प्राग् रूप देखते हैं। विक्षेपवाद का ही विकसित रूप स्याद्वाद बताया जाता[८] है, पर इस धारणा का कोई मौलिक आधार नहीं है।[९] इन मुख्य धर्म और धर्म-नायकों के अतिरिक्त और भी अनेक मतवाद उस युग में प्रचलित थे।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १६।

२. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अ० ५।

३. गोपालदास पटेल, महावीर स्वामी नो संयम धर्म, प्र० नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, १६३५, पृ० ३५।

४. विनय पिटक, महावग्ग, महास्कन्धक।

५. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध, प्र० मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत, १६२६ पृ० २२-२४।

६. अ० १८।

७. Vol. II, p. 1000.

८. धर्मानन्द कोसाम्बी, भगवान् बुद्ध, साहित्य अकादमी, राजकमल पब्लिकेशन्स, बम्बई, १६५६ पृ० १८७।

९. इस धारणा का निराकरण देखें, आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ में डा० कामताप्रसाद जैन द्वारा लिखित "स्याद्वाद सिद्धान्त की मौलिकता और उपयोगिता" शीर्षक लेख, अध्याय ४, पृ० ५४-५६।

जैन परम्परा में वे ३६३ भेद-प्रभेदों में बताये गये हैं तथा[1] बौद्ध परम्परा में केवल ६२ भेदों में।[2] अनेक प्रकार के तापसों का वर्णन भी आगम और त्रिपिटक साहित्य में भरपूर मिलता है।

*

१. संकलनात्मक विवरण के लिए देखें, भरत-मुक्ति, पृ० २४६-२४६।
२. दीघनिकाय, ब्रह्मजाल सुत्त, १।१।

: ३ :

गोशालक

आगमों में

मंखलिपुत्र गोशालक का मत आजीवक नाम से चलता था। सम्राट् अशोक के शिला-लेखों में भी आजीवक भिक्षुओं को सम्राट् द्वारा गुफा दिए जाने का उल्लेख है।[1] वह सम्प्रदाय कब तक चलता रहा, यह ठीक से कह देना कठिन है, पर शिला-लेखों आदि से ई० पू० दूसरी शताब्दी तक तो उसका अस्तित्व प्रमाणित होता ही है।[2] आगमों के अनुसार गोशालक का प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भगवान् महावीर के साथ अधिक सम्बन्ध रहा है। गोशालक की मान्यता और उनकी जीवन-चर्या के सम्बन्ध में जैन आगम सुविस्तृत ब्यौरा देते हैं। आगमों में अनेक प्रसंग इस सम्बन्ध से सुलभ हैं। **भगवती**, शतक १५ में गोशालक की विस्तृत जीवन-गाथा बहुत ही रोमांचक और घटनात्मक रूप से मिलती है। वहाँ बताया गया है—"श्रावस्ती नगर के ईशान कोण में कोष्ठक चैत्य था। इसी नगर में आजीवक मत की उपासिका हालाहला कुम्हारिन रहती थी। उसके पास प्रचुर समृद्धि थी। उसका प्रभाव भी बहुत व्यापक था। वह किसी से भी पराभूत नहीं हो सकती थी। उसने आजीवकों के सिद्धान्त हृदयंगम कर रखे थे। उनका अनुराग उसके रग-रग में व्याप्त था। वह कहा करती थी—'आजीवक मत ही सत्य तथा परमार्थ है ; अन्य सब मत व्यर्थ हैं।"

"एक बार चौबीस वर्ष पूर्व दीक्षित मंखलिपुत्र गोशालक अपने आजीवक संघ से परिवृत्त हालाहला कुम्हारिन के कुम्भकारापण बाजार में ठहरा हुआ था। उसके पास शान, कलंद, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवेश्यायन और गोमायुपुत्र अर्जुन नामक छः दिशाचर[3] आए। उन्हें आठ प्रकार के निमित्त, गीति-मार्ग तथा नृत्य-मार्ग का ज्ञान था। उन्होंने गोशालक का शिष्यत्व स्वीकार किया।

---

१. जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख, पब्लिकेसन्स डिवीजन, दिल्ली, १९५७ पृ० ४०१ से ४०३।

२. चिमनलाल जयचन्द शाह, उत्तर हिन्दुस्तान मा जैन धर्म, लोंगमैन्स एण्ड ग्रीन कं० लन्दन, १९३० पृ० ६४।

३. ये दिशाचर महावीर के पथभ्रष्ट (पतित) शिष्य थे ; ऐसा टीकाकार तथा पार्श्वनाथ-संतानीय थे—ऐसा चूर्णिकार कहते हैं।

"गोशालक को अष्टांग निमित्त का कुछ ज्ञान था ; अतः वह सभी को लाभ-अलाभ, सुख-दुःख और जीवन-मरण के विषय में सत्य-सत्य उत्तर दे सकता था। अपने इस अष्टांग निमित्त के ज्ञान के बल पर ही उसने अपने को श्रावस्ती में जिन न होते हुए भी जिन, केवली न होते हुए भी केवली, सर्वज्ञ न होते हुए भी सर्वज्ञ घोषित करना प्रारम्भ कर दिया। वह कहा करता था—'मैं जिन, केवली और सर्वज्ञ हूँ।' उसकी इस घोषणा के फलस्वरूप श्रावस्ती के त्रिकमार्गों, चतुष्पथों और राजमार्गों में सर्वत्र यही चर्चा होने लगी।

"एक दिन श्रमण भगवान् महावीर श्रावस्ती पधारे। जनता धर्म-कथा श्रवणार्थ गई। सभा समाप्त हुई। महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति अनगार भिक्षार्थ नगरी में पधारे। मार्ग में उन्होंने अनेक व्यक्तियों के मुख से गोशालक की उद्घोषणा के सम्बन्ध में सुना। वे भगवान् महावीर के पास आए और उन्होंने गोशालक की घोषणा के सम्बन्ध में पूछा तथा गोशालक का आरम्भ से अन्त तक का इतिवृत्त सुनाने के लिए भी अनुरोध किया।"

S. H. *गोशालक का पूर्व वृत्त*

"महावीर बोले—"गौतम! गोशालक की घोषणा मिथ्या है। वह जिन, केवली और सर्वज्ञ नहीं है। मंखलिपुत्र गोशालक का मंखजातीय मंखलि नामक पिता था। मंखलि के भद्रा नामक पत्नी थी। वह सुन्दरी और सुकुमारी थी। एक बार वह गर्भिणी हुई। शरवण ग्राम में गोबहुल नामक ब्राह्मण रहता था। वह धनिक तथा ऋग्वेदादि ब्राह्मण-शास्त्रों में निपुण था। गोबहुल के एक गोशाला थी।

"एक बार मंखलि भिक्षाचर हाथ में चित्रपट लेकर गर्भवती भद्रा के साथ ग्रामानुग्राम घूमता हुआ शरवण सन्निवेश में आया। उसने गोबहुल की गोशाला में अपना सामान रखा तथा भिक्षार्थ ग्राम में गया। वहाँ उसने निवास योग्य स्थान की बहुत खोज की, परन्तु उसे कोई स्थान न मिला, अतः उसने उसी गोशाला के एक भाग में चातुर्मास व्यतीत करने के लिए निर्णय किया। नव मास साढ़े सात दिवस व्यतीत होने पर मंखलि की धर्मपत्नी भद्रा ने एक सुन्दर व सुकुमार बालक को जन्म दिया। बारहवें दिवस माता-पिता ने गोबहुल की गोशाला में जन्म लेने के कारण शिशु का नाम गोशालक रखा। क्रमशः गोशालक बड़ा हुआ और पढ़-लिखकर परिणत मतिवाला हुआ। गोशालक ने भी स्वतंत्र रूप से चित्रपट हाथ में लेकर अपनी आजीविका चलाना प्रारम्भ कर दिया।"

S. H. *गोशालक का प्रथम सम्पर्क*

"तीस वर्ष तक मैं गृहवास में रहा। माता-पिता के दिवंगत होने पर स्वर्णादि का त्याग कर, मात्र एक देवदूष्य वस्त्र धारण कर प्रव्रजित हुआ। पाक्षिक तप करते हुए मैंने अपना प्रथम चातुर्मास अस्थिग्राम में किया। दूसरे वर्ष मासिक तप करते हुए राजगृह के

बाहर नालन्दा की तन्तुवायशाला के एक भाग में यथायोग्य अभिग्रह ग्रहण कर मैंने चातुर्मास किया। उस समय गोशालक भी हाथ में चित्रपट लेकर ग्रामानुग्राम घूमता हुआ तथा भिक्षा के द्वारा अपना निर्वाह करता हुआ उसी तन्तुवायशाला में आया। उसने भिक्षार्थ जाते हुए अन्य स्थान ढूंढ़ने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु योग्य स्थान न मिला। उसने भी उसी तन्तुवायशाला में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया। मेरे प्रथम मासिक तप के पारणे का दिन था। मैं भिक्षार्थ राजगृह के उच्च, नीच और मध्यम कुल में घूमता हुआ विजय गाथापति के घर गया। मुझे अपने घर में पाकर विजय गाथापति अत्यन्त हर्षित हुआ। वह अपने आसन से उठा तथा सात-आठ कदम आगे आया। उसने उत्तरीय का उत्तरासंग बनाकर, हाथ जोड़कर मुझे तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमस्कार किया। उसने मेरा पुष्कल अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि से सत्कार किया। विजय गाथापति ने द्रव्य की शुद्धि से, दायक की शुद्धि से, पात्र की शुद्धि से तथा त्रिविध-त्रिविध करणशुद्धि से दिए गए दान के कारण देवायुष्य बाँधा और अपने संसार को अल्प किया। ऐसा करने से उसके घर स्वर्णादि पाँच दिव्यों की वृष्टि हुई। कुछ ही देर में यह संवाद नगर भर में फैल गया। लोग विजय तथा उसके मनुष्य-जन्म को धन्यवाद देने लगे तथा उसके पुण्यशालित्व का अभिनन्दन करने लगे।

"मंखलिपुत्र गोशालक ने भी यह संवाद सुना। उसके हृदय में कुतूहल व जिज्ञासा हुई। वह विजय गृहपति के घर आया। उसने वर्षित द्रव्यों को तथा घर से बाहर निकलते हुए मुझे व विजय गृहपति को देखा। वह मन-ही-मन बहुत हर्षित हुआ। मेरे पास आया और मुझे तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमस्कार कर बोला—'भगवन्! आप मेरे धर्माचार्य हैं तथा मैं आपका शिष्य हूँ।' उस समय मैंने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया और मौन रहा। द्वितीय मासिक तप का पारणा आनन्द गृहपति के घर, तृतीय मासिक तप का पारणा सुनन्द के घर और चतुर्थ मासिक तप का पारणा नालन्दा के निकट कोल्लाक ग्राम में बहुल ब्राह्मण के घर हुआ। तीनों ही स्थलों पर उसी तरह तपः-प्रभाव प्रकट हुआ।

"तन्तुवायशाला में मुझे न देखकर गोशालक राजगृह में मुझे ढूंढ़ने लगा, परन्तु उसे कहीं भी पता न लगा। वह पुनः तन्तुवायशाला में आया। उसने अपने वस्त्र, पात्र, जूते तथा चित्रपट ब्राह्मणों को दे दिए और अपनी दाढ़ी व मूंछ का मुण्डन करवाया। वह भी कोल्लाक सन्निवेश की ओर चल पड़ा। वहाँ उसने जनता द्वारा बहुल के यहाँ हुई वृष्टि का समाचार सुना। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—'मेरे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर को; जैसी द्युति, तेज, यश, बल, वीर्य, पुरुषाकार—पराक्रम और ऋद्धि प्राप्त है; वैसी अन्य श्रमण-ब्राह्मण को सम्भव नहीं। मेरे धर्माचार्य व धर्मगुरु वही होने चाहिए।' वह खोजता हुआ कोल्लाक सन्निवेश के बाहर मनोज्ञ भूमि में मेरे पास आया।

उसने तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमस्कार किया तथा मुझ से निवेदन करने लगा—'भगवन् ! आप मेरे धर्माचार्य हैं और मैं आपका शिष्य हूँ ।' मैंने मंखलिपुत्र गोशालक की यह बात स्वीकार की और उसके साथ प्रणीत भूमि में छः वर्ष पर्यन्त लाभ-अलाभ, दुःख-सुख, सत्कार-असत्कार का अनुभव करता हुआ विहार करता रहा ।

"एक बार शरत्काल में वृष्टि नहीं हो रही थी । मैं गोशालक के साथ सिद्धार्थ ग्राम से कूर्मग्राम की ओर जा रहा था । मार्ग में एक पत्र-पुष्पयुक्त तिल का पौधा मिला । उसको देखकर गोशालक ने पूछा—'भगवन् ! यह तिल का पौधा फलित होगा या नहीं ? पौधे पर लगे सात फूलों के जीव मरकर कहाँ उत्पन्न होंगे ?' मैंने कहा—'गोशालक ! यह तिल का पौधा फलित होगा तथा ये सात तिलपुष्प के जीव मरकर इसी पौधे की एक फली में सात तिल होंगे ।'

"गोशालक को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ । मुझे असत्य प्रमाणित करने के लिए वह मेरे पास से खिसका और उसने तिल के पौधे को समूल उखाड़ कर एक ओर फेंक दिया । हम कूर्म ग्राम की ओर आगे बढ़ गए । इसी बीच आकाश में बादल घुमड़ आए और बिजली चमकने लगी । साधारण वर्षा हुई । वह तिल का पौधा मिट्टी में जम गया तथा बद्धमूल हो गया । वे सात तिल पुष्प भी मरकर कथित प्रकार से उसी तिल के पौधे की फली में सात तिल उत्पन्न हुए ।"

S. H. *वैश्यायन बाल तपस्वी*

"हम कूर्मग्राम आए । ग्राम के बाहर वैश्यायन बाल तपस्वी निरन्तर छट्ठ तप के साथ सूर्य के सम्मुख अपने दोनों हाथ ऊँचे कर आतापना ले रहा था । सूर्य के ताप से उसके सिर से जुएँ नीचे गिर रही थीं । वह प्राण, भूत, जीव और सत्व की दया के लिए नीचे गिरी हुई जुओं को पुनः अपने बालों में रख लेता था । गोशालक ने वैश्यायन बाल तपस्वी को देखा । वह मेरे पास से खिसका । उसके पास गया और उससे बोला —'तू कोई तपस्वी है या जुओं का शय्यातर (स्थान देने वाला) ?' वैश्यायन बाल तपस्वी ने गोशालक के कथन को आदर नहीं दिया और मौन ही रहा । गोशालक उसी बात को पुनः-पुनः दो-तीन बार दुहराता रहा । तपस्वी कुपित हो उठा । अत्यन्त क्रुद्ध होकर वह आतापना-भूमि से नीचे उतरा । सात-आठ कदम पीछे हटा । जोश में आकर उसने गोशालक को भस्म करने के लिए अपनी तपः-उपलब्ध तेजोलेश्या छोड़ दी । उस समय मुझे मंखलिपुत्र गोशालक पर अनुकम्पा आई । वैश्यायन बाल तपस्वी की तेजोलेश्या का प्रतिसंहरण करने के लिए मैंने शीत तेजोलेश्या छोड़ी । मेरी शीत तेजोलेश्या ने उसकी उष्ण तेजोलेश्या का प्रतिघात कर दिया । उस प्रयोग से तपस्वी का वह प्रयोग विफल हो गया । गोशालक को सुरक्षित खड़ा देख कर

तापस सारा रहस्य समझ गया। उसने अपनी तेजोलेश्या का प्रत्यावर्तन किया और कुछ क्षणों तक बोलता रहा—'भगवन्! मैंने आपको जाना, मैंने आपको जाना।'

"गोशालक इस समय घटना-चक्र से अवगत नहीं था। वह मेरे पास आया और बोला—'यह जुओं का शय्यातर आपके प्रति क्या कर रहा था?' मैंने उसे सारा वृत्तान्त बताया। गोशालक भयभीत हुआ और मन में प्रसन्न भी हुआ कि मैं मरते-मरते बच गया। गोशालक ने वन्दन-नमस्कार कर मुझे पूछा—'भगवन्! यह संक्षिप्त और विपुल तेजोलेश्या कैसे प्राप्त की जा सकती है?' मैंने कहा—'नाखून सहित बन्द मुट्ठी भर उड़द के बाकलों और एक चुल्लू भर पानी से कोई निरन्तर छठ-छठ का तप करे तथा आतापना-भूमि में सूर्य के सम्मुख ऊर्ध्व बाहु होकर आतापना ले, उसे छः मास के पश्चात् संक्षिप्त और विपुल दोनों प्रकार की तेजोलेश्यायें प्राप्त होती हैं।' गोशालक ने मेरी बात विनयपूर्वक स्वीकार की।"

S. H. *तेजोलेश्या की प्राप्ति*

"एक दिन मैंने गोशालक के साथ कूर्मग्राम से सिद्धार्थग्राम की ओर विहार किया। हम उसी स्थान पर आए, जहाँ वह तिल का पौधा था। गोशालक ने तिलों के सम्बन्ध में पूछा—'भगवन्! तिल वृक्ष के सम्बन्ध में आपने मुझे जो कुछ कहा था, वह सब मिथ्या निकला। न वह तिल वृक्ष निष्पन्न हुआ है और न वे सात पुष्प-जीव मर कर सात तिल हुए हैं।' मैंने उसे सारी घटना सुनाई और कहा—'गोशालक! तू ने मेरे कथन को असत्य प्रमाणित करने के लिए उस तिल वृक्ष को उखाड़ डाला था, पर आकस्मिक वृष्टि-योग से वह पुनः मिट्टी में रुप गया और वे सात पुष्प-जीव भी इसी तिल वृक्ष की फली में सात तिल हो गए हैं। मेरा कथन किंचित् भी असत्य नहीं है।' गोशालक ने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया। वह उस तिल वृक्ष के पास गया और उसने वह फली तोड़ी। उसमें सात ही तिल निकले। गोशालक ने सोचा—जिस प्रकार वनस्पति के जीव मरकर पुनः उसी शरीर में उत्पन्न हो जाते हैं, इसी प्रकार सभी जीव मरकर उसी शरीर में उत्पन्न हो सकते है। इस प्रकार गोशालक ने अपना 'पारिवृत्य परिहार' का एक नया सिद्धान्त बना लिया। गोशालक का ध्यान तेजोलब्धि को प्राप्त करने में लगा था; अतः वह मुझ से पृथक् हो गया। यथाविधि छः महीनों की तपस्या से उसे संक्षिप्त और विपुल—दोनों तेजोलेश्यायें प्राप्त हुईं।

"कुछ दिन बाद गोशालक से वे छः दिशाचर भी आ मिले। तब से वह अपने को जिन न होते हुए भी जिन, केवली न होते हुए भी केवली, सर्वज्ञ न होते हुए भी सर्वज्ञ घोषित कर रहा है।"

"यह बात श्रावस्ती में फैल गई। सर्वत्र एक ही चर्चा होने लगी—'गोशालक जिन नहीं, परन्तु जिन-प्रलापी है; श्रमण भगवान् महावीर ऐसा कहते हैं।"

मंखलिपुत्र गोशालक ने भी अनेक मनुष्यों से यह बात सुनी। वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। क्रोध से जलता हुआ वह आतापना-भूमि से हालाहला कुम्भकारापण में आया और अपने आजीवक संघ के साथ अत्यन्त आमर्ष के साथ बैठा।"

गोशालक और आनन्द

उस समय श्रमण भगवान् महावीर के स्थविर शिष्य आनन्द भिक्षार्थ नगर में गए हुए थे। वे सरल व विनीत थे। निरन्तर छट्ठ तप किया करते थे। उच्च, नीच व मध्यम कुलों में घूमते हुए वे हालाहला के कुम्भकारापण से कुछ दूर से गुजरे। गोशालक ने उन्हें देखा और बोला—'आनन्द! तू इधर आ और मेरा एक दृष्टान्त सुन।' गोशालक की बात सुनकर आनन्द उसके पास पहुँचे और गोशालक ने कहना प्रारम्भ किया :

"बात बहुत पुरानी है। कुछ लोभी व्यापारी व्यवसाय के निमित्त अनेक प्रकार का किराना और सामान गाड़ियों में भरकर तथा पाथेय का प्रबन्ध कर रवाना हुए। मार्ग में उन्होंने ग्राम-रहित, गमनागमन-रहित, निर्जल व सुविस्तीर्ण अटवी में प्रवेश किया। जंगल का कुछ भाग पार करने पर साथ में लिया हुआ पानी समाप्त हो गया। तृषा से पीड़ित व्यापारी परस्पर विचार-विमर्श करने लगे। उनके सामने एक विकट समस्या खड़ी हो गई। अन्त में वे सभी अटवी में चारों ओर पानी ढूँढ़ने लगे। चलते-चलते वे एक ऐसे घने जंगल में जा पहुँचे, जहाँ एक विशाल वल्मीक था। उसके ऊंचे-ऊंचे चार शिखर थे। उन्होंने एक शिखर को फोड़ा। उन्हें स्वच्छ, उत्तम, पाचक और स्फटिक के सदृश जल प्राप्त हुआ। उन्होंने पानी पिया, बैल आदि वाहनों को पिलाया तथा मार्ग के लिए पानी के बर्तन भर लिए। उन्होंने लोभ से दूसरा शिखर भी फोड़ा। उसमें उन्हें पुष्कल स्वर्ण प्राप्त हुआ। उनका लोभ बढ़ा और मणि-रत्नादि की कामना से तीसरा भी फोड़ डाला। उसमें उन्हें मणिरत्न प्राप्त हुए। बहुमूल्य, श्रेष्ठ, महापुरुषों के योग्य तथा महाप्रयोजन-युक्त वज्र रत्न की कामना से उन्होंने चतुर्थ शिखर भी फोड़ने का विचार किया। उन व्यापारियों में एक विज्ञ तथा अपने व सबके हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा तथा कल्याण का अभिलाषी वणिक् भी था। वह बोला—हमें चतुर्थ शिखर फोड़ना नहीं चाहिए। यह हमारे लिए कदाचित् दुःख और संकट का कारण भी बन सकता है। परन्तु अन्य साथी व्यापारियों ने उसकी बात नहीं मानी और चौथा शिखर भी फोड़ डाला। उसमें एक महाभयंकर, अत्यन्त कृष्ण वर्ण दृष्टि-विष सर्प निकला। उसकी क्रोधपूर्ण दृष्टि पड़ते ही सारे व्यापारी सामान सहित जलकर भस्म हो गए। केवल चौथे शिखर को न तोड़ने की सम्मति देने वाला व्यापारी बचा। उसको सर्प ने सामान सहित उसके घर पहुंचाया। आनन्द! उसी प्रकार तेरे धर्माचार्य और धर्मगुरु श्रमण ज्ञातपुत्र ने श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की है। देव-मनुष्यादि में उनकी कीर्ति तथा प्रशंसा है। पर यदि वे मेरे सम्बन्ध में कुछ भी कहेंगे तो अपने तप-तेज से उन व्यापारियों की तरह मैं उन्हें

भस्म कर दूंगा। उस हितैषी व्यक्ति की तरह केवल तुझे बचा लूंगा। तू अपने धर्माचार्य के पास जा और मेरी कही हुई बात उन्हें सुना दे।"

गोशालक की बात सुनकर आनन्द बहुत भयभीत हुए और उन्होंने श्रमण भगवान् महावीर के पास आकर सारा वृत्त सुनाया। उन्होंने भगवान् महावीर से यह भी पूछा कि क्या गोशालक उन्हें भस्म कर सकता है?

महावीर बोले—"गोशालक अपने तप-तेज से किसी को भी एक प्रहार में कूटाघात (घन के आघात) के सदृश भस्म कर सकता है, परन्तु अरिहन्त भगवान् को नहीं जला सकता है। उसमें जितना तप-तेज है, उससे अनगार का तप तेज अनन्तगुणित विशिष्ट है; क्योंकि अनगार क्षमा द्वारा क्रोध का निग्रह करने में समर्थ हैं। अनगार के तप से स्थविर का तप, क्षमा के कारण अनन्त गुणित विशिष्ट है। स्थविर के तपोबल से अरिहन्त का तपोबल, क्षमा के कारण अनन्त गुणित विशिष्ट है; अतः उनको कोई जला नहीं सकता, पर परिताप अवश्य उत्पन्न कर सकता है। अतः तू जा और गौतम आदि श्रमण-निर्ग्रन्थों से यह बात कह—"हे आर्यो! गोशालक के साथ कोई भी धर्म-सम्बन्धी प्रतिचोदना—उसके मत से प्रतिकूल वचन, धर्म-सम्बन्धी प्रतिसारणा—उसके मत से प्रतिकूल सिद्धान्त का स्मरण और धर्म-सम्बन्धी प्रत्युपचार—तिरस्कार न करें; क्योंकि गोशालक ने श्रमण-निर्ग्रन्थों के साथ म्लेच्छत्व तथा अनार्यत्व ग्रहण किया है।"

प्रवृत्त-परिहार का सिद्धान्त

आनन्द अनगार गौतम आदि मुनियों को उक्त समाचार दे ही रहे थे कि गोशालक अपने संघ से परिवृत्त हो कोष्ठक चैत्य में आ पहुँचा। वह भगवान् महावीर से कुछ दूर खड़ा रह कर बोला—"आयुष्मन् काश्यप! मंखलिपुत्र गोशालक आपका धर्म-सम्बन्धी शिष्य था; आप जो ऐसा कहते हैं, वह ठीक है। परन्तु आपका वह शिष्य शुद्ध और शुक्ल अभिजाति के साथ मृत्यु प्राप्त कर देव-लोक में देवरूप से उत्पन्न हुआ है। मैं तो कौण्डिन्यायन गोत्रीय उदायी हूँ। गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर का परित्याग कर मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर में मैंने सातवें प्रवृत्त-परिहार—शरीरान्तर के रूप में प्रवेश किया है। हमारे सिद्धान्त के अनुसार जो कोई मोक्ष गए हैं, जाते हैं और जाएंगे; वे सभी चौरासी लाख महाकल्प (काल-विशेष), सात देव भव, सात संयूथनिकाय, सात संज्ञीगर्भ (मनुष्य-गर्भावास) और सात प्रवृत्त-परिहार कर; पाँच लाख साठ हजार छः सौ तीन कर्मभेदों का अनुक्रम से क्षय कर मोक्ष गए हैं तथा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए हैं। इसी प्रकार करते आए हैं तथा भविष्य में भी करेंगे।

"......कुमारावस्था में ही मुझे प्रव्रज्या व ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने की इच्छा हुई। प्रव्रज्या ली। मैंने सात प्रवृत्त-परिहार किए। उनके नाम इस प्रकार हैं:—ऐणेयक, मल्लराम, मंडिक, रोह, भारद्वाज, गौतमपुत्र अर्जुन, मंखलिपुत्र गोशालक। प्रथम शरीरान्तर-प्रवेश

राजगृह के बाहर मंडिकुक्षि चैत्य में अपने कौण्डिन्यायन गोत्रीय उदायन का शरीर-त्याग कर ऐणेयक के शरीर में किया। बाईस वर्ष तक मैं उस शरीर में रहा। द्वितीय शरीरान्तर-प्रवेश उद्दण्डपुर नगर के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य में ऐणेयक के शरीर का परित्याग कर मल्लराम के शरीर में किया। उस शरीर में मैं इक्कीस वर्ष तक रहा। तृतीय शरीरान्तर-प्रवेश चम्पानगरी के बाहर अङ्ग-मंदिर चैत्य में मल्लराम का शरीर त्याग कर मंडिक के देह में किया। उसमें बीस वर्ष तक रहा। चतुर्थ शरीरान्तर-प्रवेश वाराणसी नगरी के बाहर काम-महावन चैत्य में मंडिक के देह का त्याग कर रोह के शरीर में किया। उसमें उन्नीस वर्ष अवस्थित रहा। पांचवां शरीरान्तर-प्रवेश आलभिका नगरी के बाहर प्राप्तकाल चैत्य में रोह के देह का परित्याग कर भारद्वाज के शरीर में किया। इसमें अठारह वर्ष स्थित रहा। छट्ठा शरीरान्तर-प्रवेश वैशाली नगरी के बाहर कुंडियायन चैत्य में भारद्वाज का शरीर परित्याग कर गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर में किया। उसमें सतरह वर्ष रहा। सातवां शरीरान्तर-प्रवेश इसी श्रावस्ती नगरी में हालाहला कुम्हारिन के कुम्भकारायण में गौतम-पुत्र अर्जुन का शरीर परित्याग कर मंखलिपुत्र गोशालक के शरीर को समर्थ, स्थिर, ध्रुव, धारण योग्य, शीतादि परिषहों को सहन करने योग्य तथा स्थिर संहनन-युक्त समझ, उसमें किया। अतः काश्यप ! मंखलिपुत्र गोशालक को अपना शिष्य कहना, इस अपेक्षा से उचित है।"

महावीर बोले—"गोशालक ! जिस प्रकार कोई चोर ग्रामवासियों से पराभूत होकर भागता हुआ किसी खड्डे, गुफा, दुर्ग, खाई या विषम स्थान के न मिलने पर ऊन, शण, कपास या तृण के अग्रभाग से अपने को ढांकने का प्रयत्न करता है, वह उनसे ढंका नहीं जाता, फिर भी अपने को ढंका हुआ मानता है, छिपा हुआ न होने पर भी छिपा हुआ समझता है, उसी प्रकार तू भी अपने को प्रच्छन्न करने का प्रयत्न कर रहा है और अपने को प्रच्छन्न समझ रहा है। अन्य नहीं होते हुए भी अपने को अन्य बता रहा है, ऐसा न कर। तू ऐसा करने के योग्य नहीं है।"

भगवान् महावीर का उपरोक्त कथन सुन कर गोशालक अत्यन्त क्रोधित हुआ और अनुचित शब्दों के साथ गाली-गलौज करने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा और अत्यन्त निम्न स्तर पर उतर आया। वह बोला—"तू आज ही नष्ट, विनष्ट व भ्रष्ट होगा, ऐसा लगता है। कदाचित् तू आज जीवित भी नहीं रहेगा। तुझे मेरे द्वारा सुख नहीं मिल सकता।"

तेजोलेश्या का प्रयोग

गोशालक की इस बात को सुन कर पूर्वदेशीय सर्वानुभूति अनगार से न रहा गया। वे स्वभाव से भद्र, प्रकृति से सरल व विनीत थे। अपने धर्माचार्य के अनुराग से गोशालक की धमकी की परवाह न कर उठे और उससे जाकर कहने लगे—'गोशालक ! किसी श्रमण-

ब्राह्मण के पास से यदि कोई एक भी आर्य वचन सुन लेता है तो भी वह उन्हें वन्दन-नमस्कार करता है। उन्हें मंगलरूप, कल्याणरूप व देव-चैत्य की तरह समझता है, पर्युपासना करता है। तेरा तो कहना ही क्या? भगवान् ने तुझे दीक्षा दी, शिक्षित किया और बहुश्रुत बनाया। फिर भी तू उन्हीं अपने धर्माचार्य के साथ इस तरह की अनार्यता बरत रहा है? तू वही गोशालक है, इसमें हमें जरा भी सन्देह नहीं है। इस प्रकार का व्यवहार तेरे योग्य नहीं है।' सुनते-सुनते गोशालक का चेहरा तमतमा उठा। उसने सर्वानुभूति अनगार को अपनी तेजोलेश्या के एक ही प्रहार से जला कर भस्म कर दिया और पुनः उसी प्रकार अपलाप करने लगा।

अयोध्या निवासी सुनक्षत्र अनगार से न रहा गया। वे भी सर्वानुभूति अनगार की तरह उसके पास गए और उसी प्रकार समझाने लगे। गोशालक और क्रोधित हुआ। उसने उन पर भी तेजोलेश्या का प्रहार किया। सुनक्षत्र अनगार तत्काल भगवान् महावीर के पास आए। तीन बार प्रदक्षिणा पूर्वक वन्दन-नमस्कार किया। उन्होंने पांचों महाव्रतों का उच्चारण किया, साधु-साध्वियों से क्षमा-याचना की और आलोचना-प्रतिक्रमण आदि कर समाधिपूर्वक शरीरोत्सर्ग किया।

भगवान् महावीर ने भी गोशालक को सर्वानुभूति अनगार की तरह उसी प्रकार समझाया। गोशालक का क्रोधित होना स्वाभाविक था। उसने सात-आठ कदम पीछे हट कर भगवान् महावीर को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या का प्रहार किया। जिस प्रकार वातोत्कालिक वायु (रह-रह कर प्रवाहित होने वाली वायु) पर्वत, स्तूप या दिवाल को विनष्ट नहीं कर सकती, उसी प्रकार वह तेजोलेश्या भी विशेष समर्थ नहीं हुई। पुनः-पुनः गमनागमन कर प्रदक्षिणापूर्वक आकाश में ऊपर उछली। वहाँ से गिरी और गोशालक के शरीर को जलाती हुई उसके ही शरीर में प्रविष्ट हो गई।

अपनी ही तेजोलेश्या से पराभूत गोशालक श्रमण भगवान् महावीर से बोला—'काश्यप! मेरी इस तपोजन्य तेजोलेश्या से पराभूत व पीड़ित होकर तू छः मास की अवधि में व छद्मस्थ अवस्था में ही मृत्यु प्राप्त करेगा।'

भगवान् महावीर बोले—'गोशालक! तू ही अपनी तपोजन्य लेश्या से पराभूत होकर तथा पित्तज्वर से पीड़ित हो सात रात्रि के पश्चात् छद्मस्थ अवस्था में ही काल-कवलित होगा। मैं तो अभी सोलह वर्ष तक जिन—तीर्थङ्कर पर्याय में विचरण करता रहूँगा।'

यह बात कुछ ही क्षणों में श्रावस्ती में फैल गई। नगर के त्रिक मार्गों, चतुष्पथों और राजमार्गों में सर्वत्र एक ही चर्चा होने लगी। लोग कहते थे—'श्रावस्ती के बाहर कोष्ठक चैत्य में दो जिन परस्पर आक्षेप-प्रक्षेप कर रहे हैं। इनमें एक कहता है—तू पहले

मृत्यु प्राप्त होगा और दूसरा कहता है—पहले तू मृत्यु प्राप्त होगा। इनमें कौन सच्चा है और कौन झूठा? विज्ञ व प्रतिष्ठित व्यक्ति कहते—'श्रमण भगवान् महावीर सत्यवादी हैं और मंखलिपुत्र गोशालक मिथ्यावादी।'

भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों को बुलाया और कहा—'जिस प्रकार तृण, काष्ठ, पत्र आदि का ढेर अग्नि से जल जाने के पश्चात् नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार गोशालक भी मेरे वध के लिए तेजोलेश्या निकाल कर नष्ट तेज हो गया है। तुम सहर्ष उसके सामने उसके मत का खण्डन करो, विस्तृत अर्थ पूछो, धर्म-सम्बन्धी प्रतिचोदना करो और प्रश्न, हेतु, व्याकरण और कारण द्वारा उसे निरुत्तर करो।'

निर्ग्रन्थों ने उसको विविध प्रकार के प्रश्नोत्तरों द्वारा निरुत्तर कर दिया। गोशालक अत्यन्त क्रोधित हुआ, परन्तु वह निर्ग्रन्थों को तनिक भी कष्ट न पहुंचा सका। अनेक आजीवक स्थविर असन्तुष्ट होकर उसके संघ से पृथक् होकर भगवान् महावीर के संघ में आये और वहीं साधना-निरत हो गये।

आठ चरम

मंखलिपुत्र गोशालक अपने अभिलषित में असफल होकर कोष्ठक चैत्य से बाहर निकला। वह विक्षिप्त-सा चारों दिशाओं में देखता, गर्म-गर्म दीर्घ उच्छ्वास-निःश्वास छोड़ता, अपनी दाढ़ी के बालों को नोंचता, गर्दन को खुजलाता, दोनों हाथों से कभी कड़रकार करता और कभी हिलाता, पांवों को पछाड़ता, 'हाय! मरा! हाय! मरा!' चिल्लाता हुआ हालाहला कुम्हारिन के कुम्भकारायण में पहुंचा। वहाँ अपने दाह की शान्ति के लिए कच्चा आम चूसता, मद्यपान करता, बार-बार गीत गाता, बार-बार नाचता और बार-बार हालाहला कुम्हारिन को हाथ जोड़ता तथा मिट्टी के बर्तन में रहे हुए शीतल जल से अपना गात्र सिंचित करता।

श्रमण भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों को आमंत्रित कर कहा—'आर्यों! मंखलिपुत्र गोशालक ने मेरे वध के लिए जिस तेजोलेश्या का प्रहार किया था, वह १. अङ्ग, २. बंग, ३. मगध, ४. मलय, ५. मालव, ६. अच्छ, ७. वत्स, ८. कौत्स, ९. पाठ, १०. लाट, ११. वज्र, १२. मौलि, १३. काशी, १४. कौशल, १५. अबाध और १६. संभुक्तर—इन सोलह देशों को घात करने, वध करने, उच्छेद करने तथा भस्म करने में समर्थ थी। अब वह कुम्भकारापण में कच्चा आम चूसता हुआ, मद्यपान कर रहा है, नाच रहा है तथा बार-बार हाथ जोड़ कर ठण्डे पानी से शरीर को सिंचित कर रहा है। अपने इन दोषों को छिपाने के लिए वह आठ चरम (अन्तिम) बातें प्ररूपित कर रहा है—चरम पान, चरम गान, चरम नाट्य, चरम अंजली-कर्म, चरम पुष्कल-संवर्त महामेघ, चरम सेचनक गन्धहस्ती, चरम महाशिला कंटक संग्राम और इस अवसर्पिणी काल में चरम तीर्थंकर के रूप में उसका सिद्ध होना। ठंडे पानी से शरीर सिंचित करने के दोष को छिपाने के लिए

वह चार पानक—पेय और चार अपानक—अपेय पानी प्ररूपित कर रहा है। चार पानक इस प्रकार हैं—१. गाय के पृष्ठ भाग से गिरा हुआ, २. हाथ से उलीचा हुआ, ३. सूर्य ताप से तपा हुआ और ४. शिलाओं से गिरा हुआ। चार अपानक—पीने के लिए नहीं, परन्तु दाहादि उपशमन के लिए व्यवहार योग्य ; इस प्रकार हैं—१. स्थालपानी—पानी में भींगे हुए शीतल छोटे-बड़े बर्तन। इन्हें हाथ से स्पर्श करे, परन्तु पानी न पीए। २. त्वचापानी—आम, गुठली और बेर आदि कच्चे फल मुँह में चबाना, परन्तु उनका रस न पीना, ३. फली का पानी—उड़द, मूंग, मटर आदि की कच्ची फलियां मुँह में लेकर चबाना, परन्तु उनका रस न पीना, ४. शुद्ध पीना—कोई व्यक्ति छः मास तक शुद्ध मेवा-मिष्टान्न खाए। उन छः महीनों में दो महीने भूमि-शयन, दो मास तक पट्ट-शयन और दो मास तक दर्भ-शयन करे तो छट्ठे मास की अन्तिम रात्रि में महाऋद्धि-सम्पन्न मणिभद्र और पूर्णभद्र नामक देव प्रकट होते हैं। वे अपने शीतल और आर्द्र हाथों का स्पर्श करते हैं। यदि व्यक्ति उस शीतल स्पर्श का अनुमोदन करता है तो आशीविष प्रकट होता है और अनुमोदन नहीं करता है तो उसके शरीर से अग्नि समुत्पन्न होती है और समुत्पन्न ज्वालाओं में उसका शरीर भस्म हो जाता है। तदनन्तर वह व्यक्ति सिद्ध, बुद्ध एवं विमुक्त हो जाता है।'

उसी नगरी में अयंपुल नामक एक आजीविकोपासक रहता था। एक दिन मध्य रात्रि में कुटुम्ब-चिन्ता करते हुए उसके मन में विचार आया कि हल्ला का आकार कैसा होता है ? वह अपने धर्माचार्य गोशालक से समाधान करने के लिए हालाहला कुम्भकारापण में आया। गोशालक को नाचते, गाते तथा मद्यपान करते देखकर वह अत्यन्त लज्जित हुआ और पुनः लौटने लगा। अन्य आजीवक स्थविरों ने उसे देखा तथा बुलवाया। उन्होंने उसे उपर्युक्त आठ चरम वस्तुओं से परिचित किया तथा कहा—'तुम जाओ और अपने प्रश्न का समाधान करो।'

स्थविरों के संकेत से गोशालक ने गुठली एक ओर रख दी तथा अयंपुल से बोला—'अयंपुल ! तुम्हें मध्य रात्रि में हल्ला का आकार जानने की इच्छा उत्पन्न हुई, परन्तु तुम योग्य समधान नहीं कर पाए ; अतः मेरे पास समाधान के लिए आए थे। मेरी यह स्थिति देखकर तुम लज्जित होकर लौटने लगे, पर यह तुम्हारी भूल है। मेरे हाथ में यह कच्चा आम नहीं, परन्तु आम की छाल है। इसका पीना निर्वाण-समय में आवश्यक है। नृत्य-गीतादि भी निर्वाण-समय की चरम वस्तुएँ हैं ; अतः तू भी वीणा बजा।'

गोशालक का पश्चात्ताप

अयंपुल अपने प्रश्न का समाधान कर लौट गया। अपना मृत्यु-समय निकट जान कर गोशालक ने आजीवक स्थविरों को बुलाया। उसने कहा—"जब मैं मर जाऊं, मेरी देह को

सुगन्धित पानी से नहलाना, सुगन्धित गेरुक वस्त्र से शरीर को पोंछना, गोशीर्ष चन्दन का विलेपन करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र पहिनाना तथा सर्वालंकारों से विभूषित करना। एक हजार पुरुषों द्वारा उठाई जा सके, ऐसी शिबिका में बैठाकर श्रावस्ती के मध्य में इस प्रकार घोषणा करते हुए ले जाना—'चौबीसवें चरम तीर्थङ्कर मंखलिपुत्र गोशालक जिन हुए, सिद्ध हुए, विमुक्त हुए तथा सर्व दुःखों से रहित हुए हैं।' इस प्रकार महोत्सव पूर्वक अन्तिम क्रिया करना।"

सातवीं रात्रि व्यतीत होने पर गोशालक का मिथ्यात्व दूर हुआ। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—'जिन न होते हुए भी मैं अपने को जिन घोषित कर रहा हूं। मैंने श्रमणों का घात किया है और आचार्य से विद्वेष किया है। श्रमण भगवान् महावीर ही सच्चे जिन हैं।' उसने स्थविरों को पुनः बुलाया और उनसे कहा—'स्थविरो! जिन न होते हुए भी मैं अपने को जिन घोषित करता रहा हूं, मैं श्रमण-घाती तथा आचार्य-प्रद्वेषी हूं। श्रमण भगवान् महावीर ही सच्चे जिन हैं। अतः मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे बाएं पांव में रस्सी बांध कर मेरे मुँह में तीन बार थूकना तथा श्रावस्ती के राजमार्गों में 'गोशालक जिन नहीं, परन्तु महावीर ही जिन हैं'; इस प्रकार उद्घोषणा करते हुए, मेरे शरीर को खींचकर ले जाना।' ऐसा करने के लिए उसने स्थविरों को शपथ दिलाई।

गोशालक की मृत्यु

गोशालक मृत्यु प्राप्त हुआ। स्थविरों ने कुम्भकारापण के दरवाजे बन्द कर दिए। उन्होंने वहीं आंगन में श्रावस्ती का चित्र बनाया। गोशालक के कथनानुसार सब कार्य किए। उसके मुँह में तीन बार थूका तथा मन्द-मन्द स्वर में बोले—'गोशालक! जिन नहीं, परन्तु श्रमण भगवान् महावीर ही जिन हैं।' स्थविरों ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर गोशालक के प्रथम कथनानुसार उसकी पूजा की और धूम-धाम से मृत देह की ससम्मान अन्त्येष्टि की।

गौतम स्वामी ने एक दिन भगवान् महावीर से पूछा—'भगवन्! सर्वानुभूति अनगार, जिन्हें गोशालक ने भस्म कर दिया था, यहाँ से काल-धर्म को प्राप्त कर कहाँ गए हैं?' भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—'गौतम! सर्वानुभूति अनगार सहस्रार कल्प में अठारह सागरोपम की स्थिति में देव रूप से उत्पन्न हुआ है। वह वहाँ से च्युत हो, महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध तथा विमुक्त होगा। इसी तरह सुनक्षत्र अनगार भी अच्युत कल्प में बाईस सागरोपम की स्थिति में देव रूप से उत्पन्न हुआ है। वहाँ से च्युत होकर वह भी महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहाँ सर्व कर्म क्षय कर विमुक्त होगा।'

गौतम स्वामी ने फिर पूछा—'भगवन्! आपका कुशिष्य गोशालक मृत्यु प्राप्त कर कहाँ उत्पन्न हुआ है?'

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—'वह अच्युत कल्प में बाईस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ है। वहाँ से च्युत हो, अनेक भव-भवान्तरों में भ्रमण करता रहेगा। अन्त में उसे सम्यग्दृष्टि प्राप्त होगी। दृढ़प्रतिज्ञ मुनि के रूप में केवली होकर सर्व दुःखों का अन्त करेगा।'[1]

कुण्डकोलिक और आजीवक देव

गोशालक की नियतिवादी मान्यता पर कुण्डकोलिक श्रमणोपासक का घटना-प्रसंग बहुत ही सरस और ज्ञानवर्द्धक है। कुण्डकोलिक कम्पिलपुर नगर का धनाढ्य गृहपति था। वह भगवान् महावीर का उपासक था। एक दिन मध्याह्न के समय वह अपनी अशोक वाटिका में आया। शिलापट्ट पर आसीन हुआ। अपना उत्तरीय उतारा और एक ओर रख दिया। नामांकित मुद्रिका उतारी और उत्तरीय के पास रख दी। भगवान महावीर द्वारा बताई गई धर्म-प्रज्ञप्ति का आचरण करने लगा। अकस्मात् एक देव आया। उत्तरीय और मुद्रिका को उठा कर किंकिणीनाद के साथ आकाश में प्रकट हुआ। आकाश में खड़े ही उसने कुण्डकोलिक के साथ चर्चा प्रारम्भ की।

देव—कुण्डकोलिक ! मंखलिपुत्र गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति प्रशस्त है; क्योंकि उसमें उत्थान (उत्साह), कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम आदि कुछ नहीं है। सब स्वभाव-नियत हैं। महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति अच्छी नहीं है; क्योंकि उसमें उत्थान, कर्म आदि सब माने गए हैं और सब स्वभाव-अनियत हैं।

कुण्डकोलिक—देव ! यदि ऐसा है तो बताओ न तुम्हें यह देव-ऋद्धि कैसे मिली ? तुम्हारे उत्थान, बल आदि इसके कारण है या यह नियतिवश ही मिल गई ?

देव—कुण्डकोलिक ! मैं तो मानता हूं, यह देव-ऋद्धि मुझे यों ही नियतिवश मिली है। इसका कारण कोई पुरुषाकार या पराक्रम नहीं है।

कुण्डकोलिक—देव ! ऐसा है तो अन्य सभी को यह देव-ऋद्धि क्यों नहीं मिली, तुम्हें ही क्यों मिली ? तात्पर्य यह कि अपने उत्थान, बल आदि से ही व्यक्ति सब कुछ पाता है। तुम्हारा यह कथन मिथ्या है कि गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति अच्छी है और महावीर की अच्छी नहीं है।

यह सब सुन कर देव अपने सिद्धान्त में संभ्रान्त हुआ और कुण्डकोलिक का उत्तरीय और मुद्रिका यथास्थान रख कर अपने गन्तव्य की ओर चला गया। प्रसंगान्तर से भगवान महावीर ने अपने साधुओं के समक्ष कुण्डकोलिक के इस चर्चावाद की प्रशंसा की।[2]

---

१. भगवती सूत्र (हिन्दी अनुवाद), अनुवादक—मदनकुमार मेहता, प्र० श्रुत-प्रकाशन मन्दिर, कलकत्ता, पृ० ६२६-६५२ के आधार पर।

२. उपासकदशांग सूत्र, अ० ६ के आधार पर।

शकडालपुत्र

शकडालपुत्र भगवान् महावीर के प्रमुख दस श्रावकों में से एक था। पहले वह आजीवक मत का अनुयायी था और बाद में महावीर का श्रमणोपासक बना। उपासकदशांग सूत्र में इस सम्बन्ध का सारा विवरण उपलब्ध होता है। गोशालक की मान्यता को समझने के लिए भी वह एक मौलिक प्रकरण है।

पोलासपुर नगर में शकडालपुत्र नामक कुम्भकार रहता था। उसके पास तीन करोड़ स्वर्ण मुद्राएं व दस हजार गौएं थीं। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। भंड-निर्माण का उसके बहुत बड़ा उद्योग था। वह आजीवक सम्प्रदाय के नायक गोशालक का अनुयायी था। एक दिन अशोक वाटिका में वह आजीवक मत के अनुसार व्रत—साधना कर रहा था। उस समय एक देवता प्रकट हुआ और बोला—"देवानुप्रिय! कल यहाँ 'महामाहण' आने वाला है। वह जिन है और त्रिलोकपूज्य है। तुम उसे प्रणाम करना और उसकी सेवा करना।"

शकडालपुत्र सोचने लगा—"मेरे धर्माचार्य मंखलिपुत्र गोशालक ही 'महामाहण' और त्रिलोकपूज्य हैं। वे ही कल यहां आएंगे। मैं उनकी सेवा करूंगा।"

दूसरे दिन भगवान् महावीर श्रमण-समुदाय के साथ वहाँ पधारे। सहस्रों लोग दर्शन और व्याख्यान सुनने के लिए एकत्रित हुए। शकडालपुत्र के मन में भी कौतूहल और जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह भी भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिए आया। भगवान् श्री महावीर ने कहा—"कल किसी देव ने आकर किसी 'महामाहण' के आने की जो सूचना तुझे दी थी, वह गोशालक के लिए नहीं थी।" शकडालपुत्र इस रहस्योद्घाटन से बहुत प्रभावित हुआ और उसने अपनी दुकानों में निवास करने के लिए भगवान् श्री महावीर को आमन्त्रित किया। भगवान् वहाँ आए और रहने लगे। शकडालपुत्र नितान्त नियतिवादी था। एक दिन जब कि मिट्टी के बर्तनों को सुखाने का काम चल रहा था, भगवान् श्री महावीर ने शकडालपुत्र से कहा—"देवानुप्रिय! क्या ये सारे बर्तन बिना प्रयत्न किये ही तैयार हुए हैं?"

शकडालपुत्र—"ये प्रयत्न से नहीं बने हैं। जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है।"

भगवान्—"यदि कोई इन बर्तनों को फोड़ डाले या अग्निमित्रा के साथ सहवास करे, तो तुम क्या करोगे?"

शकडालपुत्र—"मैं उसे शाप दूंगा, उस पर प्रहार करूंगा और उसे मार डालूंगा।"

भगवान्—"यदि यह तथ्य है—जो कुछ होता है, वह नियतिवश ही होता है; तो ऐसा करने के लिए तुम क्यों उद्यत होते हो?"

शकडालपुत्र को सम्यक् ज्ञान हुआ और उसने अणुव्रत रूप गृहस्थ-धर्म को स्वीकार किया। भगवान् महावीर वहाँ से विहार कर गए।

गोशालक शकडालपुत्र को पुनः अपने धर्म में आरूढ़ करने के लिए एक दिन उसके घर आया। शकडालपुत्र ने उसे किंचित् भी सम्मान नहीं दिया। गोशालक ने अन्य मार्ग न पाकर भगवान् महावीर की प्रभावशाली स्तुति की। शकडालपुत्र बोला—"हे गोशालक! तुमने मेरे धर्माचार्य की स्तुति की है, इसलिए मैं तुम्हें अपनी दुकानों रहने के लिए और शय्या-संस्तारक आदि ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करता हूँ।" गोशालक दुकानों में रहा। शकडालपुत्र को फिर से अपने सम्प्रदाय में लाने के लिए भगीरथ प्रयत्न किया पर उसमें असफल होकर वहाँ से अन्यत्र विहार कर दिया।[1]

अन्य प्रसंग

गोशालक सुदीर्घ अवधि तक भगवान् महावीर के साथ रहा। भगवती आदि आगमों में जहाँ उसका सुविस्तृत वर्णन है, आगमोत्तर ग्रन्थों में भी उस सहवास के अनेक पूरक प्रसंग मिलते हैं। भले ही उन प्रसंगों का महत्त्व आगमोक्त प्रसंगों जितना न हो, तथापि वे रोचकता, ज्ञान-वृद्धि और शोध-सामग्री की दृष्टि से पठनीय और मननीय हैं।

एक बार भगवान् महावीर ने कोल्लाग सन्निवेश से सुवर्णखल की ओर विहार किया। गोशालक भी भगवान् के साथ था। मार्ग में कुछ ग्रामीण खीर पका रहे थे। खीर को देख कर गोशालक का मन ललचाया। उसने भगवान् महावीर से कहा—"हम कुछ देर यहीं ठहरें। खीर पक कर उतर जाएगी। हम भी खीर से अवश्य लाभान्वित होंगे।" भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"इस खीर से हम तो क्या ; इसे पकाने वाले भी लाभान्वित नहीं होंगे। यह तो बिना पके ही नष्ट हो जाने वाली है।" भगवान आगे चले। गोशालक वहीं ठहरा ; यह जानने के लिए कि क्या होता है? गोशालक ने खीर पकाने वालों को भी इस संभाव्य अनिष्ट से सावधान किया। ग्रामीण पूरे सावधान हो गए ; यह मिट्टी का बर्तन कहीं लुढ़क न जाए, फट न जाए। फिर भी वही हुआ, जो भगवान् महावीर ने कहा था। बर्तन में चावल और दूध मात्रा से अधिक थे। चावल फूले कि बर्तन फटा। सारी खीर मिट्टी और राख में बहने लगी। गोशालक इस घटना से नियतिवाद की ओर झुका।[2]

एक बार भगवान् महावीर ब्राह्मण गाँव में आए। गोशालक भी साथ था। उस गाँव के दो भाग थे: १. नन्दपाटक और २. उपनन्दपाटक। नन्द और उपनन्द दो भाई थे। दोनों के आश्रित भाग उनके अपने-अपने नाम से पुकारे जाते थे। भगवान् महावीर भिक्षाचरी के

१. उपासकदशांग सूत्र, अ० ७ के आधार पर।

२. श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पूर्वभाग, गा० ४७४ पत्र सं० २७७-१ ; श्री आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र २८३।

ध्येय से नन्दपाटक में नन्द के घर आए। नन्द ने भगवान् को दूधिमिश्रित तण्डुल बहराए। गोशालक उपनन्दपाटक में उपनन्द के घर भिक्षा के लिए गया। दासी ने बासी भात गोशालक को देने के लिए कड़छी में उठाया। गोशालक ने इसे अपना अपमान समझा और वह दासी के साथ लड़ने-झगड़ने लगा। पास बैठा उपनन्द यह सब देख-सुन रहा था। गोशालक की हरकत पर उसे भी क्रोध आया। उसने दासी से कहा—"यह बासी भात लेता है तो दे, नहीं तो इसके सिर पर डाल।" दासी ने वैसा ही कर डाला। गोशालक आग-बबूला हो उठा। उसने शाप दिया—"मेरे गुरु के तप-तेज का कोई प्रभाव हो, तो तुम्हारा यह प्रासाद जल कर भस्म हो जाए।" व्यन्तर देवों ने महावीर की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए वह महल भस्म कर डाला।[1]

एक बार भगवान् महावीर कालाय सन्निवेश में आए। सन्निवेश के बाहर एक खण्डहर था। भगवान् महावीर सायंकाल उसी खण्डहर में ध्यानस्थ हुए। गोशालक भी द्वार के पास वहीं रहा। सन्निवेश के अधिपति का पुत्र सिंह विद्युन्मती दासी को साथ लिए अकस्मात् उसी खण्डहर में आया। वह कामेच्छु था। उसने आवाज दी—"कोई यहाँ है?" भगवान् ध्यानस्थ थे। गोशालक बोला नहीं। उसने पूर्ण विजनता समझ कर वहीं मनोज्ञ काम-क्रीड़ा की। जब वे दोनों वापस जाने लगे, कामातुर गोशालक ने विद्युन्मती का हाथ पकड़ लिया। गोशालक की उस हरकत से सिंह बहुत क्रोधित हुआ और उसने गोशालक की पूरी खबर ली।[2]

भगवान् महावीर कुमाराक सन्निवेश आए। चम्पकरमणीय उद्यान में ध्यानस्थ हुए। मध्याह्न में गोशालक ने भगवान् से कहा—"भगवन्! बस्ती में भिक्षा के लिए चलें।" भगवान् ने कहा—"आज मेरे उपवास है। मैं भिक्षा के लिए नहीं जाऊँगा।"

गोशालक बस्ती में आया। कूपनय नामक एक धनाढ्य कुम्भकार की शाला में पार्श्वनाथ-परम्परा के आचार्य मुनिचन्द्र अपने शिष्यों सहित ठहरे हुए थे। गोशालक उन्हें देख कर आश्चर्य-मुग्ध हुआ। उसके मन में आया, ये कैसे साधु हैं, जो रंग-बिरंगे वस्त्र पहनते हैं, पात्र आदि अनेक उपकरण रखते हैं। गोशालक ने पूछा—"आप कौन से साधु हैं?"

उत्तर मिला—"निर्ग्रन्थ हैं और पार्श्वनाथ के अनुयायी हैं।"

गोशालक ने पुनः कहा—"यह कैसी निर्ग्रन्थता? सब कुछ तो संग्रहीत पड़ा है? मेरे गुरु और मैं ही सच्चे निर्ग्रन्थ हैं। तुम सबने तो आजीविका चलाने के लिए ढोंग रच रखा है।"

१. श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पूर्वभाग, गा० ४७५, पत्र सं० २७७-१-२; आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग।
२. श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पूर्वभाग, गा० ४७६, पत्र सं० २७८-१; आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पत्र सं० २८४।

साधुओं ने प्रत्युत्तर में कहा—"जैसा तू है, वैसे ही तेरे धर्माचार्य होंगे ?"

क्रोधित गोशालक ने कहा—"तुम मेरे धर्माचार्य की अवज्ञा करते हो। मैं शाप देता हूँ कि मेरे गुरु के तप-तेज से तुम्हारा यह उपाश्रय भस्म हो जाए।" गोशालक ने अनेक बार ऐसा कहा, पर कुछ भी नहीं हुआ। पार्श्वानुग साधुओं ने कहा—"क्यों व्यर्थ कष्ट करते हो ? न कुछ जलने वाला है और न कुछ मिलने वाला है।" सम्भ्रान्त-सा गोशालक वहां से हट कर भगवान् महावीर के पास आया और कहने लगा—"आज परिग्रही साधुओं से विवाद हो गया। मैंने शाप दिया, पर उनका उपाश्रय नहीं जला। भगवन् ! ऐसा क्यों ?" भगवान् महावीर ने कहा—"गोशालक ! तुम्हारी धारणा अयथार्थ है। जो वे कर रहे हैं, वह सब विहित है। तुम्हारा शाप उन पर नहीं चलेगा।"[१]

एक बार भगवान् महावीर चौराक सन्निवेश आए। गोशालक भी साथ था। गांव में चोरों का बहुत भय था। स्थान-स्थान पर पहरेदार खड़े रहते थे। गांव में आते ही पहरेदारों ने उन्हें घेर लिया और तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। महावीर मौन रहे। उन्हें देख कर गोशालक भी मौन रहा। पहरेदार उन्हें गुप्तचर समझ सताने लगे। उसी गांव में उत्पल नैमित्तिक की दो बहिनें सोमा और जयन्ती रहती थीं। ये पहले श्रमण-धर्म में दीक्षित रह चुकी थीं। असमर्थता के कारण अब वे परिव्राजिकाएँ बन चली थीं। वे पहरेदारों के पास आईं और समझा-बुझा कर उन्हें शान्त किया। स्थिति से अवगत होकर पहरेदारों ने भगवान् महावीर से क्षमा-याचना की।[२]

एक बार भगवान् महावीर कयंगला नगरी में आये। उद्यान के देव-मन्दिर में ठहरे। रात को देवालय के एक कोने में ध्यानस्थ खड़े हो गए। गोशालक भी मन्दिर में एक ओर बैठ गया। माघ का महीना था। आकाश बादलों से घिरा था। नन्हीं-नन्हीं बून्दें गिर रही थीं। ठण्डी हवा जोरों पर थी। उसी रात मन्दिर में एक धार्मिक उत्सव हो रहा था। गीत और वाद्य के साथ स्त्री-पुरुषों का सहनर्तन भी हो रहा था। शीत से पीड़ित गोशालक को यह सब अच्छा नहीं लगा। वह अपने आप ही बड़बड़ाने लगा—कैसा धर्म है ; स्त्री और पुरुष साथ-साथ नाच रहे हैं। गोशालक का यह सब कहना उपस्थित लोगों को अच्छा नहीं लगा। हाथ पकड़ कर उसे देवालय से बाहर कर दिया।

गोशालक बाहर बैठा शीत से कांप रहा था। वह कहता था, कैसा कलियुग आया है, सच कहने वाला ही मारा जाता है। कुछ लोगों को फिर से दया आई। उसे देवालय

१. आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पूर्वभाग, गा० ४७७ पत्र सं० २७९-१ ; आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पत्र २८५।

२. श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पूर्वभाग, गा० ४७७, पत्र सं० २७८-२, २७९-१ ; आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पत्र २८६।

के अन्दर बुला लिया। वह फिर उनके धर्म की निन्दा करने लगा। युवक उत्तेजित हुए। मारने के लिए दौड़े। वृद्धों ने उन्हें रोका और कहा—'हम लोग बाजे इतने जोर से बजाएं कि इसकी यह बड़बड़ाहट कानों में ही न पड़े।' इस तरह प्रातःकाल हुआ और भगवान् महावीर ने श्रावस्ती की ओर विहार किया।[1]

कूपिय सन्निवेश से एक बार भगवान् महावीर ने वैशाली की ओर विहार किया। गोशालक भगवान् के साथ रहते-रहते उनकी कठोर चर्या से ऊब चुका था। उसने भगवान् महावीर से कहा—"अब मैं आपके साथ नहीं चलूंगा। आप मेरा जरा भी ध्यान नहीं रखते। स्थान-स्थान पर लोग मेरी तर्जना करते हैं। आप आँख मूंदकर खड़े रहते हैं। आपके साथ रहने से मुझे मिलता क्या है ; सिवाय कष्ट झेलने के और भूखों मरने के।"

महावीर वैशाली की ओर गये। गोशालक राजगृह आया। छह महीने महावीर से पृथक् रहा। गया था सुख पाने, पर पाया केवल कष्ट-ही-कष्ट। कोई आदर नहीं करते ; आदर पूर्वक भिक्षा नहीं देते। कष्टों से घबरा कर पुनः वह भगवान् महावीर को खोजने लगा। शालीशीर्ष गाँव में भगवान् मिले। वह तब से पुनः उनके साथ हो लिया।[2]

दिगम्बर-परम्परा में

गोशालक-सम्बन्धी उक्त विवेचन श्वेताम्बर आगमों का है। दिगम्बर-परम्परा में गोशालक सम्बन्धी कुछ बातें प्रकारान्तर से मिलती हैं। उसके अनुसार गोशालक पार्श्वनाथ परम्परा के एक मुनि थे। महावीर की परम्परा में आकर वे गणधरपद पर नियुक्त होना चाहते थे। महावीर के समवसरण में जब इनकी नियुक्ति गणधरपद पर नहीं हुई, तब वे वहां से पृथक् हो गए। श्रावस्ती में आकर वे आजीवक सम्प्रदाय के नेता बने और अपने को तीर्थङ्कर कहने लगे। वे उपदेश भी ऐसा देते—"ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, अज्ञान से ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं ; इसलिए स्वेच्छापूर्वक शून्य का ध्यान करना चाहिए।[3]"

---

१. श्री आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पूर्वभाग, गा० ४७८, पत्र सं० २७६ ; आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पत्र सं० २८७।

२. आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पत्र सं० २९२।

३. मसयरि-पूरणरिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीर समवसरणे अगहियझुणिणा णियत्तेण॥
बहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयार सांगधारिस्स।
णिग्गइ झुणीण अरुहो, णिग्गय विस्सास सीसस्स॥
ण मुणइ जिणकहिय सुयं संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ॥
अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु।
देवो अणत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए॥

—भावसंग्रह, गाथा १७६ से १७९

त्रिपिटकों में

सबसे बुरा

बुद्ध तत्कालीन मतो व मत प्रवर्त्तकों में आजीवक संघ और गोशालक को सबसे बुरा समझते थे। सत् पुरुष और असत् पुरुष का वर्णन करते हुए वे कहते हैं : "कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो कि बहुत जनो के अलाभ के लिए होता है, बहुत जनो की हानि के लिए होता है, बहुत जनो के दुःख के लिए होता है, वह देवों के लिए भी अलाभकारक और हानिकारक होता है ; जैसे—मक्खली गोशाल। गोशाल से अधिक दुर्जन मेरी दृष्टि में कोई नहीं है। जैसे धीवर मछलियों को जाल में फंसाता है, वैसे वह मनुष्यों को अपने जाल में फंसाता है।"[1] प्रसंगान्तर से बुद्ध यह भी कहते है : "श्रमणधर्मों में सबसे निकृष्ट और जघन्य मान्यता गोशाल की है, जैसे कि सब प्रकार के वस्त्रों में केश का कम्बल। वह कम्बल शीतकाल में शीतल, ग्रीष्मकाल में उष्ण तथा दुर्वर्ण, दुर्गन्ध, दुःस्पर्श वाली होती है।[2] जीवन-व्यवहार में ऐसा ही निरुपयोगी गोशाल का नियतिवाद है।"[3]

बुद्ध के अनुयायी भी आजीवकों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। जेतवन में रहते एक बार बुद्ध ने भिक्षुओं को वर्षा स्नान की आज्ञा दी। भिक्षु वस्त्र विमुक्त हो स्नान करने लगे। प्रमुख बुद्ध श्राविका विशाखा की दासी भोजन-काल की सूचना देने आराम में आई। नग्न भिक्षुओं को देख, उसने सोचा, ये आजीवक हैं। विशाखा से जाकर कहा—आराम में शाक्य भिक्षु नहीं हैं, आजीवक[4] भिक्षु स्नान कर रहे हैं। विशाखा परिस्थिति समझ गई। बुद्ध जब भिक्षु-संघ के साथ उसके घर आए, उसने सारी घटना कह सुनाई और निवेदन किया—'भन्ते ! नग्नत्व गर्हास्पद और घृणास्पद है।'[5]

नियतिवाद की तरह गोशालक की एक अन्य मान्यता का नाम संसार शुद्धिवाद है ; जिसके अनुसार चौदह लाख छासठ सौ प्रमुख योनियां है। पांच कर्म (पांच इन्द्रियों के) हैं। तीन कर्म (शरीर, वचन और मन) हैं। एक पूर्ण कर्म (शरीर या वचन की अपेक्षा से) है और एक अर्ध कर्म (मन की अपेक्षा से) है। बासठ मार्ग हैं। बासठ अन्तर कल्प है। छः अभिजातियां हैं। आठ पुरुष भूमियां, उनचास सौ व्यवसाय, उनचास सौ परिव्राजक, उनचास सौ नाग-आवास, दो हजार इन्द्रियां, तीन हजार नरक, छत्तीस रजोधातु, सात संज्ञी गर्भ, सात असंज्ञी गर्भ, सात निर्ग्रन्थ गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात सर, सात सौ सात गांठ, सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न हैं। चौरासी लाख महाकल्प है,

---

१. अंगुत्तर निकाय, १-१८-४ : ५।

२. टीका ग्रन्थों के अनुसार यह कम्बल मनुष्य के केशों से बनती है।

३. *The Book of Gradual Sayings*, Vol. I, p. 286.

४. आजीव—स्यामी प्रति में आजीविक पाठ है।

५. अंगुत्तर निकाय अट्ठ-कथा, १-७-२।

जिनमें मूर्ख और पण्डित भ्रमण करते हुए सब दुःखों का अन्त करेंगे। यदि कोई कहे कि इस शील से, इस व्रत से, इस तप से अथवा ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व बनाऊंगा अथवा परिपक्व कर्म के फलों का उपभोग करके उसे नष्ट कर दूंगा, तो वह उससे नहीं हो सकेगा। इस संसार में सुख-दुःख इतने निश्चित हैं कि उन्हें परिमित द्रोणों (मापों) से मापा जा सकता है। उन्हें कम या अधिक नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार कोई सूत का गोला फेंकने पर उसके पूरी तरह खुल जाने तक वह आगे बढ़ता जायेगा, उसी प्रकार बुद्धिमानों और मूर्खों के दुःखों का नाश तभी होगा, जब वे (संसार का) समग्र चक्र पूरा करके आयेंगे।"[1]

अवलोकन

पूज्यता और उसका हेतु

गोशालक के सिद्धान्त व विचार कुछ भी रहे हों, यह तो निर्विवाद ही है कि वे उस समय के एक बहुजन-मान्य और ख्याति-लब्ध धर्म नायक थे। इनका धर्म-संघ भगवान् महावीर के धर्म संघ से भी बड़ा था, यह जैन परम्परा भी मानती है।[2] महावीर के दस श्रावकों की तरह इनके भी बारह प्रमुख श्रावक थे।[3] बुद्ध का यह कथन भी कि "वह मछलियों की तरह लोगों को अपने जाल में फंसाता है" गोशालक के प्रभाव को ही व्यक्त करता है। प्रश्न होता है, वे चरित्र, संयम व साधना की दृष्टि से बुद्ध व महावीर जितने ऊंचे नहीं थे तो आजीवक संघ इतना विस्तृत कैसे हो सका? इसके सम्भावित कारण हैं—भविष्य-सम्भाषण व कठोर तपश्चर्या। महावीर[4] व बुद्ध[5] के संघ में निमित्त-सम्भाषण वर्जित था। गोशालक व उनके सहचारी इस दिशा में उन्मुक्त थे। पार्श्वनाथ के पार्श्वस्थ भिक्षु मुख्यतया निमित्त सम्भाषण से ही आजीविका चलाते थे।[6] गोशालक को निमित्त सिखलाने वाले भी उन्हीं में से थे और वे ही उनके मुख्य सहचर थे। तपश्चर्या भी आजीवक संघ की उत्कट थी। जैन-

१. Rhys Davids, *Dialogues of Buddha*, pp. 72-3 ; cf. G. P. Malālasekara; **Dictionary of Pali—Proper Names,** vol. II, pp. 398-9 ; दीघनिकाय, १-५३ ; मज्झिमनिकाय, १-२३१,२३८,४३८,५१६ ; संयुत्तनिकाय, १-६६,६८,३-२११,४-३९८ ; अंगुत्तरनिकाय, १-३३,२८६;३-२७६,३८४ ; जातक, १-४९३,५०९।

२. अनुश्रुति के अनुसार गोशालक के श्रावकों की संख्या ११ लाख ६१ हजार थी जब कि महावीर के श्रावकों की संख्या १ लाख ५९ हजार थी। (कल्पसूत्र, सू० १३६)।

३. भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक ५।

४. निशीथ सूत्र, उ० १३-६६ ; दशवैकालिक सूत्र, अ० ८, गा० ५०।

५. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ५-६-२।

६. आवश्यक चूर्णि, पत्र २७३ ; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक १३४-३५ ; तीर्थंकर महावीर, भा० २, पृ० १०३।

आगम इसका मुक्त समर्थन करते हैं।[१] बौद्ध निकाय भी गोशालक के तपोनिष्ठ होने की सूचना देते हैं।[२] गवेषकों की सामान्य धारणा भी इसी पक्ष में है। आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार आजीवक पंचाग्नि तापते थे। उत्कटुक रहते थे। चमगादड़ की भांति हवा में झूलते थे। उनके इस कष्ट—तप के कारण ही समाज में इनका मान था। लोग निमित्त, शकुन, स्वप्न आदि का फल इनसे पूछते थे।[३]

बहुत सारी त्रुटियों के रहते हुए भी गोशालक का समाज में आदर पा जाना इसलिए अस्वाभाविक नहीं है कि तप और निमित्त दोनों ही भारतीय समाज के प्रधान आकर्षण सदा से रहे हैं।

नाम और कर्म

गोशालक के नाम और कर्म (व्यवसाय) के विषय में भी नाना व्याख्याएं मिलती हैं। जैन आगमों की सुदृढ़ और सुनिश्चित धारणा है ही कि गोशालक मंख कर्म करने वाले मंखलि नामक व्यक्ति के पुत्र थे। **भगवती, उवासगदसाओ** आदि आगमों में **"गोसाले मंखलीपुत्ते"** अर्थात् गोशालक मंखलिपुत्र शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां मंखलिपुत्र शब्द को गोशालक के एक परिचायक विशेषण के रूप में व्यवहृत किया गया है। मंख शब्द का अर्थ कहीं चित्रकार[४] व कहीं चित्र-विक्रेता[५] किया गया है, पर वास्तविकता के निकट टीकाकार अभयदेवसूरि का यही अर्थ लगता है—**"चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा"**—तात्पर्य जो चित्रपट्टक हाथ में रख कर आजीविका करता है। मंख एक जाति थी और उस जाति के लोग शिव या किसी देव का चित्रपट्ट हाथ में रख कर अपनी आजीविका चलाते थे। डाकोत जाति के लोग आज भी 'शनि' देव की मूर्ति या चित्र पास रख कर आजीविका उपार्जित करते हैं।

त्रिपिटक परम्परा में इस आजीवक नेता को मक्खलि गोशाल कहा गया है। मक्खलि नाम उसका क्यों पड़ा, इस सम्बन्ध में भी एक विचित्र सी कथा बौद्ध परम्परा में में प्रचलित है; जिसके अनुसार गोशालक दास था। एक बार वह तेल का घड़ा उठाये आगे-आगे चल रहा था और उसका मालिक पीछे पीछे। आगे फिसलन की भूमि आई। उसके स्वामी ने कहा—**"तात ! मा खलि, तात ! मा खलि"** "अरे ! स्खलित मत होना,

---

१. आजीवियाणं चउव्विहे तवे पं० तं०—उग्ग तवे घोर तवे रसणिज्जूहणता जिब्भिंदियपडिसंलीणता। —ठाणांग सूत्र, ठा० ४, उ० २, सू० ३०९।

२. संयुत्तनिकाय १०, नाना तित्थिय सुत्त।

३. बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० ८।

४. *Indological Studies*, vol. II, p. 254.

५. **Dictionary of Pali Paoper, Names**, vol. II, p. 400.

स्खलित मत होना", पर गोशालक स्खलित हुआ और तेल भूमि पर बह चला। वह स्वामी के डर से भागने लगा। स्वामी ने उसका वस्त्र पकड़ लिया। वह वस्त्र छोड़ कर नंगा ही भाग चला। इस प्रकार वह नग्न साधु हो गया और लोग उसे 'मंखलि' कहने लगे।[1]

यह कथानक बौद्ध परम्परा में भी बहुत उत्तरकालिक है; अतः उसका महत्त्व एक दन्तकथा या एक किंवदन्ती से अधिक नहीं आंका जा सकता।

व्याकरणाचार्य पाणिनि ने इसे **'मस्करी'** शब्द माना है। **'मस्करी'** शब्द का सामान्य अर्थ परिव्राजक किया है।[2] भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं—"मस्करी वह साधु नहीं है जो हाथ में मस्कर या बांस की लाठी लेकर चलता है। फिर क्या है? मस्करी वह है, जो उपदेश देता है, कर्म मत करो। शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।"[3] यहां गोशालक का नामग्राह उल्लेख भले ही न हो, पर पाणिनि और पतञ्जलि का अभिप्राय असंदिग्ध रूप में उसी ओर संकेत करता है। लगता है, 'कर्म मत करो' की व्याख्या तब प्रचलित हुई, जब गोशालक समाज में एक धर्माचार्य के रूप में विख्यात हो चुके थे। हो सकता है, उन्होंने प्रचलित नाम की नवीन व्याख्या दी हो। जैन आगमों का अभिप्राय इस विषय में मौलिक लगता है। वे उसे मंखलि का पुत्र बताने के साथ-साथ गोशालक में उत्पन्न भी कहते हैं, जिसकी पुष्टि पाणिनि—"**गोशालायां जातः गोशालः**" (४।३।३५) इस व्युत्पत्ति-नियम से करते हैं। आचार्य बुद्धघोष ने भी **सामञ्ञफलसुत्त** की टीका में गोशालक का जन्म गोशाला में हुआ माना है।[4]

पाणिनि का काल ई० पू० ४८० से ई० पू० ४१० का माना गया है।[5] यदि वे अपने मध्य जीवन में भी व्याकरण की रचना करते हैं तो उसका समय ई० पू० ४४५ के आसपास का होता है। महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ में होता है और गोशालक का निधन इससे १६ वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पू० ५४३ में होता है। तात्पर्य, गोशालक के शरीरान्त और पाणिनि के रचना-काल में लगभग १०० वर्ष का अन्तर आ जाता है। यह बहुत स्वाभाविक है कि किसी भी धर्म या सम्प्रदाय की साधारण व्युत्पत्तियां उसके उत्कर्ष काल में गुरुता मूलक नवीन व्याख्याएं ले लेती हैं। सम्प्रदायों के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

---

१. आचार्य बुद्ध घोष, धम्मपद-अट्ठकथा; १-१४३; मज्झिमनिकाय, अट्ठ-कथा; १-४२२।

२. मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः।

—पाणिनि व्याकरण, ६-१-१५४।

३. न वै मस्करोऽस्यातीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि? माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।

—पातञ्जल महाभाष्य ६-१-१५४।

४. सुमंगल विलासिनी, (दीघनिकाय अट्ठकथा) पृ० १४३-४४।

५. वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४७६।

गोशालक की श्रमण-परम्परा को त्रिपिटकों में 'आजीवक' तथा आगमों में 'आजीविक' कहा गया है। दोनों ही शब्द एकार्थक से ही हैं। लगता है, प्रतिपक्ष के द्वारा ही यह नाम निर्धारण हुआ है। आजीवक व आजीविक शब्द का अभिप्राय है—आजीविका के लिए ही तपश्चर्या आदि करने वाला।[1] आजीवक स्वयं इसका क्या अर्थ करते थे, यह कहीं उल्लिखित नहीं मिलता। हो सकता है, उन्होंने भिक्षाचरी के कठोर नियमों से आजीविका प्राप्त करने के श्लाघार्थ इसे अपना लिया हो। जैन आगमों की तरह बौद्ध पिटकों में भी उनकी भिक्षाचरी-नियमों के कठोर होने का उल्लेख है। **मज्झिमनिकाय** के अनुसार उनके बहुत सारे नियम निर्ग्रन्थों के समान और कुछ एक नियम उनसे भी कठोर होते हैं।[2]

गोशालक का संसार-शुद्धिवाद आगमों और त्रिपिटकों में बहुत समानता से उपलब्ध होता है, जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती सम्बन्धित प्रकरणों में आ चुका है। चौरासी लाख महाकल्प का परिमाण आगमों की सुस्पष्ट व्याख्या से मिलता है। डा० बाशम[3] ने इन सारे विषयों पर बहुत विस्तार से लिखा है।

जैन और आजीवकों में सामीप्य

जैन और आजीवकों के अधिकांश प्रसंग पारस्परिक भर्त्सना के सूचक हैं, वहां कुछ एक विवरण दोनों के सामीप्य-सूचक भी है। उसका कारण दोनों के कुछ एक आचारों की समानता हो सकती है। नग्नत्व दोनों परम्पराओं में मान्य रहा है। दोनों परम्पराओं ने इन विशेषताओं को लेकर ही अन्य धार्मिकों की अपेक्षा एक दूसरे को श्रेष्ठ माना है। जैन आगम बतलाते हैं—तापस ज्योतिष्क तक, कांदर्पिक सौधर्म तक, चरक परिव्राजक ब्रह्मलोक तक, किल्विषिक लांतक कल्प तक, तिर्यंच सहस्रार कल्प तक, आजीवक व आभियोगिक अच्युत कल्प तक, दर्शन-भ्रष्ट वेषधारी नवम ग्रैवेयक तक जाते हैं।[4] यहां आजीवकों के मरकर बारहवें स्वर्ग तक पहुँचने का उल्लेख है, जबकि अन्य अधिक से अधिक पांचवें स्वर्ग तक ही रह गये हैं।

---

१. देखें, भगवती सूत्र वृत्ति, शत० १, उ० २ ; जैनागम शब्द संग्रह, पृ० १३४ ;
Hoernle, Ajīvikās in *Encyclopaedia of Rleigion and Ethics* ;
E. J. Thomas, *Life of Buddha*. p. 130

२. महासच्चक सुत्त, १-४-६।

३. *The History and Doctrines of Ajivakas.*

४. तापस—स्वतः गिरे हुए पत्तों का भोजन करने वाले साधु ;
कान्दर्पिक—परिहास और कुचेष्टा करने वाले साधु ;
चरक परिव्राजक—डाका डालकर भिक्षा लेने वाले त्रिदण्डी तापस ;
किल्विषिक—चतुर्विध संघ तथा ज्ञानादिक के अवगुण बोलने वाले साधु ;
आभियोगिक—विद्या, मंत्र, वशीकरण आदि अभियोग-कार्य करने वाले साधु ;
दर्शन-भ्रष्ट—निह्नव।

—भगवती सूत्र, शतक १, उ० २।

एक अन्य प्रसंग में आजीवकों की भिक्षाचरी का श्लाघात्मक ब्यौरा देते हुए बताया गया है—"गांवों व नगरों में आजीवक साधु होते हैं। उनमें से कुछ-एक दो घरों के अन्तर से, कुछ-एक तीन घरों के अन्तर से यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते हैं।"[1]

भगवती[2] आगम में आजीवक उपासकों के आचार-विचार का श्लाघात्मक ब्यौरा मिलता है। वहां बताया गया है—"वे गोशालक को अरिहन्त देव मानते हैं, माता-पिता की शुश्रूषा करते हैं, गूलर, बड़, बोर, अंजीर व पिलंखु—इन पांच प्रकार के फलों का भक्षण नहीं करते, पलाण्डु (प्याज), लहसुन आदि कन्द-मूल का भक्षण नहीं करते, बैलों को निर्लांछन नहीं कराते, उनके नाक-कान का छेदन नहीं कराते व त्रस-प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नहीं करते।"

गोशालक[3] ने छः अभिजातियों[4] का निरूपण किया तथा विभिन्न प्रकार के प्राणियों व भिक्षुओं को तरतमता से बांटा[5]।

कृष्ण अभिजाति—कसाई, आखेटक, लुब्धक, मत्स्यघातक, चोर, लुण्टाक, कारागृहिक और इस प्रकार के अन्य क्रूर कर्मान्तिक लोग।

नील अभिजाति—कण्टकवृत्तिक भिक्षुक और अन्य कर्मवादी, क्रियावादी लोग।

लोहित अभिजाति—एक शाटक (एक वस्त्रधारी) निर्ग्रन्थ।

हरिद्रा अभिजाति—श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ व अचेलक (निर्ग्रन्थ) श्रावक।

शुक्ल अभिजाति—आजीवक और उनके अनुयायी।

महाशुक्ल अभिजाति—नन्द वत्स, कृश सांकृत्य और मक्खली गोशाल।

यद्यपि इन अभिजातियों का वर्गीकरण एक रूप और सुस्पष्ट नहीं मिल रहा है तो भी इस बात की सूचना तो सुस्पष्ट है ही कि आजीवकों ने भी अपने से दूसरा स्थान निगण्ठों को ही दिया था; जैसे कि निगण्ठों ने भी अपने से दूसरा स्थान आजीवकों को दिया।

गुरु कौन ?

इतिहास और शोध के क्षेत्र में तटस्थता आये, यह नितान्त अपेक्षित है। साम्प्रदायिक व्यामोह इस क्षेत्र से दूर रहे, यह भी अनिवार्य अपेक्षित है। पर तटस्थता और नवीन स्थापना

---

१. अभिधान राजेन्द्र, भा० २, पृ० ११६।

२. शतक ८, उद्देशक ५।

३. कुछ लोग इन्हें पूरणकाश्यप द्वारा अभिहित मानते हैं; पर वस्तुतः यह गोशालक द्वारा प्रतिपादित होना चाहिए। विशेष विस्तार के लिए देखें, 'त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त' प्रकरण के अन्तर्गत 'छ अभिजातियों में निर्ग्रन्थ'।

४. अंगुत्तरनिकाय, ६-६-५७; संयुत्तनिकाय, २४-७-८ के आधार पर।

५. जैन आगम परिणाम और वर्ण दृष्टि से प्राणियों को छ लेश्याओं में विभक्त करते हैं। देखें, तुलनात्मक अध्ययन के लिए, 'त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त' प्रकरण के अन्तर्गत 'छ अभिजातियों में निर्ग्रन्थ'।

भी भयावह हो जाती है, जब वे एक व्यामोह का रूप ले लेती हैं। गोशालक के सम्बन्ध में विगत वर्षों में गवेषणात्मक प्रवृत्ति बढ़ी है। आजीवक मत और गोशालक पर पश्चिम और पूर्व के विद्वानों ने बहुत कुछ नया भी ढूंढ निकाला है। पर खेद का विषय है कि नवीन स्थापना के व्यामोह में कुछ-एक विद्वान् गोशालक-सम्बन्धी इतिहास को मूल से ही औंधे पैर खड़ा कर देना चाह रहे हैं। डा० वेणीमाधव बरुआ कहते हैं—"यह तो कहा ही जा सकता है कि जैन और बौद्ध परम्पराओं से मिलने वाली जानकारी से यह प्रमाणित नहीं हो सकता कि जिस प्रकार जैन गोशालक को महावीर के दो ढोंगी शिष्यों में से एक ढोंगी शिष्य बताते हैं; वैसा वह था। प्रत्युत उन जानकारियों से विपरीत ही प्रमाणित होता है, अर्थात् मैं कहना चाहता हूँ कि इस विवादग्रस्त प्रश्न पर इतिहासकार प्रयत्नशील होते हैं तो उन्हें कहना ही होगा कि उन दोनों में एक दूसरे का कोई ऋणी है तो वास्तव में गुरु ही ऋणी है, न कि जैनों द्वारा माना गया उनका ढोंगी शिष्य।"[1] डा० बरुआ ने अपनी धारणा की पृष्ठभूमि में यह भी माना है—"महावीर पहले तो पार्श्वनाथ के पंथ में थे, किन्तु एक वर्ष बाद जब वे अचेलक हुए, तब आजीवक पंथ में चले गए।"[2] इसके साथ साथ डा० बरुआ ने इस आधार को ही अपने पक्ष में गिनाया है कि गोशालक भगवान् महावीर से दो वर्ष पूर्व जिन-पद प्राप्त कर चुके थे।[3] यद्यपि डा० बरुआ ने यह भी स्वीकार किया है कि ये सब कल्पना के ही महान् प्रयोग हैं;[4] तो भी उनकी उन कल्पनाओं ने किसी-किसी को अवश्य प्रभावित किया है। तदनुसार उल्लेख भी किया जाने लगा है और वह उल्लेख भी द्विगुणित होकर। गोपालदास जीवाभाई पटेल लिखते हैं—"महावीर और गोशालक ६ वर्ष तक एक साथ रहे थे; अतः जैन सूत्रों में गोशालक के विषय में विशेष परिचय मिलना ही चाहिए। **भगवती, सूत्रकृतांग, उपासकदसांग** आदि सूत्रों में गोशालक के विषय में विस्तृत या संक्षिप्त कुछ उल्लेख मिलते हैं। किन्तु उन सबमें गोशालक को चरित्र-भ्रष्ट तथा महावीर का एक शिष्य ठहराने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया लगता है कि सामान्यतया ही उन उल्लेखों को आधारभूत मानने का मन नहीं रह जाता। गोशालक के सिद्धान्त को यथार्थ रूप से रखने का यथाशक्ति प्रयत्न वेणीमाधव बरुआ ने अपने ग्रन्थ[5] में किया है।"[6]

धर्मानन्द कोशम्बी प्रभृति ने भी इसी प्रकार का आशय व्यक्त किया है। लगता है, इस

---

१. *The Ajivikas*, J. D. L., vol. II. 1920, pp. 17-18.

२. वही, पृ० १८।

३. वही, पृ० १८।

४. वही, पृ० २१।

५. *Pre-Buddhistic Indian Philosophy*, pp. 297-318.

६. महावीर स्वामी नो संयम धर्म, (सूत्रकृतांग का गुजराती अनुवाद) पृ० ३४।

धारणा के मूल उन्नायक डा० हर्मन जेकोबी[1] रहे हैं। तदनन्तर अनेक लोग इस पर लिखते ही गये। डा० बाशम ने अपने महानिबन्ध **"आजीवकों का इतिहास और सिद्धान्त"** में इस विषय पर और भी विस्तार से लिखा है। यह सब इस मनोवृत्ति का सूचक है कि किसी एक पश्चिमी विद्वान् ने लिख दिया, तो अवश्य वह महत्त्वपूर्ण है ही। यह सुविदित है कि गोशालक-सम्बन्धी जो भी तथ्य उपलब्ध हैं, वे जैन और बौद्ध परम्परा से ही सम्बद्ध हैं। उन आधारों पर ही हम गोशालक का समग्र जीवन-वृत्त निर्धारित करते हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओं से हटकर यदि हम खोजने बैठें तो सम्भवतः हमें गोशालक नामक कोई व्यक्ति ही न मिले। ऐसी स्थिति में एतद्विषयक जैन और बौद्ध आधारों को भले ही वे किसी भाव और भाषा में लिखे गए हों, हमें मान्यता देनी ही होती है। कुछ आधारों को हम सही मान लें और बिना किसी हेतु के ही कुछ एक को असत्य मान लें; यह ऐतिहासिक पद्धति नहीं हो सकती। वे आधार निर्हेतुक इसलिए भी नहीं माने जा सकते कि जैन और बौद्ध, दो विभिन्न परम्पराओं के उल्लेख इस विषय में एक दूसरे का समर्थन करते हैं। डा० जेकोबी ने भी तो परामर्श दिया है—"अन्य प्रमाणों के अभाव में हमें इन कथाओं के प्रति सजगता रखनी चाहिए।"[2]

तथारूप निराधार स्थापनाएं बहुत बार इसलिए भी आगे-से-आगे बढ़ती जाती हैं कि वर्तमान गवेषक मूल की अपेक्षा टहनियों का आधार अधिक लेते हैं। प्राकृत व पाली की अनभ्यास दशा में वे आगमों और त्रिपिटकों का सर्वाङ्गीण अवलोकन नहीं कर पाते और अंग्रेजी व हिन्दी प्रबन्धों के एकांकी पुराने उनके सर्वाधिक आधार बन जाते हैं। यह देखकर तो बहुत ही आश्चर्य होता है कि शास्त्र-सुलभ सामान्य तथ्यों के लिए भी विदेशी विद्वानों व उनके ग्रन्थों के प्रमाण दिए जाते हैं। जैन आगमों के एतद्विषयक वर्णनों को केवल आक्षेपात्मक समझ बैठना भूल है। जैन आगम जहां गोशालक व आजीवक मत की निम्नता व्यक्त करते हैं, वहां वे गोशालक को अच्युत कल्प तक पहुंचाकर, उन्हें मोक्षगामी बतला कर और उनके अनुयायी भिक्षुओं को वहां तक पहुँचने की क्षमता प्रदान कर उन्हें गौरव भी देते हैं। गोशालक के विषय में—वह गोशाला में जन्मा था, वह मंख था, वह आजीवकों का नायक था आदि बातों को हम जैन आगमों के आधार से मानें और जैनागमों की इस बात को कि वह महावीर का शिष्य था; निराधार ही हम यों कहें कि वह महावीर का गुरु था, बहुत ही हास्यास्पद होगा। यह तो प्रश्न ही तब पैदा होता, जब जैन आगम उसे शिष्य बतलाते और बौद्ध व आजीवक शास्त्र उसके गुरु होने का उल्लेख करते; प्रत्युत स्थिति तो यह है कि महावीर के सम्मुख गोशालक स्वयं स्वीकार करते हैं कि "गोशालक तुम्हारा

---

१. *S. B. E.*, vol. XLV, Introduction, pp. XXIX to XXXII.
२. *Ibid*, p. XXXIII.

शिष्य था, पर मैं वह नहीं हूँ। मैंने तो उस मृत गोशालक के शरीर में प्रवेश पाया है। यह शरीर उस गोशालक का है, पर आत्मा भिन्न है।" इस प्रकार विरोधी प्रमाण के अभाव में ये कल्पनात्मक प्रयोग नितान्त अर्थशून्य ही ठहरते हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि इस निराधार धारणा के उठते ही अनेक गवेषक विद्वान् इसका निराकरण भी करने लगे हैं।[1]

आजीवक अब्रह्मचारी

आजीवक भिक्षुओं के अब्रह्म-सेवन का उल्लेख आर्द्रककुमार प्रकरण में आया है, इसे भी कुछ एक लोग नितान्त आक्षेप मानते हैं।[2] केवल जैन आगम ही ऐसा कहते तो यह सोचने का आधार बनता, पर बौद्ध शास्त्र भी आजीवकों के अब्रह्म-सेवन की मुक्त पुष्टि करते हैं।[3] निग्गण्ठ ब्रह्मचर्यवास में और आजीवक अब्रह्मचर्यवास में गिनाए भी गए हैं।[4] गोशालक कहते थे, तीन अवस्थाएं होती हैं—बद्ध, मुक्त और न बद्ध न मुक्त। वे स्वयं को मुक्त-कर्म-लेप से परे मानते थे। उनका कहना था, मुक्त पुरुष स्त्री-सहवास करे तो उसे भय नहीं।[5] ये सारे प्रसंग भले ही उनके आलोचक सम्प्रदायों के हों, पर आजीवकों की अब्रह्म-विषयक मान्यता को एक गवेषणीय विषय अवश्य बना देते हैं। एक दूसरे के पोषक होकर ये प्रसंग अपने-आप में निराधार नहीं रह जाते। इतिहासविद् डा० सत्यकेतु ने गोशालक के भगवान् महावीर से होने वाले तीन मतभेदों में एक स्त्री-सहवास बताया है।[6] कुल मिलाकर कहा जा सकता है, आजीवकों को जैन आगमों का अब्रह्म के पोषक बतलाना आक्षेप मात्र ही नहीं है और कोई सम्प्रदाय विशेष ब्रह्मचर्य को सिद्धान्त रूप से मान्यता न दे, यह भी कोई अनहोनी बात नहीं है। भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाय रहे हैं, जिनके सिद्धान्त त्याग और भोग के सभी सम्भव विकल्पों को मानते रहे हैं। हम अब्रह्म की मान्यता पर ही आश्चर्यान्वित क्यों होते हैं? उन्हीं धर्म-नायकों में अजितकेशकम्बल जैसे भी थे, जो आत्म-अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते थे। यह भी एक प्रश्न ही है कि ऐसे लोग तपस्या क्यों करते थे। अस्तु; नवीन स्थापनाओं के प्रचलन में और प्रचलित स्थपनाओं के निराकरण में बहुत ही जागरूकता और गम्भीरता अपेक्षित है।

*

१. डा० कामताप्रसाद, वीर ; वर्ष २, अंक १२-१३ ; चीमनलाल जयचन्द शाह, उत्तर हिन्दुस्तान मां जैन धर्म, पृ० ५८ से ६१ ; डा० ए० एस० गोपानी *Ajivika sect—A New Interpretation*, भारतीय विद्या, खण्ड २, पृ० २०१-१० ; खण्ड ३, पृ० ४७-५६।
२. महावीर स्वामी नो संयम धर्म, पृ० ३४।
३. *Ajivakas*, vol. I ; मज्झिमनिकाय, भाग १, पृ० ५१४ ; *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Dr. Hoernle P. 261.
४. मज्झिमनिकाय, सन्दक सुत्त, २-३-६।
५. गोपालदास पटेल, महावीर कथा, पृ० १७७ ; श्रीचन्द रामपुरिया, तीर्थङ्कर वर्धमान, पृ० ८३।
६. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ० १६३।

: ४ :

काल-निर्णय

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासाशील प्राणी है। जिज्ञासा से ज्ञान बढ़ता है और ज्ञान से जिज्ञासा बढ़ती है। ज्ञान और जिज्ञासा का यही क्रम जीवन का निःसीम आनन्द है। ज्ञान और जिज्ञासा का यही युग्म सत्य-प्राप्ति का अविकल सोपान है। इतिहास के प्रथम दृष्टिपात में भगवान् महावीर व बुद्ध एक प्रतीत हुए[१] व कुछ विद्वानों ने प्रथम गणधर गौतम स्वामी को ही गौतम बुद्ध माना।[२] जिज्ञासा के दो डगों ने स्पष्ट कर दिया, वे एक ही काल में होने वाले दो महापुरुष थे जो क्रमशः ७२ व ८० वर्ष इस धरातल पर विद्यमान रहे।[3] जिज्ञासा का अगला कदम उठा—उनकी समसामयिकता कितने वर्षों की थी और उनमें वयोमान की दृष्टि से छोटे और बड़े कौन थे? इस ओर भी अनेक चिन्तकों का ध्यान बँटा है और अब तक अनेक

---

१. *S. B. E.* vol XXII, Introduction, p. XV.

२. "According to the jains, the chief disciple of their Tīrthankara Mahāvīra, was called Gautama Swāmī or Gautama Indrabhūti (Ward's *Hindus*, p. 247 and Calebrooke's *Essays*, vol. II, p. 279) whose identity with Gautam Buddha was suggested by both Dr. Hamilton and Major Delamaine and was accepted by Calebrooke. This is what Calebrooke says in his *Essays*, vol. II, p. 276 :—"In the *Kalpa Sutra* and in other books of the jains, the first of Mahāvīra's disciples in mentioned under the name of Indrabhuti, but in the inscriptions under that of Gautam Swami. The names of the other ten precisely agree. Whence it is to be concluded that Gautama, the first one of the first list, is the same with the Indrabhūti, first of the second list. It is certainly probable, as remarked by Dr. Hamilton and Major Delamaine that the Gautama of the Jains and Gautama of Buddhas is the same personage." Two of eleven disciples of Mahāvīra survived him viz. Sudharmā and Gautama. Sudharmā's spiritual successors are the Jain priests, whereas the Gautam's followers are the Buddhist"—Manmathnāth Shāstri, M. A., M. R. A. S., Buddha : *His life, his teachings, his order*, 1910 (Second edition) pp. 21-22.

३. कल्पसूत्र, १४७ तथा दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त, २-३-१६।

महत्त्वपूर्ण प्रयत्न इस दिशा में हुए हैं। विषय बहुत कुछ स्पष्ट हुआ है, पर निर्विवाद नहीं। आगमों, त्रिपिटकों व इतिहास के परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले प्रसंगों ने विचारकों को नाना निर्णयों पर पहुँचा दिया है। पिछले प्रयत्नों का वर्गीकरण, उनकी समीक्षा तथा अपने स्वतंत्र चिन्तन से प्रस्तुत प्रकरण को एक असंदिग्ध स्थिति तक पहुंचाना नितान्त अपेक्षित है।

डा० जेकोबी

सर्व प्रथम और महत्त्वपूर्ण प्रयत्न इस दिशा में डा० हरमन जेकोबी का रहा है। डा० मैक्समूलर द्वारा सम्पादित पूर्व के पवित्र ग्रन्थ (Sacred Books of the East) नामक ५० खण्डों की सुविस्तृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत खण्ड २२ तथा खण्ड ४५ के अनुवादक डा० जेकोबी रहे हैं। खण्ड २२ में **आचारांग** और **कल्प** तथा खण्ड ४५ में **उत्तराध्ययन** व **सूत्रकृतांग**—ये चार आगम हैं। डा० जेकोबी ने जैन धर्म को और भी उल्लेखनीय सेवायें दी हैं। २३वें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुषों की कोटि में लाने का श्रेय भी उनको ही है।[1] इतिहास के क्षेत्र में जो यह भ्रम था कि जैन-धर्म बौद्ध-धर्म की ही एक शाखा मात्र है, उसका निराकरण भी मुख्यतः डा० जेकोबी के द्वारा ही हुआ है।[2] उन्होंने जैन परम्पराओं के साक्षात् दर्शन की दृष्टि से दो बार भारतवर्ष की यात्राएं भी की थीं। अनेक जैन आचार्यों से उनका यहां साक्षात् सम्पर्क हुआ था।[3]

डा० जेकोबी ने भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग की मुख्यतया दो स्थानों पर चर्चा की है और वे दोनों चर्चायें एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं। एक समीक्षा में उन्होंने भगवान् महावीर को पूर्व-निर्वाण-प्राप्त और भगवान् बुद्ध को पश्चात् निर्वाण प्राप्त प्रमाणित किया है, तो दूसरी समीक्षा में भगवान् बुद्ध को पूर्व-निर्वाण-प्राप्त और भगवान महावीर को पश्चात्-निर्वाण-प्राप्त प्रमाणित किया है।

प्रथम समीक्षा

उनकी पहली समीक्षा **आचारांग सूत्र** की भूमिका (ई० १८८४) में मिलती है। वहां

---

१. *S. B. E.* vol XLV, Introduction to *Jaina Sutras*, vol. II, p. 21, 1894.

२. *S. B. E.* vol. XXII, Introduction to *Jaina Sutras*, vol, I, pp. 9-19, 1884.

३. सन् १९१४, मार्च में उनकी दूसरी भारत-यात्रा हुई थी। लाडनूं में तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी के साथ उनका तीन दिनों का महत्त्वपूर्ण सम्पर्क रहा।

के महावीर और बुद्ध के जीवन-प्रसंगों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं[१] : "यहां हमें महावीर और बुद्ध के मुख्य-मुख्य जीवन-संस्मरणों को सामने लाकर उनके अन्तर को समझना है। बुद्ध कपिलवस्तु में जन्मे थे, महावीर वैशाली के समीपवर्ती किसी एक ग्राम में। बुद्ध की माता का बुद्ध के जन्म के बाद देहान्त हो गया, महावीर के माता-पिता महावीर की युवावस्था तक जीवित थे। बुद्ध अपने पिता के जीवनकाल में ही और पिता की इच्छा के विरुद्ध साधु बन गए थे, महावीर अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद अपने बड़ों की आज्ञा लेकर साधु बने थे। बुद्ध ने ६ वर्ष तक तपस्यामय जीवन बिताया, महावीर ने १२ वर्ष तक। बुद्ध ने सोचा कि मैंने इतने वर्ष व्यर्थ गंवाये और ये सब तपस्यायें मेरे ध्येय की प्राप्ति के लिए निरर्थक निकलीं, महावीर को तपस्या की आवश्यकता सत्य लगी और उन्होंने तीर्थङ्कर बनने के पश्चात् भी उनमें से कुछ एक को रख छोड़ा। मंखलिपुत्र गोशालक महावीर के विरोधियों में जितना प्रमुख है, उतना बुद्ध के विरोधियों में नहीं है तथा जमाली जो कि जैनधर्म-संघ में प्रथम निह्नव हुआ, बुद्ध के साथ कहीं नहीं पाया जाता। बुद्ध के सभी शिष्यों के नाम महावीर के शिष्यों के नाम से भिन्न हैं। इन असमानताओं की गणना के अन्त में, बुद्ध का निर्वाण कुशीनगर में हुआ जबकि महावीर का निर्वाण पावा में और वह भी निश्चित रूप से बुद्ध के निर्वाण से पूर्व।"

डा० जेकोबी ने यहां जरा भी स्पष्ट नहीं किया है कि उनकी यह धारणा किन प्रमाणों पर आधारित है और न उन्होंने यहाँ यह भी समीक्षा की है कि महावीर और

---

१. "We shall now put side by side the principal event of Buddha's and Mahāvīra's lives, in onder to demonstrate their difference. Buddha was born in Kapilvastu, Mahāvīra in village near Vaishali; Buddha's mother died after his birth, Mahāvīra's parents lived to see him a grown up man ; Buddha turned ascetic during the lifetime and against the will of his father, Mahāvīra did so after the death of his parents and with the consent of those in power ; Buddha led a life of austerities for six years, Mahāvīra for twelve ; Buddha thought these years wasted time, and that all his penances were useless for attaining his end, Mahāvira was convinced of the necessity of his penances and preserved in some of then even after becoming a Tirthankara. Amongst Buddha's opponents Gosāla Makkhaliputra is by no means so prominent as amongst Mahāvīra's nor among the farmer do we neet Gamali who caused the first schism in Gaina Church. All the disciples of Buddha bear other names than those of Mahāvira. To finish this enumeration of differences, Buddha died in Kusinagara, whereas Mahāvira died in Pāpā, avowedly before the farmer."

—*S. B. E.*, vol. XXII, Introduction, pp. XXVII-XXVII.

बुद्ध के जन्म और निर्वाण कब हुए थे। अतः उक्त विवरण से यह पता लगाना कठिन होता है कि उनकी इस धारणा से महावीर और बुद्ध की समसामयिकता कितनी थी।

महावीर का निर्वाण-काल

उनके द्वारा अनूदित जैन सूत्रों के दोनों खण्डों की भूमिकाओं के अवान्तर प्रसंगों से यह भी भली-भांति प्रमाणित होता है कि उन्होंने भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२६ में माना था। वे लिखते हैं : "जैनो की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि जैन सूत्रों की वाचना वल्लभी में देवर्द्धि (क्षमा-श्रमण) के तत्वावधान में हुई। इस घटना का समय वीर-निर्वाण से ९८० (या ९९३) वर्ष बाद का है, अर्थात् ४५४ (या ४६७) ईस्वी का है ; जैसा कि कल्पसूत्र (गाथा १४८) में ही बताया गया है।"[1]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि डा० जेकोबी ने वीर-निर्वाण का समय ई० पू० ५२६ का माना है, क्योंकि ५२६ में ५४४ और ४६७ जोड़ने पर ही क्रमशः ९८० और ९९३ वर्ष होते हैं। उनके द्वारा अनूदित दूसरे खण्ड की भूमिका में जो कि पहले खण्ड की भूमिका से दस वर्ष बाद (ई० १८९४) लिखी गई है, उन्होंने इसी तथ्य को प्रसंगोपात्त फिर दोहराया है।[2] उसी भूमिका में एक प्रसंग और मिलता है, जो कि ई० पू० ५२६ की निर्विवाद पुष्टि करता है। वे लिखते हैं[3] : "कौशिक गोत्री खलुय रोहगुप्त ने, जो कि जैन-धर्म का छठा निह्नव था, वीर-निर्वाण के ५४४ वर्ष बाद अर्थात् ई० १८ में त्रैराशिक मत की स्थापना की।" यहां पर भी ५४४ में से ५२६ बाद देने पर ही ई० सन् १८ का समय आता है।

बुद्ध का निर्वाण-काल

इसी प्रकार बुद्ध के विषय में भी डा० जेकोबी ने अपनी इन भूमिकाओं में जन्म और निर्वाण के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट काल व्यक्त नहीं किया है। परन्तु उन्हीं भूमिकाओं में अन्य प्रसंगों से जो कुछ उन्होंने लिखा है, उनसे उनकी बुद्ध के जन्म और निर्वाण-काल-सम्बन्धी धारणा भी व्यक्त हो जाती है। जैसे कि वे मैक्समूलर का उद्धरण देते हुए लिखते हैं : "बौद्ध

---

१. "The redaction of the Gaina's canon or the siddhanta took place according to the unanimons tradition, on the council of Vallabhi, under the presidency of DEVARDDHI. The date of this event 980 (or 993) A. V., Corresponding to 454 (or 467) A. D. incorporated in the Kalpasutra (148)......"

—*S. B. E.* vol. XXII, Introduction, p. XXXVII.

२. *S. B. E.*, vol. XLU, Introduction, p. XL.

३. "Khaluya Rohagutta of the Kausika Gotra, with whom originated the sixth Schism of the Gainas the Trairāsikawatam in 544. A V. (18. A. D.)"

—*S. B. E.*, vol. XLU, Introduction, p. XXXVII.

शास्त्रों के लिखे जाने की अन्तिम तिथि ई० पू० ३७७ थी, जिस समय कि बौद्धों की दूसरी संगीति हुई थी।"[1] यह सर्व-सम्मत धारणा है कि यह संगीति बुद्ध-निर्वाण के १०० वर्ष बाद वैशाली में हुई थी।[2] फलित यह होता है कि बुद्ध-निर्वाण का समय ई० पू० ४७७ ठहरता है।

महावीर और बुद्ध की निर्वाण-तिथि डा० जेकोबी की उस समय की धारणा के अनुसार यदि ये ही रही हों, तो महावीर बुद्ध से ४१ वर्ष ज्येष्ठ हो जाते हैं।[3]

डा० जेकोबी की दूसरी समीक्षा

डा० जेकोबी की एतद्विषयक चर्चा का दूसरा स्थल 'बुद्ध और महावीर का निर्वाण' नामक उनका लेख है। यह लेख उन्होंने जर्मनी की एक शोध-पत्रिका के २६ वें भाग में सन् १९३० में लिखा था। इस लेख का गुजराती अनुवाद **भारतीयविद्या** नामक शोध पत्रिका के सन् १९४४, वर्ष ३, अंक १, जुलाई में प्रकाशित हुआ था और उसका हिन्दी अनुवाद श्री किस्तूरमलजी बांठिया द्वारा संगृहीत होकर **श्रमण** के सन् १९६२, वर्ष १३, अंक ६-७ में प्रकाशित हुआ था। डा० जेकोबी के इस लेख का निष्कर्ष है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ में हुआ था तथा महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७७ में हुआ था।[4] तात्पर्य, महावीर बुद्ध से ७ वर्ष बाद निर्वाण को प्राप्त हुए और आयु में उनसे १५ वर्ष छोटे थे।

अन्तिम लेख

श्री किस्तूरमलजी बांठिया के कथनानुसार डा० जेकोबी का यह अन्तिम लेख है और

---

१. "The latest date of a Buddhist canon at the time of the second council 377 B. C."

—*S. B. E.*, vol. X, p. XXXII, in S. B. E. vol, XXII, XLII.

२. देखें—विनयपिटक चुल्लवग्ग, १२ : १-२ ; राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या पृ० ५५६, H. C. Ray Chaudhuri, Polictical History of Ancient India, Sixth Edition, 1953, p. 228 ; आजकल का वार्षिक अंक "बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष में चार बौद्ध परिषदें" नामक भिक्षु जिनानन्द का लेख, पृ० ३० ।

३. भगवान् महावीर

निर्वाण	ई० पू० ५२६ ।
आयु	७२ वर्ष ।
अतः जन्म	ई० पू० ५९८ ।

भगवान् बुद्ध

निर्वाण	ई० पू० ४७७ ।
आयु	८० वर्ष ।
अतः जन्म	ई० पू० ५५७ ।

इस प्रकार ५९८-५५७=४१ वर्ष ।

४. श्रमण, वर्ष १३, अंक ६, पृष्ठ १० ।

इसमें एतद्विषयक अपनी परिवर्तित धारणा उन्होंने व्यक्त की है।[1] आश्चर्य यह कि डा० जेकोबी ने 'बुद्ध और महावीर का निर्वाण' इस सुविस्तृत लेख में यह कहीं भी चर्चा नहीं की कि उनका एतद्विषयक अभिमत पहले यह था और अब यह है तथा वह इन कारणों से परिवर्तित हुआ है। उन्होंने तो केवल अपने लेख के प्रारम्भ में कहा है : "एक पक्ष यह कहता है,—परम्परा से चली आ रही और प्रमाणों द्वारा प्रस्थापित इतिहास की धारणा के अनुसार गौतम बुद्ध महावीर से कितने ही वर्ष पूर्व निर्वाण-प्राप्त हो गए थे। दूसरा पक्ष यह कहता है, बौद्ध शास्त्रों में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह जाना जाता है कि महावीर बुद्ध से थोड़े ही समय पूर्व कदाचित् निर्वाण-प्राप्त हुए थे। इस प्रत्यक्ष दीखने वाले विरोध में सत्य क्या है, इसी शोध के लिए यह लेख लिखा जा रहा है।"[2] यहां यह ध्यान देने की बात है कि अपने प्राक्तन मत को अपने अनूदित ग्रन्थ की भूमिकाओं में वे लिख चुके थे और उनके सामने वे प्रकाशित होकर भी आ गई थीं; फिर भी प्रस्तुत निबन्ध में वे अपनी उस अभिव्यक्ति का सोल्लेख निराकरण नहीं करते ; यह क्यों ?

हो सकता है, किन्हीं परिस्थितियों में ऐसा हो गया हो। यहां हमें उसकी छानबीन में नहीं जाना है। यहां तो हमें यही देखना है कि उन्होंने अपने इस अभिनव मत को किन आधारों पर सुस्थिर किया है तथा वे आधार कहां तक यथार्थ हैं। डा० जेकोबी एक गम्भीर समीक्षक थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। किसी भी तथ्य को नाना कसौटियों पर कसते रहना तो किसी भी सत्य-मीमांसक का अपना कार्य है ही।

डा० जेकोबी के लेख का सार

उक्त लेख को आद्योपांत पढ़ जाने से स्पष्ट लगने लगता है कि यह लेख केवल बुद्ध और महावीर की निर्वाण-तिथियों के सम्बन्ध से ही नहीं लिखा गया। लेख का एक प्रमुख ध्येय तात्कालिक राजनैतिक स्थितियों पर भी प्रकाश डालना है। उनके मूल लेख का शीर्षक 'बुद्ध और महावीर का निर्वाण एवं उनके समय की मगध की राजकीय स्थिति' भी यही संकेत करता है। निर्वाण-तिथियों के सम्बन्ध में जितना उन्होंने लिखा है, वह भी विषय को निर्णायक स्थिति तक पहुँचाने के लिए अपर्याप्त ही नहीं, कुछ अस्वाभाविक भी है।

डा० जेकोबी का बुद्ध को बड़े और महावीर को छोटे मानने में प्रमुख प्रमाण यह है कि चेटक, कोणिक (अजातशत्रु) आदि का युद्ध-सम्बन्धी विवरण जितना बौद्ध-शास्त्रों में मिलता है, जैन-आगमों में उससे आगे का भी मिलता है। बौद्ध शास्त्रों में अजातशत्रु का अमात्य वस्सकार बुद्ध के पास वज्जियों के विजय की योजना ही प्रस्तुत करता है, तो जैन-आगमों में चेटक और कोणिक के महाशिलाकंटक और रथमूसलसंग्राम व

---

१. श्रमण, वर्ष १३, अंक ६, पृ० ९ ; श्री बांठिया द्वारा लिखित लेख क पीठिका।

२. श्रमण, वर्ष १२, अंक ६, पृष्ठ ९,१०।

वैशाली-प्राकार-भंग तक का स्पष्ट विवरण मिलता है। उनका कहना है:—"इससे यही प्रमाणित होता है कि महावीर बुद्ध के बाद कितने ही (सम्भवतः ७ वर्ष) अधिक वर्ष जीवित रहे थे।"[1]

शास्त्र-संग्राहकों ने तात्कालिक स्थितियों का कितना-कितना अंश शास्त्रों में संग्रहीत किया, यह उनके चुनाव और उनकी अपेक्षाओं पर आधारित था। यदि ऐसा हुआ भी हो कि बौद्ध संग्राहकों की अपेक्षा जैन संग्राहकों ने कुछ अधिक या परिपूर्ण संकलन किया हो, तो भी इस बात का प्रमाण नहीं बन जाता कि महावीर बुद्ध के बाद भी कुछ वर्ष तक जीवित रहे थे, इसीलिए ऐसा हुआ है।

डा० जेकोबी के मतानुसार यदि जैन आगम कोणिक-सम्बन्धी विवरणों पर अधिक प्रकाश डालते हैं, तो उसका यह स्वाभाविक और संगत कारण है कि कोणिक जैन धर्म का वरिष्ठ अनुयायी रहा है।[2]

डा० जेकोबी ने तो अर्थान्तर से ही यह अनुमान बांधा है, जब कि बौद्ध शास्त्रों में 'बुद्ध से पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ' ऐसे अनेक स्पष्ट और ज्वलन्त उल्लेख मिलते हैं और जैन आगमों में बुद्ध की मृत्यु का कहीं नामोल्लेख ही नहीं मिलता। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक निष्कर्ष तो यह होता कि जैन शास्त्र बुद्ध की मृत्यु के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं देते और बौद्ध शास्त्रों में 'भगवान् महावीर की मृत्यु भगवान् बुद्ध की मृत्यु से पूर्व हुई, ऐसा स्पष्ट उल्लेख देते हैं, तो महावीर पूर्व-निर्वाण-प्राप्त और बुद्ध पश्चात्-निर्वाण प्राप्त थे।

डा० जेकोबी के लेख में सबसे लचीली बात तो यह है कि उन्होंने अपने दुरान्वयी अर्थ को सुस्थिर रखने के लिए महावीर के पूर्व-निर्वाण-सम्बन्धी बौद्ध शास्त्रों में मिलने वाले तीन प्रकरणों[3] को अयथार्थ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है—ये प्रकरण भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न्-भिन्न प्रकार से मिलते है; अतः ये अयथार्थ हैं। साथ-साथ वे यह भी कहते हैं—इन तीनों प्रकरणों के भिन्न होते हुए भी तीनों का उद्देश्य तो एक ही है कि महावीर से निर्वाण-प्रसंग को लक्ष्य कर अपने भिक्षु-संघ को एकता और प्रेम का संदेश देना।

ध्यान देने की बात यह है कि उक्त तीनों प्रकरणों की भूमिका यत्किंचित् भिन्न भले ही हो, पर महावीर-निर्वाण के विषय में तीनों ही प्रकरण सर्वथा एक ही बात कहते हैं। भूमिकाएं, शास्त्र-संग्राहक किसी भी शैली से गढ़ सकते हैं, पर जीवित महावीर को भी वे निर्वाण-प्राप्त महावीर कह सकते हैं, यह सोचना सर्वथा असंगत होगा।

---

१. श्रमण, वर्ष १३, अंक ७, पृ० ३५।
२. विस्तार के लिए देखें, 'अनुयायी राजा, प्रकरण के अन्तर्गत, अजातशत्रु (कोणिक)।'
३. इन तीनों प्रकरणों की विस्तृत समीक्षा के लिए देखें, इसी प्रकरण के अन्तर्गत 'निर्वाण-प्रसंग'।

महावीर का निर्वाण किस पावा में ?

डा० जेकोबी ने इस सम्बन्ध में एक अन्य तर्क भी उपस्थित किया है कि बौद्ध शास्त्रों में महावीर का निर्वाण जिस पावा में कहा है, वह पावा शाक्य भूमि में थी और वहां बुद्ध ने अपने अन्तिम दिनों में प्रवास किया था ; जब कि जैनों की पारम्परिक मान्यता के अनुसार महावीर का निर्वाण पटना जिले के अन्तर्गत राजगृह के समीपस्थ पावा में हुआ था। अतः जिस प्रकार पावा काल्पनिक है, उसी तरह महावीर के निर्वाण की बात भी काल्पनिक हो सकती है। डा० जेकोबी का यह भी कहना है : "महावीर के मृत्यु-स्थान-विषयक जैनों की परम्परा के विषय में शंका करना उचित नहीं है।"

बौद्धों ने जिस पावा का उल्लेख किया है, मान लें कि नाम-साम्य के कारण उन्होंने यह भूल कर दी। ऐसी भूलों का होना असम्भव नहीं है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि निर्वाण की बात ही सारी मनगन्ढ़त है। वस्तुस्थिति तो यह है कि डा० जेकोबी ने जैन परम्परा में मान्य जिस पावा के विषय में शंका उपस्थित करने की भी वर्जना की है, ऐतिहासिक आधारों पर वह शंकास्पद ही नहीं, निराधार ही बन जाने लगी है। परम्परा और इतिहास में बहुधा आकाश-पाताल का अन्तर पड़ जाता है। महावीर का जन्म-स्थान भी परम्परागत रूप से लिछूआड़ के निकटस्थ क्षत्रियकुण्ड माना जाता है। पर वर्तमान इतिहास की शोध ने उसे नितान्त अप्रमाणित कर दिया है। ऐतिहासिक धारणा के अनुसार तो महावीर का जन्म-स्थान पटना से २७ मील उत्तर में मुजफ्फरपुर जिले का बसाढ़ ही क्षत्रियकुण्डपुर है। इस प्रकार परम्परागत स्थान गंगा से सुदूर दक्षिण की ओर है, जब कि इतिहास-सम्मत स्थान गंगा के उत्तरी अंचल में है। पावा के सम्बन्ध में भी लगभग यही बात है। परम्परा-सम्मत पावा दक्षिण बिहार में है और वहां के भव्य मन्दिरों ने उसे एक जैन तीर्थ बना दिया है। इतिहास इस बात में सम्मत नहीं है कि वह पावा यहां हो। भगवान् महावीर के निर्वाण-अवसर पर मल्लों और लिच्छवियों के अठारह गण राजा उपस्थित थे।[1] ऐसा उत्तरी बिहार में स्थित पावा में अधिक सम्भव हो सकता है ; क्योंकि उधर ही उन लोगों का राज्य था। दक्षिण बिहार की पावा तो नितान्त उनके शत्रु-प्रदेश में थी। अपने ज्वलन्त शत्रु मागधों के प्रदेश में वे कैसे उपस्थित हो सकते थे ? पं० राहुल सांकृत्यायन भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।[2] उनका कहना है—भगवान् महावीर का निर्वाण वस्तुतः गंगा के उत्तरी अंचल में आई हुई पावा में ही हुआ था, जो कि वर्तमान में गोरखपुर जिले के अन्तर्गत 'पपहुर' नामक ग्राम है। जैन लोगों ने प्राचीन परम्परा को भूलकर पटना

---

१. कल्पसूत्र, १२८।
२. दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ४४४, टि० ३।

शिलालेखगत गाथा को अपना लिया है। और भी अनेकों इतिहासज्ञ इस धारणा के समर्थक हैं।[1]

तात्पर्य हुआ, डा० जेकोबी जिस गाथा के आधार पर निर्वाण-सम्बन्धी प्रकरणों को अयथार्थ मानते हैं, वही गाथा इतिहास-सम्मत होकर उन निर्वाण-सम्बन्धी प्रकरणों की सत्यता को और पुष्ट कर देती है।

तात्कालिक स्थितियों के सम्बन्ध में आगम-त्रिपिटक

डा० जेकोबी का यह कथन भी पूर्ण यथार्थ नहीं है कि जैन-आगम त्रिपिटकों की अपेक्षा तात्कालिक स्थितियों का अधिक विवरण प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने इस अभिमत की पुष्टि के लिए अपने लेख में जो-जो प्रसंग प्रस्तुत किए हैं, वे भी तो सबके सब आगमोक्त नहीं हैं। महाशिलाकंटक संग्राम और रथमूसल संग्राम के बाद 'वैशाली की विजय'[2] का जो प्रकरण है, जिसमें कूलवालय भिक्षु वैशाली-प्राकार-भंग का निमित्त बनता है; वह सारा वर्णन डा० जेकोबी ने भी स्वयं **आवश्यक कथा** से उद्धृत किया है। आगम और त्रिपिटक मौलिक शास्त्र हैं। इन दोनों में तो तात्कालिक विवरणों का कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं पाया जा रहा है। इतर ग्रन्थों में जैसे जैन परम्परा में अनेक विवरण उपलब्ध होते हैं, वैसे बौद्ध परम्परा के **महावंश** आदि ग्रन्थों में भी तो होते हैं। **महावंश**[3] में तो अशोक तक के राजाओं का काल-क्रम दिया जाता है। इतने मात्र का अर्थ यह थोड़े ही हो जाता है कि बुद्ध महावीर के पश्चात् निर्वाण-प्राप्त हुए थे।

महावीर की निर्वाण-तिथि

डा० जेकोबी ने महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७७ और बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ माना है। पर उन्होंने अपने सारे लेख में यह बतलाने का विशेष प्रयत्न नहीं किया कि ये ही तिथियां मानी जायें, ऐसी अनिवार्यता क्यों पैदा हुई? केवल उन्होंने बताया है: "जैनों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर की मृत्यु के २१५ वर्ष बाद हुआ था। परन्तु हेमचन्द्र के मत (**परिशिष्ट पर्व**, ८-३३९) के अनुसार यह राज्याभिषेक महावीर-निर्वाण के १५५ वर्ष बाद हुआ।"[4] इसी बात को उन्होंने भद्रेश्वर के **कहावली** नामक ग्रन्थ मे पुष्ट किया है। परन्तु वस्तुस्थिति यह है—जैसे जेकोबी ने भी स्वीकार किया है, सर्वमान्य परम्परा के अनुसार तो चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर-निर्वाण के २१५ वर्ष बाद ही माना जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने उस प्रसंग को महावीर-निर्वाण के १५५

---

१. श्री नाथूराम प्रेमी ने भी ऐसी ही सम्भावना व्यक्त की है। देखें, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १८९।
२. श्रमण, वर्ष १३, अंक ७-८, पृ० ३४।
३. महावंश, परिच्छेद ४,५।
४. श्रमण, वर्ष १३, अंक ६, पृ० १०।

वर्ष बाद माना है।[1] किन्तु यह बात इतिहास की कसौटी पर टिकने वाली नहीं है। विद्वानों ने इसे हेमचन्द्राचार्य की भूल ही माना है। इस विषय में सर्वाधिक पुष्ट धारणा यह है कि महावीर जिस दिन निर्वाण-प्राप्त होते हैं, उसी दिन उज्जैनी में पालक राजा राजगद्दी पर बैठता है। उसका या उसके वंश का ६० वर्ष तक राज्य चलता है। उसके बाद १५५ वर्ष तक नन्दों का राज्य रहता है। तत्पश्चात् मौर्य-राज्य का प्रारम्भ होता है।[2] अर्थात् महावीर-निर्वाण के २१५ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठता है।[3] यह प्रकरण **तित्थोगाली पइन्नय** का है, जो कि **परिशिष्ट पर्व** तथा भद्रेश्वर की **कहावली** ; इन दोनों ग्रन्थों से बहुत ही प्राचीन माना जाता है।

लगता है, हेमचन्द्राचार्य के **परिशिष्ट पर्व** की गणना में पालक राज्य के ६० वर्ष छूट ही गए हैं। श्री पूर्णचन्द्र नाहर तथा श्री कृष्णचन्द्र घोष लिखते हैं : "महावीर के बाद पालक राजा ने ६० वर्ष राज्य किया था। लगता है, असावधानी से हेमचन्द्राचार्य उस अवधि को जोड़ना भूल गए।"[4]

डा० जेकोबी ने **परिशिष्ट पर्व** का सम्पादन किया है।[5] उन्होंने भी अपनी भूमिका में बताया है कि यह रचना हेमचन्द्राचार्य ने बहुत ही शीघ्रता में की है तथा इसमें अनेक स्थानों पर आसावधानी रही है। उस भूमिका में जेकोबी ने इस विषय पर विस्तृत रूप से लिखते हुए साहित्य और व्याकरण की नाना भूलें सप्रमाण उद्धृत की है। बहुत सम्भव है, जिस कथन (श्लोक ३३९) के आधार पर जेकोबी ने महावीर-निर्वाण के समय को निश्चित किया है, उसमें भी वैसी ही असावधानी रही हो।

हेमचन्द्राचार्य ने स्वयं अपने समकालीन राजा कुमारपाल का काल बताते समय महावीर निर्वाण का जो समय माना है, वह ई० पू० ५२७ का ही है ; न कि ई० पू० ४७७ का।

---

१. एवं च श्रीमहावीरमुक्ते वर्षशते गते।
पंच पंचाशदधिके चन्द्रगुप्तो भवेन्नृपः॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८, श्लोक ३३९।

२. जं रयिणं सिद्धिगओ अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतिए, अभिसित्तो पालओ राया॥
पालगरण्णो सट्ठी, पण पणसयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं तीसा पुण पूसमित्ताण॥ —तित्थोगाली पइन्नय ६२०-२१।

३. विस्तार के लिए देखें ; 'काल-गणना' प्रकरण।

४. Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of king Paluka after Mahāvīra.
Epitome of Jainism, Appendix A, p. IV.

५. एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित।

हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं[1] : "जब भगवान् महावीर के निर्वाण से सोलह सौ उनहत्तर वर्ष बीतेंगे, तब चौलुक्य कुल में चन्द्रमा के समान राजा कुमारपाल होगा।" अब यह निर्विवादतया माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४३ में हुआ।[2] हेमचन्द्राचार्य के कथन से यह काल महावीर-निर्वाण के १६६९ वर्ष का है। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर-निर्वाण-काल १६६९-११४२ = ई० पू० ५२७ ही माना है।

बुद्ध की निर्वाण-तिथि

डा० जेकोबी ने बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ में माना है। उसका आधार उन्होंने यह बताया है : "दक्षिण के बौद्ध कहते हैं, चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक बुद्ध-निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का सर्वसम्मत समय ई० पू० ३२२ है; अतः बुद्ध-निर्वाण ई० पू० ४८४ ठहरता है।"

डा० जेकोबी ने दक्षिण के बौद्धों की परम्परा का उल्लेख कर चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का जो तथ्य पकड़ा है, वह महावंश का है।[3] उसी महावंश में एक ओर जहां यह कहा गया है कि चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण बुद्ध-निर्वाण के १६२ वर्ष बाद हुआ, वहां उसी ग्रन्थ का एक

---

१. अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशत्या(ता)न्यभय षोडश।
नव षष्टिश्च यास्यन्ति यदा तत्र पुरे तदा॥
कुमारपालभूपालो, चौलुक्यकुलचन्द्रमाः।
भविष्यति महाबाहुः, प्रचण्डाखण्डशासनः॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग १२, श्लो० ४५-४६।

२. R. C. Majumdar, H. C. Raychoudhury, K. K. Dutta, *An Advanced History of India*. p. 202.

३. अजातसत्तुपुत्तो तं, घातेत्वादाय भद्दको।
रज्जं सोलसवस्सानि, कारेसि मित्तदुब्भिको॥१॥
उदयभद्दपुत्तो तं, घातेत्वा अनुरुद्धको।
अनुरुद्धस्स पुत्तो तं, घातेत्वा मुण्डनामको॥२॥
मित्तद्दुनो दुम्मतिनो, ते पि रज्जं अकारयुं।
तेसं उभिन्नं रज्जेसु, अट्ठवस्सानतिक्कमुं॥३॥
मुण्डस्स पुत्तो पितरं, घातेत्वा नागदासको।
चतुवीसति वस्सानि, रज्जं कारेसि पापको॥४॥
पितु घातकवंसोयं, इति कुद्धाथ नागरा।
नागदासकराजानं, अपनेत्वा समागता॥५॥
सुसुनागोति पञ्ञातं, अमच्चं साधु संमतं।
रज्जे समभिसिञ्चिंसु सब्बेसं हितमानसा॥६॥

अन्य उल्लेख यह है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४३ में हुआ[1], जिसे डा० जेकोबी ने भी अपने लेख में बुद्ध-निर्वाण का प्रसिद्ध परम्परा-मान्य समय कहा है।[2] अब यदि महावंश में बुद्ध-निर्वाण का समय ५४३ ई० पू० मानकर उसके ५६२ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण माना है, तो चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का समय ई० पू० ३८१ का आता है। पर इसकी चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की जो सर्वसम्मत ऐतिहासिक तिथि (ई० पू० ३२२) है, उसके साथ कोई संगति नहीं बैठती। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि महावंश के इस संदिग्ध प्रमाण को मानकर डा० जेकोबी ने बुद्ध-निर्वाण का जो समय माना है, वह संगत नहीं है।[3]

असंगतियां

डा० जेकोबी द्वारा निर्णीत भगवान् महावीर और बुद्ध की निर्वाण-तिथियों को मानकर चलने में कुछ अन्य असंगतियां भी पैदा होती हैं। भगवती सूत्र में गोशालक ने अपनी अन्तिम अवस्था में आठ चरमों का निरूपण किया है, उनमें एक चरम महाशिलाकंटक युद्ध भी है।[4] इससे विदित होता है कि गोशालक का निधन इस महाशिलाकंटक युद्ध के बाद

सो अट्ठारस वस्सानि, राजा रज्जं अकारयि।
कालासोको तस्स पुत्तो, अट्ठवीसति कारयि ॥७॥
अतीते दसमे वस्से, कालासोकस्स राजिनो।
संबुद्ध परिनिब्बाणा, एवं वस्ससतं अहु ॥८॥ —महावंश, परिच्छेद ४।

कालासोकस्स पुत्ता तु, अहेसुं दस भातुका।
द्वावीसति ते वस्सानि, रज्जं समनुसासिसं ॥१४॥
नव नंदाततो आसुं, कमेनेव नराधिपा।
ते पि द्वावीस वस्सानि, रज्जं समनुसासिसुं ॥१५॥
मोरियाणं खत्तियाणं वंसे जातं सिरीधरं।
चंदगुत्तोति पञ्ञातं, चाणक्को ब्राह्मणो ततो ॥१६॥
नवमं धननंदं तं, घातेत्वा चंडकोधवा।
सकले जंबुदीपस्मिं, रज्जे समभिसिञ्चसो ॥१७॥ —महावंश, परिच्छेद ५।

१. The event happenned in 544 B.C. according to a Ceylonese Reckoning.
—H. C. Ray choudhuri, *Political History of Ancient India, p. 225.*
सिलोनी गाथा महावंश के अनुसार गौतमबुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ।
—प्रो० श्री नेत्र पाण्डेय, भारत का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, प्राचीन भारत, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४३।

२. श्रमण, वर्ष १२, अंक ६, पृ० १०।

३. सामान्य रूप से भी महावंश की राज्यत्व-काल-गणना ऐतिहासिक कसौटी पर भूलभरी प्रमाणित होती है, जिसकी विशेष चर्चा प्रस्तुत प्रकरण के 'काल-गणना' शीर्षक के अन्तर्गत की गई है।

४. तस्सविण मज्जस्स पच्छाणट्ठाए इमाइं अट्ठ चरमाइं पण्णवेइ, तंजहा चरिमे पाणे, चरिमे गेये, चरिमे नट्टे, चरिमे अंजलिकम्मे, चरिमे पोक्खलस्स संवट्टए महामेहे, चरिमे सेयणए गंधहत्थि, चरिमे महासिलाकंटए संगामे।
—भगवती सूत्र, शतक १५।

हुआ। गोशालक की मृत्यु के ७ दिन पूर्व भगवान् महावीर कहते हैं ; "मैं अब से १६ वर्ष तक गन्धहस्ती की तरह निर्बाध रूप से जीऊंगा।"[1] तात्पर्य यह होता है कि कोणिक के राज्यारोहण के तुरन्त बाद ही यदि महाशिलाकंटक युद्ध हुआ हो, तो भी भगवान् महावीर और कोणिक के राज्यारोहण के बीच कम-से-कम १७ वर्ष का अन्तर पड़ता है। किन्तु जेकोबी द्वारा अभिमत तिथियों के अनुसार तो वह अन्तर १५ वर्ष से अधिक हो ही नहीं सकता।[2]

दूसरी असंगति यह है—श्रेणिक भगवान् महावीर से प्रश्न पूछता है : "भगवन्! अन्तिम केवली कौन होगा?" भगवान् उत्तर देते हैं—"आज से सातवें दिन ऋषभदत्त भार्या के उदर में विद्युन्माली देव आयेगा और वह आगे चलकर जम्बू नामक अन्तिम केवली होगा।"[3] जम्बू स्वामी की सर्व आयु ८० वर्ष की थी।[4] १६ वर्ष वे गृहस्थावास में रहे। महावीर-निर्वाण के अनन्तर सुधर्मा स्वामी के हाथों उनकी दीक्षा होती है।[5] इससे राजा श्रेणिक का राज्यान्त और भगवान् महावीर के निर्वाण में लगभग सतरह वर्ष का अन्तर आता है। डा० जेकोबी द्वारा श्रेणिक-राज्यान्त (कोणिक का राज्यारोहण) और महावीर के निर्वाण में १५ वर्ष से अधिक अन्तर नहीं आ पाता। इस प्रकार इन तिथियों को मान लेने में अनेक आपत्तियां हैं।

भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ में हुआ, यह मान्यता लगभग निर्विकल्प और निर्विरोध थी। बुद्ध-निर्वाण का इतना असंदिग्ध काल कोई भी नहीं माना गया था।

---

१. तएणं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलीपुत्तं एवं वयासी "णो खलु अहं। गोसाला तव तवेण तेएणं अणाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं जावकालं करिस्सामि। अहण्ण अण्णाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि।" —भगवती सूत्र, शतक १५।

२. डा० जेकोबी ने कोणिक के राज्यारोहण के ८ वें वर्ष में बुद्ध का निर्वाण माना है (श्रमण, वर्ष १३, अंक ७, पृ० २६) तथा महावीर का निर्वाण बुद्ध से ७ वर्ष बाद माना है।

३. पुनर्विज्ञपयामास जिनेन्द्रं मगधाधिपः।
भगवन्केवलज्ञानं कस्मिन्व्युच्छेदमेष्यति ॥२६२॥
नाथोऽप्यकथयत्पश्य विद्युन्माली सुतोह्यसौ।
सामानिको ब्रह्मेन्द्रस्य चतुर्देवी समावृतः ॥२६३॥
अह्नोऽमुष्मात्सप्तमेऽह्नि च्युत्वाभावी पुरे तव।
श्रेष्ठि ऋषभदत्तस्य जम्बूः पुत्रोऽन्त्यकेवली ॥२६४॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग १

४. वे १६ वर्ष गृहस्थावास में, २० वर्ष छद्मस्थ-साधु-अवस्था तथा ४४ वर्ष केवली-अवस्था में रहे। उनका निर्वाण भगवान् महावीर के ६४ वर्ष बाद हुआ था ; अतः उनकी दीक्षा महावीर-निर्वाण के बाद उसी वर्ष में हुई, जिस वर्ष भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ।

५. सुधर्म... स्वामिनः पादानामादरमोषितारकान्।
पञ्चाङ्गस्पृष्ट भूपीठः स प्रणम्य व्यजिज्ञपत् ॥२८७॥
संसारसागरतरीं प्रव्रज्यां परमेश्वर।
मम सस्वजनस्यापि देहि धेहि कृपां मयि ॥२८८॥
पञ्चमः श्रीगणधरो ऽप्येवमभ्यर्थितस्तदा।
तस्मै सपरिवाराय ददौ दीक्षां यथाविधि ॥२८९॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ३

बुद्ध-निर्वाण के सम्बन्ध में दशों मत बहुत प्राचीन काल में भी प्रचलित थे और अब भी हैं।[1] डा० जेकोबी ने अपने इस लेख के प्रतिपादन में बुद्ध के निर्वाण-काल (ई० पू० ४८४) को निर्विकल्प और सत्य जैसा मान लिया और भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंगों को खींचतान कर उसके साथ संगत करने का प्रयत्न किया। ऐसा करके डा० जेकोबी ने महावीर और बुद्ध की समसामयिकता में एक नया भूचाल खड़ा कर दिया। डा० जेकोबी की वे धारणाएं कालमान की दृष्टि से लगभग ३२ वर्ष पुरानी भी हो चुकी हैं। इस अवधि में इतिहास बहुत कुछ नए प्रकार से भी स्पष्ट हुआ है। ऐसी स्थिति में डा० जेकोबी के निर्णयों को ही अन्तिम रूप से मान लेना जरा भी यथार्थ नहीं है।

पं० सुखलालजी व अन्य विद्वान्

डा० जेकोबी के इस मत को वर्तमान के कुछ विचारकों ने भी मान्यता दी है। पं० सुखलालजी का कहना है : "प्रो० जेकोबी ने बौद्ध और जैन ग्रन्थों की ऐतिहासिक दृष्टि से तुलना करके अन्तिम निष्कर्ष निकाला है कि महावीर का निर्वाण बुद्ध-निर्वाण के पीछे ही अमुक समय के बाद ही हुआ है। जेकोबी ने अपनी गहरी छान-बीन से यह स्पष्ट कर दिया है कि वज्जि—लिच्छिवियों का कोणिक के साथ जो युद्ध हुआ था, वह बुद्ध-निर्वाण के बाद और महावीर के जीवन-काल में ही हुआ। वज्जि-लिच्छवी-गण का वर्णन तो बौद्ध और जैन दोनों ग्रन्थों में आता है, पर इनके युद्ध का वर्णन बौद्ध ग्रन्थो में नहीं आता है, जबकि जैन ग्रन्थों में आता है।"[2]

लगता है, पं० सुखलालजी ने डा० जेकोबी के मन्तव्यों को ज्यों-का-त्यों माना है। वे स्वतंत्र रूप से इस विषय की तह में नहीं गये हैं। बहुत बार हम सभी ऐसा करते हैं। जो विषय हमारा नहीं हैं या किसी विषय की तह में जाने का हमें अवसर नहीं मिला है, तो किसी भी विद्वान् का उस विषय पर लिखा गया लेख हमारी मान्यता पा लेता है। यह अस्वाभाविक जैसा भी नहीं है। अनेक विषय अनेक जन-साध्य ही होते हैं और मान्यताओं का पारस्परिक विनिमय होता है।

पण्डितजी ने यहां जेकोबी की दो बातों को महत्त्व दिया है। एक तो यह है—वज्जियों और कोणिक के युद्ध का वर्णन बौद्ध शास्त्रों में नहीं है और जैन शास्त्रों में है। प्रस्तुत विषय की निर्णायकता में यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। इस विषय में पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। दूसरी बात यह है कि वह युद्ध बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् और महावीर-निर्वाण के पूर्व हुआ था। उक्त मान्यता का मूल आधार **महापरिनिब्बाण सुत्त है**, जिसके विषय में सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि उसमें बुद्ध के अन्तिम जीवन से सम्बन्धित

---

१. विस्तार के लिए देखें, प्रस्तुत प्रकरण में 'बुद्ध-निर्वाण-काल : परम्परागत तिथियां'।

२. दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड, पृ० ४७,४८।

घटनाओं का वर्णन ही है। इसी सुत्त में कोणिक का महामात्य वस्सकार वज्जी के विजय की योजना बुद्ध के समक्ष प्रस्तुत करता है; अतः यह बुद्ध के अन्तिम काल से सम्बन्धित घटना है।

महापरिनिब्बाण सुत्त में अधिकांश घटनाएं बुद्ध के अन्तिम जीवन से सम्बन्धित हैं, यह समझ में आता है; पर सभी घटनाएं ऐसी ही हैं, यह यथार्थ नहीं लगता। **महापरिनिब्बाण सुत्त** में तो सारिपुत्र भी बुद्ध से वार्तालाप करते हैं;[1] यह सर्वसम्मत तथ्य है कि भगवान् बुद्ध से बहुत पूर्व ही सारिपुत्र का देहावसान हो चुका था।[2]

सम्भव स्थिति तो यह है कि महाशिलाकंटक और रथमूसल संग्राम के हो जाने के बहुत समय पश्चात् जो वैशाली-प्राकारभङ्ग का विषय अधूरा पड़ा था और कोणिक व उसके सेनापति आदि प्राकार-भङ्ग की नाना योजनाएं सोच रहे थे, वस्सकार तब भगवान् बुद्ध से मिला था।

यह धारणा इससे भी पुष्ट होती है कि जैन-परम्परा के अनुसार भी प्राकार-भङ्ग छद्म-विधि से किया जाता है और बुद्ध के मुख से वज्जियों की दुर्जयता सुनकर वस्सकार भी किसी छद्म-विधि को अपनाने की बात सोचता है। इस प्रकार अनेक कारण मिलते हैं, जिनसे यह भली-भांति स्पस्ट हो जाता है कि डा० जेकोबी का यह आग्रह कि युद्ध बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् ही हुआ था, वास्तविक नहीं है।

पं० सुखलालजी की तरह श्री गोपालदास पटेल[3] व श्री किस्तूरमलजी बांठिया[4] आदि विचारकों ने भी डा० जेकोबी के मत को दृढ़तापूर्वक माना है, पर उसका एक मात्र कारण डा० जेकोबी के प्रमाणों का ही एकपक्षीय अवलोकन है।

डा० शार्पेन्टियर

डा० जेकोबी के प्रथम और द्वितीय समीक्षा काल के बीच डा० शार्पेन्टियर द्वारा प्रस्तुत पहेली के निष्कर्ष तक पहुँचने का प्रयत्न हुआ। उनका एतद्विषयक लेख **इण्डियन एन्टिक्वेरी**, सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ है। डा० शार्पेन्टियर का निष्कर्ष है कि महावीर बुद्ध से १० वर्ष बाद निर्वाण-प्राप्त हुए। बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४७७ में हुआ और महावीर का निर्वाण ई० पू० ४६७ में। शार्पेन्टियर का यह निष्कर्ष मुख्य दो आधारों पर स्थित है—ई० पू० ४७७ में बुद्ध का निर्वाण-काल और महावीर की निर्वाण-भूमि पावा। आज यदि हम उस लेख को पढ़ते हैं तो स्पष्ट समझ में आ जाता है कि इतिहास के क्रमिक विकास में वे दोनों

---

१. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त।
२. राहुल सांकृत्यायन ने सारिपुत्र की घटना का वहां होना शास्त्र-संग्राहकों की भूल माना है। (देखें, बुद्ध चर्या पृ० ५२५) यदि वह वहां भूल से ही संकलित होती है, तो क्या 'वस्सकार की घटना' भी वहां भूल से ही संकलित नहीं हो सकती ?
३. देखें, भगवान् महावीर नो संयम धर्म, (सूत्रकृतांग नो छायानुवाद), पृ० २५७ से २६२।
४. श्रमण, वर्ष १३, अंक ६, पृ० ६।

ही आधार सर्वथा बदल चुके हैं। किसी युग में यह एक ऐतिहासिक धारणा मानी जाती थी कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४७७ में हुआ, पर आज की ऐतिहासिक धारणाओं में उक्त तिथि का कोई स्थान नहीं रह गया है। शार्पेन्टियर ने महावीर-निर्वाण-सम्बन्धी बौद्ध समुल्लेखों को यह बताकर अयथार्थ माना है कि निर्वाण दक्षिण बिहार की पावा में हुआ था और बौद्ध पिटक उत्तर बिहार की पावा का उल्लेख करते हैं। सच बात तो यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से सोचने वाले लगभग सभी विद्वान् उत्तर बिहार की पावा को ही भगवान् महावीर की निर्वाण-भूमि मानने लगे हैं।[1]

डा० जेकोबी ने अपने अभिमत के समर्थन के लिए अपने लेख में डा० शार्पेन्टियर की कुछ एक धारणाओं का उल्लेख किया है। पर उल्लेखनीय बात यह है कि शार्पेन्टियर द्वारा ठहराये गये महावीर और बुद्ध के काल-निर्धारण को डा० जेकोबी ने आंशिक मान्यता भी नहीं दी है। लगता है, शार्पेन्टियर ने अपने लेख-काल में बुद्ध-निर्वाण-काल-सम्बन्धी जो ऐतिहासिक धारणा प्रचलित थी, उसे केन्द्र-बिन्दु मानकर अन्य तथ्यों का जोड़-तोड़ बिठाया है। डा० जेकोबी की दूसरी समीक्षा इससे सोलह वर्ष बाद होती है। तब तक बुद्ध-निर्वाण-सम्बन्धी ऐतिहासिक धारणा नवीन रूप ले लेती है और डा० जेकोबी उसे अपना लेते हैं। हमें इस बात को नहीं भूलना है कि डा० जेकोबी की दूसरी समीक्षा भी ३२ वर्ष पुरानी हो चुकी है और इस अवधि में महावीर और बुद्ध के निर्वाण से सम्बन्धित नई-नई धारणाएं सामने आ रही हैं; अतः एतद्विषयक काल-निर्णय में हमें नवीनतम दृष्टिकोणों से ही सोचना अपेक्षित होता है।

डा० के० पी० जायसवाल

जरनल ऑफ बिहार एण्ड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी के सम्पादक एवं प्रसिद्ध इतिहासकार डा० के० पी० जायसवाल के द्वारा इस दिशा में एक उल्लेखनीय प्रयत्न हुआ है।[2] उन्होंने अपनी समीक्षा में यह माना—बौद्ध आगमों में वर्णित महावीर के निर्वाण-प्रसंग ऐतिहासिक निर्धारण में किसी प्रकार उपेक्षा के योग्य नहीं हैं। **सामगाम सुत्त** में बुद्ध महावीर-निर्वाण के समाचार सुनते हैं और प्रचलित धारणाओं के अनुसार इसके दो वर्ष पश्चात् बुद्ध स्वयं निर्वाण को प्राप्त होते हैं। बौद्धों की दक्षिणी परम्परा के अनुसार बुद्ध-निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ; अतः महावीर का निर्वाण ई० पू० ५४६ में होता है।

महावीर-निर्वाण और विक्रमादित्य

उन्होंने इसके साथ-साथ 'महावीर के ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य' इस जैन-मान्यता पर

---

१. इसी प्रकरण में "महावीर का निर्वाण किस पावा में ?" के अन्तर्गत इसकी चर्चा की जा चुकी है।

२. *Journal of Bihar and Orissa Reserch Society*, 1, 103.

भी एक नूतन संगति बिठाने का प्रयत्न किया था। उनका कहना था ; "जैन-गणना में भगवान् महावीर के निर्वाण और विक्रम संवत् के बीच ४७० वर्ष का अन्तर माना जाता है; वह वस्तुतः सरस्वती गच्छ की पट्टावली के लेखानुसार निर्वाण और विक्रम-जन्म के बीच का अन्तर है। विक्रम १८ वें वर्ष में राज्याभिषिक्त हुआ और उसी वर्ष से संवत् प्रचलित हुआ। इस प्रकार महावीर-निर्वाण से (४७०+१८) ४८८ वर्ष पर विक्रम संवत्सर का आरम्भ हुआ, पर जैन- गणना से उक्त १८ वर्ष छूट गये; अतः निर्वाण से ४७० वर्ष पर ही संवत्सर माना जाने लगा, जो स्पष्ट भूल है।"[1]

डा० जायसवाल ने महावीर-निर्वाण-सम्बन्धी बौद्ध उल्लेखों की उपेक्षा न करने की जो बात कही, वह वस्तुतः ही न्याय-संगत है। पर **सामगाम सुत्त** के आधार पर बुद्ध से दो वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण मानना और ४७० में १८ वर्ष जोड़कर महावीर और विक्रम की मध्यवर्ती अवधि निश्चित करना, पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। इतिहासकारों का कहना है : "यह मान्यता किसी भी प्रामाणिक परम्परा पर आधारित नहीं है। आचार्य मेरुतुंग[2] ने महावीर-निर्वाण और विक्रमादित्य के बीच ४७० वर्ष का अन्तर माना है। वह अन्तर विक्रम के जन्मकाल से नहीं, अपितु शक-राज्य की समाप्ति और विक्रम-विजय के काल से है"।[3] इसके अतिरिक्त डा० जायसवाल ने **सामगाम सुत्त** के आधार पर बुद्ध-निर्वाण से दो वर्ष पूर्व जो महावीर-निर्वाण माना है, वह भी आनुमानिक ही ठहरता है।

डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ *Hindu Civilization* (**हिन्दू सभ्यता**) में[4] डा० जायसवाल की तरह ही महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व-निर्वाण-प्राप्ति का यौक्तिक समर्थन किया है। उनकी मान्यता में उक्त दोनों तथ्य सर्वथा असंदिग्ध हैं। उनके अपने विवेचन में विशेषता की बात यह कि उन्होंने महावीर की ज्येष्ठता को भी अनेक प्रकारों से मान्यता दी है।[5]

महावीर और बुद्ध के काल-निर्णय में डा० मुकर्जी ने डा० जायसवाल के मत को अक्षरशः अपनाया है, जिसके अनुसार महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५४६ और बुद्ध का

---

१. Journal of Bihar and Orissa Research Society, 1,103.

२. विक्कमरज्जारंभा परओ सिरि वीर निव्वुई भणिया।
सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कम कालउ जिण कालो॥ —विचार श्रेणी, पृ० ३,४।

३. The suggetion can hardly be said to rest on any reliable tradition. Merutunga places the death of the last *Jina* or *Tirthankara* 470 years before the end of saka rule and the victory and not birth of the traditional Vikrama.
—R. C. Majumdar, H. C. Raychoudhuri and K. K. Dutta—*An Advanced History of India*, p. 85.

४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अनूदित व राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित।

५. हिन्दू सभ्यता, पृ० २१६,२२३,२२४।

निर्वाण-काल ई० पू० ५४४ है।[1] इस काल-क्रम से महावीर की ज्येष्ठता के निरूपण में विसंवाद (Self-contradiction) पैदा हो गया है। महावीर की आयु ७२ वर्ष और बुद्ध की आयु ८० वर्ष थी; अतः इससे बुद्ध महावीर से ८ वर्ष बड़े हो जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि डा० मुकर्जी महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व-निर्वाण-प्राप्ति को मानते हुए भी, उसे काल-क्रम के साथ घटित नहीं कर पाये हैं।

डा० कामताप्रसाद जैन ने भी इसी काल-क्रम को अपनाया है, पर उनकी धारणा में बुद्ध ज्येष्ठ और महावीर पूर्व-निर्वाण-प्राप्त हैं।[2] महावीर की ज्येष्ठता के सम्बन्ध में मिलने वाले पिटक-समुल्लेखों को भी उन्होंने घटित करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह स्वाभाविकता से बहुत परे का है। एक-आध स्थल को उन्होंने वक्रोक्ति के द्वारा जहां घटित करने का प्रयत्न किया है[3], वहां अनेक स्थल जो महावीर की ज्येष्ठता के सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट हैं, उनका कोई समाधान नहीं दिया है। कुल मिलाकर उनका पक्ष यह तो है कि महावीर बुद्ध से पूर्व-निर्वाण-प्राप्त हुए थे।

पुरातत्त्व-गवेषक मुनि जिनविजयजी ने भी डा० जायसवाल के मत को मानते हुए महावीर की ज्येष्ठता स्वीकार की है।[4]

धर्मानन्द कौशाम्बी

श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का सुदृढ़ निश्चय है[5] कि बुद्ध तत्कालीन सातों धर्माचार्यों में सबसे छोटे थे। प्रारम्भ में उनका संघ भी सबसे छोटा था। काल-क्रम की बात को कौशाम्बीजी ने यह कह कर गौण कर दिया है कि "बुद्ध की जन्म-तिथि में कुछ कम या अधिक अन्तर पड़ जाता है, तो भी उससे उनके जीवन-चरित्र में किसी प्रकार का गौणत्व नहीं आ सकता। महत्त्व की बात बुद्ध की जन्म-तिथि नहीं, बल्कि यह है कि उनके जन्म से पहले क्या परिस्थिति थी और उसमें से उन्होंने नवीन धर्म-मार्ग कैसे खोज निकाला।"[6] काल-क्रम को गौण करने का कारण यही है कि इस सम्बन्ध में नाना मतवाद प्रचलित हैं।

डा० हर्नले

'हेस्टिंग्सका इन्साइक्लोपिडिया ऑफ रिलीजन एण्ड इथिक्स' ग्रन्थ में डा० हर्नले ने भी इस विषय की चर्चा की है। उनकी धारणा के अनुसार बुद्ध का निर्वाण महावीर से ५ वर्ष

---

१. हिन्दू सभ्यता, पृ० २२३ (बुद्ध का निर्वाण-काल ई० पू० ५४३ बताया गया है। सिलोनी परम्परा के अनुसार ५४३-५४४ दोनों तिथियों का उल्लेख मिलता है।
२. भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध, पृ० ११४-११५।
३. वही, पृ० ११०-११५।
४. जैन साहित्य संशोधक, पूना, १९२०, खण्ड १, अंक ४, पृ० २०४ से २१०।
५. भगवान् बुद्ध, पृ० ३३, १५५।
६. वही, भूमिका, पृ० १२।

पश्चात् होता है। तदनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से ३ वर्ष पूर्व होता है। यह मानने में डा० हर्नले के आधारभूत तथ्य वे ही हैं, जो प्रस्तुत निबन्ध में यत्र-तत्र चर्चे जा चुके हैं।

मुनि कल्याण विजयजी

ई० सन् १६३० में इतिहासविद् मुनि कल्याण विजयजी ने एक विराट प्रयत्न किया है। **वीर-निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना** नामक उनका एतद्विषयक ग्रन्थ गवेषकों के लिए एक अनूठा खजाना है। भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण-समय के विषय में उन्होंने अपना स्वतन्त्र चिन्तन प्रस्तुत किया है। उनका निष्कर्ष है—भगवान् महावीर से बुद्ध १४ वर्ष ५ मास १५ दिन पूर्व निर्वाण-प्राप्त हो चुके थे। अर्थात् बुद्ध महावीर से आयु में लगभग २२ वर्ष बड़े थे। इसी तथ्य को काल-गणना में इस प्रकार बांधा जा सकता है—

बुद्ध का निर्वाण— ई० पू० ५४२ (मई)

महावीर का निर्वाण—ई० पू० ५२८ (नवम्बर)[1]

उन्होंने भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ माना है। यह परम्परा-सम्मत भी है और प्रमाण-सम्मत भी। मुनि कल्याण विजयजी ने इसी निर्वाण-संवत् को और भी विभिन्न युक्तियों और प्रमाणों से पुष्ट किया है। उन्होंने बुद्ध का निर्वाण महावीर-निर्वाण से लगभग १५ वर्ष पूर्व माना है। इस मान्यता में उनका आधार यह रहा है कि **सामगाम सुत्त** में बुद्ध जो महावीर-निर्वाण की बात सुनते हैं, वह यथार्थ नहीं थी। गोशालक की तेजोलेश्या से भगवान् महावीर बहुत पीड़ित हो रहे थे। उस समय लोगों में यह चर्चा उठी थी कि 'लगता है, अवश्य ही महावीर गोशालक की भविष्यवाणी के अनुसार ६ महीने में ही काल-धर्म को प्राप्त हो जायेंगे।' उनका कहना है ; सम्भवतः इसी निराधार अपवाद से महावीर-निर्वाण की बात चल पड़ी हो। वे लिखते हैं : "जिस वर्ष में ज्ञातपुत्र के मरण (मरण की अफवाह) के समाचार सुने, उसके दूसरे ही वर्ष बुद्ध का निर्वाण हुआ। बौद्धों के इस आशय के लेख से हम बुद्ध और महावीर के निर्वाण-समय के अन्तर को ठीक तौर से समझ सकते हैं।"[2] **भगवती सूत्र** के अनुसार महावीर गोशालक के तेजोलेश्या-प्रसंग के बाद १६ वर्ष जीए थे ; यह पहले बताया जा चुका है। इसी आशय को पकड़ कर मुनि कल्याण विजयजी ने बुद्ध के निर्वाण-काल को निश्चित किया है।

उन्होंने यह भी माना है : "मेरा यह आनुमानिक काल दक्षिणी बौद्धों की परम्परा के साथ भी मेल खाता है।"[3]

---

१. ई० पू० ५२८ के नवें महीने और ई० पू० ५२७ में केवल २ महीने का ही अन्तर है ; अतः महावीर-निर्वाण का काल सामान्यतया ई० पू० ५२७ ही लिखा जाता है। मुनि कल्याण विजयजी ने भी इसका प्रयोग यत्र-तत्र किया है।

२. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना, पृ० १५।

३. वही, पृ० १६०।

जहां तक महावीर के निर्वाण-समय का सम्बन्ध है, मुनि कल्याण विजयजी ने सचमुच ही यथार्थता का अनुसरण किया है। किन्तु बुद्ध-निर्वाण के सम्बन्ध में तो उन्होंने अटकलबाजी से ही काम लिया है। बौद्ध-शास्त्रों में उल्लिखित महावीर के निर्वाण-प्रसंगों को उन्होंने बहुत ही उलट कर देखा है। इस प्रकार खींचतान करके निकाले गए अर्थ कभी ऐतिहासिक तथ्य नहीं बन सकते। दक्षिणी बौद्धों की परम्परा के साथ अपनी निर्धारित तिथि का मेल बिठाना भी नितान्त खींचातान ही है। दोनों समयों में लगभग दो वर्षों का स्पष्ट अन्तर पड़ता है। उसे किसी प्रकार नगण्य नहीं माना जा सकता, जैसा कि उन्होंने मानने के लिए कहा है।[1]

मुनि कल्याण विजयजी ने भगवान् बुद्ध को ज्येष्ठ मानने में एक प्रमाण यह दिया है : "बौद्ध-साहित्य में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी तीर्थङ्करों का जहां-जहां उल्लेख हुआ है, वहां-वहां सर्वत्र निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र का नाम सबके पीछे लिखा गया है। इसका शायद यही कारण हो सकता है कि उनके प्रतिस्पर्धियों में ज्ञातपुत्र महावीर सबसे पीछे के प्रतिस्पर्धी थे।"[2] बुद्ध के प्रतिस्पर्धियों में महावीर का नाम अन्तिम हो, तो भी उसका यह अर्थ तो नहीं हो जाता कि महावीर बुद्ध से छोटे थे। प्रत्युत बौद्ध पिटकों के तथाप्रकार के प्रसंग तो इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि उनके छहों प्रतिस्पर्धी उनसे पूर्व ही बहुत ख्याति और प्रभाव अर्जित कर चुके थे। वस्तुस्थिति यह है कि मुनि कल्याण विजयजी ने निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र का नाम सर्वत्र अन्तिम ही होने का जो लिखा है, वह भी यथार्थ नहीं है। ऐसे भी अनेक स्थल हैं, जहां निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र का नाम अन्तिम नहीं है।[3]

महावीर अधेड़—बुद्ध युवा

मुनि कल्याण विजयजी का कहना है[4] : "अजातशत्रु के सम्मुख उसके अमात्य ने महावीर के सम्बन्ध में कहा है[5] : 'महाराज ! यह निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र संघ और गण के मालिक हैं। गण के आचार्य, ज्ञानी और यशस्वी तीर्थङ्कर हैं। साधुजनों के पूज्य और बहुत लोगों

---

१. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना, पृ० १६०।

२. वही, पृ० ३।

३. संयुत्त निकाय, दहरसुत्त, ३-१-१ में निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र का नाम तीसरा है ; दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, १-२ (राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनूदित, पृष्ठ २१) में पांचवां है।

४. वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना, पृ० ४।

५. अयं देव निगंठो नातपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचारियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसंमतो बहुजनस्स रत्तस्सू चिरपब्बजितो अद्धगत वयो अनुपत्ताति।

—दीघ निकाय, भाग १, पृ० ४८, ४९ (वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना, पृ० ४ से उद्धृत)।

के श्रद्धास्पद हैं। ये चिर-दीक्षित और अवस्था में अधेड़ हैं।'[1] इससे महावीर का अधेड़ और बुद्ध का वृद्ध होना सिद्ध होता है।"

इस प्रसंग को यदि समग्र रूप से देखा जाए तो स्पष्ट संकेत मिलता है कि महावीर अधेड़ थे और बुद्ध युवा ; क्योंकि यहां मंत्री महावीर की विशेषताओं का वर्णन कर रहा है और विशेषता के प्रसंग में 'अधेड़' कहना उनकी ज्येष्ठता का सूचक है। दूसरी बात, **दीघनिकाय** के इसी प्रसंग में गोशालक, संजय आदि सभी को चिर-दीक्षित और अधेड़ कहा गया है। केवल बुद्ध के लिए इन विशेषणों का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्ध इन सबकी अपेक्षा में युवा थे।

दीघनिकाय में इसी प्रसंग पर आगे बताया गया है कि अजातशत्रु सभी धर्माचार्यों की गौरव-गाथा सुनता है और अन्त में बुद्ध के पास धर्म-चर्चा के लिए जाता है। वहां जाकर वह बुद्ध से 'श्रामण्य-फल' पूछता है और यह भी बताता है कि 'मैं यही श्रामण्य-फल निगंठ नातपुत्त प्रभृति छहों धर्माचार्यों से पूछ चुका हूँ।' बुद्ध और अजातशत्रु का यह प्रथम सम्पर्क था। ऐसी स्थिति में क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि निगंठ नातपुत्त प्रभृति छहों धर्म-नायक बुद्ध से ज्येष्ठ थे ?

उत्तरकालिक ग्रन्थों में

इसके अतिरिक्त मुनि कल्याण विजयजी ने श्रेणिक और चेल्लणा सम्बन्धी ऐसी जैन जन-श्रुतियों का प्रमाण दिया है, जिनमें राजा श्रेणिक के पहले बौद्ध व पीछे जैन बनने का उल्लेख है[2] ; पर वास्तव में ये सारी बातें उत्तरवर्ती जैन-कथाओं की हैं, अतः ऐतिहासिक दृष्टि में इनका विशेष स्थान नहीं बन पाता। किस ग्रन्थ के आधार पर उन्होंने इन कथाओं का उल्लेख किया है ; यह स्वयं उन्होंने भी नहीं लिखा। इसी प्रकार बुद्ध के ज्येष्ठ होने के पक्ष में उन्होंने उत्तरवर्ती बौद्ध-साहित्य से भी पांच मान्यताएं चुनी हैं,[3] जिनका मौलिक आधार वे स्वयं भी नहीं दे पाये हैं। अधिकांश मान्यताएं ऐसी हैं, जिनका मूल पिटकों से कोई सम्बन्ध नहीं है ; अपितु कहीं-कहीं तो वे विरोधाभास उत्पन्न कर देती हैं।

---

१. मूल पालि में 'अद्धगतो' और 'वयोअनुपत्ता' ये दो शब्द व्यवहृत होते रहे हैं। पिटकों (विनय पिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक खंधक, देवदत्त सुत्त और सुत्तनिपात, सभिय सुत्त) में भी यह शब्द-प्रयोग बहुलता से मिलता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने इनका अनुवाद 'अध्वगत' और 'वयः-अनुप्राप्त' किया है (उदाहरणार्थ, देखें, बुद्ध चर्या, पृ० १३७। राइस डेविड्स ने दीघनिकाय के अंग्रेजी अनुवाद में 'old and well-stricken in years' किया है। (*Dialogues of Buddha*, p. 66).

२. वीर निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना, पृ० २।

३. वही, पृ० १।

असंगतियां

मुनि कल्याण विजयजी ने बुद्ध को बड़े और महावीर को छोटे प्रमाणित करने में जितनी भी युक्तियां दी हैं, उनका सबल होना तो दूर, वे पर्याप्त भी नहीं हैं। उनके द्वारा की गई संगतियों से कुछ एक महान् असंगतियों का आविर्भाव हो जाता है। जैसे कि त्रिपिटक एक धारा से यह कहते हैं—महावीर का निर्वाण बुद्ध से पूर्व हुआ। इतना ही नहीं, पिटकों ने स्वयं बुद्ध के मुंह से कहलवाया है—"मैं सभी धर्म-नायकों में छोटा हूं।" तथा उनमें और भी अनेक स्थलों पर बुद्ध को सभी धर्म-नायकों से छोटा कहा गया है।[1] मुनि कल्याण विजयजी उक्त प्रसंगों की कोई संगति नहीं दे पाए हैं। उन्होंने सर्वत्र ऐसे प्रसंगों को काल्पनिक और भ्रामक कह कर टाला है। यह उचित नहीं हुआ है और न बौद्ध पिटकों के साथ न्याय भी। पूर्व और पश्चिम के लगभग सभी इतिहासकारों ने महावीर और बुद्ध के काल-निर्णय में इन आधारों को मूलभूत माना है।

दूसरी असंगति यह है कि मुनि कल्याण विजयजी कोणिक के राज्य-काल के ८ वें वर्ष में बुद्ध-निर्वाण-सम्बन्धी उत्तरकालिक ग्रन्थों की मान्यता को मूलभूत मान कर चले हैं और गोशालक के चरम निरूपण से महावीर का १६ वर्ष का जीवन-काल बताकर यह निष्कर्ष उपस्थित करते हैं: "महावीर अजातशत्रु की राज्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष से भी अधिक जीवित रहे थे और बुद्ध उसके राज्य-काल के ८ वें वर्ष में ही देह-मुक्त हो चुके थे।"[2]

जैसा कि बताया गया—कोणिक के राज्य-काल के ८ वें वर्ष में बुद्ध-निर्वाण की बात उत्तरकालिक और नितान्त पौराणिक है। उसे एक क्षण के लिए सही मान लें, तो भी जैन-परम्परा के अनुसार महावीर-निर्वाण और श्रेणिक के देह-मुक्त होने में जो १७ वर्ष का अन्तर माना जाता है, उसके साथ इसकी कोई संगति नहीं बैठती है; क्योंकि कोणिक का राज्यारोहण भगवान् महावीर के निर्वाण से लगभग १७ वर्ष पूर्व हुआ था।[3] इस स्थिति में यदि बुद्ध का निर्वाण कोणिक-राज्यारोहण के ८ वें वर्ष में माना जाये तो बुद्ध और महावीर के निर्वाण में ९ वर्ष से अधिक अन्तर रहना सम्भावित नहीं है। किन्तु दूसरी ओर स्वयं मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार ही बुद्ध और महावीर के निर्वाण-काल में १४½ वर्ष का अन्तर माना गया है।[4]

---

१. इन सब प्रसंगों की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत प्रकरण के अन्तर्गत 'महावीर की ज्येष्ठता' में की गई है।

२. वीर-निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना, पृ० ७।

३. यह तथ्य 'डा० जेकोबी की दूसरी समीक्षा' के अन्तर्गत 'असंगतियां' में प्रमाणित किया जा चुका है।

४. वीर-निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना, पृ० १८।

इतनी बड़ी असंगतियों के रहते हुए, उनका समाधान कैसे बुद्धिगम्य हो सकता है? इतिहास के क्षेत्र में जाकर हमें इतिहास की मर्यादाओं में ही विषय को परखना चाहिए।

श्री विजयेन्द्र सूरि

श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखित **तीर्थङ्कर महावीर** दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है।[1] ऐतिहासिक तथ्यों का वह एक भरा-पूरा आकलन है। श्री विजयेन्द्र सूरि ने अनेकानेक प्रमाणों से भगवान् महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ था, यह स्थापना की है।[2] उन्होंने बुद्ध का निर्वाण-काल ई० पू० ५४४ माना है।[3] कहना चाहिए, उन्होंने सम्भवतः समग्र रूप से मुनि कल्याण विजयजी की धारणा का ही समर्थन किया है। बौद्ध पिटकों में आए हुए महावीर-निर्वाण के प्रसंगों पर उन्होंने डॉ० ए० एल० बाशम की इस मान्यता को सम्भावित माना है कि वह वस्तुतः गोशालक का मरण था[4], जिसे बौद्ध-शास्त्र-संग्राहकों ने महावीर का मरण समझ लिया था।[5]

श्री विजयेन्द्र सूरि की उपरोक्त धारणा भी कल्पना-प्रधान है, न कि प्रमाण-प्रधान। कुछ समय के लिए गोशालक के मरण को महावीर का मरण समझा भी जा सकता है, पर गोशालक की मृत्यु के पश्चात् भगवान् महावीर सोलह वर्ष और जीये और वह भ्रान्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहे, यह कैसे बुद्धिगम्य हो सकता है। दूसरी बात, जैसे कि कुछ विद्वानों का मत है, उपलब्ध बौद्ध पिटकों का प्रणयन बुद्ध-निर्वाण से दो-तीन शताब्दी बाद हुआ। वहां तक भी वह भूल ज्यों-की-त्यों चलती रही, यह कैसे शक्य हो सकता है, जब कि महावीर और बुद्ध लगभग एक ही सीमित क्षेत्र में विहार करने वाले और एक ही श्रमण-परम्परा के उन्नायक थे।

श्री विजयेन्द्र सूरि के प्रतिपादन में एक असंगति और खड़ी होती है। वह यह है कि एक ओर वे मानते हैं—'बुद्ध ने गोशालक के मरण को महावीर के मरण के रूप में सुना', दूसरी ओर वे मानते हैं—'बुद्ध और गोशालक; दोनों का ही निधन भगवान् महावीर के निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व हुआ।'[6] ऐसी स्थिति में बुद्ध गोशालक के मृत्यु-संवाद को कैसे सुनते, जब कि पिटकों के अनुसार बुद्ध ने अपने निर्वाण से वर्षों पूर्व ही उस संवाद को सुन लिया था? यदि पिटकों के आधार पर यह माना जाये कि ऐसी कोई घटना घटित हुई थी तो क्या यह भी मान लेना अपेक्षित नहीं होगा कि वह उनकी मृत्यु से वर्षों पूर्व हुई थी।

---

१. काशीनाथ सराक, यशोधर्म मन्दिर, बम्बई से प्रकाशित, १९६३।
२. तीर्थङ्कर महावीर, भाग २, पृ० ३१९-३२४।
३. वही, पृ० ३२६।
४. आजीवक, पृ० ७५।
५. तीर्थङ्कर महावीर, भाग २, पृ० ३२३।
६. वही, पृ० ३२६।

श्री श्रीचन्द रामपुरिया

प्रस्तुत विषय पर एक विवेचनात्मक निबन्ध श्रीचन्दजी रामपुरिया का प्रकाशित हुआ है।[1] उन्होंने अपने निबन्ध में प्रस्तुत विषय के पक्ष और विपक्ष की लभ्य सामग्री का सुन्दर संकलन किया है तथा प्रचलित घटनाओं की यौक्तिक समीक्षा भी की है ; पर उन्होंने विषय को किसी निर्णायक स्थिति पर नहीं पहुंचाया है। उनका अधिक झुकाव 'महावीर की ज्येष्ठता' का लगता है, क्योंकि उन्होंने डा० जेकोबी और मुनि कल्याण विजयजी के लगभग सारे तर्कों का निराकरण किया है, जो कि उन्होंने बुद्ध की ज्येष्ठता प्रमाणित करने के पक्ष में की हैं। इस सम्बन्ध में उन्हें केवल दो ही प्रसंग ऐसे लगे हैं, जो महावीर की ज्येष्ठता में विचारणीय बनते हैं।

महावीर की प्रेरणा से अभयकुमार व बुद्ध के बीच हुए प्रश्नोत्तर[2] और देवदत्त के बारे में बुद्ध द्वारा प्रयुक्त कठोर शब्दों[3] से पहला प्रसंग सम्बन्धित है। इन दोनों घटनाओं को जोड़कर रामपुरियाजी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं : "महावीर ने अभयकुमार को चर्चा के लिए भेजा, उसका विषय देवदत्त को बुद्ध द्वारा कहे गये अन्तिम कठोर वचनों का औचित्य-अनौचित्य था।

"......इस से स्पष्ट होता है कि देवदत्त के बारे में बुद्ध द्वारा कठोर शब्द कहे जाने के प्रसंग के कुछ साल बाद तक महावीर जीवित थे। देवदत्त अजातशत्रु के राज्याभिरूढ़ होने के बाद संघ-विच्छेद कर अलग हुआ था। महावीर के निर्वाण का संवाद सारिपुत्त के जीवन-काल में बुद्ध को मिला था। सारिपुत्त का देहान्त बुद्ध के पूर्व ही हुआ—इसमें बौद्ध लेखक एक मत हैं।[4] उपर्युक्त सारे बौद्ध उल्लेखों को परस्पर मिलाने से यह प्रकट होता है कि महावीर का निर्वाण अजातशत्रु के राज्यारोहण के बाद देवदत्त के विषय में बुद्ध द्वारा उद्गार प्रकट किये जाने और सारिपुत्र के देहान्त के बीच होना चाहिए। बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के राज्यत्वकाल के ८ वें वर्ष में बतलाया गया है। यदि यह ठीक मान लिया जाय तो महावीर का निर्वाण अजातशत्रु के राज्याभिरूढ़ होने के और भी कम अवधि के अन्दर घटित होना चाहिए और अजातशत्रु के राज्यत्वकाल के प्रथम वर्ष के पहले नहीं हो सकता। हम भगवान् महावीर के निर्वाण को अजातशत्रु के राज्यत्वकाल के प्रथम वर्ष में ही मानकर देखें कि उसका क्या नतीजा निकलता है। इसका अर्थ होता है कि जब महावीर ने ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया, उस समय तथागत

---

१. जैन भारती, वर्ष १२, अंक १, पृ० ५-२१।
२. विस्तार के लिए देखें, "त्रिपिटक साहित्य में महावीर" प्रकरण के अन्तर्गत 'अभय-राजकुमार'।
३. विस्तार के लिए देखें, "विरोधी शिष्य" प्रकरण के अन्तर्गत 'देवदत्त'।
४. Edward J. Thomas, *The life of Buddha* pp. 140-141.

बुद्ध की अवस्था ७३ वर्ष की थी। जब महावीर ने ४२ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया ; तब बुद्ध की अवस्था ४३ वर्ष की थी। अर्थात् उन्हें बोधि प्राप्त किये ८ वर्ष हो चुके थे। जब महावीर ने तीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा-ग्रहण की, उस समय बुद्ध की अवस्था ३१ वर्ष की थी और उन्हें प्रव्रज्या ग्रहण किये तीन वर्ष हो चुके थे। जब महावीर का जन्म हुआ, उस समय बुद्ध १ वर्ष के थे।"

उक्त विवेचन केवल इसी आधार पर ठहरता है कि 'अजातशत्रु के राज्यारोहण के ८ वर्ष बाद बुद्ध का निर्वाण हुआ'। पर स्वयं रामपुरियाजी ने भी 'यदि यह ठीक मान लिया जाये तो' कह कर ही इस तथ्य को प्रस्तुत किया है। वस्तुस्थिति यह है कि '८ वर्ष' की मान्यता केवल **महावंश** ग्रन्थ की काल-गणना के आधार पर चलती है[1] और वह काल-गणना विद्वानों की दृष्टि में प्रमाणित नहीं है।

दूसरा प्रसंग परिनिर्वाण के समय बुद्ध को सुभद्र परिव्राजक द्वारा पूछे गये प्रश्न[2] से सम्बन्धित है। इस प्रसंग को उद्धृत करते हुए रामपुरियाजी लिखते हैं : "इस प्रसंग से प्रश्न उठता है कि क्या बुद्ध के परिनिर्वाण के दिन तक महावीर जीवित थे? सुभद्र का प्रश्न जीवित तीर्थङ्करों के बारे में था या निर्वाण-प्राप्त तीर्थङ्करों के सिद्धान्तों की चर्चा-मात्र?"

उक्त प्रसंग को भी रामपुरियाजी ने बहुत सजगता से तोला है ; क्योंकि ऐसे प्रश्न बहुत बार ढर्रे के रूप में भी हुआ करते हैं और यह प्रश्न तो छहों नाम साथ बोल देने के ढर्रे रूप ही हुआ है ; यहां तक कि राजा मिलिन्द के साक्षात्कार के सम्बन्ध में भी इन्हीं छः नामों का उल्लेख हुआ है,[3] जब कि राजा मिलिन्द का बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् होना बताया गया है।[4] यह इससे भी स्पष्ट है कि उक्त नामों में मक्खली गोशालक[5] और पूर्णकाश्यप[6] के नाम भी आये हैं ; जो कि सर्वसम्मत रूप से बुद्ध से पूर्व ही निधन-प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार उक्त प्रसंग बुद्ध की ज्येष्ठता का निर्णायक प्रमाण नहीं बन सकता।

---

१. अजातसत्तु नो अट्ठमे वस्से मुनि निब्बुते।

—महावंश, परिच्छेद २।

२. द्रष्टव्य—"त्रिपिटक साहित्य में महावीर" प्रकरण के अन्तर्गत 'सुभद्र परिव्राजक'।

३. मिलिन्द-पञ्हो।

४. वही।

५. मक्खली गोशाल की मृत्यु भगवान् महावीर के निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व ही हो चुकी थी। डा० शाह ने सामगाम-सुत्त में बुद्ध द्वारा किये गये महावीर-मरण के संवाद-श्रवण को 'गोशाले के मरण' के रूप में माना है। डा० जेकोबी, मुनि कल्याण विजयजी, डा० जायसवाल आदि सभी ने महावीर और बुद्ध का जो काल-क्रम माना है, उन सब में गोशालक बुद्ध से पूर्व-निर्वाण-प्राप्त ही माने गये हैं।

६. देखें, 'समसामयिक धर्म-नायक' प्रकरण के अन्तर्गत 'जीवन-परिचय'।

डा० शान्तिलाल शाह

सन् १९३४ में डा० शान्तिलाल शाह की *Chronological Problems* नामक पुस्तक बोन (जर्मनी) से प्रकाशित हुई थी।[1] लेखक के शब्दों में "इस पुस्तक का उद्देश्य केवल महावीर और बुद्ध की निर्वाण-तिथि व चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक की राज्यारोहण-तिथि को ही निश्चित करना नहीं है और न जैन धर्म के पारम्परिक तथ्यों को ही प्रामाणिकता देना है, अपितु उत्तर भारत के अजातशत्रु से लेकर कनिष्क तक के सभी राजाओं के काल-क्रम का नव-सर्जन करना है।" अपने उद्देश्य के अनुसार अजातशत्रु से लेकर कनिष्क तक के काल-क्रम को नया रूप देने का लेखक ने भरसक प्रयत्न किया है। कुछ एक नये तथ्यों को ऐतिहासिक रूप देने में लेखक सफल भी हुए हैं; किन्तु यत्र-तत्र जैन पारम्परिक मान्यताओं को ऐतिहासिकता देने में उनका आग्रह-सा भी व्यक्त हुआ है।

डा० शाह के अनुसार महावीर का निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ व बुद्ध का निर्वाण-काल ई० पू० ५४३ है। दोनों ही निर्वाण-कालों को उन्होंने अपने शब्दों में केवल पारम्परिक आधारों[2], पर ही स्वीकार किया है। पारम्परिक मान्यताएं भी ऐतिहासिक हो जाती हैं, यदि उन्हें अन्य समर्थन मिल जाते हैं। पर डा० शाह ने इस अपेक्षा को अधिक महत्त्व नहीं दिया। परम्परागत उक्त तथ्यों को ही मूलभूत मानकर उन्होंने सम्राट् कनिष्क तक की काल-गणना को घटित करने का प्रयत्न किया है। इससे बहुत सारे सर्वमान्य ऐतिहासिक तथ्य भी विघटित हो गये हैं। उदाहरणार्थ—चन्द्रगुप्त मौर्य का ई० पू० ३२२ का राज्याभिषेक-काल ऐतिहासिक क्षेत्र का एक सर्व-सम्मत तथ्य है, जिसे इतिहासकारों ने उस धुंधले युग में झांकने के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ (Light house) माना है। किन्तु डा० शाह के अनुसार वह समय ई० पू० ३१७ का आ जाता है।

जहां तक महावीर के निर्वाण-काल का प्रश्न है, पारम्परिक और ऐतिहासिक दोनों ही आधारों से ई० पू० ५२७ सुनिश्चित है। बुद्ध का निर्वाण-काल ई० पू० ५४३ सिलोनी परम्परा के आधार पर है और वह ऐतिहासिक अवलोकन में सही नहीं उतरता।

---

१. इस पुस्तक पर प्रकाशक और प्राप्ति-स्थान नहीं दिया गया है।

२. Nor alone to fix the death-year of Buddha or Mahāvīra or the coronation dates of Chandragupta and Aśoka, nor to authenticate the Jaina *traditional* account, but also to reconstruct the chronology of the whole history of Northern India from Ajataśatru to kaniska is the aim of this book; because, chronology is not one or two dates, but the record of the whole chain of events in time order.

—*Chronological Problems*, Preface, p. 1

इतिहासकारों की दृष्टि में

पूर्व और पश्चिम के अनेकानेक इतिहासकारों ने महावीर और बुद्ध की समसामयिकता पर बहुत कुछ लिखा है। उन सबका एक-एक कर उल्लेख कर पाना सम्भव नहीं है, पर यहाँ एक ऐसे समुल्लेख को उद्धृत किया जा रहा है, जो इतिहास की वर्तमान धारा का निष्कर्ष माना जा सकता है। डॉ० आर० सी० मजूमदार, डॉ० एच० सी० रायचौधरी तथा डॉ० के० के० दत्त द्वारा लिखित *An Advanceed History of India* नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ग्यारह सौ से भी अधिक पृष्ठों का यह ग्रन्थ वर्तमान में भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर परीक्षार्थियों के लिए पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में निर्धारित है। इस ग्रन्थ के Ancient India खण्ड में महावीर-निर्वाण के विषय में कहा गया है: "कहा[१] जाता है, यह घटना मौर्यों से २१५ वर्ष पूर्व तथा विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व घटित हुई थी, जिसे साधारणतया ई० पू० ५२८ बताया जाता है। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् इस घटना के ई० पू० ४६८ में घटित होने का समर्थन करते हैं। उसका आधार जैन-मुनि हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित वह परम्परा है, जिसके अनुसार महावीर-निर्वाण और चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण का अन्तर १५५ वर्ष है, न कि २१५ वर्ष। ई० पू० ४६८ की यह तारीख कुछ एक प्राचीनतम बौद्ध-शास्त्रों में स्पष्टतया उल्लिखित इस कथन के साथ संगत नहीं होती कि महावीर बुद्ध से पूर्व ही निर्वाण-प्राप्त हो चुके थे। ई० पू० ५२८ की तिथि भी कठिनाइयों से परे नहीं है। सर्व प्रथम तो हेमचन्द्र के इस उल्लेख से उसका विरोध है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के १५५ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण हुआ था। दूसरी बात यह है कि कुछ जैन ग्रन्थों के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रम के राज्यारोहण से नहीं, अपितु जन्म से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। उनके अनुसार विक्रम-जन्म की घटना का सम्बन्ध ई० पू० ५८ में स्थापित विक्रम संवत् से नहीं है;

---

१. The event is said to have happened 215 years before the Mauryas, and 470 years before Vikrama. This is usually taken to refer to 528 B. C. But 468 B. C. is preferred by some modern scholars, who rely on a tradition recorded by the Jain monk Hemchandra that the interval between Mahāvīra's death and the accession of Chandragupta Maurya was 155, and not 215 years. The latter date does not accord with the explicit statement found in some of the earliest Buddhist texts that Mahāvīra predeceased Buddha. The earlier date is also beset with difficulties. In the first place it is at variance with the testimony of Hemchandra, who places Mahāvīra's *Nirvana* only 155 years before Chandragupta Maurya. Again some Jain texts place the *Nirvana* 470 years before the birth of Vikrama, the date 528 B. C. for Mahāvīra's death can hardly be accepted as

इसलिए ई० पू० ५२८ की तारीख महावीर-निर्वाण के लिए निर्विरोध परम्परा के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। कुछ जैन लेखक विक्रम के जन्म और विक्रम सम्वत् की स्थापना के बीच १८ वर्ष का अन्तर मान लेते हैं और इस प्रकार जैन परम्परा से सम्बन्धित महावीर-निर्वाण की तारीख (५८+१८+४७० = ई० पू० ५४६) को लंकावासियों द्वारा मान्य बुद्ध-निर्वाण की तारीख ई० पू० ५४४ के साथ संगति बिठाना चाहते हैं, किन्तु यह सुझाव भी किसी प्रामाणिक परम्परा पर आधारित नहीं कहा जा सकता है। मेरुतुंग के अनुसार अन्तिम जिन अर्थात् तीर्थङ्कर का निर्वाण पारम्परिक विक्रम के जन्म से नहीं, अपितु उसकी विजय तथा शक-राज्य की समाप्ति से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। ज्ञातपुत्र के निर्वाण की ई० पू० ५२८ की तारीख की बुद्ध के निर्वाण की केन्टनीज तारीख (ई० पू० ४८६) के साथ कुछ अंशों में संगति बिठाई जा सकती है। परन्तु तब हमें यह मानना पड़ेगा कि बुद्ध के बोधि-लाभ के थोड़े ही समय पश्चात् व उनके निर्वाण से ४५ * वर्ष पूर्व ही महावीर का निर्वाण हो जाता है तथा यह भी नहीं हो सकता कि उस समय बुद्ध एक दीर्घकालीन प्रसिद्ध धार्मिक आचार्य बन गए हों; जैसा कि बौद्ध-शास्त्र हमें मानने को बाधित करते हैं। कुछ जैन सूत्र ऐसा बताते हैं कि अजातशत्रु के राज्यारोहण तथा उसके अपने पड़ोसी शत्रुओं

---

representing unanimous tradition. Certain Jain writers assume an interval of 18 years between the birth of Vikrama and the foundation of the era attributed to him and there by seek to reconcile the Jain tradition about the date of Mahāvīra's *Nirvana* (58+18+470 = 546 B. C.) with the Ceylonese date of the great decease of Buddha (544 B. C.). But the suggestion cān hardly be said to rest on any reliable tradition. Merutunga places the death of the last Jina or *Tirthankara* 470 years before the end of Śaka rule and the victory, and not the birth of the traditional Vikrama. The date 528 B. C. for the *Nirvana* of the *Jnatrika* teacher can to a certain extent be reconciled with the Cantonese date of the death of Buddha (486 B. C.). But then we shall have to assume that Mahāvira died shortly after Buddha's enlightenment, forty-five years before the *Parinirvana*, when the latter could hardly have become a renowned religious teacher of long standing as the Buddhist (canonical) texts would lead us to believe. Certain Jaina Sutras seem to suggest that Mahāvīra died about sixteen years after the accession of Ajatśatru and the commencement of his wars with hostile neighboures. This

* यहां ४२ वर्ष होना चाहिए। लगता है, मूल से ४५ वर्ष छपा है; क्योंकि ई० पू० ५२८ और ई० पू० ४८६ बीच ४२ वर्ष का अन्तर है। ४५ वर्ष मानने से तो बुद्ध को महावीर-निर्वाण के समय बोध-लाभ भी नहीं हो सकता।

के साथ युद्ध प्रारम्भ होने के सोलह वर्ष बाद महावीर का निर्वाण हुआ। इससे तो महावीर-निर्वाण बुद्ध-निर्वाण से ८ वर्ष बाद होगा, क्योंकि लंका की गाथाओं (Chronicles) के अनुसार बुद्ध अजातशत्रु के राज्यारोहण के ८ वर्ष बाद निर्वाण-प्राप्त हुए। इस दृष्टिकोण के अनुसार तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७८ में होगा, यदि हम केन्टनीज-परम्परा (ई० पू० ४८६) को स्वीकार करें; और यदि लंका की परम्परा (ई० पू० ५४४) को स्वीकार करें तो ई० पू० ५३६ में होगा। ई० पू० ४७८ की तारीख हेमचन्द्र के उल्लेख के साथ लगभग मेल खाती है तथा इसके आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण ई० पू० ३२३ में ठहरता है, जो असत्य नहीं हो सकता। किन्तु स्वयं महावीर के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष बौद्ध-शास्त्रों के उस स्पष्ट प्रमाण के साथ कुछ भी मेल नहीं खाता, जो बुद्ध को अपने शात्रिक प्रतिस्पर्धी (महावीर) के बाद भी जीवित बताते हैं। जैन परम्परा के अनुसार 'तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण अजातशत्रु के राज्याभिषेक के लगभग सोलह वर्ष बाद हुआ।' बौद्ध परम्परा की मान्यता है—'अजातशत्रु के राज्य-काल के ८ वें वर्ष से पूर्व ही बुद्ध का निर्वाण हुआ।' इन दोनों मान्यताओं की संगति तभी हो सकती है, जब कि यह माना जाये कि कोणिक को चम्पा का राजा मानने वाली जैन-गणना का प्रारम्भ कोणिक के चम्पा-शाखा के राज्याभिषेक से हुआ है और बौद्ध-गणना का प्रारम्भ राजगृह के राज्याभिषेक से हुआ है।"

---

would place the *Nirvana* of the Jain teacher eight years after Buddha's death, as according to the Ceylonese chronicles, Buddha died 8 years after the enthronement of Ajatśatru. The *Nirvana* of the *Tirthankara* would, according to this view, fall in 478 B. C., if we accept the cantonese reckoning (486 B. C.) as our basis, and in 538 B. C., if we prefer the Ceylonese epoch. The date 478 B. C. would almost Coincide with that to which the testimony of Hemchandra leads us and place the accession of Chandragupta Maurya in 323 B. C. which cannot be far from truth. But the result in respect of Mahāvīra himself is at variance with the clear evidence of the Buddhist canonical texts, which make the Buddha survive his *Jnatrika* rival. The Jain statement that their *Tirthankara* dies some sixteen years after the accession of Kunika (Ajatśatru) can be reconciled with the Buddhist tradition about the death of the same teacher before the eighth year of Ajatśatru, if we assume that the Jain, who refer to Kunika as the ruler of Champa, begin their reckoning from the accession of the prince to the viceregal throne of Champa while the Buddhist make the accession of Ajatśatru to the royal throne of Rajgriha the basis of their calculation."

उक्त विवेचन में विशेष ध्यान देने की एक बात यह भी है कि वर्तमान के इन इतिहास-विशेषज्ञों ने डॉ० जेकोबी और शार्पेन्टियर द्वारा माने गये महावीर और बुद्ध के निर्वाण-सम्बन्धी काल-क्रम को कोई मान्यता नहीं दी है ; इसका मूलभूत कारण यही है कि तब से अब तक ऐतिहासिक धारणाओं में अनेक अभिनव उन्मेष आ चुके हैं।

तीनों इतिहासकारों ने महावीर के निर्वाण-प्रसंग के सम्बन्ध में दो तथ्यों को मूलभूत माना है और एतद्विषयक निर्णय में उनकी सुरक्षा पूर्ण अपेक्षित मानी है। एक तो महावीर-निर्वाण के तीन तिथि-क्रमों में से उन्होंने ई० पू० ५२८ के तिथि-क्रम को सर्वाधिक विश्वस्त माना है। दूसरा तथ्य बौद्ध पिटकों में आने वाले महावीर के निर्वाण-सम्बन्धी सम्मुल्लेख हैं। 'महावीर का निर्वाण बुद्ध से पूर्व हुआ', यह तो उन्होंने निश्चित माना ही है और ऐसे तिथि-क्रम की अपेक्षा व्यक्त की है, जो इन तथ्यों को साथ लेकर चल सके। उक्त विवेचन में अल्पता की बात यह रही है कि यहां जीवन-प्रसंगों को तो संगति देने का प्रयत्न किया गया है, पर उनके साथ किसी भी काल-क्रम को संगत करने का पर्याप्त प्रयास नहीं किया गया। काल-क्रम के दृष्टि से महावीर-निर्वाण उन्होंने ई० पू० ५२८ माना है और बुद्ध-निर्वाण को कैन्टनीज-परम्परा के अनुसार ई० पू० ४८६ माना है। ऐसी स्थिति में महावीर और बुद्ध का व्यवधान ४२ वर्ष का पड़ जाता है। इतने व्यवधान के रहते महावीर और बुद्ध के जीवन-प्रसंगों में कोई संगति नहीं बैठ सकती। अपेक्षा है, ऐसे काल-क्रम को अपनाने की, जो उन जीवन्त जीवन-प्रसंगों के साथ संगत हो सके।

अनुसंधान और निष्कर्ष

सर्वांगीण दृष्टि

महावीर और बुद्ध की समसामयिकता और उनके निर्वाण का प्रश्न पहले पहल उपलब्ध इतिहास के केवल सामान्य तथ्यों पर हल किया जाने लगा था ; फिर कुछ विद्वानों ने बौद्ध पिटकों की तह में जाकर इस विषय का अनुसन्धान आरम्भ किया तो कुछ विद्वानों ने जैन शास्त्रों की तह में जाकर। सामान्य इतिहास जहां आगमों और त्रिपिटकों की पुट पाए बिना अपूर्ण था, वहां आगमों और त्रिपिटकों की एकांगी छान-बीन ने सारे विषय पर कुछ साम्प्रदायिक रंग ला दिया। कुछ एक लोगों ने बौद्ध पिटकों को अक्षरशः प्रमाण माना और जैन आगमों को साधारणतया ; तो कुछ एक लोगों ने जैन आगमों को अक्षरशः प्रमाण माना व बौद्ध पिटकों को साधारणतया। यह ऐतिहासिक पद्धति नहीं हो सकती। प्रस्तुत विषय के सर्वांगीण निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए सामान्य ऐतिहासिक आधारों, बौद्ध पिटकों के सम्मुल्लेखों और जैन आगमों के निरूपणों को सन्तुलित रखते हुए ही कुछ सोचना होगा। इस विषय में हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि आगम और त्रिपिटक क्रमशः जैन और बौद्ध परम्पराओं में मूल रूप से प्रमाण माने जाते हैं। उत्तरवर्ती ग्रन्थ वहीं तक प्रमाण हैं, जहां तक कि वे उन मौलिक शास्त्रों का साथ देते हैं।

महावीर और बुद्ध की समसामयिकता पर विचार करने में अनेकानेक आधार उपलब्ध होते हैं, किन्तु उन सबमें भी साक्षात्, स्पष्ट और अनन्तर प्रमाण बौद्ध पिटकों का है। अतः आवश्यक है, बौद्ध पिटकों के उन प्रकरणों पर एक-एक कर विचार किया जाये।

निर्वाण-प्रसंग

जिन प्रकरणों में भगवान् महावीर के निर्वाण की चर्चा है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं :

(१) एक समय भगवान् शाक्य (देश) में सामगाम में विहार करते थे। उस समय निगंठ नातपुत्त अभी-अभी पावा में मरे थे। उनके मरने पर निगंठ (जैन साधु) दो भाग हो, भण्डन = कलह = विवाद करते, एक दूसरे को मुख रूपी शक्ति से छेदते विहर रहे थे—'तू इस धर्म-विनय को नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनय को जानता हूं।' 'तू क्या इस धर्म-विनय को जानेगा, तू मिथ्यारूढ़ है, मैं सत्यारूढ़ हूं।' 'मेरा (कथन अर्थ-) सहित है, तेरा अ-सहित है।' 'तू ने पूर्व बोलने (की बात) को पीछे बोला।' 'तेरा (वाद) बिना विचार का उलटा है।' 'तू ने वाद रोपा, तू निग्रह-स्थान में आ गया।' 'जा वाद से छूटने के लिए फिरता फिर।' 'यदि सकता है, तो समेट।' नातपुत्रीय निगण्ठों में मानो युद्ध (=वध) ही हो रहा था।

निगंठ के श्रावक (शिष्य) जो गृही श्वेत वस्त्रधारी थे, वे भी नातपुत्रीय निगंठों में (वैसे ही) निर्विण्ण विरक्त-प्रतिवाण-रूप थे, जैसे कि (नातपुत्त के) दुर्-आख्यात (ठीक से न कहे गए), दुष्प्रवेदित (=ठीक से न साक्षात्कार किए गए), अनैर्याणिक (=पार न लगाने वाले), अन्-उपशम-संवर्तनिक (=न शान्ति-गामी), अ-सम्यक्-सम्बुद्ध-प्रवेदित (=किसी बुद्ध से न जाने गए), प्रतिष्ठा (=नींव)-रहित, भिन्नस्तूप, आश्रय-रहित, धर्म-विनय में (थे)।

तब चुन्द श्रमणोद्देश पावा में वर्षावास कर, जहां सामगाम था, जहां आयुष्मान् आनन्द थे, वहां गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया एक ओर बैठे चुन्द श्रमणोद्देश ने आयुष्मान आनन्द से कहा—"भन्ते! निगंठ नातपुत्त अभी अभी पावा में मरे हैं। उनके मरने पर······नातपुत्तीय निगंठों में मानो युद्ध ही हो रहा।० आश्रय-रहित धर्म-विनय में (थे)" ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द श्रमणोद्देश से कहा—"आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहां भगवान् हैं, वहां चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

"अच्छा भन्ते!"

तब आयुष्मान् आनन्द और चुन्द श्रमणोद्देश जहां भगवान् थे, वहां गए, जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गए। एक ओर बैठे हुए आयुष्मान् आनन्द ने

भगवान् को कहा—"भन्ते ! यह चुन्द श्रमणोद्देश ऐसा कह रहे हैं—'भन्ते ! निगंठ नातपुत्त अभी-अभी पावा में मरे हैं।' तब भन्ते ! मुझे ऐसा होता है, भगवान् के बाद भी (कहीं) संघ में ऐसा ही विवाद न उत्पन्न हो। वह विवाद बहुत जनों के अहित के लिए, बहुत जनों के असुख लिए, बहुत जनों के अनर्थ के लिए, देव-मनुष्यों के अहित और दुःख के लिए (होगा)।"

"तो क्या मानते हो आनन्द ! मैंने साक्षात्कार कर जिन धर्मों का उपदेश किया, जैसे कि······आनन्द ! क्या इन धर्मों में दो भिक्षुओं का भी अनेक मत (दिखता) है ?"

"भन्ते ! भगवान् ने जो यह धर्म साक्षात्कार कर उपदेश किए हैं, जैसे कि······इन धर्मों में भन्ते ! मैं दो भिक्षुओं का भी अनेक मत नहीं देखता। लेकिन भन्ते ! जो पुद्गल भगवान् के आश्रय से विहरते हैं, वह भगवान् के न रहने के बाद, संघ में आजीव (= जीविका) के विषय में, प्रातिमोक्ष (=भिक्षु-नियम) के विषय में विवाद पैदा कर सकते हैं। वह विवाद बहुत जनों के अहित के लिए,·········होगा।"[1]

(२) "ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् शाक्य (देश) में वेधञ्ञा नामक शाक्यों के आम्रवन प्रासाद में विहार कर रहे थे।

"उस समय निगंठ नातपुत्त (तीर्थङ्कर महावीर) की पावा में हाल ही में मृत्यु हुई थी। उनके मरने पर निगंठों में फूट हो गई थी, दो पक्ष हो गए थे। लड़ाई चल रही थी, कलह हो रहा था। वे लोग एक दूसरे को वचनरूपी वाणों से वेधते हुए विवाद करते थे—'तुम इस धर्म-विनय······'विरक्त हो रहे थे।

"तब चुन्द श्रमणोद्देश पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था और जहां आयुष्यमान् आनन्द थे, वहां गए। ०बैठ गए।० बोले—'भन्ते ! निगण्ठ नातपुत्त की अभी हाल में पावा में मृत्यु······विरक्त हो रहे थे।'

"ऐसा कहने पर आयुष्यमान् आनन्द बोले—'आवुस चुन्द ! यह कथा भेंट रूप है। आओ, आवुस चुन्द ! जहां भगवान् हैं, वहां चलकर यह बात भगवान् से कहें।'

"'बहुत अच्छा" कह चुन्द ने उत्तर दिया।

"तब आयुष्यमान् आनन्द और चुन्द श्रमणोद्देश जहां भगवान् थे, वहां गए। एक ओर बैठ गए······, आयुष्मान् आनन्द बोले—'भन्ते ! चुन्द ऐसा कहता है—निगण्ठ नातपुत्त··· पावा में······।'

"चुन्द ! जहां शास्ता (गुरु) सम्यक् सम्बुद्ध नहीं होता धर्म दुराख्यात होता है······।"

"अतः चुन्द ! जिस धर्म को मैंने बोधकर तुम्हें उपदेश किया है, उसे सभी मिलजुल कर ठीक समझें, विवाद न करें।······।"[2]

---

१. मज्झिम-निकाय, सामगाम सुत्तन्त, ३-१-४।
२. दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३-६।

(२) "ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् पांच सौ भिक्षुओं के महाभिक्षु-संघ के साथ मल्ल (देश) में चारिका करते, जहां पावा नामक मल्लों का नगर है वहां पहुँचे, वहां पावा में भगवान् चुन्द कर्म्मार-पुत्र के आम्रवन में विहार करते थे।

"उस समय पावा-वासी मल्लों का ऊँचा, नया, संस्थागार (प्रजातंत्र भवन) हाल ही में बना था, (वहां अभी) किसी श्रमण या ब्राह्मण या किसी मनुष्य ने वास नहीं किया था। पावा-वासी मल्लों ने सुना—'भगवान् मल्ल में चारिका करते पावा में पहुंचे हैं और पावा में चुन्द कुम्मार—(सोनार) पुत्र के आम्रवन में विहार करते हैं।' तब पावा-वासी मल्ल जहां भगवान् थे, वहां पहुँचे। पहुंचकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गए। एक ओर बैठे पावा-वासी मल्लों ने भगवान् से कहा—'भन्ते ! यहां पावा-वासी मल्लों का ऊंचा (उब्भतक) नया संस्थागार······अभी बना है। भन्ते ! भगवान् उसका प्रथम परिभोग करें। भगवान् के पहले परिभोग कर लेने पर, पीछे पावा-वासी मल्ल परिभोग करेंगे—वह पावा-वासी मल्लों के लिए दीर्घ रात्र (=चिरकाल) तक हित-सुख के लिए होगा।"

भगवान् ने मौन रह कर स्वीकार किया।

तब भगवान् (वस्त्र) पहिनकर पात्र-चीवर ले भिक्षु-संघ के साथ जहाँ संस्थागार था, वहां गए। जाकर······बैठे। भिक्षु-संघ भी···बैठा। पावा-वासी मल्ल भी···बैठे। तब भगवान् ने पावा-वासी मल्लों को बहुत रात तक धार्मिक कथा से संदर्शित=समापादित, समुत्तेजित, संप्रहर्षित कर विसर्जित किया। "वाशिष्टो ! रात तुम्हारी बीत गई, अब तुम जिसका काल समझो (वैसा करो)।"

"अच्छा भन्ते !" ···पावा-वासी मल्ल आसन से उठकर अभिवादन कर चले गए।

तब मल्लों के जाने के थोड़ी ही देर बाद, भगवान् ने शान्त (=तुष्णीभूत) भिक्षु-संघ को देख, आयुष्मान् सारिपुत्र को आमंत्रित किया—"सारिपुत्र ! भिक्षु-संघ स्त्यान-मृद्ध-रहित है, सारिपुत्र ! भिक्षुओं को धर्म-कथा कहो ; मेरी पीठ अगिया रही है, मैं लेटूंगा।"

आयुष्मान् सारिपुत्र ने भगवान् को "अच्छा भन्ते !" कह उत्तर दिया। तब भगवान् ने चौपेती संघाटी बिछवा, दाहिनी करवट के बल, पैर पर पैर रख, स्मृति-संप्रजन्य के साथ, उत्थान-संज्ञा मन में कर सिंह-शय्या लगाई। उस समय निगंठ नातपुत्र (=तीर्थंकर महावीर) अभी-अभी पावा में काल किए थे। उनके काल करने से निगंठों में फूट पड़ दो भाग हो गए थे। वे भंडन=कलह=विवाद में पड़ एक दूसरे को···जो भी निगंठ नातपुत्त के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य···विरक्त हो रहे थे।

"आयुष्मान् सारिपुत्र ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया—"आवुसो ! निगंठ नातपुत्त ने पावा में अभी-अभी काल किया है। उनके काल करने से ०निगंठ० भंडन=कलह=विवाद करते—जो श्वेत वस्त्रधारी गृही शिष्य हैं, वे भी नातपुत्तीय निगंठों में वैसे ही

निर्बल''''''आश्रय रहित धर्म में। किन्तु आवुसो ! हमारे भगवान् का यह धर्म सु-आख्यात (=ठीक से कहा गया), सु-प्रवेदित (=ठीक से साक्षात्कार किया गया), नैर्याणिक (=दुःख से पार करने वाला), उपशम-संवर्तनिक (=शान्ति-प्रापक), सम्यक्-सम्बुद्ध-प्रवेदित (=बुद्ध द्वारा जाना गया) है। यहां सबको ही अ-विरुद्ध वचन वाला होना चाहिए, विवाद नहीं करना चाहिए। जिससे कि यह ब्रह्मचर्य अध्वनिक (=चिरस्थायी हो) और वह बहुजन हितार्थ ''''''सुख के लिए हो।"

"..........तब भगवान् ने उठकर आयुष्मान् सारिपुत्र को आमंत्रित किया—'''''''साधु, साधु सारिपुत्र ! सारिपुत्र, तूने भिक्षुओं को अच्छा संगीति पर्याय (एकता का ढंग) उपदेशा।"

"आयुष्मान् सारिपुत्र ने यह कहा; शास्ता (=बुद्ध) इससे सहमत हुए। सन्तुष्ट हो उन भिक्षुओं ने (भी) आयुष्मान सारिपुत्र के भाषण का अभिवादन किया।"[1]

उक्त तीनों प्रकरणों की आत्मा एक है और उनके ऊपर का ढांचा कुछ भिन्न है। प्रथम प्रकरण में बुद्ध इस संवाद-श्रवण के बाद आनन्द को उपदेश करते हैं और दूसरे में चुन्द को ; दोनों उपदेशों का शब्द-विन्यास कुछ भिन्न है, पर झुकाव एक ही है। पहले और दूसरे में यह संवाद बुद्ध सामगाम में सुनते हैं और वहीं उपदेश करते हैं। तीसरे प्रकरण में सारिपुत्र पावा में भिक्षुओं को महावीर-निर्वाण की बात कहकर उपदेश करते हैं। कुछ एक लेखकों ने माना है कि इन प्रकरणों में विरोधाभास है; अतः ये प्रामाणिक नहीं होने चाहिएं। वस्तुस्थिति यह है—इतिहास किसी भी शास्त्र के सम्मुल्लेख को अक्षरशः मानकर नहीं चला करता। किसी भी सम्मुल्लेख का मूल हार्द यदि असंदिग्ध है, तो इतिहास उसे ले लेता है। सच बात तो यह है कि तीनों प्रकरणों के अन्तर परस्पर विरोधी हों, ऐसी बात भी नहीं है। पहले प्रकरण में उपदेश-पात्र आनन्द को और दूसरे प्रकरण में चुन्द को जो बताया गया है, उसके अनेक बुद्धि-गम्य कारण हो सकते हैं। हो सकता है, दोनों ने वह उपदेश एक साथ ही श्रवण किया हो और संकलनकारों ने अपनी-अपनी बुद्धि से एक-एक को महत्त्व दे दिया हो। हो सकता है, यह किंचित् कालान्तर से बुद्ध ने दोनों को पृथक्-पृथक् उपदेश दिया हो। तीसरा प्रकरण अपने आप में स्वतंत्र है ही तथा वह तो प्रत्युत पहले दो प्रकरणों का और पुष्टिकारक बन जाता है। पावा में यह घटना घटित हुई थी ; अतः पावा में आने पर सारिपुत्र का उस घटना को याद करना नितान्त स्वाभाविक ही हो सकता है।

भगवान् महावीर के निर्वाण-प्रसंग पर अनुयायियों में मत-भेद की चर्चा तीनों ही प्रकरणों में की गई है। जैन परम्परा इस बात की कोई स्पष्ट साक्षी नहीं देती। हो सकता

---

१. दीघनिकाय, संगीति-परियाय सुत्त, ३-१।

है, भगवान् महावीर के उत्तराधिकारत्व के विषय में परस्पर चिन्तन चला हो। इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) प्रथम गणधर थे। सामान्यतया उत्तराधिकार उन्हें मिलना चाहिए था। पर वह पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को यह कह कर मिला कि केवली तीर्थङ्करों के उत्तराधिकारी नहीं बनते। सम्भव है, यह चिन्तन भी उस निष्कर्ष से निकला हो। यह भी असम्भव तो नहीं माना जा सकता कि गौतम स्वामी के अनुयायी साधुओं और सुधर्मा स्वामी के अनुयायी साधुओं में इसी विषय पर यत्किंचित् विवाद न हुआ हो। इसकी तनिक-सी झलक हमें इस बात से भी मिलती है कि श्वेताम्बर-परम्पराओं में भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी को माना जाता है, जब कि दिगम्बर-परम्पराओं में गौतम स्वामी को भगवान् महावीर का प्रथम पट्टधर माना जाता है। बौद्ध प्रकरणों में जो 'श्वेत वस्त्रधारी' शब्द आया है, वह भी 'अचेल' और 'सचेल' निर्ग्रन्थों के संघर्ष को इंगित करता है।[1] हो सकता है, बौद्धों ने उक्त तीनों प्रकरणों को बहुत बढ़ावा दे दिया हो। यह होता है कि एक सम्प्रदाय की तनिक-सी घटना को प्रतिस्पर्धी सम्प्रदाय के लोग अतिरंजित करके ही बहुधा व्यक्त करते हैं। श्री धर्मानन्द कौशम्बी ने जैन आगमों में वर्णित गोशालक के न्यूनता सूचक वर्णन को बहुत ही अतिरंजित माना है।[2]

डॉ० जेकोबी ने उक्त प्रकरणों को इसलिए भी अप्रामाणिक माना है कि इनमें से कोई समुल्लेख **महापरिनिब्बाणसुत्त** में नहीं है, जिसमें कि भगवान् बुद्ध के अन्तिम जीवन-प्रसंगों का ब्योरा मिलता है।[3] डॉ० जेकोबी के इस तर्क से यह तो प्रमाणित नहीं होता कि ये तीनों प्रकरण असंगत हैं; किन्तु यह अवश्य प्रमाणित हो जाता है कि ये प्रकरण बुद्ध-निर्वाण-समय के निकट के नहीं हैं।

मुनि कल्याणविजयजी ने उक्त तीनों प्रकरणों को एक भ्रान्ति मात्र का परिणाम माना है। उन्होंने जहाँ महावीर के निर्वाण-प्रसंग को उनकी रुग्णावस्था में हुई अफवाह माना है, वहाँ उन्होंने निर्वाणान्तर बताये गये निर्ग्रन्थों के पारस्परिक कलह को जमालि की घटना के साथ जोड़ा है। उनका कहना है: "निर्ग्रन्थों के द्वैधीभाव और एक दूसरे की खटपट का बौद्धों ने जो वर्णन किया है, वह भगवती सूत्र में वर्णित जमालि और गौतम इन्द्रभूति के विवाद का विकृत स्वरूप है।"[4] भगवान् महावीर के साथ गोशालक

---

१. उक्त समाधान आनुमानिक है, किन्तु जो संकेत इससे उभरे हैं, हो सकता है, गहराई में जाने से श्वेताम्बर और दिगम्बर के भेद का मूल भी यहीं-कहीं निकल आये। शोधशील विचारकों के लिए यह ध्यातव्य है।

२. देखें, पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म।

३. श्रमण, वर्ष १३, अंक ६, पृ० १३।

४. वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैन काल-गणना, पृ० १२-१३।

का विवाद श्रावस्ती नगरी में होता है और जमालि व इन्द्रभूति का शास्त्रार्थ चम्पा नगरी में होता है।[1] इन दोनों घटनाओं के न क्षेत्र एक है, न काल एक तथा न इन घटनाओं में परस्पर कोई विषय का भी सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में यह संगति उक्त तीनों प्रकरणों की भ्रान्ति मात्र प्रमाणित करने में यत्किंचित् भी समर्थ नहीं है।

तीनों प्रकरणों में निर्वाण तथा विवाद का पावा में घटित होने का स्पष्ट उल्लेख है। श्रावस्ती और चम्पा की घटनाओं का वहाँ क्या सम्बन्ध जुड़ सकता है? भगवान् महावीर जैसे युगपुरुषों की निर्वाण की कोई असत्य बात उठे और वह चिरकाल तक चलती ही रहे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? कालान्तर से सारिपुत्र पावा में ही आकर उस घटना को दोहराते हैं। तब तक यदि महावीर का निर्वाण हुआ ही नहीं था, तो क्या पावा के लोगों से उनको यह अवगति नहीं हो गई होती? किन्हीं उदन्तों का ऐसा सामञ्जस्य 'संगति' नहीं कहा जा सकता।

इन तीनों प्रकरणों की वास्तविकता में हमें इसलिए भी सन्देह नहीं करना चाहिए कि जैन आगमों में महावीर-निर्वाण के सम्बन्ध में कोई विरोधी उल्लेख नहीं मिल रहा है। जैन आगमों में यदि महावीर और बुद्ध के निर्वाण की पूर्वापरता के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख होता, तो हमें उन तीन प्रकरणों की वास्तविकता में फिर भी सन्देह हो सकता था। बौद्ध-शास्त्रों में भी तीन प्रकरणों के अतिरिक्त ऐसा कोई भी चौथा प्रकरण होता, जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण की बात कहता, तो हमें गम्भीरता से सोचना होता। जो प्रकरण अपने आप में असंदिग्ध हैं, उन्हें तथ्य-निर्णय के लिए प्रमाणभूत मान लेना जरा भी असंगत नहीं है।

महावीर की ज्येष्ठता

उक्त तीन प्रकरणों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे प्रसंग बौद्ध-साहित्य में उपलब्ध होते हैं, जो बुद्ध का छोटा होना और महावीर का ज्येष्ठ होना प्रमाणित करते हैं। अब तक के अधिकांश विद्वानों ने केवल उक्त तीन प्रकरणों पर ही आलोडन-विलोडन किया है। तत्सम्बन्धी अन्य प्रसंगों पर न जाने उनका ध्यान क्यों नहीं गया, जिनमें बुद्ध स्वयं अपने को तात्कालिक सभी धर्मनायकों में छोटा स्वीकार करते हैं। वे प्रकरण क्रमशः निम्न हैं :

(१) ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में विहार करते थे। तब, कोशल राजा प्रसेनजित् जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर कुशल प्रश्न पूछ, एक ओर बैठ......भगवान् से बोला—"गौतम! आप भी तो, अनुत्तर (=सर्वोत्तम) सम्यक् सम्बोधि (=परमज्ञान) को जान लिया, यह दावा करते हैं।"

---

१. भगवती सूत्र, शतक ९, उ० ३३।

"महाराज ! अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जान लिया, यह ठीक से बोलने पर मेरे ही लिए बोलना चाहिए।"

"हे गौतम ! वह, जो श्रमण-ब्राह्मण, संघ के अधिपति, गणाधिपति, गण के आचार्य, ज्ञात (=प्रसिद्ध), यशस्वी, तीर्थङ्कर (=पथ चलाने वाले), बहुत जनों द्वारा साधु-सम्मत (=अच्छे माने जाने वाले) हैं, जैसे—पूर्ण काश्यप, मक्खली (=मस्करी) गोशालक, निगंठ नातपुत्र (=निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र) संजय बेलट्ठिपुत्र, प्रकुध कात्यायन, अजित केशकम्बली, वह भी—'(क्या आप) अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जान लिया, यह दावा करते हैं ?'—पूछने पर अनुत्तर० सम्बोधि को जान लिया, यह दावा नहीं करते। फिर **जन्म से अल्प वयस्क और प्रव्रज्या में नये**, आप गौतम के लिए तो क्या कहना है ?"

"महाराज ! चार को अल्प वयस्क (दहर) न जानना चाहिए, छोटे (=दहर) हैं (समझकर) परिभव (=तिरस्कार) न करना चाहिये। कौन से चार, महाराज ! क्षत्रिय को दहर न जानना चाहिए० सर्प को० अग्नि को० भिक्षु को०। इन चार को महाराज ! दहर न समझना चाहिए।" यह कह कर शास्ता ने फिर यह भी कहा—"कुलीन, उत्तम यशस्वी, क्षत्रिय को दहर० करके, आदमी उसका अपमान और तिरस्कार न करे। हो सकता है, राज्य प्राप्त कर, वह मनुजेन्द्र क्षत्रिय, क्रुद्ध हो राजदण्ड से पराक्रम करे। इसलिए अपने जीवन की रक्षा के लिए उससे अलग रहना चाहिए। गाँव या अरण्य में जहाँ साँप को देखे, दहर करके आदमी उसका अपमान और तिरस्कार न करे। नाना प्रकार के रूपों से उरग (साँप) तेज में विचरता है। वह समय पाकर नर-नारी, बालक को डस लेगा। इसलिए अपने जीवन की रक्षा के लिए उससे अलग रहना चाहिए। बहु-भक्षी ज्वाला-युक्त पावक=कृष्णवर्त्मा (=काले मार्ग वाला) को दहर करके, आदमी उसका अपमान और तिरस्कार न करे। उपादान (=सामग्री) पा, बड़ी होकर वह आग समय पाकर नर-नारी को जला देगी। इसलिए अपने जीवन की रक्षा के लिए उससे अलग रहना चाहिए। पावक=कृष्णवर्त्मा अग्नि वन को जला देता है। (लेकिन) अहोरात्र बीतने पर वहाँ अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन जिसको सदाचारी भिक्षु (अपने) तेज से जलाता है, उसके पुत्र-पशु (तक) नहीं होते, दायाद भी धन नहीं पाते। सन्तान-रहित, दायाद-रहित, शिर कटे ताल जैसा वह होता है। इसलिए पंडितजन अपने हित को जानते हुए, भुजंग, पावक, यशस्वी क्षत्रिय और शील-सम्पन्न (=सदाचारी) भिक्षु के (साथ) अच्छी तरह बर्ताव करे।"[1]

(२) एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह के वेणुवन में कलंदक निवाप में रहते थे। एक बार एक देव ने आकर सभिय को कई प्रश्न सिखाये और बोला कि जो तेरे इन प्रश्नों का

---

१. संयुत्त निकाय, दहरसुत्त १।३-१।

उत्तर दे, उनका ही तू शिष्य होना। यह देव पूर्व-जन्म में सभिय परिव्राजक का सगा था। श्रमण-ब्राह्मण, संघनायक, गणनायक, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर और बहुजन साधु-सम्मत—पूर्णकाश्यप, मक्खली गोशालक, अजित केशकम्बली, प्रकुध कात्यायन, संजय बेलट्ठिपुत्र और निगंठ नातपुत्र आदि के पास जाकर सभिय प्रश्न पूछता है। वे, प्रश्नों का जबाब न दे सकने से कोप, द्वेष और दौर्मनस्य प्रकट करते हैं और उलटा सभिय परिव्राजक को ही प्रश्न करने लगते हैं। इससे सभिय परिव्राजक के मन में आया कि जब ये भगवान् श्रमण-ब्राह्मण भी प्रश्नों का उत्तर न देकर दौर्मनस्य प्रकट करते हैं, तो प्रव्रज्या छोड़ फिर गृहस्थ बनना ही ठीक है। फिर उसके मन में आया कि श्रमण गौतम भी संघनायक, गणनायक, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर और अनेक मनुष्यों को साधु-सम्मत हैं; अतः उसके पास जाकर प्रश्न पूछना ठीक है। फिर उसके मन में आया कि भगवन्त श्रमण-ब्राह्मण, जीर्ण, वृद्ध, घर्ड, उत्तरावस्था को प्राप्त, वयोतीत, स्थविर, जीर्ण और चिरकाल के प्रव्रजित, संघनायक, गणनायक, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर अनेक लोगो के साधु-सम्मत, पूर्णकाश्यप......निगण्ठ नातपुत्त[1] भी प्रश्न पूछने पर उत्तर नहीं देकर कोप, द्वेष, दौर्मनस्य प्रकट करते हैं और उलटा मुझे प्रश्न पूछते हैं, तो फिर ये प्रश्न श्रमण गौतम से पूछने पर वह मुझको जवाब दे सकेंगे? श्रमण गौतम तो **आयु में युवान हैं और उन्होंने हाल ही में प्रव्रज्या ली है।**[2] फिर सभिय परिव्राजक के मन में आया कि श्रमण तरुण हो तो भी उसकी अवज्ञा या अवगणना नहीं करनी चाहिए। कोई-कोई तरुण श्रमण ही महा ऋद्धिमान महानुभाव होता है। अतः श्रमण गौतम के पास जा, उससे भी ये प्रश्न पूछना ठीक है। उसके बाद सभिय परिव्राजक ने राजगृह के वेणुवन में कलंदक निवाप में बुद्ध भगवान् के पास जा,......वहाँ जाने के पूर्व हृदय में जो ऊहापोह हुआ, वह प्रश्न कह पूछा।[3]

(३) ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् राजगृह में जीवक कौमार-भृत्य के आम्रवन में साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के महाभिक्षु-संघ के साथ विहार करते थे।

उस समय पूर्णमासी के उपसोथ के दिन चातुर्मास की कौमुदी (=आश्विन पूर्णिमा) से पूर्ण पूर्णिमा की रात को, राजा मागध अजातशत्रु वैदेहीपुत्र, राजामात्यों से घिरा, उत्तम प्रासाद के ऊपर बैठा हुआ था। तब राजा० अजातशत्रु० ने उस दिन उपोसथ

---

१. समणब्राह्मणा जिण्णा वुद्धा महल्लका अद्धगता वयो अनुप्पत्ता, थेर रत्तञ्ञू चिरपब्बजिता··· पूरणोकस्सपो·········पे०·········निगण्ठो नातपुत्तो,·········।

—सुत्तनिपात, सभिय सुत्तं, पृ० १०४।

२. ·········किं पन मे समणो गोतमो इमे पञ्हे पुट्ठो ब्याकरिस्सति। समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जायाति।

—सुत्तनिपात, सभिय सुत्तं, पृ० १०६।

३. सुत्तनिपात, सभियसुत्त, पृ० १०४-१०७।

(पूर्णिमा) को उदान कहा—"अहो ! कैसी रमणीय चाँदनी रात है ! कैसी सुन्दर चाँदनी रात है !! कैसी दर्शनीय चाँदनी रात है !!! कैसी प्रासादिक चाँदनी रात है !!! कैसी लक्षणीय चाँदनी रात है !!! किस श्रमण या ब्राह्मण का सत्संग करें, जिसका सत्संग हमारे चित्त को प्रसन्न करे।"

ऐसा कहने पर एक राजमंत्री ने मागध अजातशत्रु वैदेहीपुत्र से यह कहा—"महाराज ! यह पूर्ण काश्यप संघ-स्वामी=गण-अध्यक्ष, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थङ्कर (=मतस्थापक), बहुत लोगों से सम्मानित, अनुभवी, चिरकाल का साधु व वयोवृद्ध है। महाराज ! उसी पूर्ण काश्यप से धर्म-चर्चा करें। पूर्ण काश्यप के साथ थोड़ी ही धर्म-चर्चा करने से चित्त प्रसन्न हो जायेगा।" उनके ऐसा कहने पर मगधराज अजातशत्रु, वैदेहीपुत्र चुप रहा।

दूसरे मंत्री ने मगधराज० से कहा—"महाराज ! यह मक्खली गोसाल संघ-स्वामी०।" उसके ऐसा कहने पर मगधराज० चुप रहा।

दूसरे मंत्री ने मगधराज से कहा—"महाराज ! यह अजितकेश कम्बल संघ-स्वामी०।" उसके ऐसा कहने पर मगधराज० चुप रहा।

दूसरे मंत्री ने भी०—"महाराज ! यह प्रकुद्ध कात्यायन संघ-स्वामी०।" उसके ऐसा कहने पर मगधराज० चुप रहा।

दूसरे मंत्री ने भी मगधराज०—"महाराज ! यह संजय वेलट्ठिपुत्त संघ-स्वामी०।" उसके ऐसा कहने पर वगधराज०।

दूसरे मंत्री ने भी मगधराज०—"महाराज ! यह निगण्ठ-नाथपुत्त (नातपुत्त—नाटपुत्त) संघ-स्वामी।" उसके ऐसा कहने पर मगधराज०।

उस समय जीवक कौमार-भृत्य राजा मागध वैदेहीपुत्र अजातशत्रु के पास ही चुपचाप बैठा था। तब राजा० अजातशत्रु ने जीवक कौमार-भृत्य से यह कहा..."सौम्य ! जीवक ! तुम बिलकुल चुपचाप क्यों हो ?"

"देव ! ये भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध मेरे आम के बगीचे में साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के बड़े संघ के साथ विहार कर रहे हैं। उन भगवान् गौतम का ऐसा मंगल यश फैला हुआ है—'वह भगवान् अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध (=परमज्ञानी) विद्या और आचरण से युक्त, सुगत (=सुन्दर गति को प्राप्त), लोकविद्, पुरुषों को दमन करने (=सन्मार्ग पर लाने) के लिए अनुपम चाबुक सवार, देव-मनुष्यों के शास्ता (=उपदेशक), बुद्ध (=ज्ञानी) भगवान् है। महाराज ! आप उनके पास चलें और धर्म-चर्चा करें। उस भगवान् के साथ धर्मालाप करने से कदाचित् आपका चित्त प्रसन्न हो जायेगा।"[1]

---

१. दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, १।२ पृ०, १६-१८।

ये तीन प्रकरण भी बुद्ध से महावीर का ज्येष्ठत्व प्रमाणित करने के लिए इतने स्पष्ट हैं कि इन पर कोई युक्ति या संगति जोड़ने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस प्रकार, तीन प्रकरण महावीर का पूर्व-निर्वाण प्रमाणित करते हैं और अन्य तीन प्रकरण उनका ज्येष्ठत्व प्रमाणित करते हैं। ज्येष्ठत्व भी केवल वयोमान की दृष्टि से ही नहीं; अपितु ज्ञान की दृष्टि से, प्रभाव की दृष्टि से और प्रव्रज्या-काल की दृष्टि से। ये समुल्लेख स्वयं बोलते हैं कि जब बुद्ध ने अपना धर्मोपदेश प्रारम्भ किया था, तब तक महावीर इस दिशा में बहुत कुछ कर चुके थे।

उक्त प्रकरणों की सत्यता का एक प्रमाण यह भी है कि यहाँ बुद्ध को छोटा स्वीकार किया गया है। सभी स्थलों में बुद्ध को आयु, प्रव्रज्या व ज्ञान-लाभ की दृष्टि से पूर्वकालिक और बड़ा कहा जाता, तब तो फिर भी आशंका खड़ी की जा सकती थी कि सम्भवतः बौद्ध शास्त्रकारों ने अपने धर्म-नायक की महिमा बढ़ाने के लिए भी ऐसा कर दिया हो, किन्तु अपने धर्म-नायक को छोटा स्वीकार करना तो किसी साम्प्रदायिक अहम् का पोषक नहीं होता।

प्रतिपाद्य तथ्य की पुष्टि का एक आधार यह भी बनता है कि बौद्ध-शास्त्र महावीर के विषय में जितने मुखर हैं, जैन-शास्त्र बुद्ध के विषय में उतने ही मौन हैं। इसका भी सम्भवतः कारण यही है—जो नवोदित धर्म-नायक होता है, वह अपने पूर्ववर्ती प्रतिस्पर्धी धर्म-नायक पर अधिक बोलता है। उसमें उसके समकक्ष होने की एक भावना होती है; अतः स्वयं को श्रेष्ठ और प्रतिपक्ष को अश्रेष्ठ करने का विशेष प्रयत्न करता है। यही स्थिति बौद्ध-शास्त्रों में समुल्लिखित महावीर-सम्बन्धी और जैन धर्म-सम्बन्धी अनेकानेक विवरणों में प्रकट होती है।[1] जैन-शास्त्रों में बौद्ध धर्म के प्रवर्तक के रूप में बुद्ध का कहीं नामोल्लेख तक नहीं मिलता। यह भी इसी बात का संकेत है कि जो स्वयं प्रभाव-सम्पन्न हो जाते हैं, वे नवोदित पन्थ को सहसा ही महत्त्व नहीं दिया करते।

जैन-शास्त्रों का मौन और बौद्ध-शास्त्रों की मुखरता का अन्य सम्भव कारण यह है कि महावीर-वाणी का द्वादशांगी के रूप में संकलन, महावीर के बोधि-प्राप्ति के अनन्तर ही गणधरों द्वारा हो चुका था। बुद्ध महावीर के उत्तरवर्ती थे; अतः उन शास्त्रों में बुद्ध के जीवन के विषय में चर्चाएँ कैसे होतीं? यदि बुद्ध पूर्ववर्ती होते तो जैन-शास्त्रों में उनकी चर्चा आए बिना ही कैसे रहती।[2] बौद्ध पिटकों का संकलन बुद्ध-निर्वाण के अनन्तर ही

१. विस्तार के लिए देखें, "त्रिपिटक साहित्य में महावीर" प्रकरण।

२. सूत्रकृतांग आदि सूत्रों में बौद्ध मान्यताओं से सम्बन्धित मीमांसा नगण्य रूप में मिलती है। द्वादशांगी के मूल स्वरूप में भी पूर्वधर आचार्यों द्वारा समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन किया जाता रहा है; अतः बौद्ध-धर्म सम्बन्धी मीमांसा उक्त तथ्य में बाधक नहीं बनती।

अर्हत् शिष्यों द्वारा होता है। बुद्ध महावीर से उत्तरवर्ती थे ; अतः उनमें महावीर के जीवन-प्रसंगों का उल्लिखित होना स्वाभाविक है ही।

समय-विचार

इस प्रकार उक्त तथ्यों के आधार से हम इस निष्कर्ष पर तो असंदिग्ध रूप से पहुँच ही जाते हैं कि महावीर बुद्ध से वयोवृद्ध और पूर्व-निर्वाण-प्राप्त थे। विवेचनीय विषय रहता है—उनकी समसामयिकता का अर्थात् कितने वर्ष वे एक दूसरे की विद्यमानता में जीये। पर यह जान लेना तभी संभव है, जब उनके जीवन-वृत्तों को संवत्सर और तिथियों में बाँधा जाए। आगमों और त्रिपिटकों में उनके जन्म व निर्वाण-सम्बन्धी महीनो व तिथियों का उल्लेख मिलता है। पर आज की संवत् या सन् पद्धति से उनके जन्म और निर्वाण के सम्बन्ध में कहीं कुछ नहीं मिलता। वह इसलिए कि सम्भवतः उस समय किसी व्यवस्थित संवत्सर का प्रचलन था ही नहीं। दोनों युग-पुरुषों की समसामयिकता के निर्णय में पूर्वापर के अतिरिक्त उल्लेखों से ही काम चलाना होता है। पहले हमें महावीर के तिथि-काल पर विचार करना होगा ; क्योंकि अपेक्षाकृत बुद्ध के तिथि-क्रम से, वह अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध है।

महावीर का तिथि-क्रम

पिछले प्रकरणों में यह भलीभांति बताया जा चुका है कि महावीर-निर्वाण का असंदिग्ध समय ई० पू० ५२७[1] का है। इस विषय में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इतिहास के क्षेत्र में सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना गया है।[2]

---

१. अनेक अधिकारी इतिहासज्ञों व विद्वानों ने इसी तिथि को मान्य रखा है। उदाहरणार्थ—
   (क) महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर ओझा, श्री जैन सत्य प्रकाश, वर्ष २, अंक ४-५, पृ० २१७-८१।
   (ख) डॉ० बलदेव उपाध्याय, धर्म और दर्शन, पृ० ८९।
   (ग) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, तीर्थंकर महावीर, भा० २, भूमिका पृ० १९।
   (घ) डॉ० हीरालाल जैन, तत्त्व-समुच्चय, पृ० ६।
   (ङ) महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, भारत का प्राचीन राजवंश, खण्ड २, पृ० ४३६।

२. Dr. Radha Kumud Mukherjee, *Chandragupta Maurya and his Times*, pp. 44-6 ; तथा श्रीनेत्र पाण्डे, भारत का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, प्राचीन भारत, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४२।

इतिहासकार मानते हैं कि इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण वातावरण में यह एक प्रकाशस्तम्भ[1] है। यह समय सर्वमान्य और प्रामाणिक है। इसे ही केन्द्र-बिन्दु मानकर इतिहास शताब्दियों पूर्व और शताब्दियों पश्चात् की घटनाओं का समय पकड़ता है। जैन परम्परा में मेरुतुंग की **विचार श्रेणि**, **तित्थोगाली पइन्नय** तथा **तित्थोद्धार प्रकीर्ण** आदि प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर-निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् माना है। वह राज्यारोहण उन्होंने अवन्ती का माना है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र (मगध) राज्यारोहण के १० वर्ष पश्चात् अवन्ती में अपना राज्य स्थापित किया था।[2] इस प्रकार जैन-काल-गणना और सामान्य ऐतिहासिक धारणा परस्पर संगत हो जाती है और महावीर का निर्वाण ई० पू० ३१२+२१५ = ई० पू० ५२७ में होता है।

उक्त निर्वाण-समय का समर्थन विक्रम, शक, गुप्त आदि ऐतिहासिक संवत्सरों से भी होता है। विक्रम-संवत् के विषय में जैन-परम्परा की प्राचीन पट्टावलियों व ग्रन्थों में बताया

---

१. To these sources, Indian history is also indebted for what has been called, the sheet-anchor of its chronology, for the starting point of Indian chronology is the date of Chandragupta's accession to sovereignty.

—Radha Kumud Mukherjee, *Chandragupta Maurya and His Times*, p. 3.

२. (क) The date 313 B. C. for Chandragupta's accession, if it is based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti in Malwa, as the chronological datum is found in verse where the Maurya king finds mention in the list of succession of Pālak, the king of Avanti.

—H. C. Ray Choudhuri, *Political History of Ancient India*, p. 295.

(ख) The Jain date 313 B. C., if based on correct tradition, may refer to acquisition of Avanti (Malwā).

—*An Advanced History of India*, p. 99.

(ग) यद्यपि ई० पू० ३१३, चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक की तिथि शुद्ध परम्परा के आधार पर अनुमानित है, परन्तु यह तिथि उनके अवन्ती अथवा मालवा के विजय का निर्देश करती है। क्योंकि उस श्लोक में, जिसमें तिथि क्रम-तालिका अंकित है, अवन्ती-शासक पालक के अनुवर्ती शासकों में चन्द्रगुप्त मौर्य की चर्चा की गई है।

—श्रीनेत्र पाण्डे, भारत का बृहत् इतिहास, पृ० २४५-२४६।

गया है[1]—भगवान् महावीर के निर्वाण-काल से ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत् का प्रचलन हुआ। इतिहास की सर्वसम्मत धारणा के अनुसार विक्रम संवत् ई० पू० ५७ से प्रारम्भ होता है।[2] इससे भी महावीर-निर्वाण का काल ५७+४७० = ई० पू० ५२७ ही आता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही जैन-परम्पराओं की प्राचीन मान्यताओं के अनुसार

---

१. (क) जं रयणिं कालगओ, अरिहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिं अवणिवई, अहिसित्तो पालओ राया ॥१॥
सट्ठी पालयरण्णो ६०, पणवण्णसयं तु होइ नंदाणं १५५।
अट्ठसयं मुरियाणं १०८, तीस च्चिय पूसमित्तस्स ३० ॥२॥
बलमित्त-भाणुमित्त सट्ठी ६०, वरिसाणि चत्त नहवाणे।
तह गद्दभिल्लरज्जं तेरस १३, वरिस-सगस्स चउ (वरिसा) ॥३॥
श्रीविक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्री वीरसप्ततिचतुष्टये ४७० संजातम्।
—धर्मसागर उपाध्याय, तपागच्छ-पट्टावली (सटीक सानुवाद, पन्यास कल्याण विजयजी), पृ० ५०-५२।

(ख) विक्कमरज्जारंभा परओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्नमुणिवेयजुत्तो विक्कमकालउ जिणकालो ॥
—विक्रमकालाज्जिनस्य वीरस्य कालो जिन कालः शून्य (०) मुनि (७) वेद (४) युक्तः। चत्वारिंशतानि सप्तत्यधिकवर्षाणि श्रीमहावीरविक्रमादित्ययोरन्तर मित्यर्थः। नन्वयं कालः वीर-विक्रमयोः कथं गण्यते, इत्याह—विक्रमराज्यारम्भात् परतः पश्चात् श्रीवीरनिर्वृतिरत्र भणिता। को भावः श्रीवीरनिर्वाण-दिनादनु ४७० वर्षे विक्रमादित्यस्य राज्यारम्भ-दिनमिति। —विचार-श्रेणी, पृ० ३-४।

(ग) पुनर्मन्निर्वाणात् सप्तत्यधिकचतुःशतवर्षे (४७०) उज्जयिन्यां श्रीविक्रमादित्यो राजा भविष्यति···स्वनाम्ना च संवत्सरप्रवृत्तिं करिष्यति।
—श्री सौभाग्य पंचम्यादि पर्वकथा संग्रह, दीपमालिका व्याख्यान, पृ० ९६-९७।

(घ) महामुक्ख गमणाओ पालय-नंद-चंदगुत्ताइराईसु बोलीणेसु चउसय सत्तरेहिं विक्कमाइच्चो राया होहि। तत्थ सट्ठी वरिसाणं पालगस्स रज्जं, पणपण्णंसयं नंदाणं, अट्ठोत्तर सयं मोरिय वंसाणं, तीसं पूसमित्तस्स, सट्ठी बलमित्त-भाणु-मित्ताणं, चालीसं नरवाहणस्स, तेरस गद्दभिल्लस्स, चत्तारि सगस्स। तओ विक्कमाइच्चो।
—विविधतीर्थकल्प (अपापाबृहत्कल्प), पृ० ३८-३९।

(ङ) चउसय सत्तरि वरिसे (४७०) वीराओ विक्कमो जाओ। —पंचवस्तुक।

२. *An Advanced History of India*, p. 118 ; गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० १८३।

शक संवत् महावीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष व ५ महीने बाद आरम्भ होता है।[1] ऐतिहासिक धारणा से शक संवत् का प्रारम्भ ई० पू० ७८ से होता है।[2] उस निष्कर्ष से भी महावीर-निर्वाण का काल ६०५ – ७८ = ई० पू० ५२७ ही होता है।

डॉ० वासुदेव उपाध्याय, अपने ग्रन्थ 'गुप्त साम्राज्य का इतिहास'[3] में गुप्त संवत्सर की छानबीन करते हुए लिखते हैं :

"अलबेरुनी से पूर्व शताब्दियों में कुछ जैन ग्रन्थकारों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शक-काल में २४१ वर्ष का अन्तर है। प्रथम लेखक जिनसेन, जो ८ वीं शताब्दी में वर्तमान थे, उन्होंने वर्णन किया है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के पश्चात् शक राजा का जन्म हुआ तथा शक के अनुसार गुप्त के २३१

---

१. (क) जं रयणिं सिद्धिगओ, अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवन्तीए, अभिसित्तो पालओ राया ॥ ६२० ॥
पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणं।
मुरियाणं सट्ठिसयं पणतीसा पूसमित्ताणं (तस्स) ॥ ६२१ ॥
बलमित्त-भाणुमित्ता, सट्ठी चत्ताय होन्ति नहमेणे।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया ॥ ६२२ ॥
पंच य मासा पंच य, वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरिहतो, तो उप्पन्नो (पडिवन्नो) सगो राया ॥६२३॥
—तित्थोगाली पइन्नय।

(ख) श्री वीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पञ्चोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत् ॥
—मेरुतुंगाचार्य-रचित, विचार-श्रेणी (जैन-साहित्य-संशोधक, खण्ड २ अंक ३-४, पृ० ४)।

(ग) छहिं वासाण सएहिं पञ्चहिं वासेहि पञ्चमासेहिं।
मम निव्वाण गयस्स उ उपाज्जिस्सइ सगो राया ॥
—नेमिचन्द्र-रचित, महावीर-चरियं, श्लो० २१६६, पत्र-९४-१।

(घ) पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो ककी चदुणवतियमहियसगमासं ॥
—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती-रचित, त्रिलोकसार, ८५०।

(ङ) वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पंचाग्रां मासपंचकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ॥
—जिनसेनाचार्य-रचित, हरिवंश पुराण, ६०-५४९।

(च) णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास सदेसु पंचवरिसेसु।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥
—तिलोयपण्णत्ति, भाग १, पृ० ३४१।

(छ) पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी ॥
—धवला, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, पत्र ५३७।

२. *An Advanced History of India*, p. 120 ; गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० १८२-१८३।

३. भाग १, पृ० ३८२।

वर्ष शासन के बाद कल्किराज का जन्म हुआ।[1] द्वितीय ग्रन्थकार गुणभद्र ने उत्तरपुराण में (८८६ ई०) लिखा है कि महावीर-निर्वाण के १००० वर्ष बाद कल्किराज का जन्म हुआ।[2] जिनसेन तथा गुणभद्र के कथन का समर्थन तीसरे लेखक नेमिचन्द्र करते हैं।

"नेमिचन्द्र त्रिलोकसार में लिखते हैं : 'शकराज महावीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष ५ माह के बाद तथा शक-काल के ३९४ वर्ष ७ माह के पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ।[3] इनके योग से—६०५ वर्ष ५ माह + ३९४ वर्ष ७ माह = १००० वर्ष होते हैं।' इन तीनों जैन ग्रन्थकारों के कथनानुसार शकराज तथा कल्किराज का जन्म निश्चित हो जाता है।"

इस प्रकार शक-संवत् का निश्चय उक्त जैन धारणाओं पर करके विद्वान् लेखक ने महाराज हस्तिन् के खोह-लेख आदि के प्रमाण से गुप्त संवत् और शक संवत् का सम्बन्ध निकाला है। निष्कर्ष रूप में वे लिखते हैं : "इस समता से यह ज्ञात होता है कि गुप्त संवत् की तिथि में २४१ जोड़ने से शक-काल में परिवर्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचन के कारण अलबेरुनी के कथन की सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित हो गया है कि शक-काल के २४१ वर्ष पश्चात् गुप्त संवत् का आरम्भ हुआ।"[4] फलितार्थ यह होता है कि इस सारी काल-गणना का मूल भगवान् महावीर का निर्वाण-काल बना है। वहाँ से उतर कर वह काल-गणना गुप्त संवत् तक आई है। यहाँ से मुड़कर यदि हम वापस चलते हैं, तो निम्नोक्त प्रकार मे ई० पू० ५२७ के महावीर-निर्वाण-काल पर पहुँच जाते हैं :

गुप्त संवत् का प्रारम्भ—	ई० ३१९
महावीर-निर्वाण—	गुप्त संवत् पूर्व ८४६
अतः महावीर का निर्वाण-काल	ई० पू० ५२७

तेरापंथ के मनीषी आचार्यों ने जिस काल-गणना को माना है, उससे महावीर-निर्वाण का समय ई० पू० ५२७ आता है। भगवान् महावीर की जन्म-राशि पर उनके निर्वाण के

---

१. ....गुप्तानां च शतद्वयम्।
एकविंशश्च वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ॥४९०॥
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराजस्य राजता।
ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ॥४९१॥
वर्षाणि षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रां मासपञ्चकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजा ततोऽभवत् ॥५५१॥
—जिनसेन कृत हरिवंशपुराण, अ० ६०।

२. *Indian Antiquary*, vol. XV, p. 143.

३. पण छस्सयं वस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिवुइदो।
सगराजो सो कल्कि चदुणवतियमहिय सगमासं ॥ —त्रिलोकसार, पृ० ३२।

४. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग १, पृ० १८१।

समय भस्म-ग्रह लगा। उसका काल शास्त्रकारों ने २००० वर्ष का माना है।[1] श्रीमज्जयाचार्य के निर्णयानुसार २००० वर्ष का वह भस्म-ग्रह विक्रम संवत् १५३१ में उस राशि से उतरता है[2] तथा शास्त्रकारों[3] के अनुसार महावीर-निर्वाण के १९९० वर्ष पश्चात् ३३३ वर्ष की स्थिति वाले धूमकेतु ग्रह के लगने का विधान है। श्रीमज्जयाचार्य के अनुसार वह समय वि० सं० १८५३ होता है। उक्त दोनों अवधियाँ सहज ही निम्नप्रकार से महावीर-निर्वाण के ई० पू० ५२७ के काल पर इस प्रकार पहुँच जाती हैं—

भस्म-ग्रह की स्थिति— २००० वर्ष

भस्म-ग्रह उतरा— ई० सन् १४७३ (वि० सं० १५३०)

अतः महावीर-निर्वाण— ई० पू० ५२७

इसी प्रकार महावीर-निर्वाण के १९९०+३३३ वर्ष बाद धूमकेतु उतरा, अतः २३२३ वर्ष कुल स्थिति।

उतरने का समय— १४९६ ई० स० (वि० स० १८५३)

अतः महावीर-निर्वाण—ई० पू० ५२७

जैन-परम्परा में 'वीर-निर्वाण-संवत्' चल रहा है। विशेषता यह है कि वह निर्विवाद और सर्वमान्य है। वह संवत् भी ई० पू० ५२७ पर आधारित है। अभी ईस्वी सन् १९६७ में वीर-निर्वाण संवत् २४९४ चल रहा है, जो इस्वी से ५२७ वर्ष अधिक है, जैसा कि होना ही चाहिए।

महावीर-निर्वाण ई० पू० ५२७ में निश्चित हो जाने से उनके प्रमुख जीवन-प्रसंगों का तिथि-क्रम इस प्रकार बनता है :

जन्म	ई० पू० ५९९
दीक्षा	ई० पू० ५६९
कैवल्य-लाभ	ई० पू० ५५७
निर्वाण	ई० पू० ५२७

काल-गणणा

भारतवर्ष में मुख्यतया तीन प्राचीन काल-गणनाएँ प्रचलित हैं : (१) पौराणिक, (२) जैन और (३) बौद्ध। पौराणिक काल-गणना का आधार **विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण, वायु पुराण, भागवत पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण** आदि हैं। जैन काल-गणना का आधार **तित्थोगाली पइन्नय,** आचार्य मेरुतुंग द्वारा रचित **विचार-श्रेणी** आदि हैं। बौद्ध काल-गणना का आधार सिलोनी ग्रन्थ **दीपवंश, महावंश** आदि हैं।

---

१. कल्प सूत्र, सू० १२८-३०।

२. भ्रमविध्वंसनम्, भूमिका १४-१५।

३. वंग चूलिका।

पुराणों का रचना-काल विद्वानों ने ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी माना है।[1] पार्जिटर के अभिमतानुसार पुराणों का वर्तमान रूप अधिक-से-अधिक ईस्वी तीसरी शताब्दी में निर्मित हो ही चुका था।[2]

तित्थोगाली पइन्नय का रचना-काल लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है।[3]

दीपवंश व महावंश का रचना-काल ईस्वी चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना जाता है।[4]

पौराणिक और जैन काल-गणना नितान्त भारतीय हैं और उनकी परस्पर संगति भी है।[5] पौराणिक काल-गणना की वास्तविकता को इतिहासकारों ने स्वीकार किया है।[6] इस विषय में डॉ० स्मिथ ने लिखा है : "पुराणों में दी गई राजवंशों की सूचियों की आधार-भूतता को आधुनिक युरोपीय लेखकों ने निष्कारण ही निन्दित किया है। इनके सूक्ष्म अनुशीलन से ज्ञात होता है कि इनमें अत्यधिक मौलिक व मूल्यवान् ऐतिहासिक परम्परा

---

१. (क) पुराण किसी-न-किसी रूप में चौथी शताब्दी में अवश्य वर्तमान थे, क्योंकि कौटिल्य अर्थ-शास्त्र में पुराण का उल्लेख आया है।

—जनार्दन भट्ट, बौद्धकालीन भारत, पृ० ३।

(ख) अधिकांश विद्वानों की सम्मति है कि अर्थ-शास्त्र में चन्द्रगुप्त मौर्य की ही शासन-पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ; अर्थ-शास्त्र ई० पू० तृतीय शतक की रचना है ; अतः कहना पड़ेगा कि पुराणों की रचना ई० पू० तृतीय शतक से बहुत पहले ही हो चुकी थी।

—डा० बलदेव उपाध्याय, आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० १६४।

२. *The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age*, Introduction, p. XII.

३. वीर-निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना, पृ० ३०, टिप्पण सं० २७।

४. Dr. V. A. Smith, *Early History of India*, p. 11 ; जनार्दन भट्ट, बौद्धकालीन भारत, पृ० ३।

५. मुनि कल्याण विजयजी ने 'वीर-निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना', पृ० २५-२६ में इसका विवेचन किया है।

६. 'पुराणों में प्राचीन इतिहास प्रामाणिक रूप से भरा हुआ है', ऐसी धारणा तो अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों की भी होने लगी है। पुराणों में दिये गये इतिहास की पुष्टि शिलालेखों से, मुद्राओं से और विदेशियों के यात्रा-विवरण से पर्याप्त मात्रा में होने लगी है। अतः विद्वान् ऐतिहासिकों का कथन है कि यह पूरी सामग्री प्रामाणिक तथा उपादेय है।

—आर्य संस्कृति के मूलाधार, पृ० १६७।

उपलब्ध होती है।"[१] बौद्ध काल-गणना सिलोन से आई है, क्योंकि **दीपवंश-महावंश** की रचना सिलोनी भिक्षुओं द्वारा हुई है। इन ग्रन्थों के रचयिता के सम्बन्ध में राइस डेविड्स ने लिखा है : "ईस्वी चतुर्थ शताब्दी में किसी ने इन पालि-गाथाओं का संग्रह किया, जो सिलोन के इतिहास के सम्बन्ध में थीं। एक पूर्ण वृत्तान्त बनाने के लिए इनमें और गाथाएँ जोड़ी गईं। इस प्रकार के निर्मित अपने काव्य का नाम कर्ता ने **दीपवंश** दिया। जिसका अर्थ है—'द्वीप का समय-ग्रन्थ।' इसके एकाध पीढ़ी पश्चात् महानाम ने अपने महान् ग्रन्थ **महावंश** को लिखा। वह कोई इतिहासकार नहीं था। उसके पास अपने दो पूर्वजों द्वारा प्रयुक्त सामग्री के अतिरिक्त केवल प्रचलित दन्त-कथाओं का ही आधार था।"[२]

सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् के ये विचार बौद्ध काल-गणना की अनधिकृतता को प्रकट करते हैं। वस्तुतः बौद्ध काल-गणना जैन तथा पौराणिक काल-गणना के साथ संगत नहीं होती।[3] उन दोनों की अपेक्षा यह बहुत दुर्बल रह जाती है।

दीपवंश-महावंश की असंगतियाँ :

सिलोनी ग्रन्थ **महावंश** व **दीपवंश** में दी गई काल-गणना में कुछ भूलें तो बहुत ही आश्चर्यकारक हैं। समझ में नहीं आता, इतिहासकारों द्वारा इनकी अधिकृतता को मान्यता किस प्रकार मिल गई! उदाहरणार्थ—पौराणिक और जैन काल-गणनाओं में जहाँ नव नन्द राजाओं का काल क्रमशः १०० वर्ष[४] तथा १५० वर्ष[५] माना गया है, वहाँ

१. Modern European writers have inclined to disparage unduly the authority of the Puranic lists, but closer study finds in them much genuine and valuable historical tradition.

—*Early History of India*, p. 12.

२. In the fourth century of our era, some one collected such of these Pāli verses, as referred to the history of Ceylon, piecing them together by other verses to make a consecutive narrative. He called his poem, thus constructed, the *Dipavamsa*,—the Island Chronicle. "A generation afterwards Mahānāma wrote his great work, the *Mahavamsa*. He was no historian, and has, besides the material used by his two predecessors, only popular legends to work on.

—*Buddhist India*, pp. 277-78.

३. It is to be noted that the Buddhist tradition runs counter to the Brahminical and Jain traditions.

—Dr. Radha Kumud Mukherjee, *Chandragupta Maurya and His Times*, p. 20.

४. मत्स्य पुराण, अ० २७२, श्लो० २२; वायु पुराण, अ० ९९, श्लो० ३३० ।

५. तित्थोगाली पइन्नय, ६२१-६२३; विचारश्रेणी, जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २, अंक ३-४, पृ० ४।

महावंश की बौद्ध काल-गणना केवल २२ वर्ष मानती है[1] तथा **दीपवंश** में तो नन्दों का उल्लेख तक नहीं है।[2] सिलोनी काल-गणना की अन्य असंगति यह है कि पौराणिक काल-गणना में जहाँ शिशुनाग, काकवर्ण (कालाशोक)[3] आदि राजाओं के नाम अजातशत्रु के पूर्वजों में गिनाये गये हैं, वहाँ **दीपवंश-महावंश** में ये ही नाम अजातशत्रु के वंशजों में गिनाये गये हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक अक्षम्य भूल है।[4] इनके अतिरिक्त **महावंश** की कुछ-एक मान्यताएँ न केवल मूल त्रिपिटकों के साथ असंगत होती हैं, अपितु मूलभूत

---

१. महावंश, परि० ४, गाथा १०८, परि० ५, गा० १४-१७।

२. आधुनिक इतिहासकारों ने भी इसे भूल माना है। डॉ० स्मिथ ने नन्द-वंश का राज्य-काल ८८ वर्ष माना है (*Early History of India*, p. 57) ; डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी ने बौद्ध काल-गणना के २२ वर्षों को अयथार्थ सिद्ध किया है (हिन्दू सभ्यता, पृ० २६७)।

३. महावंश के अनुसार कालाशोक के समय में दूसरी बौद्ध संगीति हुई थी, किन्तु कालाशोक तथा उसके समय में हुई दूसरी संगीति के विषय में इतिहासकार पूर्णरूप से संदिग्ध हैं। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने लिखा है : "The tradition says that the council was held in the time of Aśoka or Kalāśoka, the son of Siśunāga, but history does not know of any such king." (*Age of Nandas and Mauryas*, p. 30).

४. इतिहासकारों द्वारा अयथार्थ बौद्ध काल-गणना को मान्यता मिलने का एक सम्भव कारण यह लगता है कि पुराणों में आये निम्न श्लोक की व्याख्या अशुद्ध रूप से की गई है :

अष्टत्रिंशच्छतं भाव्याः प्राद्योताः पञ्च ते सुताः।
हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनागो भविष्यति॥

—वायु पुराण, अ० ६६ श्लो० ३१४।

इस श्लोक के आधार पर यह माना जाता है कि शिशुनाग और काक-वर्ण अन्तिम प्राद्योत राजा (नन्दीवर्धन) के पश्चात् हुए ; अतः ये प्राग्-बुद्धकालीन न होकर पश्चात्-बुद्धकालीन थे ; परन्तु पुराणों के पूर्वापर श्लोकों के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त मान्यता यथार्थ नहीं है। पुराणों में निम्न क्रम से कलियुग के राजवंशों का ब्यौरा प्राप्त होता है :

(१) पौरववंश—अभिमन्यु (जो महाभारत में लड़े थे) से क्षेमक तक ; क्षेमक बुद्ध के समकालीन उदायन के बाद चतुर्थ राजा था। इस वंश की राजधानी पहले हस्तिनापुर थी और बाद में कौशाम्बी। अधिसीमकृष्ण के वंशज राजा नृचक्षु के समय में राजधानी का परिवर्तन हुआ।

(२) ऐक्ष्वाकु वंश—बृहद्बल (महाभारत के योद्धा) से सुमित्र तक ; सुमित्र बुद्ध के समकालीन राजा प्रसेनजित् के बाद चतुर्थ राजा था। इस वंश की राजधानी कोशल में श्रावस्ती थी।

(३) पौरवचन्द्र वंश (राजा बृहद्रथ के वंशज)—सहदेव (महाभारत के योद्धा) से रिपुंजय तक ; रिपुंजय बुद्ध के समकालीन चण्ड-प्रद्योत का पूर्ववर्ती राजा था।

बृहद्रथ के वंशजों (बार्हद्रथों) को सम्भवतया इसलिए 'मागध' कहा जाता है कि बृहद्रथ, जरासन्ध आदि मगध के राजा थे तथा सहदेव के पुत्र सोमाधि ने महाभारत-युद्ध के पश्चात् मगध में गिरिव्रज में राजधानी की स्थापना की थी। सहदेव से रिपंजय तक २२ राजाओं की काल-गणना देने के पश्चात् पुराणों में बताया गया है :

पूर्णं वर्षसहस्रं वै तेषां राज्यं भविष्यति ॥
बृहद्रथेष्वतीतेषु वीतिहोत्रेष्ववन्तिषु ।
पुलिकः स्वामिनं हत्वा स्वपुत्रमभिषेक्ष्यति ॥

—वायु पुराण, अ० ९९, श्लो० ३०९-३१० ;
मत्स्यपुराण, अ० २७१, श्लो० ३० ; अ० २७२, श्लो० १।

ये श्लोक बताते हैं कि अवन्ती में वीतिहोत्र और बृहद्रथों का राज्य व्यतीत हो जाने पर अन्तिम राजा रिपुंजय को मार कर उसके मंत्री पुलिक ने अपने पुत्र प्रद्योत को अभिषिक्त किया। यह सुविदित है कि प्रद्योत का राज्य अवन्ती में था और वह महावीर व बुद्ध का समकालीन था। इससे स्पष्ट होता है कि बार्हद्रथ राजाओं ने सोमाधि के समय में मगध में राज्य स्थापित किया था, किन्तु बाद में वे अवन्ती चले गये थे। वहाँ अन्तिम राजा रिपुंजय की हत्या के पश्चात् प्राद्योतों का राज्य प्रारम्भ हुआ।

(४) प्राद्योत वंश—प्राद्योत से अवन्ती-वर्धन (नन्दीवर्धन या वर्तीवर्धन) तक ; इस वंश का राज्य अवन्ती में था।

(५) शिशुनाग वंश—शिशुनाग से महानन्दी तक इस वंश का राज्य मगध में था। पुराणों के अनुसार राजा शिशुनाग ने शिशुनाग-वंश की स्थापना की थी। शिशुनाग ने काशी का राज्य जीत लिया और अपने पुत्र काकवर्ण को काशी का राजा बनाकर स्वयं मगध का राज्य करने लगा। उसने गिरिव्रज में अपनी राजधानी रखी।

हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनागो भविष्यति ।
वाराणस्यां सुतं स्थाप्य श्रयिष्यति गिरिव्रजम् ॥

—वायु पुराण, अ० ९९, श्लो० ३१४-५ ; मत्स्य पुराण, अ० २७२, श्लो० ६।

डॉ० त्रिभुवनदास लहरचन्द शाह के अनुसार २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन के बाद शिशुनाग ने काशी में राज्य स्थापित किया था (प्राचीन भारतवर्ष, खण्ड १)। डॉ० शाह ने पौराणिक, जैन और बौद्ध काल-गणनाओं के संयुक्त अध्ययन के आधार पर एक सुसंगत काल-क्रम का निर्माण किया है (जिसकी विस्तृत चर्चा 'काल-गणना पर पुनर्विचार' में की जायेगी)। इस काल-क्रम के अनुसार शिशुनाग के पश्चात् क्रमशः काकवर्ण, क्षेमवर्धन, क्षेमजित्, प्रसेनजित्, बिम्बिसार और अजातशत्रु राजा हुए।

अब यदि उक्त पाँच वंशों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि ये वंश क्रमशः उत्तरवर्ती नहीं हैं, अपितु प्रायः समसामयिक हैं। प्रथम वंश का उदायन,

द्वितीय वंश का प्रसेनजित्, चतुर्थ वंश का प्रद्योत व पंचम वंश का अजातशत्रु (और बिम्बिसार) वत्स, कोशल, अवन्ती और मगध के समसामयिक राजा थे ; यह असंदिग्धतया कहा जा सकता है (cf. Rapson, *Cambridge History of India*, p. 277)। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार द्वितीय वंश प्रथम वंश का उत्तरवर्ती नहीं है ; उसी प्रकार पंचम वंश चतुर्थ वंश का उत्तरवर्ती नहीं है। तात्पर्य यह हुआ कि "हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं शिशुनागो भविष्यति" में 'तेषां' अवन्ती के प्राद्योतों का वाचक नहीं है। यह भी निश्चित है कि चतुर्थ वंश तृतीय वंश का समसामयिक नहीं, अपितु उत्तरवर्ती है जैसा कि स्पष्टतया बताया गया है। प्रश्न केवल यह रहता है कि बार्हद्रथों का राज्य मगध में था, जब कि प्राद्योतों का अवन्ती में स्थापित हुआ ; यह कैसे सम्भव हो सकता है ? इसका उत्तर भी सम्भवतः यही है कि यद्यपि बार्हद्रथों का राज्य प्रारम्भ में मगध में स्थापित हुआ था, फिर भी जब शिशुनाग ने मगध में शैशुनागों का राज्य स्थापित किया, तब बार्हद्रथों ने मगध से हटकर अवन्ती में अपना राज्य स्थापित किया। इस प्रकार उत्तरवर्ती बार्हद्रथ राजा और पूर्ववर्ती शैशुनाग क्रमशः अवन्ती और मगध के समसामयिक राजा थे तथा 'हत्वा तेषां यशः कृत्स्नं' में 'तेषां' का तात्पर्य 'बार्हद्रथों' से है।

पौराणिक श्लोकों की यह व्याख्या पौराणिक कालगणना के साथ भी पूर्णतः संगत हो जाती है। पुराणों के अनुसार बृहद्रथ-वंश के २२ राजाओं ने १००० वर्ष तक राज्य किया, जिनके नाम और राज्य-काल इस प्रकार हैं :

१. सोमाधि	५८ वर्ष
२. श्रुतश्रव	३७ ,,
३. अयुतायुस्	३६ ,,
४. निरामित्र	४० ,,
५. सुक्षत्र	५६ ,,
६. बृहत्कर्मा	२३ ,,
७. सेनजित्	५० ,,
८. श्रुतञ्जय	४० ,,
९. विभु (प्रभु)	२८ ,,
१०. शुची	५८ ,,
११. क्षेम	२८ ,,
१२. भुव्रत	६४ ,,
१३. सुनेत्र (धर्मनेत्र)	२५ ,,
१४. निर्वृत्ति	५८ ,,
१५. सुव्रत (त्रिनेत्र)	३८ ,,
१६. दृढसेन	४८ ,,
१७. महीनेत्र	३३ ,,

१८. सुचल	३२ वर्ष
१९. सुनेत्र	४० ,,
२०. सत्यजित्	८३ ,,
२१. विश्वजित्	३५ ,,
२२. रिपुञ्जय	५० ,,
	समग्र १००० वर्ष

(द्रष्टव्य, वायु पुराण, अ० ९९, श्लो० २९४-३०९ ; मत्स्य पुराण, अ० २७१, श्लो० १७-३० ; F. E. Pargiter, *The Purāna Text of the Dynasties of the Kali Age*, pp. 13-17, 67-68).

इस प्रकार २२ राजाओं का राज्य-काल १००० वर्ष होता है। गाणितिक अनुपात की गणना में प्रत्येक राजा का राज्य-काल ४५-४५ वर्ष से कुछ अधिक होता है। इस गणना से अन्तिम ६ राजाओं का काल ४५×६=२७० वर्ष से अधिक होता है। अन्तिम ६ राजाओं के वास्तविक राज्य-कालों का योग भी २७३ वर्ष होता है।

दूसरे प्रमाणों के आधार पर यह पाया जाता है कि प्रद्योत का राज्याभिषेक ई० पू० ५४९ में हुआ था (द्रष्टव्य, 'निष्कर्ष की पुष्टि')। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अवन्ती में बार्हद्रथ राजा रिपुंजय का राज्यान्त ई० पू० ५४९ में हुआ। हमारी गणना के अनुसार ई० पू० ५४४ में अजातशत्रु का राज्य प्रारम्भ होता है। डॉ० टी० एल० शाह ने पुराणों के आधार पर शिशुनाग वंश के राजाओं का राज्य-काल इस प्रकार माना है :

१. शिशुनाग	६० वर्ष
२. काकवर्ण	३६ ,,
३. क्षेमवर्धन	५० ,,
४. क्षेमजित्	३६ ,,
५. प्रसेनजित्	४३ ,,
६. बिम्बिसार	३८ ,,

अब यदि इस काल-क्रम के साथ बार्हद्रथ वंश के अन्तिम ६ राजाओं के कालक्रम की तुलना की जाती है, तो इन दोनों वंशों की समसामयिकता पूर्णतः सिद्ध हो जाती है :

बार्हद्रथ राजा	समय (ई० पू०)	शैशुनाग राजा	समय (ई० पू०)
१. महीनेत्र	८२३-७८९	शिशुनाग	८०७-७४७
२. सुचल	७८९-७५७	काकवर्ण	७४७-७११
३. सुनेत्र	७५७-७१७	क्षेमवर्धन	७११-६६१
४. सत्यजित्	७१७-६३४	क्षेमजित्	६६१-६२५
५. विश्वजित्	६३४-५९९	प्रसेनजित्	६२५-५८२
६. रिपुंजय	५९९-५४९	बिम्बिसार	५८२-५४४

मगध में बिम्बिसार के पश्चात् सातवाँ राजा अजातशत्रु हुआ और अवन्ती में रिपुंजय के पश्चात् प्रद्योत हुआ, जिनकी समसामयिकता निर्विवादतया सिद्ध हो चुकी है। इनसे आगे के राजवंशों की चर्चा 'काल-गणना पर पुनर्विचार' में की गई है। इस प्रकार पुराणों के आधार पर प्राग्-बुद्ध राजाओं की काल-गणना पूर्णतया संगत हो जाती है तथा सिलोनी ग्रन्थों की काल-गणना की असंगतता प्रमाणित हो जाती है।

ऐतिहासिक तथ्यों के साथ भी संगति नहीं पातीं। "अजातशत्रु के राज्यकाल के आठवें वर्ष में बुद्ध का निर्वाण हुआ"[1], "अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध-निर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात् हुआ"[2]—आदि मान्यताएँ इनमें प्रमुख हैं।

१. द्रष्टव्य—महावीर और बुद्ध की समसामयिकता, सम्पादकीय।

२. हुल्ट्स ने इस विषय में सन्देह प्रकट किया है। देखें, *Inscriptions of Asoka*, p. XXXIII. इस विषय में टी० डब्लू० राइस डेविड्स का निम्न मन्तव्य भी द्रष्टव्य है :

According to the Rāja-Paramparā, or line of Kings, in the Ceylon chronicles, the date of the great decease would be 543 B. C., which is arrived at by adding to the date 161 B. C. (from which the reliable portion of the history begins) two periods of 146 and 236 years. The first purports to give the time which elapsed between 161 B. C. and the great Buddhist church council held under Asoka, and in the eighteenth year of his reign at Patna ; and the second to give the interval between that Council and the Buddha's death.

It would result from the first calculation that the date of Asoka's coronation would be 325 B. C. (146+161+18). But we know that this must contain a blunder or blunders, as the date of Asoka's coronation can be fixed, as above stated, with absolute certainty, within year or two either way of 267 B. C.

Would it then be sound criticism to accept the other, earlier, period of 236 years found in those chronicles—a period which we cannot test by Greek chronology—and by simply adding the Ceylon calculation of 236 years to the European date for the eighteenth year of Asoka (that in circa 249 B. C.) to conclude that the Buddha died in or about 485 B. C. ?

I cannot think so. The further we go back the greater does the probability of error become, not less. The most superficial examination of the details of this earlier period shows too that they are unreliable ; and what reliance would it be wise to place upon the total, apart from the details, when we find it mentioned for the first time in a work *Dipavamsa*, written eight centuries after the date it is proposed to fix ?

If further proof were needed, we have it in the fact that the *Dipavamsa* actually contains the details of another calculation not based on the lists of kings (Rāja-Paramparā), but on a list of Theras (Therā-Paramparā) stretching back from Asoka's time to the time of the great Teacher—which contradicts this calculation of 236 years.

—*S. B. E.*, vol. XI, Introduction to *Maha-Parinirvāna Sutta*, p. XLVI.

विशेष ध्यान देने की बात तो यह है कि अनेक इतिहासकारों ने इन सिलोनी ग्रन्थों की प्रामाणिकता के विषय में बहुत समय पहले ही संदिग्धता व्यक्त कर दी थी। डॉ० वी०ए० स्मिथ ईस्वी सन् १६०७ में ही लिख चुके : "इन सिंहली-कथाओं की, जिनका मूल्य आवश्यकता से अधिक आँका जाता है, सावधानी पूर्वक समीक्षा की आवश्यकता है···।"[१] डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने डॉ० स्मिथ की इस चेतावनी को मान्यता दी है और माना है कि **महावंश** की कथाओं को ऐतिहासिक धारणाओं का आधार नहीं बनाया जा सकता।[२] डॉ० शान्तिलाल शाह ने बौद्ध काल-गणना में जो असंगतता है, उसे "जानबूझ कर किया गया गोलमाल" माना है।[3] डॉ० शाह लिखते हैं : "बौद्ध परम्परा (सिलोनी परम्परा) की यह विचित्रता है कि उसमें मुख्यतया बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय का इतिहास दिया गया है और बाद में सिलोन में हुए इसके विकास का इतिहास दिया गया है ; क्योंकि बौद्ध धर्म का उद्गम भारत में हुआ था, फिर भी उसका विकास सिलोन में हुआ। इस भौगोलिक मर्यादा के, जो कि सिलोन के इतिहास के संरक्षण में एक प्रमुख निमित्त है, फलस्वरूप इस परम्परा में भारत की अपेक्षा सिलोन के बारे में अधिक पूर्ण ब्यौरा मिलता है। जो व्यक्ति **दीपवंश और महावंश** की योजना व विषय से परिचित है, वह इस बात से कदाचित् ही अनभिज्ञ रहेगा कि इन दोनों ग्रन्थों में मिलने वाला उत्तर भारतीय राजाओं का ब्यौरा केवल प्रासंगिक है और अल्प महत्त्व रखता है। यह निष्कर्ष **दीपवंश** और **महावंश** की विचित्र रचना[६] से पूर्णतया पुष्ट हो जाता है।"[५]

---

१. These Sinhalese stories, the value of which has been sometimes over-estimated, demand cautious criticism............

—*Early History of India*, p. 9.

२. *Political History of Ancient India*, p. 6.

३. *Chronological Problems*, p. 41.

४. महावंश का विषयानुक्रम इस प्रकार है :

१. तथागत का लंका आगमन
२. महासम्मत का वंश
३. प्रथम संगीति
४. द्वितीय संगीति
५. तृतीय संगीति
६. विजय का आगमन
७. विजय का राज्याभिषेक
८. पांडु वासुदेव का राज्याभिषेक
९. अभय का राज्याभिषेक

(द्रष्टव्य, महावंश अनु० गाइगर, पृ० ८)

५. The pecularity of the Buddhist tradition (the Ceylonese tradition) is that it confines itself firstly to the history of the Hinayana Buddhism

इस प्रकार की अनेक असंगतियों के होते हुए भी बुद्ध-निर्वाण-काल का निश्चय करने के लिए किये गये अब तक के प्रयत्नों में सिलोनी काल-गणना को प्रधानता दी गई है। यही कारण है कि बुद्ध के तिथि-क्रम और वास्तविक जीवन-प्रसंगों के बीच असंगति पाई जाती है।

काल-गणना पर पुनर्विचार

जैन काल-गणना तथा सर्वमान्य ऐतिहासिक तिथियों और तथ्यों के आधार पर शिशुनाग-वंश के संस्थापक शिशुनाग से लेकर अवन्ती में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यारोहण तक का तिथि-क्रम अब हम निश्चित कर सकते हैं।[1] निम्न तिथियों का निश्चय हम कर चुके हैं :

अजातशत्रु का राज्यारोहण	ई० पू० ५४४
गोशालक की मृत्यु	ई० पू० ५४३
महावीर निर्वाण	ई० पू० ५२७
चन्द्रगुप्त मौर्य का मगध-राज्यारोहण	ई० पू० ३२२
चन्द्रगुप्त मौर्य का अवन्ती-राज्यारोहण	ई० पू० ३१२

जैन काल-गणना के अनुसार अवन्ती में महावीर-निर्वाण के पश्चात् ६० वर्ष पालक-वंश और १५५ वर्ष नन्द-वंश का राज्य रहा। तदनुसार अवन्ती की राज्य-काल-गणना इस प्रकार बनती है :

पालक-वंश	ई० पू० ५२७—ई० पू० ४६७
नन्द-वंश	ई० पू० ४६७—ई० पू० ३१२
चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण	ई० पू० ३१२

---

and secondly to the history of its development in Ceylon, since Buddhism although originating in India, had found its development in Ceylon. Because of this territorial limitation, which has been a great factor for the preservation of the history of Ceylon, the account of this tradition about Ceylon is much more perfect than that about India. One who is acquainted with the scheme and content of the *Dipavamśa* and *Mahāvamśa* will hardly fail to notice that the account of the North Indian kings in these two books is only occasional and of minor importance. This conclusion is absolutely borne out by the typical construction of the *Dipavamśa* and *Mahāvamśa.* —*Chronological Problems*, p. 19.

१. मुनि कल्याणविजयजी तथा डॉ० टी० एल शाह ने जैन, बौद्ध और पौराणिक काल-गणना के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर शिशुनाग-वंश और नन्द-वंश के राजाओं के राज्य-काल की गणना की है। विस्तार के लिए देखें, वीर-निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना, पृ० २५-६; प्राचीन भारतवर्ष, खण्ड १।

मगध की राज्य-काल-गणना के सम्बन्ध में हमें यह जानकारी मिलती है कि महावीर-निर्वाण के पश्चात् मगध में शिशुनाग-वंश का राज्य ५३ या ५४ वर्ष तक रहा[1] और उसके बाद नन्द-वंश का राज्य स्थापित हुआ। इस प्रकार मगध में शिशुनाग-वंश का अन्त और नन्द-वंश का प्रारम्भ ई० पू० ४७४-३ में होता है।[2] पुराणों के अनुसार शिशुनाग-वंश के १० राजाओं ने मगध में ३३३ वर्ष[3] तक राज्य किया। तदनुसार शिशुनाग

---

१. डॉ० टी० एल० शाह (पूर्व उद्धृत ग्रन्थ) के अनुसार महावीर-निर्वाण के पश्चात् मगध में शिशुनाग वंश के राजाओं का राज्य-काल इस प्रकार रहा :

अजातशत्रु (कोणिक)	३० वर्ष
उदायी	१६ "
अनुरुद्ध-मुण्ड	८ "
	कुल ५४ वर्ष

महावीर-निर्वाण-काल ई० पू० ५२७ है ; अतः मगध में शिशुनाग-वंश का अन्त ई० पू० ४७३ में होता है।

मुनि कल्याण विजयजी (पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २८) ने पुराणों के आधार पर अजातशत्रु व उदायी का राज्य-काल क्रमशः ३७ और ३३ वर्ष माना है। जैसा कि प्रमाणित किया जा चुका है, महावीर का निर्माण अजातशत्रु के राज्यारोहण के १७ वर्ष पश्चात् हुआ ; अतः इस गणना से भी मगध में शिशुनाग-वंश का अन्त महावीर-निर्वाण के ५३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पू० ४७४ में होता है।

२. नन्द-वंश का राज्य मगध में ई० पू० ४७४-३ में तथा अवन्ती में ई० पू० ४६७ में हुआ, इसकी पुष्टि ऐतिहासिक आधार पर भी होती है। यह एक सर्वमान्य ऐतिहासिक तथ्य है कि उस समय में मगध और अवन्ती के बीच काफी संघर्ष चल रहा था। इससे यह सम्भव लगता है कि प्रथम नन्द राजा ने मगध में अपना राज्य स्थापित करने के ६ या ७ वर्ष बाद अवन्ती का राज्य जीत लिया हो। यह तो सभी इतिहासकारों द्वारा निर्विवादतया माना जाता है कि नन्दों ने भारत में एकछत्र राज्य (एकराट्) स्थापित किया था।

द्रष्टव्य, Dr. H. C. Ray Choudhuri, *Political History of Ancient India*, p. 234 ; Nilakantha Shastri, *Age of Nandas and Mauryas*, pp. 11-20.

३. यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि यद्यपि पुराणों में शिशुनाग वंश का समग्र राज्य-काल ३६२ वर्ष बताया गया है, फिर भी भिन्न-भिन्न राजाओं का जो राज्य-काल वहाँ दिया गया है, उसका योगफल ३३३ वर्ष होता है। द्रष्टव्य, वायुपुराण, अ० ९९, श्लो० ३१५-२१ ; महामहोपाध्याय विश्वेसरनाथ रेउ—भारत के प्राचीन राजवंश, खण्ड २, पृष्ठ ५४।

वंश का राज्यारम्भ-काल ई० पू० ८०७ में आता में ।[1] इस प्रकार मगध में शिशुनाग वंश के १० राजाओं का राज्य-काल ई० पू० ८०७—४७४ है ।[2] इनमें से प्रथम पाँच राजाओं का समय ई० पू० ८०७–५८२ है ।[3] ई० पू० ५८२ में बिम्बिसार का राज्य प्रारम्भ होता है ।[4] बिम्बिसार के पश्चात् अजातशत्रु का राज्यारम्भ-काल निश्चित रूप से ई० पू० ५४४ है तथा यह भी निश्चित किया जा चुका है कि महावीर-निर्वाण के १७ वर्ष पूर्व अजातशत्रु के राज्य का प्रारम्भ हुआ तथा ३० वर्ष पश्चात् उसका अन्त हुआ । इस प्रकार अजातशत्रु का राज्य-काल ई० पू० ५४४—४६७ होता है । अजातशत्रुके पश्चात् उसका पुत्र उदायी मगध का राजा हुआ ।[5] उदायी ने १६ वर्ष राज्य किया; अतः उदायी का राज्य-काल ई० पू० ४६७—४८१

---

१. जैसा कि हम देख चुके हैं, शिशुनाग को भगवान् पार्श्वनाथ का समकालीन माना जाता है । पार्श्वनाथ का निर्माण महावीर-निर्माण से २५० वर्ष पूर्व हुआ था और उसकी समग्र आयु १०० वर्ष थी ; अतः पार्श्वनाथ का समय ई० पू० ८७७—ई० पू० ७७७ है (द्रष्टव्य, *political History of Ancient India*, p. 97) । शिशुनाग का काल हमारी गणना के अनुसार ई० पू० ८०७- ७४७ आता है । इस प्रकार शिशुनाग और भगवान् पार्श्वनाथ की समकालीनता पुष्ट हो जाती है ।

२. हम देख चुके हैं कि डॉ० टी० एल० शाह के अनुसार शिशुनाग के बाद क्रमशः काकवर्ण, क्षेमवर्धन, क्षेमजित् और प्रसेनजित राजा हुए । प्रसेनजित् का उल्लेख पुराणों में नहीं मिलता किन्तु जैन परम्परा में प्रसेनजित् को बिम्बिसार का पिता माना गया है । यह भी बताया जाता है कि प्रसेनजित् ने मगध की राजधानी कुस्थाल से हटाकर गिरिव्रज में बनाई (प्राचीन भारतवर्ष, खण्ड १) । प्रसेनजित् का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान (पृ० ३६६ में शिशुनाग व काकवर्ण के वंशजों में आया है । देखें, *Political History of Ancient India*, p. 222.

३. डॉ० टी० एल० शाह ने पहले पाँच राजाओं का काल २२५ वर्ष तथा अन्तिम पाँच राजाओं का काल १०८ वर्ष माना है ; अतः बिम्बिसार का राज्यारम्भ ई० पू० ५८२ तथा शिशुनाग वंश का अन्त ई० पू० ४७४ में आता है ।

४. डॉ० वी० ए० स्मिथ ने भी बिम्बसार का राज्यारोहण-काल ई० पू० ५८२ माना है; देखें, *Oxford History of India*, p. 45.

५. जैन-काल-गणना अजातशत्रु के बाद उदायी को राजा मानती है । पुराणों के अनुसार अजातशत्रु के बाद क्रमशः दर्शक, उदायी, नन्दीवर्धन और महानन्दी राजा हुए । बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उदायीभद्र, अनिरुद्ध व मुण्ड राजा हुए । वस्तुतः नन्दीवर्धन और महानन्दी नन्दवंश के राजा थे (देखें, आगे की टिप्पण) । दर्शक का उल्लेख पुराणों के अतिरिक्त स्वप्नवासवदत्ता जैसे प्रसिद्ध संस्कृत नाटक में राजगृह के राजा के रूप में हुआ है । मुनि कल्याण विजयजी ने (पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० २२-३) प्रमाणित किया है कि दर्शक मगध की मुख्य

होता है। तत्पश्चात् अनिरुद्ध-मुण्ड के ८ वर्ष के राज्य-काल के बाद ई० पू० ४७३ में मगध में शिशुनाग-वंश का अन्त हुआ। शिशुनाग-वंश के बाद नन्द-वंश का राज्य प्रारम्भ हुआ। नन्द-वंश का प्रथम राजा नन्दीवर्धन था।[1] मगध में ई० पू० ४७३ में राज्य स्थापित करने के पश्चात् नन्दीवर्धन ने ई० पू० ४६७ में अवन्ती पर विजय प्राप्त की। वहाँ पालक-

---

गद्दी चम्पा या पाटलीपुत्र का राजा न होकर राजगृह-शाखा का राजा था। बिम्बिसार के पश्चात् अजातशत्रु ने मगध की मुख्य राजधानी चम्पा में बनाई ; ऐसा स्पष्ट उल्लेख जैन आगमों में मिलता है तथा जैन एवं बौद्ध काल-गणना अजातशत्रु के बाद उदायी का ही उल्लेख करती है। इससे यही अनुमान लगता है कि दर्शक मगध की मुख्य गद्दी का अधिकारी नहीं था। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि दर्शक बिम्बिसार के अनेक पुत्रों और प्रपुत्रों में से कोई एक हो सकता है। जैसे डॉ० सीतानाथ प्रधान ने माना है—"दर्शक बिम्बिसार के अनेक पुत्रों में से एक हो सकता है, जो बिम्बिसार के जीवन में ही राज-कार्य की देखभाल करने लगा हो।" (*Chronology of Ancient India*, p. 212) ; तथा द्रष्टव्य, *Political History of Ancient, India*, by H. C. Ray Chaudhuri, p. 130 ; *Mahāvamsa* tr. by Geiger, Introduction.)। डॉ० सीतानाथ प्रधान ने यह भी लिखा है—"विष्णु पुराण का वह वंशानुक्रम, जिसमें अजातशत्रु और उदयाश्व के बीच दर्शक का उल्लेख है, अस्वीकार्य है।" (*Chronology of Ancient India*, p. 217) अतः मगध में शिशुनाग वंश की राज्य-काल-गणना में दर्शक को गिनना आवश्यक नहीं है।

१. बौद्ध-काल-गणना के अनुसार अनिरुद्ध-मुण्ड के पश्चात् नागदशक और शुशुनाग ने क्रमशः २४ व १८ वर्ष राज्य किया (महावंश परिच्छेद ४, गाथा ४-६)। पुराणों में दर्शक और नन्दीवर्धन का काल क्रमशः २४ और ४२ (अथवा ४०) वर्ष बताया गया है (वायु-पुराण, अ० ९९, श्लो० ३२०; मत्स्यपुराण, अ० २७१, श्लो० १०)। लगता है, पुराणों का दर्शक और बौद्धों का नागदशक एक ही व्यक्ति है, जैसे कुछ इतिहासकारों ने माना है (डा० राधाकुमुद मुखर्जी—हिन्दू सभ्यता पृ० २६५; E.J. Rapson, *Cambridge History of India*, p. 279)। यह भी सम्भव है कि दर्शक या नागदशक ने राजगृह की शाखा - गद्दी पर २४ वर्ष राज्य किया और उसी के समकाल में मगध की मुख्य गद्दी (पाटलीपुत्र) में उदायी (१६ वर्ष) व अनिरुद्ध-मुण्ड (८ वर्ष) ने राज्य किया। मुण्ड के पश्चात् दर्शक या नागदशक ने मगध की मुख्य गद्दी पर कब्जा कर लिया और नन्दीवर्धन नाम रख कर नन्द-वंश की स्थापना की तथा १८ वर्ष राज्य किया (डॉ० टी० एल० शाह—प्राचीन भारतवर्ष)। पुराणों में जो नन्दीवर्धन का राज्य-काल ४२ वर्ष बताया गया है, वह राजगृह के २४ वर्ष और पाटलिपुत्र के १८ वर्ष को मिलाकर हो सकता है। बौद्ध-गणना में अनिरुद्ध-मुण्ड के पश्चात् जो शुशुनाग का उल्लेख है, वह भी नन्दीवर्धन के लिए ही हो सकता है ; क्योंकि शिशुनाग वंश का होने से उसे शैशुनाग या शुशुनाग भी कहा जा सकता है।

वंश या प्राद्योतों[1] का अन्त किया तथा नन्द-वंश का राज्य स्थापित किया। यह प्रतीत होता है कि अवन्ती-विजय के पश्चात् नन्दीवर्धन ने कलिंग पर आक्रमण किया और वहाँ

---

१. पुराणों के अनुसार पुलक (अथवा सुनक) नामक मंत्री ने अपने राजा रिपुञ्जय का वध कर अपने पुत्र प्रद्योत को अवन्ती की गद्दी पर बैठाया (वायु-पुराण, अ० ९९, श्लो० ३०९-३१४, मत्स्य-पुराण, अ० २७१, श्लो० १-४)। हम देख चुके हैं कि बार्हद्रथों के पश्चात् अवन्ती में प्राद्योतों का राज्य प्रारम्भ हुआ। प्राद्योतों के पाँच राजा इस प्रकार हुए :

१. प्रद्योत (महासेन अथवा चण्डप्रद्योत)
२. पालक
३. विशाखयूप
४. अजक (या गोपालक)
५. अवन्तीवर्धन (अथवा वर्तीवर्धन)

जैन काल-गणना के अनुसार पालक का राज्याभिषेक उसी दिन हुआ, जिस दिन महावीर का निर्वाण हुआ तथा उसके वंश का राज्य-काल ६० वर्ष तक रहा। पौराणिक काल-गणना में पालक का राज्य-काल २० वर्ष माना गया है (द्रष्टव्य, *The Purāna Text of the Dynesties of the Kali Age*. p. 19, foot-note 26)। यद्यपि पुराणों की कुछ प्रतियों में २४ वर्ष का उल्लेख है, फिर भी विद्वानों ने २० वर्ष को ही सही माना है (द्रष्टव्य, Dr. Shanti Lal Shah, *Chronological problems*, p. 26)। तीसरे प्रद्योत राजा विशाखयूप का राज्य-काल पुराणों में ५३ (अथवा ८५) वर्ष बताया गया है, किन्तु मृच्छकटिक जैसी साहित्यिक कृतियों के आधार पर विद्वानों ने प्रमाणित किया है कि पालक का उत्तराधिकारी अजक या गोपालक था ; अतः विशाखयूप को पालक-वंश में नहीं गिनना चाहिए। जैसे—डॉ० शान्तिलाल शाह ने लिखा है : "What about Viśākhayūpa who occurs in the *Purāna* in between Pālaka and Aryak ? According to the family history of Pradyotā, which we have seen just now, there is no place for Viśākhayūpa in between Pālaka and Ajaka as reported"—*Chronological Problems*, p. 27। मजूमदार शास्त्री ने लिखा है : "Viśākhayūpa has been introduced between Pālaka and Ajaka, but as that name does not occur in all Mss. we ought to take no notice of him."—*Journal of Bihar and Orissa Research Society*, vol, VII, p. 116.)। डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है : "पुराणों में पालक और अजक के बीच विशाखयूप का नाम रखा गया है, यह सम्भवतया भूल है" (प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ७२)। इस प्रकार २० वर्ष के पालक के राज्य-काल के बाद अजक राजा हुआ। पुराणों में अजक का राज्य-काल २१ वर्ष बताया गया है। तत्पश्चात् अवन्तीवर्धन या वर्तीवर्धन ने २० वर्ष राज्य किया। इस प्रकार पालक, अजक और अवन्तीवर्धन ने ६१ वर्ष राज्य किया और उसके बाद प्राद्योतों का अन्त हुआ। इस प्रकार जैन एवं पौराणिक दोनों ही काल-गणनाएँ पालक-वंश का राज्य ६० या ६१ वर्ष मानती हैं (तुलना कीजिए, *Chronological Problems*, pp. 25-27)।

से एक जैन-मूर्ति को उठाकर मगध में ले आया। हाथीगुम्फा शिलालेख के आधार पर इस घटना का समय ई० पू० ४६६ प्रमाणित होता है।[1]

---

१. कलिंग के राजा खारवेल के हाथीगुम्फा शिलालेख में दो बार नन्द राजा का उल्लेख हुआ है (द्रष्टव्य, E. J. Rapson, *Cambridge History of India,* vol. I, p, 280)। इस शिलालेख की छट्ठी पंक्ति में लिखा गया है : "पंचमे चेदानि वसे नन्द राजा ति-वस-सत ओगाहितं—तंसुलिय-वात पनदि (म्) नगर पवेस (यति)......"—"और (अपने राज्य-काल के) पाँचवें वर्ष में वह (खारवेल) ३०० वर्ष पूर्व नन्द राजा द्वारा खोदी गई नहर तोसली या तंसुलिय को राजधानी में लाता है (अथवा नहर के द्वारा नगर-विशेष में प्रवेश करता है अथवा नहर से सम्बन्धित किसी सार्वजनिक कार्य को करता है)।" कुछ विद्वान् 'ति-वस-सत' का अनुवाद '(नन्द राजा के) १०३ वें वर्ष में ' करते हैं, पर डॉ० के० पी० जायसवाल, डॉ० आर० डी० बनर्जी आदि विद्वानों ने इसका अर्थ "३०० वर्ष" ही किया है (द्रष्टव्य, *Journal of Bihar and Orissa Research Society,* Dec. 1917, pp. 425 ff.)। डॉ० शान्तिलाल शाह ने लिखा है : "ति-वस-सत का अर्थ निश्चित रूप से ३०० वर्ष है, १०३ वर्ष नहीं (देखें, डॉ० बनर्जी का लेख, *J. B. O. R. S.*, vol. III, p. 496 ff.)। मैं इसके साथ यह जोड़ना चाहता हूँ कि 'वर्ष' शब्द का प्रयोग समास में हुआ है, इसलिए 'सत' शब्द एक वचन में प्रयुक्त हुआ है, न कि बहु वचन में।" (*Chronological Problems, p. 42 f.n.*)

इस शिलालेख से यह स्पष्ट होता है कि उक्त नन्द राजा खारवेल के राज्य-काल के ५ वें वर्ष से ३०० वर्ष पूर्व हुआ था। डॉ० जायसवाल ने यह भी प्रमाणित किया है कि यह नन्द राजा नन्दीवर्धन ही था (op. cit., vol. XIII, p. 240)। उक्त शिलालेख की सोलहवीं पंक्ति में यह भी बताया गया है कि खारवेल के राज्य-काल का तेरहवाँ वर्ष मौर्य संवत् के १६५-वें वर्ष में पड़ता है। शिलालेख की पंक्ति इस प्रकार है :

"पाणंतरिय सठिवसतत राजा मुरियकाले वोच्छिनं च चोयठिअग सतक तुरियं उपादयति"—"उसने (खारवेल ने) राजा मुरिय-काल का १६४वाँ वर्ष जब समाप्त ही हुआ था (वोच्छिनं) १६५वें वर्ष में (अगली पंक्तियों में उल्लिखित चीजों को) करवाया।" इस पंक्ति के अर्थ के विषय में भी सभी विद्वान् एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वान् इसमें किसी तारीख का उल्लेख हुआ है, ऐसा नहीं मानते, जबकि कुछ विद्वानों ने इसका खण्डन किया है (द्रष्टव्य, *Chronological Problems*, pp. 47-8)। सुप्रसिद्ध इतिहासकार ई० जे० रेपसन ने इस विषय में यह टिप्पणी की है "क्या इस शिलालेख में तारीख का उल्लेख है ? यह मूलभूत प्रश्न भी अब तक विवादास्पद है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि सोलहवीं पंक्ति से यही तात्पर्य निकलता है कि यह शिलालेख मौर्य राजाओं के (अथवा राजा के) १६५ वें वर्ष में लिखा गया। जब कि अन्य कुछ विद्वान् ऐसी कोई तारीख का उल्लेख हुआ है, ऐसा नहीं मानते। यद्यपि इस प्रकार की समस्याओं पर विचार-विमर्श करना प्रस्तुत ग्रन्थ के क्षेत्र से बाहर की बात है, फिर भी यह बताया जा सकता है कि किसी भी रूप में यह शिलालेख

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के लगभग मध्य का है । हमें समान उदाहरणों से ज्ञात होता है कि राजवंशों के संवत् का प्रारम्भ प्रायः वंश-स्थापक के आदिकाल से माना जाता है। इसलिए मौर्य संवत् का प्रारम्भ चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्याभिषेक-काल ई० पू० ३२१ से माना जा सकता है तथा इसी संवत् का प्रयोग इस शिलालेख में हुआ हो, तो इस शिलालेख का समय ई० पू० १५६ होना चाहिए और खारवेल के राज्यारम्भ का समय ई० पू० १६६ के लगभग होना चाहिए। इस आनुमानिक काल-निर्णय के साथ इस तारीख से सम्बन्धित अन्य तथ्य भी संगत होते हैं।

"पुरातत्त्वीय दृष्टि से चिन्तन करने पर खारवेल के हाथीगुम्फा के शिलालेख व जांगनिक के नानाघाट के शिलालेख का समय वही आता है, जो कृष्ण के नासिक शिलालेख का है (Buhler, *Archaeological Survey of Western India*, vol. V, p. 71, *Indiche Palaeographie*, p. 39) । इसलिए यदि ऐसा माना भी जाये कि खारवेल के शिलालेख में तारीख का कोई उल्लेख नहीं है तो भी यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि खारवेल ई० पू० द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए शातकर्णी का समकालीन था। इतना ही नहीं, हाथी गुम्फा शिलालेख में ही शातकर्णी का उल्लेख खारवेल के प्रतिस्पर्धी के रूप में हुआ है तथा यह पूर्णतः सम्भव लगता है कि वह नानाघाट शिलालेख में उल्लिखित शातकर्णी से अभिन्न था।" (*Cambridge History of India*, vol. I, pp. 281-2.)

इस प्रकार मौर्य सम्वत् का प्रारम्भ ई० पू० ३२२ में (चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक-काल) मानने पर खारवेल का राज्याभिषेक-काल ई० पू० १७० में आता है और इसके राज्य-काल का पाँचवाँ वर्ष ई० पू० १६६ में आता है। इससे ३०० वर्ष पूर्व अर्थात् ई० पू० ४६६ में नन्द राजा ने कलिंग पर आक्रमण किया था, यह प्रमाणित होता है। इसी नन्द राजा का उल्लेख हाथीगुम्फा शिलालेख की १२ वीं पंक्ति में भी किया गया है। वहाँ बताया गया है कि अपने राज्य के बारहवें वर्ष में खारवेल ने उत्तरापथ के राजाओं में आतंक फैला दिया, मगध के लोकों में भय उत्पन्न कर दिया, अपने हाथियों को 'सुओ गरिगेय' में प्रविष्ट करवाया, मगधराज बृहस्पति मित्र को नीचा दिखाया, नन्द राजा के द्वारा अपहृत जैन मूर्ति को कलिंग में वापिस ले आया तथा अंग व मगध से विजय के प्रतीक रूप कुछ रत्न प्राप्त किये (द्रष्टव्य, *J. B. O. R. S.*, vol. IV, p. 401; vol. XIII, p. 732) । इन पंक्तियों के आधार पर खारवेल का ऊपर किया गया काल-निर्णय भी पुष्ट हो जाता है, क्योंकि इनमें उल्लिखित बृहस्पति मित्र की पहचान शुंगवंशीय राजा पुष्यमित्र के साथ की जाती है, जिसका समय पौराणिक काल-गणना के आधार पर ई० पू० १८५-१५० स्वीकार किया गया है और खारवेल का १२ वाँ वर्ष ई० पू० १५९ में आता है, जो कि पुष्यमित्र के काल के साथ समकालीन ठहरता है। द्रष्टव्य, Chiman Lal Jechand Shah, *Jainism in North India*, (Gujarati Translation), pp. 159-62 ; Dr. V. A. Smith, *Journal of Royal Asiatic Society*, 1918, p. 545 ; Dr. K. P. Jayswal, op. cit., vol. III, p. 447 ; Dr. Shanti Lal Shah, op. cit., pp. 53-55.) ।

इस प्रकार अपने १८ (अथवा १६) वर्ष के राज्य-काल में नन्द-वंश की सुस्थापना कर प्रथम नन्द राजा नन्दीवर्धन ई० पू० ४५६ में दिवंगत हुआ।[1] प्रथम नन्द राजा नन्दीवर्धन का यह काल (ई० पू० ४७४—४५६) प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि की तिथि से भी पुष्ट होता है, जो उसका समकालीन सिद्ध हो चुका है और जिसका काल ई० पू० ४८०—४१० प्रमाणित हो चुका है।[2]

यह नन्द राजा नन्दीवर्धन ही था—हमारा यह मन्तव्य अनेक इतिहासकारों द्वारा स्वीकार किया गया है। डॉ० वी० ए० स्मिथ ने लिखा है : "(हाथीगुम्फा शिलालेख में) उल्लिखित नन्द-राजा पुराणों में बताया गया शिशुनाग वंश का ९ वाँ राजा नन्दीवर्धन ही है, ऐसा लगता है। यह आवश्यक लगता है कि इसको और उसके उत्तराधिकारी १० वें राजा महानन्दी को नन्दी में ही गिनना चाहिए, जो नन्द १० वें राजा तथा चन्द्रगुप्त के बीच हुए नव नन्दों से पृथक् थे। 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के तृतीय संस्करण में मैंने नन्दीवर्धन का राज्यारोहण समय ई० पू० ४१८ माना था, किन्तु अब वह समय ई० पू० ४७० या उससे भी पूर्व का होना चाहिए।" (*Journal of Royal Asiatic Society*, 1918, p. 547)। *Cambridge History of India* के प्रमुख सम्पादक ई० जे० रेपसन ने निष्कर्ष रूप से लिखा है : "(हाथीगुम्फा) शिलालेख की छट्ठी पंक्ति में आये 'ति-वस-सत' का अर्थ यदि '३०० वर्ष' होता है, तो यह निश्चित है कि ई० पू० पाँचवी शताब्दी के मध्य में कलिंग नन्द राजा के आधिपत्य में था और वह नन्द राजा मौर्यों के सुप्रसिद्ध पूर्ववर्ती राजाओं में से ही था ; यह स्वाभाविक है।" (vol. I., p. 504)

१. नन्दीवर्धन का राज्यान्त ई० पू० ४५६ में हुआ ; इसकी पुष्टि इस तथ्य पर भी होती है कि अलबेरुनी के अनुसार नन्द संवत् का आरम्भ विक्रम संवत् (ई० पू० ५६) से ४०० वर्ष पूर्व हुआ था (द्रष्टव्य, Dr. K. P. Jayswal, op. cit., vol, XIII, p. 240 ; गंगाप्रसाद मेहता, प्राचीन भारत, पृ० १०३)। यह सर्वथा सम्भव है कि नन्द-वंश के संस्थापक नन्दीवर्धन की मृत्यु के उपलक्ष में नन्द संवत् का प्रारम्भ हुआ हो।

२. प्राचीन ब्राह्मण एवं बौद्ध परम्पराएँ पाणिनि को नन्द राजा का समकालीन बताती हैं। प्रसिद्ध तिब्बती इतिहासकार तारनाथ के अनुसार पाणिनि महापद्म के पिता नन्दराजा महानन्दी का मित्र था (*History of Buddhism*, p. 1608)। बौद्ध ग्रन्थ मंजुश्रीमूलकल्प में उल्लेख मिलता है :

तस्यानन्तरो राजा नन्दनामा भविष्यति।
पुष्पाख्ये नगरं श्रीमान् महासैन्यो महापलः।
भविष्यति तदा काले ब्राह्मण स्तार्किका भुवि ॥
तेभिः परिवारितो राजा वै।
तस्य अन्यतमः पाणिनिर्नाम मानवाः ॥

(पटल ३, पृ० ६११-२, Dr. Jayswal, *Studies on Manjushrimulakalpa*, p. 14.)

नन्दीवर्धन के पश्चात् उसका पुत्र महानन्दी नन्द-वंश का दूसरा राजा हुआ और उसने पुराणों के अनुसार ४३ वर्ष राज्य किया।[1] महानन्दी का समय ई० पू० ४५६—४१३ था। तत्पश्चात् महापद्म नन्द राजा हुआ और उसने भारत में 'एकराट्' साम्राज्य की स्थापना की।[2] पुराणों के अनुसार उसका राज्य-काल ८८ वर्ष का था।[3] इस प्रकार ई० पू० ३२५ में महापद्म नन्द का अन्त हुआ।[4] शेष नन्द राजाओं ने केवल १२ वर्ष राज्य किया और ई० पू० ३१३ में नन्द-वंश का अन्त हुआ।[5]

इस प्रकार शिशुनाग-वंश से लेकर मौर्य-वंश की स्थापना तक समग्र काल-गणना का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। इसको काल-क्रम तालिका के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है :

घटना	तिथि (ई० पू०)
शिशुनाग वंश की स्थापना शिशुनाग का राज्याभिषेक	८०७

पुष्पपुर में नन्द राजा होगा और पाणिनि नामक ब्राह्मण उसके निकट का मित्र होगा। राजा की सभा में अनेक तार्किक होंगे और राजा उनको पारितोषिकों से सम्मानित करेगा।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त सोमदेव के 'कथासरित्सागर' व क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि पाणिनि नन्द राजा का समकालीन था। चीनी यात्री ह्यु-एन-त्सांग का विवरण भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। (द्रष्टव्य, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४६७-४८०)। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने साहित्यिक, ऐतिहासिक व पारम्परिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि पाणिनि का समय ई० पू० ४८०-४१० था। डॉ० अग्रवाल ने जैन काल-गणना की इस मान्यता को भी स्वीकार किया है कि नन्दों का काल ई० पू० ४७३-३२३ था (पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ४७३)। डॉ० अग्रवाल इससे भी सहमत हैं कि ई० पू० ४६५ में प्रथम नन्द राजा नन्दीवर्धन पाटलिपुत्र में राज्य कर रहा था (वही, पृ० ४७४)। इतना ही नहीं उन्होंने पाणिनि के व्याकरण का उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया है कि नन्दीवर्धन प्रथम नन्द राजा था व उसका पुत्र महानन्दी द्वितीय नन्द राजा था (वही, पृ० ४७४)।

१. वायुपुराण, अ० ९९, श्लो० ३२६ ; मत्स्यपुराण, अ० २७१, श्लो० १८।

२. वायुपुराण, अ० ९९, श्लो० ३२७।

३. वही।

४. यह ध्यान देने योग्य है कि डॉ० स्मिथ ने भिन्न आधारों पर अपनी काल-गणना का निर्माण किया है, फिर भी महापद्म नन्द का काल ई० पू० ४१३-३२५ माना है।

५. चन्द्रगुप्त मौर्य ने ई० पू० ३२२ में मगध में नन्द-वंश का अन्त कर दिया, पर नन्दों का राज्य अवन्ती में ई० पू० ३१३ तक चलता रहा। जब ई०पू० ३१३ में चन्द्रगुप्त मौर्य ने अवन्ती का राज्य जीत लिया, तब वहाँ भी नन्द-वंश का अन्त हो गया।

काकवर्ण का राज्याभिषेक	७४७
क्षेमवर्धन ,, ,,	७११
क्षेमजित् ,, ,,	६६१
प्रसेनजित् ,, ,,	६२५
बिम्बिसार ,, ,,	५८२
अजातशत्रु ,, ,,	५४४
उदायी ,, ,, (मगध की मुख्य गद्दी पाटलिपुत्र में)	४९७
(दर्शक या नागदशक का राज्याभिषेक मगध की शाखा राजगृह में)	(४९७)
अनिरुद्ध-मुण्ड का राज्याभिषेक	४८१
नन्द-वंश की स्थापना नन्दीवर्धन का राज्याभिषेक (पाटलिपुत्र में)	४७४
नन्दीवर्धन का राज्याभिषेक (अवन्ती में)	४६७
महानन्दी का राज्याभिषेक	४५६
महापद्म ,, ,,	४१३
महापद्म के आठ पुत्रों का राज्याभिषेक	३२५
मौर्य-वंश की स्थापना चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याभिषेक (मगध में)	३२२
,, ,, ,, ,, (अवन्ती में)	३१३[1]

कुछ इतिहासकारों ने प्रथम दो नन्द राजा नन्दीवर्धन व महानन्दी के पूर्व नन्द और महापद्म नन्द तथा उसके वंशजों को नव-नन्द अथवा नये नन्द के रूप में भी माना है (द्रष्टव्य, Dr. Shantilal Shah, *Chronological Problems*, pp. 34-37 ; E. J. Rapson, *Cambridge History of India*, pp. 289-90 ; Dr. K. P. Jayswal, J. B. O. R. S., Sept. 1915, p. 21) ।

१. महावंश, डॉ० स्मिथ व डॉ० शान्तिलाल शाह द्वारा दी गई काल-गणना की तालिकाओं के साथ इसकी तुलना की जा सकती है :

१. महावंश की काल-गणना-तालिका

(बुद्ध-निर्वाण-तिथि ई० ५४४ मानने से तथा बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के ८ वें वर्ष में मानने से निम्न तिथियाँ राज्याभिषेक-काल बताती हैं ।)

राजा	राज्य-काल	तिथि (ई० पू०)
अजातशत्रु	३२	५५१
उदायीभद्र	१६	५१९
अनिरुद्ध-मुण्ड	८	५०३
नागदशक	२४	४९५
शुशुनाग	१८	४७१
कालाशोक	२८	४५३
कालाशोक-पुत्र	२२	४२५
नवनन्द	२२	४०३
चन्द्रगुप्त मौर्य	२४	३८१

२. डॉ० स्मिथ—Oxford History of India

राजा	राज्य-काल	तिथि (ई० पू०)
बिम्बिसार	३२	५८२
अजातशत्रु	२७	५५४
दर्शक	२४	५२७
उदय	२३	५०३
नन्दीवर्धन		४७०
महानन्दी		
महापद्मनन्द महापद्मनन्द के पुत्र	९१	४१३
चन्द्रगुप्त		३२२ (? ३२५)

३. डॉ० शान्तिलाल शाह—Chronological Problems

राजा	राज्य-काल	तिथि (ई० पू०)
अजातशत्रु	३२	५५१
दर्शक	१८	५१९
उदायन (पूर्णनन्द)	३३	५०१
नन्दीवर्धन	२०	४६७
काकवर्ण व महानन्दी (नवनन्द)	४३	४४७
नन्द (नाई)	२२	४०४
नन्द 'द्वितीय' (महापद्म)	६६	३८२
चन्द्रगुप्त		३१६

बुद्ध-निर्वाण-काल : परम्परागत तिथियाँ

महावीर का निर्वाण-काल जितना असंदिग्ध बनाया जा सका है, बुद्ध के निर्वाण-काल को उतना असंदिग्ध बना पाना इतना सहज नहीं है। बुद्ध-निर्वाण-काल के सम्बन्ध में सहस्रों वर्ष पूर्व भी संदिग्धता थी और आज भी वह बहुत कुछ अवशेष है। चीनी-यात्री फा-हियान, जो ई० सन् ४०० में यहाँ आया था, लिखता है : "इस समय तक निर्वाण से १४९७ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।"[१] इससे बुद्ध-निर्वाण का समय ई० पू० १०९७ के आस-पास आता है। प्रसिद्ध चीनी-यात्री ह्यु-एन-त्सांग ई० सन् ६३० में भारत-यात्रा पर आया था। वह लिखता है : "श्री बुद्धदेव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय में बहुत मतभेद है। कुछ लोग वैशाख पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानते हैं। सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि निर्वाण को १२०० वर्ष हो चुके हैं, तो कुछ लोग कहते हैं कि १५०० वर्ष बीत चुके हैं। कुछ लोग कहते है, निर्वाण-काल को अभी तक ९०० वर्षों से कुछ अधिक समय हुआ है।"[२] इन धारणाओं से तो बुद्ध-निर्वाण-काल क्रमशः ई० पू० ५७०, ई० पू० ८७० तथा ई० पू० २७० से कुछ अधिक वर्ष आता है।

उक्त अवधियाँ तो केवल किंवदन्तियाँ मात्र ही रह जाती हैं। बौद्ध परम्पराओं के आधार पर वर्तमान में अनेक तिथियाँ प्रचलित हैं। एक तिथि-क्रम सिलोनी गाथा **महावंश** पर आधारित है।[३] इसके अनुसार बुद्ध-निर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ था। दूसरा तिथि-क्रम 'केन्टन के बिन्दु संग्रह' (Cantonese Dotted Record) पर आधारित है।[४] इस परम्परा का इतिहास इस प्रकार है : जब बुद्ध का निर्वाण हुआ, भिक्षु संघभद्र ने वह सूचना चीन पहुँचाई। वहाँ के केन्टन नगर के लोगों ने एक बिन्दु संग्रह (Dotted Record) की व्यवस्था की, जिसका प्रारम्भ भगवान् बुद्ध की निर्वाण-तिथि से किया गया तथा उसमें प्रतिवर्ष एक बिन्दु और जोड़ दिया जाता। यह परम्परा ई० सन् ४८९ तक चलती रही तथा जब समस्त बिन्दु गिने गये, तो उनकी संख्या ९७५ ज्ञात हुई। इसके अनुसार ई० पू० ४८६ में गौतम बुद्ध का निर्वाण-समय निर्धारित किया गया।

तीसरा तिथि-क्रम चीनी तुर्किस्तान में प्रचलित है। खुतान (चीनी तुर्किस्तान) में पाये गये बौद्ध ग्रन्थों में दी गई एक दन्त कथा से पता लगता है कि बुद्ध-निर्वाण के २५० वर्ष बाद अशोक हुए। उस दन्त कथा से यह भी पता चलता है कि अशोक चीन

१—भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

२—वही।

३. Vincent Smith, *Early History of India*, p. 49.

४. *Journal of Royal Asiatic Society*, Great Britain, 1905, p. 51.

के बादशाह शेहांगटी का समकालीन था। शेहांगटी ने ई० पू० २४६ से ई० पू० २१० तक राज्य किया था।[1] इस तिथि-क्रम के आधार पर कुछ एक विद्वानों ने बुद्ध का निर्वाण-काल २४६+२५० = ई० पू० ४९६ भी माना है।[2]

इतिहासकारों का अभिमत

आश्चर्य की बात यह है कि बहुत शोध-कार्य हो जाने के पश्चात् भी इतिहासकार किसी सर्वसम्मत निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके हैं। अधिकांश विद्वान् इस विषय में अपना-अपना नया मत स्थापित करते जा रहे हैं। विद्वानों द्वारा अभिमत बुद्ध-निर्वाण-काल निम्न प्रकार से हैं :

ई० जे० थॉमस और जापानी विद्वान्[3]	ई० पू० ३८६
राइस डेविड्स[4]	ई० पू० ४१२
मैक्स मूलर[5] व शार्पेण्टियर[6]	ई० पू० ४७७
ज० कनिंगहेम[7] व दीवानबहादुर स्वामी कन्नुपिल्ले[8]	ई० पू० ४७८
ओल्डनबर्ग[9]	ई० पू० ४८०
फर्ग्यूसन[10]	ई० पू० ४८१
डा० ब्यूहलर[11]	ई० पू० ४८३ व ४७१ के बीच
डा० व्हीलर, गाइगर,[12] डा० फ्लीट[13]	ई० पू० ४८३

१. Sarat Chandra Das, *Journal of Royal Asiatic Society,* Bengal, 1886, pp. 193-203 ; Tchang, *Synchronismes Chinois* ; V. A. Smith, *Early History of India,* pp. 49-50.

२. जनार्दन भट्ट, बुद्धकालीन भारत, पृ० ३७१।

३. *B, C. Law Commemoration Volume,* Vol. II pp. 18-22.

४. *Buddhism,* pp. 212-213.

५. *S. B. E.* Vol. X, Introduction to *Dhammpada,* p. XII.

६. *Indian Antiquary,* Vol. XLIII, 1914, pp. 126-133.

७. *Corpus Inscriptionum Indicarum,* Vol. 1, Introduction, p. V.

८. *An Indian Ephemeris,* I, pt. I, 1922, p. 471.

९. *S. B. E.* Vol., XIII, Introduction to *Vinaya Pitaka,* p. XXII ; *The Religions of India,* by E. W. Hopkins,p. 310.

१०. *Journal of Royal Asiatic Society,* IV, p. 81.

११. *Indian Antiquary,* VI, p. 149. ff. (Also, see *Buddhism in Translation,* p. 2).

१२. *Mahāvamsa,* Geiger's Translation, p. XXVIII ; The *Journal of Royal Asiatic Society,* 1909, pp. 1-134.

१३. *Journal of Royal Asiatic Society,* 1908, pp. 471 ff.

तूकाराम कृष्ण लाडू[1], राहुल सांकृत्यायन[2], डॉ० जेकोबी[3]	ई० पू० ४८३
डॉ० एच० सी० रायचौधरी[4]	ई० पू० ४८६
डॉ० स्मिथ की दूसरी शोध के अनुसार[5]	ई० पू० ४८७
प्रो० कर्न[6]	ई० पू० ४८८
डॉ० स्मिथ की प्रथम शोध के अनुसार[7] पं० धर्मानन्द कोसम्बी[8]	ई० पू० ५४३
पं० भगवानलाल इन्दरजी[9]	ई० पू० ६३८

उक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष तो सहज ही निकल जाता है कि इन बाईस अभिमतों में उन्नीस अभिमत ऐसे है, जो बुद्ध का निर्वाण-समय ई० पू० ५२७ के पश्चात् ही मानते हैं। यदि ई० पू० ५२७ को महावीर-निर्वाण का सही समय मान लिया जाता है, तो उक्त उन्नीस अभिमतों के अनुसार भगवान् बुद्ध ही उत्तरवर्ती ठहरते हैं।

इन अभिमतों में क्रमिक परिष्कार होता गया है, फिर भी इनमें से एक भी अभिमत ऐसा नहीं है, जो महावीर, बुद्ध, गोशालक, श्रेणिक, कोणिक आदि से सम्बन्धित समस्त घटना-प्रसंगों को साथ लेकर चल सकता हो। इसका तात्पर्य यह भी निकलता है कि अब तक के हमारे चिन्तन में कोई मौलिक भूल रही है। वह है—बौद्ध काल-गणना का आधार। बुद्ध के जन्म और निर्वाण के काल-निर्धारण में बौद्ध काल-गणना का ही आधार मुख्यतया माना जाता रहा है। यही कारण हो सकता है कि उनके जीवन-संस्मरणों व काल-क्रम में पर्याप्त संगति नहीं बैठ रही है।

महावीर और बुद्ध की समसामयिकता

ऐसी स्थिति में जब कि बुद्ध के जन्म और निर्वाण का काल-क्रम स्वयं में संदिग्ध और अनिश्चित ही ठहरता है, महावीर और उनकी समसामयिकता को पकड़ने के लिए, उनके जीवन-प्रसंग ही आधारभूत प्रमाण बन जाते हैं। बुद्ध के समय में उनके सहित सात धर्मनायक थे। बुद्ध का सम्बन्ध उन सब में अच्छा या बुरा महावीर के साथ सबसे अधिक

---

१. वीर-निर्वाण-संवत् और जैन-काल-गणना, पृ० १५५।
२. बुद्धचर्या, भूमिका, पृ० १।
३. श्रमण, वर्ष १३, अंक ६, पृ० ११।
४. *Political History of Ancient India*, p. 227.
५. *Early History of India*, pp. 46-47.
६. *Der Buddhismus*, Jaar Telling, Vol II, p. 63.
७. *Early Histoy of India*, 1924, pp. 49-50.
८. भगवान् बुद्ध, पृ० ८६, भूमिका, पृ० १२।
९. *Indian Antiquary*, Vol. XIII, 1884, pp. 411 ff.

रहा है, यह त्रिपिटक स्वयं बतला रहे हैं। अतः महावीर और बुद्ध के जीवन-प्रसंगों की संगति बुद्ध के निर्वाण-काल को समझने में सहायक हो सकती है।

आगमों और त्रिपिटकों के अंचल में निम्न चार निष्कर्ष सुस्पष्ट हैं :

१. बुद्ध महावीर से आयु में छोटे थे अर्थात् महावीर जब प्रौढ़ (अधेड़) थे, तब बुद्ध युवा थे।

२. बुद्ध को बोधि-लाभ होने से पूर्व ही महावीर को कैवल्य-लाभ हो चुका था और वे धर्मोपदेश की दिशा में बहुत कुछ कर चुके थे।

३. गोशालक का शरीरान्त महावीर के निर्वाण से १६ वर्ष पूर्व हुआ अर्थात् उस समय महावीर ५६ वर्ष के थे।

४. गोशालक की वर्तमानता में बुद्ध बोधि-प्राप्त कर चुके[1] थे तथा महाशिलाकंटक व रथमुशल संग्राम के समय महावीर, बुद्ध और गोशालक—तीनों ही विद्यमान थे।

गोशालक की मृत्यु के समय महावीर ५६ वर्ष के थे और बोधि-प्राप्त बुद्ध उस समय कम-से-कम ३५ वर्ष के तो होते ही हैं। ७२ वर्ष की आयु में महावीर का निर्वाण हुआ। उस समय बुद्ध की अवस्था कम-से-कम ५१ वर्ष की तो हो ही जाती है। बुद्ध की समग्र आयु ८० वर्ष होती है। इस प्रकार महावीर-निर्वाण के अधिक-से-अधिक २९ वर्ष बाद उनका निर्वाण होता है।

यह तो दोनों के निर्वाण-काल में अधिक-से-अधिक अन्तर की सम्भावना हुई। अब देखना यह है कि दोनों के निर्वाण-काल में कम-से-कम अन्तर कितना सम्भव हो सकता है। गोशालक की मृत्यु से पूर्व यदि बुद्ध को बोधि-लाभ होता है, तो अधिक-से-अधिक १४ वर्ष पूर्व हो सकता है; क्योंकि इससे अधिक मानने में निष्कर्ष संख्या २ में हानि आती है। यदि इसे हम सम्भव मानें, तो महावीर और बुद्ध के निर्वाण में कम-से-कम १५ वर्ष का अन्तर आ जाता है।

---

१. पूर्ण काश्यप आदि छहों ही तीर्थङ्कर बुद्ध के बोधि-प्राप्ति से पहले ही अपने को तीर्थङ्कर घोषित कर धर्म प्रचार करते थे व बुद्ध को बोधि-प्राप्ति के समय सभी विद्यमान थे। जिस समय बुद्ध को बोधि-प्राप्ति हुई, उस समय उनको गया में सारनाथ जाते हुए रास्ते में एक उपक नामक आजीवक साधु मिला था। बुद्ध ने उसे कहा था—'मुझे तत्त्व-बोध हुआ है।' परन्तु उपक को उस सम्बन्ध में विश्वास नहीं हुआ। 'होगा शायद' कहकर वह दूसरे मार्ग से चलता बना (देखें, विनयपिटक, महावग्ग १; धर्मानन्द कोसम्बी, भगवान बुद्ध, पृ० १३७)। इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध की बोधि-प्राप्ति के समय मक्खलि गोशाल एक प्रसिद्ध आचार्य हो चुका था और उसके शिष्य यत्र-तत्र विहार करते थे।

इस प्रकार दोनों के निर्वाण में कम-से-कम १५ वर्ष का और अधिक-से-अधिक २९ वर्ष का अन्तर आता है। इतने वर्षों के इस सम्भावित अन्तर में से किसी निश्चित अवधि तक पहुँचने के लिए हमें एक मार्ग और मिल जाता है। **अंगुत्तर निकाय की अट्ठकथा**[1] में बुद्ध के चातुर्मासों का क्रमिक इतिहास मिलता है। उसके अनुसार बुद्ध राजगृह में बोधि-लाभ के पश्चात् दूसरा, तीसरा, चौथा, सतरहवाँ व बीसवाँ वर्षावास बिताते हैं।[2] **दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त** के अनुसार राजा अजातशत्रु राजगृह वर्षावास में बुद्ध का साक्षात्कार करता है, श्रामण्यफल पूछता है और पितृ-हत्या का अनुताप करता है। यह सब अजातशत्रु के राज्यारोहण के प्रथम वर्ष में होना चाहिए। राज्यारोहण के अनन्तर ही शोक-संतप्त होकर अपनी राजधानी राजगृह से चम्पा ले जाता है। यदि श्रामण्यफल आदि की घटना को सतरहवें या बीसवें चातुर्मास में हुआ मानें, तो निष्कर्ष संख्या २ विघटित होती है; क्योंकि श्रेणिक की मृत्यु व कोणिक के राज्यारोहण की घटना जैन-मान्यता के अनुसार महावीर की कैवल्य-प्राप्ति के तेरहवें वर्ष के आस-पास घटित होती है। इसलिए बुद्ध का यह वर्षावास दूसरे से चौथे तक ही होना चाहिए। इस प्रकार, महावीर की कैवल्य-प्राप्ति का वह तेरहवाँ वर्ष होता है और बुद्ध की बोधि-प्राप्ति का यह दूसरा, तीसरा या चौथा वर्ष होता है अर्थात् उस समय महावीर की आयु ५५ वर्ष की तथा बुद्ध की आयु ३६, ३७ या ३८ वर्ष की होती है। महावीर बुद्ध से १७, १८ या १९ वर्ष बड़े होते हैं। इसी आधार पर उनके निर्वाण का अन्तर २५, २६ या २७ वर्ष आ जाता है।

उक्त तीनों वर्षों में भी किसी एक निश्चित वर्ष पर पहुँचने के लिए भी एक छोटा-सा मार्ग मिल जाता है। यदि हम राजगृह में बुद्ध के दूसरे या तीसरे वर्षावास को लेते हैं, तो राजा श्रेणिक या बुद्ध की समसामयिकता एक या दो ही वर्ष ठहरती है। पिटकों की अभिव्यक्ति को देखते हुए उनकी समसामयिकता कुछ विस्तृत होनी चाहिए; अतः राजगृह के चतुर्थ वर्षावास को ही ग्रहण करना सुसंगत है, जिससे श्रेणिक और बुद्ध की समसामयिकता भी पर्याप्त विस्तृत हो जाती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि महावीर और बुद्ध के निर्वाण में सम्भव अन्तर २५ वर्ष का है।

---

१. २-४-५।

२. राइस डेविड्स ने भगवान् बुद्ध का चौथा चातुर्मास महावन (वैशाली) में माना है [Rhys Davids, *Buddhism*, quoted in *Buddha, His life, His order, His teachings*, M. N. Shastri, p. 120]; किन्तु अट्ठकथा के अनुसार तो पाँचवाँ चातुर्मास वैशाली में था। इसी प्रकार अट्ठकथा में छठा वर्षावास मंकुल पर्वत पर बताया है, जब कि राइस डेविड्स ने पाँचवाँ वर्षावास मंकुल पर्वत पर बताया है। लगता है, उन्होंने गिनती में एक वर्ष की भूल की है।

बुद्ध-*निर्वाण-काल*

यह अन्तर न केवल जीवन-प्रसंगों पर आधारित है। उन दोनों युगपुरुषों को किसी भी काल में ले जायें, तो भी उक्त समीक्षा और निष्कर्ष साथ दे सकते हैं। विषय की परिपूर्णता के लिए यहाँ पर भी काल-क्रम की दृष्टि से विचार कर लेना आवश्यक है। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के दो शब्दों में काल-क्रम के साथ ही किसी को ऐतिहासिक पुरुष माना जा सकता है।[1] यह बताया जा चुका है कि बुद्ध काल-क्रम अपने आप में निश्चित नहीं हो पा रहा है। साथ-साथ यह भी बताया जा चुका है कि महावीर का काल-क्रम स्वयं में सर्वसम्मत और निश्चित जैसा है। अतः उक्त जीवन-प्रसंगों के निष्कर्ष को महावीर की कालावधि के साथ तोलेंगे, तो बुद्ध के जन्म और निर्वाण का काल-क्रम भी स्वयं सामने आ जायेगा। महावीर और बुद्ध के निर्वाण-काल का अन्तर २५ वर्ष है। महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ है; अतः बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५०२ में होता है। जब हम उनके निर्वाण-समय को पा लेते हैं, तो उनके मूलभूत जीवन-प्रसंगों की काल-गणना निम्न प्रकार से बन जाती है :

ई० पू० ५८२	जन्म
ई० पू० ५५४	गृह-त्याग
ई० पू० ५४७	बोधि-प्राप्ति
ई० पू० ५४४	अजातशत्रु का बुद्ध से मिलन—श्रामण्यफल पूछना
ई० पू० ५०२	निर्वाण

महावीर और बुद्ध के जीवन-प्रसंगों का तुलनात्मक कार्यक्रम इस प्रकार बनता है :

	महावीर	बुद्ध
जन्म	ई० पू० ५९९	ई० पू० ५८२
गृह-त्याग	ई० पू० ५६९	ई० पू० ५५४
बोधि (कैवल्य)	ई० पू० ५५७	ई० पू० ५४७
निर्वाण	ई० पू० ५२७	ई० पू० ५०२

इस प्रकार महावीर बुद्ध से आयु में १७ वर्ष बड़े थे। उनके जीवन-काल की समसामयिकता ई० पू० ५८२ से ई० पू० ५२७ (=५५ वर्ष) रही। उनके धर्म-प्रचार-काल की समसामयिकता ई० पू० ५४७ से ई० पू० ५२७ (=२० वर्ष) रही।

---

1. Chronology is essential to biography. An individual cannot rank as a historical person unless his life and work are placed in time.
—*Chandragupta Maurya and His Times*, p. 2.

बुद्ध का निर्वाण अजातशत्रु के राज्य-काल के ४२ वें वर्ष में हुआ। बुद्ध के निर्वाण के १८० वर्ष बाद चन्द्रगुप्त मगध की गद्दी पर बैठा तथा २२६ वर्ष बाद अशोक का राज्य-काल स्थापित हुआ।

निष्कर्ष की पुष्टि में

बुद्ध-निर्वाण-सम्बन्धी उक्त निष्कर्ष नितान्त ऐतिहासिक और गाणितिक पद्धति से प्रसूत हुए हैं; इसलिए वे स्वतः प्रमाण हैं ; पर चूंकि वे निष्कर्ष इतिहास के क्षेत्र में प्रथम रूप से ही प्रस्तुत हो रहे हैं ; अतः इनकी पुष्टि में कुछ अन्यान्य प्रमाण अनपेक्षित नहीं हैं। कुछ एक ऐतिहासिक और पारम्परिक प्रमाण, जो उक्त तथ्यों की साक्षात् पुष्टि करते हैं, वे क्रमशः दिये जा रहे हैं।

१. तिब्बती परम्परा

तिब्बती बौद्ध-परम्परा के अनुसार जिस दिन बुद्ध का जन्म हुआ उसी दिन अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत (महासेन) का भी जन्म हुआ ; तथा जिस दिन बुद्ध को बोधि-लाभ हुआ, उसी दिन चण्डप्रद्योत का राज्यारोहण हुआ।[1] प्रद्योत राजा का उल्लेख बौद्ध, जैन और पौराणिक—तीनों ही परम्पराओं में प्रकीर्ण रूप से मिलता है। **वायु**[2], **मत्स्य**[3], **भागवत**[4] आदि पुराणों में तथा **कथासरित्सागर**[5], **स्वप्नवासवदत्ता** आदि ग्रन्थों के अनुसार चण्डप्रद्योत राजा का पुत्र पालक होता है, जो कि भगवान् महावीर की निर्वाण-रात्रि में ही अवन्ती की राजगद्दी पर बैठा। इससे यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार प्रद्योत बुद्ध के साथ जन्मा और बुद्ध के बोधि-लाभ के दिन राजसिंहासन पर बैठा, उसी तरह भगवान् महावीर की निर्वाण-तिथि पर ही उसका राज्यान्त हुआ। पौराणिक काल-गणना के अनुसार यह नितान्त असंदिग्ध है—**त्रयोविंशत् समाराजा भविता स नरोत्तमः**[6] अर्थात् चण्डप्रद्योत का २३ वर्ष राज्य रहा।

बुद्ध के बोधि-लाभ के दिन प्रद्योत राजा बना, जब कि बुद्ध ३५ वर्ष के थे और महावीर के निर्वाण-दिवस पर प्रद्योत का राज्यान्त हुआ, जब कि महावीर ७२ वर्ष के थे। अर्थात् प्रद्योत के राज्याभिषेक के समय महावीर ७२-२३=४९ वर्ष के होते हैं। इससे भी निष्कर्ष आता है कि महावीर बुद्ध से १४ वर्ष ज्येष्ठ थे ; यह निष्कर्ष भी पूर्वोक्त १७ वर्ष की ज्येष्ठता के बहुत निकट पहुँच जाता है।

---

१. Rockhill, *Life of Buddha, pp. 17, 32.*
२. वायु पुराण, अ० ९९, श्लो० ३१२।
३. मत्स्य पुराण, अ० २७१, श्लो० ३।
४. भागवत पुराण, स्कन्ध १२ अ० १, श्लो० ३।
५. कथासरित्सागर, ३-५-५८।
६. वायु पुराण, अ० ९९, श्लो० ३११।

२. चीनी तुर्किस्तान का तिथिक्रम

प्रस्तुत निष्कर्ष बौद्ध-परम्परा में बताये गये चीनी तुर्किस्तान वाले तिथिक्रम के साथ भलीभाँति संगत हो जाता है। उस परम्परा में राजा अशोक और राजा शेहांगटी की समसामयिकता को मानकर बुद्ध-निर्वाण और अशोक का अन्तर २५० वर्ष माना है। श्री जनार्दन भट्ट ने शेहांगटी को ई० पू० २४६ में मानकर बुद्ध-निर्वाण ई० पू० ४९६ में माना है।[१] ई० पू० ५०२ का समय, जो पीछे हम बुद्ध-निर्वाण का समय मान आये हैं, उसमें और इसमें केवल ६ वर्ष का नगण्य-सा अन्तर रहता है। बुद्ध-निर्वाण और अशोक के बीच जो २५० वर्ष का अन्तर माना गया है, वह समय वास्तव में वह है, जिसमें इतिहासकारों ने तीसरी बौद्ध-संगीति का होना माना है[२], जो कि अशोक के राज्य-काल में ई० पू० २५२ में हुई थी ; अतः उक्त परम्परा के आधार से भी बुद्ध-निर्वाण-काल ई० पू० ५०२ ही आ जाता है। एक अन्य तिब्बती परम्परा, जिसका उल्लेख डॉ० स्मिथ ने **अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया**[३] में किया है, बताती है कि अशोक का राज्यारोहण बुद्ध-निर्वाण के २३४ वर्ष बाद हुआ।[४] इससे भी बुद्ध-निर्वाण-काल २६९+२६४=५३० ई० पू० आता है।

३. अशोक के शिलालेख

सम्राट् अशोक द्वारा उत्कीर्ण शिलाएँ व स्तम्भ सचमुच ही भारतीय इतिहास की आधार-शिला व आधार-स्तम्भ हैं। इन आधारों ने इतिहास के बहुत सारे संदिग्ध तथ्यों को असंदिग्ध बना दिया है। बुद्ध-निर्वाण-काल-विषयक प्रस्तुत निष्कर्ष के सम्बन्ध में भी कुछ एक शिलालेख सबल प्रमाण बनते हैं। सम्राट् अशोक द्वारा उत्कीर्ण अभिलेखों को निम्न विभागों में बाँटा गया है :

५ लघु शिलालेख, १४ बृहत् शिलालेख, ४ लघु स्तम्भलेख, ७ बृहत् स्तम्भलेख, ३ गुहालेख, ६ स्फुट शिलालेख।

इनमें से लघु शिलालेख न० १ में, जो कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट में उपलब्ध हुआ है, सम्राट् अशोक ने लिखा है :

---

१. बुद्धकालीन भारत, पृ० ३७१।

२. डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १२९।

३. पृ० ४४।

४. "Tibetan tradition reckons 10 reigns from No. 26, Ajatśatru to No. 15, Asoka, inclusive and places Asoka's accession in 234 A. B. (after Buddha)".—Rockhill, *Life of Buddha*, pp. 33, 233.

"[1]देवानं पिये एवं आहा :—सातिलेकानि अढ़तियानि वय सुमिपाका सवके[2] नो चु बाढि पकते ; सातिलके चु छवछरे य सुमि हकं संघे उपेते ।"

"बाढि चु पकते । यि इमाय कालाय जम्बुदिपंसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिसा कटा । पकमसि हि एस फले । नो च एसा महतता पापोतवे । खुदकेन हि क ।

' यि पकममिनेन सकिये पिपुले पि स्वगे आरोधवे । एतिय अठाय च सावने कटे खुदका च उडाळा च पकमंतु ति । अता पि च जानंतु इयं पकम ।

"किति (?) चिरठति के सिया । इय हि अठे वढि वढिसिति विपुल च वढिसिति । अपलधियेना दियढिय वाढिसत (।) इय च अठे पवतिसु लेखापेत वालतहच च (।) अथि

"सिलाठभे सिलाठंमसि लाखापतवयत । एतिना च वय-जनेना यावतक तुपक अहाले सवर विवसेतवायुति । व्युठेना सावने कटे २५६ सतविवासात ।"

"देवताओं के प्रिय इस प्रकार कहते हैं : ढाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं उपासक हुआ, पर मैंने अधिक उद्योग नहीं किया ; किन्तु एक वर्ष से अधिक हुए, जब से मैं संघ में आया हूँ, तब से मैंने अच्छी तरह से उद्योग किया है । इस बीच में जो देवता सच्चे माने जाते थे, वे अब झूठे सिद्ध कर दिये गये हैं । यह उद्योग का फल है । यह (उद्योग का फल) केवल बड़े ही लोग पा सकें, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि छोटे लोग भी उद्योग करें, तो महान् स्वर्ग का सुख पा सकते हैं । इसलिए यह अनुशासन लिखा गया है कि 'छोटे और बड़े उद्योग करें' । मेरे पड़ोसी राजा भी इस अनुशासन को मानें और मेरा उद्योग चिर स्थित रहे । इस बात का विस्तार होगा और अच्छा विस्तार होगा । कम-से-कम डेढ़ गुना विस्तार होगा । यह अनुशासन यहाँ और दूर के प्रान्तों में पर्वतों की शिलाओं पर लिखा जाना चाहिए, जहाँ कहीं शिलास्तम्भ हों, वहाँ यह अनुशासन शिलास्तम्भ पर भी लिखा जाना चाहिए । इस अनुशासन के अनुसार जहाँ तक आप लोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आप लोग सर्वत्र इसका प्रचार करें । यह अनुशासन (मैंने) उस समय लिखा, जब बुद्ध भगवान् के निर्वाण को २५६ वर्ष हुए थे ।"

लघु शिलालेख न० २ में, जो की ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर व जतिंग रामेश्वर में प्राप्त हुआ है, यही बात स्वल्प भिन्नता के साथ मिलती है । उसमें सम्राट अशोक लिखते हैं :

"[3]सुवनगिरि ते अय पुतस महामाताणं च वचनेन इसिलसि महामाता आरोगियं वतविया हेवं च वतविया । देवाणं पिये आनपयति ।

"अधिकानि अढातियानि वय सुमि················वियढिय वढिसति । इयं च सावणे सावपते व्यूथेन २५६ ।"

---

१. जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्म लेख ।
२. सहसराम तथा वैराट के लेख में "उपासके" है ।
३. जनार्दन भट्ट, अशोक के शिलालेख ।

"सुवर्णगिरि से आर्यपुत्र (कुमार) और महामात्यों की ओर से इसिला के महामात्यों को आरोग्य कहना और यह सूचित करना कि देवताओं के प्रिय आज्ञा देते हैं कि अढ़ाई वर्ष से अधिक हुये..............डेढ़ गुना विस्तार होगा। यह अनुशासन (मैंने) बुद्ध के निर्वाण से २५६ वें वर्ष में प्रचारित किया (या सुनाया था)।"

उक्त दोनों अभिलेखों में दो बातें विशेष ध्यान देने की है—अशोक का 'संघ उपेत' होना और बुद्ध-निर्वाण के २५६ वर्षों बाद इस लेख का लिखा जाना।

उक्त लेखों में प्रयुक्त 'संघ उपेत' शब्दों पर नाना अनुमान बाँधे गये हैं। डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है : [1]"**संघे उपेते**—इन शब्दों के द्वारा अशोक क्या कहना चाहता है, यह समझना कठिन है। इसका अनुवाद ऊपर जिस प्रकार से किया गया है उसका अर्थ होता है कि यह संघ के साथ रहा, या संघ में प्रविष्ट हुआ या संघ के दर्शनार्थ गया, किन्तु इस बात को लेकर विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों का

---

१. It is difficult to understand what Aśoka exactly intends by the expression *Sāngha Upete* which has been translated above to mean that he lived with, entered, or visited the Sangha, and the opinion of the scholars is sharply divided on this point. Some scholars hold that Aśoka actually became a Buddhist monk (bhikku). Others, however, take the expression simply to mean that Aśoka made a state-visit to the Sangha and publicly proclaimed his faith, as the Sinhalese Chronicle informs us. The former view is, however, supported by the statement of I-tsing that he actually saw a statue of Aśoka dressed as a monk. A third possibility is that Aśoka lived with the Sangha for more than a year, without taking orders.

"Among those who assume that Aśoka became a monk, there is, again, a difference of opinion. Some hold that during the period Aśoka was a monk, he must have ceased to be a monarch, for monastic life is hardly compatible with royal duties. Others, however, point out actually examples of kings who were monks at the same time, and find no reason for the assumption that Aśoka, even temporarily, abdicated the throne.

"Whatever may be the right interpretation of his association with the Sangha, there is no doubt that since this event Aśoka exerted himself with unflagging zeal for the propagation of Buddhism, or at least that part of it which he accepted as his Dharma. He not only set up a net-work of missions to preach the doctrine both in and outside India, but himself undertook tours for this purpose, and took various other steps to the same end.

—*The Age of Imperial Unity* : *History and Culture of the Indian People*, vol. II, pp. 75-76.

मत है कि अशोक सचमुच ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। अन्य कुछ विद्वान् उक्त शब्दों का अर्थ करते हैं कि अशोक राजकीय तौर पर संघ के दर्शनार्थ गया और जैसे सिंहली गाथायें हमें सूचित करती हैं, उसने सार्वजनिक रूप से अपने धर्म की घोषणा की। इनमें से पहले अभिमत की पुष्टि चीनी यात्री इ-त्सिग के इस कथन से होती है कि मैंने अशोक की एक मूर्ति देखी थी, जिसमें वह साधु के वेश में था। एक तीसरी सम्भावना यह भी है कि अशोक बिना साधुत्व स्वीकार किये ही एक वर्ष से अधिक साधु-संघ के साथ रहा।

"जो विद्वान् मानते हैं कि अशोक साधु बन गया था, उनमें भी फिर भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ कहते हैं कि जिस समय अशोक साधु-पर्याय में रहा, उस समय उसने सम्राट्-पद छोड़ दिया होगा, क्योंकि भिक्षु-जीवन का राजकीय कर्तव्यों के साथ पालन होना सम्भव नहीं है। अन्य विद्वानों का कहना है कि बहुत सारे राजाओं के ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जो साथ-साथ साधु भी थे ; अतः यह कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि अशोक ने कुछ काल के लिए भी गद्दी का त्याग कर दिया हो।

"संघे उपेते शब्दों का जो कुछ भी अर्थ लगाया जाये, इतना तो असंदिग्धतया कहा जा सकता है कि जब से अशोक 'संघ उपेत' हुआ, तब से उसने बौद्ध धर्म या उसके प्रचारार्थ अदम्य उत्साह दिखाया। न केवल उसने इन सिद्धान्तों के प्रसार के लिए भारत में तथा विदेशों में उपदेशकों के समूह-के-समूह भेजे, अपितु उसने स्वयं इस हेतु से यात्राएँ कीं तथा इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्य अनेक प्रयत्न किये।"

डॉ० मुखर्जी ने अपने विवेचन में **'संघ उपेते'** शब्द के किसी एक ही अर्थ विशेष पर बल नहीं दिया है, पर उन सारे अर्थ-भेदों पर दृष्टिपात करने से यह सहज ही समझ में आता है कि अशोक के 'संघ उपेत' होने का सम्बन्ध उसकी ऐतिहासिक धर्म-यात्रा से ही होना चाहिए, जिसका उल्लेख अशोक के रूम्मिनदेई स्तम्भ लेख में स्पष्ट-स्पष्ट मिलता है। इस अभिलेख में बताया गया है :[1] **"देवान पियेन पियदसिन लाजिना वीसतिवसाभिसितेन अतन आगाच महीयिते। हिद बुधे जाते सक्य मुनीति सिल—विगडभीचा कालापित सिलाथभे च उसपापिते हिद भगवं जाते ति लुंमिनिगामे उबलिके कटे अठभागिये च।"**

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के २० वर्ष बाद स्वयं आकर (इस स्थान की) पूजा की। यहाँ शाक्य मुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए यहाँ पत्थर की एक प्राचीर स्थापित की गई और पत्थर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान् जन्मे थे, इसलिए लुंबिनी ग्राम का कर उठा दिया गया और (पैदावार का) आठवाँ भाग भी (जो राजा का हक था) उसी ग्राम को दे दिया गया।"

---

१. जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख।

इसके अतिरिक्त अशोकावदान ग्रन्थ में उक्त यात्रा का जिस प्रकार से वर्णन मिलता है, उससे भी 'संघ उपेत' शब्द इस यात्रा के साथ ही अधिक संगत बैठता है। अशोक की यात्रा के सम्बन्ध में वहाँ बताया गया है :[1] "राजा (अशोक) ने (अपने गुरु उपगुप्त से) कहा : 'मैं उन सभी स्थलों की यात्रा करना चाहता हूँ, जहाँ भगवान् बुद्ध ठहरे थे। ऐसा करके मैं उन स्थानों का आदर करना चाहता हूँ तथा चिरकाल तक के लोगों को शिक्षा मिले, ऐसे स्थाई स्मृति-स्तम्भ के द्वारा उनको उत्कीर्ण करना चाहता हूँ।' गुरुजी ने इस योजना की अनुमति दी और यात्रा में मार्ग-दर्शक बनना स्वीकार कर लिया। विशाल सेना सहित सम्राट् ने क्रमशः सभी तीर्थ-स्थानों की यात्रा की।

"सर्व प्रथम लुम्बिनी उद्यान की यात्रा की गई। यहाँ (गुरु) उपगुप्त ने कहा :

---

१. The king said : "I desire to visit all the places where the venerable Buddha stayed, to do honour unto them, and to mark each with an enduring memorial for the instruction of the most remote posterity." The saint approved of the project, and undertook to act as a guide. Escorted by a mighty army, the monarch visited all the holy places in order.

The first place visited was the Lumbini Garden. Here Upagupta said : "In this spot, great king, the venerable one was born," and added : "Here is the first monument consecrated in honour of the Buddha, the sight of whom is excellent. Here, the moment after his birth, the recluse took seven steps upon the ground."

The king bestowed a hundred thousand gold pieces on the people of the place, and built a *STUPA*. He then passed on to Kapilavastu.

The royal pilgrim next visited the Bodhi-tree at Bodh Gaya, and there also gave largess of a hundred thousand gold-pieces, and built a *CHAITYA*. Rishipatana (Sarnath) near Benares, where Gautama had turned 'the wheel of the law', and Kusinagar, where the teacher had passed away, where also visited with similar observances. At Sravasti, the pilgrims did reverence to the Jetavana monastery, where Gautama had so long dwelt and taught, and to the Stupas of his disciples, Sariputra, Maudgalayana, and Mahakasyapa. But when the king visited the *STUPA* of Vakkula, he gave only one copper coin, inasmuch as Vakkula had met with few obstacles in the path of holiness and had done little good to his fellow creatures. At the *STUPA* of Ananda, the faithful attendant of Gautama, the royal gift amounted to six million gold pieces."

—*Asokāvadāna*, Translated by Dr. Vincent A. Smith. 'The Pilgrimage of Asoka' in Asoka (The Rulers of India), pp.227-228.

'महाराज ! यहाँ भगवान् बुद्ध जन्मे थे ।' और आगे कहा : 'जिनके दर्शन ही मनोहर हैं, ऐसे भगवान् बुद्ध के समादर में यहाँ प्रथम स्मृति-स्तम्भ खड़ा किया जाता है। यहाँ जन्म के अनन्तर ही श्रमण गौतम ने भूमि पर सात कदम भरे थे।'

"राजा ने उस स्थान के लोगों को एक लाख स्वर्ण मुद्रा प्रदान की और स्तूप बनवाया। तत्पश्चात् वे कपिलवस्तु गये।

"बाद में उस राजयात्री ने बोध गया स्थित बोधि-वृक्ष के दर्शन किये और एक लाख स्वर्ण मुद्राओं की भेंट चढ़ाई तथा चैत्य बँधवाया। बनारस के समीप आये हुए ऋषिपतन, जहाँ गौतम बुद्ध ने 'धर्मचक्र' का प्रवर्त्तन किया था और कुशीनारा, जहाँ तथागत निर्वाण को प्राप्त हुए थे, भी राजा ने देखे तथा उसी प्रकार की भेंट चढ़ाई। श्रावस्ती में तीर्थ-यात्रियों ने जेतवन विहार के दर्शन किये, जहाँ कि गौतम ने दीर्घकाल के लिए निवास किया था और उपदेश दिया था तथा वहीं पर बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र, मौद्गलायन व महाकाश्यप के स्तूपों का भी सम्मान किया, परन्तु जब राजा ने वक्कुल के स्तूप के दर्शन किये, तब उसने केवल एक ताम्र-सिक्का भेंट चढ़ाया, क्योंकि वक्कुल ने साधना मार्ग में थोड़े ही परीषह सहन किये थे और अपने बन्धु प्राणियों पर कुछ भी उपकार नहीं किया था। गौतम के अनन्य शिष्य आनन्द के स्तूप पर तो राजा की भेंट साठ लाख स्वर्ण मुद्रा की राशि में चढ़ाई गई।"

अशोक अपने जीवन में बौद्ध भिक्षु भी बना, भले ही वह थोड़े काल के लिए क्यों न हो, यह बहुत सारे विद्वानो की धारणा है। बहुत सम्भव तो यही है कि उक्त यात्रा उसने भिक्षु-पर्याय धारण करके ही की हो। उस समय वह राजा नहीं रहा, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार 'संघ-उपेत' शब्द का अभिप्राय भी सार्थक हो जाता है।

उक्त शिलालेखों में अशोक ने यह भी बताया है कि मैं 'संघ उपेत' होने से ढ़ाई वर्ष पूर्व उपासक बना। 'संघ उपेत' होने का काल जब राज्याभिषेक के २० वर्ष पश्चात् का है, तो उपासक बनने का समय राज्याभिषेक के साढ़े सतरह वर्ष बाद होता है। वह काल ठीक तीसरी बौद्ध संगीति का है। सामान्यतया कहा जा सकता है कि अशोक राज्याभिषेक के ६ वर्ष पश्चात् बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया था, परन्तु लगता यह है कि उसने संगीति-काल से ही अपने आपको पूर्ण उपासक-धर्म में दीक्षित माना है। तात्पर्य हुआ कि सम्राट् अशोक राज्याभिषेक के १७½ वर्ष बाद उपासक बना, २० वर्ष पश्चात् 'संघ उपेत' हुआ और २१ वर्ष पश्चात् उसने उक्त लघु शिलालेख खुदवाये।

उक्त शिलालेखों की जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है, वह शिलालेख की अन्तिम पंक्ति **'व्युठेना सावने कटे २५६ सतविवासात'** से सम्बन्धित है। इस पंक्ति के अर्थ में भी नाना मत मिलते हैं। **व्युठेना** संस्कृत **व्युष्टेन** और **विवासा** संस्कृत **विवासात्** का अपभ्रंस है। व्युष्ट—

यह शब्द विपूर्वक वस् धातु में क्त प्रत्यय लगने से सिद्ध होता है और विवास शब्द विपूर्वक वस् धातु में घञ् प्रत्यय लगने से बनता है। डॉ० ब्यूलर, डॉ० फ्लीट आदि कई विद्वानों ने व्युथेन का अर्थ—'जो चला गया हो' अर्थात् 'बुद्ध' तथा विवासा का अर्थ 'बुद्ध का निर्वाण' ऐसा किया है।[1] डॉ० फ्लीट ने यह भी माना है : "बुद्ध-निर्वाण के २५५ साल बाद सातवें या आठवें महीने में महाराज अशोक ने राजसिंहासन छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की होगी, तभी से वे संघ में आये होंगे। इस प्रकार से ८ मास १६ दिन पूरे होने पर २५६ वीं रात को उन्होंने यह शिलालेख लिखवाया होगा। एक प्रश्न यह भी उठता है कि इस लेख में २५६ वीं रात्रि का विशेष रूप से उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी। इसका उत्तर यह है—प्रवास की २५६ वीं रात या २५६ वें दिन को बुद्ध भगवान् के निर्वाण से २५६ साल पूरे होने की वर्षगाँठ मनाने के लिए अशोक ने लघु शिलालेख खुदवाये थे। इसलिए यह सिद्ध होता है कि इस शिलालेख में २५६ की संख्या इस बात की सूचक है कि बुद्ध भगवान् का निर्वाण अशोक के २५६ वर्ष पूर्व हुआ था।"[2] डॉ० फ्लीट एवं डॉ० ब्यूलर की उक्त मीमांसा बहुत शोधपूर्ण है, पर वर्तमान इतिहासकारों[3] की दृष्टि में यह अभिमत अर्द्धमान्य-सा हो रहा है। उनका कहना है कि यह तो ठीक है कि वह शिलालेख सम्राट् अशोक की धर्म-यात्रा के २५६ वें पड़ाव या २५६ वें दिन को लिखा गया था, पर वह भगवान् बुद्ध की २५६ वीं निर्वाण-जयन्ती के उपलक्ष में लिखा गया, यह यथार्थ नहीं लगता है; क्योंकि अशोक के काल (ई० पू० २७३-२३६) के साथ बुद्ध-निर्वाण के २५६ वर्षों की, उनकी प्रचलित किसी भी निर्वाण-तिथि के आधार पर संगति नहीं बैठती। किन्तु डॉ० मैक्सम्यूलर ने इतिहासकारों के इस अभिमत की स्पष्टतया आलोचना की है और डॉ० ब्यूलर के मत का समर्थन किया है। **'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट'** के अन्तर्गत खण्ड १०, **धम्मपद** की भूमिका में उन्होंने लिखा है : [4]"इन शिलालेखों (लघु शिलालेख नं० १ और २) की शब्दावलि से सम्बन्धित कठिनाइयों को मैं पूर्णरूप से स्वीकार करता हूँ; किन्तु फिर भी मैं पूछता हूँ कि ये शिलालेख अशोक ने नहीं खुदवाये तो किसने खुदवाये? और यदि अशोक ने ही खुदवाये, तो

---

१. *Journal of Royal Asiatic Society*, 1904, pp. 1-26 and Dr, Buhler, *'Second Notice'*, *Indian Antiquary*, 1893

२. *Journal of Royal Asiatic Society*, 1910, pp- 1301-8, 1911, pp. 1091-1112.

३. उदाहरणार्थ देखें, Dr. Vincent A. Smith, *Asoka*, p. 150 ; Dr. H. C. Ray Chaudhuri, *Political History of Ancient India*, p. 341 n ;
यदुनन्दन कपूर, अशोक, पृ० १२८।

४. "I fully admit the difficulties in the phraseology of these inscriptions but I ask, who could have written these inscriptions, if not Asoka? And how if written by Asoka, can the date which they contain mean anything but 256 years after Buddha's *Nirvāna*? These points,

उसमें रहते हुई तारीख बुद्ध-निर्वाण के २५६ वर्ष के अतिरिक्त और क्या अर्थ रख सकती है? डॉ० ब्यूलर ने अपनी 'दूसरी विज्ञप्ति में' इन दृष्टि बिन्दुओं के विषय में इतनी विद्वत्तापूर्ण तर्कें रखी हैं कि मुझे डर लगता है, मैं और कुछ अधिक लिख कर सम्भवतः उनके पक्ष को कहीं निर्बल न बना दूँ। अतः मेरे पाठकों को मेरे विचार जानने के लिए उन्हीं (डॉ० ब्यूलर) की 'दूसरी विज्ञप्ति' देखने का सुझाव देता हूँ।"

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय और महत्त्व की बात यह है कि प्रस्तुत पुस्तक में ई० पू० ५०२ के जिस बुद्ध-निर्वाण-काल पर हम पहुँचे हैं, वह इन शिलालेखों के उक्त कथन के साथ पूर्णतया संगत होता है। यह तो स्पष्ट हो ही चुका है कि उक्त शिलालेख सम्राट् अशोक के 'संघ उपेत' होने के कुछ अधिक एक वर्ष पश्चात् लिखे गये हैं और अशोक अपने राज्याभिषेक के २० वर्ष पश्चात् 'संघ-उपेत' होता है। यहाँ हम काल-गणना के एक निश्चित बिन्दु पर पहुँच जाते हैं, जो कि सर्वमान्य और निर्विवाद है। वह है—ई० पू० २६९ में अशोक का राज्याभिषेक। निष्कर्ष हुआ—

अशोक का राज्याभिषेक— ई० पू० २६९।
अशोक का संघ-उपेत होना— ई० पू० २४८।[1]
उक्त शिलालेखों का लिखा जाना—ई० पू० २४७।

इस प्रकार हम ई० पू० २४७ से जब २५५ वर्ष और पीछे जाते हैं, तो बुद्ध-निर्वाण का समय आता है—२४७+२५५=ई० पू० ५०२।[2]

४. बर्मी परम्परा

परम्परा सम्बद्ध प्रमाणों में सबसे सबल प्रमाण बर्मी परम्परा का है। बर्मा में 'ईत्साना'[3]

---

however, have been argued in so masterly a manner by Dr. Buhlar in his "Second Notice" that I should be afraid of weakening his case by adding anything of my own, and must refer my readers to his "Second Notice".

—Max Muller, S. *B. E.*, Vol, X, (Part 1), *Dhammapada*, Introduction, p, XII.

१. डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने बताया है कि अशोक के संघ-उपेत होने के पश्चात् ही उसने विदेश में जोर-शोर से धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया था। इतिहासकारों ने महेन्द्र के लंका-प्रवास की तिथि ई० पू० २४६ मानी है (*Cambridge History of India*, p. 507)। अतः अशोक के 'संघ उपेत' होने की ई० पू० २४८ की तारीख पुष्ट हो जाती है।

२. डॉ० फ्लीट का यह अभिमत कि बुद्ध-निर्वाण के २५६ वें वर्ष में और यात्रा के २५६ वें पड़ाव में उक्त शिलालेख लिखा गया, यह "व्युठेना सावने कटे २५६ सत विवासात" का अर्थ होना चाहिए; बहुत ही यथार्थ है। इसके साथ हम इतना और जोड़ सकते हैं कि उक्त शिलालेख लिखे जाने का वह निर्वाण-दिवस सम्भवतः कुशीनारा में ही आया हो, जहाँकि बुद्ध भगवान् का निर्वाण हुआ था और अशोक की यात्रा का वह एक प्रमुख पड़ाव था।

३. Bigandet,, *Life of Gaudama*, *vol.* I, *p.* 13.

(Eetzana) नामक संवत् का प्रचलन माना जाता है। ईत्झाना शब्द का अर्थ है—अंजन। कहा जाता है, यह संवत् बुद्ध के नाना 'अंजन' ने प्रचलित किया था। राजा अंजन शाक्य क्षत्रिय थे और उनका राज्य देवदह प्रदेश में था। बर्मी परम्परा के अनुसार उस संवत् की काल-गणना में बुद्ध के जीवन-प्रसंग इस प्रकार माने जाते हैं :

१. बुद्ध का जन्म : ईत्झाना[1] संवत् के ६८ वें वर्ष में, काटसन[2] (वैशाख) मास में, पूर्णिमा के दिन शुक्रवार को, जब चन्द्रमा का विशाखा-नक्षत्र के साथ योग था।

२. बुद्ध का गृहत्याग (दीक्षा) : ईत्झाना[3] संवत् के ९६ वें वर्ष में जुलाई (आषाढ़) मास में, पूर्णिमा के दिन सोमवार को, जब चन्द्रमा का उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के साथ योग था।

३. बुद्ध की बोधि-प्राप्ति : ईत्झाना[4] संवत् के १०३ वें वर्ष में काटसन (वैशाख) मास में, पूर्णिमा के दिन, बुधवार को जब चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग था।

४. बुद्ध का निर्वाण : ईत्झाना[5] संवत् के १४८ वें वर्ष में, काटसन (वैशाख) मास में, पूर्णिमा के दिन मंगलवार को, जब चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग था।

बर्मी-परम्परा के अनुसार ईत्झाना संवत् का प्रारम्भ तगू[6] (चैत्र) मास में कृष्णा प्रथमा के दिन रविवार को होता है।[7]

इस बर्मी काल-क्रम को एम० गोविन्द पै ने ईस्वी सन् के काल-क्रम में इस प्रकार ढाला है :

१. जन्म :	ई० पू० ५८१, मार्च ३०, शुक्रवार।
२. गृहत्याग :	ई० पू० ५५३, जून १८, सोमवार।
३. बोधि-प्राप्ति :	ई० पू० ५४६, अप्रैल ३, बुधवार।
४. निर्वाण :	ई० पू० ५०१, अप्रैल १५, मंगलवार।
५. ईत्झाना संवत् का प्रारम्भ :	ई० पू० ६४८, फरवरी १७, रविवार[8]।

---

१. Ibid, vol. II pp. 71-72.

२. 'काटसन' बर्मी भाषा में 'वैशाख' का पर्यायवाची शब्द है।

३. *Life of Gaudama*, by Bigandet, vol. I pp. 62-63 ; vol. II, p. 72.

४. Ibid, vol. I, p. 97 ; vol. II, pp. 72-73.

५. Ibid, vol. II, p. 69.

६. तगू बर्मी भाषा में 'चैत्र' मास का पर्यायवाची शब्द है।

७. *Life of Gaudama*, by Bigandet, vol. I, p. 13.

८. *Prabuddha Karnntaka*, a kannada Quarterly published by the Mysore University, vol. XXVII (1945-46), No. 1, pp. 92-93, The Date of *Nirwāna* of Lord Mahāvira in "*Mahavira Commemoration volume*, pp, 93-94."

इस प्रकार भगवान् बुद्ध के जन्म, गृह-त्याग, बोधि और निर्वाण के सम्बन्ध से हम जिस काल-क्रम पर पहुँचे हैं, बर्मी-परम्परा उस काल-क्रम का पूर्णतः समर्थन कर देती है। तथ्य की पुष्टि में यह एक अनोखा संयोग कहा जा सकता है और वह इसलिए कि अपने निष्कर्षों पर पहुँचने तक बर्मी परम्परा की ये धारणाएँ लेखक के सामने नहीं थी। इन बर्मी परम्पराओं का साक्षात् लेखक को तब होता है, जब यह पूरा प्रकरण लेखमाला के रूप में जैन भारती आदि पत्रिकाओं में निकल चुकता है।

इससे यह भी प्रमाणित हो जाता है कि निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए हमने जिन कल्पनाओं का सहारा लिया था, वे कल्पनाएँ ही नहीं वस्तुस्थिति तक पहुँचने की यथार्थ पगडंडियाँ ही थीं।

कुल मिलाकर उक्त चारों ही प्रमाण विभिन्न दिशाओं से चलने वाले पथिकों की तरह एक ही ध्रुव-बिन्दु पर पहुँच कर उस ध्रुव-बिन्दु की सत्यता के प्रमाण बन गये हैं।

*

: ५ :

पूर्व भवों में

जैन और बौद्ध परम्परा में पूर्वभव-चर्चा भी समान पद्धति से मिलती है। महावीर और बुद्ध की भव-चर्चा में तो एक अनोखी समानता भी है। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने अनेक भव पूर्व मरीचि तापस को लक्ष्य कर कहा—"यह अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर होगा।" इसी प्रकार अनेक कल्पों पूर्व दीपंकर बुद्ध ने सुमेध तापस के विषय में कहा—"यह एक दिन बुद्ध होगा।" महावीर की घटना उनके पच्चीस भव पूर्व की है। बुद्ध की घटना पाँच सौ इक्यावन भव पूर्व की है।

मरीचि तापस

विचारों में शिथिलता

मरीचि भरत का पुत्र था। सुर-असुरों द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव के केवलज्ञान की महिमा को देखकर वह भी अपने पाँच सौ भाइयों के साथ निर्ग्रन्थ बना था। वह ग्यारह ही अंगों का ज्ञाता था और प्रतिदिन भगवान् ऋषभदेव के साथ उनकी छाया की तरह विहरण करता था। एक बार भयंकर गर्मी से वह परिक्लान्त हो गया। सारा शरीर पसीने से तर-बतर हो गया। पसीने व मलिन वस्त्रों के कारण उसके शरीर से दुर्गन्ध उछलने लगी। प्यास के मारे उसके प्राण निकलने लगे। गर्मी व तत्सम्बन्धी अन्य परिषहों से वह इतना पराभूत हुआ कि श्रामण्य की सामान्य पर्याय से भी नीचे खिसक गया तथा अन्य नाना संकल्प-विकल्पों का शिकार बन गया। उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—"प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का मैं पौत्र हूँ। अखण्ड छः खण्ड के विजेता प्रथम चक्रवर्ती का मैं पुत्र हूँ। चतुर्विध तीर्थ के समक्ष वैराग्य से मैंने प्रव्रज्या ग्रहण की है। संयम को छोड़कर घर चले जाना मेरे लिए लज्जास्पद है, किन्तु चारित्र के इतने बड़े भार को अपने इन दुर्बल कन्धों पर उठाये रखने में भी मैं सक्षम नहीं हूँ। महाव्रतों का पालन अशक्य अनुष्ठान है और इन्हें छोड़कर घर चले जाने से मेरा उत्तम कुल मलिन होगा। **'इतो व्याघ्रः इतस्तटी'** एक ओर व्याघ्र है और दूसरी ओर गहरी नदी। किन्तु जिस प्रकार पर्वत पर चढ़ने के लिए संकरी पगडण्डी होती है, उसी प्रकार इस कठिन मार्ग के पास एक सुगम मार्ग भी है।"

त्रिदण्डी

अपने ही विचारों में खोया हुआ मरीचि आगे और सोचने लगा—भगवान् ऋषभदेव के साधु मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड को जीतने वाले हैं और मैं इनसे जीता गया हूँ ; अतः त्रिदण्डी बनूँगा। इन्द्रिय-विजयी ये श्रमण केशों का लुञ्चन कर मुण्डित होकर विचरते हैं। मैं मुण्डन कराऊँगा और शिखा रखूँगा। ये निर्ग्रन्थ सूक्ष्म व स्थूल दोनों प्रकार के प्राणियों के वध से विरत हैं और मैं केवल स्थूल प्राणियों के वध से ही उपरत रहूँगा। मैं अकिञ्चन भी नहीं रहूँगा और पादुकाओं का प्रयोग भी करूँगा। चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन करूँगा। मस्तक पर छत्र धारण करूँगा। कषाय-रहित होने से ये मुनि श्वेत वस्त्र पहनते हैं और मैं कषाय-कालुष्य से युक्त हूँ ; अतः इसकी स्मृति में काषायित वस्त्र पहनूँगा। ये सचित्त जल के परित्यागी हैं, पर मैं वैसे परिमित जल से स्नान भी करूँगा तथा पीऊँगा भी।

अपनी बुद्धि से वेश की इस तरह परिकल्पना कर तथा उसे धारण कर वह भगवान् ऋषभदेव के साथ ही विहरण करने लगा। साधुओं की टोली में इस अद्भुत साधु को देखकर कौतूहलवश बहुत सारे व्यक्ति उससे धर्म पूछते। उत्तर में वह मूल तथा उत्तर गुण-सम्पन्न साधु-धर्म का ही उपदेश करता। जब उसे जनता यह पूछती कि तुम उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं करते, तो वह अपनी असमर्थता स्वीकार करता। उसके उपदेश से प्रेरित होकर यदि कोई भव्य दीक्षित होना चाहता तो वह उसे भगवान् के समवसरण में भेज देता और भगवान् उसे दीक्षा-प्रदान कर देते।

कपिल

भगवान् ऋषभदेव की सेवा में विहरण करते हुए मरीचि का काफी समय बीत चुका। एक बार वह रोगाक्रान्त हुआ। उसकी परिचर्या करने वाला कोई नहीं था ; अतः वेदना से पराभूत होकर उसने स्वयं के शिष्य बनाने का सोचा। संयोग की बात थी, एक बार भगवान् ऋषभदेव देशना (प्रवचन) दे रहे थे। कपिल नामक एक राजकुमार भी परिषद् में उपस्थित था। उसे वह उपदेश रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। उसने इधर-उधर अन्य साधुओं की ओर भी दृष्टि दौड़ाई। सभी साधुओं के बीच विचित्र वेश वाले उस त्रिदण्डी मरीचि को भी उसने देखा। वह वहाँ से उठकर उसके पास आया। धर्म का मार्ग पूछा तो मरीचि ने स्पष्ट उत्तर दिया—"मेरे पास धर्म नहीं है। यदि तू धर्म चाहता है तो प्रभु का ही शरण ग्रहण कर।" वह पुनः भगवान् ऋषभदेव के पास आया और धर्म-श्रवण करने लगा। किन्तु अपने दूषित विचारों से प्रेरित होकर वह वहाँ से पुनः उठा और मरीचि के पास जाकर बोला—"क्या तुम्हारे पास जैसा-तैसा भी धर्म नहीं है? यदि नहीं है तो फिर यह संन्यास का चोगा कैसे?"

"दैवयोग से यह भी मेरे जैसा ही मालूम होता है। चिर-काल से सदृश विचार वाले का मेल हुआ है। मेरे असहाय का यह सहायक हो।" इन विचारों में निमग्न मरीचि ने उत्सूत्र प्ररूपणा करते हुए कहा—"यहाँ भी धर्म है और यहाँ भी।" इस मिथ्यात्वपूर्ण संभाषण से उसने उत्कट संसार बढ़ाया। कपिल को दीक्षित कर उसने अपना शिष्य बनाया और उसे पच्चीस तत्त्वों का उपदेश देकर अलग मत की स्थापना की। जैन पुराणों में यह भी माना गया है कि आगे चलकर कपिल का शिष्य आसुरी व आसुरी का शिष्य सांख्य बना। कपिल व सांख्य ने मरीचि द्वारा बताये गए उन पच्चीस तत्त्वों की विशेष व्याख्या की जो एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हुआ। कपिल और सांख्य उस दर्शन के विशेष व्याख्याकार हुए हैं; अतः वह दर्शन भी कपिल दर्शन या सांख्य दर्शन के नाम से विश्रुत हुआ। वस्तुतः मरीचि इसका मूल संस्थापक था।[1]

भावी तीर्थङ्कर कौन ?

भरत ने एक बार भगवान् ऋषभदेव से पूछा—"प्रभो! इस परिषद् में ऐसी भी कोई आत्मा है, जो आपकी तरह तीर्थ की स्थापना कर इस भरत क्षेत्र को पवित्र करेगी ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"तेरा पुत्र मरीचि प्रथम त्रिदण्डी परिव्राजक है। इसकी आत्मा अब तक कर्म-मल से मलिन है। शुक्ल ध्यान के अवलम्बन से क्रमशः वह शुद्ध होगी। भरत क्षेत्र के पोतनपुर नगर में इसी अवसर्पिणी काल में वह त्रिपृष्ट नामक पहला वासुदेव होगा। क्रमशः परिभ्रमण करता हुआ, वह पश्चिम महाविदेह में धनंजय और धारिणी दम्पती का पुत्र होकर प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा। अपने संसार-परिभ्रमण को समाप्त करता हुआ वह इसी चौबीसी में महावीर नामक चौबीसवाँ तीर्थङ्कर होकर तीर्थ की स्थापना करेगा तथा स्वयं सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनेगा।"

कुल का अहं

अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर भरत बहुत आह्लादित हुए। उन्हें इस बात से भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि उनका पुत्र पहला वासुदेव, चक्रवर्ती व अन्तिम तीर्थङ्कर होगा। परिव्राजक मरीचि को सूचना व बधाई देने के निमित्त भगवान् के पास से वे उसके पास आए। भगवान् से हुए अपने वार्तालाप से उसे परिचित किया। मरीचि को इससे अपार प्रसन्नता हुई। वह तीन ताल देकर आकाश में उछला और अपने भाग्य को बार-बार सराहने लगा। उच्च स्वर से बोलने लगा—"मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है, मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है। मेरे दादा प्रथम तीर्थङ्कर हैं। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं। मैं पहला वासुदेव

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, प्रथम पर्व, सर्ग ६, श्लो० १ से ५२; आदि पुराण, पर्व १८; श्री आवश्यक सूत्र, निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, पत्र सं० २३२-२ से २३४-१ के आधार पर।

होऊँगा व चक्रवर्ती होकर अन्तिम तीर्थङ्कर होऊँगा। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हुए। सब कुलों में मेरा ही कुल श्रेष्ठ है।"

कुल के इस अहं से मरीचि ने नीच गोत्र कर्म उपार्जित किया। यही कारण था कि महावीर तीर्थङ्कर होते हुए भी पहले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आए, जब कि तीर्थङ्कर का क्षत्रिय-कुल में जन्म लेना अनिवार्य होता है।[1]

महावीर के कुल सत्ताईस भवों का वर्णन मिलता है, जिसमें दो भव मरीचि-भव से पूर्व के हैं और शेष बाद के। सत्ताईस भवों में प्रथम भव नयसार कर्मकर का था। इस भव में महावीर ने किसी तपस्वी मुनि को आहार-दान किया था और प्रथम बार सम्यग् दर्शन उपार्जित किया। सत्ताईस भवों में महावीर ने जहाँ चक्रवर्तित्व और वासुदेवत्व पाया; वहाँ उन्होंने सप्तम नरक तक का भयंकर दुःख भी सहा। पच्चीसवें भव में तीर्थङ्करत्व प्राप्ति के बीस निमित्तों की आराधना करते हुए तीर्थङ्कर गोत्र नामकर्म बाँधा। छब्बीसवें भव में प्राणत नामक दशवें स्वर्ग में रहे और सत्ताईसवें भव में महावीर के रूप में जन्म लिया।

सुमेध तापस

अमरवती नगर के ब्राह्मण वंश में सुमेध नामक बालक का जन्म हुआ। बचपन में ही उसके माता-पिता का देहान्त हो गया। सुमेध विरक्त हुआ और उसने तापस-प्रव्रज्या स्वीकार कर ली।

चिन्तन में लीन सुमेध को सहसा एक उपलब्धि हुई—"पुनर्भव दुःख है। मुझे उस मार्ग का अन्वेषण करना चाहिए, जिस पर चलने से भव से मुक्ति मिलती है। ऐसा कोई मार्ग अवश्य ही होगा। जिस प्रकार लोक में दुःख का प्रतिपक्ष सुख है, उसी प्रकार भव का प्रतिपक्ष विभव (भव का अभाव) भी होना चाहिए। उष्ण का उपशम शीत है, वैसे ही रागादि अग्नियों का उपशम निर्वाण है।" चिन्तन का परिणाम अत्यधिक विरक्ति हुआ। हिमालय में पर्णकुटी बनाकर वहाँ रहने लगे। तपस्वी सुमेध के दिन समाधि में बीतने लगे।

लोकनायक दीपंकर बुद्ध उस समय संसार में धर्मोपदेश करते थे। चारिका करते हुए एक बार वे रम्मक नगर के सुदर्शन महाविहार में आये। नागरिकों ने श्रद्धावनत होकर गंधमाला आदि से शास्ता का अभिवादन किया, धर्मोपदेश सुना और अगले दिन के भोजन का निमन्त्रण देकर सभी लौट आए। दीपंकर बुद्ध के आगमन के उपलक्ष में नगर को विशेष रूप से सजाया गया। पानी के बहाव से टूटे-फूटे स्थानों पर रेत डालकर भूमि को समतल

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, प्रथम पर्व, सर्ग ६ श्लो० ३७० से ३९० ; श्री आवश्यकसूत्र, निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पत्र सं० २४४ से २४५-१ के आधार पर।

किया गया। चाँदी जैसी श्वेत बालू को फैलाकर उस पर लाज (खील) और पुष्प विकीर्ण किए गए। नाना रंगों के वस्त्रों की ध्वजाएँ फहरायी गईं और स्थान-स्थान पर कदली तथा पूर्ण घट की पंक्तियाँ प्रतिष्ठित की गईं। आनन्दित होकर मनुष्यों की टोलियाँ झूमती हुई इधर-उधर घूम रही थीं। उसी समय सुमेध तापस अपने आश्रम से निकल कर आकाश-मार्ग से कहीं जा रहे थे। उन्होंने नगर की साज-सज्जा तथा आनन्दमग्न मनुष्यों को घूमते देखा। उनके मन में उसके कारण को जानने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई। आकाश से उतरे और नगर अलंकरण के बारे में जिज्ञासा की। जनता से उत्तर मिला—"भन्ते! दीपंकर बुद्ध होकर श्रेष्ठ धर्म का प्रचार करते हुए हमारे नगर के सुदर्शन महाविहार में वास कर रहे हैं। हमने भगवान् को निमंत्रित किया है। इस उपलक्ष से भगवान् के आगमन-मार्ग को हम अलंकृत कर रहे हैं।"

तपस्वी सुमेध सोचने लगे—"बुद्ध शब्द का सुनना भी लोक में दुर्लभ है ; बुद्ध के जन्म लेने की तो बात ही क्या? मुझे भी इन मनुष्यों के साथ मिलकर बुद्ध का मार्ग अलंकृत करना चाहिए।" और वे तत्काल ही मार्ग-शोधन में लग गये। कुछ ही समय में दीपंकर बुद्ध आ गये। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता साधु-साधु कहने लगे। आकाश से मन्दार पुष्पों की वर्षा होने लगी। सुमेध अपनी जटा खोलकर, बल्कल, चीवर और चर्म बिछाकर भूमि पर लेट गये और विचार किया : "यदि दीपंकर मेरे शरीर को अपने चरण कमल से स्पर्श करें तो मेरा हित हो।" लेटे-लेटे ही उन्होंने दीपंकर की बुद्ध-श्री को देखते हुए चिन्तन किया—"मैं सब क्लेशों का नाश कर निर्वाण-प्राप्त कर सकता हूँ, किन्तु केवल यही मेरा ध्येय नहीं है। मेरे लिये तो यही योग्य है कि मैं भी दीपंकर बुद्ध की तरह परम सम्बोधि को प्राप्त कर मानव-समूह को धर्म की नौका पर चढ़ा संसार-सागर के पार ले जाऊँ और तदनन्तर स्वयं निर्वाण प्राप्त करूँ।" उन्होंने बुद्ध-पद की प्राप्ति के लिये उत्कट अभिलाषा (अभिनीहार) प्रगट की। बुद्धों के लिये जीवन-परित्याग को भी वे उद्यत थे।

दीपंकर तपस्वी सुमेध के पास आकर बोले—"इस जटिल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा। यह बुद्ध का व्याकरण हुआ।"

"यह एक दिन बुद्ध होगा"—इस वाक्य को सुनकर देवता और मनुष्य आनन्दित हुए और बोले—"तपस्वी सुमेध बुद्ध-बीज है, बुद्ध-अंकुर है।" वहाँ पर जो 'जिन-पुत्र' (बुद्ध-पुत्र) थे, उन्होंने सुमेध की प्रदक्षिणा की। लोगों ने कहा—"आप निश्चित ही बुद्ध होंगे। दृढ़ पराक्रम करें, आगे बढ़ें, पीछे न हटें।" सुमेध ने सोचा, बुद्ध का वचन अमोघ होगा।

बुद्धत्व की आकांक्षा की सफलता के लिए सुमेध बुद्ध-कारक धर्मों का अन्वेषण करने लगे और उनमें महान् उत्साह प्रदर्शित किया। दश पारमितायें प्रकट हुईं, जिनका आसेवन पूर्व काल में बोधि-सत्वों ने किया था। इन्हीं के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। सुमेध ने

बुद्ध-गुणों को ग्रहण कर दीपंकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या अर्थात् साधना आरम्भ हुई और ५५० विविध जन्मों के पश्चात् वे तुषित् लोक में उत्पन्न हुए। वहाँ बोधि-प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध कोलाहल शब्द इस अभिप्राय से हुआ कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुषित् लोक से च्युत होकर मायादेवी के गर्भ में उनकी अवक्रान्ति हुई और यथा समय बुद्ध के रूप में उनका जन्म हुआ।[1]

उक्त प्रकरणों में भव-भ्रमण का प्रकार, आयु की दीर्घता आदि अनेक विषय अन्वेषणीय बन जाते हैं। तीर्थङ्करत्व प्राप्ति के लिए बीस निमित्त और बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए दश पारमितायें अपेक्षित मानी गई हैं। उन निमित्तों और पारमिताओं के हार्द में बहुत कुछ समानता है।

बीस निमित्त[2]	*दश पारमितायें*
१—अरिहन्त की आराधना	१—दान
२—सिद्ध की आराधना	२—शील
३—प्रवचन की आराधना	३—नैष्क्रम्य
४—गुरु का विनय	४—प्रज्ञा
५—स्थविर का विनय	५—वीर्य
६—बहुश्रुत का विनय	६—क्षान्ति
७—तपस्वी का विनय	७—सत्य
८—अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग	८—अधिष्ठान
९—निर्मल सम्यग्दर्शन	९—मैत्री
१०—विनय	१०—उपेक्षा[3]

---

१. जातक अट्ठकथा, दूरे निदान, पृ० २ से ३६ के आधार पर।

२. इमेहि य णं वीसाएहि य कारणेहिं आसेवियबहुली—कएहिं तित्थयरनामगोयं कम्मं निव्वत्तिसु तं जहा—

अरहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छलया य तेसिं अभिक्ख णाणोवओगे य ॥ १ ॥
दंसण विणय आवस्सए य सीलव्वए णिरइयारं।
खणलव तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीओ ॥ ३ ॥

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अ० ८, सू० ७०

३. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १८१-१८२ ; जातक, प्रथम खण्ड, पृ० ११०-११३।

११—षड् आवश्यक का विधिवत् समाचरण

१२—ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन

१३—ध्यान

१४—तपश्चर्या

१५—पात्र-दान

१६—वैयावृत्ति

१७—समाधि-दान

१८—अपूर्व ज्ञानाभ्यास

१९—श्रुत-भक्ति

२०—प्रवचन-प्रभावना

बीस निमित्तों और दश पारमिताओं के भावनात्मक साम्य के साथ-साथ एक मौलिक अन्तर भी है। बुद्ध बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए कृत संकल्प होते हैं और सारी क्रियाएँ बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये ही करते हैं। जैन परम्परा के अनुसार वीतरागता (बौद्ध परिभाषा में अर्हत् पद) के लिए ही प्रयत्न विहित है। तीर्थङ्करत्व एक गरिमापूर्ण पद है। वह काम्य नहीं हुआ करता। वह तो सहज सुकृत-संचय से प्राप्त हो जाता है। विहित तप को किसी नश्वर काम्य के लिए अर्पित कर देना, जैन परिभाषा में 'निदान'[१] कहलाता है। वह विराधकता का सूचक है। भौतिक ध्येय के लिए तप करना भी अशास्त्रीय है।[२] बौद्धों में बुद्धत्व इसलिए काम्य माना गया है कि वहाँ व्यक्ति अपनी भव-मुमुक्षा को गौण करता है और विश्व-मुक्ति के लिए इच्छुक होता है। तात्पर्य, जैनों ने तीर्थङ्करत्व को उपाधि विशेष से जोड़ा है और बुद्धों ने बुद्धत्व को केवल परोपकारता से। यही अपेक्षा-भेद दोनों परम्पराओं के मौलिक अन्तर का कारण बना है। परोपकारता जैन धर्म में भी अना-काङ्क्षणीय नहीं है और पदा-कांक्षा बौद्ध धर्म में भी उपादेय नहीं है। इस प्रकार उक्त अन्तर केवल सापेक्ष वचन-विन्यास ही ठहरता है।

*

१. दशाश्रुतस्कन्ध, निदान प्रकरण।

२. चउव्विहा खलु तवसमाहि भवइ। तंजहा—नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा।

—दसवैकालिक, अ० ९, उ० ४

: ६ :

जन्म और प्रव्रज्या

भगवान् महावीर की मौलिक जीवन-गाथा श्वेताम्बर परम्परा में **आचारांग** और **कल्प**—इन दो आगमों में मिलती है। टीका, चूर्णि, निर्युक्ति और काव्य ग्रन्थों में वह पल्लवित होती रही है। भगवान् बुद्ध का प्रारम्भिक जीवन-वृत्त मुख्यतः '**जातक**' में मिलता है। वैसे तो समग्र आगम व त्रिपिटक ही दोनों की जीवन गाथा के पूरक हैं, पर जीवन चरित की शैली में उनकी यत्किञ्चित् जीवन-गाथा उक्त स्थलों में ही विशेषतः उपलब्ध है। दोनों युगपुरुषों के जन्म व दीक्षा के वर्णन परस्पर समान भी हैं और असमान भी। वे समानताएँ और असमानताएँ जैन और बौद्ध संस्कृतियों के व्यवधान को समझने में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त उन वर्णनों से तत्कालीन लोक-धारणाओं, सामाजिक प्रथाओं और धार्मिक परम्पराओं पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

महावीर और बुद्ध-दोनों ही अपने प्राग्-भव के अन्तिम भाग में अपने अग्रिम जन्म को सोच लेते हैं। दोनों के सोचने में अन्तर केवल यह है कि महावीर सोचते हैं, मेरा जन्म कहाँ होने वाला है और बुद्ध सोचते हैं, मुझे कहाँ जन्म लेना चाहिए।

बुद्ध ने अपने उत्पत्ति-काल के विषय में सोचा, मुझे उस समय जन्म लेना चाहिए, जब मनुष्यों का आयुमान सौ वर्ष से अधिक और लाख वर्ष से कम हो। वही समय नैर्याणिक (निर्वाणोचित) होता है। जैन परम्परा में भी भरत क्षेत्र में तीर्थङ्करों का उत्पत्ति-काल वही माना गया है, जब मनुष्य मध्य आयु वाले होते हैं।

महावीर का जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है और बुद्ध का जम्बूद्वीप दश हजार योजन का। महावीर जम्बूद्वीप के दक्षिण भारत में उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर में जन्म लेते हैं और बुद्ध जम्बूद्वीप के मध्य देश में कपिलवस्तु नगर में जन्म लेते हैं। दोनों ही भू-भाग बहुत समीपवर्त्ती हैं। केवल अभिधाएँ भिन्न-भिन्न हैं।

महावीर ब्राह्मण-कुल में देवानन्दा के गर्भ में आते हैं। इन्द्र सोचता है—"अरिहन्त क्षत्रिय कुल को छोड़ ब्राह्मण, वैश्य व शूद्र, इन कुलों में न कभी उत्पन्न हुए, न कभी होंगे।

मुझे देवानन्दा का गर्भ हरण कर भगवान् को त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर में स्थापित करना चाहिए।"[1] इन्द्र की आज्ञा से हरिणैगमेषी देव वैसा कर देता है। बुद्ध स्वयं सोचते हैं, बुद्ध ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते हैं, वैश्य और शूद्र कुल में नहीं ; अतः मुझे क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेना है। इन्द्र ने केवल क्षत्रिय कुल में ही तीर्थङ्कर का उत्पन्न होना माना है और बुद्ध ने क्षत्रिय और ब्राह्मण—इन दो कुलों में बुद्ध का उत्पन्न होना।

गर्भाधान के समय महावीर की माता सिंह, गज, वृषभ आदि चौदह स्वप्न देखती है। बुद्ध की माता केवल एक स्वप्न देखती है, हाथी का। प्रातः स्वप्न-पाठक महावीर के लिए चक्रवर्ती या जिन होने का और बुद्ध के लिए चक्रवर्ती या बुद्ध होने का फलादेश करते हैं।

जन्म-प्रसंग पर देवों का संसर्ग दोनों ही युगपुरुषों के यहाँ बताया गया है। दोनों ही परम्पराओं के वर्णन आलंकारिक हैं। जातक कथा का वर्णन अधिक विस्तृत और अतिशयोक्ति प्रधान है। महावीर[2] और बुद्ध—दोनों ही अपनी-अपनी माता के गर्भ से मल-निर्लिप्त जन्म लेते हैं।

शुद्धोदन सद्यः-जात शिशु बुद्ध को काल देवल तपस्वी के चरणों में रखना चाहता है, पर इससे पूर्व बुद्ध के चरण तपस्वी की जटाओं में लग जाते हैं, इसलिए कि बुद्ध जन्म से ही किसी को प्रणाम नहीं किया करते। महावीर की जीवन-चर्या में ऐसी कोई घटना नहीं घटती है, पर तीर्थङ्करों का भी यही नियम है कि वे किसी पुरुष-विशेष को प्रणाम नहीं करते।[3]

महावीर का अंक-धाय, मज्जन-धाय आदि पाँच धायें और बुद्ध का निर्दोष धायें लालन-पालन करती हैं।

शाला आदि में जाकर शिल्प, व्याकरण आदि का अध्ययन न महावीर करते हैं और न बुद्ध। महावीर एक दिन के लिए शाला में जाते हैं और इन्द्र के व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्नों का निरसन कर अपनी ज्ञान-गरिमा का परिचय देते हैं। बुद्ध एक दिन शिल्प-विशारदों के बीच अपनी शिल्प-दक्षता का परिचय देते हैं।

महावीर भोग-समर्थ होकर और बुद्ध सोलह वर्ष के होकर दाम्पत्तिक जीवन प्रारम्भ करते हैं।[4] जातक शीत, ग्रीष्म और वर्षा—इन ऋतुओं के पृथक्-पृथक् तीन प्रासाद कहकर वैभवशीलता व्यक्त करते हैं। जैन परम्परा 'विस्तीर्ण व विपुल'[5] कहकर ही बहुधा राज-

---

१. गर्भ-हरण का प्रसंग दिगम्बर परम्परा में अभिमत नहीं है।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, प्रथम पर्व (हिन्दी अनुवाद), पृ० १३९।

३. कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी, पृ० १२७।

४. दिगम्बर-परम्परा में महावीर का दाम्पत्तिक जीवन मान्य नहीं है।

५. उववाई, सू० ६ : विच्छिण्णविउलभवन।

प्रासादों का वर्णन करती है। अन्यान्य प्रकरणों से भी पता चलता है, उस युग में श्रीमन्त लोग पृथक्-पृथक् ऋतुओं के लिए पृथक्-पृथक् प्रकार के भवन बनाते और ऋतु के अनुसार उनमें निवास करते थे।[1]

बुद्ध के मनोरञ्जन के लिए चम्मालीस सहस्र नर्तिकाओं की नियुक्ति का वर्णन है।

प्रतिबोध-समय पर महावीर को लोकान्तिक देव आकर प्रतिबुद्ध करते हैं और बुद्ध को देव आकर वृद्ध, रोगी, मृत व संन्यासी के पूर्व शकुनों से प्रतिबुद्ध करते हैं। बोधि-प्राप्ति के अनन्तर बुद्ध को भी लोकान्तिक देवों की तरह ही सहम्पति ब्रह्मा आकर धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए अनुप्रेरित करते हैं।[2] दीक्षा से पूर्व महावीर वर्षीदान करते हैं। बुद्ध के लिए ऐसा उल्लेख नहीं है।

नगर-प्रतोली से बाहर होते ही मार बुद्ध से कहता है—"आज से सातवें दिन तुम्हारे लिए चक्र रत्न उत्पन्न होगा ; अतः घर छोड़ कर मत निकलो।" चक्रवर्ती होने वाले के लिए चक्र रत्न की परिकल्पना जैन परम्परा में भी मान्य है।[3]

महावीर का दीक्षा-समारोह इन्द्र आदि देव, नन्दीवर्धन आदि मनुष्य आयोजित प्रकार से मानते हैं। वे महावीर को अलंकृत करते हैं, शिविकारूढ़ करते हैं, जुलूस निकालते हैं, यावत् दीक्षा-ग्रहण-विधि सम्पन्न कराते हैं। जिस रात को बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण होता है, उसी दिन इन्द्र के आदेश से बुद्ध के स्नानोत्तर-काल में देव आते हैं और अन्य उपस्थितों से अदृष्ट रहकर ही उनकी वेश-सज्जा करते हैं।

दोनों प्रकरणों को एक साथ देखने से लगता है, आगमों की दीक्षा-शैली का अनुसरण जातक में हुआ है। बुद्ध के घटनात्मक दीक्षा-प्रयाण में देव-संसर्ग को यथाशक्य ही जोड़ा जा सकता था। पर यह कमी भी कथाकार ने तब पूरी की, जब बुद्ध रात्रि के नीरव वातावरण में अपने अश्व को बढ़ाये ही चले जा रहे थे। वहाँ साठ-साठ हजार देवता चारों ओर हाथ में मशाल लिए चलते हैं।

जन्म, दीक्षा आदि विशेष-सूचना-प्रसंगों पर जैन समुल्लेख इन्द्र के सिंहासन का प्रकम्पित होना बतलाते हैं और बौद्ध समुल्लेख उसका तप्त (गर्म) होना बतलाते हैं।

महावीर ने दीक्षा-ग्रहण के समय पंच-मुष्टिक लुञ्चन किया। बुद्ध ने अपना केश-जूट तलवार से काटा। महावीर के केशों को इन्द्र ने एक वज्र रत्नमय थाल में ग्रहण कर क्षीर समुद्र में विसर्जित किया। बुद्ध ने अपने कटे केश-जूट को आकाश में फेंका। योजन-भर

---

१. भगवती सूत्र, श० ६, उ० ३३।

२. जातक अट्ठकथा, सन्तिके निदान, पृ० १५४।

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, प्रथम पर्व, सर्ग ३, श्लो० ५१३।

ऊँचाई पर वह अधर टिका। इन्द्र ने उसे वहाँ से रत्नमय करण्ड में ग्रहण कर त्रयस्त्रिंश लोक में चूडामणि चैत्य का स्वरूप दिया।

महावीर के लिए कहा गया है—**"अवट्ठिए केसमंसु रोमनहे"**[1] अर्थात् केश, स्मश्रु, रोम, नख अवस्थित (अवृद्धि-शील) रहते हैं। दीक्षा-ग्रहण-काल से बुद्ध के भी केश अवस्थित बताये गये हैं। दोनों ही परम्पराओं ने इसे अतिशय माना है।[2] दोनों के ही केश प्रदक्षिणावर्त्त[3] (घुंघराले) बताये गये हैं।

जिस अश्व पर सवार होकर बुद्ध घर से निकले, उसका नाम कन्थक था। वह गर्दन से लेकर पूँछ तक अठारह हाथ लम्बा था।

बुद्ध में एक सहस्र कोटि हाथियों जितना बल बतलाया गया है। जैन परम्परा के अनुसार चालीस लाख अष्टापद का बल एक चक्रवर्ती में होता है और तीर्थङ्कर तो अनन्त-बली होते हैं। महावीर ने जन्म-जात दशा में ही मेरु को अंगूठे मात्र से प्रकम्पित कर इन्द्र आदि देवों को सन्देह-मुक्त किया। बुद्ध के जीवन-चरित में ऐसी कोई घटना नहीं मिलती, पर योग-बल से यदा-कदा वे नाना चामत्कारिक स्थितियाँ सम्पन्न करते रहे हैं।

भगवान् महावीर

इस अवसर्पिणी काल का सुषम-सुषम आरा बीत चुका था। सुषम आरा भी बीत चुका था। सुषम-दुःषम आरा भी बीत चुका था और दुःषम-सुषम आरा भी बहुत कुछ बीत चुका था। केवल वह पचहत्तर वर्ष साढ़े आठ मास अवशेष था। उस समय भगवान् महावीर ग्रीष्म ऋतु के चतुर्थ मास, अष्टम पक्ष, आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन हस्तोत्तर नक्षत्र का योग आने पर प्राणत नामक दशवें स्वर्ग के पुण्डरीक नामक महाविमान से बीस सागरोपम प्रमाण देव आयुष्य को पूर्ण कर वहाँ से च्युत हुए।

देवानन्दा की कुक्षि में

इसी जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र में दक्षिण ब्राह्मणकुण्ड सन्निवेश में कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त की जालंधर गोत्रीया देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में अवतरित हुए। क्षण भर के लिये प्राणी-मात्र के दुःख का उच्छेद हो गया। तीनों ही लोक में सुख और प्रकाश फैल गया।

---

१. समवायांग, सम० ३४।

२. उल्लेखनीय यह है कि जैन आगमों (समवायांग, सम० ३४; उववाई, सू० १०) में 'जिन' के अतिशयों को "चउत्तीसबुद्ध""अतिसे" "चौंतिस बुद्ध के अतिशय" कहा है। 'जिन' और 'बुद्ध' शब्द की एकार्थता के लिए यह एक सुन्दर प्रमाण है।

३. महावीर के विषय में बताया गया है—'णिकुरुंब-निचिय-कुंचिय-पयाहिणावत्तमुद्धसिरए' (औपपातिक, सू० १०)।

उस समय भगवान् महावीर मति, श्रुत और अवधि—इन तीन ज्ञान के धारक थे। इस देवगति से मुझे च्युत होना है, यह उन्होंने जाना। च्युत होकर मैं देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में पहुँच चुका हूँ, यह भी उन्होंने जाना, किन्तु च्यवन-काल को उन्होंने नहीं जाना, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है।[१]

देवों का आयुष्य जब छः मास अवशिष्ट रहता है, तब उनकी माला मुरझा जाती है, कल्प वृक्ष कम्पित होने लगता है, श्री और ह्री का नाश हो जाता है, वस्त्रों का उपराग होने लगता है, दीनता छा जाती है, नींद उड़ जाती है, कामना समाप्त हो जाती है, शरीर टूटने लगता है, दृष्टि में भ्रान्ति हो जाती है, कम्पन होने लगता है और चिन्ता में ही समय व्यतीत होता है। किन्तु महावीर इसके अपवाद थे। उनके साथ उपर्युक्त बारह प्रकार नहीं हुए। यह उनका अतिशय था।

गर्भाधान के समय देवानन्दा ने अर्धनिद्रित अवस्था में चौदह स्वप्न देखे। तत्काल प्रसन्नमना उठी और उसने ऋषभदत्त को सारा स्वप्न-वृत्त सुनाया। ऋषभदत्त भी बहुत हर्षित हुआ। उसने कहा—"सुभगे! ये स्वप्न विलक्षण हैं। कल्याण व शिव रूप हैं। मंगलमय हैं। आरोग्यदायक व मंगलकारक हैं। इन स्वप्नों के परिणाम स्वरूप तुझे अर्थ, भोग, पुत्र और सुख का लाभ होगा। नव मास और साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर तू एक अलौकिक पुत्र को जन्म देगी। उस पुत्र के हाथ-पाँव बड़े सुकुमार होंगे। वह पाँचों इन्द्रियों से प्रतिपूर्ण व सांगोपांग होगा। उसका शरीर सुगठित और सर्वाङ्ग सुन्दर होगा। विशिष्ट लक्षण, व्यंजन व गुण-सम्पन्न होगा। वह चन्द्र के सदृश सौम्य और सबको प्रिय, कान्त व मनोज्ञ होगा।

"शैशव की देहली पार कर जब वह यौवन में प्रविष्ट होगा, उसका ज्ञान बहुत विस्तृत हो जायेगा। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद, इतिहास तथा निघण्टु का सांगोपांग ज्ञाता होगा। उनके सूक्ष्मतम रहस्यों को विविक्त करेगा। वेदों के विस्मृत हार्द का पुनः जागरण करेगा। वेद के षडंगों व षष्टि तंत्र (कापिलीय) शास्त्र में निष्णात होगा। गणित शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, ब्राह्मण शास्त्र, परिव्राजक शास्त्र आदि में भी धुरंधर होगा।"

गर्भ-संहरण

अवधि-ज्ञान से महावीर के गर्भावतरण की घटना जब इन्द्र को ज्ञात हुई तो सहसा विचार आया—तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि शूद्र, अधम, तुच्छ, अल्प कौटुम्बिक, निर्धन, कृपण, भिक्षुक या ब्राह्मण कुल में अवतरित नहीं होते। वे तो राजन्य कुल में ज्ञात, क्षत्रिय, इक्ष्वाकु, हरि आदि वंशों में ही अवतरित होते हैं।[२] तत्काल हरिणैगमेषी देव को बुलाया और गर्भ-परिवर्तन का आदेश दिया।

१. आचारांग, श्रुत० २, अ० १५, पत्र सं० ३८८-१।
२. कल्पसूत्र, १७-१८।

आश्विन कृष्णा १३ की मध्य रात्रि थी। उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र था। महावीर को देवानन्दा की कुक्षि में आए बयासी अहोरात्र बीत चुके थे। तिरासिवें दिन की मध्य रात्रि में हरिणैगमेषी देव ने उनका देवानन्दा की कुक्षि से संहरण कर उन्हें त्रिशला की कुक्षि में प्रस्थापित किया। महावीर तीन ज्ञान से सम्पन्न थे ; अतः संहरण से पूर्व उन्हें ज्ञात था, ऐसा होगा। संहरण के बाद भी उन्हें ज्ञात था, ऐसा हो चुका है और संहरण हो रहा है, ऐसा भी उन्हें ज्ञात था।[1] पश्चिम रात्रि में त्रिशला ने १ सिंह, २ हाथी, ३ वृषभ, ४ लक्ष्मी, ५ पुष्पमाला युग्म, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ ध्वजा, ९ कलश, १० पद्मसरोवर, ११ क्षीर समुद्र, १२ देव-विमान, १३ रत्न-राशि और १४ निर्धूम अग्नि ये चौदह स्वप्न देखे। वह जगी। प्रसन्नमना राजा सिद्धार्थ के पास आई और स्वप्न-उदन्त कहा। राजा को भी इस शुभ-संवाद से हार्दिक प्रसन्नता हुई। उसने त्रिशला से कहा—"तू ने कल्याणकारी स्वप्न देखे हैं। इनके फलस्वरूप हमें अर्थ, भोग, पुत्र व सुख की प्राप्ति होगी और राज्य की अभिवृद्धि होगी। कोई महान् आत्मा हमारे घर आएगी।"

सिद्धार्थ द्वारा अपने स्वप्नों का संक्षिप्त, किन्तु विशिष्ट फल सुनकर त्रिशला प्रमुदित हुई। राजा के पास से उठकर वह अपने शयनागार में आई। मांगलिक स्वप्न निष्फल न हों, इस उद्देश्य से उसने शेष रात्रि अध्यात्म-जागरण में बिताई।

राजा सिद्धार्थ प्रातः उठा। उसके प्रत्येक अवयव में स्फुरणा थी। प्रातः-कृत्यों से निवृत्त हो व्यायाम शाला में आया। शस्त्राभ्यास, वलान (कूदना), व्यामर्दन, मल्लयुद्ध व पद्मासन आदि विविध आसन किए। थकान दूर करने के लिए शतपाक व सहस्रपाक तेल का मर्दन कराया। मज्जन-घर में आकर स्नान किया। गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया। सुन्दर वस्त्र व आभूषण पहने। सब तरह से सज्जित हो सभा-भवन में आया। सिद्धार्थ के सिंहासन के समीप ही त्रिशला के लिए यवनिका के पीछे रत्न-जटित भद्रासन रखा गया। राजा ने कौटुम्बिक को अष्टांग निमित्त के ज्ञाता स्वप्न-पाठकों को राज-सभा में आमंत्रित करने का आदेश दिया। कौटुम्बिक ने तत्काल उस आदेश को क्रियान्वित किया।

स्वप्न-फल

निमन्त्रण पाकर स्वप्न-पाठकों ने स्नान किया, देव पूजा की और तिलक लगाया। दुःस्वप्न-नाश के लिए दधि, दूर्वा और अक्षत से मंगल किये, निर्मल वस्त्र पहने, आभूषण पहने और मस्तक पर श्वेत सरसों व दूर्वा लगाई। क्षत्रियकुण्ड नगर के मध्य से होते हुए राज-सभा के द्वार पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने परस्पर विचार-विनिमय किया और एक धीमान्

---

१. कल्पसूत्र में संहरण-काल को भी अज्ञात बताया है। वह किसी अपेक्षा-विशेष से ही यथार्थ हो सकता है। तत्त्वतः तो अवधि-ज्ञान-युक्त महावीर के लिए वह अगम्य नहीं हो सकता।

को अपना प्रमुख चुना। सभा में प्रविष्ट हो, राजा का अभिवादन किया। सिद्धार्थ ने उन्हें सत्कृत किया और त्रिशला द्वारा संदृष्ट चौदह स्वप्नों का फल पूछा।

अन्योन्य विमर्षणा के अनन्तर स्वप्न-पाठकों ने उत्तर में कहा—"राजन् ! स्वप्न-शास्त्र में सामान्य फल देने वाले बयालीस और उत्तम फल देने वाले तीस महास्वप्न बताये गये हैं। कुल मिलाकर बहत्तर स्वप्न होते हैं। तीर्थङ्कर और चक्रवर्ती की माता तीस महास्वप्नों में से चौदह स्वप्न देखती है। वासुदेव की माता सात, बलदेव की माता चार और मांडलिक राजा की माता एक स्वप्न देखती है।"

स्वप्न-शास्त्रियों ने आगे कहा—"राजन् ! महारानी त्रिशला ने चौदह स्वप्न देखे हैं; अतः अर्थ-लाभ, पुत्र-लाभ, सुख-लाभ और राज्य-लाभ सुनिश्चित है। नव मास और साढ़े सात अहोरात्र व्यतीत होने पर कुल-केतु, कुल-दीप, कुल-किरीट, कुल-तिलक पुत्र का प्रसव करेगी। वह आपकी कुल-परम्परा का वर्धक, कुल की कीर्त्ति, वृद्धि व निर्वाह का सर्जक होगा। पाँचों इन्द्रियों से प्रतिपूर्ण, सर्वाङ्ग सुन्दर व सुकुमार होगा। लक्षण व व्यंजन-गुणों से युक्त, प्रियदर्शन व शान्त होगा।

"शैशव समाप्त करते ही परिपक्व ज्ञान वाला होगा। जब वह यौवन में प्रविष्ट होगा, दानवीर, पराक्रमी व चारों दिशाओं का अधिशास्ता चक्रवर्ती या चार गति का परिभ्रमण समाप्त करने वाला धर्म-चक्रवर्ती तीर्थङ्कर होगा।"

स्वप्न-पाठकों ने एक-एक कर चौदह स्वप्नों का सविस्तार विवेचन किया। सिद्धार्थ और त्रिशला उसे सुन शतगुणित हर्षित हुए। राजा ने उन्हें जीभर दक्षिणा दी और ससत्कार विदा किया।

मातृ-प्रेम

महावीर ने गर्भ में एक बार सोचा—मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता होगा। मुझे इसमें निमित्त नहीं बनना चाहिए। और वे अपने अंगोपांगों को अकम्पित कर सुस्थिर हो गये। त्रिशला को विविध आशंकाएँ हुईं—क्या किसी देव ने मेरे गर्भ का हरण कर लिया है? क्या वह मर गया है? क्या वह गल गया है? विविध आशंकाओं ने त्रिशला के हृदय पर एक गहरा आघात पहुँचाया। वह सन्न-सी रह गई। विखिन्न वदन रोने लगी। वेदना का भार इतना बढ़ा कि वह मूर्छित होकर गिर पड़ी। सखियों ने तत्काल उसे सम्भाला और गर्भ-कुशलता का प्रश्न पूछा। वृद्धा नारियाँ शान्ति कर्म, मंगल व उपचार के निमित्त मनौतियाँ करने लगीं और ज्योतिषियों को बुला कर उनसे नाना प्रश्न पूछने लगीं। सिद्धार्थ भी इस संवाद से चिन्तित हुआ। मंत्रीजन भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये। राज-भवन का राग-रंग समाप्त हो गया।

महावीर ने ज्ञान-बल से इस उदन्त को जाना। उन्होंने सोचा—मैंने तो यह सब कुछ माता के सुख के लिए किया था, किन्तु इसका परिणाम तो अनालोचित ही हुआ। उन्होंने माता के सुख के लिए हिलना-डुलना आरम्भ किया। गर्भ की कुशलता से त्रिशला पुलक उठी। उसे अपने पूर्व चिन्तन पर अनुताप हुआ। उसे पूर्ण विश्वास हो गया—न मेरा गर्भ अपहृत हुआ है, न मरा है और न गला है। मैंने यह अमंगल चिन्तन क्यों किया? त्रिशला की प्रसन्नता से सारा राज-भवन आनन्द-मग्न हो गया।

यह घटना उस समय की है, जब महावीर को गर्भ में आये सार्ध छः मास व्यतीत हो चुके थे। इस घटना का महावीर के मन पर असर हुआ। उन्होंने सोचा—मेरे दीक्षा-काल में तो न जाने माता-पिता को कितना कष्ट होगा? माता-पिता के इसी कष्ट को विचार कर गर्भ में ही उन्होंने प्रतिज्ञा की—"माता-पिता के रहते मैं प्रव्रजित नहीं होऊँगा।"

गर्भ को सुरक्षित स्थिति में पाकर त्रिशला ने स्नान, पूजन व कौतुक-मंगल किये तथा आभूषणों से अलंकृत हुई। गर्भ-पोषण के निमित्त वह अति शीत, अति उष्ण, अति तिक्त, अति कटुक, अति कषायित, अति आम्ल, अति स्निग्ध, अति रूक्ष, अति आर्द्र, अति शुष्क भोजन का परिहार करती और ऋतु-अनुकूल भोजन करती। अति चिन्ता, अति शोक, अति दैन्य, अति मोद, अति भय, अति त्रास आदि से बचकर रहती।

वयःप्राप्त व अनुभव-प्राप्त महिलाओं की शिक्षा का स्मरण करती हुई, गर्भ-संरक्षण के लिए वह मन्द-मन्द चलती, शनैः-शनैः बोलती, क्रोध व अट्टहास न करती, पथ्य वस्तुओं का सेवन करती, कटि-बन्धन शिथिल रखती, उच्चावच भूमि में परिव्रजन करती हुई सम्भल कर रहती तथा खुले आकाश में न बैठती।

जब से महावीर गर्भ में आये, सिद्धार्थ के घर धन-धान्य की विपुल वृद्धि होने लगी। शक्रेन्द्र के आदेश से वैश्रवण जृम्भक देवों के द्वारा भूमिगत धन-भण्डार, बिना स्वामी का धन-भण्डार, बिना संरक्षण का धन-भण्डार, अपितु ऐसा भूमिगत धन-भण्डार भी, जो किसी के लिए भी ज्ञात नहीं है तथा ग्राम, नगर, अरण्य, मार्ग, जलाशय, तीर्थ-स्थान, उद्यान, शून्यागार, गिरि-कन्दरा आदि में संगोपित धन-भण्डार—इनको वहाँ-वहाँ से उठाकर सिद्धार्थ के घर पहुँचाने लगा। राज्य में धन-धान्य, यान-वाहन आदि की प्रचुर वृद्धि हुई।

दोहद

कल्पसूत्र की कल्पलता व्याख्या के अनुसार त्रिशला को इन्द्राणियों से छीन कर उनके कुण्डल पहनने का दोहद उत्पन्न हुआ। किन्तु ऐसा हो पाना सर्वथा असम्भव था, अतः वह दुर्मनस्क रहने लगी। सहसा इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। अपने अवधि-ज्ञान के बल से उसने यह सब कुछ जाना। इसे पूर्ण करने के उद्देश्य से उसने इन्द्राणी प्रभृति अप्सराओं को साथ लिया और एक दुर्गम पर्वत के अन्तर्वर्ती विषम स्थान में देव-नगर का निर्माण कर

रहने लगा। सिद्धार्थ ने जब यह जाना, ससैन्य इन्द्र के पास आया और उससे कुण्डलों की याचना की। इन्द्र ने उसे देने से मना किया। दोनों ही पक्ष युद्ध के लिए सज्ज हुए। इन्द्र युद्ध में समर्थ था, फिर भी कुछ समय लड़कर वहाँ से भाग निकला। सिद्धार्थ ने अप्सराओं को लूट लिया। विलपती हुई इन्द्राणियों के हाथों बलपूर्वक राजा ने कुण्डल छीने और त्रिशला को लाकर दिये। रानी ने उन्हें पहन कर अपना दोहद पूर्ण किया।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की मध्य रात्रि में नव मास साढ़े सात अहोरात्र की गर्भ-स्थिति का परिपाक हुआ। महावीर ने पूर्ण आरोग्य के साथ जन्म लिया। वे देवताओं की तरह जरायु, रुधिर व मल से रहित थे। उस दिन सातों ग्रह उच्च स्थान-स्थित थे और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग था। अत्यन्त आश्चर्यकारक प्रकाश से सारा संसार जगमगा उठा। आकाश में गम्भीर घोष से दुन्दुभि बजने लगी। नारक जीवों ने अभूतपूर्व सुख की सांस ली। सब दिशाएँ शान्त एवं विशुद्ध थीं। शकुन जय-विजय के सूचक थे। वायु अनुकूल व मन्द-मन्द चल रही थी। बादलों से सुगंधित जल की वर्षा हो रही थी। भूमि शस्य-श्यामला हो रही थी। सारा देश आनन्दमग्न था।

जन्मोत्सव

जन्म के समय छप्पन दिक् कुमारियाँ आईं और उन्होंने सूतिकर्म किया। सौधर्म देवलोक के इन्द्र का आसन कम्पित हुआ। अवधि-ज्ञान से उसे ज्ञात हुआ कि चरम तीर्थङ्कर महावीर का जन्म हुआ है। अत्यन्त आह्लादित वह अपने पूरे परिवार के साथ क्षत्रियकुण्डपुर की ओर चला। उसके साथ भुवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—चारों निकाय के देव और उनके इन्द्र भी थे। सभी देव अहंप्रथमिका से सिद्धार्थ के राज-महलों में पहुँचने के लिए प्रयत्नशील थे। इन्द्र ने महावीर और त्रिशला की तीन प्रदक्षिणा की और उन्हें प्रणाम किया। महावीर का एक प्रतिबिम्ब बना कर माता के पास रखा। अवस्वापिनी निद्रा में माता को सुलाकर महावीर को मेरु पर्वत के शिखर पर ले गये। वहाँ सभी देव आठ प्रकार के आठ हजार चौसठ जल-कलश लेकर स्नात्राभिषेक को उद्यत हुए। सौधर्मेन्द्र मन-ही-मन आशंकित हुआ, एक बालक इतने जल-प्रवाह को कैसे सह सकेगा ?[1]

महावीर ने इन्द्र की आशंका को अवधि-ज्ञान से जान लिया। उसकी निवृत्ति के लिए उन्होंने अपने बायें पाँव से मेरु पर्वत को थोड़ा-सा दबाया। वह कम्पित हो गया। इन्द्र ने कम्पन का कारण जानने के लिए अपने ज्ञान का प्रयोग किया। उसे महावीर की अनन्त शक्ति का अनुभव हुआ। तत्काल भगवान् से क्षमा-याचना की। इन्द्र और देवों ने मिलकर जलाभिषेक किया। भगवान् की स्तुति की और उन्हें पुनः त्रिशला के पास लाकर लौटा दिया।

१—कल्पसूत्र, कल्पलता व्याख्या, पत्र संख्या १०८-२, १०६-१।

प्रियंवदा दासी ने प्रातःकाल सिद्धार्थ को सर्व प्रथम इस शुभ संवाद से सूचित किया। सिद्धार्थ अत्यधिक प्रमुदित हुआ। उसने मुकुट के अतिरिक्त अपने शरीर पर पहने समस्त आभूषण उसे उपहार में दिये और जीवन-पर्यन्त उसे दासत्व से मुक्त कर दिया। आरक्षकों को अपने पास बुलाया और आदेश दिया—बन्दीगृह के समस्त कैदियों को मुक्त कर दो। ऋणीजनों को ऋण-मुक्त कर दो। बाजार में उद्घोषणा कर दो, वस्तु की आवश्यकता होने पर जो स्वयं न खरीद सकता हो, उसे बिना मूल्य लिये ही वह वस्तु दी जाये। उसका मूल्य राज्य-कोष से दिया जायेगा। माप और तोल कर दी जाने वाली वस्तुओं के माप में वृद्धि करा दो। नगर की सब ओर से सफाई करो। सुगन्धित जल से समस्त भूभाग पर छिड़काव करो। देवालयों और राजमार्गों को सजाओ। बाजारों में व अन्य प्रमुख स्थानों पर मंच बंधवा दो ताकि नागरिक सुखासीन होकर महोत्सव देख सकें। दीवारों पर सफेदी कराओ और उन पर थापे लगवाओ। नगर के समस्त नट—नाटक करने वालों, नट्टग—नाचने वालो, जल्ल—रस्सी पर खेलने वालों, मल्ल—मल्लों, मुट्ठि—मुष्टि-युद्ध करने वालों, विडम्बक—विदूषकों, पवग—बन्दर के समान उछल-कूद करने वालों, गड्ढे फांदने वालों व नदी तैरने वालों, कहगा—कथा-वाचकों, पाठग—सूक्ति-पाठकों, लासग—रास करने वालों, लेख-बांस पर चढ़कर खेल करने वालों, मंख—हाथ में चित्र लेकर भिक्षा मांगने वालों, तूण इल्ल—तूण नामक वाद्य बजाने वालों, तुम्ब-वीणिका—वीणा—वादकों, मृदंग-वादकों व तालाचरा—तालियाँ बजाने वालों को सज्ज करो और उन्हें त्रिक, चतुष्पथ व चत्वर आदि में अपनी उत्कृष्ट कलाबाजियाँ दिखाने का निर्देश दो। सभी सम्बन्धित अधिकारी और कर्मचारी उन कामों में जुट गये।

सिद्धार्थ व्यायाम शाला में आया। नियम पूर्वक अपनी दैनिक चर्या सम्पन्न की। स्नान किया और वस्त्राभूषणों से सज्जित होकर राज-सभा में आया। आनन्द-विनोद के साथ दस दिन तक स्थितिपतित नामक महोत्सव' मनाने का निर्देश किया। तीसरे दिन महावीर को चन्द्र-सूर्य-दर्शन कराये गये। छठे दिन रात्रि-जागरण हुआ। बारहवें दिन नाम-संस्कार किया गया। उस दिन सिद्धार्थ ने अपने इष्ट मित्रों, स्वजनों, स्नेहियों व भृत्यों को आमंत्रित कर भोजन-पानी, अलंकार आदि से सबको सत्कृत किया। आगन्तुक अतिथियों को सम्बोधित करते हुए उसने कहा—"जब से यह बालक गर्भ में आया है, धन-धान्य, कोश, कोष्ठागार, बल, स्वजन और राज्य में अतिशय वृद्धि हुई है ; अतः इसका नाम 'वर्द्धमान' रखा जाये।" सिद्धार्थ का यह प्रस्ताव सभी को भा गया। महावीर का सर्व प्रथम वर्द्धमान नामकरण हुआ। जब वे साधना में प्रवृत्त हुए और दुःसह, मारणान्तिक व महादारुण परिषहों में अविचलित रहे तो देवों ने उनका महावीर नामकरण किया, जो अति विश्रुत हुआ।

बाल्य-जीवन

महावीर का बाल्य-काल एक राजकुमार की भाँति सुख-समृद्धि और आनन्द में बीता। उनके लालन-पालन के लिए पाँच सुदक्ष धाइयाँ नियुक्त की गई, जो उनके प्रत्येक कार्य को विधिवत् संचालित करती थीं। उन पाँचों के काम बँटे हुए थे—दूध पिलाना, स्नान कराना, वस्त्राभूषण पहनाना, क्रीड़ा कराना व गोद में लेना।

खेल-कूद में महावीर को विशेष रुचि नहीं थी ; फिर भी अपने समवयस्कों के साथ वे यदा-कदा प्रमदवन (गृहोद्यान) में खेलते थे। एक बार जब कि उनकी अवस्था आठ वर्ष से कुछ कम थी, समवयस्कों के साथ संकुली (आमलकी) खेल रहे थे। इस खेल में किसी वृक्ष विशेष को लक्षित कर सभी बालक उसकी ओर दौड़ पड़ते। जो बालक सब से पहले उस वृक्ष पर चढ़कर उतर आता, वह विजयी होता। पराजित बालकों के कंधों पर सवार होकर वह उस स्थान तक जाता, जहाँ से दौड़ आरम्भ होती थी।

क्रीडारत महावीर को लक्ष्य कर एक बार शक्रेन्द्र ने देवों से कहा—"महावीर बालक होते हुए भी बड़े पराक्रमी व साहसी हैं। इन्द्र, देव, दानव—कोई भी उनको पराजित नहीं कर सकता। एक देव को इन्द्र के इस कथन पर विश्वास न हुआ। परीक्षा के लिए, जहाँ महावीर खेल रहे थे, वह वहाँ आया। भयंकर सर्प बनकर उस पीपल के तने पर लिपट गया और फुफकारने लगा। महावीर उस समय पीपल पर चढ़े हुए थे। विकराल सर्प को देखकर सभी बालक डर गये। वर्द्धमान तनिक भी विचलित न हुए। उन्होंने दाँये हाथ से सर्प को पकड़ कर एक ओर डाल दिया।

बालक फिर एकत्रित हुए और तिदूंसक खेल खेलने लगे। दो-दो बालकों के बीच वह खेल खेला जाता था। दोनों बालक लक्षित वृक्ष की ओर दौड़ पड़ते। जो बालक लक्षित वृक्ष को सबसे पहले छू लेता, वह विजयी होता। विजयी पराजित पर सवार होकर प्रस्थान-स्थान पर आता। वह देव बालक बन कर उस टोली में सम्मिलित हो गया। महावीर ने उसे पराजित कर वृक्ष को छू लिया। नियमानुसार महावीर उस पर आरूढ़ होकर नियत स्थान पर आने लगे। देव ने उन्हें भीत करने व उनका अपहरण करने के लिए अपने शरीर को सात ताड़ प्रमाण ऊँचा और बहुत ही भयावह बना लिया। सभी बालक घबरा गये। कुछ चित्कार करने लगे व कुछ रोने लगे। महावीर अविचलित रहे। उन्होंने उसकी धूर्तता को भांप लिया और अपने पौरुष से उसके सिर व पीठ पर मुष्टिका का प्रहार किया। देव उस प्रहार को सह न सका। वह जमीन में धंसने लगा। उसने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और लज्जित होकर महावीर के चरणों में गिर पड़ा। बोला—"इन्द्र ने जैसी आपकी प्रशंसा की थी, आप उससे भी अधिक धीर व वीर हैं।" देव अपने स्थान पर गया। इन्द्र स्वयं आया और उसने उनके वीरोचित कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

बल

महावीर के बल के बारे में माना जाता है—बारह योद्धाओं का बल एक वृषभ में, दस वृषभों का बल एक अश्व में, बारह अश्वों का बल एक महिष में, पन्द्रह महिषों का बल एक हाथी में, पाँच सौ हाथियों का बल एक केसरीसिंह में, दो हजार केसरीसिंह का बल एक अष्टापद में, दस लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव में, दो बलदेवों का बल एक वासुदेव में, दो वासुदेवों का बल एक चक्रवर्ती में, एक लाख चक्रवर्तियों का बल एक नागेन्द्र में, एक करोड़ नागेन्द्रों का बल एक इन्द्र में और ऐसे अनन्त इन्द्रों के बल के सदृश बल तीर्थङ्करों की कनिष्ठ अंगुलि में होता है।

अध्ययन

महावीर जब कुछ अधिक आठ वर्ष के हुए तो माता-पिता ने शुभ मुहूर्त में अध्ययनार्थ विद्यालय भेजा। पंडित को उपहार में नारियल, बहुमूल्य वस्त्र व आभूषण दिये गये। विद्यार्थियों में खाने के स्वादु पदार्थ व अध्ययन में उपयोगी वस्तुएँ वितरित की गई। पंडित ने महावीर के लिए विशेष आसन की व्यवस्था की।

इन्द्र को सिद्धार्थ और त्रिशला की इस प्रवृत्ति पर विस्मय हुआ। तीन ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष को सामान्य जन पढ़ाये, यह उचित नहीं है। वह ब्राह्मण का रूप बनाकर वहाँ आया। महावीर से सभी विद्यार्थियों व पंडित की उपस्थिति में व्याकरण-सम्बन्धी नाना दुरूह प्रश्न पूछे। महावीर ने अविलम्ब उनके उत्तर दिये। पंडित व विद्यार्थी चकित हो गये। उन प्रश्नोत्तरों से पंडित की भी बहुत सारी शंकाएँ निर्मूल हो गईं। इन्द्र ने पंडित से कहा—"यह छात्र असाधारण है। सब शास्त्रों में पारंगत यह बालक महावीर है।" पंडित को इस सूचना से हार्दिक प्रसन्नता हुई। इन्द्र ने महावीर के मुख से निःसृत उन उत्तरों को व्यवस्थित संकलित किया और उसे ऐन्द्र व्याकरण की संज्ञा दी।

विवाह

सिद्धार्थ और त्रिशला ने यौवन में महावीर से विवाह का आग्रह किया। महावीर दाम्पतिक जीवन जीना नहीं चाहते थे, किन्तु वे माता-पिता के आग्रह को टाल भी न सके। वसन्तपुर नगर के महासमान्त[1] समरवीर व पद्मावती की कन्या यशोदा के साथ उनका पाणि-ग्रहण हुआ।[2]

---

१. वैजन्ती कोष (पृ० ८४७) में सामन्त का अर्थ पड़ोसी राजा किया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी सामन्त शब्द का यही अर्थ उपलब्ध होता है। पड़ोसी राजाओं में भी जो प्रमुख होते थे, वे महासामन्त कहलाते थे।

२. दिगम्बर-परम्परा भगवान् महावीर का पाणि-ग्रहण तो नहीं मानती, पर इतना अवश्य मानती है कि माता-पिता की ओर से उनके विवाह का वातावरण बनाया गया था। अनेक राजा अपनी-अपनी कन्याएँ उन्हें देना चाहते थे। राजा जितशत्रु अपनी कन्या यशोदा का उनके साथ विवाह करने के लिए विशेष आग्रहशील था। पर महावीर ने विवाह करना स्वीकार न किया।

—हरिवंश पुराण

उनके पारिवारिक जनों का परिचय भी आगमों में पर्याप्त रूप से मिलता है। उनके चाचा का नाम सुपार्श्व, अग्रज का नाम नन्दीवर्धन, बड़ी बहिन का नाम सुदर्शना, पुत्री का नाम प्रियदर्शना व अनवद्या तथा दामाद का नाम जमालि था। दोहित्री का नाम शेषवती व यशस्वती था।

महावीर सहज विरक्त थे। उनका शरीर अत्यन्त कान्त व बलिष्ठ था। उनके लिए भोग-सामग्री सर्व सुलभ थी, पर वे उसमें उदासीन व अनुत्सुक रहते थे। सिद्धार्थ और त्रिशला पार्श्वापत्यिक उपासक थे। उनका धर्मानुराग बड़ा उत्कट था। उन्होंने अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक धर्म का पालन किया। अपने अन्तिम समय में अहिंसा की साधना के लिए पापों की आलोचना, निन्दा, गर्हा करते हुए प्रतिक्रमण व प्रायश्चित्त कर यावज्जीवन के लिए संथारा किया। वहाँ से आयु शेष कर वे अच्युत कल्प में उत्पन्न हुए।

महावीर उस समय अट्ठाईस वर्ष के थे। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर उन्होंने अपने अग्रज नन्दीवर्धन के समक्ष प्रव्रजित होने की भावना प्रस्तुत की। नन्दीवर्धन को इससे आघात लगा। माता-पिता के वियोग में अनुज का भी वियोग वह सहने में अक्षम था। उसके अनुरोध पर महावीर और दो वर्ष तक प्रव्रजित न होने के लिए सहमत हो गये। इसी बीच सर्वत्र यह बात फैल गई कि महावीर के गर्भ-समय उनकी माता ने चतुर्दश स्वप्न देखे थे; अतः वे अब चक्रवर्ती होंगे। बड़े-बड़े राजाओं ने श्रेणिक, चण्ड प्रद्योतन आदि अपने कुमारों को उनकी सेवा में तत्पर कर दिया।[1] किन्तु महावीर तो अनासक्त थे। चक्रवर्तित्व उनके समक्ष नगण्य था। वे तो निर्विण्ण अवस्था में ही रहते। इस अवधि में गृहस्थावास में रहते हुए भी उन्होंने सचित्त पानी नहीं पिया, रात्रि-भोजन नहीं किया और ब्रह्मचर्य का पालन किया। भूमि-शयन ही करते और कषाय-अग्नि को शान्त करने के लिए एकत्व भावना में लीन रहते। एक वर्ष की अवधि के बाद उन्होंने वर्षीदान आरम्भ किया। वे प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण मुद्राएँ दान करते थे। वर्ष भर में तीन अरब अठासी करोड़ अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राएँ उन्होंने दान कीं।

अभिनिष्क्रमण

तीस वर्ष की अवस्था में महावीर समाप्त-प्रतिज्ञ हुए। लोकान्तिक देव अपने जीताचार के अनुसार महावीर के पास आये और उन्होंने कहा—

जयजय खत्तिय वर वसभ ! बुज्झहि भयवं ।
सव्व जगज्जीव हियं अरहंतित्थं पव्वत्तेहि ॥

"हे क्षत्रिय वर वृषभ ! आपकी जय हो। अब आप दीक्षा ग्रहण करें और समस्त प्राणियों के लिए हितकर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करें।" उन्होने महावीर को वन्दन-नमस्कार किया और अपने स्थान की ओर गये।

---

१. कल्पसूत्र, कल्पलता व्याख्या, पृ० १२३-१।

महावीर ने अपने अग्रज नन्दिवर्धन व चाचा सुपार्श्व आदि स्वजनों के समक्ष दीक्षा-विषयक अपना दृढ़ संकल्प व्यक्त किया। सभी स्वजनों ने उनके संकल्प का अनुमोदन किया।

नन्दिवर्धन ने अभिनिष्क्रमण महोत्सव आरम्भ किया। उसने अपने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया, आठ प्रकार[1] के एक-एक हजार आठ कलश तैयार कराओ। आदेश शीघ्र ही क्रियान्वित हुआ। महोत्सव मनाने के लिए शक्रेन्द्र भी अपने पूरे परिवार के साथ आया। नन्दिवर्धन, इन्द्र और देवों ने महावीर को पूर्वाभिमुख स्वर्ण-सिंहासन पर बैठाकर आठ प्रकार के कलशों में स्वच्छ पानी भरा कर अभिषेक किया। गंधकाषाय वस्त्र से शरीर पोंछा गया और दिव्य चंदन का विलेपन किया गया। अल्प भार वाले बहुमूल्य वस्त्र व आभूषण पहनाये गये। महावीर इन सब कार्यों से निवृत्त होकर सुविस्तृत व सुसज्जित चन्द्र-प्रभा शिविका में आरूढ़ हुए। मनुष्यों, इन्द्र और देवों ने मिलकर उस शिविका को उठाया। विशाल जन-समूह के साथ क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्य से होते हुए ज्ञातृ-खण्ड उद्यान के अशोक वृक्ष के नीचे पहुँचे। समस्त अलंकारों व वस्त्रों को अपने हाथ से उतारा। उन्होंने पंचमुष्टि लुंचन किया। शक्रेन्द्र ने जानुपाद रह कर उन केशों को एक वज्ररत्नमय थाल में ग्रहण किया। तथा क्षीर समुद्र में उन्हें विसर्जित कर दिया। महावीर के शरीर पर केवल एक देवदूष्य वस्त्र रहा।

उस दिन महावीर के षष्ट भक्त (दो दिन का) तप था। विशुद्ध लेश्या थी। हेमन्त ऋतु थी। मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी तिथि थी। सुव्रत दिवस था, विजय मुहूर्त, चौथा प्रहर तथा उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। मनुष्यों और देवों की विराट् परिषद् में सिद्धों को नमस्कार करते हुए—**सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं**—आज से सब पाप मेरे लिए अकृत्य है, मैं आज से कोई पाप कार्य नहीं करूँगा, यह कहते हुए उन्होंने सामायिक चरित्र ग्रहण किया। सारा कलरव शान्त था और सहस्रों देवों व मनुष्यों के निर्निमेष नेत्र उस स्वर्णिम दृश्य को देख रहे थे। उसी समय महावीर को मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हुआ।

अभिग्रह

दीक्षित होते ही महावीर ने मित्र, ज्ञाति व सम्बन्धी वर्ग को विसर्जित किया। एक उत्कट अभिग्रह धारण किया—"बारह वर्ष तक व्युत्सृष्टकाय और त्यक्तदेह (देह-शुश्रूषा से उपरत) होकर रहूँगा। इस अवधि में देव, मनुष्य व पशु-पक्षियों द्वारा जो भी उपसर्ग उपस्थित होंगे, उन्हें समभाव पूर्वक सहन करूँगा।"

---

१. (१) स्वर्ण, (२) रजत, (३) रत्न, (४) स्वर्ण-रजत, (५) स्वर्ण-रत्न, (६) रत्न-रजत, (७) स्वर्ण-रजत-रत्न, (८) मृत्तिका।

बाद में ज्ञात-खण्ड उद्यान से विहार किया। उसी दिन सायंकाल एक मुहूर्त्त दिन शेष रहने पर वे कुमार ग्राम पहुँचे और ध्यानस्थ हो गये।

भगवान् बुद्ध

बोधिसत्व जब तुषित् लोक में थे, बुद्ध कोलाहल पैदा हुआ। लोकपाल देवताओं ने, सहस्त्र वर्ष बीतने पर लोक में सर्वज्ञ बुद्ध उत्पन्न होंगे, ऐसा जान कर मित्रों को सम्बोधित कर सर्वत्र घूमते हुए उच्च स्वर से घोषणा की—"अब से सहस्र वर्ष बीतने पर लोक में बुद्ध उत्पन्न होंगे।" घोषणा से प्रेरित हो समस्त दस सहस्र चक्रवालों के देवता एकत्रित हुए। बुद्ध कौन होगा, यह जाना और उसके पूर्व लक्षणों को देखकर उसके पास गये व याचना की। जब उनके पूर्व लक्षण उदित हो गये तो चक्रवाल के सभी देवता—चतुर्महाराजिक, शक्र, सुयाम, संतुषित्, परनिर्मित-वशवर्ती—महाब्रह्माओं के साथ एक ही चक्रवाल में एकत्रित हुए और उन्होंने परस्पर मंत्रणा की। वे तुषित् लोक में बोधिसत्व के पास गये और उन्होंने प्रार्थना की—"मित्र ! तुमने जो दस पारमिताओं की पूर्ति की है, वह न तो इन्द्रासन पाने के लिए की है, न मार, ब्रह्मा या चक्रवर्ती का पद पाने के लिए, अपितु लोक-निस्तार व बुद्धत्व की इच्छा से ही उन्हें पूर्ण किया है। मित्र ! अब यह बुद्ध होने का समय है।"

पाँच महाविलोकन

बोधिसत्व ने देवताओं को वचन दिये बिना ही अपने जन्म-सम्बन्धी समय, द्वीप, देश, कुल-माता तथा उसका आयु-परिमाण, इन पाँच महाविलोकनों पर सविस्तार विचार किया। समय उचित है या नहीं, सर्व प्रथम यह चिन्तन किया। लाख वर्ष से अधिक की आयु का समय बुद्धों के जन्म के लिए उपयुक्त नहीं होता ; क्योंकि उस समय प्राणियों को जन्म, जरा व मृत्यु का भान नहीं होता। बुद्धों का धर्मोपदेश अनित्य, दुःख तथा अनात्म-भाव से रहित नहीं होता। उस समय इस उपदेश पर लोग ध्यान नहीं देते, उस पर श्रद्धा नहीं करते व नाना ऊहापोह करते हैं। उन्हें इसलिए धर्म का बोध नहीं हो सकता और ऐसा न होने पर बुद्ध-धर्म उनके लिए सहायक (नैर्याणिक) नहीं होता ; अतः वह समय अनुकूल नहीं है।

सौ वर्ष से कम आयु का समय भी अनुकूल नहीं होता, क्योंकि स्वल्पायुषी प्राणियों में राग-द्वेष की बहुलता होती है; अतः उन्हें दिया गया उपदेश भी प्रभावोत्पादक नहीं होता। पानी में लकड़ी से खींची गई रेखा की तरह वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है; अतः यह समय भी अनुकूल नहीं है।

लाख वर्ष से कम और सौ वर्ष से अधिक का समय अनुकूल होता है। प्रवर्तमान समय ऐसा ही है, अतः बुद्धों के जन्म के लिए उपयुक्त है।

द्वीप का विचार करते हुए उपद्वीपों सहित चारों द्वीपों को देखा। उपर-गोयान,

पूर्वविदेह तथा उत्तर कुरु[1]—इन तीनों द्वीपों में बुद्ध जन्म नहीं लेते, केवल जम्बूद्वीप में ही जन्म लेते हैं ; अतः इसी द्वीप का निश्चय किया।

जम्बूद्वीप तो दस हजार योजन परित्राण है ; अतः प्रदेश का चिन्तन करते हुए उन्होंने मध्य प्रदेश को देखा। इस प्रदेश के पूर्व में कजंगल कस्बा है। उसके आगे शाल के बड़े वन हैं। मध्य में सललवती नदी है। दक्षिण में सेतकण्णिक कस्बा है। पश्चिम में थून नामक ब्राह्मणों का ग्राम है। उत्तर में उशीरध्वज पर्वत है। वह लम्बाई में तीन सौ योजन, चौड़ाई में ढाई सौ योजन और परिधि में नौ सौ योजन है। इसी प्रदेश में बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध, अग्र श्रावक (प्रधान शिष्य), महाश्रावक, अस्सी महाश्रावक, चक्रवर्ती राजा तथा महा प्रतापी, ऐश्वर्य-सम्पन्न, क्षत्रिय, ब्राह्मण व वैश्य पैदा होते हैं। कपिलवस्तु नगर भी इसी प्रदेश में है ; अतः इसी नगर में जन्म-ग्रहण का निश्चय किया।

कुल के बारे में चिन्तन करते हुए उन्होंने निश्चय किया—"बुद्ध वैश्य या शूद्र कुल में उत्पन्न नहीं होते ; लोकमान्य क्षत्रिय या ब्राह्मण—इन्हीं दो कुलों में जन्म लेते हैं। आजकल क्षत्रिय कुल ही लोकमान्य है, अतः इसी कुल में जन्म लूँगा। राजा शुद्धोदन मेरे पिता होंगे।"

माता के स्वभाव और आचार का विश्लेषण करते हुए उन्होंने सोचा—"बुद्धों की माता चञ्चलता-रहित व शराब आदि व्यसनों से युक्त होती है। लाख कल्प से दान आदि पारमिताएँ पूर्ण करने वाली और जन्म से ही अखण्ड पंचशील का पालन करने वाली होती है। देवी महामाया इन गुणों से युक्त है। यह मेरी माता होगी।" किन्तु अब इसकी आयु कितनी अवशिष्ट है, यह विचार करते हुए उन्होंने दस मास सात दिन का आयुष्य शेष पाया।

पाँच महाविलोकनों को देखकर बोधिसत्व ने "मेरे बुद्ध होने का यह समय है" यह कहते हुए उन देवताओं को सन्तुष्ट किया और उन्हें विदा किया। तुषित् लोक के देवताओं के साथ उस लोक के नन्दन वन में प्रवेश किया। साथी देवता वहाँ बोधिसत्व को यहाँ से च्युत होकर प्राप्त होने वाली सुगति और पूर्वकृत पुण्य कर्मों के बल पर मिलने वाले स्थानों का स्मरण दिलाते हुए घूमते रहे। वहाँ से च्युत होकर वे देवी महामाया की कुक्षि में आए।

स्वप्न-दर्शन

कपिलवस्तु में उस समय सभी नागरिक आषाढ़-उत्सव मना रहे थे। पूर्णिमा से सात दिन पूर्व ही देवी महामाया, मद्य-पान विरत व माला-गंध आदि से सुशोभित हो, उत्सव

---

१. जैन परम्परा के अनुसार भी पूर्वविदेह, पश्चिमविदेह उत्तरकुरु, देवकुरु, आदि क्षेत्र जम्बूद्वीप के अंग हैं।

मना रही थी। वह सातवें दिन प्रातः ही उठी। सुगन्धित जल से स्नान किया। चार लाख का महादान दिया। सब प्रकार के अलंकारों से विभूषित हो सुस्वादु भोजन किया। उपोसथ (व्रत) के नियम ग्रहण कर सु-अलंकृत शयनागार में रमणीय पल्यंक पर लेट गई। निद्रित अवस्था में उस समय उसने स्वप्न देखा—"चार महाराज (दिक्पाल) शय्या सहित मुझे उठा कर हिमवन्त प्रदेश में ले गये। साठ योजन के मनशिला नामक शिला पर सात योजन छाया वाले महान् शाल वृक्ष के नीचे मुझे रखकर खड़े हो गये। उन दिक्पालों की देवियाँ तब मुझे अनोतप्त दह पर ले गईं। मनुष्य-मल को दूर करने के लिए स्नान कराया, दिव्य वस्त्र पहनाये, गन्ध-विलेपन किया और दिव्य फूलों से सजाया। उसके समीप ही रजत पर्वत है। उसमें स्वर्ण विमान है। वहाँ पूर्व की ओर सिर कर दिव्य बिछौने पर मुझे लेटा दिया। बोधिसत्व श्वेत सुन्दर हाथी बन समीपवर्ती सुवर्ण पर्वत पर विचरे तथा वहाँ से उत्तर रजत पर्वत पर चढ़े। उत्तर दिशा से होकर उक्त स्थान पर पहुँचे। रुपहली माला के सदृश उनकी सूंड में श्वेत कमल था। मधुर नाद करते हुए स्वर्ण विमान में प्रविष्ट हुए। शय्या की तीन प्रदक्षिणा दी और दाहिनी बगल चीरते हुए कुक्षि में प्रविष्ट हुए।" उस दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्र था।

देवी महामाया ने दूसरे दिन स्वप्न के बारे में राजा शुद्धोदन को सूचित किया। राजा ने चौसठ प्रधान ब्राह्मणों को बुलाया। उनके सम्मान में भूमि को गोबर से लिपा गया, धान की खीलों से मंगलाचार किया गया और बहुमूल्य आसन बिछाये गये। ब्राह्मण आए और उन सत्कृत आसनों पर बैठे। उन्हें घी, मधु, शक्कर से भावित सुस्वादु खीर स्वर्ण रजत की थालियों में भर कर और वैसी ही थालियों से ढँककर परोसी गई। नये वस्त्रों व कपिला गौ आदि से उन्हें सन्तर्पित किया गया। आगत ब्राह्मणों की समस्त इच्छाएँ पूर्ण कर उनका ध्यान केन्द्रित करते हुए राजा ने स्वप्न-फल के बारे में जिज्ञासा की। ब्राह्मणों ने उत्तर दिया—"महाराज! चिन्ता मुक्त हों। महारानी ने जो गर्भ-धारण किया है, वह बालक है, कन्या नहीं है। आपके पुत्र होगा। यदि वह गार्हस्थ्य में रहा तो चक्रवर्ती होगा और परिव्राजक बना तो महाज्ञानी बुद्ध होगा।"

बोधिसत्व के गर्भ में आने के समय समस्त दस सहस्र ब्रह्माण्ड एक प्रकार से काँप उठे। बत्तीस पूर्व शकुन (लक्षण) प्रकट हुए। दस सहस्र चक्रवालों में अनन्त प्रकाश हो उठा। प्रकाश की उस कान्ति को देखने के लिए ही मानो अंधों को आँखें मिल गई, बधिर सुनने लगे, मूक बोलने लगे, कुब्ज सीधे हो गये, पंगु पाँवों से अच्छी तरह चलने लगे। बेड़ी-हथकड़ी आदि बन्धनों में जकड़े हुए प्राणी मुक्त हो गये। सभी नरकों की आग बुझ गई। प्रेतों की क्षुधा-पिपासा शान्त हो गई। पशुओं का भय जाता रहा। समस्त प्राणियों के रोग शान्त हो गये। सभी प्राणी प्रियभाषी हो गये। घोड़े मधुर स्वर से हिनहिनाने लगे।

हाथी चिंघाड़ने लगे। सारे वाद्य स्वयं बजने लगे। मनुष्यों के हाथों के आभूषण बिना टकराये ही शब्द करने लगे। सब दिशाएँ शान्त हो गई। सुखद, मृदुल व शीतल हवा चलने लगी। असमय ही वर्षा बरसने लगी। पृथ्वी से भी पानी निकल कर बहने लगा। पक्षियों ने आकाश में उड़ना छोड़ दिया। नदियों ने बहना छोड़ दिया। महासमुद्र का पानी मीठा हो गया। सारा भूमि-मण्डल पंचरंगे कमलों से ढक गया। जल-थल में उत्पन्न होने वाले सब प्रकार के पुष्प खिल उठे। वृक्षों के स्कन्धों में स्कन्ध-कमल, शाखाओं में शाखा-कमल, लताओं में लता-कमल पुष्पित हुए। स्थल पर शिला-तलों को चीर कर सात-सात दण्ड-कमल निकले। आकाश में अधर-कमल उत्पन्न हुए। सर्वत्र पुष्पों की वर्षा हुई। आकाश में दिव्य वाद्य बजे। चारों ओर सारी दस-सहस्री लोक धातु (ब्रह्माण्ड) माला-गुच्छ की तरह, दबाकर बंधे माला-समूह की तरह, सजे-सजाये माला-आसन की तरह, माला-पंक्ति की तरह अथवा पुष्प-धूप-गंध से सुवासित खिली हुई चंवर की तरह परम शोभा को प्राप्त हुई।

बोधिसत्त्व के गर्भ में आने के समय से ही उनके और उनकी माता के उपद्रव निवारणार्थ चारों देवपुत्र हाथ में तलवार लिए पहरा देते थे। बोधिसत्त्व की माता को इसके अनन्तर पुरुष में राग-भाव उत्पन्न न हुआ। वह अतिशय लाभ और यश को प्राप्त हो, सुखी व अक्लान्त शरीर बनी रही। वह कुक्षिस्थ बोधिसत्त्व को सुन्दर मणि-रत्न में पिराये हुए पीले धागे की तरह देख सकती थी। बोधिसत्त्व जिस कुक्षि में वास करते हैं, वह चैत्य-गर्भ के समान दूसरे प्राणी के रहने या उपभोग करने योग्य नहीं रहती; अतएव जन्म के एक सप्ताह बाद ही माता की मृत्यु हो जाती है और वह तुषित् लोक में जन्म ग्रहण करती है। जिस प्रकार अन्य स्त्रियाँ दस मास से कम या अधिक बैठी या लेटी प्रसव करती हैं, बोधिसत्त्व की माता ऐसा नहीं करती। वह दस मास की पूर्ण अवधि तक बोधिसत्त्व को अपने उदर में धारण कर खड़ी ही प्रसव करती है। यह बोधिसत्त्व की माता की धर्मता है।

जन्म

देवी महामाया ने गर्भ के पूर्ण होने पर राजा शुद्धोदन के समक्ष पीहर जाने की इच्छा व्यक्त की। राजा ने कपिलवस्तु से देवदह नगर तक का मार्ग समतल कराया और केला, पूर्ण घट, ध्वज, पताका आदि से अच्छी तरह सजाया। रानी को स्वर्ण-शिविका में बैठाकर एक हजार अधिकारियों व बहुत सारे दास-दासियों के साथ विदा किया। दोनों नगरों के बीच, दोनों ही नगर-वासियों का लुम्बिनी नामक एक मंगल शाल वन था। वह वन उस समय मूल से शिखर की शाखाओं तक पूर्णतः फूला हुआ था। शाखाओं और पुष्पों के बीच भ्रमर गण, नाना पक्षि-संघ मधुर कूजन कर रहे थे। सारा ही लुम्बिनी वन बहुत सज्जित था। महामाया ने उस वन में घूमने की इच्छा व्यक्त की। अधिकारियों ने

उसे तत्काल क्रियान्वित किया। सारा सार्थ वन में प्रविष्ट हुआ। रानी जब एक सुन्दर शाल के नीचे पहुँची तो उसने उसकी शाखा को पकड़ना चाहा। शाल-शाखा तत्काल झुककर देवी के हाथ के समीप आ गई। उसने हाथ फैलाकर उसे पकड़ लिया। उसी समय उसे प्रसव-वेदना आरम्भ हुई। चारों ओर कनात का घेरा डाल दिया गया और लोग एक ओर हो गये। शाखा हाथ में लिए खड़े ही गर्भ-उत्थान हो गया। उस समय चारों शुद्ध चित्त महाब्रह्मा सोने का जाल हाथ में लिए वहाँ पहुँचे। बोधिसत्त्व को उस जाल में लेकर माता के सम्मुख रखा और बोले—"देवी ! सन्तुष्ट होओ : तुमने महाप्रतापी पुत्र को जन्म दिया है।"

बोधिसत्त्व अन्य प्राणियों की तरह माता की कुक्षि से गन्दे व मल-विलिप्त नहीं निकलते। वे तो धर्मासन से उतरते धर्मकथिक व सोपान से उतरते पुरुष के समान, दोनों हाथ और दोनों पैर फैलाये खड़े मनुष्य की तरह, मल से सर्वथा अलिप्त, काशी देश के शुद्ध व निर्मल वस्त्र में रखे मणि रत्न के समान चमकते हुए माता के उदर से निकले। बोधिसत्त्व और उनकी माता के सत्कारार्थ आकाश से दो जल-धाराएँ निकलीं और उन्होंने दोनों के शरीर को शीतल किया।

ब्रह्माओं के हाथ से चारों महाराजाओं ने उन्हें मांगलिक समझे जाने वाले कोमल मृग-चर्म में ग्रहण किया। उनके हाथ से मनुष्यों ने दुकूल की तह में ग्रहण किया। तब वे मनुष्यों के हाथ से छूटकर पृथ्वी पर खड़े हो गये। उन्होंने पूर्व दिशा की ओर देखा। अनेक सहस्र चक्रवाल एक आंगन से हो गये। वहाँ देवता और मनुष्य गंध-माला आदि से पूजा करते हुए बोले—"महापुरुष ! यहाँ आप जैसा कोई नहीं है ; विशिष्ट तो कहाँ से होगा।" बोधिसत्त्व ने चारों दिशाओं व चारों अनुदिशाओं को, ऊपर-नीचे देखा। अपने जैसा किसी को न पाकर उत्तर दिशा में क्रमशः सात कदम गमन किया। महाब्रह्मा ने उस समय उन पर श्वेतछत्र धारण किया ; सुयामों ने ताल-व्यजन और अन्य देवताओं ने राजाओं के अन्य ककुध-भाण्ड[1] हाथ में लिए उनका अनुगमन किया। सातवें कदम पर ठहरकर "मैं संसार में सर्वश्रेष्ठ हूँ"—पुरुष-पुंगवों की इस प्रथम निर्भीक वाणी का उच्चारण करते हुए उन्होंने सिंहनाद किया।

बोधिसत्त्व ने माता की कोख से निकलते ही जिस प्रकार इस जन्म में वाणी का उच्चारण किया, उसी प्रकार महौषध जन्म व वेस्सन्तर[2] जन्म में भी किया था। गर्भ-धारण

१. खड्ग, छत्र, मुकुट, पादुका और व्यजन।

२. महौसध जन्म में बोधिसत्त्व के कोख से निकलते ही देवेन्द्र शक्र आया और चन्दन-सार हाथ में रखकर चला गया। बोधिसत्त्व उसे हाथ में लिए ही बाहर आए। माता ने उस समय उनसे पूछा—"पुत्र ! क्या लेकर आया है ?" उन्होंने उत्तर दिया—"अम्म ! औषध।" इसी हेतु

के समय की भाँति जन्म के समय भी बत्तीस शकुन प्रकट हुए। लुम्बिनी वन में जिस समय बोधिसत्त्व उत्पन्न हुए, उसी समय राहुल-माता देवी, अमात्य छन्न (छन्दक), अमात्य काल उदायी, हस्तिराज आजानीय, अश्वराज कन्थक, महाबोधि वृक्ष और निधि-संभृत चार कलश उत्पन्न हुए। वे कलश क्रमशः गव्यूति, आधा योजन, तीन गव्यूति, एक योजन की दूरी पर थे। ये सात एक ही समय पैदा हुए। दोनों नगरों के निवासी बोधिसत्त्व को लेकर कपिलवस्तु नगर लौट आये।

कालदेवल तापस

आठ समाधि से सम्पन्न काल देवल तपस्वी राजा शुद्धोदन के कुल-मान्य थे। एक दिन भोजन से निवृत्त हो मनोविनोद के लिए त्रयस्त्रिंश देवलोक में गये। वहाँ विश्राम के लिये बैठे हुए देवताओं से उन्होंने पूछा—"इस प्रकार सन्तुष्ट चित्त होकर आप क्रीड़ा कैसे कर रहे हैं? मुझे भी इसका रहस्य बताओ।" देवों ने उत्तर दिया—"मित्र! राजा शुद्धोदन के पुत्र उत्पन्न हुआ है। वह बोधिवृक्ष के नीचे बैठ, बुद्ध हो, धर्मचक्र प्रवर्तित करेगा। हमें उसकी अनन्त बुद्ध-लीला देखने व उसके धर्म सुनने का अवसर मिलेगा। हमारी प्रसन्नता का यही मुख्य कारण है।"

तपस्वी शीघ्र ही देवलोक से उतरे और राजमहलों में पहुँचे। बिछे हुए आसन पर बैठ कर राजा से कहा—"महाराज! आपको पुत्र हुआ है। मैं उसे देखना चाहता हूँ।" राजा ने सु-अलंकृत कुमार को अपने पास मंगाया और तापस की वन्दना के लिए कदम आगे बढ़ाये। बोधिसत्त्व के चरण उठकर तापस की जटा में जा लगे। बोधिसत्त्व के जन्म में

से उनका नाम औषध दारक ही रखा गया। उस औषध को बरतन में रख दिया गया। वह औषध अन्धत्व, बधिरत्व आदि सभी प्रकार के रोगों के उपशमन में प्रयुक्त हुई। औषध राम-बाण थी; अतः महौषध नाम से विश्रुत हो गई। बोधिसत्त्व का नामकरण इसीलिए महौषध हो गया। —जातक, सं० ५४६ के आधार पर।

वेस्सन्तर जन्म में "माँ! घर में कुछ है? दान दूंगा।" यह कहते हुए ही बोधिसत्त्व माता की कोख से निकले। माता ने "पुत्र! तू धनवान कुल में पैदा हुआ है" यह कहते हुए उनकी हथेली को अपनी हथेली पर रखा और हजार की थैली रखवाई।

—जातक, सं० ५४७ के आधार पर।

बुद्ध के महौषध नामकरण की जैसी अनुश्रुति है, कुछ वैसी ही जैन परम्परा में तीर्थङ्कर ऋषभ के सम्बन्ध से इक्ष्वाकु वंश के नाम-निर्धारण की चर्चा है। जब ऋषभ एक वर्ष के थे, तभी उन्होंने इक्षु लेने के लिए सम्मुखीन इन्द्र की ओर हाथ बढ़ाया। इन्द्र ने वह इक्षु उनके हाथ में दिया। ऋषभ के उस इक्षु-भक्षण से इक्ष्वाकु (आकु-भक्षणार्थे) वंश का नाम इक्ष्वाकु पड़ा।

—आचार्य श्री तुलसी, भरत-मुक्ति; मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम' भरत-मुक्ति : एक अध्ययन, आत्माराम एण्ड सन्स, १९६४, पृ० १३।

उनके लिए दूसरा वन्दनीय नहीं होता। यदि अनजान में ही बोधिसत्त्व का सिर तापस के चरण पर रखा जाता तो तापस के सिर के सात टुकड़े हो जाते। मुझे अपना विनाश करना योग्य नहीं है, यह सोच तापस आसन से उठे और उन्होंने करबद्ध होकर प्रणाम किया। राजा ने इस आश्चर्य को देखा और अपने पुत्र को वन्दना की। तपस्वी को चालीस अतीत के और चालीस ही भविष्य के—अस्सी कल्पों की स्मृति हो सकती थी। यह बुद्ध होगा या नहीं, इस अभिप्राय से तपस्वी ने उनके शारीरिक लक्षणों को अच्छी तरह से देखा और यह जाना: अवश्य ही यह बुद्ध होगा। यह अद्भुत पुरुष है। वे मन-ही-मन मुस्कराये। फिर सोचने लगे, बुद्ध होने पर मैं इसे देख सकूँगा या नहीं? कुछ चिन्तन के बाद ज्ञात हुआ, मैं इसे नहीं देख पाऊँगा। इसके बुद्ध होने के पूर्व ही मैं मृत्यु पाकर अरूप-लोक में उत्पन्न होऊँगा, जहाँ सौ अथवा सहस्र बुद्धों के अवतरित होने पर भी ज्ञान-प्राप्ति नहीं हो सकती। वे अपने दुर्भाग्य पर रो पड़े। तत्रस्थ लोगों ने साश्चर्य इसका कारण पूछा। उनका प्रश्न था—"अभी कुछ क्षण पूर्व आप हँसे और फिर रोने क्यों लगे? क्या हमारे आर्य-पुत्र को कोई संकट होगा?"

तपस्वी ने गम्भीरता और दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"इनको संकट नहीं होगा। ये तो निःसन्देह बुद्ध होंगे।"

अगला प्रश्न हुआ—"तो फिर आप किसलिए रोते हैं?" तपस्वी के शब्दों में अधीरता थी। उन्होंने कहा—"इस प्रकार के पुरुष को बुद्ध हुए मैं नहीं देख सकूँगा।"

मेरे पारिवारिकों में से कोई भी इन्हें बुद्ध हुआ देखेगा या नहीं, जब तपस्वी ने यह चिन्तन किया तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका भानजा नालक इसके योग्य है। वे तत्काल अपनी बहिन के घर आये और उससे पूछा—"नालक कहाँ है?"

बहिन ने उत्तर दिया—"आर्य! घर पर ही है।" तपस्वी ने कहा—"उसे बुला।"

नालक के पास आने पर तपस्वी बोले—"बेटा! राजा शुद्धोदन के घर पुत्र उत्पन्न हुआ है। वह बुद्ध-अंकुर है। पैंतीस वर्ष बाद वह बुद्ध होगा और तू उसे देख पायेगा। तू आज ही प्रव्रजित हो जा।"

"मैं सत्तासी करोड़ धन वाले कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, तो भी मामा मुझे अनर्थ में संलग्न नहीं कर रहे हैं", यह सोचते हुए उसने उसी समय बाजार से काषाय वस्त्र और मिट्टी का पात्र मंगाया। सिर-दाढ़ी को मुड़ाया और काषाय वस्त्र पहने। "लोक में जो उत्तम पुरुष है, उसी के नाम पर मेरी यह प्रव्रज्या है"—यह कहते हुए उसने बोधिसत्त्व की ओर अंजलिबद्ध हो पाँचों अंगों से वंदना की। पात्र को झोली में रखा, उसे कंधे पर लटकाया और हिमालय में प्रवेश कर श्रमण-धर्म का पालन करने लगा। नालक की अगली कथा यह है कि तथागत के बुद्ध हो जाने पर वह उनके पास आया। उनसे ज्ञान सुना और फिर हिमालय में चला गया। वहाँ अर्हत् पद को प्राप्त कर उत्कृष्ट प्रतिपदा (सर्व श्रेष्ठ मार्ग) पर आरूढ़

हुआ। सात मास तक ही जीवित रहा। सुवर्ण पर्वत के पास निवास करता हुआ वह खड़ा-खड़ा उपाधि रहित-निर्वाण को प्राप्त हो गया।

भविष्य-प्रश्न

पाँचवें दिन बोधिसत्त्व को सिर से नहलाया गया। नामकरण संस्कार किया गया। राज-भवन को चार प्रकार के गंधों से लिपवाया गया। खीलों सहित चार प्रकार के पुष्प बिखेरे गये। निर्जल खीर पकाई गई। राजा ने तीनों वेदों के पारंगत एक सौ आठ ब्राह्मणों को निमंत्रित किया। उनमें राम, ध्वज, लक्ष्मण, मंत्री, कौण्डिन्य, भोज, सुयाम और सुदत्त, ये आठ षड्-अंग जानने वाले दैवज्ञ ब्राह्मण थे। इन्होंने ही मंत्रों की व्याख्या की। गर्भ-समय का स्वप्न-विचार भी इन्हीं ब्राह्मणों ने किया था। उन्हें राज-भवन में बैठाया गया, सुभोजन कराया गया और सत्कार पूर्वक बोधिसत्त्व के लक्षणों के बारे में पूछा गया—"भविष्य क्या है?" आठ ब्राह्मणों में से सात ने दो अंगुलियाँ उठा कर दो प्रकार का भविष्य कहा—"ऐसे लक्षणों वाला यदि गृहस्थ रहता है तो चक्रवर्ती राजा होता है और यदि प्रव्रजित होता है तो बुद्ध।" और फिर उन्होंने चक्रवर्ती की श्री-सम्पत्ति का भी वर्णन किया। उनमें सबसे कम अवस्था वाले कौण्डिन्य गोत्रीय तरुण ब्राह्मण ने बोधिसत्त्व के विशिष्ट लक्षणों को देख एक ही अंगुली उठाई और दृढ़तापूर्वक एक ही प्रकार का भविष्य कहा—"इसके गृहस्थ में रहने की कोई सम्भावना नहीं है। यह महाज्ञानी बुद्ध होगा। यह अधिकारी, अन्तिम जन्म-धारी, प्रज्ञा में अन्य जनों से बढ़ा-चढ़ा है, अतः ऐसे पुरुष के गार्हस्थ्य में रहने की कोई संभावना नही है। निश्चित ही यह बुद्ध होगा।"

राजा ने प्रश्न किया—"मेरा पुत्र क्या देखकर प्रव्रजित होगा?"

उत्तर मिला— "चार पूर्व लक्षण।"

राजा ने पुनः पूछा—"कौन-कौन से चार लक्षण?"

ब्राह्मण ने कहा— "बृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित।"

राजा ने तत्काल कठोर आदेश दिया—"चारों ही प्रकार के लक्षण मेरे पुत्र के पास न आने पायें; ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए। मुझे इसके बुद्ध बनने से कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो इसे दो सहस्र द्वीपों से घिरे चारों महाद्वीपों का आधिपत्य करते हुए तथा छत्तीस योजन परिधि वाली परिषद् के बीच व मुक्त आकाश में विचरते देखना चाहता हूँ।" राजा ने चारों दिशाओं में तीन-तीन कोश की दूरी पर कड़ा पहरा बिठा दिया और उन्हें निर्देश कर दिया, चारों ही प्रकार के व्यक्ति इस सीमा में प्रवेश न करें।

उस दिन उस मांगलिक स्थान पर अस्सी हजार ज्ञाति-सम्बन्धियों ने प्रतिज्ञा की—"कुमार चाहे बुद्ध हो या राजा, हम इसे अपना एक-एक पुत्र देंगे। यदि यह बुद्ध होगा तो

क्षत्रिय साधुओं से व राजा होगा तो क्षत्रिय कुमारों से पुरस्कृत तथा परिवारित होकर विचरेगा।"

एक चमत्कार

शुद्धोदन ने बोधिसत्त्व की परिचर्यार्थ उत्तम रूप-सम्पन्न व निर्दोष धाइयाँ नियुक्त कीं। बोधिसत्त्व अनन्त परिवार तथा शोभा व श्री के साथ बढ़ने लगे। एक दिन क्षेत्र-महोत्सव था। सभी लोगों ने नगर को देव-विमान की तरह अलंकृत किया। सभी दास, प्रेष्य आदि नये वस्त्र पहिन व गंध-माला आदि से विभूषित हो राजमहल में एकत्र हुए। राजा के एक हजार हलों की खेती थी। एक कम आठ सौ रुपहले हल थे। राजा का हल रत्न-सुवर्ण जटित था। बैलों के सींग और रस्सी-कोड़े भी सुवर्ण-खचित ही थे। राजा पुत्र व पूरे दल-बल के साथ वहाँ पहुँचा। वहीं विशाल व सघन छाया वाला एक जामुन का वृक्ष था। उसके नीचे कुमार की शय्या बिछाई गई। ऊपर स्वर्ण-तार खचित चंदवा तनवाया गया। कनात से घेर कर पहरा लगा दिया गया। सब तरह से अलंकृत होकर अमात्यगण सहित राजा हल जोतने के स्थान पर गया। उसने सुनहले हल को पकड़ा, अमात्यों ने एक कम आठ सौ रुपहले हलों को और कृषिकों ने दूसरे हलों को। सभी व्यक्ति हलों को जोतने लगे। राजा भी उन सब के साथ इस पार से उस पार व उस पार से इस पार आ-जा रहा था।

समारोह को देखने के लिए बड़ी भीड़ जमा हो गई थी। बोधिसत्त्व की परिचर्या में बैठी सभी धाइयाँ भी समारोह देखने के लिए कनात से बाहर चली आईं। खाद्य-भोज्य में उन्हें कुछ समय लग गया। बोधिसत्त्व अपने पास किसी को बैठे न देख, शीघ्रता से उठे। श्वास-प्रश्वास का ध्यान किया और प्रथम ध्यान में लीन हो गये। उस समय सभी वृक्षों की छाया घूम गई थी, किन्तु बोधिसत्त्व जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे, उसकी छाया गोलाकार ही रही। अचानक धाइयों को उनका ध्यान आया। वे शीघ्र ही कनात में दौड़ आईं और बोधिसत्त्व को बिछौने पर आसन साधे बैठे देखा। वे बहुत चमत्कृत हुईं। दौड़ कर राजा के पास गईं और राजा को सारा वृत्त सुनाया। राजा भी शीघ्र ही वहाँ आया और उस चमत्कार को देखकर विस्मित हुआ। तत्काल वन्दना करते हुए बोला—"पुत्र! तुझे यह मेरी दूसरी बन्दना है।"

बोधिसत्त्व क्रमशः सोलह वर्ष के हुए। राजा ने उनके लिए तीनों ही ऋतुओं के उपयुक्त तीन महल बनवाये। एक नौ मंजिल का था, एक सात मंजिल का और एक पाँच मंजिल का। उनके मनोरंजन के लिए चालीस हजार नर्तिकाओं की व्यवस्था की गई। वे देवताओं की भाँति अप्सराओं से घिरे, अलंकृत नर्तकियों से परिवृत और प्रशिक्षित महिलाओं द्वारा वादित वाद्यों से सेवित महासम्पत्ति का उपभोग करते हुए ऋतुओं के क्रम से प्रासादों में रह रहे थे। राहुल माता देवी उनकी अग्र-महिषी थी।

शिल्प-प्रदर्शन

एक दिन ज्ञाति जनों में चर्चा चली--"सिद्धार्थ क्रीड़ा में ही रत रहता है। किसी कला के अध्ययन में रुचि नहीं रखता। कभी युद्ध-प्रसंग छिड़ने पर वह क्या करेगा?" यह चर्चा राजा तक पहुँची। उसने बोधिसत्त्व को अपने पास बुलाया और कहा—"तात! किसी भी कला को न सीख कर तू क्रीड़ा में ही लीन रहता है; क्या इसे ही उचित समझता है?"

बोधिसत्त्व ने सगर्व उत्तर दिया—"मेरे लिए कोई शिल्प-शिक्षण अवशिष्ट नहीं है। आप नगर में उद्घोषणा करवा दें कि आज से सातवें दिन मैं शिल्प-प्रदर्शन करूँगा।"

राजा ने वैसा ही किया। नियत समय व नियत स्थान पर सहस्रों की परिषद् एकत्रित हो गई। साठ हजार क्षण वेध, बाल वेध आदि के ज्ञाता धनुर्धारी भी विशेष निमंत्रण पर वहाँ आये। बोधिसत्त्व ने कवच धारण कर कंचुक में प्रवेश किया। सिर पर उष्णीष पहना। मेंढ़े के सींग वाले धनुष में मूंगे के रंग की डोरी बांधी। पीठ पर तूणीर कसा। बाँयें कंधे पर तलवार लटकाई और वज्र की नोंक वाले तीर को नाखून पर घूमाते हुए वे उस परिषद् के बीच उपस्थित हुए। जनता ने अपार हर्ष ध्वनि से उनका स्वागत किया। बोधिसत्त्व ने राजा से कहा—"उपस्थित धनुर्धारियों में से चार सिद्धहस्त क्षण-वेधी, बाल-वेधी, शब्द-वेधी व शर-वेधी धनुर्धारियों को मेरे समक्ष उपस्थित करें।" राजा ने वैसा ही किया। बोधिसत्त्व ने समचतुरस्र एक मण्डप बना कर उसके चारों कोनों पर उन चारों धनुर्धारियों को खड़ा किया। एक-एक धनुर्धारी को तीस-तीस हजार तीर दिये गये और प्रत्येक को एक-एक कुशल सहयोगी दिया गया। बोधिसत्त्व मण्डप के बीच खड़े हुए। वे वज्रमुख नोक वाला तीर अपने नाखून पर घुमा रहे थे। उन्होंने कहा—"महाराज! ये चारों धनुर्धारी एक साथ तीर चला कर मुझे बींधे। मेरे पर इनके तीरों का कोई असर नहीं होगा।"

चारों ही धनुर्धारियों ने सगर्व राजा से कहा—"महाराज! हम लोग क्षण-वेधी, बाल-वेधी, शब्द-वेधी और शर-वेधी हैं; अतः आप कुमार को इस कार्य से उपरत करें। कुमार तरुण हैं। हम इन्हें नहीं बींधेंगे।"

बोधिसत्त्व ने उसका प्रतिवाद करते हुए दृढ़ता से कहा—"यदि तुम्हारे में सामर्थ्य है तो मुझे बींध डालो। मैं तुम्हें चुनौती देता हूँ।"

धनुर्धारियों का स्वाभिमान फड़क उठा। उन्होंने एक साथ तीर छोड़े। बोधिसत्त्व ने उन चारों के बाण बीच ही में काट डाले। उन्होंने अपने चारों ओर के बाणों का एक घर बना डाला। उससे चारों के बाणों का असर उन पर नहीं होता था, अपितु बोधिसत्त्व के बाणों से वे चारों त्रसित हो रहे थे। चारों के सारे तीर समाप्त हो गये। बोधिसत्त्व तीरों के घर को बिना हानि पहुँचाये छलांग भर कर राजा के पास आ खड़े हुए। जनता ने विपुल

हर्ष-ध्वनि से उनका स्वागत किया तथा उपहार में बहुमूल्य वस्त्र व आभूषणों का ढेर लगा दिया। वह धन अठारह करोड़ था।

राजा इस प्रदर्शन से फूला नहीं समाया। उसने बोधिसत्त्व का वर्धापन किया और उस विद्या का नाम तथा उसके ज्ञाता के बारे में पूछा।

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—"इस विद्या का नाम वाणावरोधिनी है और इसका ज्ञाता जम्बूद्वीप में मेरे अतिरिक्त दूसरा नहीं है।"

राजा ने निर्देश किया—"पुत्र! दूसरा प्रदर्शन भी करो।"

बोधिसत्त्व ने कहा—"देव! ये चारों धनुर्धारी चारों कोनों पर खड़े रहकर मुझे नहीं बींध सके, किन्तु मैं इन चारों को चारों कोनों में खड़े रहने पर भी एक ही बाण से बींध दूँगा।"

धनुर्धारियों ने खड़े होने का साहस नहीं किया; अतः चारों कोनों में केले के चार स्तम्भ खड़े किये गये। बाण के पुंख में लाल रंग का धागा पिरोया और एक खम्भे की ओर उसे छोड़ा। तीर ने उस स्तम्भ को बींध डाला। वह वहाँ से स्वतः दूसरे, तीसरे और क्रमशः चौथे स्तम्भ को बींधता हुआ पहले स्तम्भ में से निकल कर बोधिसत्त्व के हाथ में आ गया। केले के स्तम्भों में धागा पिरोया गया। चक्र बींधने की इस विद्या के सफल प्रयोग पर जनता ने सहस्र घोषों के साथ बोधिसत्त्व का वर्धापन किया।

इस प्रकार बोधिसत्त्व ने शर-यष्टि, शर-रज्जु तथा शर-वेणी का प्रदर्शन किया। शर-प्रसाद, शर-मण्डप, शर-सोपान व शर-पुष्करिणी की रचना की। शर-पद्म खिलाया। शर-वर्षा बरसाई। बारह प्रकार की असाधारण विद्याओं का प्रदर्शन करने के अनन्तर उन्होंने सात मोटी-मोटी वस्तुओं को चीर डाला। उनमें आठ अंगुल मोटा अंजीर का फलक, चार अंगुल मोटी चट्टान, दो अंगुल मोटा ताम्बे का पत्ता, एक अंगुल मोटा लोह का पत्ता चीर डाला। एक साथ बंधे हुए सौ फलकों को भी चीर डाला। बोधिसत्त्व के इस शिल्प प्रदर्शन पर सभी सम्बन्धियों की आशंकाएँ दूर हो गईं।

चार पूर्व लक्षण

बोधिसत्त्व के मन में एक दिन उद्यान-विहार की इच्छा जागृत हुई। उन्होंने सारथी से रथ जोतने के लिए कहा। सारथी बहुत दक्ष था। उसने तत्काल उत्तम रथ को अलंकृत किया, कमल-पत्र सदृश सिन्धु देशीय चार मांगलिक अश्वों को उसमें जोता और बोधिसत्त्व को सूचना दी। बोधिसत्त्व देव-विमान सदृश उस रथ पर आरूढ़ हो कर उद्यान की ओर चले। देवताओं ने सोचा, सिद्धार्थ-कुमार के बुद्धत्व प्राप्त करने का समय समीप है, अतः हम इनके समक्ष पूर्व लक्षण प्रस्तुत करें। उन्होंने जरा-से जर्जरित, विदीर्ण-दन्त, पक्व-केश, झुका हुआ शरीर, हाथ में यष्टि व कम्पित-वपु एक देव पुत्र को बोधिसत्त्व व सारथी के समक्ष

प्रस्तुत किया। उसे वे दो ही व्यक्ति देख सकते थे। बोधिसत्त्व ने सारथी से तत्काल पूछा—"सौम्य! यह पुरुष कौन है? इसका शरीर और केश दूसरों से भिन्न है।"

सारथी ने उत्तर दिया—"देव! यह बूढ़ा हो चुका है।"

बोधिसत्त्व ने सहज गंभीरता से पूछा—"बूढ़ा क्या होता है?"

सारथी ने पुनः उत्तर दिया—"देव! यह जर्जर-काय हो चुका है; अतः बूढ़ा कहा जाता है। इसे अब बहुत दिन नहीं जीना है।"

बोधिसत्त्व का मानस ऊहापोह से भर आया। उन्होंने पूछा—"तो क्या मैं भी बूढ़ा होऊँगा? क्या यह अनिवार्य धर्म है?"

सारथी ने विनम्रता से उत्तर दिया—"देव! आप, हम और सभी लोगों के लिए बुढ़ापा अनिवार्य है।"

बोधिसत्त्व बोले—"तो भद्र! उद्यान-भूमि में जाना स्थगित करो। यहीं से रथ को मोड़ो और अन्तःपुर की ओर लौट चलो।"

सारथी ने तत्काल रथ मोड़ा और अन्तःपुर पहुँच गये। बोधिसत्त्व उदासीन होकर पुनः-पुनः सारथी के उत्तर पर चिन्तन करने लगे। शीघ्र ही महलों में लौट आने से राजा को इस बारे में जिज्ञासा हुई। तत्काल उत्तर मिला—"मार्ग में कुमार ने एक वृद्ध को देखा था।" राजा के मुँह से आह निकली—"भविष्य-वक्ताओं ने वृद्ध देखकर ही प्रव्रजित होना बताया था; अतः पुत्र के लिए शीघ्र ही नृत्य आदि की व्यवस्था करो। भोग-लिप्त रहने से प्रव्रज्या का विचार हट जायेगा। चारों दिशाओं में आधे योजन तक पहरा और बढ़ा दो तथा सतर्कता के लिए सभी प्रतिहारों को विशेष सूचित करो।"

बोधिसत्त्व एक दिन फिर उद्यान जा रहे थे। उन्होंने मार्ग में देवताओं द्वारा निर्मित एक रोगी को देखा। वह अपने ही मल-मूत्र से सना हुआ था व दूसरों के द्वारा उठाया, बैठाया तथा लेटाया जा रहा था। बोधिसत्त्व ने दूर से उसे देखा और सारथी से कहा—"यह पुरुष कौन है? इसकी आँखें भी दूसरों की तरह नहीं है। स्वर भी दूसरों से मेल नहीं खाता है।"

सारथी ने कहा—"देव! यह रोगी है; अतः इसका शरीर शिथिल हो चुका है। अब वह सम्भवतः उठ न सके।"

बोधिसत्त्व ने कहा—"तो क्या मैं भी व्याधिधर्मा हूँ? व्याधि सभी के लिए अनिवार्य है?"

सारथी ने कहा—"देव! इसका कोई अपवाद नहीं हो सकता।"

बोधिसत्त्व का मन विराग से भर गया। उन्होंने रथ को वापिस मोड़ा और बिना घूमे ही वे महलों में लौट आये।

राजा ने उनकी उदासीनता का पता लगाया और पहरे को चारों ओर पौन योजन तक विशेष रूप से बढ़ा दिया।

किसी एक विशेष दिन बोधिसत्त्व फिर घूमने के लिए चले। मार्ग में उन्होंने देव-निर्मित एक दृश्य देखा। वहाँ बहुत सारे व्यक्ति एकत्रित होकर एक शिविका (अर्थी) बना रहे थे। बोधिसत्त्व ने उसके बारे में जिज्ञासा की। सारथी ने बताया—"कोई मनुष्य मर गया है। उसकी अन्त्येष्टि के लिए उसके पारिवारिकों, मित्रों व अन्य व्यक्तिओं द्वारा तैयारियाँ की जा रही हैं।"

बोधिसत्त्व ने वहाँ चलने का संकेत किया। सारथी उन्हें वहाँ ले आया। उन्होंने मृतक को देखा और पूछा—"मृत्यु क्या चीज है?"

सारथी ने उत्तर दिया—"देव! अब इसका माता-पिता, ज्ञाति-स्वजन, मित्र आदि से कोई सम्पर्क नहीं रहा। न यह उन्हें देख सकेगा और न इसे वे देख सकेंगे। इसका सबसे सम्बन्ध टूट गया है।"

बोधिसत्त्व ने पूछा—"क्या मैं भी मरणधर्मा हूँ? मेरी भी मृत्यु अनिवार्य है?"

सारथी ने कहा—"इसका कोई भी अपवाद नहीं हो सकता।"

बोधिसत्त्व ने उदासीनता के साथ कहा—"अब मुझे घूमने नहीं जाना है। वापिस महलों की ओर चलो।"

राजा को सारी स्थिति का पता चला। उसे चिन्ता हुई। बोधिसत्त्व की विराग से रक्षा के निमित्त पहरा एक योजन तक बढ़ा दिया और कठोर कर दिया गया। भोग-सामग्री विशेष रूप से बढ़ा दी गई।

बोधिसत्त्व फिर एक दिन उद्यान जा रहे थे। देवताओं द्वारा निर्मित संन्यासी को उन्होंने देखा। वह मुण्डित-सिर व काषाय वस्त्र पहने हुए था। बोधिसत्त्व ने उसे देखकर सारथी से पूछा—"सौम्य! यह पुरुष कौन है? इसका सिर मुण्डित है तथा वस्त्र भी दूसरों से भिन्न हैं।"

सारथी ने कहा—"देव यह प्रव्रजित है।"

बोधिसत्त्व ने पूछा—"सौम्य! मनुष्य प्रव्रजित क्यों होता है?"

सारथी ने सविस्तार उत्तर दिया—"देव! यह धर्माचरण के लिए, शान्ति पाने के लिए, अच्छे कर्म करने के लिए, पुण्य-संचय के लिए, अहिंसा-पालन के लिए व भूतों पर अनुकम्पा करने के लिए प्रव्रजित हुआ है।"

बोधिसत्त्व सारथी के साथ तत्काल वहाँ आये। उस प्रव्रजित को गौर से देखा। उससे नाना प्रश्न पूछे। प्रव्रज्या के गुणों के बारे में छान-बीन की। बोधिसत्त्व को प्रव्रज्या में रुचि उत्पन्न हुई। वे इस बार तत्काल अन्तःपुर नहीं लौटे, अपितु उद्यान गये।

दीर्घ भाणकों[1] का मत है कि बोधिसत्त्व ने चारों पूर्व लक्षणों को एक ही दिन देखा।

पुत्र-जन्म

बोधिसत्त्व दिन भर उद्यान में आमोद-प्रमोद करते रहे। सुन्दर पुष्करिणी में स्नान किया। संध्या के समय अपने को आभूषित कराने के उद्देश्य से सुन्दर शिला-पट पर बैठे। उनके परिचारक नाना रंग के दुशाले, नाना आभूषण, माला, सुगन्धित, उबटन आदि लेकर चारों ओर से उन्हें घेर कर खड़े हो गये। इन्द्र का सिंहासन उस समय तप्त हुआ। "मुझे इस सिंहासन से कौन उतारना चाहता है—" इस तरह उसने आक्रोश पूर्वक सोचा। उसने तत्काल बोधिसत्त्व के अलंकृत होने का समय जाना। वह शान्त हो गया और उसने विश्वकर्मा को बुलाकर कहा—"सौम्य! आज आधी रात के समय सिद्धार्थ-कुमार महाभिनिष्क्रमण करेंगे। आज का उनका यह अन्तिम शृङ्गार है। उद्यान में जाकर उन्हें दिव्य अलंकारों से अलंकृत करो।"

विश्वकर्मा देव-बल से तत्काल वहाँ पहुँचा। अपना वेष बदला और साज-सज्जा कराने वाले परिचारक का रूप धारण किया। परिचारक हाथ से दुशाला ले बोधिसत्त्व के सिर पर बाँधने लगा। हाथ के स्पर्श से ही वे जान गये, यह मनुष्य नहीं है, कोई देव, पुत्र है। पगड़ी से मस्तक को वेष्टित करते ही मस्तक पर मुकुट के रत्नों की भाँति एक सहस्र दुशाले उत्पन्न हो गये। इसी तरह दस बार बाँधने पर दस सहस्र दुशाले उत्पन्न हो गये। सबसे बड़े दुशाले का भार श्यामा-लता के पुष्प के तुल्य व दूसरों का भार तो कुतुम्बक पुष्प के तुल्य था। बोधिसत्त्व का मस्तक किंजल्क-युक्त कुय्यक फूल के समान था। सब तरह से आभूषित हो जाने पर तालज्ञ ब्राह्मणों ने अपनी-अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। सूत-मागधों के नाना मांगलिक वचनों व स्तुति-घोषों से सत्कृत होते हुए सर्वालंकार विभूषित उत्तम रथ पर आरूढ़ हुए।

राहुलमाता ने उसी समय पुत्र-प्रसव किया। राजा शुद्धोदन को जब यह संवाद ज्ञात हुआ तो उसने अपने अनुचरों को निर्देश दिया—"उद्यान में सैर कर रहे मेरे पुत्र को यह सुखद संवाद सुनाओ।" अनुचर दौड़े हुए वहाँ आये और बोधिसत्त्व को वह शुभ संवाद सुनाया। बोधिसत्त्व के उद्गार निकले—"राहु-बन्धन पैदा हुआ है।" अनुचर पुनः राजा के पास पहुँचे। राजा ने बोधिसत्त्व की प्रतिक्रिया को जानना चाहा। अनुचरों ने सारा वृत्त सुनाया। राहु शब्द के आधार पर पौत्र का राहुल कुमार नामकरण किया गया।

बोधिसत्त्व नगर में प्रविष्ट हुए। क्षत्रिय-कन्या कृशा-गौतमी उस समय प्रासाद पर बैठी नगरावलोकन कर रही थी। नगर-परिक्रमा करते हुए बोधिसत्त्व की रूप-शोभा को देखकर

---

१. दीघ निकाय कण्ठस्थ करने वाले पुराने आचार्यों को दीर्घ भाणक कहा जाता है।

बहुत ही प्रसन्नता तथा हर्ष से उसने उदान[1] कहा—"वे माता-पिता परम शान्त हैं, जिनके इस प्रकार का पुत्र है। वह नारी परम शान्त है, जिसके इस प्रकार का पति है।" वह उदान बोधिसत्त्व के कानों में पड़ा। उनका चिन्तन उस पर केन्द्रित हो गया। वे सोचने लगे—किसके शान्त होने पर हृदय परम शान्त होता है? रागादि क्लेशों से विरक्त होते हुए उन्होंने गहरा चिन्तन किया—"राग, द्वेष और मोह की अग्नि के शान्त होने पर परम शान्ति होती है। अभिमान मिथ्या विचार (दृष्टि) आदि सभी मलों के उपशमन होने पर परम शान्ति होती है। यह मुझे प्रिय वचन सुना रही है। मैं निर्माण को ढूँढ़ रहा हूँ। आज ही मुझे गृह-वास छोड़ प्रव्रजित हो, निर्वाण की खोज में लगना चाहिए। उन्होंने अपने गले से एक लाख मूल्य का मोती का हार उतारा और गुरु दक्षिणा के रूप में कृशी गौतमी के पास भेज दिया। हार को पाकर वह बहुत प्रसन्न हुई। उसने सोचा—सिद्धार्थ कुमार ने मेरे प्रेम में आकर्षित होकर यह उपहार भेजा है।

गृह-त्याग

बोधिसत्त्व महलों में लौट आए। सुकोमल शय्या पर लेट गये। उसी समय सब तरह अलंकृत, नृत्य-गीत आदि में दक्ष अप्सरा-तुल्य परम सुन्दरी स्त्रियों ने विविध वाद्यों के साथ कुमार को घेर लिया। उन्हें परम प्रसन्न करने के लिए नृत्य-गीत व वाद्य आरम्भ किये। बोधिसत्त्व रागादि मलों से विरक्त चित्त थे; अतः नृत्य आदि में उनकी कोई रुचि नहीं हुई। वे शीघ्र ही सो गये। नर्तिकाओं ने सोचा—अब हम कष्ट क्यों उठायें; जबकि जिनके लिए हम कर रही हैं, वे स्वयं लेट गए हैं। वे सभी साज-सामान के साथ उसी कक्ष में लेट गईं। सुगन्धित तेल से परिपूर्ण दीप जल रहे थे। बोधिसत्त्व जग पड़े। पल्यंक पर आसन मारकर बैठ गये। उनकी दृष्टि कक्ष में लेटी उन स्त्रियों पर पड़ी। बोधिसत्त्व ने उस दृश्य को गम्भीरता से देखा। कुछ स्त्रियों के मुँह से लार और कफ बह रहा था, अतः शरीर भींग गया था। कुछ एक दाँत पीस रही थीं; कुछ एक खाँस रही थीं तथा कुछ एक बर्रा रही थीं। कुछ एक के मुँह खुले हुए थे तथा कुछ एक के वस्त्र इतने अस्त-व्यस्त हो गए थे कि दर्शक उन्हें देख नहीं पाता था। स्त्रियों की इस सविकार प्रवृत्ति को देखकर वे और भी अधिक दृढ़ता-पूर्वक काम-भोगों से विरक्त हो गये। उस समय उन्हें वह सुअलंकृत महाभवन सड़ती हुई नाना लाशों से पूर्ण कच्चे श्मशान की भाँति प्रतीत हो रहा था। उन्हें तीनों ही भवन जलते हुए घर की तरह दिखलाई पड़ रहे थे। उनके मुँह से अनायास ही "हा! कष्ट, हा! शोक" आह निकल पड़ी। उनका चित्त प्रव्रज्या के लिए अत्यन्त आतुर हो गया। मुझे

---

१. आनन्दोल्लास से निकली वाक्यावलि।

आज ही गृह-त्याग करना है, इस दृढ़ निश्चय से वे पल्यंक से उतरे और द्वार के समीप जाकर पूछा—"कौन है ?"

ड्योढ़ी में सिर रखकर सोये हुए छन्न ने कहा—"आर्यपुत्र ! मैं छन्दक हूँ ।"

बोधिसत्त्व ने कहा—"आज मैं अभिनिष्क्रमण करना चाहता हूँ । मेरे लिए एक घोड़ा तैयार करो ।"

छन्दक अश्व की साज-सज्जा का सामान ले अश्वशाला में गया । सुगन्धित तेल के जलते दीपों के प्रकाश में बेल-बूंटे वाले चंदवे के नीचे रमणीय भूमि-पर खड़े अश्वराज कन्थक को देखा । छन्दक ने उसे ही उपयुक्त समझा । सब तरह से उसे सजाया और अच्छी तरह से कसा । कन्थक के मन में सहज ही विचार आया, आज की तैयारी अन्य दिनों से भिन्न है । मेरे आर्यपुत्र उद्यान-यात्रा आदि में न जाकर महाभिनिष्क्रमण के इच्छुक होंगे । वह प्रसन्न चित्त हो हिनहिनाया । वह शब्द सारे शहर में फैल जाता, किन्तु देवताओं ने उसे रोक लिया, किसी को सुनने नहीं दिया ।

जैसे ही छन्दक कन्थक को तैयार करने के लिए गया, बोधिसत्त्व पुत्र को देखने की अभिलाषा से अपने आसन को छोड़ राहुल-माता के वास-स्थान की ओर गये । शयनागार का द्वार खोला । वहाँ सुगन्धित तेल-प्रदीप जल रहे थे । राहुल-माता बेला, चमेली आदि अम्मन[1]भर फूलों से सजी शैय्या पर पुत्र के सिर पर हाथ रखकर सो रही थी । बोधिसत्त्व ने देहली में खड़े होकर उन दोनों को देखा । वे राहुल को लेना चाहते थे । किन्तु दूसरे ही क्षण उनके मन में विचार आया, "यदि मैं देवी के हाथ को हटाकर अपने पुत्र को लूँगा तो देवी जग पड़ेगी । मेरे अभिनिष्क्रमण में यह विघ्न होगा । बुद्ध होने के पश्चात् ही यहाँ आकर पुत्र को देखूँगा ।" प्राचीन सिंहल भाषा की जातक कथा के अभिमतानुसार राहुल कुमार की अवस्था उस समय एक सप्ताह की थी ।

बोधिसत्त्व महलों से उतर आए । कन्थक के पास आये और उससे कहा— "तात । कन्थक ! आज तू मुझे एक रात में तार दे । मैं तेरे इस सहयोग से बुद्ध होकर देवताओं सहित सारे लोक को तारूँगा ।" वे तत्काल उछले और कन्थक की पीठ पर सवार हो गये । कन्थक गर्दन से पूँछ तक अठारह हाथ लम्बा था । महाकाय, बल-वेग-सम्पन्न व धुले हुए शंख सदृश श्वेत वर्ण का था । यदि वह हिनहिनाता या पैर खटखटाता तो वह शब्द सारे नगर में फैल जाता । वह उस समय भी हिनहिनाया, किन्तु देवों ने उसके शब्द को वहीं रोक लिया । जहाँ-जहाँ घोड़े के पैर पड़ते, वहाँ-वहाँ देवों ने अपनी हथेलियाँ रख दीं । शब्द नहीं हुआ । निःशब्द स्थिति में बोधिसत्त्व ने वहाँ से प्रस्थान किया । छन्दक ने कन्थक की पूंछ पकड़ी । तीनों प्राणी आधी रात के समय महाद्वार के समीप पहुँचे ।

१. ११ द्रोण = अम्मन ।

राजा को यह आशंका थी कि बोधिसत्त्व कहीं रात-बिरात नगर-द्वार को खोल कर अभिनिष्क्रमण न कर दें ; अतः दरवाजों के कपाटों को इतना सुदृढ़ बनवा दिया कि एक हजार मनुष्यों की शक्ति के बिना वे खुल न सकें। बोधिसत्त्व महाबल-सम्पन्न दश अरब हाथियों के बल के बराबर व पुरुषों के बल से एक खरब पुरुषों के बराबर बलिष्ठ थे। द्वार पर पहुँच कर बोधिसत्त्व ने सोचा—"यदि द्वार न खुल सका तो कन्थक की पीठ पर बैठे ही, पूंछ पकड़ कर लटकते हुए छन्दक को साथ लिये, घोड़े को जाँघ से दबाकर अठारह हाथ ऊँचे प्राकार को कूद कर पार करूँगा।" छन्दक ने सोचा—"यदि द्वार न खुला तो मैं आर्यपुत्र को कंधे पर बैठाकर, कन्थक को दाहिने हाथ से बगल में दबाकर प्राकार को लांघ जाऊँगा।" कन्थक ने भी सोचा—"यदि द्वार न खुला तो स्वामी को अपनी पीठ पर वैसे ही बैठाये, पूंछ पकड़ कर लटकते छन्दक के साथ ही प्राकार को लांघ जाऊँगा।" यदि द्वार न खुलता तो तीनों में से प्रत्येक उपर्युक्त चिन्तन के अनुसार प्रवृत्ति करते। किन्तु ऐसा प्रसंग नहीं आया। द्वार पर रहने वाले देवों ने तत्काल कपाट खोल दिये।

बोधिसत्त्व को वापिस लौटाने की इच्छा से मार आकाश में आकार खड़ा हुआ। उसने कहा—"मित्र ! राज्य छोड़ मत निकलो। आज से सातवें दिन तुम्हारे लिए चक्र-रत्न प्रकट होगा। दो हजार छोटे द्वीपों और चार महाद्वीपों पर तुम्हारा अखण्ड साम्राज्य होगा। मित्र ! लौट आओ। आगे न बढ़ो।"

बोधिसत्त्व—"तुम कौन हो ?"

मार—"मैं वशवर्ती हूँ।"

बोधिसत्त्व—"मैं भी जानता हूँ कि मेरे लिए चक्र-रत्न प्रकट होगा। किन्तु मुझे राज्य से कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो साहस्रिक लोकधातुओं को निनादित करता हुआ बुद्ध बनूँगा।"

"आज से कभी भी तुम्हारे मन में कामना, द्रोह या हिंसा-सम्बन्धित वितर्क उत्पन्न नहीं होंगे, तब मैं तुझे समझूँगा।" बोधिसत्त्व को मार ने इन शब्दों में चुनौती दी और अवसर की ताक के लिए शरीर छाया की भाँति उनका पीछा करने लगा।

बोधिसत्त्व ने हस्तगत चक्रवर्ती-राज्य को ठुकरा कर, उसे थूक की भाँति छोड़कर आषाढ़ पूर्णिमा को उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में नगर से निर्गमन किया। नगर से निकलते ही उनके मन में नगरावलोकन की पुनः अभिलाषा जागृत हुई। उसी समय महापृथ्वी कुम्हार के चक्र की तरह काँपने लगी। मानो वह कह रही हो, "महापुरुष ! लौट कर देखने का कार्य तू ने अपने जीवन में कभी नहीं किया" बोधिसत्त्व ने जहाँ से मुँह घुमा कर नगर को देखा था, उस भू-प्रदेश में 'कन्थक-निवर्त्तक-चैत्य' का चिह्न बन गया। गन्तव्य की ओर कन्थक का मुँह फेरा और अत्यन्त सत्कार और महान् श्री के साथ आगे चल पड़े। उस समय साठ-साठ

हजार देवता आगे-पीछे, दाँये और बाँये मशाल हाथ में लिए चल रहे थे। चक्रवालों के द्वार-समूह पर अपरिमित मशालों को जलाया। बहुत सारे देवों तथा नाग, सुपर्ण (गरुड़) आदि ने दिव्य गन्ध, माला, चूर्ण, धूप से पूजा करते हुए पारिजात पुष्प, मन्दार पुष्प की वृष्टि कर आकाश को आच्छादित कर दिया। दिव्य संगीत हो रहा था। चारों ओर आठ प्रकार के व साठ प्रकार के अड़सठ लाख वाद्य बज रहे थे। विशिष्ट श्री और सौभाग्य के साथ प्रस्थान करते हुए बोधिसत्त्व एक ही रात में शाक्य, कोलिय और राम-ग्राम—इन तीन राज्यों को पार कर तीस योजन दूर अनोमा नदी के तट पर पहुँच गये।

कन्थक अपरिमित बल-सम्पन्न था। वह प्रातः प्रस्थान कर एक चक्रवाल के मध्यवर्ती घेरे की पृथ्वी पर रहे चक्के की तरह मर्दित करता हुआ उसके प्रत्येक कोने पर घूम कर, अपने भोजन के समय पुनः लौट सकता था। किन्तु इस समय वह केवल तीस योजन ही चल सका। आकाश-स्थित देव, नाग व गरुड़ आदि द्वारा बरसाये गये गंधमाला आदि से वह जाँघ तक ढँक गया था। पुनः-पुनः उसमें से अपने को निकालते हुए व गंधमाला के जाल को हटाते हुए उसे काफी समय लग गया।

प्रव्रज्या-ग्रहण

बोधिसत्त्व ने नदी के तट पर खड़े होकर छन्दक से नदी का नाम पूछा। छन्दक ने उत्तर दिया—"अनोमा।" बोधिसत्त्व ने तत्काल सोचा—हमारी प्रव्रज्या भी अनोमा=अन्+अवम्=छोटी नहीं होगी। उन्होंने उसी समय एड़ी से रगड़ कर घोड़े को संकेत किया। घोड़े ने तत्काल छलांग भरी और आठ ऋषभ[1] चौड़ी नदी के दूसरे तट पर जा खड़ा हुआ। बोधिसत्त्व घोड़े से उतरे व रुपहले रेशम की तरह सुकोमल बालुका-तट पर खड़े हुए। छन्दक को सम्बोधित करते हुए कहा—"सौम्य ! छन्दक ! तू मेरे आभूषणों तथा कन्थक को ले जा। मैं प्रव्रजित होऊँगा।

छन्दक ने कहा—"देव ! मैं भी प्रव्रजित होऊँगा।"

बोधिसत्त्व ने स्पष्टतया तीन बार कहा—"तुझे प्रव्रज्या नहीं मिल सकती। तू यहाँ से लौट जा।"

छन्दक को बोधिसत्त्व का वह निर्देश शिरोधार्य करना पड़ा। आभूषण और कन्थक को सौंपकर वे सोचने लगे—"मेरे ये केश श्रमण भाव के योग्य नहीं हैं। बोधिसत्त्व के केश-कर्तन के लिए असि के अतिरिक्त दूसरा कोई उपयुक्त साधन नहीं है ; अतः मुझे असि से ही काटना चाहिये।" उन्होंने दाहिने हाथ में तलवार लिया और बाँये हाथ में मौर-सहित जुड़े को पकड़ा व उसे काट डाला। केवल दो अंगुल-प्रमाण केश रहे जो दाहिनी ओर से घूमकर

---

१. १४० हाथ=१ ऋषभ।

सिर में चिपट गये। जीवन पर्यन्त उनके केशों का यही परिमाण रहा। मूँछ और दाढ़ी भी उसी परिमाण से रहे। उन्हें अब सिर-दाढ़ी के मुण्डन की कोई आवश्यकता नहीं रही।

बोधिसत्त्व ने मौर-सहित जुड़े को आकाश में यह सोचते हुए फेंक दिया कि यदि मैं बुद्ध होऊँ तो यह आकाश में ही ठहरे अन्यथा भूमि पर गिर जाये। वह चूड़ामणि-वेष्टन योजन तक आकाश में जाकर ठहर गया। देवराज शक्र ने अपनी दिव्य दृष्टि से उसे देखा। उसे उपयुक्त रत्नमय करण्ड में ग्रहणकर शिरोधार्य किया और त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में चूड़ामणि चैत्य की स्थापना की।

बोधिसत्त्व ने पुनः सोचा—"काशी के बने ये वस्त्र भिक्षु के योग्य नहीं हैं।" तब कश्यप बुद्ध के समय के उनके पुराने मित्र घटिकार महाब्रह्मा ने सोचा—"मेरे मित्र ने आज अभिनिष्क्रमण किया है, अतः मैं उसके लिए भिक्षु की आवश्यकताएँ (श्रमण-परिष्कार) ले चलूँगा।" उसने तत्काल तीन चीवर, पात्र, उस्तरा, सुई, काय-बन्धन और पानी छानने का वस्त्र—ये आठ परिष्कार तैयार किये और बोधिसत्त्व को दिये। बोधिसत्त्व ने अर्हत ध्वजा को धारण कर अर्थात् श्रेष्ठ प्रव्रज्या-वेश को ग्रहण कर छन्दक को प्रेरित किया—"छन्दक! मेरी बात से माता-पिता को आरोग्य कहना।"

छन्दक ने बोधिसत्त्व को वन्दना तथा प्रदक्षिणा की और चल दिया। कन्थक ने भी बोधिसत्त्व और छन्दक के बीच हुई बात को सुना। अब मुझे पुनः स्वामी के दर्शन नहीं होंगे, जब उसे यह ज्ञात हुआ, वह उस शोक को सह न सका। तत्काल कलेजा फट गया और वह मरकर त्रयस्त्रिंश भवन में कन्थक नामक देव-पुत्र हुआ। छन्दक को पहले एक ही शोक था, किन्तु कन्थक की मृत्यु से वह दूसरे शोक से भी पीड़ित हुआ। वह रोता हुआ नगर की ओर चला।

*

: ७ :

साधना

महावीर का साधना-काल १२ वर्ष और १३ पक्ष का होता है और बुद्ध का साधना-काल लगभग ६ वर्ष का। उत्कट तपस्या, उत्कट सहिष्णुता और उत्कट ध्यान-परायणता दोनों ही युगपुरुषों की साधना में मिलती है। प्रारम्भ में बुद्ध महावीर की तरह ही तपस्वी जीवन जीते हैं। कृशकाय व दुर्वर्ण हो जाते हैं और एक दिन चंक्रमण वेदिका पर गिर पड़ते हैं। तब उन्हें अनुभव होता है--यह दुष्कर तपस्या बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग नहीं है। पुनः वे अन्नभोजी हो जाते हैं और सुजाता की खीर खाकर सम्बोधि-प्राप्त करते हैं। उन्होंने माना—सम्बोधि का कारण ध्यान है। उनके समग्र साधना-क्रम को देखते हुए लगता है, बुद्ध ने तपस्या को उसी प्रकार अनुपादेय ठहराया, जैसे कोई किसान अंकुर फूटने के अनन्तरित मेघ को ही अंकुर फूटने का एकमात्र निमित्त मान बैठे। भूमि का उत्खनन, बीज का आरोपण तथा पूर्ववर्ती मेघों का वर्षण उसकी दृष्टि में कुछ नहीं रह जाते। वस्तुस्थिति यह है कि कुल निमित्त मिलकर ही अंकुर स्फोटन कर पाते हैं।

महावीर एक वर्ष से कुछ अधिक सचेल रहते हैं, फिर अचेलावस्था में ही विहार करते हैं।[1] बुद्ध प्रव्रज्या के समय गैरिक वस्त्र धारण करते हैं।[2]

तपस्या का प्रकार भी बहुत कुछ समान रहता है। महावीर कभी सूखे भात, मंथु और उड़द पर निर्भर होते हैं; बुद्ध तिल-तण्डुल आदि पर। प्रथम भिक्षान्न खाने के समय बुद्ध के उदर की आन्तें मानो मुँह की ओर से बाहर निकलने लगती है, पर बुद्ध अपने आपको सम्भालकर वहीं भोजन कर लेते हैं। भिक्षान्न की विरसता का वर्णन दोनों ही परम्परा में बहुत विशद् मिलता है।

महावीर के विषय में आर्द्रक मुनि-संलाप में जैसे गोशालक ने कहा—"महावीर पहले एकान्त विहारी श्रमण था। अब वह बड़ी परिषद् में उपदेश करने लगा है। यह आजीविका चलाने का ढोंग है", उसी प्रकार बुद्ध को भी बोधि-सम्प्राप्ति के पश्चात् पंचवर्गीय भिक्षु

---

१. आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ० ६।

२. ललित विस्तर तथा हिन्दूसभ्यता, पृ० २३८।

कहते हैं—"गौतम बुद्ध अब संग्रहशील और साधनाभ्रष्ट हो गया है।...पहले यह कृशकाय तपस्वी था। अब यह सरस आहार से उपचित हो गया है।"

सुजाता खीर बनाने के लिए सहस्र गायों का दूध पाँच सौ गायों को पिलाती है। इसी क्रम से सोलह गायों का दूध आठ गायों को। दूध को स्निग्ध, स्वादु और बल-प्रद बनाने के लिए जैन परम्परा में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। चक्रवर्ती की खीर इसके लिए प्रसिद्ध उदाहरण है। उस खीर को बनाने में पुण्ड्र-ईक्षुक के खेतों में चरने वाली एक लाख गायों का दूध पचास हजार गायों को पिलाया जाता है। इसी क्रम से एक गाय तक पहुँच कर उसके दूध की खीर बनाई जाती है। इसे कल्याण भोजन कहा जाता है। श्री देवी और चक्रवर्ती ही इसे खाते हैं और उनके लिए ही वह सुपाच्य होता है।[1]

कैवल्य-साधना

आचारांग में महावीर की साधना का विशद् वर्णन मिलता है। वहाँ बताया गया है: महावीर ने दीक्षा ली, उस समय उनके शरीर पर एक ही वस्त्र था। लगभग तेरह मास तक उन्होंने उस वस्त्र को कंधों पर रखा। दूसरे वर्ष जब आधी शरद् ऋतु बीत चुकी, तब वे उस वस्त्र को त्याग सम्पूर्ण अचेलक अनगार हो गए। शीत से त्रसित होकर वे बाहुओं को समेटते न थे, अपितु यथावत् हाथ फैलाये विहार करते थे। शिशिर ऋतु में पवन जोर से फुफकार मारता, कड़कड़ाती सर्दी होती तब इतर साधु उससे बचने के लिए किसी गर्म स्थान की खोज करते, वस्त्र लपेटते और तापस लकड़ियाँ जलाकर शीत दूर करने का प्रयत्न करते; परन्तु महावीर खुले स्थान में नंगे बदन रहते और अपने बचाव की इच्छा भी नहीं करते। वहीं पर स्थिर होकर ध्यान करते। नंगे बदन होने के कारण सर्दी-गर्मी के ही नहीं, पर दंश-मशक तथा अन्य कोमल-कठोर स्पर्श के अनेक कष्ट वे झेलते थे।

महावीर अपने निवास के लिए कभी निर्जन झोपड़ियों को चुनते, कभी धर्मशालाओं को, कभी प्रपा को, कभी हाट को, कभी लुहार की शाला को, कभी मालियों के घरों को, कभी शहर को, कभी श्मशान को, कभी सूने घरों को, कभी वृक्ष की छाया को तो कभी घास की गंजियों के समीपवर्ती स्थान को। इन स्थानों में रहते हुए उन्हें नाना उपसर्गों से जूझना होता था। सर्प आदि विषैले जंतु और गीध आदि पक्षी उन्हें काट खाते थे। उद्दण्ड मनुष्य उन्हें नाना यातनाएँ देते थे, गाँव के रखवाले हथियारों से उन्हें पीटते थे और विषया-

---

1. चक्रवर्ति-संबन्धिनीनां पुण्ड्रेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां गवां लक्षस्यार्द्धार्द्धक्रमेण पीतगोक्षीरस्य पर्यन्ते यावदेकस्याः गोः संबन्धि यत् क्षीरं तत्प्रायकलमशालिपरमान्नरूपमनेकसंस्कारकद्रव्य-संमिश्रं कल्याणभोजनमितिप्रसिद्धं, चक्रिणं स्त्रीरत्नं च विना अन्यस्य भोक्तुर्दुर्जरं महदुन्मादकं चेति।

—जम्बूदीपपण्णत्ति वृत्ति, वक्ष० २

दुर स्त्रियाँ कामभोग के लिए उन्हें सताती थीं। मनुष्य और तिर्यञ्चों के दारुण उपसर्गों और कर्कश-कठोर शब्दों के अनेक उपसर्ग उनके समक्ष आये दिन प्रस्तुत होते रहते थे। आर पुरुष उन्हें निर्जन स्थानों में देख चिढ़ते, पीटते और कभी-कभी उनका अत्यधिक तिरस्कार कर चले जाने को कहते। मारने-पीटने पर भी वे अपनी समाधि में लीन रहते और चले जाने का कहने पर तत्काल अन्यत्र चले जाते।

आहार के नियम भी महावीर के बड़े कठिन थे। नीरोग होते हुए भी वे मिताहारी थे। मानापमान में समभाव रखते हुए घर-घर भिक्षाचरी करते थे। कभी दीनभाव नहीं दिखाते थे। रसों में उन्हें आसक्ति न थी और न वे कभी रसयुक्त पदार्थों की आकांक्षा ही करते थे। भिक्षा में रूखा-सूखा, ठण्डा, बासी, उड़द, सूखे भात, मंथु, यवादि नीरस धान्य का जो भी आहार मिलता, उसे वे शान्त भाव से और सन्तोषपूर्वक ग्रहण करते थे। एक बार निरन्तर आठ महीनों तक वे इन्हीं चीजों पर रहे। न मिलने पर भी वे दीन नहीं होते थे। पखवाड़े तक, मास तक और छः-छः मास तक जल नहीं पीते थे। उपवास में भी विहार करते थे। ठण्डा-बासी आहार भी वे तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच दिन के अन्तर से करते थे। निरन्तर नहीं करते थे। स्वाद-जय उनका मुख्य लक्ष्य था। भिक्षा के लिए जाते समय मार्ग में कबूतर आदि पक्षी धान चुगते हुए दिखाई देते तो वे दूर से ही टलकर चले जाते। उन जीवों के लिए वे विघ्नरूप न होते। यदि किसी घर में ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चण्डाल, बिल्ली या कुत्ता आदि को कुछ पाने की आशा में या याचना करते हुए वे वहाँ देखते, तो उनकी आजीविका में बाधा न पहुँचे, इस अभिप्राय से वे दूर से ही चले जाते। किसी के मन में द्वेष-भाव उत्पन्न होने का वे अवसर ही नहीं आने देते।

शरीर के प्रति महावीर की निरीहता बड़ी रोमाञ्चक थी। रोग उत्पन्न होने पर भी वे औषध-सेवन नहीं करते थे। विरेचन, वमन, तेल-मर्दन, स्नान और दन्त-प्रक्षालन नहीं करते थे। आराम के लिए पैर नहीं दबाते थे। आँखों में किरकिरी गिर जाती तो उसे भी वे नहीं निकालते। ऐसी परिस्थिति में आँख को भी वे नहीं खुजलाते। शरीर में खाज आती, तो उस पर भी विजय पाने का प्रयत्न करते।

महावीर कभी नींद नहीं लेते थे।[1] उन्हें जब कभी नींद अधिक सताती, वे शीत में मुहूर्तभर चंक्रमण कर निद्रा दूर करते। वे प्रतिक्षण जाग्रत रह ध्यान व कायोत्सर्ग में ही लीन रहते।

वसति-वास में महावीर न गीतों में आसक्त होते थे और न नृत्य व नाटकों में। न उन्हें दण्ड-युद्ध में उत्सुकता थी और न उन्हें मुष्टि-युद्ध में। स्त्रियों व स्त्री-पुरुषों को

---

१. साधना-काल के बारह वर्ष तेरह पखवाड़ों में महावीर ने केवल एक बार मुहूर्त भर नींद ली; ऐसा माना जाता है।

परस्पर काम-कथा में लीन देखकर भी वे मोहाधीन नहीं होते थे। वीतराग-भाव की रक्षा करते हुए वे इन्द्रियों के विषयों में विरक्त रहते थे।

उत्कटुक, गोदोहिका, वीरासन, प्रभृति अनेक आसनों द्वारा महावीर निर्विकार ध्यान करते थे। शीत में वे छाया में बैठकर ध्यान करते और ग्रीष्म में उत्कटुक आदि कठोर आसनों के माध्यम से चिलचिलाती धूप में ध्यान करते। कितनी ही बार जब वे गृहस्थों की बस्ती में ठहरते, तो रूपवती स्त्रियाँ, उनके शारीरिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो. उन्हें विषयार्थ आमन्त्रित करती। ऐसे अवसर पर भी महावीर आँख उठाकर उनकी ओर नहीं देखते थे और अन्तर्मुख रहते थे। गृहस्थों के साथ किसी प्रकार का संसर्ग नहीं रखते थे। ध्यानावस्था में कुछ पूछने पर वे उत्तर नहीं देते थे। वे अबहुवादी थे अर्थात् अल्पभाषी जीवन जीते थे। सहे न जा सकें, ऐसे कटु व्यंग्यों को सुनकर भी शान्त और मौन रहते थे। कोई उनकी स्तुति करता और कोई उन्हें दण्ड से तर्जित करता या बालों को खींचता या उन्हें नोचता; वे दोनों ही प्रवृत्तियों में समचित्त रहते थे। महावीर इस प्रकार निर्विकार, कषाय-रहित, मूर्छा-रहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिन्तन में ही अपना समय बिताते।

चलते समय महावीर आगे की पुरुष-प्रमाण भूमि पर दृष्टि डालते हुए चलते। इधर-उधर या पीछे की ओर वे नहीं झाँकते। केवल सम्मुखीन मार्ग पर ही दृष्टि डाले सावधानी-पूर्वक चलते थे। रास्ते में उनसे कोई बोलना चाहता, तो वे नहीं बोलते थे।

महावीर दीक्षित हुए, तब उनके शरीर पर नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों का विलेपन किया हुआ था। चार मास से भी अधिक भ्रमर आदि जन्तु उनके शरीर पर मंडराते रहे, उनके मांस को नोचते रहे और रक्त को पीते रहे। महावीर ने तितिक्षा-भाव की पराकाष्ठा कर दी। उन जन्तुओं को मारना तो दूर, उन्हे हटाने की भी वे इच्छा नहीं करते थे।

महावीर ने दुर्गम्य लाढ़ देश की वज्रभूमि और शुभ्र भूमि दोनों में विहार किया। वहाँ उन्हें अनेक विपदाएँ झेलनी पड़ीं। वहाँ के लोग उन्हें पीटते, वहाँ उन्हें खाने को रूखा-सूखा आहार मिलता। ठहरने के लिए स्थान भी कठिनता से मिलता और वह भी साधारण। बहुत बार चारों ओर से उन्हें कुत्ते घेर लेते और कष्ट देते। ऐसे अवसरों पर उनकी रक्षा करने वाले विरले ही मिलते। अधिकांश तो उन्हीं को यातना देते और उनके पीछे कुत्ते लगा देते। ऐसे बिकट विहार में भी इतर साधुओं की तरह वे दण्ड आदि का प्रयोग नहीं करते। दुष्ट लोगों के दुर्वचनों को वे बहुत ही क्षमा-भाव से सहन करते।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि भटकते रहने पर भी वे गाँव के निकट नहीं पहुँच पाते। ज्यों-त्यों ग्राम के निकट पहुँचते, अनार्य लोग उन्हें त्रास देते और तिरस्कारपूर्वक

कहते—"तू यहाँ से चला जा।" कितनी ही बार इस देश के लोगों ने, लकड़ियों, मुट्ठियों, भाले की अणियों, पत्थर या हड्डियों के खप्परों से पीट-पीटकर उनके शरीर में घाव कर दिये। जब वे ध्यान में होते, तो दुष्ट लोग उनके मांस को नोच लेते, उन पर धूल बरसाते, उन्हें ऊँचा उठाकर नीचे गिरा देते, उन्हें आसन पर से नीचे ढकेल देते।[1]

महावीर की निर्जल और निराहार तपस्याओं का प्रामाणिक ब्योरा भी अनेक परम्परा-ग्रन्थों में मिलता है। एक बार उन्होंने छः महीने का निर्जल और निराहार तप किया, एक बार पाँच महीने और पच्चीस दिन का, नौ बार चार-चार महीनों का, दो बार तीन-तीन महीनों का, दो बार ढाई-ढाई महीनों का, छः बार दो-दो महीनों का, दो बार डेढ़-डेढ़ महीनों का, बारह बार एक महीने का, बहत्तर बार पखवाड़े का, बारह बार तीन-तीन दिन का, दो सौ उनतीस बार दो-दो दिन का और एक-एक बार भद्र, महा-भद्र, सर्वतो भद्र प्रतिमा का तप किया।[2] कुल मिलाकर कहा जा सकता है, भगवान् महावीर ने अपने अकेवली जीवन के ४५१५ दिनों में केवल तीन सौ पचास दिन अन्न व पानी ग्रहण किया। ४१६५ दिन तो तप में बीते। अन्य सब तीर्थङ्करों की अपेक्षा महावीर के तप को उग्र बताया गया है।[3]

सम्बोधि-साधना

प्रव्रजित होते ही बुद्ध ने अनूपिया नामक आम्र-उद्यान में एक सप्ताह प्रव्रज्या-सुख में बिताया। वहाँ से प्रस्थान कर एक ही दिन में तीस योजन पैदल चले और राजगृह में प्रविष्ट हुए। वहाँ वे भिक्षा के लिए निकले। बुद्ध के रूप-सौन्दर्य को देखकर सारा नगर, धनपाल के प्रवेश से राजगृह की तरह, असुरेन्द्र के प्रवेश से देवनगर की तरह, संक्षुब्ध हो गया। राजपुरुषों ने राजा से जाकर कहा—"देव! इस रूप का एक पुरुष शहर में मधुकरी माँग रहा है। वह देव है, मनुष्य है, नाग है या गरुड़ है, हम तो नहीं पहचान पाये।" राजा ने राजमहलों के ऊपर खड़े होकर उस महापुरुष को देखा और साश्चर्य अपने पुरुषों को आज्ञा दी—"जाओ, देखो, यदि यह अमनुष्य होगा, नगर से निकलकर अन्तर्धान हो जायेगा; देवता होगा, आकाश-मार्ग से चला जायेगा; नाग होगा, डुबकी लगा कर पृथ्वी में चला जायेगा और यदि मनुष्य होगा तो मिली हुई भिक्षा का भोजन करेगा।"

---

१. आचारांग सूत्र, अ० ६, उ० १ से ४ के आधार पर।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६५२-६५७; आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय वृत्ति २२७-२ से २२६-१, मलयगिरि वृत्ति पत्र २६८-२ से ३००-२; आवश्यक निर्युक्ति-दीपिका, प्रथम भाग, पत्र १०७-१ से १०८।

३. उग्गं च तवोकम्मं विसेसतो वद्धमाणस्स। —आवश्यक निर्युक्ति, गा० २६२

बुद्ध ने भिक्षा में प्राप्त भोजन का संग्रह किया और उसे अपने लिए पर्याप्त समझ कर जिस नगर-द्वार से शहर में प्रवेश किया था, उसी से निर्गमन कर पाण्डव पर्वत की छाया में बैठ भोजन करना आरम्भ किया। उस नीरस व रूक्ष आहार को देखते ही उनकी आँतें उलट कर मानों मुँह से बाहर निकलने लगीं। उन्होंने ऐसा प्रतिकूल भोजन तब तक आँखों से देखा भी नहीं था। भोजन से दुःखित होकर उन्होंने अपने मन को समझाया—"सिद्धार्थ! तू ऐसे कुल में पैदा हुआ था, जहाँ अन्न-पान की सुलभता थी। तीन वर्ष के पुराने सुगन्धित चावल का नाना अत्युत्तम रसों से भावित भोजन तत्काल तैयार रहता था। एक गुदरी-धारी भिक्षु को देखकर तू सोचा करता था, मेरे जीवन में भी क्या ऐसा समय आयेगा, जब कि इस भिक्षु की तरह भिक्षा माँगकर भोजन करूँगा। यही विचार मेरे गृह-त्याग का निमित्त था। अब तू क्या कर रहा है?" बुद्ध ने इस प्रकार अपने मन को समझाया और विकार-रहित हो भोजन किया।

राजपुरुषों ने राजा को इस घटना से सूचित किया। राजा तत्काल नगर से चलकर बुद्ध के पास पहुँचा। उनकी सरल चेष्टा से प्रसन्न होकर उन्हें सभी प्रकार के ऐश्वर्य उपहृत किये। बुद्ध ने निर्लेप भाव से उत्तर देते हुए कहा—"महाराज! मुझे न भोग-कामना है और न वस्तु-कामना। मैं महान् अभिसम्बोधि के लिए निकला हूँ।" राजा ने बहुत प्रकार से प्रार्थना की, किन्तु बुद्ध उस ऐश्वर्य को ग्रहण करने को प्रस्तुत न हुए। अन्ततः राजा ने साग्रह एक प्रार्थना की—"बुद्ध होते ही सबसे पहले आपको मेरे राज्य में आना होगा।"

बुद्ध ने राजा को वचन दिया और आगे प्रस्थान किया। क्रमशः विचरते हुए वे आलार-कालाम तथा उद्दक-रामपुत्र के पास पहुँचे और वहाँ समाधि की शिक्षा ली। कुछ दिनों बाद उन्हें अनुभव हुआ, यह ज्ञान का मार्ग नहीं है। यह समाधि-भावना अपर्याप्त है। देवता-सहित सभी लोकों को अपना बल-वीर्य दिखाने के लिए और परम तत्त्व पाने के लिए वे उरुबेला पहुँचे। उन्हें वह प्रदेश रमणीय प्रतीत हुआ; अतः वहाँ ठहर कर महान् उद्योग आरम्भ कर दिया।

कौण्डिन्य आदि पाँच परिव्राजक भी गाँवों, नगरों व राजधानियों में भिक्षाचरण करते हुए बुद्ध के पास वहीं पहुँचे। वे इस आशा में थे कि सिद्धार्थकुमार अब शीघ्र ही बुद्ध होंगे। छः वर्ष तक वे उनकी उपासना में लगे रहे, आश्रम की सफाई आदि से उनकी सेवा करते रहे तथा बुद्धत्व-प्राप्ति की व्यग्रता से प्रतीक्षा करते रहे। बुद्ध दुष्कर तपस्या करते हुए तिल-तण्डुल से काल-क्षेप करते रहे। अन्ततः उन्होंने आहार-ग्रहण करना भी छोड़ दिया। देवता ने रोम-कूपों द्वारा उनके शरीर में ओज डाल दिया, किन्तु निराहार रहने से वे अत्यन्त दुर्बल हो गये। उनका कनकाभ शरीर काला पड़ गया। शरीर में विद्यमान महापुरुषों के बत्तीस लक्षण छिप गये। एक बार श्वास का अवरोध कर ध्यान करते समय

क्लेश से अत्यन्त पीड़ित हो, बेहोश होकर चंक्रमण की वेदिका पर गिर पड़े। कुछ देवताओं ने कहा—"श्रमण गौतम मर गये।"

बुद्ध को अनुभव हुआ, यह दुष्कर तपस्या बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग नहीं है। उन्होंने ग्रामों और बाजारों में भिक्षाटन कर भोजन-ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। उनका शरीर पुनः स्वर्णवर्ण हो गया।

पंचवर्गीय भिक्षुओं ने सोचा—"छः वर्ष तक दुष्कर तपस्या करने पर भी यह बुद्ध नहीं हो सका ; अब जब कि ग्रामादि से स्थूल आहार ग्रहण करने लगा है तो बोधि-प्राप्ति कैसे सम्भव होगी ? यह तो लालची हो गया है और तपो-भ्रष्ट भी। इसकी और प्रतीक्षा करने से हमारा क्या मतलब सिद्ध हो सकेगा ?" उन्होंने बुद्ध को वहीं छोड़ दिया और अपने-अपने पात्र-चीवर आदि ले अठारह योजन दूर ऋषिपतन को चले गये।

उरुवेला प्रदेश के सेनानी कस्बे में सेनानी कुटुम्बी के घर सुजाता कन्या उत्पन्न हुई। तारुण्य में सुजाता ने बरगद से प्रार्थना की—"यदि समान जाति के कुल-घर में मेरा विवाह हो और मेरी पहली सन्तान पुत्र हो तो मैं प्रतिवर्ष एक लाख के खर्च से तेरी पूजा करूँगी।" उसकी वह प्रार्थना पूर्ण हुई। बुद्ध की दुष्कर तपश्चर्या का छठा वर्ष पूर्ण हो रहा था। वैशाख पूर्णिमा का दिन था। सुजाता ने पूजा करने के अभिप्राय से हजार गायों को यष्टिमधु (मुलेठी) के वन में चरवा कर उनका दूध दूसरी पाँच सौ गायों को पिलाया फिर उनका दूध ढाई सौ गायों को पिलाया। इस क्रम से सोलह गायों का दूध आठ गायों को पिलाया। इस प्रकार दूध की सघनता, मधुरता और ओज के लिए उसने क्षीर-परिवर्तन किया। पूर्णिमा के ब्रह्म मुहूर्त में आठ गायों को दुहवाया। नये वर्तन में दूध डालकर सुजाता ने खीर पकाना आरम्भ किया।

सुजाता ने अपनी पूर्णा दासी को शीघ्र ही देव-स्थान की सफाई का निर्देश दिया। दासी तत्काल वहाँ से चली। वृक्ष के नीचे आई। बुद्ध ने उसी रात को पाँच महास्वप्न देखे और उनके आधार पर निश्चय किया—"निःसंशय आज मैं बुद्ध होऊँगा।" रात बीतने पर शौच आदि से निवृत हो, भिक्षा-काल की प्रतीक्षा करते हुए उसी वृक्ष के नीचे बैठे। सारा वृक्ष उनकी प्रभा से प्रकाशित हो उठा। पूर्णा ने वृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख बैठे बुद्ध को देखा। उसने सोचा, आज हमारे देवता वृक्ष से उतरकर, अपने हाथ से ही बलि ग्रहण के लिए बैठे हैं। उसने दौड़कर सुजाता को सूचित किया। सुजाता को उस संवाद से अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उसने पूर्णा से कहा—"आज से तू मेरी ज्येष्ठा पुत्री होकर मेरे पास रह।" सुजाता ने तत्काल उसे पुत्री के योग्य आभरण दिये। स्वर्ण के थाल में खीर को सजाया, दूसरे स्वर्ण थाल से उसे ढांका और स्वच्छ कपड़े से बाँधा। स्वयं अलंकृत होकर, थाल को अपने सिर पर रख कर वृक्ष के नीचे आई। बुद्ध को वहाँ देखकर वह बहुत

ही सन्तुष्ट हुई। उन्हें वृक्ष-देवता समझकर सर्व प्रथम जहाँ से उसने बुद्ध को देखा था, उसी स्थान पर झुक कर, सिर से थाल को उतारा, खोला, सोने की झारी में से सुगन्धित पुष्पों से सुवासित जल को लिया और बुद्ध के पास जाकर खड़ी हो गई। घटिकार महाब्रह्मा द्वारा प्रदत्त मिट्टी का भिक्षा-पात्र इतने समय तक बराबर बुद्ध के पास रहा, किन्तु इस समय वह अदृश्य हो गया। पात्र को अपने पास न देखकर बुद्ध ने दाहिना हाथ फैलाकर जल को ग्रहण किया। सुजाता ने पात्र-सहित खीर को महापुरुष के हाथ में अर्पित किया। बुद्ध ने सुजाता की ओर देखा। सुजाता उनके अभिप्राय को समझ गई। उसने निवेदन किया—"आर्य ! मैंने तुम्हें यह प्रदान किया है। इसे ग्रहण कर यथारुचि पधारें।" सुजाता ने वंदना की और कहा—"जैसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ है, वैसे तुम्हारा भी पूर्ण हो।" और एक लाख मुद्रा वाला वह स्वर्ण-थाल पुराने पत्तल की तरह उसने वहीं छोड़ दिया और वह वहाँ से चली गई।

बुद्ध वहाँ से उठे। वृक्ष की प्रदक्षिणा की और नेरञ्जरा नदी के तीर पर गये। थाल को एक ओर रखा, जल में उतरे, स्नान कर बाहर आये, पूर्वाभिमुख होकर बैठे और उनपचास ग्रास करके उस सारे निर्जल पायस का उन्होंने भोजन किया। यह भोजन ही उनके बुद्ध होने के बाद बोधिमण्ड में वास करते हुए सात सप्ताह के उनपचास दिनों के लिए आहार हुआ। इतने समय तक न उन्होंने आहार किया, न स्नान किया और न मुख ही धोया। ध्यान-सुख, मार्ग-सुख, फल-सुख से ही इन सात सप्ताहों को बिताया। बुद्ध ने खीर को खाकर सोने के थाल को नदी में फेंक दिया।[1]

स्वप्न

छद्मस्थ-अवस्था की अन्तिम रात्रि में महावीर दश स्वप्न देखते हैं, जिनका सम्बन्ध उनके भावी जीवन से है। बुद्ध अपने साधना-काल की अन्तिम रात्रि में पाँच महास्वप्न देखते हैं। उनका सम्बन्ध भी उनके भावी जीवन से है। स्वप्नों की संघटना बहुत कुछ भिन्न है, पर हार्द बहुत कुछ समान है।

महावीर के स्वप्न

साधना-काल में महावीर को एक बार मुहूर्त भर नींद आई और उसमें उन्होंने दश स्वप्न देखे।

१. महावीर ने देखा, मैं एक भयंकर ताड़-सदृश पिशाच को मार रहा हूँ। इसका अर्थ है—मोह-नाश।

---

१. जातकट्ठकथा, निदान।

२. महावीर ने देखा, मेरे सामने एक श्वेत पुंस्कोकिल उपस्थित है। इसका अर्थ है—शुक्ल ध्यान।

३. महावीर ने देखा, मेरे सामने एक रंग-बिरंगा पुंस्कोकिल उपस्थित है। इसका अर्थ है—विविध विचार-पूर्ण द्वादशांगी का निरूपण।

४. महावीर ने देखा, दो रत्न-मालायें मेरे सम्मुख हैं। इसका अर्थ है—अनगार-धर्म और सागार-धर्म की स्थापना।

५. महावीर ने देखा, एक श्वेत गोकुल मेरे सम्मुख है। इसका अर्थ है--चतुर्विध संघ से सेवित।

६. महावीर ने देखा, एक विकसित पद्म सरोवर मेरे सामने है। इसका अर्थ है—चतुर्विध देवों को प्रतिबोध।

७. महावीर ने देखा, मैं तरंगाकुल महासमुद्र को अपने हाथों से तैर कर पार कर चुका हूँ। इसका अर्थ है—भव-भ्रमण का विच्छेद।

८. महावीर ने देखा, जाज्वल्यमान सूर्य सारे विश्व को आलोकित कर रहा है। इसका अर्थ है—कैवल्य-प्राप्ति।

९. महावीर ने देखा, मैं अपनी वैडूर्य वर्ण आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को आवेष्टित कर रहा हूँ। इसका अर्थ है—मनुष्य-लोक और सुर-लोक में यश-विस्तार।

१०. महावीर ने देखा, मैं मेरु पर्वत की चूलिका पर सिंहासनारूढ़ हो रहा हूँ। इसका अर्थ है—देवता और मनुष्यों की परिषद् में धर्मोपदेश।[१]

बुद्ध के स्वप्न

१. बुद्ध ने देखा, मैं एक महापर्यङ्क पर सो रहा हूँ। हिमालय मेरा उपधान है। बाँया हाथ पूर्वी समुद्र को छू रहा है, दाँया हाथ पश्चिमी समुद्र को छू रहा है और पैर दक्षिणी समुद्र को छू रहे हैं। इसका अर्थ है—तथागत द्वारा पूर्ण बोधि-प्राप्ति।[२]

२. बुद्ध ने देखा, तिरिया नामक एक वृक्ष उनके हाथ में प्रादुर्भूत होकर आकाश तक पहुँच गया है। इसका अर्थ है—अष्टांगिक मार्ग का निरूपण।

३. बुद्ध ने देखा, श्वेत कीट, जिनका शिरोभाग काला है, मेरे घुटनों तक रेंग रहे हैं। इसका अर्थ है—श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थों का शरणागत होना।

---

१. भगवती सूत्र, श० १६, उ० ६, सू० ५७९; ठाणांग सूत्र, ठा० १०, उ० ३; आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, पत्र २७०।

२. इस स्वप्न का फल जैन आगमों में उसी जन्म में मोक्ष-प्राप्ति माना है।

—भगवती सूत्र, शतक १६, उ० ६, सूत्र ५८०।

४. बुद्ध ने देखा, रंग-बिरंगे चार पक्षी चार दिशाओं से आते हैं, उनके चरणों में गिरते हैं और श्वेत हो जाते हैं। इसका अर्थ है—चारों वर्णों के लोग उनके पास सन्यस्त होंगे और निर्वाण प्राप्त करेंगे।

५. बुद्ध ने देखा, वे एक गोमय-पर्वत पर चल रहे हैं, पर फिसल या गिर नहीं रहे हैं। इसका अर्थ है—सुलभ भौतिक सामग्री में अनासक्ति।[1]

*

१. अंगुत्तर निकाय ३-२४० ; महावस्तु २-१३६ ; E. J. Thomas, *Life of Buddha*, p. 70 fn. 4.

: ८ :

परिषह और तितिक्षा

महावीर की चर्या में घटनात्मक परिषहों की कथा बहुत ही रोमाञ्चक है। वे परिषह बुद्ध की चर्या में नहीं देखे जाते। कुछ एक परिषह-प्रसंग ऐसे हैं जो न्यूनाधिक रूपान्तर से दोनों की जीवन-चर्या में मिलते हैं।

महावीर का 'चण्डकौशिक-उद्बोधन' और बुद्ध का 'चण्डनाग-विजय'—ये प्रसंग हार्द की दृष्टि से एक दूसरे के बहुत निकट हैं।

चण्डकौशिक-उद्बोधन

महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक दिन श्वेताम्बिका नगरी की ओर जा रहे थे। जिस मार्ग से वे प्रस्थान कर रहे थे, कुछ व्यक्तियों ने उस ओर आते हुए उन्हें यह कहकर रोका कि इसी मार्ग पर भयंकर आशीविष चण्डकौशिक सर्प रहता है। वह पलक मारते ही व्यक्ति को धाराशायी कर देता है। सैकड़ों व्यक्ति उसके शिकार हो चुके हैं। अब यह मार्ग भी निषिद्ध मार्ग के नाम से सर्वत्र प्रसिद्धि पा चुका है; अतः हे श्रमण! इस पथ से न जाओ। इसी में तुम्हारा भला है।

महावीर जिस दिन से श्रमण बने थे, व्युत्सृष्टकाय होकर तपः-प्रधान साधना कर रहे थे। सम्मुखीन उपसर्ग से भीत होकर पथ न बदलने की उनकी अपनी प्रतिज्ञा थी; अतः उन्होंने उन व्यक्तियों का कथन सुना अवश्य, पर उससे प्रभावित होकर अपना मार्ग न बदला। वे उसी राह से और उसी संयमनिष्ठ गति से चलते रहे। जब कुछ दूर गये, उसी चण्डकौशिक सर्प की बांबी आ गई। सर्प भी बाहर ही बैठा था। उसने भी कुछ दूरी पर महावीर को अपनी ओर आते देखा। उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुत दिनों बाद उस मार्ग से किसी मनुष्य का आगमन हुआ था। सर्प ने सूर्य की ओर देखा तथा अपना भयंकर फुफकार महावीर पर छोड़ा। महावीर ध्यानस्थ खड़े हो गए उसके फुफकार का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे अविचल ध्यान में लीन खड़े रहे। अपने अचूक विष का भी जब उन पर कोई प्रभाव न हुआ तो सर्प और अधिक क्रोधारुण हो गया। वह वहाँ से चला और निकट आकर उसने महावीर के पैर के अंगुठे को डसा। फिर भी उसके जहर का उनके शरीर पर कोई प्रभाव न हुआ। वह उनके

शरीर पर चढ़ा। उसने उनके कन्धों को डसा! जहर का तब भी कोई प्रभाव न पड़ा। महावीर उसी तरह अडोल ध्यान मुद्रा में लीन रहे। उसे उनका रुधिर बहुत सुस्वादु लगा। वह उसे पीने लगा। साथ-ही-साथ उसके हृदय में कौतुहल पूर्वक यह जिज्ञासा भी हुई कि आखिर क्या कारण है, मेरे विष का कोई असर नहीं हो रहा है। विचारमग्न होते ही उसे जाति स्मरण ज्ञान मिला। उसने उसके बल पर जाना—ये तो चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर हैं। मैंने तो यह आशातना कर घोर अपराध कर डाला। वह उनके शरीर से नीचे उतरा, उनके चरणों में लौटने लगा और अपने इस दुष्कृत्य, इस जीवन के दुष्कृत्य व पूर्व भव के क्रोध जनित दुष्कृत्यों का स्मरण, उनकी आलोचना व गर्हा करता हुआ, अपनी उसी बांबी में जाकर शरीर की ममता को छोड़ कर अनशन पूर्वक रहने लगा। उसने मनुष्यों को डसना छोड़ दिया, अन्य छोटे-बड़े जीव-जन्तुओं को सताना छोड़ दिया, अपने शरीर की सार-सम्भाल को भी सर्वथा छोड़ दिया और आत्म भाव में रमरण करता हुआ वहाँ रहने लगा।

निषेध करते हुए भी जब महावीर को उसी मार्ग से प्रस्थान करते हुए लोगों ने देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। कुछ व्यक्ति अति दूर तक उनके पीछे भी गए। जब उन व्यक्तियों ने सर्प की उपर्युक्त सारी घटना देखी तो उनके भी आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भयंकर विषधर का इस प्रकार शान्त हो जाना सचमुच ही एक अनोखी घटना थी। लोगों ने वापिस आकर अपने गाँव में व आस-पास के अन्य गाँवों में भी यह उदन्त सुनाया और चण्डकौशिक सर्प अब अपना विष छोड़कर शान्त हो गया है, यह प्रसिद्ध कर दिया। जनता में इससे हर्ष की लहर दौड़ गई। नागदेव शान्त हो गया, इस बात से प्रेरित होकर सैकड़ों व्यक्ति उसकी पूजा व अर्चा के लिए वहाँ आने लगे। वे दुग्ध-शर्करा आदि चढ़ाने लगे। उपहृत पदार्थों की गंध से आकृष्ट होकर वहाँ बहुत सारी चींटियाँ जमा हो गईं और सर्प के शरीर को चूंटने लगी। चण्डकौशिक को इससे अपार वेदना हुई। उस समय भी उसने महावीर का तितिक्षा-आदर्श रखा। वह तिलमिलाया नहीं और न मन में भी क्रुद्ध हुआ। उसने न चींटियों को कोई आघात पहुँचाया और न स्वयं भी वहाँ से हटकर दूसरी जगह गया। वेदना को समभाव से सहन करता हुआ, शरीर का त्याग कर देव-योनि में उत्पन्न हुआ।[1]

चण्डनाग-विजय

बुद्ध उरुवेल काश्यप जटिल के आश्रम में पहुँचे और उससे कहा—"यदि तुझे असुविधा न हो तो मैं तेरी अग्निशाला में वास करना चाहता हूँ।"

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ३; आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरि वृत्ति, गा० ४६६-६७, पत्र २७३-७४।

उरुबेल काश्यप ने निवेदन किया—"महाश्रमण! तुम्हारे निवास से मुझे तो कोई असुविधा नहीं है, किन्तु यहाँ एक अत्यन्त चण्ड व दिव्य शक्तिधर आशीविष नागराज रहता है। कहीं वह तुम्हारे लिए हानिकारक न हो।"

बुद्ध ने अपने प्रस्ताव को फिर भी दो-तीन बार दुहराया और कहा—"काश्यप! वह नाग मुझे हानि नहीं पहुँचा सकेगा। तू अग्निशाला की स्वीकृति दे दे।"

उरुबेल ने सहर्ष स्वीकृति दे दी। बुद्ध ने अग्निशाला में तृण बिछाये, आसन लगाया, शरीर को सीधा किया और स्मृति को स्थिर कर बैठ गये। नागराज ने उन्हें वहाँ बैठे देखा। वह क्रुद्ध हो, धुआँ उगलने लगा। बुद्ध के मन में अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—नागराज के चर्म, मांस, नस, अस्थि, मज्जा आदि को किसी प्रकार की विना क्षति पहुँचाये इसके तेज को खींच लूँ। उन्होंने अपने योग-बल से वैसा ही किया। स्वयं धुआँ उगलने लगे। नागराज उनके तेज को सह न सका। वह प्रज्वलित हो उठा। बुद्ध भी तेजमहाभूत में समाधिस्थ होकर प्रज्वलित हो उठे। दोनों के ज्योति रूप होने से अग्निशाला प्रज्वलित-सी प्रतीत होने लगी। उरुबेल काश्यप ने अग्निशाला को चारों ओर से घेर लिया और वह कहने लगा—"हाय! परम सुन्दर महाश्रमण नाग द्वारा मारा जा रहा है।"

रात बीत गई। प्रातःकाल बुद्ध ने नागराज को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये, उसका सारा तेज खींच लिया और उसे पात्र में रखकर उरुबेल काश्यप को दिखाते हुए कहा—"मैंने तेरे नाग का तेज खींच लिया है। अब यह निस्तेज है। किसी को भी हानि नहीं पहुँचा सकेगा।"[1]

देव-परिषह

महावीर की जीवन-चर्या में संगम देव कृत परिषह बहुत प्रसिद्ध है और बुद्ध की जीवन-चर्या में मार देव कृत परिषह। दोनों ही प्रकार के परिषहों की समानता विस्मयोत्पादक है।

संगम देव

महावीर ने सानुलट्ठिय से दृढ़ भूमि की ओर विहार किया। पेढ़ाल गाँव के समीपवर्ती पेढ़ाल उद्यान में पोलास नामक चैत्य में आये और अट्ठम तप आरम्भ किया। एक शिला पर शरीर को कुछ झुकाकर, हाथों को फैलाया। किसी रूक्ष पदार्थ पर दृष्टि को केन्द्रित कर व दृढ़मनस्क होकर वे निर्निमेष हो गये। यह महाप्रतिमा तप कहलाता है। महावीर वहाँ एक रात्रि ध्यानस्थ रहे। उनकी इस उत्कृष्ट ध्यान-विधि को देखकर इन्द्र ने अपनी सभा को सम्बोधित करते हुए कहा—"भरत क्षेत्र में इस समय महावीर के सदृश ध्यानी

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक।

और धीर पुरुष अन्य कोई नहीं है। कोई भी शक्ति उन्हें अपने कायोत्सर्ग से विचलित नहीं कर सकती।" देवों में इस प्रकरण से बड़ा हर्ष हुआ। संगम को यह अच्छा नहीं लगा। उसने इन्द्र के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—"ऐसा कोई भी देहधारी नहीं हो सकता, जो देव-शक्ति के सम्मुख नत न हो।" संगम ने इन्द्र के कथन को चुनौती देते हुए आगे कहा—"मैं उन्हें विचलित कर सकता हूँ। मेरी शक्ति के समक्ष उन्हें झुकना पड़ेगा।"

इन्द्र ने अपने पक्ष को पुष्ट करते हुए कहा—"ऐसा न कभी हुआ और न कभी हो सकता है कि ध्यानस्थ तीर्थङ्कर किसी आघात या तर्जन से विचलित हो जायें।"

संगम ने दृढ़ता के साथ कहा—"मैं उनकी परीक्षा लूँगा।"

अपने दुर्विचार को क्रियान्वित करने के लिए वह शीघ्र ही पोलास चैत्य में आया। ध्यानारूढ़ महावीर को देखा। उन्हें विचलित करने के लिए एक ही रात्रि में एक के बाद एक, बीस प्रकार के भयंकर कष्ट दिए। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. प्रलय-काल की तरह धूलि की भीषण वृष्टि की। महावीर के कान, नेत्र, नाक आदि उस धूलि से सर्वथा सन गये।
२. वज्रमुखी चींटियाँ उत्पन्न कीं। उन्होंने महावीर के सारे शरीर को खोखला कर दिया।
३. मच्छरों के झुण्ड बनाए और उन्हें महावीर पर छोड़ा। उन्होंने उनके शरीर का बहुत खून चूसा।
४. तीक्ष्णमुखी दीमकें उत्पन्न कीं। वे महावीर के शरीर पर चिमट गईं और उन्हें काटने लगीं। ऐसा लगता था, जैसे कि उनके रोंगटे खड़े हो गये हों।
५. जहरीले बिच्छुओं की सेना तैयार की। उन्होंने एक साथ महावीर पर आक्रमण किया और अपने पैने डंक से उन्हें डसने लगे।
६. नेवले छोड़े। भयंकर शब्द करते हुए वे महावीर पर टूट पड़े और उनके मांस-खण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।
७. नुकीले दाँत और विष की थैलियों से भरे सर्प छोड़े। वे महावीर को बार-बार काटने लगे। अन्ततः जब वे निर्विष हो गये तो शिथिल होकर गिर पड़े।
८. चूहे उत्पन्न किए। वे महावीर को अपने नुकीले दाँतों से काटने के साथ-साथ उन पर मूत्र-विसर्जन भी करते। कटे हुए घावों पर मूत्र नमक का काम करता।
९. लम्बी सूँड वाला हाथी तैयार किया। उसने महावीर को आकाश में पुनः-पुनः उछाला और गिरते ही उन्हें अपने पैरों से रौंदा तथा उनकी छाती पर तीखे दाँतों से प्रहार किया।

१०. हाथी की तरह हथिनी बनाई और उसने भी महावीर को बार-बार आकाश में उछाला तथा अपने पैरों से रौंदकर तीखे दान्तों से प्रहार किया ।

११ बीभत्स पिशाच का रूप बनाया और वह भयानक किलकारियाँ भरता हुआ हाथ में पैनी बर्छी लेकर महावीर पर झपटा । पूरी शक्ति से उन पर आक्रमण किया ।

१२. विकराल व्याघ्र बनकर वज्र-सदृश दान्तों और त्रिशूल-सदृश नाखूनों से महावीर के शरीर का विदारण किया ।

१३. सिद्धार्थ और त्रिशला बनकर हृदय-भेदी विलाप करते हुए उन्होंने कहा—"वर्द्धमान ! वृद्धावस्था में हमें असहाय छोड़कर तू कहाँ चला आया ?"

१४. महावीर के दोनों पैरों के बीच में अग्नि जलाकर भोजन पकाने का बर्तन रखा । महावीर उस अग्नि-ताप से विचलित न हुए, अपितु उनकी कान्ति स्वर्ण की भाँति निखर उठी ।

१५. महावीर के शरीर पर पक्षियों के पिंजरे लटका दिये । पक्षियों ने अपनी चोंच और पंजों से प्रहार कर उन्हें क्षत-विक्षत करने का प्रयत्न किया ।

१६. भयंकर आँधी चलाई । वृक्ष मूल से उखड़ने लगे, मकानों की छतें उड़ने लगीं और साँय-साँय का भयंकर निनाद जन-मानस को भयाकुल करने लगा । महावीर उस वातूल में कई बार उड़े और गिरे ।

१७. चक्राकार वायु चलाई । महावीर उसमें चक्र की तरह घूमने लगे ।

१८. काल चक्र चलाया । महावीर घुटने तक भूमि में धंस गये ।

प्रतिकूल परिषहों से जब महावीर तनिक भी विचलित न हुए तो उसे कुछ लज्जा का अनुभव हुआ, फिर भी उसने प्रयास न छोड़ा । उनका ध्यान-भङ्ग करने के लिए उसने कुछ अनुकूल प्रयत्न भी किये ।

१९. एक विमान में बैठकर महावीर के पास आया और बोला—"कहिये, आपको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग ? अभिलाषा पूर्ण करूँगा ।"

२०. अन्ततः उसने एक अप्सरा को लाकर महावीर के सम्मुख खड़ा किया । उसने भी अपने हाव-भाव व विभ्रम-विलास से उन्हें ध्यान-च्युत करने का प्रयत्न किया, किन्तु सफलता नहीं मिली ।[1]

रात्रि समाप्त हुई । प्रातःकाल महावीर ने अपना ध्यान समाप्त किया और बालुका की ओर विहार किया ।

---

१. प्रस्तुत बीस परिषह आवश्यक चूर्णि (प्रथम भाग, पत्र ३११) के आधार से है । कल्पसूत्र में ये ही परिषह कुछ क्रम-भेद और स्वरूप-भेद से हैं ।

असफल व्यक्ति अपने दुर्विचार को ज्यों-त्यों नहीं छोड़ता। उसका प्रयत्न होता है, जैसे-तैसे भी कुछ कर डाले। यद्यपि महावीर को मेरु की भाँति अडोल देखकर वह सन्न रह गया, फिर भी उसने दुष्प्रयत्न नहीं छोड़े। महावीर बालुका की ओर जब विहार कर रहे थे, संगम ने उन्हें भीत करने के लिए मार्ग में पाँच सौ चोरों का एक गिरोह खड़ा कर दिया। किन्तु वे भीत न हुए। उन्होंने अपना मार्ग नहीं बदला। सहज गति से चलते रहे। बालुका से विहार कर वे सुयोग, सुच्छेता, मलय और हस्तिशीर्ष आये। संगम वहाँ भी उनके साथ था और उन्हें नाना परिषह देता रहा।

महावीर तोसलि गाँव के उद्यान में ध्यानस्थ थे। संगम साधु का वेष बनाकर गाँव में गया और वहाँ सेंध लगाने लगा। जनता ने उसे चोर समझ कर पकड़ लिया और उसे बुरी तरह पीटने लगी। संन्यासी शक्ल में संगम ने कहा—"मुझे क्यों पीटते हैं? मैं तो अपने गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ।" जनता ने पूछा—"तेरा गुरु कौन है और कहाँ है?" संगम ने उद्यान में ध्यानमग्न महावीर को बता दिया। जनता उद्यान में आई। महावीर को ध्यानस्थ देखा। जनता ने उन पर आक्रमण कर दिया। उन्हें बांधकर गाँव की ओर ले जाने की तैयारी करने लगे। महाभूतिल ऐन्द्रजालिक सहसा वहाँ आ पहुँचा। उसने गाँव वालों को महावीर का परिचय दिया और उन्हें मुक्त कराया। जनता उस तथाकथित साधु की खोज में लगी। वह कहीं दिखाई नहीं दिया। गाँव वालों को स्वतः यह ज्ञात हो गया कि इसमें अवश्य ही कोई षड्यंत्र था।[1]

तोसलि से विहार कर महावीर मोसलि पहुँचे। उद्यान में ध्यानमग्न थे। संगम ने उन पर चोर होने का अभियोग लगाया। आरक्षक आये और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। वे राज-सभा में लाये गये। सभा में सिद्धार्थ का मित्र सुमागध राष्ट्रिय बैठा था। महावीर को देखकर वह खड़ा हो गया। उनका अभिवादन किया। राजा से उनका परिचय करवाया और बन्धन-मुक्त किया। महावीर उद्यान में जाकर पुनः ध्यानस्थ हो गये।[2]

एक बार महावीर कायोत्सर्ग में लीन थे। संगम ने चोरी के उपकरण लाकर उनके पास रख दिए। जनता ने उन्हें चोर की आशंका से पकड़ लिया और तोसलि-क्षत्रिय के समक्ष उपस्थित किया। क्षत्रिय ने उनसे नाना प्रश्न पूछे और परिचय जानना चाहा। उन्होंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। मौन से क्षत्रिय और अधिक सशंक हुआ। उसने अपने परामर्श मण्डल से विमर्षण किया। सभी इस निष्कर्ष पर पहुँचे, यह छद्म साधु है; अतः इसे फांसी पर लटका दिया जाए। अधिकारियों ने आदेश को क्रियान्वित करने के लिए कदम उठाये। महावीर को फांसी के तख्ते पर ले आये और उन्होंने फांसी का फंदा उनके

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गा० ५०८

२. वही, गा० ५०९

गले में डाला। फंदा उसी समय टूट गया। सात बार उन्हें फाँसी लगाने का उपक्रम किया गया, किन्तु वह विफल ही हुआ। राजा और अधिकारी—सभी चकित हुए और अतिशय प्रभावित भी। राजा ने महावीर को आदरपूर्वक मुक्त कर दिया[1]।

महावीर एक बार सिद्धार्थपुर आये। संगम के कारण चोर की आशंका में वे वहाँ भी पकड़े गये। अश्व-वणिक् कौशिक से परिचय पाकर वे मुक्त कर दिये गये। वहाँ से व्रजग्राम आये। वहाँ उस दिन कोई पर्व था; अतः सबके घर खीर बनी थी। महावीर भिक्षाचरी के लिए उठे। संगम वहाँ भी पहुँच गया। महावीर जिस घर में गौचरी के लिए जाते, वह वहाँ पहुँच जाता और आहार को अकल्पनीय कर देता। महावीर संगम की दुर्बुद्धि को समझ गये और नगर छोड़कर अन्यत्र चले गये।[2]

छः महीने तक संगम महावीर को भयंकर कष्ट देता रहा। उसने अधमता की सीमा लाँघ दी। महावीर फिर भी अपने मार्ग से तनिक भी विचलित न हुए। संगम मन में लज्जित हुआ। उसे दृढ़ विश्वास हो गया, मेरे अनेक प्रयत्न करने पर भी महावीर का मनोबल क्रमशः दृढ़तर ही हुआ है, उसमें न्यूनता नहीं हुई है। पराभूत होकर वह महावीर के समक्ष उपस्थित हुआ और अपना रहस्योद्घाटन करता हुआ बोला—"इन्द्र द्वारा की गई आपकी स्तुति अक्षरशः सत्य है। आप दृढ़प्रतिज्ञ हैं। मैं अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हुआ हूँ। आपको कोई भी शक्ति विचलित नहीं कर सकती। भविष्य में मैं कभी भी, किसी के भी साथ ऐसी अधमता नहीं करूँगा।"

महावीर समचित्त थे। संगम की पूर्व प्रवृत्तियों पर वे न उद्विग्न हुए और न इस निवेदन पर हर्षित। संगम स्वर्ग में गया। इस कुकृत्य से इन्द्र उस पर बहुत क्रुद्ध हुआ। उसकी भर्त्सना करते हुए उसे देवलोक से निर्वासित कर दिया। वह अपनी पत्नी के साथ मेरु पर्वत की चूला पर रहने लगा।

मार देव-पुत्र

बुद्ध यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए जब कृत संकल्प हो, आसन लगाकर बैठे तो मार देव-पुत्र ने सोचा—"सिद्धार्थ-कुमार मेरे अधिकार से बाहर निकलना चाहता है। मैं ऐसा नहीं होने दूँगा।" मार देव-पुत्र अपने सैन्य शिविर में आया, सारी सेना को सज्जित किया और बुद्ध पर आक्रमण करने के लिए चल पड़ा। सेना बहुत विस्तृत थी। चारों ओर व ऊँचाई में अनेक योजनों तक फैली हुई थी। मार स्वयं गिरिमेखल हाथी पर आरूढ़ हुआ और उसने सहस्रबाहु से नाना आयुध ग्रहण किये। अन्य सैनिकों ने भी अस्त्र-शस्त्र धारण किये और विभिन्न रंगों से अपनी आकृति को अत्यन्त भयावह व विचित्र बनाकर बुद्ध को

१. वही, गा० ५०६
२. आवश्यक निर्युक्ति, गा० ५१०।

भीत करने के लिए चल पड़े। जब मार अपने पूरे परिवार के साथ बोधि-मण्ड के समीप पहुँच रहा था, सारे देव-सैनिक एक-एक कर भाग खड़े हुए। बुद्ध के अप्रतिम तेज को वे देख न सके। मार देव-पुत्र को अपने प्रभाव का अनुभव हुआ और दूसरा मार्ग खोजते हुए उसने निश्चय किया—"बुद्ध के समान दूसरा कोई भी वीर नहीं है। अभिमुख होकर इससे युद्ध नहीं कर सकेंगे ; अतः पीछे से आक्रमण करना चाहिए।" और उन्होंने पीछे से आक्रमण कर दिया। बुद्ध ने अन्य दिशाओं को खाली पाया और केवल उत्तर दिशा से मार-सेना को अपनी ओर बढ़ते पाया। उन्होंने सोचा—"ये इतने व्यक्ति मेरे विरुद्ध विशेष प्रयत्नशील हैं। मेरी ओर मेरे माता-पिता, भाई, स्वजन-परिजन आदि कोई नहीं हैं, दश पारमिताएँ ही मेरे परिजन के समान हैं ; अतः उनकी ही ढाल बनाकर पारमिता-शस्त्र को ही चलाना चाहिए और इस सेना-समूह का विध्वंस करना चाहिये।"

दश पारमिताओं का स्मरण कर बुद्ध आसन जमा कर बैठ गये। मार देव ने उन्हें भगाने के उद्देश्य से कष्ट देना प्रारम्भ किया।

१. भयंकर आँधी चलाई। पर्वतों के शिखर उड़ने लगे, वृक्षों की जड़ें उखड़ने लगीं और ग्राम व नगरों का अस्तित्व रह पाना असम्भव हो गया। बुद्ध स्थिरकाय बैठे रहे। चलती हुई आँधी जब बुद्ध के समीप पहुँची तो वह सर्वथा निर्बल हो चुकी थी। उनके चीवर का कोना भी नहीं हिल पाया।

२. आँधी में असफल होकर मार देव-पुत्र ने बुद्ध को डुबोने के अभिप्राय से मूसलाधार वर्षा की। वेगवाहिनी धाराओं से पृथ्वी में स्थान-स्थान पर छिद्र हो गये। वन-वृक्षों की ऊपरी चोटियों तक बाढ़ आ गई। फिर भी बुद्ध के चीवरों को वह ओस की बूँदों के समान भी भिगो न सका।

३. पत्थरों की वर्षा की। बड़े-बड़े धुआँ-धार, जलते-दहकते पर्वत-शिखर आकाश-मार्ग से आये और बुद्ध के समीप पहुँचकर वे पुष्पों के गुच्छे बन गये।

४. आयुधों की वर्षा की। एकधार, द्विधार, असि, शक्ति, तीर आदि प्रज्वलित आयुध आकाश-मार्ग से आये और बुद्ध के समीप पहुँचते ही वे दिव्य पुष्पों में परिवर्तित हो गये।

५. अङ्गारों की वर्षा की। रक्त वर्ण अंगारे आकाश से बरसने लगे, किन्तु वे बुद्ध के पैरों पर पुष्प बनकर बिखर गये।

६. राख की वर्षा की। अत्यन्त उष्ण अग्नि-चूर्ण आकाश से बरसने लगा, किन्तु बुद्ध के चरणों में वह चन्दन-चूर्ण बनकर गिरा।

७. रेत की वर्षा की। धुंधली, प्रज्वलित, अति सूक्ष्म धूल आकाश से बरसने लगी, किन्तु बुद्ध के चरणों पर वह दिव्य पुष्प बनकर गिर पड़ी।

८. कीचड़ की वर्षा की। धुंधला व प्रज्वलित कीचड़ आकाश से बरसने लगा, किन्तु बुद्ध के चरणों पर वह भी दिव्य लेप बनकर गिरा।

६. चारों ओर सघन अन्धकार फैलना आरम्भ किया, किन्तु वह भी बुद्ध के समीप पहुँचता हुआ, सूर्य-प्रभा से विनष्ट अन्धेरे की भाँति तिरोहित हो गया।

वायु, वर्षा, पाषाण, आयुध, धधकती राख, बालू, कीचड़ और अन्धकार की वर्षा से भी मार जब बुद्ध को न भगा सका तो अपने सैनिकों को आदेश दिया—"खड़े-खड़े क्या देख रहे हो? इस कुमार को पकड़ो, मारो और भगाओ।" स्वयं गिरिमेखल हाथी पर बैठकर, चक्र को हाथ में ले बुद्ध के पास पहुँचा और बोला—"सिद्धार्थ! इस आसन से उठ। यह तेरे लिए नहीं है, अपितु मेरे लिए है।"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"मार! तू ने न दश पारमिताएँ पूर्ण की हैं, न उप-पारमिताएँ और न परमार्थ पारमिताएँ ही। तू ने पाँच महात्याग भी नहीं किये, न ज्ञाति-हित व लोक-हित के लिए ही कुछ किया। तू ने ज्ञान का आचरण भी नहीं किया है। यह आसन तेरे लिए नहीं, मेरे लिए ही है।"

मार अपने क्रोध के वेग को रोक न सका। उसने बुद्ध पर चक्र चलाया। बुद्ध ने अपनी दश पारमिताओं का स्मरण किया। वह चक्र उन पर फूलों का चँदवा बन कर ठहर गया। यह चक्र इतना तेज था कि मार क्रुद्ध होकर यदि एक ठोस पाषाण स्तम्भ पर फेंकता तो उसे बाँसों के कड़ीर (घास) की तरह खण्ड-खण्ड कर देता। मार-परिषद् ने भी बुद्ध को आसन से भगाने के लिए बड़ी-बड़ी पत्थर शिलाएँ फैंकीं। दश पारमिताओं का स्मरण करते ही बुद्ध के पास आकर वे फूलमालायें बनकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं।

चक्रवाल के किनारे पर खड़े देवता-गण उत्कन्धर होकर इस दृश्य को देख रहे थे। रह-रह कर उनके मस्तिष्क में एक ही चिन्तन उभर रहा था, सिद्धार्थ कुमार का सुन्दर स्वरूप नष्ट हो गया। अब वह क्या करेगा?

पारमिताओं को पूर्ण करने वाले बोधिसत्त्वों को बुद्धत्व-प्राप्ति के दिन जो आसन प्राप्त होता है, वह मेरे लिए ही है; जब मार ने यह कहा तो बुद्ध ने उससे पूछा—"मार! तेरे दान का साक्षी कौन है?"

मार ने अपनी सेना की ओर हाथ फैलाते हुए कहा—"ये सारे मेरे साक्षी हैं।" सभी सैनिक मार का संकेत पाते ही एक साथ चिल्ला उठे—"हम साक्षी हैं, हम साक्षी हैं।" वह कोलाहल इतना हुआ कि जैसे पृथ्वी के फटने का शब्द होता हो।

मार ने बुद्ध से पूछा—सिद्धार्थ-कुमार तू ने दान दिया है, इसका साक्षी कौन है?"

बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"तू ने जो दान दिया था, उसके साक्षी तो ये जीवित प्राणी (सचेतन) हैं, किन्तु मैंने जो दान दिया था, यहाँ उसका जीवित साक्षी कोई नहीं है।

अन्य जन्मों में दिये गए दान की बात तू रहने दे। केवल 'वेस्सन्तर जन्म' में मेरे द्वारा सात सप्ताह तक दिये गये दान की यह अचेतन ठोस महा पृथ्वी भी साक्षिणी है।"

बुद्ध ने तत्काल चीवर में से दाहिने हाथ को निकाला। महापृथ्वी को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—"वेस्सन्तर जन्म में मेरे द्वारा सात सप्ताह तक दिए गये दान की क्या तू साक्षिणी है?"

बुद्ध ने महापृथ्वी से प्रश्न किया और उसकी ओर हाथ लटकाया। महापृथ्वी ने तत्काल उत्तर दिया—"मैं तेरी उस समय की साक्षिणी हूँ।" और मार-सेना को तितर-बितर करते हुए उसने शतशः, सहस्रशः और लक्षशः महानाद किया।

मार पराभूत हुआ। उसने बुद्ध के कथन को स्वीकार करते हुए कहा—"सिद्धार्थ! तू ने महादान दिया है, उत्तम दान दिया है।" ज्यों ही मार ने वेस्सन्तर जन्म के दान पर विचार किया, गिरिमेखल हाथी ने दोनों घुटने टेक दिये। उसी समय मार-सेना दिशाओं-विदिशाओं में भाग निकली। एक मार्ग से दो नहीं गये। सिर के आभूषण व वस्त्रादिक छोड़, जिस ओर अवकाश मिला, उस ओर ही भाग निकले।

देव-गण ने बुद्ध की विजय और मार की पराजय को देखा। वे बहुत हर्षित हुए। बुद्ध के समीप आये और उनकी पूजा की।[1]

अवलोकन

संगम और मार के कुछ परिषह तो नितान्त एक रूप ही हैं; फिर भी कुछ मौलिक अन्तर भी है। संगम द्वारा होने वाले परिषहों के आघात का परिणाम महावीर के शरीर पर होता है; किन्तु वे इतने स्थिरकाय थे कि उनसे विचलित नहीं हुए। मार देव-पुत्र द्वारा होने वाले आक्रमण जब बुद्ध के समीप पहुँचते हैं तो बुद्ध दश पारमिताओं का स्मरण करते हैं और वे (आक्रमण) पुष्प आदि के रूप में बदल जाते हैं तथा वे उनके लिए कष्टकारक नहीं होते। महावीर का संगम के साथ कोई वार्त्तालाप नहीं होता है। बुद्ध और मार देव-पुत्र एक दूसरे को चुनौतियाँ देते हैं और दोनों में वाद-विवाद भी होता है। महावीर के समक्ष संगम और बुद्ध के समक्ष मार देव-पुत्र, अन्त में, दोनों ही पराभूत होते हैं। महावीर को ये उपसर्ग छद्मस्थ काल के ग्यारहवें वर्ष में होते हैं।[2] इन्द्र द्वारा की गई उनकी ध्यान-दृढ़ता की प्रशंसा इसका निमित्त बनती है। संगम को मिथ्यादृष्टि देव माना गया है। बुद्ध को मार देव-पुत्र कृत ये उपसर्ग अबोधि दशा के अन्तिम वर्ष में होते हैं; जब कि बुद्ध सुजाता की खीर खाकर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किये बिना आसन को न छोड़ने का प्रण करते हैं। उपसर्गों

---

१. जातकट्ठकथा, निदान।

२. देखें, आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, गा० ४९५ से ५१७।

के अनन्तर ही बुद्ध बोधि-लाभ कर लेते हैं और फिर वे स्थानान्तर से सात सप्ताह तक समाधि लगाते हुए विमुक्ति का आनन्द लेते हैं। दूसरे सप्ताह वे अजपाल बर्गद के नीचे और तीसरे सप्ताह मुचलिन्द वृक्ष की छाया में समाधि लेते हैं। उस सप्ताह अकाल मेघ का प्रकोप होता है। शरीर को चीर कर निकलने वाली ठण्डी हवाएँ चलती हैं। उस समय मुचलिन्द नागराज आता है और बुद्ध के शरीर को सात बार लपेट कर उनके मस्तक पर फन तानकर खड़ा रहता है। इस-प्रकार वह बुद्ध की शीत-ताप, दंश, मच्छर, वात, धूप, सरीसृप आदि से रक्षा करता है।[1]

यह उपसर्ग तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के कमठ उपसर्ग जैसा है। छद्मस्थ अवस्था में पार्श्वनाथ एक दिन वट वृक्ष की छाया में कूप के समीप ध्यानस्थ खड़े थे। पूर्व भव के विरोधी मेघमाली देव ने भयंकर कड़क और बिजली के साथ मूसलधार मेघ बरसाना प्रारम्भ किया। नदी-नाले बह चले। प्रलय का सा दृश्य उत्पन्न हो गया। तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के गले तक पानी भर आया। धरणेन्द्र-पद्मावती देव-युगल ने उस समय उन्हें स्वविकुर्वित कमल-नाभि पर खड़ा किया और उनके मस्तक पर विकुर्वित नागराज फन तान कर खड़ा रहा। इस प्रकार तीन दिन तक वे देव द्वारा सुरक्षित रहे।[2]

*

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक।

२. विस्तार के लिए देखें—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्।

: ६ :

कैवल्य और बोधि

कैवल्य

"अनुत्तर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आर्जव, स्वाध्याय, वीर्य, लाघव, क्षान्ति, मुक्ति (निर्लोभता), गुप्ति, तुष्टि, सत्य, संयम, तप और सुचरित तथा पुष्ट फल देने वाले निर्वाण मार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए महावीर ने बारह वर्ष का सुदीर्घ समय बीता दिया। तेरहवें वर्ष में एक बार वे, जंभिय ग्राम के बाहर, ऋजुबालिका नदी के उत्तर तट पर, श्यामाक गाथापति के खेत में, व्यावृत चैत्य के न अधिक दूर और न अधिक समीप, ईशान कोण में, शालवृक्ष के नीचे, गोदोहिकासन से, ध्यानस्थ होकर आतापना ले रहे थे। उस दिन उनके निर्जल षष्टभक्त तप था। वैशाख शुक्ला दशमी का दिन था। पूर्वाभिमुख छाया थी। अपराह्न का अन्तिम प्रहर था। विजय मुहूर्त में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। पूर्ण निस्तब्ध व शान्त वातावरण में एकाग्रता की उत्कृष्टता में महावीर शुक्ल ध्यान में लीन थे। प्रबल पुरुषार्थी महावीर उस समय साधना के अन्तिम छोर तक पहुँचे। चार घाती कर्मों का क्षय किया और उन्होंने केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त किया। वह ज्ञान और दर्शन चरम, उत्कृष्ट, अनुत्तर, अनन्त, व्यापक, सम्पूर्ण, निरावरण और अव्याहत था। इसकी प्राप्ति के बाद वे मनुष्य, देव, तथा असुर-प्रधान लोक के समस्त जीवों के सभी भाव और पर्याय जानने-देखने लगे।"[1]

कैवल्य-प्राप्ति के साथ-साथ देवलोक में प्रकाश हुआ। देवों के आसन चलित होने लगे। देवों के इन्द्र, सामाजिक देव, त्रायस्त्रिंश देव, लोकपाल, देवों की अग्रमहिषियाँ, पारिवारिक देव, सेनापति, आत्म-रक्षक देव और लोकान्तिक आदि देव अहं-प्रथमिका से मनुष्य-लोक में उतर आये। स्थान-स्थान पर देवों की सभाओं का समायोजन होने लगा। देवियाँ ईषद् मुस्कान से मधुर संगायन करने लगीं। सब दिशाएँ शान्त एवं विशुद्ध हो रहीं थीं। अत्यन्त आश्चर्यकारक प्रकाश से सारा संसार जगमगा उठा। आकाश में गंभीर

---

१. आचारांग सूत्र, श्रु० २, अ० १५ ; कल्पसूत्र, कल्पद्रुम कलिका वृत्ति के आधार-से।

घोष से दुन्दुभि बजने लगी। नारक जीवों ने अभूतपूर्व सुख की सांस ली। मन्द-मन्द सुखकर हवा चलने लगी। अनेक अलौकिक घटनाएँ घटीं।[1]

बोधि

बुद्ध दिन में नदी के तटवर्ती सुपुष्पित शालवन में विहार करते रहे। सायंकाल वहाँ से चले और बोधि-वृक्ष के समीप आये। मार्ग में उन्हें श्रोत्रिय घसियारा घास लेकर आता हुआ मिला। उसने बुद्ध को आठ मुट्ठी तृण दिये। बुद्ध उन्हें लेकर बोधि-मण्ड पर चढ़े और दक्षिण दिशा में उत्तर की ओर मुँह कर खड़े हुए। उस समय दक्षिण चक्रवाल दबकर मानो अवीचि (नरक) तक चला गया और उत्तर चक्रवाल उठकर मानो भवाग्र तक ऊपर चला गया। बुद्ध को अनुभव हुआ, यहाँ सम्बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं होगी। वे वहाँ से हटे और प्रदक्षिणा करते हुए पश्चिम दिशा में जाकर पूर्वाभिमुख होकर खड़े हो गये। पश्चिम चक्रवाल दब कर अवीचि तक चला गया और पूर्व चक्रवाल भवाग्र तक। वे जहाँ-जहाँ जाकर ठहरे, वहाँ-वहाँ नेमियों को विस्तीर्ण कर नाभि के बल पर लेटाये हुए शकट के पहिये के सदृश महापृथ्वी ऊँची-नीची हो उठी। बुद्ध को वहाँ भी अनुभव हुआ, यहाँ भी बोधि-प्राप्ति नहीं होगी। वे वहाँ से हटे और उत्तर में जाकर दक्षिणाभिमुख होकर खड़े हुए। उस समय भी उत्तर का चक्रवाल दबकर अवीचि तक चला गया और दक्षिण का चक्रवाल भवाग्र तक। उस स्थान को भी बुद्धत्व प्राप्ति के लिए अनुपयुक्त समझकर वे वहाँ से हटे, प्रदक्षिणा की और पूर्व में जाकर पश्चिमाभिमुख होकर खड़े हो गये। उनके मानस में तत्काल यह विचार उभरा; "यह सभी बुद्धों से अपरित्यक्त स्थान है। यही दुःख-पञ्जर के विध्वंसन का स्थान है।" उन्होंने तृणों के अग्र भाग को पकड़ कर हिलाया। वे तृण तत्काल ही चौदह हाथ के आसन में बदल गये। तृण जिस आकार में गिरे, वह बहुत ही सुन्दर था। चित्रकार या शिल्पकार भी वैसा आकार चित्रित नहीं कर सकते। बुद्ध ने बोधिवृक्ष की ओर पीठ कर एकाग्र हो, दृढ़ निश्चय किया—"चाहे मेरी चमड़ी, नसें, अस्थियाँ ही अवशेष क्यों न रह जायें, शरीर, मांस, रक्त आदि भी क्यों न सूख जायें, सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किये बिना मैं इस आसन को नहीं छोड़ूंगा।" पूर्वाभिमुख होकर सौ बिजलियों के गिरने से भी न टूटने वाला अपराजित आसन लगाकर वे बैठ गये।

मार ने बुद्ध को उस आसन से विचलित करने के लिए वायु, वर्षा, पाषाण, आयुध, धधकती राख, बालू, कीचड़ और अंधकार की भयंकर वृष्टि की। किन्तु वह सफल न हो सका। सूर्यास्त से पूर्व ही पराभूत होकर वह वहाँ से भाग निकला। उस समय बुद्ध के चीवर पर बोधि वृक्ष के अंकुर गिर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि लाल मूंगों की वर्षा से उनकी

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ५।

पूजा हो रही है। प्रथम याम[1] में उन्हें पूर्व जन्मों का ज्ञान हुआ, दूसरे याम में दिव्य चक्षु विशुद्ध हुआ और अन्तिम याम में उन्होंने प्रतीत्य समुत्पाद का साक्षात्कार किया। चक्रवालों के बीच आठ सहस्र लोकान्तर, जो पहले सात सूर्य के प्रकाश से भी कभी प्रकाशित नहीं होते थे, उस समय चारों ओर से प्रकाशित हो उठे। चौरासी हजार योजन गहरे महासमुद्र का पानी मीठा हो गया। नदियों का बहाव रुक गया। जन्मान्ध देखने लगे, जन्म से बहरे सुनने लगे और जन्म के पंगु चलने लगे। बन्दीजनों की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ टूट कर गिर पड़ीं। वे बन्धन-मुक्त हो गये। उस समय अनेक विस्मय-कारक घटनायें घटीं।[2]

'कैवल्य' की अपेक्षा 'बोधि' का वर्णन अधिक आलंकारिक है। कैवल्य के सम्बन्ध से देवों के आगमन की विशेष चर्चा है और बोधि के सम्बन्ध से मनुष्य-लोक की। वैसे अलौकिक और विस्मय-कारक घटनाओं के घटित होने का उल्लेख दोनों में समान रूप से है।

अवलोकन

सर्वज्ञता के सम्बन्ध में बौद्धों की मान्यता है, बुद्ध जो जानना चाहते हैं, वह जान सकते हैं; जबकि जैनों की धारणा है, जो ज्ञेय था, वह सब महावीर ने अपने कैवल्य-प्राप्ति के प्रथम क्षण में ही जान लिया। बोधि-प्राप्त बुद्ध अपनी विवक्षा के प्रारम्भ में सोचते हैं—"मैं सर्व प्रथम इस धर्म की देशना किसे करूँ; इस धर्म को शीघ्र ही कौन ग्रहण कर सकेगा?" तत्काल ही उनके मन में आया, "आलार-कालाम मेधावी, चतुर व चिरकाल से अल्प मलिन चित्त है। क्यों न मैं उसे ही सर्व प्रथम धर्म की देशना दूँ? वह इसे बहुत शीघ्र ग्रहण कर लेगा।" प्रच्छन्नरूप से देवताओं ने कहा—"भन्ते! आलार-कालाम तो एक सप्ताह पूर्व ही मर चुका है।" बुद्ध को भी उस समय ज्ञान-दर्शन हुआ और उन्होंने इस घटना को जाना। साथ ही उन्होंने सोचा, "आलार-कालाम महाआजानीय था। यदि वह इस धर्म को सुनता, शीघ्र ही ग्रहण कर लेता।" फिर उन्होंने चिन्तन किया—"उद्दकराम पुत्र चतुर, मेधावी व चिरकाल से अल्प मलिन चित्त है। क्यों न मैं पहले उसे ही धर्मोपदेश करूँ? वह इस धर्म को शीघ्र ही ग्रहण कर लेगा।" देवताओं ने गुप्त रूप से उन्हें सूचित किया—"भन्ते! वह तो रात को ही काल-धर्म को प्राप्त हो चुका है।" बुद्ध को भी उस समय ज्ञान-दर्शन हुआ।

चिन्तन-लीन होकर बुद्ध ने फिर सोचा—"पंचवर्गीय भिक्षु मेरे बहुत काम आये हैं। साधना-काल में उन्होंने मेरी बहुत सेवा की थी। क्यों न मैं सर्वप्रथम उन्हें ही धर्मोपदेश करूँ।"

---

१. चार घण्टे का एक याम। प्रथम याम रात्रि का प्रथम तृतीयांश।

२. जातकट्ठकथा, निदान।

आगे उन्होंने सोचा—"इस समय वे कहाँ हैं?" उन्होंने अमानुष विशुद्ध दिव्य नेत्रों से देखा—"वे तो इस समय वाराणसी के ऋषिपतन मृग-दाव में विहार कर रहे हैं।"[1]

बोधि-लाभ के पश्चात् बुद्ध ऐसे लोगों को धर्मोपदेश देने का सोचते हैं, जो दिवंगत हो चुके हैं। जब उन्हें बताया जाता है, तब वे अपने 'ज्ञान-दर्शन' से भी वैसा जानते हैं। ज्ञान और दर्शन शब्द का प्रयोग दोनों परम्पराओं में युगपत् चलता है। महावीर केवलज्ञान-केवल-दर्शन प्राप्त करते हैं। बुद्ध अपने ज्ञान-दर्शन से आलार-कालाम व उद्दकराम-पुत्र की मृत्यु को जानते हैं। जैन परम्परा में पाँच ज्ञान[2] और चार दर्शन[3] माने गए हैं। पाँच ज्ञान में तीसरा अवधिज्ञान है। अवधिज्ञानी (विभंग-ज्ञानी) अपने विषय पर दत्तचित्त होकर ही ज्ञेय का ज्ञान करता है। बुद्ध का ज्ञान भी जैन परिभाषा में अवधिज्ञान (विभंग-ज्ञान)[4] जैसा ही प्रतीत होता है। इस तथ्य की पुष्टि इससे भी होती है कि बौद्ध शास्त्र सर्व-काल और सर्व-देश में अवस्थित केवलज्ञान के प्रति अनास्था और असंभवता व्यक्त करने के साथ-साथ उपहास भी व्यक्त करते हैं। **सन्दक सुत्त** में कहा गया है—"यहाँ एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञान-दर्शन-सम्पन्न होने का दावा करता है—चलते, खड़े रहते, सोते, जागते, सदा-सर्वदा मुझे ज्ञान-दर्शन प्रत्युपस्थित रहता है। तो भी वह सूने घर में जाता है और वहाँ भिक्षा भी नहीं पाता, कुक्कुर भी काट खाता है, चण्ड हाथी से भी उसका सामना हो जाता है, चण्ड घोड़े और चण्ड बैल से भी सामना हो जाता है। सर्वज्ञ होने पर भी स्त्री-पुरुषों के नाम-गोत्र पूछता है, ग्राम-निगम का नाम और मार्ग पूछता है। आप सर्वज्ञ होकर यह क्या पूछते हैं, जनता द्वारा प्रश्न किये जाने पर, वह कहता है—सूने घर में जाना भवितव्यता थी, इसलिए गये। भिक्षा न मिलना भवितव्यता थी, इसलिए न मिली। कुक्कुर का काटना, हाथी से मिलना, घोड़े और बैल से मिलना भी भवितव्यता थी; अतः वैसा हुआ।"[5]

उक्त आक्षेपों की मीमांसा में जाना यहाँ विषयानुगत नहीं होगा। यहाँ तो केवल इतना ही अभिप्रेत है कि कैवल्य और बोधि एक परिभाषा में नहीं समा पाते। जैनों की सर्वज्ञता बौद्धों के लिए एक प्रश्न चिह्न ही रही है। वैसे सर्वज्ञता का प्रश्न वर्तमान युग में मूलतः ही विवादास्पद बन रहा है। नवीन धारणाओं में महावीर की सर्वज्ञता **"उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा"**[6] की उपलब्धि और बुद्ध की बोधि **"यत् सत् तत् क्षणिकं"** के विवेक-लाभ में समाहित हो जाती है।

*

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक के आधार से।
२. ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव, केवल।
३. दर्शन—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।
४. अवधिज्ञान ही पात्र-भेद के कारण विभंग-ज्ञान कहा जाता है।
५. मज्झिम निकाय, मज्झिम पण्णासक, परिब्बाजक वग्ग, सन्दक सुत्त।
६. भगवती सूत्र, शतक ५, उद्देशक ९, सूत्र २२५।

: १० :

भिक्षु-संघ और उसका विस्तार

भगवान् महावीर के धर्म-संघ में १४००० साधु और ३६००० साध्वियाँ बताई गई है।[1] भगवान् बुद्ध के धर्म-संघ में भिक्षु और भिक्षुनियाँ कितनी थीं, यह निश्चित और एकरूप बता पाना कठिन है। बोधि-लाभ के कुछ समय पश्चात् ही जब वे सर्व प्रथम राजगृह में आये, १०९३ भिक्षु उनके साथ थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन २५० परिव्राजकों के परिवार से बौद्ध संघ में और सम्मिलित हो गये। इस प्रकार बुद्ध के राजगृह प्रथम आगमन के समय कुल संख्या १३४५ हो गई। कपिलवस्तु के प्रथम गमन में २०००० भिक्षु उनके साथ थे। **ललित-विस्तर** के अनुसार श्रावस्ती-गमन के समय १२००० भिक्षु और ३२००० बोधिसत्त्व उनके साथ थे।[2]

संघ-विस्तार का कार्य कैवल्य और बोधि-प्राप्ति के साथ-साथ ही प्रारम्भ हो गया था। सहस्रों-सहस्रों के थोक (समूह) विविध घटना-प्रसंगों के साथ दीक्षित हुए थे। दीक्षित होने वालों में बड़ा भाग वैदिक पण्डितों, परिव्राजकों व क्षत्रिय राजकुमारों का होता था। दोनों ही परम्पराओं के ये दीक्षा-प्रसंग बहुत ही अद्भुत और प्रेरक हैं।

कहीं-कहीं तो इन घटनाओं में विलक्षण समानताएं भी हैं। महावीर इन्द्रभूति आदि ग्यारह पण्डितों व चार हजार चार-सौ उनके ब्राह्मण शिष्यों को दीक्षित करते हैं। बुद्ध उरुवेल आदि तीन जटिल नायकों को उनके एक हजार शिष्यों सहित दीक्षित करते हैं। इन्द्रभूति एक ही घटना-प्रसंग से कोडिन्न, दिन्न, सेवाल—इन तीन तापस-नायकों को उनके पन्द्रह सौ तापस शिष्यों के साथ दीक्षित करते हैं।

महावीर अपनी जन्म-भूमि में आकर पाँच सौ व्यक्तियों के परिवार से अपने जामाता जमालि को व पन्द्रह सौ के परिवार से अपनी पुत्री प्रियदर्शना को दीक्षित करते हैं। बुद्ध कपिलवस्तु-आगमन प्रसंग में दस सहस्र नागरिकों व अपने पुत्र राहुल तथा महा प्रजापति गौतमी के पुत्र नन्द को दीक्षित करते हैं।

---

१. औपपातिक सूत्र, सूत्र १० ; कल्पसूत्र, सू० १३४-३५।

२. भगवान् बुद्ध, पृ० १५४।

क्या सब कुछ अतिशयोक्ति ?

बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी बौद्ध भिक्षुओं की बढ़ी-चढ़ी इन संख्याओं के बारे में संदिग्धता उत्पन्न करते हैं। वे कहते हैं :

"बुद्ध को वाराणसी में साठ भिक्षु मिले।

"………राजगृह तक भगवान् बुद्ध को जो भिक्षु मिले, उनकी संख्या क्या इन पन्द्रह[1] भिक्षुओं से अधिक थी? बुद्ध को वाराणसी में साठ भिक्षु मिले, उरुवेला जाते समय रास्ते में तीस और उरुवेला में एक हजार[2]—इस प्रकार कुल मिलाकर १०६३ भिक्षुओं के संघ के साथ भगवान् ने राजगृह में प्रवेश किया। वहाँ सारिपुत्त एवं मोग्गल्लान के साथ संजय परिव्राजक के ढाई सौ शिष्य आकर बौद्ध-संघ में मिल गए; यानी उस समय भिक्षु-संघ की संख्या १३४५ हो गई थी। परन्तु इतना बड़ा भिक्षु-संघ बुद्ध के पास होने का उल्लेख 'सुत्तपिटक' में कहीं नहीं मिलता। 'सामञ्जफलसुत्त' में कहा गया है कि बुद्ध भगवान् परिनिर्वाण से एक-दो वर्ष पहले जब राजगृह गये तब उनके साथ १२५० भिक्षु थे, परन्तु 'दीघनिकाय' के दूसरे आठ सुत्तों में भिक्षु-संघ की संख्या ५०० दी गई है और ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् की अन्तिम यात्रा में भी उनके साथ ५०० भिक्षु ही थे। भगवान् के परिनिर्वाण के बाद राजगृह में भिक्षुओ की जो पहली परिषद् हुई, उसमें भी ५०० भिक्षु ही थे। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भगवान् के परिनिर्वाण तक भिक्षु-संघ की संख्या ५०० से अधिक नहीं हुई थी।

"बुद्ध भगवान् के परिनिर्वाण के बाद कदाचित् इस संख्या को बढ़ा-चढ़ाकर बताने का कार्य शुरू हुआ। **'ललित-विस्तर'** के शुरू में ही कहा गया है कि श्रावस्ती में भगवान् के साथ बारह हजार भिक्षु एवं बत्तीस हजार बोधिसत्त्व थे। इस प्रकार अपने सम्प्रदाय का महत्त्व बढ़ाने के लिए उस समय के भिक्षुओं ने पूर्वकालीन भिक्षुओं की संख्या बढ़ानी शुरू की और महायान-पंथ के ग्रन्थकारों ने तो उसमें चाहे जितने बोधिसत्त्वों की संख्या बढ़ा दी। बौद्ध धर्म की अवनति का यही प्रमुख कारण था। अपने धर्म एवं संघ का महत्त्व बढ़ाने के लिए बौद्ध भिक्षुओं ने बे-सिर-पैर की दंत कथाएँ गढ़ना शुरू कर दिया और ब्राह्मणों ने उनसे भी अधिक अद्भुत कथा गढ़कर भिक्षुओं को पूरी तरह हरा दिया।"[3]

श्री कौशाम्बी ने अपनी समीक्षा में उक्त प्रकार की भिक्षु-संख्याओं को नितांत अतिशयोक्ति पूर्ण बताया है; पर लगता है, समीक्षा करते हुए वे स्वयं को भी अतिशयोक्ति से बचा नहीं सके। जैन और बौद्ध अवान्तर ग्रन्थों में अतिशयोक्तियाँ की गई हैं, पर दीक्षा-सम्बन्धी

---

१. पंचवर्गीय भिक्षु, यश व उसके चार मित्र, तीन काश्यप बन्धु और संजय के शिष्य सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन।

२. यहाँ 'एक हजार तीन' होना चाहिए; देखें, भगवान् बुद्ध, पृ० १५१।

३. भगवान् बुद्ध, पृ० १५३-५४।

आँकड़ों को नितान्त काल्पनिक ही मान लेना यथार्थ नहीं लगता। मनुष्य सदा ही वातावरण में जीता है और प्रवाह में चलता है। महावीर और बुद्ध का युग आध्यात्मिक उत्कर्ष का एक सर्वोच्च काल था। उस युग में आध्यात्मिकता की अन्तिम पहुँच थी—गृह-मुक्ति। श्रद्धा का युग था। राजा, राजकुमार और बड़े-बड़े धनिक उस रास्ते पर अगुआ होकर चल रहे थे। ऐसी स्थिति में विशेष आश्चर्य की बात नहीं रह जाती कि बहु-संख्यक लोग घर छोड़ एक साथ प्रव्रजित हो जाते हों। अस्तु, कुछ भी रहा हो, प्रस्तुत प्रकरण तो दोनों परम्पराओं के इतिहास, भाव-भाषा आदि को समझने का ही है।

प्रस्तुत प्रकरण में दोनों ही परम्पराओं के जो दीक्षा-प्रसंग दिये गये हैं, वे न तो क्रमिक हैं और न समग्र ही हैं। चुने हुए मुख्य-मुख्य प्रसंग यहाँ संगृहीत किये गये हैं।

निर्ग्रन्थ दीक्षाएँ

ग्यारह गणधर

सोमिल ब्राह्मण मध्यम पावापुरी में एक विशाल यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा था। सारे शहर में अद्भुत चहल-पहल थी। यज्ञ में भाग लेने के लिए दूर-दूर से सुप्रसिद्ध विद्वान् अपने बृहत् शिष्य-परिवार से आए थे। इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित (मण्डिक), मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास, उनमें प्रमुख थे। इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति गौतम गोत्री और मगध-देश के गोवर गाँव के निवासी थे। तीनों ही चौदह विद्याओं में पारंगत थे और प्रत्येक के पाँच-पाँच सौ शिष्य थे। व्यक्त और सुधर्मा कोल्लाग सन्निवेश के निवासी थे। व्यक्त भारद्वाज गोत्री और सुधर्मा अग्नि वैश्यायन गोत्री थे। दोनों के ही पाँच-पाँच सौ शिष्य थे। मण्डित और मौर्यपुत्र मौर्यसन्निवेश के थे। मण्डित वासिष्ठ और मौर्यपुत्र काश्यप गोत्री थे। दोनों के साढ़े तीन-तीन सौ शिष्य थे। अकम्पित मिथिला के थे और गौतम गोत्री थे। अचलभ्राता कौशल के थे और उनका गोत्र हारित था। मेतार्य कौशाम्बी के निकटस्थ तुंगिक के निवासी थे और प्रभास राजगृह के। दोनों कौण्डिन्य गोत्री थे। चारों के तीन-तीन सौ शिष्य थे। यज्ञ के विशाल आयोजन में इन ग्यारह ही विद्वानों की उपस्थिति ने चार चाँद लगा दिये।

ग्यारह ही विद्वान् अपने दर्शन के अधिकृत व्याख्याता, सूक्ष्मतम रहस्यों के अनुसन्धाता व अपर दर्शनों के भी ज्ञाता थे; किन्तु सभी विद्वान् किसी-न-किसी विषय में संदिग्ध भी थे। वे इतने दक्ष थे कि अपनी आशंकाओं को अपने शिष्य-परिवार में व्यक्त न होने देते थे। उनकी आशंकाओं का ब्यौरा इस प्रकार है :

१. इन्द्रभूति— आत्मा का अस्तित्व है या नहीं ?

२. अग्निभूति— कर्म है या नहीं ?

३. वायुभूति— जो जीव है, वही शरीर है ?
४. व्यक्त— पंचभूत है या नहीं ?
५. सुधर्मा— इस भव में जो जैसा है, पर भव में भी वह वैसा ही होता है ?
६. मण्डित— कर्मों का बन्ध व मोक्ष कैसे है ?
७. मौर्यपुत्र— स्वर्ग है या नहीं ?
८. अकम्पित— नरक है या नहीं ?
९. अचल भ्राता— पुण्य-पाप है या नहीं ?
१०. मेतार्य— परलोक है या नहीं ?
११. प्रभास— निर्वाण है या नहीं ?

भगवान् महावीर कैवल्य-प्राप्ति के दूसरे दिन वहाँ पधारे और महासेन उद्यान में ठहरे। समवसरण की रचना हुई। नागरिक अहमहमिकया से उद्यान की ओर बढ़े जा रहे थे। देवों में भी उस ओर आने के लिए प्रतिस्पर्धा-सी लग रही थी। आकाश में देव-विमानों को देखकर ग्यारह ही विद्वान् फूले नहीं समा रहे थे। वे मन-ही-मन अपनी विद्वता और यज्ञानुष्ठान-विधि की सफलता पर अतिशय प्रफुल्लित हो रहे थे। किन्तु कुछ ही क्षणों में उनका वह प्रमाद विषाद में बदल गया। देव-विमान यज्ञ-मण्डप पर न रुक कर उद्यान की ओर बढ़ गये। विद्वानों के मन में खिन्नता के साथ जिज्ञासा हुई, ये विमान किधर गए ? यहाँ और कौन महामानव आया है ? चारों ओर आदमी दौड़े। शीघ्र ही ज्ञात हुआ, यहाँ सर्वज्ञ महावीर आए हुए हैं। देव-गण उन्हें वन्दना करने के लिए आये हैं। इन्द्रभूति के मन में विचार हुआ : "मेरे जैसे सर्वज्ञ की उपस्थिति में यह दूसरा सर्वज्ञ यहाँ कौन उपस्थित हुआ है ? भोले मनुष्यों को तो ठगा भी जा सकता है, किन्तु इसने तो देवों को भी ठग लिया है। यही कारण है कि मेरे जैसे सर्वज्ञ को छोड़कर वे इस नये सर्वज्ञ के पास जा रहे हैं।"

विचारमग्न इन्द्रभूति देवताओं के बारे में भी संदिग्ध हो गए। उन्होंने सोचा : सम्भव है, जैसा यह सर्वज्ञ है, वैसे ही ये देव हों। किन्तु कुछ भी हो, एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकतीं। मेरे रहते हुए कोई दूसरा व्यक्ति सर्वज्ञता का दम्भ भरे, यह मुझे स्वीकार नहीं है।

महावीर को वन्दन कर लौटते हुए मनुष्यों को इन्द्रभूति ने देखा और उनसे महावीर के बारे में नाना प्रश्न पूछे—"क्या तुमने उस सर्वज्ञ को देखा है ? कैसा है वह सर्वज्ञ ? उसका स्वरूप कैसा है ?"

इन्द्रभूति के प्रश्न से प्रेरित होकर जनता ने महावीर के गुणों की भूरि-भूरि व्याख्या की। इन्द्रभूति के अध्यवसाय हुए—"वह अवश्य ही कोई कपट मूर्ति—ऐन्द्रजालिक है।

उसने जनता को अपने जाल में अच्छी तरह फँसाया है ; अन्यथा इतने लोग भ्रम में नहीं फँसते । मेरे रहते हुए कोई व्यक्ति इस तरह गुरुड़म जमाये, यह नहीं हो सकता । मेरे समक्ष बड़े-बड़े वादियों की तूती बन्द हो गई तो यह कौनसी हस्ती है ? मेरी विद्वता की इतनी धाक है कि बहुत सारे विद्वान् तो अपनी मातृभूमि छोड़ कर भाग खड़े हुए । सर्वज्ञत्व का अहं भरने वाला मेरे समक्ष यह कौन-सा किंकर है ?"

भूमि पर उन्होंने अपने पैर से एक प्रहार किया और रोषारुण वहाँ से उठे । मस्तक. पर द्वादश तिलक किये । स्वर्ण यज्ञोपवीत धारण किया । पीत वस्त्र पहने । दर्भासन और कमण्डलु लिया । पाँच सौ शिष्यों से परिवृत्त इन्द्रभूति वहाँ से चले और जहाँ महावीर थे, वहाँ आए ।

महावीर ने इन्द्रभूति को देखते ही कहा—"गौतम गौत्री इन्द्रभूति ! तुझे जीवात्मा के सम्बन्ध में संदेह है ; क्योंकि घट की तरह आत्मा प्रत्यक्षतः गृहीत नहीं होती है । तेरी धारणा है कि जो अत्यन्त अप्रत्यक्ष है, वह इस लोक में आकाश-पुष्प के सदृश ही है ।"

इन्द्रभूति इस अगम्य सर्वज्ञता से प्रभावित हुए । सुदीर्घ आत्मा-चर्चा से उनका मनोगत सन्देह दूर हुआ । अपनी शिष्य-मण्डली सहित उन्होंने निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या स्वीकार की ।

इसी क्रम से एक-एक कर दशों ब्राह्मण विद्वान् आए । मनोगत शंकाओं का समाधान पाया और अपनी-अपनी मण्डली के साथ निग्रन्थ धर्म में दीक्षित हुए । महावीर के श्रमण संघ में वे गणधर कहलाए । इस प्रकार महावीर का धर्म संघ चम्मालीस सौ ग्यारह ब्राह्मण-दीक्षाओं से प्रारम्भ हुआ ।

इन्द्रभूति गौतम के नाम से प्रसिद्धि पाए । सुधर्मा महावीर-निर्वाण के पश्चात् प्रथम पट्टधर बने । दिगम्बर मान्यता के अनुसार गौतम ही महावीर के प्रथम पट्टधर थे ।[1]

चन्दनबाला

बौद्ध संघ में कुछ समय तक स्त्री-दीक्षा वर्जित रही । निर्ग्रन्थ संघ में महावीर के प्रथम समवसरण में ही स्त्री-दीक्षायें हुई । चन्दनबाला प्रथम शिष्या थी और वह छत्तीस हजार के बृहत् श्रमणी-संघ में भी सदैव प्रवर्तिनी (अग्रणी) रही । महावीर का छः मास का तप अभिग्रह मूलक था । उनका अभिग्रह था : "द्रव्य से—उड़द के बाकुले हों ; शूर्प के कोने में हों ; क्षेत्र से—दाता का एक पैर देहली के अन्दर व एक बाहर हो ; काल से—भिक्षाचरी की अतिक्रान्त वेला हो ; भाव से—राजकन्या हो, दासत्व प्राप्त हो, शृंखला-बद्ध हो ; सिर से

१. गणधर वाद ; आवश्यक निर्युक्ति, गा० १७-६५ के आधार पर ।

मुण्डित हो, रुदन करती हो, तीन दिन की उपोसित हो ; ऐसे संयोग में मुझे भिक्षा लेना है ; अन्यथा छः मास तक मुझे भिक्षा नहीं लेना है।"[1]

छः मास में जब पाँच दिन अवशिष्ट थे, तब चन्दनबाला के हाथों यह अभिग्रह पूरा हुआ। चन्दनबाला की जीवन-गाथा आदि मध्य व अन्त में बहुत ही घटनात्मक है। वह चम्पा के राजा दधिवाहन व धारिणी की इकलौती कन्या थी। उसके दो नाम थे—चन्दनबाला और वसुमति। लाड़-प्यार में ही उसका शैशव बीता। कौशाम्बी के राजा शतानीक ने एक बार जल-मार्ग से सेना लेकर बिना सूचित किये एक ही रात में चम्पा को घेर लिया। पूर्व सज्जा के अभाव में दधिवाहन की हार हुई। शतानीक के सैनिकों ने निर्भय होकर दो प्रहर तक चम्पा के नागरिकों को यथेच्छ लूटा। एक रथिक राजमहलों में पहुँचा। वह रानी धारिणी और राजकुमारी चन्दनबाला को अपने रथ में बैठा कर भाग निकला।

शतानीक विजयी होकर कौशाम्बी लौट आया। रथिक धारिणी और चन्दनबाला को लेकर निर्जन अरण्य में पहुँच गया। वहाँ उसने रानी के साथ बलात्कार का प्रयत्न किया। रानी ने उसे बहुत समझाया, किन्तु उसकी सविकार मनोभावना का परिष्कार न हो सका। जब वह मर्यादा का अतिक्रमण कर रानी की ओर बढ़ ही आया तो उसने अपने सतीत्व की रक्षा के निमित्त जीभ खींच कर प्राणों की आहुति दे दी और रथिक की दुश्चेष्टा को सर्वथा विफल कर दिया। रानी की इस मार्मिक मृत्यु ने रथिक के नेत्र खोल दिये और चन्दनबाला को भी एक जीवन्त शिक्षा मिल गई।

रथिक कौशाम्बी लौट आया। चन्दनबाला को उसने एक दासी की भाँति बाजार में बेच दिया। पहले उसे एक वेश्या ने खरीदा और वेश्या से धनावह सेठ ने। चन्दनबाला सेठ के घर एक दासी की भाँति रहने लगी। उसके व्यवहार में राज-कन्या का कोई प्रतिबिम्ब नहीं था। उसका व्यवहार सब के साथ चन्दन की तरह अतिशय शीतल था; अतः तब से उसका चन्दना नाम अति विश्रुत हो गया।

चन्दनबाला प्रत्येक कार्य को अपनी चातुरी से विशेष आकर्षक बना देती। वह अतिशय श्रमशीला थी ; अतः सबको ही भा गई। उसकी लोक प्रियता पर सभी दास-दासी मुग्ध थे। कार्य की प्रचुरता व्यक्तित्व की शालीनता को आवृत्त नहीं कर सकती।

---

१. सामी य इमं एतारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हति, चउव्विहं दव्वतो ४, दव्वतो कुंमासे सुप्पकोणेणं, दिवसओ एलुयं विक्खंभइत्ता, कालओ नियत्तेसु भिक्खायरेसु, भावतो जदि रायधूया दासत्तणं पत्ताणियलबद्धा मुंडियसिरा रोयमाणी अट्ठमत्तिया, एवं कप्पति, सेसं ण कप्पति, कालो य पोसबहुल पाडिवओ। एवं अभिग्गहं घेत्तुणं कोसंबीए अच्छति।

—आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पत्र ३१६-३१७ ; आवश्यक निर्युक्ति, मलयगिरिवृत्ति, पत्र सं २९४-२९५ ; श्री कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी, पृ० १५४।

चन्दनबाला युवती हुई। उसके प्रत्येक अवयव में सौन्दर्य निखर उठा। सेठानी मूला को उसके लावण्य से डाह होने लगी। सेठ कहीं इसे अपनी सहधर्मिणी न बना ले; यह उसके मन में भय था। चन्दनबाला के प्रत्येक कार्य को वह प्रतिक्षण घूर-घूर कर देखती रहती थी। चन्दनबाला ने इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया। वह सेठ और सेठानी को माता-पिता ही मानती और उनके साथ एक दासी की भाँति रहती। उसने कभी यह व्यक्त भी नहीं होने दिया कि वह एक राजकुमारी है।

सेठ एक दिन किसी गाँव से यात्रा कर लौटा। दोपहर का समय हो चुका था। पद-यात्रा के श्रम से व भूख-प्यास से वह अत्यन्त क्लान्त हो गया था। घर पहुँचते ही वह पैर धोने के लिए बैठा। चन्दनबाला पानी लेकर आई। सेठ पैर धोने लगा और वह धुलाने लगी। चन्दनबाला के केश सहसा भूमि पर बिखर पड़े। कीचड़ में वे सन न जाये, इस उद्देश्य से सेठ ने उन्हें उठाया और उसकी पीठ पर रख दिया। झरोखे में बैठी मूला की वक्र दृष्टि उस समय चन्दनबाला और सेठ पर पड़ी। उसे अपनी आशंका सत्य प्रमाणित होती हुई दिखाई दी। उसके शरीर में आग-सी लग गई। उस क्षण से ही उसने चन्दनबाल के विरुद्ध षड्यन्त्र की योजना आरम्भ कर दी।

सेठ आये दिन अपने व्यवसाय के काम से देहातों में जाता रहता था। एक दिन जब वह देहात गया, पीछे से मूला ने चन्दनबाला को पकड़ा और सिर मुंडन कर, पैरों को बेड़ी से जकड़ कर उसे भौंहरे में डाल दिया। घर बन्द कर स्वयं पीहर चली गई। सेठ को तीन दिन लग गये। जब वह लौटा तो उसे घर बन्द मिला। उसे आश्चर्य हुआ और खिन्नता भी हुई।

बाहर का द्वार खोलकर सेठ घर में गया। सभी कमरों के दरवाजों पर ताले लगे हुए थे। एक-एक कर सेठ ने सभी कमरों को संभाला। घूमता हुआ वह नीचे भौंहरे के पास भी जा पहुँचा। वहाँ उसे किसी के सिसकने की आवाज सुनाई दी। उसने करुण स्वर में पूछा—"कौन चन्दना?" घर्घराए स्वर से उत्तर मिला—"हाँ, पिताजी! मैं ही हूँ।" सेठ के दुःख का पार न रहा। उसने चन्दनबाला को जैसे-तैसे बाहर निकाला। रुंधते हुए गले से पूछा—"बेटी! तेरे साथ यह बर्ताव किसने किया?" चन्दनबाला फिर भी शान्त थी। उसने अपने धैर्य को नहीं खोया। बोली—"पिताजी! मेरे ही अशुभ कर्मों का यह परिपाक है।"

चन्दनबाला तीन दिन से भूखी थी। उसने बिलखते हुए कहा—"पिताजी! कुछ खाने को दें।" सेठ तत्काल घर में आया। रसोई के ताला लगा हुआ था। इधर-उधर खोजने पर उसे शूर्प में पड़े उड़द के सूखे बाकुले मिले। सेठ उन्हें लेकर चन्दनबाला के पास आया।

आश्वासन के साथ उसने वे बाकुले शूर्प-सहित चन्दनबाला के हाथ में रखे। सेठ ने कहा—"बेटी! एक बार तू इन्हें खा। मैं तेरी शृङ्खलायें तोड़ने का प्रबन्ध करता हूँ।"

सेठ वहाँ से चला। चन्दनबाला सिसकती हुई द्वार तक पहुँच गई। पैरों से जकड़ी हुई, सिर से मुण्डित, तीन दिन की भूखी चन्दनबाला शूर्प में उड़द के सूखे बाकुले लिए अकेली दुःखमग्न बैठी थी। सहसा विचार आया, यदि इस समय किसी निर्ग्रन्थ का योग मिले तो मैं यह रुखा-सूखा दान देकर कृतकृत्य हो जाऊँ। उसके भाग्य ने उसे सहारा दिया। अभिग्रहधारी भगवान् महावीर अकस्मात् वहाँ पधारे। उनके अभिग्रह को पाँच महीने पच्चीस दिन पूरे हो रहे थे। अपने द्वार पर भावी तीर्थङ्कर महावीर को देखकर चन्दनबाला पुलक उठी। उसका सारा दुःख सुख में बदल गया। हर्षातिरेक से उसने प्रार्थना की—"प्रभो! इस प्रासुक अन्न को ग्रहण कर मेरी भावना पूर्ण करें।" महावीर अवधिज्ञानी थे। उन्होंने अपने अभिग्रह की पूर्णता की ओर ध्यान दिया। उसकी पूर्ति में केवल एक बात अवशिष्ट थी। चन्दनबाला की आँखों में आँसू नहीं थे। महावीर वापिस मुड़ गये। चन्दनबाला को अप्रत्याशित दुःख हुआ। वह रो पड़ी। महावीर ने मुड़कर एक बार चन्दनबाला की ओर देखा। उनका अभिग्रह अब पूर्ण हो चुका था। बढ़ते हुए कदम रुके और दूसरे ही क्षण चन्दनबाला की ओर बढ़ चले। झरती आँखों से और हर्षातिरेक से चन्दनबाला ने महावीर को उड़द के सूखे बाकुले बहराये। महावीर ने वहाँ पारणा किया। आकाश में अहोदानं, अहोदानं की देव-दुन्दुभि बज उठी। पाँच दिव्य प्रकट हुए। साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की वृष्टि हुई। चन्दनबाला का सौन्दर्य भी अतिशय निखर उठा। उसकी लोह-शृङ्खला स्वर्ण-आभूषणों में परिवर्तित हो गई। सर्वत्र उसके सतीत्व की यशोगाथा गाई जाने लगी।

शतानीक राजा की पत्नी मृगावती चन्दनबाला की मौसी थी। राजा और रानी ने जब यह उदन्त सुना, चन्दनबाला को राजमहलों में बुला लिया। विवाह करने के लिए आग्रह किया, पर वह इसके लिए प्रस्तुत नहीं हुई।

केवलज्ञान प्राप्त कर जब महावीर मध्यम पावा पधारे, तब चन्दनबाला उनके समवशरण में दीक्षित हुई। इसी अवसर पर अनेकानेक पुरुष श्रावक बनें तथा महिलाएँ श्राविकाएँ। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना हुई, जिससे कि महावीर तीर्थङ्कर कहलाए।[1]

मेघकुमार

मेघकुमार राजा श्रेणिक का पुत्र था। आठ कन्याओं के साथ उसका पाणि-ग्रहण

---

१. आवश्यक चूर्णि, भाग-१।

किया गया। तीर्थङ्कर महावीर राजगृह आये। राजा श्रेणिक सपरिवार दर्शनार्थ आया। महावीर की प्रेरक देशना सुनकर परिषद् नगर को लौट आई। श्रेणिक भी राज-महलों में लौट आया। मेघकुमार के मन में महावीर के उपदेश ने एक अभिनव चेतना जागृत कर दी। वह संसार से पराङ्मुख होकर साधु-चर्या को स्वीकार करना चाहता था। पिता श्रेणिक और माता धारणी के पास आकर उसने करबद्ध कहा—"आप ने चिरकाल तक मेरा लालन-पालन किया है। मैं आपको केवल श्रम देने वाला ही रहा हूँ। किन्तु मैं आप से एक प्रार्थना करना चाहता हूँ; इस दुःखद जगत् से मैं ऊब गया हूँ। भगवान् महावीर यहाँ पधारे हैं। यदि आप अनुमति दें तो मैं उनके चरणों में साधु धर्म स्वीकार कर लूँ।"

श्रेणिक और धारिणी ने साधु-जीवन की दुष्करता के बारे में मेघकुमार को नाना प्रकार से समझाया, किन्तु वह अपने विचारों पर दृढ़ रहा। उसने नाना युक्तियों से उत्तर देकर माता-पिता को आश्वस्त कर दिया कि वह भावुकता व आवेश से साधु नहीं बन रहा है।

राजा श्रेणिक ने अन्ततः एक प्रस्ताव रखते हुए कहा—"वत्स! तू संसार से उद्विग्न है; अतः राज्य, ऐश्वर्य, परिवार आदि तुझे लुभा नहीं सकते। किन्तु मेरी एक अभिलाषा है। तुझे वह पूर्ण करनी चाहिए। मैं चाहता हूँ, कम-से-कम एक दिन के लिए मगध का यह राज्य-भार तू संभाल। यदि तू ऐसा कर सकेगा तो मुझे शान्ति प्राप्त होगी।"

मेघकुमार ने श्रेणिक के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। समारोहपूर्वक उसका राज्याभिषेक किया गया। सारे मगध में खुशियाँ मनाई गईं। राजा श्रेणिक पूर्णतः तृप्त हो गया। उसने मेघकुमार को वत्सलता की दृष्टि से निहारा और पूछा—"वत्स! मैं अब तेरे लिए क्या कर सकता हूँ?" मेघकुमार ने सविनय कहा—"पितृवर! यदि आप मेरे पर प्रसन्न हैं तो कुत्रिकापण से मुझे रजोहरण, पात्र आदि मंगवा दें। मैं अब साधु बनना चाहता हूँ।" श्रेणिक ने तदनुसार सब व्यवस्था की। एक लाख स्वर्ण-मुद्रा से रजोहरण मंगाया और एक लाख स्वर्ण-मुद्रा से पात्र। राज्याभिषेक महोत्सव की तरह ही मेघकुमार का अभिनिष्क्रमण महोत्सव भी उल्लेखनीय रूप से मनाया गया। महावीर के द्वारा भागवती दीक्षा ग्रहण कर मेघकुमार साधु-चर्या में लीन हो गया।[1]

नन्दीसेन

नन्दीसेन राजा श्रेणिक का पुत्र था। एक बार महावीर राजगृह आये। राजा और राज-परिवार के अन्य सदस्यों के साथ नन्दीसेन भी महावीर के दर्शन करने तथा प्रवचन सुनने के लिए गया। हजारों मनुष्यों की परिषद् में महावीर का प्रवचन हुआ और प्रश्नोत्तर

१. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अ० १ के आधार से।

हुए। प्रवचन से प्रभावित हो, वहाँ सैकड़ों व्यक्ति सम्यक्त्वी व देशव्रती हुए, वहाँ नन्दीसेन सर्वव्रती (साधु) होने को तत्पर हुआ।

राज-महलों की मनोहरत्य भोग-सामग्री को छोड़ कर अकिञ्चन निर्ग्रन्थ बनने के राजकुमार के संकल्प का सर्वत्र स्वागत हुआ। किन्तु सहसा एक आकाशवाणी हुई—"राजकुमार! अपने निर्णयपर पुनः चिन्तन करो। तुम्हारे भोग्य कर्म अभी अवशिष्ट हैं। वे निकाचित हैं। तुम्हें भोगने ही पड़ेंगे। तुम्हारा संकल्प उत्तम है, पर उन भोग्य कर्मों की तुम उपेक्षा नहीं कर सकोगे।"

राजकुमार मन-ही-मन हँसा। वह वैराग्य से पूर्णतः भावित हो रहा था। साहस के साथ बोला—"ज्योति के समक्ष क्या कभी निबिड़ तम का अस्तित्व टिक पाया है? हवा के झोंकों के सम्मुख घुमड़ते और कजरारे बादल अपना अस्तित्व कितने समय स्थिर रख पाए हैं? मैं दीक्षित होते ही जब घोर तपश्चर्या करूँगा, कौन से कर्म कितने दिन रह पाएँगें? भविष्य का आधार वर्त्तमान के अतिरिक्त कहाँ हो सकता है? मैं अपने प्रत्येक क्षण को सावधानीपूर्वक तपश्चर्या के साथ स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग में नियोजित करूँगा। किसी भी अनिष्ट की आशंका को वहाँ स्थान ही नहीं रहने दूँगा।"

अनुकूल व प्रतिकूल सहयोग की उपेक्षा करता हुआ दृढ़प्रतिज्ञ नन्दीसेन भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँचा और उत्कट वैराग्य के साथ दीक्षित हो गया। अनिष्ट की सम्भावना व्यक्ति को प्रतिक्षण जागरूक रखती है। नन्दीसेन देव-वाणी को अन्यथा प्रमाणित करने के लिए तपश्चरण में लीन हो गया। उसने अपने हृष्ट-पुष्ठ व तेजस्वी शरीर को अत्यन्त कृश व कांति-विहीन कर दिया। केवल अस्थियों का ढाँचा ही दिखाई देता था। वह सर्वथा एकान्त में रहता और आत्म-स्वरूप का ही चिन्तन करता। पक्ष-पक्ष, मास-मास की तपस्या के अनन्तर एक बार बस्ती में गोचरी के लिए जाता और पुनः शीघ्र ही आकर अपने अध्यात्म-चिन्तन में लीन हो जाता था। इससे उसे तपोजन्य बहुत सारी लब्धियाँ प्राप्त हो गईं।

सत्कार्य करते हुए भी व्यक्ति कभी-कभी अपने मार्ग से च्युत हो जाता है और अनालोचित चक्र में फँस जाता है। नन्दीसेन एक दिन गोचरी के लिए बस्ती में आया। संयोगवश वह एक गणिका के घर पहुँच गया। घर में उसे एक महिला मिली। उसने अपनी सहजवाणी में पूछा—"क्या मेरे योग्य यहाँ आहार मिल सकता है?" गणिका ने भौंड़ी शकल और दीन अवस्था में नन्दीसेन को देखकर तपाक-से उत्तर दे दिया—"जिसके पास सम्पत्ति का बल है, उसके लिए यहाँ सब कुछ मिल सकता है, किन्तु जो दरिद्र है, वह मेरे जीने में भी पैर नहीं रख सकता।"

वेश्या के कथन से नन्दीसेन का अहं जागृत हो गया। उसके मन में आया, इसने मुझे

अबतक नहीं पहचाना। मेरे तपः-प्रभाव से यह अनभिज्ञ है। अवसर आ गया है, अतः कुछ परिचय मुझे देना चाहिए। नन्दीसेन ने भूमि पर पड़ा एक तिनका उठाया। उसे तोड़ा। तत्काल स्वर्ण-मुद्रायें बरष पड़ीं। वेश्या ने नन्दीसेन की ओर देखा और नन्दीसेन ने वेश्या की ओर। वह एक बार समझ नहीं पाई कि यह स्वप्न है या वास्तविकता, किन्तु उसने बड़ी पटुता से स्थिति को सम्भाला। तत्क्षण आगे आई और नन्दीसेन को अपने प्रति अनुरक्त करने के लिए विविध प्रयत्न करने लगी। यह अनुराग और विराग का स्पष्ट संघर्ष था। एक ओर वर्षों की कठोर साधना थी और दूसरी ओर दो क्षण का मधुर व्यवहार। नन्दीसेन अपनी साधना को भूल गया। उसने वेश्या द्वारा रखा गया सहवास का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

साधना से विचलित होता हुआ नन्दीसेन कुछ समय आकर्षण और विकर्षण के झूले में झूलता रहा। उसने उस समय एक प्रतिज्ञा की—"प्रति दिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर प्रव्रज्या के लिए भगवान् महावीर के समवशरण में भेजूँगा। जब तक यह कार्य न हो जाएगा, तब तक भोजन नहीं करूँगा।"

नन्दीसेन अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहा। वह प्रतिदिन दस दस व्यक्तियों को निर्ग्रन्थ धर्म के प्रति श्रद्धाशील बनाता और भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँचाता। प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर ही वह भोजन करता।

एक दिन नौ व्यक्तियों को तो वह प्रतिबोध दे चुका था। दसवाँ व्यक्ति स्वर्णकार था। वह प्रतिबुद्ध नहीं हो रहा था। बहुत देर लग गई। प्रतिक्षा करती वेश्या व्यग्र हो उठी। उसने आकर भोजन के लिए कहा। नन्दीसेन ने कहा—दशवें व्यक्ति को बिना समझाये मैं भोजन कैसे करूँ। वेश्या झुंझलाकर बोल पड़ी—"ऐसी बात है तो स्वयं ही दशवें क्यों नहीं बन जाते?" नन्दीसेन को बात लग गई। वेश्या देखती ही रही। वह वहाँ से महावीर के समवशरण में आ पुनः दीक्षित हुआ।[1]

ऋषभदत्त-देवानन्दा

राजगृह में तेरहवाँ वर्षा वास समाप्त कर भगवान् महावीर ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। मार्गवर्ती ब्राह्मणकुण्ड ग्राम पधारे। उसके निकटवर्ती बहुशाल चैत्य में ठहरे। इसी ग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम देवानन्दा था। महावीर के आगमन का सम्वाद ग्राम में विद्युत की तरह फैल गया। ऋषभदत्त अपनी पत्नी के साथ महावीर को वन्दन करने के लिए चला। जब वह उनके निकट पहुँचा, पाँच अभिगमों से मुक्त हुआ। उसने सचित का त्याग किया, वस्त्रों को व्यवस्थित किया, उत्तरासंग

---

१. त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६ के आधार से।

किया और बद्धाञ्जलि होकर मानसिक वृत्तियों को एकाग्र किया। तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना की और देशना सुनने के लिए बैठ गया। देवानन्दा ने भी ऋषभदत्त की भाँति पाँच अभिगमनपूर्वक वन्दना की और देशना सुनने के लिए बैठ गई। महावीर की ओर ज्यों-ज्यों वह देखती थी, अत्यन्त रोमांचित होती जा रही थी। उसका वक्ष उभरा जा रहा था। आँखों से हर्ष के आंसू उमड़े जा रहे थे। उसे स्वयं को भी पता न चल रहा था कि यह सब क्या हो रहा है? अकस्मात् उसकी कंचुकी टूटी और उसके स्तनों से दूध की धारा बह निकली।

गणधर गौतम ने इस अभूतपूर्व दृश्य को देखा। उनके मन में सहज जिज्ञासा हुई। वन्दना कर भगवान् महावीर से उन्होंने पूछा—"भन्ते! देवानन्दा आज इतनी रोमांचित क्यों हुई? उसके स्तन से दुग्ध-धारा बहने का विशेष निमित्त क्या बना?"

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम! देवानन्दा मेरी माता है। मैं इसका पुत्र हूँ। पुत्र-स्नेह के कारण ही यह रोमाञ्चित हुई है।"

अश्रुतपूर्व इस उदन्त से सभी विस्मित हुए। गणधर गौतम ने अगला प्रश्न किया—"भन्ते! आप तो रानी त्रिशला के अङ्गजात हैं?"

भगवान् महावीर ने गर्भ-परिवर्तन की अपनी सारी घटना सुनाई। तब तक वह घटना सब के लिए अज्ञात ही थी। ऋषभदत्त और देवानन्दा के हर्ष का पारावार नहीं रहा।

भगवान् महावीर ने ऋषभदत्त, देवानन्दा और विशाल परिषद् को धर्मोपदेश दिया। सभी श्रोता सुनकर अत्यन्त हर्षित हुए। ऋषभदत्त खड़ा हुआ। उसने भगवान् से प्रार्थना की—"भन्ते! आपके धर्म में मेरी श्रद्धा है। मुझे यह रुचिकर है। यह धर्म भव-भ्रमण का अन्त करने वाला है; अतः मैं इसे स्वीकार करना चाहता हूँ। मैं प्रव्रजित होकर कृत्स्न कर्मों का क्षय करना चाहता हूँ।" वह तत्काल वहाँ से उठा। ईशान दिशा में गया। आभरण, अलंकार आदि का व्युत्सर्जन किया। पञ्चमुष्टि लुंचन किया। प्रभु के चरणों में उपस्थित हुआ। तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना की और दीक्षित होकर भगवान् के संघ में प्रविष्ट हो गया।[1] देवानन्दा भी ऋषभदत्त के साथ ही प्रव्रजित हुई और प्रवर्तिनी चन्दनबाला के नेतृत्व में रहने लगी।[2]

---

१. दीक्षा के बाद—ऋषभदत्त ने ग्यारह अंगों का सम्यक् अध्ययन किया। छट्ठ, अट्ठम, दशम आदि अनेक विध तप का अनुष्ठान किया और बहुत वर्षों तक आत्मा को भावित करता हुआ साधु-पर्याय में रमण करता रहा। अन्तिम समय में एक मास की संलेखना और अनशन से मोक्ष-पद प्राप्त किया।

२. दीक्षा के बाद—देवानन्दा ने भी ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। नाना तपस्याओं से अपनी आत्मा को भावित करती हुई वह सब कर्मों का क्षय कर मुक्त हुई।

—भगवती सूत्र, श० ९, उ० ३३ के आधार से।

जमालि-प्रियदर्शना

क्षत्रियकुण्ड ग्राम में जमालि नामक क्षत्रियकुमार रहता था। वह अत्यन्त ऐश्वर्यशाली था। वह महावीर की बहिन सुदर्शना का पुत्र था; अतः उनका भाणेज था और महावीर की पुत्री प्रियदर्शना का पति था; अतः उनका जामाता था।[1]

भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहार करते क्षत्रिय कुण्डपुर नगर में आये। समवशरण लगा। नगर के नर-नारी एक ही दिशा में चल पड़े। जमालि क्षत्रियकुमार भी वन्दनार्थ समवशरण में आया। महावीर ने महती परिषद् में देशना दी। जमालिकुमार प्रतिबुद्ध हुआ। उसने महावीर के सम्मुख ही निवेदन किया "भगवान! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन रुचिकर प्रतीत हुआ है, सत्य प्रतीत हुआ है। मैं आगार धर्म से अनागार धर्म में प्रविष्ट होना चाहता हूँ।" महावीर ने कहा—"अहा सुहं—जैसे सुख हो, वैसे करो, विलम्ब मत करो।" जमालिकुमार राजप्रासाद में आया। माता-पिता से अपने मन की बात कही। माता-पिता पुत्र-विरह के आशंकित भय से रो पड़े। पुत्र को बहुत प्रकार से समझाया, पर सब व्यर्थ। अन्ततः माता-पिता सहमत हुए। दीक्षासमारोह रचा। आशीर्वादात्मक जय-घोषों के साथ सहस्त्रों नागरिकों ने उसकी वर्धापना की।

जमालिकुमार व माता-पिता के विनम्र निवेदन पर महावीर ने उसे भिक्षु-संघ में दीक्षित किया। पाँच सौ अन्य क्षत्रियकुमार भी उसके साथ दीक्षित हुए। उसकी पत्नी तथा महावीर की पुत्री प्रियदर्शना भी एक हजार अन्य क्षत्रिय महिलाओं के साथ दीक्षित हुई।[2]

जयन्ती

भगवान् महावीर ने वैशाली से वत्सदेश की ओर विहार किया। कौशाम्बी वहाँ की राजधानी थी। वहाँ चन्द्रावतरण चैत्य में पधारे। सहस्त्रानीक का पौत्र, शतानीक का पुत्र, वैशाली के राजा चेटक की पुत्री मृगावती का पुत्र राजा उदयन वहाँ राज्य करता था। श्रमणोपासिका जयन्ती उदयन की बूआ थी। वह साधुओं के लिए प्रथम शय्यातर के रूप में प्रसिद्ध थी। कौशाम्बी में नव्य आगत साधु पहले पहल जयन्ती के यहाँ ही वसति की याचना करते थे।

महावीर के अगमन का संवाद सुनकर जयन्ती अपने पुत्र के साथ वन्दना करने आई। महावीर ने धर्म-देशना दी। श्रमणोपासिका जयन्ती ने उपदेश सुना और उसके अनन्तर कुछ प्रश्न पूछे। उसका पहला प्रश्न था—"भन्ते! जीव शीघ्र ही गुरुत्व को कैसे प्राप्त होता है?"

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, सटीक, पत्र ६३५।

२. जमालि की दीक्षा भगवती सूत्र, श० ६, उ० ३३; प्रियदर्शना की दीक्षा त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ८ के आधार से।

महावीर—"जयन्ती ! (१) प्राणातिपात, (२) मृषावाद, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर-परिवाद, (१६) रति-अरति, (१७) मायामृषा और (१८) मिथ्यादर्शन—ये अठारह दोष—पाप हैं ; जिनके आसेवन से जीव शीघ्र ही गुरुत्व को प्राप्त होता है।"

जयन्ती—"भगवान् ! आत्मा लघुत्व को कैसे प्राप्त होती है ?"

महावीर—"प्राणातिपात आदि के अनासेवन से आत्मा लघुत्व को प्राप्त होती है। प्राणातिपात आदि की प्रवृत्ति से आत्मा जिस प्रकार संसार को बढ़ाती है, प्रलम्ब करती है, संसार में भ्रमण करती है ; उसी प्रकार उनकी निवृत्ति से संसार को घटाती है, ह्रस्व करती है और उसका उल्लंघन कर देती है।"

जयन्ती—"भन्ते ! मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता जीव को स्वभाव से प्राप्त होती है या परिणाम से ?"

महावीर—"मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता जीव को स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं।"

जयन्ती—"क्या सब भव-सिद्धिक आत्माएँ मोक्षगामिनी हैं ?"

महावीर—"हाँ, जो भव-सिद्धिक हैं, वे सब मोक्षगामिनी हैं।"

जयन्ती—"भगवन् ! यदि भव-सिद्धिक जीव सब मुक्त हो जायेंगे तो क्या यह संसार उन से रहित नहीं हो जायेगा ?"

महावीर—"जयन्ती ! ऐसा नहीं है। सादि व अनन्त तथा दोनों ओर से परिमित व दूसरी श्रेणियों से परिवृत्त सर्वाकाश की श्रेणि में से एक-एक परमाणु पुद्गल प्रति-समय निकालने पर अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी व्यतीत हो जाये, फिर भी वह श्रेणि रिक्त नहीं होती। इसी प्रकार भव-सिद्धिक जीवों के मुक्त होने पर भी यह संसार उनसे रिक्त नहीं होगा।"

जयन्ती—"जीव सोता हुआ अच्छा है या जागता हुआ ?"

महावीर—"कुछ एक जीवों का सोता अच्छा है और कुछ एक का जागना।"

जयन्ती—"भन्ते ! यह कैसे ?"

महावीर—"जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म का ही अनुसरण करते हैं, जिन्हें अधर्म ही प्रिय है, जो अधर्म का ही व्याख्या करते हैं, जो अधर्म के ही प्रेक्षक हैं, अधर्म में ही आसक्त हैं, अधर्म में ही हर्षित हैं और जो अधर्म से ही अपनी जीविका चलाते हैं ; उनका सोना ही अच्छा है। ऐसे जीव जब सोते रहते हैं तो प्राण-भूत-जीव-सत्त्व-समुदाय के शोक और परिताप का कारण नहीं बनते। ऐसे जीव सोते रहते हैं तो उनकी अपनी

और दूसरों की बहुत-सी अधार्मिक संयोजना नहीं होती अतः ऐसे जीवों का सोना ही अच्छा है।

"और हे जयन्ती! जो जीव धार्मिक, धर्मानुसारी, धर्म-प्रिय, धर्म-व्याख्याता, धर्म-प्रेक्षक, धर्मासक्त, धर्म में हर्षित और धर्मजीवी हैं; उनका जागना ही अच्छा है। ऐसे जीव जागते हुए बहुत सारे प्राणियों के अदुःख और अपरिताप के लिए कार्य करते हैं। ऐसे जीव जागृत हों तो अपने और दूसरों के लिए धार्मिक संयोजना के निमित्त बनते हैं; अतः उनका जागते रहना अच्छा है।

"इसी अभिप्राय से कुछ एक जीवों का सोते रहना अच्छा है और कुछ एक का जागते रहना।"

जयन्ती—"भगवन्! जीवों की दुर्बलता अच्छी है या सबलता?"

महावीर—"कुछ जीवों की सबलता अच्छी है और कुछ जीवों की दुर्बलता अच्छी है।"

जयन्ती—"भन्ते! यह कैसे?"

महावीर—"जो जीव अधार्मिक हैं और अधर्म से ही जीविकोपार्जन करते हैं, उनकी दुर्बलता ही अच्छी है। क्योंकि उनकी वह दुर्बलता अन्य प्राणियों के लिए दुःख का निमित्त नहीं बनती। जो जीव धार्मिक हैं, उनका सबल होना अच्छा है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि कुछ की दुर्बलता अच्छी है और कुछ की सबलता।"

जयन्ती—"क्षमाश्रमण! जीवों का दक्ष व उद्यमी होना अच्छा है या आलसी होना?"

महावीर—"कुछ जीवों का उद्यमी होना अच्छा है और कुछ का आलसी होना।"

जयन्ती—"क्षमाश्रमण! यह कैसे?"

महावीर—"जो जीव अधार्मिक हैं और अधर्मानुसार ही विचरण करते हैं, उनका आलसी होना ही अच्छा है। जो जीव धर्माचरण करते हैं, उनका उद्यमी होना ही अच्छा है; क्योंकि धर्मपरायण जीव सावधान ही होता है और वह आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, गण, संघ और साधर्मिक की वैयावृत्ति करता है।"

जयन्ती—"प्रभो! श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत पीड़ित जीव क्या कर्म बाँधता है?"

महावीर—"केवल श्रोत्रेन्द्रिय के ही नहीं, अपितु पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होकर जीव संसार में भ्रमण करता है।"

श्रमणोपासिका जयन्ती महावीर से अपने प्रश्नों का समाधान पाकर अत्यन्त हर्षित हुई। जीवाजीव की विभक्ति को जानकर उसने महावीर के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की।[1]

---

[1] भगवती सूत्र, श० १२, उ० २ के आधार से।

काश्यप

राजगृह में काश्यप गृहपति रहता था।[1] उसने महावीर के पास साधु-व्रत ग्रहण किया। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। और तप का अनुष्ठान किया। सोलह वर्षों तक साधु-पर्याय का निरतिचार पालन करते हुए विपुल पर्वत पर पादोपगमन अनशन पूर्वक मोक्ष प्राप्त किया।[2]

स्कन्दक

राजगृह के गुणशिल चैत्य से प्रस्थान कर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए महावीर एक बार कयंगला आये। ईशानकोण स्थित छत्रपलाशक चैत्य में ठहरे। वहाँ भगवान् का समवशरण हुआ।

कयंगला के निकट श्रावस्ती नगर था। वहाँ कात्यायन गोत्रीय गर्दभाल परिव्राजक का शिष्य स्कन्दक परिव्राजक रहता था। वह चारों वेद, इतिहास व निघण्टु का ज्ञाता था। षष्टितंत्र (कापिलीयशास्त्र) का विशारद था। गणितशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, आचार-शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्युत्पत्तिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र तथा अन्य ब्राह्मण-नीति और दर्शन-शास्त्र में भी वह पारंगत था। उसी नगर में भगवान् महावीर का श्रावक पिंगल निर्ग्रन्थ रहता था। पिंगल एक दिन स्कन्दक के आश्रम की ओर जा निकला। उसके समीप जाकर उससे नाना प्रश्न पूछे। पिंगल ने कहा—"मागध! यह लोक सान्त है या अनन्त? जीव सान्त है या अनन्त? सिद्धि सान्त है या अनन्त? सिद्ध सान्त हैं या अनन्त? किस प्रकार का मरण पाकर जीव संसार को घटाता और बढ़ाता है?"

प्रश्न सुनते ही स्कन्दक शंकाशील हो गया। असमंजस में तैरता-डूबता रहा। उत्तर देने को ज्यों ही उद्यत होता, उसके मन में आता—क्या उत्तर दूँ? मेरे उत्तर से प्रश्नकर्त्ता सन्तुष्ट होगा या नहीं? विचारमग्न स्कन्दक उत्तर न दे सका। वह मौन रहा। पिंगल ने साक्षेप अपने प्रश्न दो-तीन बार दुहराये। शंकित और कांक्षित स्कन्दक बोल न सका। उसे अपने पर अविश्वास हो गया था; अतः उसकी बुद्धि स्खलित हो गई।

स्कन्दक ने जनता के मुँह से छत्रपलाशक में महावीर के आगमन का वृत्त सुना। मन में विचार आया, कितना सुन्दर हो, यदि मैं महावीर के पास जाऊँ और उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान करूँ। संकल्प को सुदृढ़ कर वह परिव्राजकाश्रम में गया। त्रिदण्ड, कुण्डी, रुद्राक्ष-माला, मृत्पात्र, आसन, पात्र-प्रमार्जन का वस्त्र-खण्ड, त्रिकाष्टिका, अंकुश, कुश की

---

१. बौद्ध परम्परा में भी काश्यप नाम से एक महान् भिक्षु हुए हैं। वे प्रथम संगीति के कर्णधार रहे हैं। नाम-साम्य के अतिरिक्त दोनों में कोई एकरूपता नहीं है।

२. अन्तकृद्दशा, वर्ग ६।

मुद्रिका सदृश वस्तु, कलाई का एक प्रकार का आभूषण, छत्र, उपानह, पादुका, गैरिक वस्त्र आदि यथास्थान धारण किये और कयंगला की ओर प्रस्थान किया।

भगवान् महावीर ने उसी समय गौतम से कहा—"गौतम ! आज तुम अपने एक पूर्व परिचित को देखोगे।"

गौतम ने पूछा—"भन्ते ! मैं किस पूर्व परिचित से मिलूँगा ?"

महावीर ने कहा—"कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक से।"

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—"भन्ते ! वह परिव्राजक मुझे कब व कैसे मिलेगा ?"

महावीर ने उत्तर दिया—"श्रावस्ती में पिंगल निर्ग्रन्थ ने उससे कुछ प्रश्न पूछे हैं। वह उत्तर न दे सका ; अतः अपने तापसीय उपकरणों को साथ लिए यहाँ आने के लिए प्रस्थान कर चुका है। उसने बहुत सारा मार्ग लाँघ दिया है। वह मार्ग के बीच है। शीघ्र ही वह यहाँ पहुँच जायेगा और उसे तू आज ही देखेगा।"

गौतम—"क्या उसमें आपके शिष्य होने की योग्यता है ?"

महावीर—"हाँ, उसमें यह योग्यता है और निश्चित ही वह मेरा शिष्य हो जायेगा।"

महावीर और गौतम का वार्तालाप चल ही रहा था कि उसी समय स्कन्दक परिव्राजक सामने से आता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। गौतम उठे, उसके सामने गये और बोले—"हे स्कन्दक ! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है, अन्वागत है। मागध ! क्या यह सच है कि पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुमसे से कुछ प्रश्न पूछे और तुम उनके उत्तर न दे सके ; अतः यहाँ आ रहे हो ?"

गौतम से अपने मन की गुप्त बात सुन स्कन्दक परिव्राजक अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने पूछा—"गौतम ! ऐसा वह कौन ज्ञानी या तपस्वी है, जिसने मेरा गुप्त रहस्य इतना शीघ्र बता दिया ?"

गौतम ने एक सात्विक गौरव की अनुभूति के साथ कहा—"स्कन्दक ! मेरे धर्मगुरु, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर अनुत्तर ज्ञान और दर्शन के धारक हैं। वे अरिहन्त हैं, जिन हैं, केवली हैं, त्रिकालज्ञ हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। उनसे तुम्हारा मानसिक अभिप्राय तनिक भी अज्ञात नहीं रह सकता।"

स्कन्दक परिव्राजक ने गौतम के समक्ष भगवान् महावीर को वन्दन करने का अपना अभिप्राय व्यक्त किया और वह उनके साथ महावीर के समीप आया। दर्शन मात्र से ही वह सन्तुष्ट हो गया। उसने श्रद्धापूर्वक तीन प्रदक्षिणा की और वन्दना की। महावीर ने स्कन्दक को सम्बोधित करते हुए कहा—"मागध ! श्रावस्ती में रहने वाले पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुम से लोक जीव, मोक्ष, सिद्ध आदि सान्त है या अनन्त—ये प्रश्न पूछे ?" स्कन्दक ने महावीर का कथन स्वीकार किया। महावीर ने उसे उत्तर देना आरम्भ किया—"स्कन्दक ! द्रव्य, क्षेत्र,

काल व भाव की अपेक्षा से यह लोक चार प्रकार का है। द्रव्य की अपेक्षा से यह एक है और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से यह असंख्य कोटाकोटि योजन आयाम-विष्कंभ वाला है। इसकी परिधि असंख्य कोटाकोटि योजन बताई गई है। इसका अन्त—छोर है। काल की अपेक्षा से यह किसी दिन न होता हो, ऐसा नहीं है। किसी दिन नहीं था, ऐसा भी नहीं है। किसी दिन नहीं रहेगा, ऐसा भी नहीं है। यह सदैव था, सदैव है और सदैव रहेगा यह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। इसका अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा से यह अनन्त वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-पर्यवरूप है। अनन्त संस्थान पर्यव, अनन्त गुरुलघु-पर्यव तथा अनन्त अगुरुलघु-पर्यवरूप है।

"स्कन्दक ! द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से यह लोक सान्त है तथा काल और भाव की अपेक्षा से अनन्त ; अतः लोक सांत भी है और अनन्त भी।

"जीव के बारे में भी स्कन्दक ! द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चिन्तन करो। द्रव्य की अपेक्षा से जीव एक और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से यह असंख्य प्रदेशी है, पर सान्त है। काल की अपेक्षा से यह कभी नहीं था, कभी नहीं है, कभी नहीं रहेगा ; ऐसा नहीं है ; अतः नित्य है और इसका अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा से यह अनन्त ज्ञान पर्यवरूप है, अनन्त दर्शन-पर्यवरूप है, अनन्त गुरु-लघु-पर्यवरूप है और इसका अन्त नहीं है। इस प्रकार स्कन्दक ! द्रव्य व क्षेत्र की अपेक्षा से जीव अन्त-युक्त है और काल व भाव की अपेक्षा से अन्त-रहित है।

"स्कन्दक ! तुझे यह भी विकल्प हुआ था कि मोक्ष सान्त है या अनन्त ? इसे भी तुझे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा से जानना होगा। द्रव्य की अपेक्षा से मोक्ष एक है और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से ४५ लाख योजन आयाम-विष्कंभ है और इसकी परिधि १ करोड़ ४२ लाख ३० हजार २४६ योजन से कुछ अधिक है। इसका छोर—अन्त है। काल की अपेक्षा से यह नहीं कहा जा सकता कि किसी दिन मोक्ष नहीं था, नहीं है और नहीं रहेगा। भाव की अपेक्षा से भी यह अन्त-रहित है। तात्पर्य है, द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से मोक्ष अन्त-युक्त है और काल व भाव की अपेक्षा से अन्त-रहित।

"स्कन्दक ! तुझे यह भी शंका हुई थी कि सिद्ध अन्त-युक्त है या अन्त-रहित। इस बारे में भी तुझे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की अपेक्षा से सोचना होगा। द्रव्य की अपेक्षा से सिद्ध एक है और अन्त-युक्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से सिद्ध असंख्य प्रदेश-अवगाढ़ होने पर भी अन्त-युक्त है। काल की अपेक्षा से सिद्ध की आदि तो है, पर अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा से सिद्ध ज्ञान-दर्शन-पर्यवरूप है और उसका अन्त नहीं है।

"स्कन्दक ! मरण के बारे में भी तू संदिग्ध है न ? तेरे मन में यह ऊहापोह है न कि

किस प्रकार के मरण से संसार घटता है और किस प्रकार के मरण से संसार बढ़ता है ? मरण दो प्रकार का है : (१) बाल मरण और (२) पण्डित मरण ।"

स्कन्दक—"भन्ते ! बाल मरण किस प्रकार होता है ?"

महावीर—"स्कन्दक ! उसके बारह प्रकार हैं : (१) भूख से तड़पते हुए मरना, (२) इन्द्रियादिक की पराधीनता पूर्वक मरना, (३) शरीर में शस्त्रादिक के प्रवेश से या सन्मार्ग से भ्रष्ट होकर मरना, (४) जिस गति में मरे, उसका ही आयुष्य बाँधना, (५) पर्वत से गिर कर मरना, (६) वृक्ष से गिर कर मरना, (७) पानी में डूब कर मरना, (८) अग्नि में जल कर मरना, (९) विष खाकर मरना, (१०) शस्त्र प्रयोग से मरना, (११) फाँसी लगाकर मरना, (१२) गृद्ध आदि पक्षियों से नुचवाकर मरना । स्कन्दक ! इन बारह प्रकारों से मर कर जीव अनन्त बार नैरयिक भाव को प्राप्त होता है । वह तिर्यक् गति का अधिकारी होता है और चतुर्गत्यात्मक संसार को बढ़ाता है । मरण से संसार का बढ़ना इसी को कहते हैं ।"

स्कन्दक—"भन्ते ! पण्डित मरण किसे कहते है ?"

महावीर—"स्कन्दक ! वह दो प्रकार से होता है : (१) पादोपगमन और (२) भक्त प्रत्याख्यान । पादोपगमन दो प्रकार का है : (१) निर्हारिम और (२) अनिर्हारिम । भक्त-प्रत्याख्यान भी दो प्रकार का है : (१) निर्हारिम और (२) अनिर्हारिम । जो साधु उपाश्रय में पादोपगमन या भक्त प्रत्याख्यान आरम्भ करते हैं, पण्डित मरण के बाद उनका शव उपाश्रय व नगर से बाहर लाकर संस्कारित किया जाता है ; अतः वह मरण निर्हारिम कहलाता है । जो साधु अरण्य में दोनों प्रकार में से किसी प्रकार से देह त्याग करते हैं, उनका शव संस्कार के लिए कहीं बाहर नहीं लाया जाता ; अतः वह मरण अनिर्हारिम कहलाता है । पादपोगमन निर्हारिम हो, चाहे अनिर्हारिम अप्रतिकर्म होता है ; क्योंकि वह मरण वैयावृत्य रहित होता है । भक्त प्रत्याख्यान निर्हारिम हो या अनिर्हारिम सप्रतिकर्म होता है ; क्योंकि वहाँ वैयावृत्त्य निषिद्ध नहीं है । स्कन्दक ! इन प्रकारों से जो जीव मरते हैं, वे नैरयिक नहीं होते और न अनन्त भवों को प्राप्त होते हैं । ये जीव दीर्घ संसार को तनु करते हैं ।"

अपने सभी प्रश्नों के सविस्तर उत्तर पाकर स्कन्दक अत्यन्त आह्लादित हुआ । उसने भगवान् महावीर के कथन में अत्यन्त आस्था प्रकट की और प्रव्रजित होने की अभिलाषा भी व्यक्त की । महावीर ने उसे प्रव्रजित कर लिया और तत्सम्बन्धी शिक्षा व समाचारी से परिचित किया ।[१]

श्रमण केशीकुमार

मिथिला से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर हस्तिनापुर की ओर पधारे । गणधर गौतम अपने शिष्य-समुदाय के साथ श्रावस्ती पधारे और निकटस्थ कोष्ठक

१. भगवती सूत्र, श० २, उ० १ के आधार से ।

उद्यान में ठहरे। उसी नगर के बाहर एक और तिन्दुक उद्यान था, जिसमें पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ श्रमण केशीकुमार अपने शिष्य-समुदाय के साथ ठहरे हुए थे। श्रमण केशीकुमार कुमारावस्थामें ही प्रव्रजित हो गये थे। वे ज्ञान व चारित्र के पारगामी थे। मति, श्रुत व अवधि—तीन ज्ञान से पदार्थों के स्वरूप के ज्ञाता थे।

दोनों के शिष्य-समुदाय में कुछ-कुछ आशंकाएँ उत्पन्न हुईं—हमारा धर्म कैसा और इनका धर्म कैसा? आचार-धर्म-प्रणिधि हमारी कैसी और इनकी कैसी? महामुनि पार्श्वनाथ ने चतुर्याम धर्म का उपदेश किया है और स्वामी वर्धमान पाँच शिक्षारूप धर्म का उपदेश करते हैं। एक लक्ष्य वालों में यह भेद कैसा? एक ने सचेलक धर्म का उपदेश दिया है और एक अचेलक भाव का उपदेश करते हैं।

अपने शिष्यों की आशंकाओं से प्रेरित होकर दोनों ही आचार्यों ने परस्पर मिलने का निश्चय किया। गौतम अपने शिष्य-वर्ग के साथ तिन्दुक उद्यान में आये, जहाँ कि श्रमण केशीकुमार ठहरे हुए थे। गौतम को अपने यहाँ आते हुए देख कर श्रमण केशीकुमार ने भक्ति बहुमान पुरस्सर उनका स्वागत किया। अपने द्वारा याचित पलाल, कुश, तृण आदि के आसन गौतम के सम्मुख प्रस्तुत किये। उस समय बहुत सारे पाखण्डी व कौतूहल-प्रिय व्यक्ति भी उद्यान में एकत्रित हो गये थे।

गौतम से अनुमति पाकर केशीकुमार ने चर्चा को आरम्भ करते हुए कहा—"महाभाग! वर्धमान स्वामी ने पाँच शिक्षारूप धर्म का उपदेश किया है, जबकि महामुनि पार्श्वनाथ ने चतुर्याम धर्म का प्रतिपादन किया है। मेधाविन्! एक कार्य में प्रवृत्त होने वाले साधकों के धर्म में विशेष भेद होने का क्या कारण है? धर्म में अन्तर हो जाने पर आपको संशय क्यों नहीं होता?"

गौतम ने उत्तर दिया—"जिस धर्म में जीवादि तत्त्वों का विनिश्चय किया जाता है, उसके तत्त्व को प्रज्ञा ही देख सकती है। काल-स्वभाव से प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि ऋजु जड़ और चरम तीर्थङ्कर के मुनि वक्र जड़ हैं; किन्तु मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के मुनि ऋजु प्राज्ञ हैं। यही कारण है कि धर्म के दो भेद हैं। प्रथम तीर्थङ्कर के मुनियों का कल्प दुर्विशोध्य और चरम तीर्थङ्कर के मुनियों का कल्प दुरनुपालक होता है; पर मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के मुनियों का कल्प सुविशोध्य और सुपालक होता है।"

केशीकुमार—"गौतम! आपने मेरे एक प्रश्न का समाधान तो कर दिया। दूसरी जिज्ञासा को भी समाहित करें। वर्धमान स्वामी ने अचेलक धर्म[1] का उपदेश दिया है और

---

१. अचेलक का अर्थ वस्त्र-विहीनता ही नहीं है। स्थानांग स्था० ५, उ० ३ के अनुसार अल्प वस्त्रता भी अचेलक का अर्थ होता है। देखें, पाइयसद्दमहण्णवो, पृ० २५ भी।

महामुनि पार्श्वनाथ ने सचेलक धर्म का प्रतिपादन किया है। एक ही कार्य में प्रवृत्त होने वालों में यह अन्तर क्यों ? इसमें विशेष हेतु क्या है ? यशस्विन् ! लिंग-वेष में इस प्रकार अन्तर हो जाने पर क्या आपके मन में विप्रत्यय उत्पन्न नहीं होता ?"

गौतम—"लोक में प्रत्यय के लिए, वर्षादि ऋतुओं में संयम की रक्षा के लिए, संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए, ज्ञानादि ग्रहण के लिए अथवा 'यह साधु है' इस पहचान के लिए लिंग का प्रयोजन है। भगवन् ! वस्तुतः दोनों ही तीर्थङ्करों की प्रतिज्ञा तो यही है कि निश्चय में मोक्ष के सद्भूत साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही हैं।"

केशीकुमार—"महाभाग ! आप अनेक सहस्र शत्रुओं के बीच खड़े हैं। वे शत्रु आपको जीतने के लिए आपके अभिमुख आ रहे हैं। आपने उन शत्रुओं को किस प्रकार जीता ?"

गौतम—"जब मैंने एक शत्रु को जीत लिया, पाँच शत्रु जीते गये। पाँच शत्रुओं के जीते जाने पर दस और इसी प्रकार मैंने सहस्रों शत्रुओं को जीत लिया।"

केशीकुमार—"वे शत्रु कौन हैं ?"

गौतम—"महामुने ! बहिर्भूत आत्मा, चार कषाय व पाँच इन्द्रियाँ शत्रु हैं। उन्हे जीत कर मैं विचरता हूँ।"

केशीकुमार—"मुने ! लोक में बहुत सारे जीव पाश-बद्ध देखे जाते हैं, किन्तु आप पाश-मुक्त और लघुभूत होकर कैसे विचरते हैं ?"

गौतम—"मुने ! मैं उन पाशों को सब तरह से छेदन कर तथा सोपाय विनिष्ट कर मुक्त-पाश और लघुभूत होकर विचरता हूँ।"

केशीकुमार—"भन्ते ! वे पाश कौन से हैं ?"

गौतम—"भगवन् ! राग-द्वेष और तीव्र स्नेह रूप पाश हैं, जो बड़े भयंकर हैं। इनका सोद्योग छेदन कर मैं यथाक्रम विचरता हूँ।"

केशीकुमार—"गौतम ! अन्तःकरण की गहराई से उद्भूत लता, जिसका फल-परिणाम अत्यन्त विष-सन्निभ है, को आपने किस प्रकार उखाड़ा ?"

गौतम—"मैंने उस लता का सर्वतोभावेन छेदन कर दिया है तथा उसे खण्ड-खण्ड कर समूल उखाड़ कर फेंक दिया है; अतः मैं विष-सन्निभ फलों के भक्षण से सर्वथा मुक्त हो गया हूँ।"

केशीकुमार—"महाभाग ! वह लता कौन सी है ?"

गौतम—"महामुने ! संसार में तृष्णा लता बहुत भयंकर है और दारुण फल देने वाली है। उसका न्याय-पूर्वक उच्छेद कर मैं विचरता हूँ।"

केशीकुमार—"मेधाविन् ! शरीर में घोर तथा प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही है। वह शरीर को भस्मसात् करने वाली है। आपने उसे कैसे शान्त किया, कैसे बुझाया ?"

गौतम—"तपस्विन् ! महामेघ से प्रसूत उत्तम और पवित्र जल को ग्रहण कर मैं उस अग्नि को सींचता रहता हूँ ; अतः सिंचित की गई अग्नि मुझे नहीं जलाती ।"

केशीकुमार—"महाभाग ! वह अग्नि और जल कौन सा कहा गया है ?"

गौतम—"धीमन् ! कषाय अग्नि है । श्रुत, शील और तप जल है । श्रुत जलधारा से अभिहत वह अग्नि मुझे नहीं जलाती ।"

केशीकुमार—"तपस्विन् ! यह साहसिक, भीम, दुष्ट, अश्व चारों ओर भाग रहा है । उस पर चढ़े हुए भी आप उसके द्वारा उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाये गये ?"

गौतम—"महामुने ! भागते हुए अश्व को मैं श्रुतरूप-रस्सी से बाँधे रखता हूँ, अतः वह उन्मार्ग में नहीं जा पाता, सन्मार्ग में ही प्रवृत्त रहता है ।"

केशीकुमार—"यशस्विन् ! आप अश्व किसको कहते हैं ?"

गौतम—"व्रतिवर ! मन ही दुःसाहसिक व भीम अश्व है । वही चारों ओर भागता है । मैं कन्थक अश्व की तरह धर्म-शिक्षा के द्वारा उसका निग्रह करता हूँ ।"

केशीकुमार—"मुनिपुंगव ! संसार में ऐसे बहुत से कुमार्ग हैं, जिन पर चलने से जीव सन्मार्ग से च्युत हो जाता है । किन्तु आप सन्मार्ग में चलते हुए उससे विचलित कैसे नहीं होते हैं ?"

गौतम—"व्रतिराज ! सन्मार्ग में गमन करने वालों व उन्मार्ग में प्रस्थान करने वालों को मैं अच्छी तरह जानता हूँ ; अतः सन्मार्ग से हटता नहीं हूँ ।"

केशीकुमार—"विज्ञवर ! वह सन्मार्ग और उन्मार्ग कौन सा है ?"

गौतम—"मतिमन् ! कुप्रवचन को मानने वाले सभी पाखण्डी उन्मार्ग में प्रस्थित हैं । सन्मार्ग तो जिन-भाषित है । और यह मार्ग निश्चित ही उत्तम है ।"

केशीकुमार—"महर्षे ! महान् उदक के वेग में बहते हुए प्राणियों के लिए शरण और प्रतिष्ठारूप द्वीप आप किसे कहते हैं ?"

गौतम—"यतिराज ! एक महाद्वीप है । वह बहुत विस्तृत है । जल के महान् वेग की वहाँ गति नहीं है ।"

केशीकुमार—"महाप्राज्ञ ! वह महाद्वीप कौन सा है ?

गौतम—"ऋषिवर ! जरा-मरण के वेग से डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्मद्वीप प्रतिष्ठारूप है और उसमें जाना उत्तम शरण रूप है ।"

केशीकुमार—"महाप्रवाह वाले समुद्र में एक नौका विपरीत रूप से चारों और भाग रही है । आप उसमें आरूढ़ हो रहे हैं । मेरी जिज्ञासा है, फिर आप पार कैसे जा सकेंगे ?"

गौतम—"सच्छिद्र नौका पारगामी नहीं होती, किन्तु छिद्र-रहित नौका पार पहुँचाने में समर्थ होती है ।"

केशीकुमार—"वह नौका कौन सी है ?"

गौतम—"शरीर नौका है। आत्मा नाविक है। संसार समुद्र है, जिसे महर्षिजन सहज ही तैरते हैं।"

केशीकुमार—"बहुत सारे प्राणी घोर अन्धकार में हैं। इन प्राणियों के लिए लोक में उद्योत कौन करता है।"

गौतम—"उदित हुआ सूर्य लोक में सब प्राणियों के लिए उद्योत करता है।"

केशीकुमार—"वह सूर्य कौन-सा है ?"

गौतम—"जिसका संसार क्षीण हो गया है, ऐसे सर्वज्ञ जिन भास्कर का उदय हो चुका है। वे ही सारे विश्व में उद्योत करते हैं।"

केशीकुमार—"शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम और शिवरूप तथा बाधा-रहित आप कौन सा स्थान मानते हैं ?"

गौतम—लोक के अग्र भाग में एक ध्रुवस्थान है, जहाँ जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं है। किन्तु वहाँ आरोहण करना नितान्त दुष्कर है।"

केशीकुमार—"वह कौन सा स्थान है ?"

गौतम—"महर्षियों द्वारा प्राप्त वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध, इन नामों से विश्रुत है।

मुने ! वह स्थान शाश्वत वास का है, लोक के अग्रभाग में स्थित है और दुरारोह है। इसे प्राप्त कर भव-परम्परा का अन्त करने वाले मुनिजन चिन्तन-मुक्त हो जाते हैं।"

श्रमण केशीकुमार ने चर्चा का उपसंहार करते हुए कहा—"महामुने गौतम ! आपकी प्रज्ञा साधु है। आपने मेरे संशयों का उच्छेद कर दिया है, अतः हे संशयातीत ! सर्व सूत्र के पारगामिन् आपको नमस्कार है। गणधर गौतम को वन्दना के अनन्तर श्रमण केशीकुमार ने अपने बृहत् शिष्य-समुदाय सहित उनसे पंच महाव्रत रूप धर्म को भाव से ग्रहण किया और महावीर के भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हुए।[1]

केशीकुमार श्रमण की तरह कालासवेसियपुत्त अनगार,[2] गांगेय अनगार[3] पेढाल पुत्त उदक[4] आदि भी तत्त्व चर्चा के पश्चात् महावीर के संघ में चतुर्यामात्मक दीक्षा से पंच महाव्रत-रूप दीक्षा में आये।

इन घटना-प्रसंगों से यह इतिहास भी हमारी आँखों के सामने आ जाता है कि पार्श्व

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३ के आधार से।

२. भगवती सूत्र, शतक १, उद्देशक ९।

३. वही, शतक ९, उद्देशक ३२।

४. सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० २, अ० ७।

की परम्परा महावीर के उदीयमान संघ से कैसे लीन हुई और उन दोनों के बीच क्या-क्या भेद व तादात्म्य थे।

शालिभद्र और धन्ना

जैन-परम्परा में शालिभद्र और धन्ना का जीवन-वृत्त बहुत ही सरस और बहुत ही विश्रुत है। शालिभद्र और धन्ना के परस्पर साले-बहनोई का सम्बन्ध था और दोनों ने ही महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

शालिभद्र राजगृह के धनाढ्य गृहपति गोभद्र का पुत्र था। उसकी माता का नाम भद्रा और बहिन का नाम सुभद्रा था। शालिभद्र के बाल्य-काल में ही गोभद्र गृहपति का शरीरान्त हो गया था। वह अगाध मातृ-वात्सल्य में पला-पुसा और तरुण हुआ। कहा जाता है, उसका पिता मर कर देव-योनि में उत्पन्न हुआ। वह अपने पुत्र एवं पुत्र-वधुओं के सुख-भोग के लिए वस्त्र और आभूषणों से परिपूरित ३३ पेटियाँ[1] प्रतिदिन उन्हें देता था। भद्रा सारा गृहभार सम्भालती। शालिभद्र अपने महल की सातवीं मंजिल पर अहर्निश सांसारिक सुख-भोग में लीन रहता।

एक दिन राजगृह में रत्न-कम्बल के व्यापारी आये। उनके पास सोलह रत्न-कम्बल थे। एक-एक कम्बल का मूल्य सवा लाख स्वर्ण मुद्राएँ था। राजगृह के बाजार में उन्हें कोई खरीददार न मिला। वे राजा श्रेणिक के पास गये। रत्न-कम्बल रानियों ने पसन्द किए, पर एक-एक का मूल्य सवा लाख सुनकर राजा भी चौंका। राजा ने एक भी कम्बल नहीं खरीदा।

व्यापारी अपने आवास के बाहर वृक्ष की छाया में बैठे बातें कर रहे थे ; राजगृह जैसे नगर में भी हमें कोई विक्रेता नहीं मिला तो अन्यत्र कहाँ मिलेगा। शालिभद्र की दासियाँ उसी राह से पनघट की ओर आ रही थीं। वह बात उनके कानों में पड़ी। पानी लेकर वापस आते समय दासियों ने व्यापारियों से पूछ लिया—"आप किसी दुर्घट चिन्ता में मालूम पड़ते है। क्या हमें भी वह चिन्ता बतलाई जा सकती है?" व्यापारियों ने कहा—"जो चिन्ता राजा श्रेणिक भी नहीं मेट सका, तुम पनिहारिन हमारी क्या चिन्ता मेटोगी?" दासियों ने कहा—"कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है।" व्यापारियों ने अपना पिण्ड छुड़ाने के लिए अन्यमनस्कता से ही अपनी बात दो शब्दों में उन्हें कह डाली। दासियों ने हँस कर कहा—"बस, यही बात है? चलो, हमारे साथ। हम एक ही सौदे में आपके सारे कम्बल बिकवा देती हैं।" व्यापारियों ने कुछ गम्भीरता से बात पूछी। दासियों ने अपने स्वामी शालिभद्र के वैभव का वर्णन किया। व्यापारी उत्सुक होकर दासियों के साथ चल पड़े। शालिभद्र का हर्म्य आया। बाहर से भी इतना आकर्षक कि राज-प्रासाद से भी

---

१. एक परम्परा के अनुसार ९९ पेटियाँ—वस्त्र, आभूषण व भोजन की ३३-३३ पेटियाँ—आती थीं।

अधिक। व्यापारियों ने प्रथम मंजिल में प्रवेश किया। साज-सज्जा देखकर वे विस्मित हुए। दासियों ने कहा—"यह तो हम दास-दासियों के रहने की मंजिल है।" दूसरी मंजिल पर पहुँचे और वहाँ की रमणीयता देखी। सोचा यहाँ शालिभद्र बैठे होंगे। उन्हे बताया गया, यहाँ तो मुनीम लोग ही बैठते हैं और बही-खातो का काम करते हैं। तीसरी मंजिल पर पहुँचे। वहाँ भद्रा सेठानी रहती थी। भद्रा से व्यापारियो का परिचय कराया गया। व्यापारियों ने कहा—"हम शालिभद्र से मिलने आये हैं। उन्हे रत्न-कम्बल दिखलायेंगे।" भद्रा ने कहा—"आप शालिभद्र से नहीं मिल सकेंगे। आप अपने रत्न-कम्बल मुझे ही दिखला दें।" कुछ संकोच व कुछ विस्मय से व्यापारी भद्रा के सम्मुख जमकर बैठे। एक रत्न-कम्बल निकाला और भद्रा के हाथ में दिया। भद्रा ने बिना उसका मूल्य पूछे ही कहा—"आपके पास ऐसे कितने कम्बल हैं?"

व्यापारी—"सोलह।"

भद्रा—"मुझे बत्तीस चाहिए, क्योंकि मेरी बहुएँ बत्तीस हैं। कम हो तो मैं किसे दूँ व किसे न दूँ?"

व्यापारी—"पहले आप एक कम्बल का मूल्य तो पूछ लीजिये।"

भद्रा—"उसकी आप चिंता न करें। जो भी मूल्य होगा, वह चुकाया जायेगा।"

व्यापारी आश्चर्यान्वित थे। उन्हे लगता था—हम स्वप्न-लोक में तो कहीं विहार नहीं कर रहे हैं। भद्रा ने कहा—"खैर, आपके पास जितनी कम्बलें हैं; वे यहाँ रख दें।" व्यापारियों ने वैसा ही किया। भद्रा ने मुख्य मुनीम को बुला कर कहा—"जो भी मूल्य इनका हो, इन्हें चुका दिया जाये।" भद्रा अन्य कार्य में संलग्न हो गई। व्यापारियों को लेकर मुनीम धन-भण्डार पर आया। व्यापारियों से पूछा—"एक कम्बल का क्या मूल्य है?" व्यापारियों ने कहा—"सवा लाख स्वर्ण-मुद्राएँ।" मुनीम ने भण्डारी को आदेश दिया—"सोलह कम्बलों का मूल्य सवा लाख प्रति कम्बल के हिसाब से इन्हें चुका दिया जाये।" भण्डारी ने यथाविधि सब कुछ सम्पन्न किया। व्यापारियों के हर्ष और विस्मय का क्या पार था? वे यह कहते हुए हर्म्य से बाहर आये कि भला हो उन बेचारी दासियों का जो हमें यहाँ ले आई। हम तो आशा ही छोड़ चुके थे कि हमारी एक कम्बल भी कहीं बिक सकेगी?

अगले दिन श्रेणिक की साम्राज्ञी चेलणा ने आग्रह पकड़ा, एक कम्बल तो मेरे लिए खरीदना ही होगा। श्रेणिक क्या करता? उसने व्यापारियों को पुनः राज-सभा में बुलाया। व्यापारियों ने कहा—"राजन्! हमारी तो सोलह ही रत्न-कम्बलें बिक चुकी हैं।" सारी वस्तुस्थिति से अवगत हो, श्रेणिक स्वयं विस्मित हो गया। राजा ने अभयकुमार को भद्रा के पास भेजा। उसने वहाँ जाकर कहा—"गृहपत्नी! तुम्हारे पास सोलह कम्बलें हैं। मूल्य

लेकर भी एक कम्बल राजा को भेंट कर दो।" भद्रा ने कहा—"मंत्रीवर अभयकुमार ! मैंने एक-एक कम्बल के दो-दो टुकड़े कर बत्तीस बहुओं को बाँट दिये हैं।" अभयकुमार ने कहा—"दो टुकड़े मंगवा दो। रानी का हठ मैं किसी तरह पूरा करूँगा।" भद्रा ने दासियों से पुछवाया तो मालूम पड़ा कि सभी बहुओं ने अपने-अपने टुकड़ों को पैर पोंछने का अंगोछा बना लिया है। अभयकुमार इन सारी बातों की जानकारी कर राज-सभा में आया। भद्रा भी राजा के योग्य बहुमूल्य उपहार ले सभा में आई। भद्रा ने भेंट करते हुए कहा—"राजन् ! बुरा न मानें। शालिभद्र और उसकी पत्नियाँ देव-दूष्य वस्त्र ही पहनती हैं। मेरे पति अब देव-गति में हैं और वही प्रतिदिन उन्हें वस्त्र, आभूषण, अंग-राग आदि देते हैं। रत्न-कम्बल का स्पर्श मेरी बहुओं को कठोर प्रतीत हुआ है और इसीलिए उन्होंने उसका उपयोग पैर पोंछने के वस्त्र के रूप में किया है।" राजा और सभासद यह सब सुन कर आश्चर्य-मग्न हो रहे थे।

भद्रा ने राजा श्रेणिक को अपने हर्म्य आने का आमंत्रण दिया। श्रेणिक तो शालिभद्र और उसके वैभव को देखने के लिए स्वयं उत्सुक हो चुका था ; अतः उसने सहर्ष वह आमंत्रण स्वीकार किया। भद्रा ने घर आकर राजा के स्वागत में तैयारियाँ कीं। राजा भी राजकीय साज-सज्जा से उसके घर आया। शालिभद्र तब तक अपने महलों में ही था। हर्म्य की चतुर्थ मंजिल में राजा को बैठाया गया। राजा वहाँ की दिव्य ऋद्धि को देखकर विस्मित हो रहा था। सोचता था, इस द्रव्य ऋद्धि को भोगने वाला शालिभद्र कैसा होगा ? भद्रा ने सातवीं मंजिल पर जा शालिभद्र को कहा—"बेटा ! श्रेणिक अपने घर आया है, नीचे चलो और उसे नमस्कार करो।"

"माँ, मैं नीचे क्यों चलूँ, घर की मालकिन तुम वहाँ बैठी हो, जो भी मूल्य हो, दे दो और श्रेणिक को खरीद लो !"

"बेटा ! तुम नहीं समझते। वह खरीदने की वस्तु नहीं है। श्रेणिक हमारा राजा है, स्वामी है, हमारे पर अनुग्रह कर वह यहाँ आया है। तुम नीचे चलो और उसे नमस्कार करो।"

शालिभद्र के मन पर एक चोट-सी लगी। मैं स्वयं अपना स्वामी नहीं हूँ, मेरे पर भी कोई स्वामी है, यह क्या ? मैं तो अब वही रास्ता खोजूँगा, जिसमें अपना स्वामी मैं स्वयं ही रहूँ।

माता के निर्देशन से शालिभद्र श्रेणिक के पास आया और नमस्कार किया। श्रेणिक उसके सुडौल शरीर, गौर वर्ण और असीम सौकुमार्य को देखकर अवाक् रहा। निकट होते ही श्रेणिक ने उसे गोद में भर लिया, पर शालिभद्र इतना सुकोमल था कि राजा के शरीर की ऊष्मा से ही उसके सारे शरीर से स्वेद बहने लगा। उसे आकुलता-सी प्रतीत होने

लगी। राजा समझ गया। उसने उसे अपने सम्मुख उचित आसन पर बैठाया और उससे बातें की।

राजा आनन्दित, पुलकित अपने राज-प्रासाद गया। शालिभद्र भी वहाँ से उठकर सप्तम भौम गया। उसके मन में यही उथल-पुथल थी, क्या मैं ही अपना स्वामी नहीं हूँ ? नगर के ईशान कोणवर्ती उद्यान में धर्मघोष मुनि आए। समूह-के-समूह नर-नारी उसी दिशा में चल पड़े। शालिभद्र ने सप्तम भौम से उस जन-समूह को देखा। कर्मकरों से जानकारी ली। उसके मन में स्व-स्वामित्व का प्रश्न घुट ही रहा था। समाधान की उत्सुकता में वह भी निरुपम साज-सज्जा से उसी दिशा में चल पड़ा। धर्मघोष मुनि की देशना से उसने भोगों की नश्वरता समझी। साधु-चर्या का स्व-स्वामित्व समझा। दीक्षित होने को कृतसंकल्प हुआ।

शालिभद्र घर आया। अपने मन का संकल्प माता से कहा। माता को वज्राघात-सा लगा। उसने पुत्र के मन को मोड़ने का हर प्रयत्न किया, पर सब व्यर्थ। अन्त में बात यह ठहरी कि आज ही दीक्षा न लेकर प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग किया जाए। पत्नियाँ भी पति के इस संकल्प को सुनकर आकुल व्याकुल हुई। पति को मोड़ने का प्रयत्न किया, पर शालिभद्र का वह पत्नी-परित्याग का अनुष्ठान चलता ही रहा।

शालिभद्र की सगी बहिन सुभद्रा राजगृह में ही एक धनाढ्य के पुत्र धन्ना को ब्याही थी। धन्ना के सात पत्नियाँ और भी थी। एक दिन वे सब अपनी अशोक वाटिका में धन्ना को स्नान करा रही थीं। सुभद्रा को अपने भाई की याद आई और आँखों में आँसू छलक पड़े। धन्ना की पीठ पर वे अश्रु-बिन्दु गिरे। उष्ण स्पर्श के कारण धन्ना ने मुड़कर ऊपर झाँका तो देखा सुभद्रा की आँखें गीली हैं और अश्रु बरस रहे हैं। धन्ना ने कहा—"प्रिये ! यह क्या ? इस आमोद-प्रमोद की बेला में आँसू ?" सुभद्रा ने कहा—"पतिदेव ! मेरा भाई शालिभद्र दीक्षा-ग्रहण करेगा, अतः वह प्रतिदिन एक पत्नी और एक शय्या का त्याग कर रहा है।"

धन्ना ने स्वाभिमान भरी नजर से सुभद्रा के चेहरे की ओर झाँकते हुए कहा—"तुम्हारा भाई बहुत भीरु और कातर है। दीक्षा ही लेनी है तो फिर एक-एक पत्नी का त्याग कैसा ?" सुभद्रा का स्वाभिमान जग पड़ा। उसने भी कड़ाक से कहा—"पतिदेव ! कहना सहज होता है, करना ही कठिन होता है। आप भी ऐसा करके तो बतायें ?"

धन्ना पर जैसे चाबुक की मार पड़ गई हो। उसका मन हिनहिना उठा। सब पत्नियों की ओर झाँकते हुए वह बोल उठा—"दूर रहो ! मैं तुम सब का परित्याग कर चुका हूँ।"

पत्नियाँ देखते ही रह गईं। अन्य पारिवारिक जन भी उसे मोड़ने में असमर्थ रहे। धन्ना शालिभद्र के घर पहुँचा। शालिभद्र से मिला और उससे कहा—"यह क्या कायरता है ?

चलो, हम दोनों साला-बहनोई आज ही भगवान् महावीर के पास, दीक्षित हों।" शालिभद्र तो प्रस्तुत था ही। केवल माता के आग्रह से ऐसा कर रहा था। उसने भी शेष पत्नियों का परित्याग एक साथ कर दिया। दोनों ने महावीर के समवशरण में आकर भागवती दीक्षा ग्रहण की।[1]

इस प्रकार महावीर के भिक्षु-संघ की अभिवृद्धि में चार चाँद और लगे। इस प्रकार की दीक्षाओं से और अनेक लोग प्रेरित होते थे और दीक्षा ग्रहण करते थे।

राजर्षि उदायन

सिंधु सौवीर देश की उस समय भारत के विशाल राज्यों में गणना की जाती थी। वीतभय उसकी राजधानी थी। सोलह बृहद् देश, तीन सौ तिरसठ नगर और आगर उसके अधीन थे। वहाँ के राजा का नाम उदायन था।[2] चण्डप्रद्योतन आदि दश मुकुटधारी महा-पराक्रमी राजा उसकी सेवा में रहते थे। रानी का नाम प्रभावती था, जो वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। राजकुमार का नाम अभीचकुमार और भानजे का नाम केशी था। प्रभावती निर्ग्रन्थ श्राविका थी, पर उदायन तापस-भक्त था। प्रभावती मृत्यु पाकर स्वर्ग में गई। उसने अपने पति को प्रतिबोध दिया और उसे दृढ़-निष्ठ श्रावक बनाया।

एक बार राजा पौषधशाला में पौषध कर रहा था। रात में धर्म-जागरणा करते हुए उसके मन में अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—वे ग्राम, नगर, आगर आदि धन्य हैं, जो भगवान् वर्धमान के चरणरज से पवित्र होते हैं। यदि किसी समय ऐसा सौभाग्य वीतभय को भी प्राप्त हो तो मैं गार्हस्थ्य को छोड़ कर प्रव्रजित हो जाऊँ।

भगवान् महावीर सर्वज्ञ थे। उन्होंने उदायन के मनोगत विचारों को जाना और उस ओर प्रस्थान कर दिया। सात सौ कोस का उग्र विहार था। मार्ग की विकटता और परीषहों की अधिकता से बहुत से मुनि मार्ग में ही मृत्यु पा गये। वीतभय में भगवान् महावीर के आगमन से उदायन अत्यन्त प्रमुदित हुआ। महावीर के समवशरण में पहुँचा और दीक्षित होने की अपनी चिरकालीन भावना व्यक्त की। राजा ने प्रार्थना की—"भन्ते! जब तक मैं पुत्र को राज्य सौंपकर दीक्षित होने के लिए श्रीचरणों में उपस्थित न हो जाऊँ, विहार के लिए शीघ्रता न करें।"

---

१. (क) भिक्षु-जीवन का विवरण देखें—'पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियाँ' प्रकरण में।
   (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग १० के आधार से।
   (ग) जैन परम्परा में धन्ना और शालिभद्र से सम्बन्धित अनेकों काव्य-ग्रन्थ तथा चौपाइयाँ उपलब्ध हैं।

२. विजयेन्द्र सूरि (तीर्थङ्कर महावीर, खण्ड २, पृ० ५०१) ने इस राजा का नाम उद्रायण माना है, पर आगम उसे स्पष्टतः उदायन (सेणं उदायणे राया) ही कहते हैं। (देखें—भगवती सूत्र, श० १३, उ० ६)।

प्रत्युत्तर में महावीर ने कहा—"पर, इस ओर प्रमाद न करना।"

राजा उदायन राजमहलों में लौट आया। मार्ग में वह राज-व्यवस्था का ही चिन्तन कर रहा था। सहसा उसके मानस में विचार उभरा, यदि मैं पुत्र को राज्याधिकारी बनाता हूँ तो वह इसमें आसक्त हो जायेगा और चिरकाल तक संसार में भ्रमण करेगा। मैं इसका निमित्त बन जाऊँगा। कितना अच्छा हो, यदि मैं राज्यभार कुमार को न देकर भानजे केशी को दूँ। कुमार की सुरक्षा स्वतः हो जायेगी। राजा ने अपना चिन्तन सुदृढ़ किया और उसे क्रियान्वित भी कर दिया। समारोह पूर्वक स्वयं अभिनिष्क्रमित हुआ और महावीर के चरणों में प्रव्रजित हो गया।[1]

पन्द्रह सौ तीन तापस

पन्द्रह सौ तीन तापसों का एक समुदाय अष्टापद पर्वत पर आरोहण कर रहा था। उनमें कोडिन्न, दिन्न और सेवाल—ये तीन प्रमुख थे। प्रत्येक के पाँच पाँच सौ का परिवार था। तपस्या से वे सब कृशकाय हो चुके थे। कोडिन्न सपरिवार अष्टापद की पहली मेखला तक, दिन्न दूसरी मेखला तक और सेवाल तीसरी मेखला तक पहुँचा। अष्टापद

---

१. दीक्षा के बाद—दुष्कर तप का अनुष्ठान आरम्भ किया। उपवास से आरम्भ कर मासार्धमास तक तप किया। स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि से अपनी आत्मा को भावित किया। अरस-नीरस आहार व लम्बी-लम्बी तपस्याओं से वे अतिशय कृश हो गये। उनका शारीरिक बल क्षीण हो गया। वे बीमार रहने लगे। रोग ने उग्र रूप धारण कर लिया। ध्यान, स्वाध्याय व कायोत्सर्ग आदि में विघ्न होने लगा। वैद्यों ने उन्हें दही के प्रयोग का परामर्श दिया। गोकुल में उसकी सहज सुलभता थी ; अतः राजर्षि उस ओर ही विहार करने लगे।

राजर्षि उदायन एक बार विहार करते हुए वीतभय आये। राजा केशी को उसके मंत्रियों ने राजर्षि के विरुद्ध यह कह कर भ्रान्त कर दिया कि राजर्षि राज्य छीनने के अभिप्राय से आये हैं। आप सावधान रहें। दुर्बुद्धि केशी उस भ्रान्ति में आ गया। उसने राजर्षि के निवास के लिए शहर में निषेध करवा दिया। राजर्षि ने घूमते हुए शहर के कोने-कोने को छान डाला। कहीं स्थान न मिला। अन्ततः एक कुम्भकार के घर उन्होंने विश्राम लिया। राजा केशी ने उन्हें मरवाने के निमित्त आहार में कई बार विष मिलवाया, किन्तु एक देवी ने उन्हें उससे उबार लिया। एक बार देवी की अनुपस्थिति में विषमिश्रित आहार राजर्षि के पात्र में आ गया। राजर्षि ने अनासक्त भाव से उसे खा लिया। शरीर में विष फैल गया। राजर्षि ने अनशन किया और एक मास की अवधि के बाद केवल-ज्ञान प्राप्त कर समाधि-मरण प्राप्त किया।

राजर्षि की मृत्यु से देवी क्रुद्ध हुई। उसने धूल की वर्षा की और वीतभय नगर को धूलिसात् कर दिया। केवल वह कुम्भकार बचा।

—उत्तराध्ययन सूत्र, भावविजयगणि-विरचित-वृत्ति, अ० १८, पत्र सं० ३८० से ३८८ के आधार से।

पर्वत में एक-एक योजन की समय आठ मेखलाएँ थीं। आगे बढ़ने में वे तापस अपने आपको असमर्थ पा रहे थे।

गणधर गौतम उसी अवधि में उन सब तापसों के देखते-देखते अपने लब्धि-बल से अष्टापद पर्वत के शिखर पर चढ़ गये। उनके इस तपोबल से सभी तपस्वी अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने निश्चय किया, इन्द्रभूति अष्टापद से उतर कर जब यहाँ आयेंगे तो हम सब उनके शिष्य हो जायेंगे।

इन्द्रभूति वापस आये। तापसों ने उनसे कहा—"आप हमारे गुरु हैं और हम आपके शिष्य।" इन्द्रभूति ने वहाँ उन पन्द्रह सौ तीन तापसों को दीक्षित किया और अपने अक्षीण महानस—लब्धि-बल से खीर के एक ही भरे-पूरे पात्र से समग्र तापस-श्रमणों को उन्होंने भोजन कराया। अपने गुरु के इस लब्धि-बल को देखकर सभी तापस कृतकृत्य हो गये।[1]

सभी जैन-परम्पराएँ इस घटना-प्रसंग को सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानती हैं।

राजा दशार्णभद्र

दशार्णभद्र दशार्णपुर का राजा था। उसके पाँच सौ रानियों का परिवार था और बहुत बड़ी सेना थी। भोजन से निवृत्त होकर राजा आमोद-प्रमोद में संलग्न बैठा था। सहसा उद्यानपाल आया और उसने सूचित किया—"देव! अपने उद्यान में आज चरम तीर्थङ्कर भगवान् श्री महावीर पधारे हैं।" राजा दशार्णभद्र उस संवाद से अत्यन्त हर्षित हुआ। उसी समय सिंहासन से नीचे उतरा और उसी दिशा में नत-मस्तक होकर नमस्कार किया। बहुत सारा प्रीति-दान देकर उद्यानपाल को विसर्जित किया। राजा दशार्णभद्र के मन में अध्यवसाय उत्पन्न हुआ, "कल प्रातः मैं भगवान् को ऐसी अपूर्व समृद्धि के साथ वन्दना करूँगा, जिसके साथ आज तक किसी ने भी न की हो।" अपने सैन्याधिकारी को बुलाया और निर्देश दिया—"कल प्रातःकाल के लिए सेना को अभूतपूर्व सुसज्जित करो।" एक कौटुम्बिक पुरुष को निर्देश दिया—"नगर की सफाई कराओ, चन्दन-मिश्रित सुगन्धित जल का छिड़काव कराओ, सर्वत्र पुष्प-वर्षा करो, बंदनवार और रजत कलशों की श्रेणियों से मार्ग को सुसज्जित करो और सारे शहर को ध्वजाओं से छा दो।" एक अन्य कौटुम्बिक पुरुष को निर्देश दिया—"तुम उद्घोषणा करो—प्रातःकाल सभी सामन्त, मंत्रीगण और नागरिक सुसज्जित होकर आयें। सबको सामूहिक रूप से भगवान् को वन्दन करने के लिए जाना है।"

राजा दशार्णभद्र प्रातःकाल उठा। स्नान किया, चन्दन का विलेपन किया, देवदूष्य वस्त्र पहने और आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। सुसज्जित प्रधान हाथी पर बैठा।

---

1. श्री कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी, पृ० १६६ से १७१; कल्पसूत्र बालावबोध, पृ० २६० के आधार से।

राजा के मस्तक पर छत्र था और चारों ओर चामर डुलाए जा रहा थे। राजा के पीछे-पीछे हजारों सामन्त और प्रमुख नागरिक सुसज्जित हाथियो, घोड़ों और रथों पर आरूढ़ होकर चले। सारी सेना भी क्रमशः चली। पाँच सौ रानियाँ भी रथों में आरूढ़ हुई। गगनचुम्बी सहस्रों पताकायें फहरा रही थीं। वाद्यों के घोष से भू-नभ एकाकार हो रहा था। सहस्रों मंगल-पाठक मांगलिक वाक्यों को दुहरा रहे थे। गायको का मधुर संगीत श्रोताओ को आकर्षित कर रहा था।

अद्भुत समृद्धि और पूरे परिवार के साथ राजा दशार्णभद्र भगवान् श्री महावीर के समवशरण में पहुँचा। हाथी से उतरा, छत्र-चामर आदि राज्य-चिन्हों का त्याग किया। तीन प्रदक्षिणा पूर्वक भगवान् को नमस्कार किया, स्तुति की और एक ओर बैठ गया।

शक्रेन्द्र ने राजा दशार्णभद्र के गर्वपूर्ण अभिप्राय को जाना। उसने सोचा—"दशार्णभद्र की भगवान् महावीर के प्रति अनुपम भक्ति है, तथापि उसे गर्व नहीं करना चाहिए।" राजा को प्रतिबोध देने के लिए शक्रेन्द्र उद्यत हुआ। उसने ऐरावण नामक देव को आज्ञा देकर समुज्ज्वल और समुन्नत चौसठ हजार हाथियो की विकुर्वणा करवाई। प्रत्येक हाथी के पाँच-पाँच सौ बारह मुख, प्रत्येक मुख में आठ-आठ दाँत, प्रत्येक दाँत पर आठ-आठ वापिकाएँ प्रत्येक वापिका में आठ-आठ कमल और प्रत्येक कमल पर एक-एक लाख पंखुड़ियाँ थीं। प्रत्येक पंखुड़ी में बत्तीस प्रकार के नाटक हो रहे थे। कमल की मध्यकर्णिका पर चतुर्मुखी प्रासाद थे। सभी प्रासादों में इन्द्र अपनी आठ-आठ अग्र-महिषियो के साथ नाटक देख रहा था। इस प्रकार की उत्कृष्ट समृद्धि के साथ आकाश को आच्छन्न करता हुआ शक्रेन्द्र भी भगवान् महावीर को नमस्कार करने के लिए आया। राजा दशार्णभद्र ने उसे देखा। अन्तर्मुख होकर सहसा उसने सोचा—"मैंने अपनी समृद्धि का व्यर्थ ही घमण्ड किया। इन्द्र की इस सम्पदा के समक्ष तो मेरी यह सम्पदा नगण्य है। छिछले व्यक्ति ही अपने ऐश्वर्य पर गर्व करते हैं। इसका प्रायश्चित्त यही है कि मैं भागवती दीक्षा ग्रहण कर अजर, अमर और अन्यून मोक्ष-सम्पदा को प्राप्त करूँ।" राजा दशार्णभद्र अपने स्थान से उठा। भगवान् के समक्ष आया और निवेदन किया—"भन्ते! मैं विरक्त हूँ। प्रव्रजित कर आप मुझे अनुगृहीत करें।" राजा ने अपने हाथों लुञ्चन किया और दीक्षित हुआ।

शक्रेन्द्र ने राजा को दीक्षित होते देखा। उसे अनुभव हुआ कि इस प्रतिस्पर्धा में वह भी पराजित हो गया है। वह मुनि दशार्णभद्र के पास आया और उनके इस प्रयत्न की मुक्त कण्ठ से स्तुति करने लगा। इन्द्र अपने स्वर्ग में गया और मुनि दशार्णभद्र भगवान् महावीर के भिक्षु-संघ में साधना-लीन हो गया।[1]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, भावविजयगणि-विरचित-वृत्ति, अ० १८, पत्र सं० ३७५ से ३७६ के आधार से।

महावीर के संघ में इस प्रकार और भी अनेकानेक लोग प्रव्रजित हुए। उनके परिचय में बताया गया है—"वे उग्रवंशी, भोगवंशी, राजन्यवंशी, ज्ञात या नागवंशी, कुरुवंशी व क्षत्रियवंशी थे। बहुत सारे भट, योद्धा, सेनापति, धर्म-नीति-शिक्षक, श्रेष्ठी, इभ्य भी थे। बहुत सारे मातृ-पितृ-पक्ष से कुलीन थे। बहुत सारे रूप, विनय, विज्ञान, आकृति, लावण्य व विक्रम में प्रधान थे। सौभाग्य और कान्ति में अद्वितीय थे। वे विपुल धन-धान्य के संग्रह और परिवार से सम्पन्न थे। उनके यहाँ राजा द्वारा उपहृत पंचेन्द्रिय सुखों का अतिरेक था ; अतः वे सुख में लीन रह सकते थे, किन्तु वे उन्हें किंपाक-फल के समान और जीवन को जल-बुद्-बुद व कुशाग्र-स्थित जल-बिन्दु के समान विनश्वर समझते थे। कपड़े पर लगी धूल को जिस प्रकार झटकाया जाता है, उसी प्रकार वे ऐश्वर्य आदि अध्रुव पदार्थों को छोड़ने में तत्पर रहते थे। उन्होंने विपुल रजत, स्वर्ण, धन, धान्य, सेना, वाहन, कोश, कोष्ठागार, राज्य, राष्ट्र, पुर, अन्तःपुर, धन, कनक, रत्न, मणि, मौक्तिक, शंख, शिला-प्रवाल, पद्म राग आदि को छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की थी।"[1]

बौद्ध उपसम्पदाएँ[2]

पंचवर्गीय भिक्षु

पंचवर्गीय[3] भिक्षु वाराणसी के ऋषिपतन (सारनाथ) में रहते थे। बोधि-प्राप्ति के बाद चार आर्य-सत्यों का ज्ञान सर्व प्रथम किसे दिया जाये, यह चिन्तन करते हुए बुद्ध ऋषिपतन पहुँचे। पंचवर्गीय भिक्षुओं ने उन्हें दूर से आते हुए देखा। सभी ने यह दृढ़ निश्चय किया—"गौतम बुद्ध अब संग्रहशील व साधना-भ्रष्ट हो गया है ; अतः उसका आदर-सत्कार न किया

१. औपपातिक सूत्र, सू० १४।

२. बौद्ध वाङ्मय में श्रामणेर पर्याय को प्रव्रज्या और भिक्षु-पर्याय को उपसम्पदा कहते हैं।

३. राम, ध्वज, लक्ष्मण, मंत्री, कौण्डिन्य, भोज, सुयाम और सुदत्त—ये षडंग वेद के ज्ञाता ब्राह्मण थे। इन विद्वानों में से सात ने गौतम बुद्ध का भविष्य बताया था कि ये गृहस्थाश्रम में रहेंगे तो चक्रवर्ती होंगे और संन्यासी बनेंगे तो सम्यक् सम्बुद्ध होंगे। कौण्डिन्य तरुण था। उसने एक ही भविष्य बताया था कि बोधिसत्त्व निःसन्देह सम्यक् सम्बुद्ध होंगे। द्विविध भविष्य-वक्ता ब्राह्मणों ने अपने-अपने पुत्रों से कहा—"सिद्धार्थ राजकुमार बुद्ध हो जाये तो तुम उसके संघ में प्रविष्ट होना।" बोधिसत्त्व के गृह-त्याग के अवसर पर अकेला कौण्डिन्य जीवित था। उसने सातों विद्वानों के पुत्रों को सिद्धार्थ राजकुमार के परिव्राजक होने की सूचना दी और कहा—"वह निश्चित ही बुद्ध होगा ; अतः हमें भी परिव्राजक हो जाना चाहिए।" उनमें से चार युवकों ने कौण्डिन्य का कथन स्वीकार किया—(१) वाप्प (वप्प), (२) भद्रिक, (३) महानाम और (४) अश्वजित्। आगे चल कर ये पाँचों पंचवर्गीय भिक्षु कहलाये।

जाये, अभिवादन न किया जाये, सत्कारार्थ खड़े भी नहीं होना चाहिए और उसका पात्र, चीवर आदि भी नहीं लेना चाहिए। केवल आसन रख देना चाहिए। यदि इच्छा होगी तो स्वयं ही बैठ जायेगा।" किन्तु ज्यों-ज्यों बुद्ध समीप आते गये, भिक्षुक अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रह सके। उनमें से किसी ने समीप जाकर उनका पात्र-चीवर लिया, किसी ने आसन बिछाया, किसी ने पानी, पादपीठ और पैर रगड़ने की लकड़ी लाकर पास में रखी। गौतम बुद्ध बिछाये हुए आसन पर बैठे। पैर धोये। भिक्षुओं ने उन्हें 'आवुस' कह कर पुकारा तो बुद्ध ने उन्हें कहा—"भिक्षुओ! तथागत को नामग्रह तथा 'आवुस' कह कर नहीं पुकारा जाता। भिक्षुओ! तथागत अर्हत् सम्यक्-सम्बुद्ध है। सुनो, मैंने जिस अमृत को पाया है, उसका तुम्हें उपदेश करता हूँ। इस विधि से आचरण करने पर तुम्हे इसी जन्म में अतिशीघ्र अनुपम ब्रह्मचर्य-फल का उपलाभ होगा।"

गौतम बुद्ध के कथन का प्रतिवाद करते हुए पंचवर्गीय भिक्षुओं ने कहा—"आवुस! गौतम! उस साधना और दुष्कर तपस्या में भी तुम आर्यों के ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठा की विशेषता व दिव्यशक्ति को नहीं पा सके तो संग्रहशील और तपो-भ्रष्ट होकर खाना-पीना आरम्भ कर देने पर तो सद्धर्म का बोध कैसे पा सकोगे?"

तथागत ने उनके कथन का प्रतिवाद किया और अपने अभिमत को दुहराया। पंच-वर्गीय भिक्षुओं ने भी पुनः उसका प्रतिवाद किया। दो-तीन बार दोनों ही ओर से प्रतिवाद होते रहे। अन्ततः तथागत बोले—"भिक्षुओ! इससे पूर्व भी क्या मैंने कभी इस प्रकार कहा है?" पंचवर्गीय भिक्षु चिन्तन-लीन हो गये। उन्होंने कुछ क्षण बाद कहा—"नहीं, पहले तो कभी भी ऐसा नहीं कहा।" तथागत ने कहा—"तो फिर मेरे कथन की ओर ध्यान क्यों नहीं देते? मुझे अमृत का मार्ग मिल गया है। इस मार्ग को अपनाने से शीघ्र ही विमुक्ति मिलेगी।"

पंचवर्गीय भिक्षुओं को समझाने में तथागत सफल हुए। भिक्षु दत्तावधान होकर उपदेश सुनने में लीन हो गये। उस समय भगवान् ने उन्हें सम्बोधन करते हुए सर्व प्रथम **धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र** कहा। उस समय उन्होंने कहा—"भिक्षुओ! अति इन्द्रिय-भोग और अति देह-दण्डन; इन दो अन्तों (अतियों) का प्रव्रजितों को सेवन नहीं करना चाहिए। यही मध्यम मार्ग (मध्यम प्रतिपदा) है।"......तब दृष्ट धर्म, विदित धर्म और मध्यम प्रतिपदा विशारद होकर कौण्डिन्य ने भगवान् से कहा—"भन्ते! भगवान् के पास मुझे प्रव्रज्या मिले, उप-सम्पदा मिले।" भगवान् ने कहा—"भिक्षु! आओ। (यह) धर्म सु-आख्यात है। अच्छी तरह दुःख के क्षय के लिए ब्रह्मचर्य (श्रमण धर्म) का पालन करो।" यही उस आयुष्मान् की उपसम्पदा हुई। कालक्रम से अन्य चारों की भी उपसम्पदा हुई। तत्पश्चात् भगवान् ने

पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश दिया, जिसको सुनकर भिक्षुओं का चित्त आस्रवों (मलों) से विलग हो मुक्त हो गया।[1] उस समय लोक में छः अर्हत् थे।

यश और अन्य चौपन कुमार

यश वाराणसी के श्रेष्ठी[2] का सुकुमार पुत्र था। उसके निवास के लिए हेमन्त, ग्रीष्म व वर्षावास के लिए पृथक्-पृथक् प्रासाद थे। वर्षाऋतु में वह चारों ही महीने वर्षाकालिक प्रासाद में वास करता था। वह कभी नीचे नहीं उतरता था। प्रतिदिन स्त्रियों द्वारा वादित वाद्यों की मधुर ध्वनि के बीच आनन्द मग्न रहता था। एक दिन यशकुल पुत्र अपने आवास में सो रहा था। सहसा उसकी आँखें खुलीं। दीपक के प्रकाश में उसने अपने परिजन को देखा, किसी के बगल में वीणा पड़ी है, किसी के गले में मृदङ्ग है, किसी के केश बिखरे पड़े हैं, किसी के मुँह से लार टपक रही है तो कोई बर्रा रहा है। श्मशान-सदृश दृश्य देखकर उसके मन में घृणा उत्पन्न हुई। हृदय वैराग्य से भर गया। उसके मुँह से सहसा उदान निकल पड़ा—"हा ! संतप्त !! हा ! पीड़ित !!"

सुनहले जूते पहन यश कुल पुत्र घर से बाहर आया। नगर-द्वार की सीमा को लाँघता हुआ वह ऋषिपतन के मृगदाव में पहुँचा। उस समय बुद्ध खुले स्थान में टहल रहे थे। उन्होंने दूर से ही आते हुए यश को देखा तो बिछे हुए आसन पर बैठ गये। यश ने उनके समीप आकर अपने उसी उदान को दुहराया—"हा ! संतप्त !! हा ! पीड़ित !!" बुद्ध ने कहा—"यहाँ संतप्ति और पीड़ा नहीं है। आ, बैठ, तुझे धर्म बताता हूँ।" यश उस वाणी से बहुत आह्लादित हुआ। उसने सुनहले जूते उतारे और भगवान् के पास जाकर उन्हें अभिवादन कर, समीप बैठ गया। भगवान् ने उसे काम-वासनाओं के दुष्परिणाम, निष्कर्मता आदि का माहात्म्य बताया। जब उन्होंने उसे भव्यचित्त, मृदुचित्त, अनाच्छादितचित्त और प्रसन्नचित्त देखा तो दुःख, समुदय—दुःख का कारण, निरोध—दुःख का नाश और मार्ग—दुःख-नाश का उपाय बतलाया। कालिमा-रहित शुद्ध वस्त्र जिस प्रकार अच्छी तरह रंग पकड़ता है, वैसे ही यश कुलपुत्र को उसी आसन पर निर्मल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

यश कुलपुत्र की माता उसके प्रासाद में आई। अपने कुमार को जब वहाँ नहीं देखा तो अत्यन्त खिन्न होकर श्रेष्ठी के पास आई। उससे सारा वृत्त्न्त कहा। गृहपति ने चारों ओर अपने दूत दौड़ाये और स्वयं भी उसके अन्वेषण के लिए घर से चला। सहसा ऋषिपतन के मृगदाव की ओर निकल पड़ा। सुनहले जूतों के चिह्न देखकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा। बुद्ध ने दूर से ही श्रेष्ठी को अपनी ओर आते देखा। उनके मन में विचार हुआ, क्यों

---

१. विनय पिटक, महावग्ग, महाखन्धक, १-१-६ व ७ के आधार से।

२. श्रेष्ठी नगर का अवैतनिक पदाधिकारी होता था, जो कि धनिक व्यापारियों में से बनाया जाता था।

न मैं अपने योग-बल से यश को गृहपति के लिए अदृश्य कर दूँ। उन्होंने वैसा ही किया। श्रेष्ठी ने बुद्ध के पास जाकर पूछा—"भन्ते ! क्या भगवान् ने यश कुलपुत्र को कहीं देखा है ?"

बुद्ध ने कहा—"गृहपति ! यहाँ बैठ। यहाँ तू अपने पुत्र को देख सकेगा।" गृहपति बहुत हर्षित हुआ और वह अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। बुद्ध ने उसे उपदेश दिया। श्रेष्ठी गृहपति को भी उसी आसन पर निर्मल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ। धर्म में स्वतंत्र हो वह बोला—"आश्चर्य ! भन्ते !! आश्चर्य ! भन्ते !! जिस प्रकार औंधे को सीधा कर दे, आवृत्त को अनावृत्त कर दे, भूले को मार्ग दिखा दे, अन्धकार में तैल-प्रदीप रख दे, जिससे कि सनेत्र रूप देख सकें, उसी प्रकार भगवान् ने भी अनेक पर्याय से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघ की भी। आज से मुझे सांजलि शरणागत उपासक ग्रहण करें।" वह गृहपति ही संसार में बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण करने वाला प्रथम उपासक बना।

पिता को दिये गये धर्मोपदेश को सुनते हुए व उस पर गम्भीर चिन्तन करते हुए यश कुलपुत्र का चित्त अलिप्त व आस्रवों—दोषों से मुक्त हो गया। बुद्ध ने इस स्थिति को पहचाना। उनको दृढ़ विश्वास हो गया, किसी भी प्रयत्न से यश पूर्व अवस्था की तरह कामोपभोग करने के योग्य नहीं है। उन्होंने अपने योग-बल के प्रभाव का प्रत्याहरण कर लिया। यश अपने पिता को वहाँ बैठा दिखाई देने लगा। गृहपति ने उससे कहा—"तात ! तेरे वियोग में तेरी माँ कलप रही है। वह शोकार्त्त हो रुदन कर रही है। उसे तू जीवन-दान दे।"

यश ने बुद्ध की ओर निहारा। बुद्ध ने तत्काल गृहपति को कहा—"गृहपति ! जिस प्रकार तू ने अपूर्ण ज्ञान-दर्शन से धर्म को देखा है, क्या वैसे ही यश ने भी देखा है ? दर्शन, ज्ञान और प्रत्यवेक्षण से उसका चित्त अलिप्त होकर आस्रवों से मुक्त हो गया है। क्या यह पहले की तरह अब कामोपभोग में आसक्त होगा ?" गृहपति का सिर श्रद्धा से झुक गया और सहज ही शब्द निकले—"भन्ते ! ऐसा तो नहीं होगा।"

बुद्ध ने फिर कहा—"यश कुलपुत्र का मन अब संसार से उच्चट गया है, यह संसार के योग्य नहीं रहा है।"

गृहपति ने निवेदन किया—"भन्ते ! यह यश कुलपुत्र के लाभ व सुलाभ के लिए हुआ है। आप इसे अनुगामी भिक्षु बनायें और मेरा आज का भोजन स्वीकार करें।"

बुद्ध से मौन स्वीकृति पाकर गृहपति वहाँ से उठा और अभिवादन पूर्वक प्रदक्षिणा देकर चला गया। यश कुलपुत्र ने उसके अनन्तर बुद्ध से प्रव्रज्या और उपसम्पदा की याचना की। बुद्ध ने कहा—"भिक्षु ! आओ, धर्म सु-आख्यात है। अच्छी तरह दुःख-क्षय के लिए

ब्रह्मचर्य का पालन करो।"' और यह उस आयुष्मान् की उपसम्पदा हुई। उस समय लोक में सात अर्हत् थे।

वाराणसी के श्रेष्ठी-अनुश्रेष्ठियों के कुल के कुमार विमल, सुबाहु, पूर्णजित् और गवांपति—आयुष्मान् यश के चार गृही-मित्र थे। यश के प्रव्रजित हो जाने का उन्होंने संवाद सुना तो उनके भी चिन्तन उभरा, जिस धर्म सम्प्रदाय में यश प्रव्रजित हुआ है, वह साधारण नहीं होगा। अवश्य ही कोई विशेष होगा। वे अपने आवासों से चले और भिक्षु यश के पास पहुँचे। अभिवादन कर एक ओर खड़े हो गये। भिक्षु यश उन्हें बुद्ध के पास ले गया। अभिवादन कर वे एक ओर शान्त चित्त बैठ गये। यश ने बुद्ध से उनका परिचय कराया और उपदेश देने की प्रार्थना की। बुद्ध ने उन्हें दिव्य उपदेश दिया। चारों ही मित्र धर्म में विशारद हुए और उन्होंने भी प्रव्रज्या व उपसम्पदा की याचना की। बुद्ध ने तत्काल उनकी प्रार्थना स्वीकार की। तत्काल उपदेश सुनते ही उनके चित्त आस्रवों से मुक्त हो गये। उस समय लोक में ग्यारह अर्हत् थे।

ग्रामवासी पचास गृही-मित्रों ने यश के प्रव्रजित होने का संवाद सुना तो वे भी भिक्षु-संघ की प्रभावना से आकृष्ट होकर बुद्ध के पास आये और उपदेश सुनकर प्रव्रजित हो गये तथा उनके चित्त आस्रव-रहित हो गये। उस समय लोक में इकसठ अर्हत् थे।[1]

वाराणसी में रहते-रहते बुद्ध ने उपर्युक्त साठ उपसम्पदाएँ कीं। इन्हीं साठ भिक्षुओं में उन्होने **"चरत भिक्खवे चारिकं, चरत भिक्खवे चारिकं"** का सुविख्यात सन्देश दिया। यहीं से उन्होंने समस्त भिक्षुओं को स्वयं उपसम्पदा देने की अनुज्ञा दी। लगता है, भिक्षु-संघ की वृद्धि के लिए चारिका-सन्देश और उपसम्पदा-निर्देश वरदान रूप हो गये।

भद्रवर्गीय

बुद्ध ने साठ भिक्षुओं को चारिका-सन्देश के प्रसारार्थ भिन्न-भिन्न दिशाओं में भेजा। वाराणसी से प्रस्थान कर स्वयं उरुवेला आये। मार्ग से हटकर एक उद्यान में वृक्ष के नीचे विश्राम लिया। भद्रवर्गीय तीस मित्र अपनी पत्नियों के साथ उसी उद्यान में क्रीड़ा कर रहे थे। एक मित्र के पत्नी नहीं थी ; अतः उसके लिए एक वेश्या लाई गई। तीस युवक और उनतीस युवतियाँ आमोद-प्रमोद में इतने मग्न हो गये कि वे अपनी सुध-बुध ही भूल गये। वेश्या ने उस अवसर का लाभ उठाया और वह आभूषण आदि बहुमूल्य वस्तुएँ उठाकर चलती बनी। सुध में आने पर जब उन्हें ज्ञात हुआ तो अपने मित्र के सहयोग में सभी मित्रों ने उद्यान के चप्पे-चप्पे को छान डाला। वे घूमते हुए उस वृक्ष के नीचे भी पहुँच गये, जहाँ कि बुद्ध बैठे थे। सभी ने वह घटना बताई और वेश्या के उधर आगमन के बारे में उनसे प्रश्न किया।

१. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक, १-१-६ से १० के आधार से।

बुद्ध ने तत्काल प्रतिप्रश्न किया—"कुमारो ! उस स्त्री की खोज को आवश्यक मानते हो या अपनी (आत्मा की) खोज को ?"

सभी ने एक स्वर से उत्तर दिया—"हमारे लिए आत्मा की खोज ही सबसे उत्तम है ।"

बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया । सभी भद्रवर्गीय मित्र धर्म में विशारद हो गये और उन्होंने बुद्ध से उपसम्पदा प्राप्त की ।[1]

एक हजार परिव्राजक

भगवान् बुद्ध उरुवेला पहुँचे । वहाँ उरुवेल काश्यप, नंदी काश्यप और गया काश्यप ; तीन जटिल (जटाधारी) बंधु अग्निहोत्र पूर्वक तपश्चर्या कर रहे थे । उनके क्रमशः पाँच सौ, तीन सौ और दो सौ शिष्यों का परिवार था । बुद्ध उरुवेल काश्यप जटिल के आश्रम में पहुँचे । अग्निशाला में वास किया । प्रथम रात्रि में उन्होंने नाग का तेज खींचकर उसकी चण्डता समाप्त कर दी ।[2]

उरुवेल काश्यप उस चामत्कारिक घटना से बहुत प्रभावित हुआ । महादिव्य शक्तिधर व महाअनुभवी बुद्ध का उसने लोहा माना । उन्हें अपने आश्रम में विहार के लिए आग्रह और निवेदन किया—"मैं प्रतिदिन भोजन से तुम्हारी सेवा करूँगा ।"

बुद्ध वहाँ रहने लगे । एक बार उरुवेल काश्यप के समक्ष एक महायज्ञ का प्रसंग उपस्थित हुआ । उस यज्ञ में अंगमगध निवासी बहुसंख्यक जनता खाद्य-भोज्य सामग्री लेकर उपस्थित होने वाली थी । उरुवेल काश्यप के मन में सहसा विचार हुआ, यज्ञ-प्रसंग पर बहुत सारी जनता एकत्रित होगी । यदि इस समय महाश्रमण ने जन-समुदाय को चमत्कार दिखलाया तो उसका लाभ व सत्कार बढ़ेगा और मेरा घटेगा । कितना सुन्दर होता, यदि महाश्रमण इस अवसर पर यहाँ न होता ।

उरुवेल काश्यप का मानसिक अभिप्राय बुद्ध ने जान लिया । वे उत्तरकुरु पहुँच गये । वहाँ से भिक्षान्न ले अनवतप्त सरोवर पर भोजन किया और दिन में वहीं विहार किया । रात समाप्त हुई । उरुवेल काश्यप बुद्ध के पास पहुँचा और बोला—"महाश्रमण ! भोजन का समय है । भात तैयार हो गये हैं । महाश्रमण ! कल क्यों नहीं आये ? हम लोग आपको याद करते रहे । आपके भोजन का भाग रखा पड़ा है ।"

बुद्ध ने उरुवेल काश्यप की कलई खोलते हुए उसके प्रच्छन्न मानसिक अभिप्राय को प्रकट किया और कहा—"इसीलिए मैं कल यहाँ नहीं रहा ।" उरुवेल काश्यप के मन में विचार आया, महाश्रमण दिव्य शक्तिधर है । अपने चित्त से दूसरे के चित्त को सहज ही जान लेता है, फिर भी यह मेरे जैसा अर्हत् नहीं है ।

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक, १-१-१३ के आधार से ।

२. विस्तार के लिए देखें, 'परिषह और तितिक्षा' प्रकरण के अन्तर्गत 'चण्डनाग-विजय' ।

उरुवेल काश्यप द्वारा प्रदत्त भोजन बुद्ध ने ग्रहण किया और उसी वन-खण्ड में विहार करने लगे। एक समय उन्हें कुछ पुराने चीवर प्राप्त हुए। उनके मन में आया, इन्हें कहाँ धोना चाहिए? शक्रेन्द्र ने उनके अभिप्राय को जान लिया और अपने हाथ से पुष्करिणी खोद डाली। निवेदन किया—"भन्ते! आप ये चीवर यहाँ धोएँ।" तत्काल दूसरा विचार आया, इन्हें कहाँ पछाड़ूँ। शक्रेन्द्र ने तत्काल वहाँ एक बड़ी भारी शिला रख दी। जब उनके मन में यह अभिप्राय हुआ, किसका आलम्बन लेकर नीचे उतरूँ। शक्रेन्द्र ने तत्काल ककुध वृक्ष की शाखा लटका दी। वस्त्रों को सुखाने के लिए कहाँ फैलाऊँ, जब उनके मन में यह अभिप्राय हुआ तो शक्रेन्द्र ने तत्काल एक बड़ी भारी शिला डाल दी। रात बीती। उरुवेल काश्यप बुद्ध के पास गया और भोजन के लिए निमन्त्रण दिया। अभूतपूर्व पुष्करिणी, शिला, ककुध-शाखा आदि को देखकर उनके बारे में भी प्रश्न किया। बुद्ध ने सारी घटना सुनाई। उरुवेल काश्यप जटिल के मन में आया, महाश्रमण दिव्य शक्तिधर है, फिर भी मेरे जैसा अर्हत् नहीं है। बुद्ध ने आहार ग्रहण किया और वहीं विहार करने लगे।

एक बार अकाल मेघ बरसा। बाढ़-सी आ गई। बुद्ध जिस प्रदेश में विहार कर रहे थे, वह पानी में डूब गया। बुद्ध के मन में आया, चारों ओर से पानी को हटाकर क्यों न मैं स्थल प्रदेश में चंक्रमण करूँ। उन्होंने वैसा ही किया। सहसा उरुवेल काश्यप के मन में आया, महाश्रमण जल में डूब गए होंगे। नाव व बहुत सारे जटिलों को साथ लेकर बुद्ध के पास आया। उन्होंने बुद्ध को स्थल प्रदेश में चंक्रमण करते देखा। उरुवेल काश्यप ने साश्चर्य पूछा—"महाश्रमण! क्या तुम ही हो?" बुद्ध ने कहा—"हाँ, मैं ही हूँ।" वे आकाश में उड़े और नाव में जाकर खड़े हो गये। उरुवेल काश्यप के मन में फिर विचार आया, महाश्रमण अवश्य ही दिव्य शक्तिधर है, किन्तु मेरे जैसा अर्हत् नहीं है।

इस प्रकार बुद्ध ने पन्द्रह प्रातिहार्य दिखलाये, पर उरुवेल वैसे ही मन में सोचता रहा। अन्त में उसकी इस धारणा का निराकरण करने के निमित्त बुद्ध ने कहा—"काश्यप! तू न तो अर्हत् है और न अर्हत् के मार्ग पर आरूढ़। उस सूझ से भी तू सर्वथा रहित है, जिससे कि अर्हत् हो सके या अर्हत् के मार्ग पर आरूढ़ हो सके।" बुद्ध के इस कथन से उरुवेल का सिर श्रद्धा से झुक गया। उनके चरणों में अपना मस्तक रख कर वह बोला—"भन्ते! मुझे आप से प्रव्रज्या मिले, उपसम्पदा मिले।"

बुद्ध ने अत्यन्त कोमल शब्दों में कहा—"काश्यप! तू पाँच सौ जटिलों का नेता है। उनकी ओर भी देख।"

उरुवेल काश्यप ने बुद्ध के इस संकेत को शिरोधार्य किया। अपने पाँच सौ जटिलों के पास गया। महाश्रमण के पास जाकर ब्रह्मचर्य ग्रहण करने के अपने अभिप्राय से उन्हें सूचित किया। उनको निर्देश किया—"तुम सब स्वतंत्र हो। जैसा चाहो, वैसा करो।"

कुछ चिन्तन के अनन्तर सभी ने एक साथ कहा—"हम महाश्रमण से प्रभावित हैं। यदि आप उनके पास ब्रह्मचर्य-चरण करेंगे तो हम भी आपके अनुगत होंगे।"

सभी जटिल एक साथ उठे। उन्होंने अपनी केश-सामग्री, जटा-सामग्री, झोली, घी की सामग्री, अग्निहोत्र की सामग्री आदि अपने सामान को जल में प्रवाहित किया और बुद्ध के पास उपस्थित हुए। नतमस्तक होकर प्रव्रज्या और उपसम्पदा की याचना की। बुद्ध ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया और उपसम्पदा प्रदान की।

नंदी काश्यप ने नदी में प्रवाहित सामग्री को देखा तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसे अपने भाई के अनिष्ट की आशंका हुई। अपने सभी जटिलों को साथ लेकर उरुवेल काश्यप के पास आया। उसे श्रमण-पर्याय में देखकर वह चकित हो गया। सहसा उसके मुँह से प्रश्न निकला—"काश्यप! क्या यह अच्छा है?" उरुवेल काश्यप ने उत्तर दिया—"हाँ, आवुस! यह अच्छा है।" नंदी काश्यप ने भी अपनी सारी सामग्री जल में विसर्जित कर दी और उसने अपने तीन सौ जटिलों के परिवार से बुद्ध के पास उपसम्पदा स्वीकार की।

गया काश्यप ने भी जल में प्रवाहित सामग्री को देखा। वह भी अपने बन्धुओं के पास आया और उनसे उस बारे में जिज्ञासा की। समाधान पाकर उसने अपने दो सौ जटिलों के साथ बुद्ध से उपसम्पदा स्वीकार की। उरुवेला से प्रस्थान कर बुद्ध एक सहस्र जटिल भिक्षुओं के महासंघ के साथ गया आये।[1]

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन

राजगृह में अढाई सौ परिव्राजकों के परिवार से संजय परिव्राजक रहता था। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन उसके प्रमुख शिष्य थे। वे संजय परिव्राजक के पास ब्रह्मचर्य-चरण करते थे। दोनों ने एक साथ निश्चय किया, जिसे सर्व प्रथम अमृत प्राप्त हो, वह दूसरे को तत्काल सूचित करे।

भिक्षु अश्वजित् पूर्वाह्न में व्यवस्थित हो, पात्र व चीवर लेकर, अति सुन्दर आलोकन-विलोकन के साथ, संकोचन-विकोचन के साथ, अधोदृष्टि तथा संयमित गति से भिक्षा के लिए राजगृह में प्रविष्ट हुए। सारिपुत्र ने उन्हें देखा। वह उनकी शान्त और गम्भीर मुखाकृति से बहुत प्रभावित हुआ। उसके मन में आया, लोक में जो अर्हत् या अर्हत्-मार्ग पर आरूढ़ हैं, उनमें से यह भिक्षु भी एक हो सकता है। क्यों न मैं इसे पूछूँ कि आप किस गुरु के पास प्रव्रजित हुए हैं, शास्ता कौन है और किस धर्म को मानते हैं। दूसरे ही क्षण सारिपुत्र के मन में अध्यवसाय उत्पन्न हुआ, यह भिक्षुक इस समय भिक्षा के लिए घूम रहा है; अतः प्रश्न पूछने का उचित अवसर नहीं है। क्यों न मैं इसके पीछे-पीछे चलूँ और इसके आश्रम में पहुँच कर ही मैं अपना समाधान करूँ।

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक, १-१-१४ व १५ के आधार से।

आयुष्मान् अश्वजित् राजगृह से भिक्षा लेकर आश्रम लौट आये। सारिपुत्र भी उनके पीछे-पीछे ही पहुँच गया। अश्वजित् से कुशल प्रश्न किया और एक ओर खड़ा हो गया। उसने अश्वजित् की प्रशंसा करते हुए कहा—"आवुस! तुम्हारी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं। तुम्हारी छवि परिशुद्ध तथा उज्ज्वल है। तुम किसको गुरु करके प्रव्रजित हुए हो, तुम्हारा शास्ता कौन है और तुम किसका धर्म मानते हो?"

अश्वजित् ने कहा—"शाक्य-कुल में उत्पन्न शाक्यपुत्र महाश्रमण हैं। उन्हें ही गुरु मान कर मैं प्रव्रजित हुआ हूँ। वे ही भगवान् मेरे शास्ता हैं और उनका धर्म ही मैं मानता हूँ।"

सारिपुत्र ने जिज्ञासा करते हुए कहा—"तुम्हारे शास्ता किस सिद्धान्त को मानने वाले हैं।"

अश्वजित् ने विनम्रभाव से कहा—"मैं इस धर्म में सद्यः ही प्रविष्ट हुआ हूँ। नव प्रव्रजित होने से मैं तुम्हें विस्तार से नहीं बतला सकता, किन्तु संक्षेप में अवश्य बतला सकता हूँ।"

सारिपुत्र ने उत्सुकता व्यक्त करते हुए कहा—"आवुस! अल्प या अधिक; कुछ भी मुझे बतलाओ। संक्षेप में ही बतलाओ, अधिक विस्तार से मुझे प्रयोजन नहीं है।"

आयुष्मान् अश्वजित् ने तब धर्म-पर्याय बतलाते हुए दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध एवं दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा का संक्षेप में प्रतिपादन किया और कहा—"महाश्रमण का यह वाद—सिद्धान्त है।" श्रवणमात्र से ही सारिपुत्र को विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ। विहित प्रतिज्ञा के अनुसार मौद्गल्यायन को सूचना देने के लिए आया। मौद्गल्यायन ने उसे दूर से ही आते हुए देखा। वह उसकी शान्त, संयमित व गम्भीर गति से बहुत प्रभावित हुआ। सहसा उसके मुँह से निकला—"क्या तुझे अमृत की प्राप्ति हो गई है?"

सारिपुत्र ने स्वीकृति सूचक उत्तर दिया। मौद्गल्यायन का अगला प्रश्न था, तू ने वह कहाँ से पाया? सारिपुत्र ने सारा वृत्त बतलाया। मौद्गल्यायन को विशेष प्रसन्नता हुई और उसे भी धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ। दोनों ने तत्काल निश्चय किया, हम भगवान् के पास चलें। वे ही हमारे शास्ता हैं। हमारे आश्रम में रहने वाले ढाई सौ परिव्राजकों को भी सूचित कर दें। वे भी जैसा चाहें, कर सकें।

ढाई सौ परिव्राजकों ने सारिपुत्र और मौद्गल्यायन के निश्चय का स्वागत किया और उन्होंने भी शास्ता का शरण ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की।

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने संजय परिव्राजक को अपने सामूहिक निश्चय से सूचित किया। उन्हें यह उचित प्रतीत नहीं हुआ। उन्होंने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा—"आवुसो! तुम वहाँ मत जाओ। हम तीनों मिलकर इस परिव्राजक संघ का नेतृत्व करेंगे।" सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने संजय के कथन का प्रतिवाद किया और अपने अभिमत को

दो-तीन बार दुहराया। संजय परिव्राजक ने अपनी बात को उसी प्रकार दुहराया। उसके मुँह से वहीं गर्म खून निकलने लगा। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने संजय का साथ छोड़ दिया और अपने पूरे परिवार के साथ वेणुवन पहुँच गये। बुद्ध ने उन्हें दूर से ही आते हुए देखा तो भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"कोलित (मौद्गल्यायन) उपतिष्य (सारिपुत्र) ये दोनों मित्र प्रधान शिष्य-युगल होंगे; भद्र-युगल होंगे।"

दोनों ही परिव्राजकों ने अपने शिष्य-परिवार के साथ अभिवादन किया और उपसम्पदा ग्रहण कर विहरण करने लगे।[1]

महाकात्यायन

महाकात्यायन का जन्म उज्जैन में पुरोहित के घर हुआ। बड़े होकर उन्होंने तीनों वेद पढ़े। पिता की मृत्यु के बाद उन्हें पुरोहित का पद प्राप्त हुआ। गोत्र के कारण वे कात्यायन की अभिधा से प्रसिद्ध हुए। राजा चण्डप्रद्योत ने एक बार अपने अमात्यों को एकत्रित कर आदेश दिया—लोक में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। कोई वहाँ जाकर उन्हें यहाँ अवश्य लाये।

अमात्यों ने निवेदन किया—"देव! आचार्य कात्यायन ही इस कार्य के लिए समर्थ है। आप उन्हें ही यह दायित्व सौंपें।"

राजा ने उन्हें बुलाया और अपनी इच्छा व्यक्त की। आचार्य कात्यायन ने एक शर्त प्रस्तुत करते हुए कहा—"यदि मुझे प्रव्रज्या की अनुज्ञा मिले तो मैं जाऊँगा।"

राजा चण्डप्रद्योत ने उसे स्वीकार करते हुए कहा—"जैसे भी हो, राज्य में तथागत का आगमन आवश्यक है।"

आचार्य कात्यायन ने यह दायित्व अपने पर ले लिया। प्रस्थान की तैयारी करते हुए उन्होंने सोचा, इस निमंत्रण के लिए जनसमूह की आवश्यकता नहीं है। अतः उन्होंने अपने साथ सात व्यक्तियों को लिया। बुद्ध के पास पहुँचे। बुद्ध ने उन्हें धर्मोपदेश दिया। सभी व्यक्ति प्रतिसंवित् हो अर्हत् पद को प्राप्त हुए। शास्ता ने 'भिक्षुओ! आओ' कह हाथ फैलाया। उस समय वे सभी मुण्डित मस्तक, ऋद्धि-प्राप्त, पात्र-चीवर धारण किये, सौ वर्ष के स्थविर के सदृश हो गये। प्रव्रजित होने के बाद स्थविर कात्यायन मौन होकर नहीं बैठे। उन्होंने शास्ता को उज्जैन चलने के लिए निमंत्रण दिया। शास्ता ने उनकी बात को ध्यान पूर्वक सुना और कहा—"बुद्ध एक कारण से न जाने योग्य स्थान में नहीं जाते; अतः भिक्षुक! तू ही जा। तेरे जाने पर भी राजा प्रसन्न होगा।"

स्थविर कात्यायन ने सोचा, बुद्धों की दो बातें नहीं हुआ करतीं। उन्होंने तथागत

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक, १-१-१८ के आधार से।

को वन्दना की और अपने सातों साथियों को साथ ले उज्जैन की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में तेलप्पनाली नामक कस्बे में भिक्षाचार करने गये। वहाँ दो लड़कियाँ रहती थीं। एक लड़की दरिद्र घर में पैदा हुई थी। माता-पिता की मृत्यु के बाद एक दाई ने उसे पाला-पोषा। उसका लावण्य निरुपम था और केश बहुत प्रलम्ब थे। दूसरी लड़की उसी कस्बे में ऐश्वर्य-सम्पन्न एक सेठ के घर पैदा हुई थी, किन्तु केश-हीना थी। उसने दरिद्र लड़की के पास सन्देश भेजा—मैं तुम्हें सौ या हजार दूँगी, यदि तू अपने केश मुझे दे दे। दरिद्र-कन्या ने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

स्थविर कात्यायन को दरिद्र लड़की ने अपने ग्राम में भिक्षा के लिए घूमते हुए देखा। स्थविर खाली पात्र ही लौट रहे थे। उसने सोचा, मेरे पास धन होता तो ऐसा नहीं होने देती। उसे धनिक कन्या का प्रस्ताव याद आया। अपने केश उसे बेच कर प्राप्त धन से स्थविर को भिक्षा दूं। उसने दाई को तत्काल भेजा और साथियों-सहित स्थविर को अपने घर बुला लिया। दाई से अपने केशों को कटवा कर कहा—"अम्मा! इन केशों को अमुक सेठ की कन्या को दे आ। जो आय होगी, उससे मैं आर्यों को भिक्षा दूँगी।"

केश-कर्तन से दाई को आघात पहुँचा। फिर भी उसने हाथ से आँसू पोंछे, धीरज बाँधा और केश लेकर उस सेठ की कन्या के पास गई। सारपूर्ण उत्तम वस्तु अयाचित ही यदि पास आती है तो उसका वह आदर नहीं होता। इन केशों के साथ भी ऐसा ही हुआ। सेठ-कन्या ने सहसा सोचा, मैं बहुत सारा धन देकर इन केशों को खरीदना चाहती थी, पर मुझे ये प्राप्त न हो सके। पर अब तो ये कटे हुए हैं; अतः उचित मूल्य ही देना होगा। उसने दाई से कहा—"जीवित केश आठ कार्षापण के होते हैं।" और उसने केश लेकर आठ कार्षापण उसके हाथ में थमा दिये। दाई ने वे कार्षापण लाकर कन्या को दिये। कन्या ने एक-एक कार्षापण का एक-एक भिक्षान्न तैयार कर स्थविरों को प्रदान किया। स्थविर कात्यायन ने सेठ-कन्या के विचारों को जान लिया और दाई से पूछा—"कन्या कहाँ है?"

दाई ने उत्तर दिया—"आर्य! वह तो घर में है।"

स्थविर ने पुनः कहा—"उसे बुलाओ।"

सेठ-कन्या स्थविर द्वारा अज्ञात भावों को जान लेने पर उनसे बहुत प्रभावित हुई। उसके मन में बहुत श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसने वहाँ आकर स्थविर को अभिवन्दना की। सुन्दर खेत (सुपात्र) में दिया भिक्षान्न उसी जन्म में फल देता है। इसलिए स्थविरों को वन्दना करते समय ही कन्या के केश पूर्ववत् हो गये। स्थविरों ने उस भिक्षान्न को ग्रहण किया और कन्या के देखते-देखते आकाश में उड़ कर काँचन-वन में जा उतरे। माली ने राजा चण्डप्रद्योत को सूचित किया—"देव! आर्य पुरोहित कात्यायन प्रव्रजित हो, उद्यान में आये हैं।"

बुद्ध ने निर्णय देते हुए कहा—"अच्छा, मैं ज्ञातिवालों का संग्रह करूँगा। तुम भिक्षु-संघ से कहो कि यात्रा की तैयारी करे।"

बुद्ध ने जब वहाँ से प्रस्थान किया तो उनके साथ अंग-मगध के दस हजार कुल-पुत्र व दस हजार ही कपिलवस्तु के कुल-पुत्र थे। वे सभी बीस हजार क्षीणास्रव (अर्हत्) थे। प्रतिदिन एक-एक योजन चलते हुए धीमी गति से साठ दिन में कपिलवस्तु पहुँचे। बुद्ध के आगमन का संवाद सुन सभी शाक्य एकत्रित हुए और उन्होंने न्यग्रोध उद्यान को उनके निवास-स्थान के लिए चुना। उसे बहुत ही सजाया व संवारा। उनकी अगवानी के लिए गंध, पुष्प आदि हाथों में लिए, सब तरह से अलंकृत कुमार व कुमारियों को भेजा। उनके बाद राजकुमार व राजकुमारियों ने उनकी अगवानी की। पूजा-सत्कार करते हुए उन्हे न्यग्रोधाराम में लाये। बुद्ध बीस हजार अर्हतों के परिवार से स्थापित बुद्धासन पर बैठे।

दूसरे दिन भिक्षुओं के साथ बुद्ध ने भिक्षा के लिए कपिलवस्तु में प्रवेश किया। वहाँ न किसी ने उन्हे भोजन के लिए निमंत्रित ही किया और न किसी ने पात्र ही ग्रहण किया। बुद्ध ने इन्द्रकील पर खड़े होकर चिन्तन किया—"पूर्व के बुद्धों ने कुल-नगर में भिक्षाटन कैसे किया था! क्या बीच के घरों को छोड़कर केवल बड़े-बड़े आदमियो के ही घर गये या एक ओर से सब के घर?"[1] उन्होंने जाना, बीच-बीच में घर छोडकर किसी भी बुद्ध ने भिक्षाटन नही किया। मेरा भी यही वंश है; अतः यही कुल-धर्म ग्रहण करना चाहिए। भविष्य में मेरे श्रावक (शिष्य) मेरा ही अनुसरण करते हुए भिक्षाचार व्रत पूरा करेंगे। उन्होने एक छोर से भिक्षाचार आरम्भ किया।

शहर में सर्वत्र यह विश्रुत हो गया कि आर्य सिद्धार्थ राजकुमार भिक्षाचार कर रहे हैं। नागरिक उत्सुकतावश अपने-अपने प्रासादों की खिड़कियाँ खोल उस दृश्य को देखने लगे।

राहुल-माता देवी (यशोधरा) ने भी खिड़की खोल उन्हें देखा। उसके मन में आया, एक दिन आर्यपुत्र इसी नगर में आडम्बर से स्वर्ण-शिविका में आरूढ़ होकर घूमे थे और आज सिर दाढ़ी मुंड़ाकर, काषाय-वस्त्र पहन, कपाल हाथ में लिए भिक्षाचार कर रहे हैं। क्या यह शोभा देता है? उसने तत्काल राजा को सूचित किया। घबराया हुआ राजा हाथ से धोती संभालता हुआ वहाँ से दौड़ा और बुद्ध के पास पहुँच कर बोला—"भन्ते! आप हमें क्यों लजवाते हैं? आप भिक्षा-चरण क्यो करते हैं? क्या आप यह ख्यापित करना चाहते हैं कि इतने भिक्षुओं को हमारे यहाँ भोजन नही मिलता?"

बुद्ध ने सहज भाषा में उत्तर दिया—"महाराज! हमारे वंश का यही आचार है।"

---

१. जैन परम्परा में भी भिक्षु की समुदान भिक्षा का लगभग यही क्रम है। देखे, दशवैकालिक सूत्र, अगस्त्यसिंह चूर्णि, अ० ५, उ० २, गा० २५।

राजा ने पुनः कहा—"भन्ते ! निश्चित ही हम लोगों का वंश तो महासम्मत का क्षत्रिय वंश है। इस वंश में एक क्षत्रिय भी तो कभी भिक्षाचारी नहीं हुआ ?"

बुद्ध ने प्रत्युत्तर में कहा—"महाराज ! वह राज-वंश तो आपका है। हमारा वंश तो दीपंकर आदि का बुद्ध-वंश है। सहस्रशः बुद्ध भिक्षाचारी रहे हैं। उन्होंने इसी माध्यम से जीविका चलाई है।"

राजा ने तत्काल बुद्ध का पात्र हाथ में लिया और परिषद् सहित महलों में ले आया। उन्हें उत्तम खाद्य-भोज्य परोसे। भोजन के बाद राहुल-माता को छोड़ सारे अन्तःपुर ने आकर उनकी अभिवन्दना की। परिजन द्वारा कहे जाने पर भी राहुल-माता वन्दना के लिए नहीं आई। उसने एक ही उत्तर दिया—"यदि मेरे में गुण हैं तो स्वयं आर्यपुत्र मेरे पास आयेंगे। तब मैं उन्हें वन्दना करूँगी।"

बुद्ध ने राजा को पात्र दिया और अपने दो अग्र श्रावकों (सारिपुत्र और मौद्गल्यायन) को साथ ले राजकुमारी के शयनागार में गये। दोनों अग्र श्रावकों से उन्होंने कहा—"राज-कन्या को यथारुचि वन्दना करने देना। कुछ न कहना।" स्वयं बिछाये हुए आसन पर बैठ गये। राज-कन्या शीघ्रता से आई। चरण पकड़ कर सिर रखा और यथेच्छ वन्दना की। राजा ने राज-कन्या के बारे में बुद्ध से कहा—"भन्ते ! जिस दिन से आपने काषाय वस्त्र पहने हैं, उस दिन से यह भी काषाय वस्त्र-धारिणी हो गई है। आपके एक बार भोजन को सुन, एकाहारिणी हो गई है। आपने ऊँचे पल्यंक आदि को छोड़ दिया तो यह भी तख्त पर सोने लगी है। आपके माला, गंध आदि से विरत होने की घटना सुन, स्वयं भी उनसे विरत हो गई है। पीहर वालो ने बहुत से पत्र भेजे। उन्होंने चाहा था, हम तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा करेंगे। यह उनके एक पत्र को भी नहीं देखती है।"[1]

शुद्धोदन के कथन का अनुमोदन करते हुए बुद्ध ने कहा—"महाराज ! इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। इस समय तो यह आपकी सुरक्षा में रह रही है और परिपक्व ज्ञान के साथ भी है; अतः अपनी रक्षा कर सकी है। विगत में भी इसने सुरक्षा-साधनों के अभाव में व अपरिपक्व ज्ञान रखते हुए भी पर्वत के नीचे विचरते हुए आत्म-रक्षा की थी।"

बुद्ध आसन से उठ कर चले गये। तीसरे दिन राजकुमार नन्द के अभिषेक, गृह-प्रवेश और विवाह—ये तीन मंगल उत्सव थे। उसे प्रव्रजित करने के उद्देश्य से बुद्ध स्वयं वहाँ आये। नन्द के हाथ में पात्र दिया, मंगल कहा और वहाँ से चल पड़े। चलते समय उन्होंने पात्र वापस नहीं लिया। कुमार भी तथागत के गौरव से इतना अभिभूत था कि उन्हें निवेदन भी न कर सका कि भन्ते ! पात्र वापस लें। उसने सोचा, सीढ़ी पर पात्र ले लेंगे,

---

१. जातक निदान ४, महावग्ग अट्ठकथा, महास्कन्धक, राहुलवस्तु।

किन्तु उन्होंने वहाँ भी पात्र नहीं लिया। सीढ़ियों से नीचे भी नहीं लिया, राज-आँगन में भी नहीं लिया और क्रमशः आगे बढ़ते ही गये। जनता ने यह देखकर जनपद-कल्याणी नन्दा से कहा—"भगवान् नन्द राजकुमार को लिए जा रहे हैं। वह तुम्हें उनसे विरहित कर देंगे।" वह बूँदे गिरते व बिना कंघी किये केशों को सहलाती हुई शीघ्रता से प्रासाद पर चढ़ी। खिड़की पर खड़ी होकर पुकारने लगी—"आर्यपुत्र! शीघ्र ही आना।" वह कथन उसके हृदय में उलटे शल्य की तरह चुभने लगा। बुद्ध ने फिर भी उसके हाथ से पात्र वापस नहीं लिया। संकोचवश वह भी न कह सका। विहार में पहुँचे। नन्द से पूछा—"प्रव्रजित होगा?" उसने संकोचवश उत्तर दिया—"हाँ, प्रव्रजित होऊँगा।" शास्ता ने निर्देश दिया—"नन्द को प्रव्रजित करो।" और इस प्रकार कपिलवस्तु में पहुँचने के तीसरे दिन नन्द को प्रव्रजित किया।[1]

सातवें दिन राहुल-माता ने राहुलकुमार को अलंकृत कर, यह कहकर भेजा—"तात! बीस हजार श्रमणों के मध्य जो सुनहले उत्तम रूप वाले श्रमण हैं, वही तेरे पिता हैं। उनके पास बहुत-सारे निधान थे, जो प्रव्रजित होने के बाद कहीं दिखाई ही नहीं देते। उनसे विरासत की याचना कर। उन्हें यह भी कहना, मैं राजकुमार हूँ, अभिषिक्त होकर चक्रवर्ती बनना चाहता हूँ। इसके लिए धन आवश्यक होता है। आप मुझे धन दें। पुत्र पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है।"

पूर्वाह्न के समय पात्र-चीवर आदि को लेकर बुद्ध शुद्धोदन के घर भिक्षा के लिए आये। भोजन के अनन्तर माता से प्रेरित होकर राहुलकुमार बुद्ध के पास आया और बोला—"श्रमण! तेरी छाया सुखमय है।" बुद्ध वहाँ से चल दिये। राहुल भी 'श्रमण! मुझे अपनी पैतृक सम्पत्ति दो, मुझे अपनी पैतृक सम्पत्ति दो' यह कहता हुआ उनके पीछे-पीछे चल दिया। बुद्ध ने कुमार को नहीं लौटाया। परिजन भी उसे साथ जाने से न रोक सके। वह बुद्ध के साथ आराम तक चला गया। बुद्ध ने सोचा, यह जिस धन की याचना कर रहा है, वह सांसारिक है। नश्वर है। क्यों न मैं इसे बोधिमण्ड में मिला सात प्रकार का आर्यधन[2] दूँ। इस अलौकिक विरासत का इसे स्वामी बना दूँ। तत्काल सारिपुत्र को आह्वान किया और कहा—"राहुलकुमार को प्रव्रजित करो।"

सारिपुत्र ने प्रश्न किया—"भन्ते! राहुलकुमार को किस विधि से प्रव्रजित करूँ?"

बुद्ध ने इस प्रसंग पर धर्म-कथा कही और भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"भिक्षुओ! तीन शरण-गमन से श्रामणेर प्रव्रज्या की अनुज्ञा देता हूँ। उसका क्रम इस प्रकार

---

१. उदान अट्ठकथा ३-२, अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा १-४-८, विनय पिटक, महावग्ग अट्ठकथा।

२. (१) श्रद्धा, (२) शील, (३) लज्जा, (४) निन्दा-भय, (५) बहुश्रुत, (६) त्याग और (७) प्रज्ञा।
—जातक (हिन्दी अनुवाद), भाग १, पृ० ११८।

है ; शिर और दाढ़ी के केशों का मुण्डन करना चाहिए, काषाय वस्त्र पहनना चाहिए, एक कन्धे पर उत्तरीय करना चाहिए, भिक्षुओं को पाद-वन्दना करवानी चाहिए, उकड़ूं बैठाकर तथा बद्धाञ्जलि कर उसे तीन बार बोलने के लिए इस प्रकार कहना—"मैं बुद्ध की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की शरण जाता हूँ।"

सारिपुत्र ने बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट विधि से राहुलकुमार को प्रव्रजित कर लिया। शुद्धोदन को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बुद्ध के पास आया और प्रार्थना की—"भन्ते ! मैं एक वर चाहता हूँ।"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"गौतम ! तथागत वर से दूर हो चुके हैं।"

शुद्धोदन ने निवेदन किया—"भन्ते ! वह उचित है, दोष-रहित है।"

बुद्ध की स्वीकृति पाकर शुद्धोदन ने कहा—"भगवान् के प्रव्रजित होने पर मुझे बहुत दुःख हुआ था। नन्द के प्रव्रजित होने पर भी मुझे बहुत दुःख हुआ और राहुल के प्रव्रजित होने पर भी अतिशय दुःख हुआ। भन्ते ! पुत्र-प्रेम मेरा चाम छेद रहा है, चाम छेद कर मांस छेद रहा है, मांस को छेद कर नस को छेद रहा है, नस को छेद कर अस्थि को छेद रहा है, अस्थि को छेद कर घायल कर दिया है। अच्छा हो भन्ते ! आर्य (भिक्षु लोग) माता-पिता की अनुज्ञा के बिना किसी को प्रव्रजित न करें।"

शुद्धोदन को इस प्रसंग पर बुद्ध ने धर्मोपदेश दिया। शुद्धोदन आसन से उठ, अभिवादन व प्रदक्षिणा कर चला गया। इसी अवसर पर बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"आर्य माता-पिता की बिना अनुज्ञा किसी को प्रव्रजित न करें जो प्रव्रजित करे, उसे दुक्कट का दोष है।"[1]

छः शाक्यकुमार और उपालि

राहुलकुमार को प्रव्रजित करने के अनन्तर बुद्ध शीघ्र ही कपिलवस्तु से प्रस्थान कर मल्ल देश में चारिका करते हुए अनूपिया के आम्रवन में पहुँचे। उस समय कुलीन शाक्यकुमार बुद्ध के पास अहमहमिकया प्रव्रजित हो रहे थे। महानाम और अनुरुद्ध ; दो शाक्य बंधु थे। अनुरुद्ध सुकुमार था। उसके शीत, ग्रीष्म व वर्षा के लिए पृथक्-पृथक् तीन प्रासाद थे। वह उन दिनों वर्षा-ऋतु के प्रासाद में आमोद-प्रमोद के साथ रह रहा था। प्रासाद से नीचे भी नहीं उतरता था। शाक्यकुमारों के प्रव्रजित होने की घटनाएँ सुनकर महानाम अपने अनुज अनुरुद्ध के पास आया और घटनाएँ सुनाते हुए उसने कहा—"अपने वंश में अब तक कोई भी प्रव्रजित नहीं हुआ है। दोनों बन्धुओं में से एक को अवश्य प्रव्रजित होना चाहिए।"

अनुरुद्ध ने तपाक से उत्तर दिया—"मैं सुकुमार हूँ। घर छोड़कर प्रव्रजित नहीं हो सकता। आप ही प्रव्रजित हों।"

---

१. जातक अट्ठकथा, निदान ४ ; विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक, १।३।११।

महानाम ने अत्यन्त वात्सल्य से कहा—"तात ! अनुरुद्ध ! मैं तुम्हें घर-गृहस्थी अच्छी तरह समझा दूँ।"

अनुरुद्ध श्रवण में लीन हो गया और महानाम ने कहना आरम्भ किया। देखो, सर्व-प्रथम खेत में हल चलवाने चाहिए, फिर बुआना चाहिए और फिर क्रमशः पानी भरना, पानी निकाल कर सुखाना, कटवाना चाहिए, ऊपर लाना, सीधा करवाना, गाटा इकट्ठा करवाना, मर्दन करवाना, पयाल हटाना, भूसी हटाना, फटकवाना तथा फिर जमा करना चाहिए। इसी क्रम से प्रतिवर्ष करना चाहिए। काम (आवश्यकता) का नाश और अन्त नहीं जान पड़ता।

अनुरुद्ध ने सहसा प्रश्न किया—"काम कब समाप्त होंगे? कब उनका अन्त होगा और कब हम निश्चिन्त होकर पाँच प्रकार के काम-भोगों से युक्त विचरण करेंगे?"

महानाम का उत्तर था—"तात ! अनुरुद्ध ! काम कभी समाप्त नहीं होते और न इनका अन्त ही जान पड़ता है। कामों को बिना समाप्त किये ही पिता और पितामह मृत्यु को प्राप्त हो गये।"

अनुरुद्ध के हृदय में सहसा विराग का अंकुर फूट पड़ा और वह बोला—"तब तो आप ही घर-गृहस्थी सम्भालें। मैं तो प्रव्रजित होऊँगा।"

अनुरुद्ध शाक्य माता के पास आया और अपने प्रव्रजित होने के अभिप्राय से उसे सूचित करते हुए उसने आज्ञा की याचना की। माता ने उसके कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—"तात ! अनुरुद्ध ! तुम दोनों मेरे प्रिय पुत्र हो। मृत्यु के बाद भी मैं तुम से अनिच्छुक नहीं होऊँगी तो फिर जीवित रहते हुए मैं तुम्हें प्रव्रज्या की स्वीकृति दूँ; यह कभी भी नहीं हो सकता।"

अनुरुद्ध निरुत्साह नहीं हुआ। उसने दो-तीन बार अपने अभिप्राय को फिर दुहराया। माता अपने निश्चय पर अडिग रही। उसने एक मध्यम मार्ग निकाला। उस समय भद्दिय शाक्यों का राजा था। वह अनुरुद्ध का परम मित्र था। माता जानती थी कि वह कभी भी प्रव्रजित नहीं होगा; अतः अपने पुत्र से कहा—"यदि भद्दिय प्रव्रजित होता हो तो मैं तुझे भी प्रव्रज्या की अनुज्ञा दे सकती हूँ।"

अपनी जटिल पहेली का सीधा-सा उत्तर पाकर अनुरुद्ध भद्दिय के पास आया और कहा—"सौम्य ! मेरी प्रव्रज्या तेरे अधीन है।"

भद्दिय ने तत्काल उत्तर दिया—"सौम्य ! यदि तेरी प्रव्रज्या मेरे अधीन है तो मैं तुम्हें उससे मुक्त करता हूँ। तू सुख से प्रव्रजित हो जा।"

अनुरुद्ध ने कोमल शब्दों में कहा—"आओ, सौम्य ! हम दोनों प्रव्रजित हों।"

भद्दिय ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए उत्तर दिया—"मैं तो प्रव्रजित नहीं हो सकता। तेरे लिए जो भी अपेक्षित है, मैं सहर्ष करूँगा। तू प्रव्रजित हो जा।"

अनुरुद्ध ने अपनी स्थिति का उद्‌घाटन करते हुए माता द्वारा प्रस्तुत शर्त का उल्लेख किया और बलपूर्वक कहा—"तू वचन-बद्ध है। तुझे मेरे साथ प्रव्रजित होना होगा। हम दोनों एक साथ एक ही मार्ग का अवलम्बन करेंगे।"

उस समय के लोग सत्यवादी होते थे। भद्दिय ने अनुरुद्ध से कहा—"मैं अपने कथन पर अटल हूँ। किन्तु मुझे सात वर्ष का समय चाहिए। उसके बाद हम दोनों एक साथ प्रव्रजित होंगे।"

अनुरुद्ध ने व्यग्रता के साथ कहा—"सात वर्ष बहुत चिर है। मैं इतना विलम्ब नहीं कर सकता।"

भद्दिय ने कुछ अवधि अल्प करते हुए छः वर्ष का कहा। विरक्त के लिए छः वर्ष की अवधि भी बहुत विस्तीर्ण होती है। अनुरुद्ध ने उसका भी प्रतिवाद किया। भद्दिय ने अवधि को घटाते हुए क्रमशः पाँच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष, एक वर्ष, छः मास, पाँच मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास, एक पक्ष की प्रतीक्षा का कह डाला। अनुरुद्ध के लिए एक पक्ष का समय भी प्रलम्ब था; अतः उसने उसे भी अस्वीकार कर दिया और उसे शीघ्रता के लिए प्रेरित किया। भद्दिय ने अन्ततः कहा—"मित्र ! तू मुझे एक सप्ताह का समय तो दे ताकि मैं अपने पुत्रों और भाइयों को राज्य-भार व्यवस्थित रूप से संभला सकूँ।"

अनुरुद्ध ने भद्दिय का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। सप्ताह की अवधि समाप्त होते ही शाक्य-राजा भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किम्बिल, देवदत्त और नापित उपालि; सातों ही व्यक्तियों को चतुरंगिनी सेना-सहित उद्यान ले जाया गया। दूर तक पहुँच कर सेना को लौटा दिया गया। वहाँ से आगे चले और अन्य राज्य की सीमा में पहुँच कर आभूषण आदि उतारे और उत्तरीय में गठरी बाँध दी। नापित उपालि के हाथों में गठरी थमाते हुए उससे कहा—"तू यहाँ से लौट जा। तेरी जीविका के लिए इतना पर्याप्त होगा।"

उपालि गठरी को लेकर लौट आया। मार्ग में चलते हुए उसका चिन्तन उभरा—शाक्य स्वभाव से चण्ड होते हैं। आभूषण सहित मेरे आगमन से जब वे जानेंगे, अनायास ही यह समझ बैठेंगे कि मैंने कुमारों को मारकर आभूषण हड़प लिए हैं। वे मुझे मरवा डालेंगे। भद्दिय, अनुरुद्ध आदि राजकुमार होकर भी जब प्रव्रजित हो रहे हैं तो फिर मैं भी क्यों न प्रव्रजित हो जाऊँ। उसने गठरी खोल कर आभूषण वृक्ष पर लटका दिये और बोला—"जो देखे, वह ले जाये।" उपालि वहाँ से चला और शाक्य-कुमारों के पास पहुँचा। तत्काल

लौट आने से कुमारों ने उससे पूछा—"उपालि लौट क्यों आया ?" उपालि ने अपने मानस में उभरे चिन्तन से उन्हें परिचित किया और आभूषणों के बारे में भी उन्हें बताया।"

शाक्य-कुमारों ने उपालि द्वारा विहित कार्य का अनुमोदन किया और उसके अभिमत को पुष्ट करते हुए कहा—"शाक्य वस्तुतः ही स्वभाव से चण्ड होते हैं। तेरी आशंका अन्यथा नहीं है।"

उपालि को साथ लेकर शाक्य-कुमार बुद्ध के पास आये। अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। उन्होंने निवेदन किया—"भन्ते ! हम शाक्य अभिमानी हैं। यह उपालि नापित चिरकाल तक हमारा सेवक रहा है। इसे आप हमारे से पूर्व प्रव्रजित करें, जिससे कि हम इसका अभिवादन, प्रत्युत्थान आदि कर सकें। ऐसा होने से हम शाक्यों का शाक्य होने का अभिमान मर्दित हो सकेगा।"

बुद्ध ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। पहले उपालि प्रव्रजित हुआ और उसके अनन्तर छः शाक्य-कुमार।[1]

*

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक-स्कन्धक, ७-१-१ व २ के आधार से।

: ११ :

पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियाँ

किसी भी महापुरुष की जीवन-कथा में कुछ पात्र अवश्य ऐसे होते हैं जो उस जीवन-कथा के साथ सदा के लिए अमर रहते हैं। महावीर और बुद्ध की जीवन-चर्या में ऐसे पात्रों का योग और भी बहुलता से मिलता है।

महावीर के साथ ग्यारह गणधरों के नाम अमर हैं। ये सब भिक्षु-संघों के नायक थे। इन्होंने ही द्वादशांगी का आकलन किया।

गौतम

गौतम उन सबमें प्रथम थे और महावीर के साथ अनन्य रूप से संपृक्त थे। ये गूढ़-से-गूढ़ और सहज-से-सहज प्रश्न महावीर से पूछते ही रहा करते थे। इनके प्रश्नों पर ही विशालतम आगम **विवाह पण्णत्ति (भगवती सूत्र)** गठित हुआ है। ये अपने लब्धि-बल से भी बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

गौतम का महावीर के प्रति असीम स्नेह था। महावीर के निर्वाण-प्रसंग पर तो वह तट तोड़ कर ही बहने लगा। उन्होने महावीर की निर्मोह वृत्ति पर उलहनों का अम्बार खड़ा कर दिया, पर अन्त में संभले। उनकी वीतरागता को पहचाना और अपनी सरागता को। पर-भाव से स्वभाव में आए। अज्ञान का आवरण हटा। कैवल्य पा स्वयं अर्हत् हो गए।

एक बार कैवल्य-प्राप्ति न होने के कारण गौतम को अपने पर बहुत ग्लानि हुई। उनके उस अनुताप को मिटाने के लिए महावीर ने कहा था—"गौतम ! तू बहुत समय से मेरे साथ स्नेह से संबद्ध है। तू बहुत समय से मेरी प्रशंसा करता आ रहा है। तेरा मेरे साथ चिरकाल से परिचय है। तू ने चिरकाल से मेरी सेवा की है। मेरा अनुसरण किया है। कार्यों में प्रवर्तित हुआ है। पूर्ववर्ती देव-भव तथा मनुष्य-भव में भी तेरा मेरे साथ सम्बन्ध रहा है और क्या, मृत्यु के पश्चात् भी—इन शरीरों के नाश हो जाने पर दोनों समान, एक प्रयोजन वाले तथा भेद-रहित (सिद्ध) होंगे।"[1]

---

१. समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—'चिर संसिट्ठोऽसि मे गोयमा ! चिरसंथुओऽसि मे गोयमा ! चिरपरिच्चिओऽसि मे गोयमा ! चिरजुसिओऽसि मे गोयमा ! चिराणुगओऽसि मे गोयमा ! चिराणुवत्तीसि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे, किं परं ? मरणा कायस्स भेदा, इओ चुत्ता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो।

—भगवती सूत्र, श० १४, उ० ७

उक्त उद्‌गारों से स्पष्ट होता है, महावीर के साथ गौतम का कैसा अभिन्न सम्बन्ध था।

चन्दनबाला

चन्दनबाला महावीर के भिक्षु-संघ में अग्रणी थी। पद से वह 'प्रवर्तिनी' कहलाती थी। वह राज-कन्या थी। उसका समग्र जीवन उतार-चढ़ाव के चलचित्रों में भरा पूरा था। दासी का जीवन भी उसने जीया। लोह-शृङ्खलाओं में भी वह आबद्ध रही, पर उसके जीवन का अन्तिम अध्याय एक महान् भिक्षुणी-संघ की संचालिका के गौरवपूर्ण पद पर बीता।

स्थानांग-समवायांग[1] के अनुसार महावीर के भिक्षु-संघ में सात सौ[2] ने कैवल्य (सर्वज्ञत्व) पाया, तेरह सौ भिक्षुओं ने अवधि-ज्ञान प्राप्त किया, पाँच सौ मनः पर्यवज्ञानी हुए, तीन सौ चतुर्दश-पूर्व-धर हुए तथा इनके अतिरिक्त अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियाँ लब्धिधर, तपस्वी, वाद-कुशल आदि हुए।

महावीर कभी-कभी भिक्षु-भिक्षुणियों की विशेषताओं का नाम-ग्राह उल्लेख भी किया करते थे।

त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षुओं का भी पर्याप्त विवरण मिल जाता है। सारिपुत्र, मौद्‌गल्यायन, आनन्द, उपालि, महाकाश्यप, आज्ञाकौण्डिन्य आदि भिक्षु बुद्ध के अग्रगण्य शिष्य थे। जैन-परम्परा में गणधरों का एक गौरवपूर्ण पद है और उनका व्यवस्थित दायित्व होता है। बौद्ध-परम्परा में गणधर जैसा कोई सुनिश्चित पद नहीं है, पर सारिपुत्र आदि का बौद्ध भिक्षु-संघ में गणधरों जैसा ही गौरव व दायित्व था।

सारिपुत्र

गणधर गौतम की तरह सारिपुत्र भी बुद्ध के अनन्य सहचरों में थे। वे बहुत सूझ-बूझ के धनी, विद्वान् और व्याख्याता थे। बुद्ध इन पर बहुत भरोसा रखते थे। एक प्रसंग-विशेष पर बुद्ध ने इनको कहा—"सारिपुत्र! तुम जिस दिशा में जाते हो, उतना ही आलोक करते हो, जितना कि बुद्ध।"[3]

सारिपुत्र की सूझ-बूझ का एक अनूठा उदाहरण त्रिपिटक साहित्य में मिलता है। बुद्ध का विरोधी शिष्य देवदत्त जब ५०० वज्जी भिक्षुओं को साथ लेकर भिक्षु-संघ से पृथक् हो जाता है तो मुख्यतः सारिपुत्र ही अपने बुद्धि-कौशल से उन पाँच सौ भिक्षुओं को देवदत्त के चंगुल से निकाल कर बुद्ध की शरण में लाते हैं।[4]

---

१. स्थानांग, सू० २३० ; समवायांग, सम० ११०।

२. कल्पसूत्र (सू० १४४) के अनुसार ७०० भिक्षु व १४०० भिक्षुणियों ने सिद्ध गति प्राप्त की।

३. अंगुत्तर निकाय, अट्ठकथा, १-४-१।

४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक-खन्धक।

एक बार बुद्ध ने आनन्द से पूछा—"तुम्हें सारिपुत्र सुहाता है न?" आनन्द ने कहा—"भन्ते! मूर्ख, दुष्ट और विक्षिप्त मनुष्य को छोड़कर ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसे आयुष्मान् सारिपुत्र न सुहाते हों। आयुष्मान् सारिपुत्र महाज्ञानी हैं, महाप्राज्ञ हैं। उनकी प्रज्ञा अत्यन्त प्रसन्न व अत्यन्त तीव्र है।"[1]

सारिपुत्र के निधन पर बुद्ध कहते हैं—"आज धर्मरूप कल्प वृक्ष की एक विशाल शाखा टूट गई है।" बुद्ध सारिपुत्र को धर्म-सेनापति भी कहा करते थे।

मौद्गल्यायन

मौद्गल्यायन का नाम भी सारिपुत्र के साथ-साथ बुद्ध के प्रधान शिष्यों में आता है। ये तपस्वी और सर्वश्रेष्ठ ऋद्धिमान्[2] थे। जैन-परम्परा में जैसे गौतम के लब्धि-बल के विषय में अनेक बातें प्रचलित हैं; उसी प्रकार मौद्गल्यायन के ऋद्धि-बल की अनेक घटनाएँ बौद्ध-परम्परा में प्रचलित हैं।

पाँच सौ वज्जी भिक्षुओं को देवदत्त के नेतृत्व से मुक्त करने में सारिपुत्र के साथ मौद्-गल्यायन का भी पूरा हाथ रहा है।[3]

बुद्ध की प्रमुख उपासिका विशाखा ने सत्ताईस करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की लागत से बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ के लिए एक विहार बनाने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए विशाखा ने बुद्ध से एक मार्ग-दर्शक भिक्षु की याचना की। बुद्ध ने कहा—'तुम जिस भिक्षु को चाहती हो, उसी का चीवर और पात्र उठा लो।' विशाखा ने यह सोच कर कि मौद्-गल्यायन भिक्षु ऋद्धिमान् हैं; इनके ऋद्धि-बल से मेरा कार्य शीघ्र सम्पन्न होगा; उन्हें ही इस कार्य के लिए मांगा। बुद्ध ने पाँच सौ भिक्षुओं के परिवार से मौद्गल्यायन को वहाँ रखा। कहा जाता है, उनके ऋद्धि-बल से विशाखा के कर्मकर रातभर में साठ-साठ योजन से बड़े-बड़े वृक्ष, पत्थर आदि उठा ले आने में समर्थ हो जाते थे।[4]

जैन-परम्परा उक्त समारम्भ पूर्ण उपक्रम को भिक्षु के लिए आचरणीय नहीं मानती और न वह लब्धि-बल को प्रयुज्य ही मानती है, पर लब्धि-बल की क्षमता और प्रयोग की अनेक अद्भुत घटनाएँ उसमें भी प्रचलित हैं। महावीर द्वारा संदीक्षित नन्दीसेन भिक्षु ने जो श्रेणिक राजा के पुत्र थे। अपने तपो-बल से वेश्या के यहाँ स्वर्ण-मुद्राओं की वृष्टि कर दिखाई।[5]

---

१. संयुक्तनिकाय, अनाथपिण्डिकवग्ग, सुसिम सुत्त।

२. अंगुत्तरनिकाय, १-१४।

३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक-खन्धक।

४. धम्मपद-अट्ठकथा, ४-४४।

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६।

महावीर ने अंगुष्ठ-स्पर्श से जैसे समग्र मेरु को प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित किया ; बौद्ध-परम्परा में मौद्‌गल्यायन द्वारा वैजयन्त प्रासाद को अंगुष्ठ-स्पर्श से प्रकम्पित कर इन्द्र को प्रभावित कर देने की बात कही जाती है।[1] कहा जाता है, एक बार बुद्ध, मौद्‌गल्यायन प्रभृति पूर्वाराम के ऊपरी भौम में थे। प्रासाद के नीचे कुछ प्रमादी भिक्षु वार्ता, उपहास आदि कर रहे थे। उनका ध्यान खींचने के लिए मौद्‌गल्यायन ने अपने ऋद्धि-बल से सारे प्रासाद को प्रकम्पित कर दिया। संविग्न और रोमांचित उन प्रमादी भिक्षुओं को बुद्ध ने उद्‌बोधन दिया।[2]

औपपातिक सूत्र में महावीर के पारिपार्श्विक भिक्षुओं के विषय में बताया गया है :

"(१) अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो मन से भी किसी को अभिशप्त और अनुगृहीत कर सकते थे।

(२) अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो वचन से ऐसा कर सकते थे।

(३) अनेक भिक्षु ऐसे थे, जो कायिक प्रवर्तन से ऐसा कर सकते थे।

(४) अनेक भिक्षु श्लेष्मौषध लब्धि वाले थे। उनके श्लेष्म से ही सभी प्रकार के रोग मिटते थे।

(५) अनेक भिक्षु जल्लौषध लब्धि के धारक थे। उनके शरीर के मैल से दूसरों के रोग मिटते थे।

(६) अनेक भिक्षु विप्रुषौषध लब्धि के धारक थे। उनके प्रस्रवण की बूँद भी रोग-नाशक होती थी।

(७) अनेक भिक्षु आमर्षौषध लब्धि के धारक थे। उनके हाथ के स्पर्श-मात्र से रोग मिट जाते थे।

(८) अनेक भिक्षु सर्वौषध लब्धि वाले थे। उनके केश, नख, रोम आदि सभी औषध रूप होते थे।

(९) अनेक भिक्षु पदानुसारी लब्धि के धारक थे, जो एक पद के श्रवण-मात्र से अनेकानेक पदों का स्मरण कर लेते थे।

(१०) अनेक भिक्षु संभिन्न श्रोतृ-लब्धि के धारक थे, जो किसी भी एक इन्द्रिय से पाँचो इन्द्रिय के विषय ग्रहण कर सकते थे। उदाहरणार्थ—कान से सुन भी सकते थे, देख भी सकते थे, चख भी सकते थे आदि।

(११) अनेक भिक्षु अक्षीणमहानस लब्धि के धारक थे, जो प्राप्त अन्न को जब तक स्वयं न खा लेते थे ; तब तक शतशः—सहस्रशः व्यक्तियों को खिला सकते थे।

---

१. मज्झिमनिकाय, चूलतण्हासंखय सुत्त।

२. संयुत्तनिकाय, महावग्ग, ऋद्धिपाद, संयुत्त प्रासादकम्पनवग्ग, मोग्गलान सुत्त।

(१२) अनेक भिक्षु विकुर्वण ऋद्धि के धारक थे। वे अपने नाना रूप बना सकते थे।

(१३) अनेक भिक्षु जंघाचारण लब्धि के धारक थे। वे जंघा पर हाथ लगा कर एक ही उड़ान में तेरहवें रुचकवर द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जा सकते थे।

(१४) अनेक भिक्षु विद्याचारण लब्धि के धारक थे। वे ईषत् उपष्टम्भ से दो उड़ान में आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक और मेरु पर्वत पर जा सकते थे।

(१५) अनेक भिक्षु आकाशातिपाती लब्धि के धारक थे। वे आकाश में गमन कर सकते थे। आकाश से रजत आदि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों की वर्षा कर सकते थे।"[1]

मौद्गल्यायन का निधन बहुत ही दयनीय प्रकार का बताया गया है। उनके ऋद्धि-बल से जल-भुन कर इतर तैर्थिकों ने उनको पशु-मार से मारा। उनकी अस्थियाँ इतनी चूर-चूर कर दी गईं कि कोई खण्ड एक तण्डुल से बड़ा नहीं रहा। यह भी बताया गया है कि प्रतिकारक ऋद्धि-बल के होते हुए भी उन्होंने इसे पूर्व कर्मों का परिणाम समझ कर स्वीकार किया।[2]

आनन्द

कुछ दृष्टियों से बुद्ध के सारिपुत्र और मौद्गल्यायन से भी अधिक अभिन्न शिष्य आनन्द थे। बुद्ध के साथ इनके संस्मरण बहुत ही रोचक और प्रेरक हैं। इनके हाथों कुछ एक ऐसे ऐतिहासिक कार्य भी हुए हैं, जो बौद्ध-परम्परा में सदा के लिए अमर रहेंगे। बौद्ध-परम्परा में भिक्षुणी-संघ का श्री गणेश नितान्त आनन्द की प्रेरणा से हुआ। बुद्ध नारी-दीक्षा के पक्ष में नहीं थे। उन्हें उसमें अनेक दोष दिखते थे। केवल आनन्द के आग्रह पर महाप्रजापति गौतमी को उन्होंने दीक्षा दी। दीक्षा देने के साथ-साथ यह भी उन्होंने कहा—"आनन्द! यह भिक्षु-संघ यदि सहस्र वर्ष तक टिकने वाला था तो अब पाँच सौ वर्ष से अधिक नहीं टिकेगा। अर्थात् नारी-दीक्षा से मेरे धर्म-संघ की आधी ही उम्र शेष रह गई है।"[3]

प्रथम बौद्ध संगीति में त्रिपिटकों का संकलन हुआ। पाँच सौ अर्हत्-भिक्षुओं में एक आनन्द ही ऐसे भिक्षु थे जो सूत्र के अधिकारी ज्ञाता थे; अतः उन्हें ही प्रमाण मान कर **सुत्तपिटक** का संकलन हुआ। कुछ बातों की स्पष्टता यथा समय बुद्ध के पास न कर लेने के कारण उन्हें भिक्षु-संघ के समक्ष प्रायश्चित्त भी करना पड़ा। आश्चर्य तो यह है कि भिक्षु-संघ ने उन्हें स्त्री-दीक्षा का प्रेरक बनने का भी प्रायश्चित्त कराया।[4]

---

१. अप्पेगइया मणेणं सावाणुग्गहसमत्था, वएणं सावाणुग्गहसमत्था, काएणं सावाणुग्गहसमत्था, अप्पेगइया खेलोसहिपत्ता, एवं जल्लोसहिपत्ता, विप्पोसहिपत्ता, आगमोसहिपत्ता, सव्वोसहिपत्ता, ...पयाणुसारी, संभिन्नसोआ, अक्खीणमहाणसिआ, विउव्वणिड्ढिपत्ता, चारणा, विज्जाहरा, आगासाइवाइणो। —उववाइय सुत्त, १५।

२. धम्मपद, अट्ठकथा, १०-७; मिलिन्दप्रश्न, परि० ४, वर्ग ४, पृ० २२६।

३. विस्तार के लिए देखें—'आचार-ग्रन्थ और आचार-संहिता' प्रकरण।

४. वही।

आनन्द बुद्ध के उपस्थाक (परिचारक) थे। उपस्थाक बनने का घटना-प्रसंग भी बहुत सरस है। बुद्ध ने अपनी आयु के ५६ वें वर्ष में एक दिन सभी भिक्षुओं को आमंत्रित कर कहा—"भिक्षुओ! मेरे लिए एक उपस्थाक नियुक्त करो। उपस्थाक के अभाव में मेरी अवहेलना होती है। मैं कहता हूँ, इस रास्ते चलना है, भिक्षु उस रास्ते जाते हैं। मेरा चीवर और पात्र भूमि पर यों ही रख देते हैं।" सारिपुत्र, मौद्गल्यायन आदि सभी को टाल कर बुद्ध ने आनन्द को उपस्थाक-पद पर नियुक्त किया।[1]

तब से आनन्द बुद्ध के अनन्य सहचारी रहे। समय-समय पर गौतम की तरह उनसे प्रश्न पूछते रहते और समय-समय पर परामर्श भी देते रहते। जिस प्रकार महावीर से गौतम का सम्बन्ध पूर्व भवों में भी रहा, उसी प्रकार जातक-साहित्य में आनन्द के भी बुद्ध के साथ उत्पन्न होने की अनेक कथाएँ मिलती हैं। आगन्तुकों के लिए बुद्ध से भेंट का माध्यम भी मुख्यतः वे ही बनते। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर गौतम की तरह आनन्द भी व्याकुल हुए। गौतम महावीर-निर्वाण के पश्चात् व्याकुल हुए। आनन्द निर्वाण से पूर्व ही एक ओर जाकर दीवाल की खूँटी पकड़ कर रोने लगे; जबकि उन्हें बुद्ध के द्वारा उसी दिन निर्वाण होने की सूचना मिल चुकी थी। महावीर-निर्वाण के पश्चात् गौतम उसी रात को केवली हो गए। बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् प्रथम बौद्ध संगीति में जाने से पूर्व आनन्द भी अर्हत् हो गए। गौतम की तरह इनको भी अर्हत् न होने की आत्म-ग्लानि हुई। दोनों ही घटना-प्रसंग बहुत सामीप्य रखते हैं।

महावीर के भी एक अनन्य उपासक आनन्द[2] थे, पर ये गृही-उपासक थे और बौद्ध-परम्परा के आनन्द बुद्ध के भिक्षु-उपासक थे। नाम-साम्य के अतिरिक्त दोनों में कोई तादात्म्य नहीं है। महावीर के भिक्षु शिष्यों में भी एक आनन्द थे, जिन्हें बुला कर गोशालक ने कहा था—"मेरी तेजोलब्धि के अभिघात से महावीर शीघ्र ही काल धर्म को प्राप्त होंगे।" जिनका उल्लेख गोशालक-संलाप में आता है।

उपालि

उपालि प्रथम संगीति में **विनय-सूत्र** के संगायक थे। **विनय-सूत्र** उन्होंने बुद्ध की पारिपार्श्विकता से ग्रहण किया था। ये नापित-कुल में उत्पन्न हुए थे। शाक्य राजा भद्दिय, आनन्द आदि पाँच अन्य शाक्य कुमारों के साथ प्रव्रजित हुए थे।[3]

---

१. अंगुत्तरनिकाय, अट्ठकथा, १-४-१।

२. उपासकदसांग सूत्र, अ० १।

३. विस्तार के लिए देखें—'भिक्षु संघ और उसका विस्तार' प्रकरण।

महाकाश्यप

महाकाश्यप बुद्ध के कर्मठ शिष्य थे। इनका प्रव्रज्या-ग्रहण से पूर्व का जीवन भी बहुत विलक्षण और प्रेरक रहा है। पिप्पलीकुमार और भद्राकुमारी का आख्यान इन्हीं का जीवन वृत्त है। वही पिप्पलीकुमार माणवक धर्म-संघ में आकर आयुष्मान् महाकाश्यप बन जाता है। इनके सुकोमल और बहुमूल्य चीवर का स्पर्श कर बुद्ध ने प्रशंसा की। इन्होंने बुद्ध से वस्त्र-ग्रहण करने का आग्रह किया। बुद्ध ने कहा—"मैं तुम्हारा यह वस्त्र ले भी लूँ, पर क्या तुम मेरे इस जीर्ण, मोटे और मलिन वस्त्र को धारण कर सकोगे?" महाकाश्यप ने वह स्वीकार किया और उसी समय बुद्ध के साथ उनका चीवर-परिवर्तन हुआ। बुद्ध के जीवन और बौद्ध-परम्परा की यह एक ऐतिहासिक घटना मानी जाती है।

महाकाश्यप विद्वान् थे। ये बुद्ध-सूक्तों के व्याख्याकार के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर ये मुख्य निर्देशक रहे हैं। पाँच सौ भिक्षुओं के परिवार से विहार करते, जिस दिन और जिस समय ये चिता-स्थल पहुँचते हैं; उसी दिन और उसी समय बुद्ध की अन्त्येष्टि होती है।[1]

अजातशत्रु ने इन्हीं के सुझाव पर राजगृह में बुद्ध का धातु-निधान (अस्थि गर्भ) बनवाया, जिसे कालान्तर से सम्राट अशोक ने खोला और बुद्ध की धातुओं को दूर-दूर तक पहुँचाया।[2]

ये महाकाश्यप ही प्रथम बौद्ध संगीति के नियामक रहे हैं।[3]

आज्ञाकौण्डिन्य, अनिरुद्ध आदि और भी अनेक भिक्षु ऐसे रहे हैं, जो बुद्ध के पारिपार्श्विक कहे जा सकते हैं।

गौतमी

बौद्ध भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी का नाम उतना ही श्रुतिगम्य है, जितना जैन-परम्परा में महासती चन्दनबाला का। दोनों के पूर्वतन जीवन-वृत्त में कोई समानता नहीं है, पर दोनों ही अपने-अपने धर्म-नायक की प्रथम शिष्या रही हैं और अपने-अपने भिक्षुणी-संघ में अग्रणी भी।

गौतमी के जीवन की दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। उसने नारी-जाति को भिक्षु-संघ में स्थान दिलवाया तथा भिक्षुणियों को भिक्षुओं के समान ही अधिकार देने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने गौतमी को प्रव्रजित करते समय कुछ शर्तें उस पर डाल दी थीं, जिनमें एक थी—चिर-दीक्षिता भिक्षुणी के लिए भी सद्यः-दीक्षित भिक्षु वन्दनीय होगा। गौतमी

---

१. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त।
२. दीघनिकाय-अट्ठकथा, महापरिनिब्बाण सुत्त।
३. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पंचशतिका खन्धक।

ने उसे स्वीकार किया, पर प्रव्रजित होने के पश्चात् बहुत शीघ्र ही उसने बुद्ध से प्रश्न कर लिया—"भन्ते ! चिर-दीक्षिता भिक्षुणी ही नव-दीक्षित भिक्षु को नमस्कार करे ; ऐसा क्यों ? क्यों न नव-दीक्षित भिक्षु ही चिर-दीक्षिता भिक्षुणी को नमस्कार करे ?" बुद्ध ने कहा—"गौतमी ! इतर धर्म-संघों में भी ऐसा नहीं है । हमारा धर्म-संघ तो बहुत श्रेष्ठ है ।"[१]

आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व गौतमी द्वारा यह प्रश्न उठा लेना, नारी-जाति के आत्म-सम्मान का सूचक है । बुद्ध का उत्तर इस प्रश्न की अपेक्षा में बहुत ही सामान्य हो जाता है । उनके इस उत्तर से पता चलता है, महापुरुष भी कुछ एक ही नवीन मूल्य स्थापित करते हैं ; अधिकांशतः तो वे भी लौकिक-व्यवहार व लौकिक-ढरों का अनुसरण करते हैं । अस्तु, गौतमी की वह बात भले ही आज पच्चीस सौ वर्ष बाद भी फलित न हुई हो, पर उसने बुद्ध के समक्ष अपना प्रश्न रख कर नारी-जाति के पक्ष में एक गौरवपूर्ण इतिहास तो बना ही दिया है ।

गौतमी के अतिरिक्त खेमा, उत्पलवर्णा, पटाचारा, कुण्डल-केशा, भद्रा कापिलायनी आदि अन्य अनेक भिक्षुणियाँ बौद्ध धर्म-संघ में सुविख्यात रही हैं । बुद्ध ने **'एतदग्ग वग्ग'**[२] में अपने इकतालीस भिक्षुओं तथा बारह भिक्षुणियों को नाम-ग्राह अभिनन्दित किया है तथा पृथक्-पृथक् गुणों में पृथक्-पृथक् भिक्षु भिक्षुणियों को अग्रगण्य बताया है ।

भिक्षुओं में अग्रगण्य

वे कहते हैं—

१. भिक्षुओ ! मेरे अनुरक्तज्ञ भिक्षुओं में आज्ञाकौण्डिन्य[३] अग्रगण्य है ।

२............महाप्राज्ञों में सारिपुत्र[४]...।

३............ऋद्धिमानों में महामौद्गल्यायन[५]...।

४............धुतवादियों (त्यागियों) में महाकाश्यप[६]...।

५............दिव्यचक्षुकों में अनुरुद्ध[७]...।

६............उच्चकुलीनों में भद्दिय कालिगोधा-पुत्र[८]...।

७............कोमल स्वर से उपदेष्टाओं में लकुण्टक भद्दिय[९]...

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्खुणी खन्धक ।
२. अगुत्तरनिकाय, एककनिपात, १४ के आधार से ।
३. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण-वस्तु ग्राम, ब्राह्मण ।
४. मगध, राजगृह से अविदूर उपतिष्य (नालक) ग्राम, ब्राह्मण ।
५. मगध, राजगृह से अविदूर कोलित ग्राम, ब्राह्मण ।
६. मगध, महातीर्थ ब्राह्मण ग्राम, ब्राह्मण ।
७. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, बुद्ध के चाचा अमृतौदन शाक्य के पुत्र
८. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय ।
९. कौशल, श्रावस्ती, धनी (महाभोग) ।

८ भिक्षुओ ! सिंहनादियों में पिण्डोल भारद्वाज[1] अग्रगण्य है।
९............धर्म-कथिकों में पूर्ण मैत्रायणी-पुत्र[2]...।
१०............व्याख्याकारों में महाकात्यायन[3]...।
११............मनोगत रूप-निर्माताओं व चित्त-विवर्त-चतुरों में चुल्लपन्थक[4]...।
१२............संज्ञा-विवर्त्त-चतुरों में महापन्थक[5]...।
१३............क्लेश-मुक्तों व दक्षिणेयों में सुभूति[6]...।
१४............आरण्यकों (वन वासियों) में रेवतखदिरवनिय[7]...।
१५............ध्यानियों में कंखा रेवत[8]...।
१६............उद्यमशीलों में सोणकोडिवीस[9]...।
१७............सुवक्ताओं में सोणकुटिकण्ण[10]...।
१८............लाभार्थियों में सीवली[11]...।
१९............श्रद्धाशीलों में वक्कलि[12]...।
२०............संघीय नियम बद्धता में राहुल[13]...।
२१............श्रद्धा से प्रव्राजितों में राष्ट्रपाल[14]...।
२२............प्रथम शलाका ग्रहण करने वालों में कुण्डधान[15]...।
२३............कवियों में वंगीश[16]...।

---

१. मगध, राजगृह, ब्राह्मण।
२. शाक्य, कपिलवस्तु के समीप द्रोण-वस्तु ग्राम, ब्राह्मण।
३. अवन्ती, उज्जयिनी, ब्राह्मण।
४. मगध, राजगृह, श्रेष्ठि-कन्या-पुत्र।
५. वही।
६. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य।
७. मगध, नालक ब्राह्मण-ग्राम, सारिपुत्र के अनुज।
८. कौशल, श्रावस्ती, महाभोग।
९. अंग, चम्पा, श्रेष्ठी।
१०. अवन्ती, कुररघर, वैश्य।
११. शाक्य, कुण्डिया, क्षत्रिय, कोलिय-दुहिता सुप्रवासा का पुत्र।
१२. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
१३. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, सिद्धार्थ-पुत्र।
१४. कुरु, थुल्लकोण्ति, वैश्य।
१५. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण।
१६. वही।

२४ भिक्षुओ ! समन्तप्रासादिकों (सर्वतः लावण्य-सम्पन्न) में उपसेन वंगन्त-पुत्र[1] अग्रगण्य है ।

२५..............शयनासन-व्यवस्थापकों में द्रव्य-मल्ल-पुत्र[2]...।

२६..............देवताओं के प्रियों में पिलिन्दिवात्स्य[3]...।

२७..............प्रखर बुद्धिमानों में वाहियदारुचीरिय[4]...।

२८..............विचित्र वक्ताओं में कुमार काश्यप[5]...।

२९..............प्रतिसंविस्प्राप्तों में महाकोष्ठित[6]...।

३०..............बहुश्रुतों, स्मृतिमानों, गतिशीलों, धृतिमानों व उपस्थाकों में आनन्द[7]...।

३१..............महापरिषद् वालों में उरुवेल काश्यप[8]...।

३२..............कुल-प्रसादकों में काल-उदायी[9]...।

३३..............निरोगों में वक्कुल[10]...।

३४..............पूर्व जन्म का स्मरण करने वालों में शोभित[11]...।

३५..............विनयधरों में उपालि[12]...।

३६..............भिक्षुणियों के उपदेष्टाओं में नन्दक[13]...।

३७..............जितेन्द्रियों में नन्द[14]...।

३८..............भिक्षुओं के उपदेष्टाओं में महाकप्पिन[15]...।

३९..............तेज-धातु-कुशलों में स्वागत[16]...।

४०..............प्रतिभाशालियों में राध[17]...।

४१..............रुक्ष चीवर-धारियों में मोघराज[18]...।

---

१. मगध, नालक ब्राह्मण ग्राम ब्राह्मण, सारिपुत्र के अनुज ।
२. मल्ल, अनूपिया, क्षत्रिय ।
३. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण ।
४. वाहियराष्ट्र, कुल-पुत्र ।
५. मगध, राजगृह ।
६. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण ।
७. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, अमृतौदन-पुत्र ।
८. काशी, वाराणसी, ब्राह्मण ।
९. शाक्य, कपिलवस्तु, अमात्यगेह ।
१०. वत्स, कौशाम्बी, वैश्य ।
११. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण ।
१२. शाक्य, कपिलवस्तु, नापित ।
१३. कौशल, श्रावस्ती, कुल-गेह ।
१४. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, महाप्रजापती-पुत्र ।
१५. सीमान्त, कुक्कुटवती, राजवंश ।
१६. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण ।
१७. मगध, राजगृह, ब्राह्मण ।
१८. कौशल, श्रावस्ती, ब्राह्मण, बावरी-शिष्य ।

भिक्षुणियों में अग्रगण्य

१ भिक्षुओ ! मेरी रत्तञ्ञा भिक्षुणियों में महाप्रजापति गौतमी अग्रगण्या है ।[1]

२.........महाप्रज्ञाओं में खेमा[2]...।

३.........ऋद्धि-शालिनियों में उत्पलवर्णा[3]...।

४.........विनयधराओं में पटाचारा[4]...।

५.........धर्मोपदेशिकाओं में धम्मदिन्ना[5]...।

६.........ध्यायिकाओं में नन्दा[6]...।

७.........उद्यमशीलाओं में सोणा[7]...।

८.........दिव्य-चाक्षुकों में सकुला[8]...।

९.........प्रखर प्रतिभाशालिनियों में भद्राकुण्डलकेशा[9]...।

१०.........पूर्वजन्म का अनुस्मरण-कारिकाओं में भद्रा कापिलायनी[10]...।

११.........महा-अभिज्ञाधारिकाओं में भद्रा कात्यायनी[11]...।

१२.........रुक्ष चीवर-धारिकाओं में कृशा गौतमी[12]...।

१३.........श्रद्धा-युक्तों में शृगाल माता[13]...।

आगम-साहित्य में **'एतदग्ग वग्ग'** की तरह नामग्राह कोई व्यवस्थित प्रकरण इस विषय का नहीं मिलता, पर **कल्पसूत्र** का केवली आदि का संख्याबद्ध उल्लेख महावीर के भिक्षु-संघ की व्यापक सूचना हमें दे देता है । **औपपातिक सूत्र** में निर्ग्रन्थों के विविध तपों का और उनकी अन्य विविध विशेषताओं का सविस्तार वर्णन है । तप के विषय में बताया

---

१. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, शुद्धोदन की पत्नी ।

२. मद्र, सागल, राजपुत्री, मगधराज बिम्बसार की पत्नी ।

३. कौशल, श्रावस्ती, श्रेष्ठिकुल ।

४. वही ।

५. मगध, राजगृह, विशारव श्रेष्ठी की पत्नी ।

६. शाक्य, कपिलवस्तु, महाप्रजापती गौतमी की पुत्री ।

७. कौशल, श्रावस्ती, कुल-गेह ।

८. वही ।

९. मगध, राजगृह, श्रेष्ठिकुल ।

१०. मद्र, सागल, ब्राह्मण, महाकाश्यप की पत्नी ।

११. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, राहुल-माता-देवदहवासी सुप्रबुद्ध शाक्य की पुत्री ।

१२. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य ।

१३. मगध, राजगृह, श्रेष्ठिकुल ।

गया है—"अनेक भिक्षु कनकावली तप करते थे। अनेक भिक्षु एकावली तप, अनेक भिक्षु लघुसिंहनिष्क्रीडित तप, अनेक भिक्षु महासिंहनिष्क्रीडित तप, अनेक भिक्षु भद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु महाभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु सर्वतोभद्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु आयंबिल वर्द्धमान तप, अनेक भिक्षु मासिकी भिक्षु प्रतिमा, अनेक भिक्षु द्विमासिकी भिक्षु प्रतिमा से सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा, अनेक भिक्षु प्रथम-द्वितीय-तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक अहोरात्र प्रतिमा, अनेक भिक्षु एक रात्रि प्रतिमा, अनेक भिक्षु सप्त सप्तमिका प्रतिमा, अनेक भिक्षु यवमध्यचन्द्र प्रतिमा तथा अनेक भिक्षु वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा तप करते थे।"[1]

अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध में वहाँ बताया गया है—"वे भिक्षु ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न व लाघव सम्पन्न थे। वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी थे। वे इन्द्रिय जयी, निद्रा-जयी और परिषह-जयी थे। वे जीवन की आशा और मृत्यु के भय से विमुक्त थे। वे प्रज्ञप्ति आदि विद्याओं व मंत्रों में प्रधान थे। वे श्रेष्ठ, ज्ञानी, ब्रह्मचर्य, सत्य व शौच में कुशल थे। वे चारुवर्ण थे। भौतिक आशा-वाञ्छा से वे ऊपर उठ चुके थे। औत्सुक्य रहित, श्रामण्य-पर्याय में सावधान और बाह्य-आभ्यन्तरिक ग्रन्थियों के भेदन में कुशल थे। स्व सिद्धान्त और पर सिद्धान्त के ज्ञाता थे। पर-वादियों को परास्त करने में अग्रणी थे। द्वादशाङ्गी के ज्ञाता और समस्त गणिपिटक के धारक थे। अक्षरों के समस्त संयोगों के व सभी भाषाओं के ज्ञाता थे। वे जिन (सर्वज्ञ) न होते हुए भी जिन के सदृश थे।"[2]

प्रकीर्ण रूप में भी अनेकानेक भिक्षु-भिक्षुणियों के जीवन प्रसंग आगम-साहित्य में बिखरे पड़े है, जिनमे उनकी विशेषताओं का पर्याप्त ब्योरा मिल जाता है।

काकन्दी के धन्य

काकन्दी के धन्य बत्तीस परिणीता तरुणियों और बत्तीस महलों को छोड़ कर भिक्षु हुए थे। महावीर के साथ रहते उन्होंने इतना तप तपा कि उनका शरीर केवल अस्थि-कंकाल मात्र रह गया था। राजा बिम्बिसार के द्वारा पूछे जाने पर महावीर ने उनके विषय में कहा—"अभी यह धन्य भिक्षु अपने तप से, अपनी साधना से चतुर्दश सहस्र भिक्षुओं में दुष्कर क्रिया करने वाला है।"[3]

---

१. उववाइय सुत्त, १५।

२. वही, १५-१६।

३. इमेसिण भन्ते! इदभूई पामोक्खण चउदसण्ह समण साहसीणं कयरे अणगारे महादुक्कर कारए चेव महाणिज्जरकारएचेव? एव खलु सेणिया! इमीसिं इदभूई पामोक्खाण चउदसण्हं समण साहसीण धन्ने अणगारे महादुक्करकारएचेव महानिज्जर कारए चेव

—अणुत्तरोववाई दसांग, वर्ग० ३, अ० १।

मेघकुमार

बिम्बिसार के पुत्र मेघकुमार दीक्षा-पर्याय की प्रथम रात में संयम से विचलित हो गये। उन्हें लगा, कल तक जब मैं राजकुमार था, सभी भिक्षु मेरा आदर करते थे, स्नेह दिखलाते थे। आज मैं भिक्षु हो गया, मेरा वह आदर कहाँ? मुँह टाल कर भिक्षु इधर-उधर अपने कामों में दौड़े जाते हैं। सदा की तरह मेरे पास आकर कोई जमा नहीं हुए। शयन का स्थान मुझे अन्तिम मिला है। द्वार से निकलते और आते भिक्षु मेरी नींद उड़ाते हैं। मेरे साथ यह कैसा व्यवहार? प्रभात होते ही मैं भगवान् महावीर को उनकी दी हुई प्रव्रज्या वापस करूँगा। प्रातःकाल ज्यों ही वह महावीर के सम्मुख आया, महावीर ने अपने ही ज्ञान-बल से कहा—"मेघकुमार! रात को तेरे मन में ये-ये चिन्ताएँ उत्पन्न हुईं? तुमने पात्र-रजोहरण आदि संभला कर घर जाने का निश्चय किया?" मेघकुमार ने कहा—"भगवन्! आप सत्य कहते हैं।" महावीर ने उन्हें संयमारूढ़ करने के लिए नाना उपदेश दिए तथा उनके पूर्व भव का वृत्तान्त बताया। मेघकुमार पुनः संयमारूढ़ हो गया।

मेघकुमार भिक्षु ने जाति-स्मरण ज्ञान पाया। एकादशांगी का अध्ययन किया। गुणरत्नसंवत्सर-तप की आराधना की। भिक्षु की 'द्वादश प्रतिमा' आराधी। अन्त में महावीर से आज्ञा ग्रहण कर वैभार गिरि पर आमरण अनशन कर उत्कृष्ट देवगति को प्राप्त हुए।[1]

बौद्ध-परम्परा में सद्यः दीक्षित नन्द का भी मेघकुमार जैसा ही हाल रहा है। वह अपनी नव विवाहिता पत्नी जनपद कल्याणी नन्दा के अन्तिम आमंत्रण को याद कर दीक्षित होने के अनन्तर ही विचलित-सा हो गया। बुद्ध ने यह सब कुछ जाना और उसे प्रतिबुद्ध करने के लिए ले गये। मार्ग में उन्होंने उसे एक बन्दरी दिखलाई, जिसके कान, नाक और पूँछ कटी हुई थी; जिसके बाल जल गये थे; जिसकी खाल फट गई थी; जिसकी चमड़ी मात्र बाकी रह गई थी तथा जिसमें से रक्त बह रहा था और पूछा—"क्या तुम्हारी पत्नी इससे अधिक सुन्दर है?" वह बोला—"अवश्य।" तब बुद्ध उसे त्रायस्त्रिंश स्वर्ग में ले गये। अप्सराओं-सहित इन्द्र ने उनका अभिवादन किया। बुद्ध ने अप्सराओं की ओर संकेत कर पूछा—"क्या जनपद कल्याणी नन्दा इनसे भी सुन्दर है?" वह बोला—"नहीं, भन्ते! जनपद कल्याणी की तुलना में जैसे वह लुंज बन्दरी थी; इसी तरह इनकी तुलना में जनपद कल्याणी है।" बुद्ध ने कहा—"तब उसके लिए तू क्यों विक्षिप्त हो रहा है? भिक्षु-धर्म का पालन कर। तुझे भी ऐसी अप्सराएँ मिलेंगी।"[2] नन्द पुनः श्रमण-धर्म में आरूढ़ हुआ। उसका वह

---

१. पूर्व जीवन के लिए देखें, 'भिक्षु-संघ और उसका विस्तार' प्रकरण।

२. जैन-परम्परा का 'सुन्दरी नन्द' का आख्यान भी इस बौद्ध-प्रसंग से बहुत मिलता-जुलता है। यहाँ बुद्ध अपने भाई को अप्सराएँ दिखला कर प्रतिबोध देते हैं, वहाँ विषयासक्त सुन्दरी नन्द को उसके भ्राता भिक्षु अपने लब्धि-बल से बन्दरी, विद्याधरी और अप्सरा दिखा कर उसकी पत्नी सुन्दरी से विरक्त करते हैं। (द्रष्टव्य—आवश्यक मलयगिरि टीका)

वैषयिक लक्ष्य तब मिटा, जब सारिपुत्र आदि अस्सी महाश्रावकों (भिक्षुओं) ने उसे इस बात के लिए लज्जित किया कि वह अप्सराओं के लिए भिक्षु-धर्म का पालन कर रहा है। इस प्रकार विषय-मुक्त होकर वह अर्हत् हुआ।[1]

मेघकुमार और नन्द के विचलित होने के निमित्त सर्वथा भिन्न थे, पर घटना-क्रम दोनों का ही बहुत सरस और बहुत समान है। महावीर मेघकुमार को पूर्व-भव का दुःख बता कर सुस्थिर करते हैं और बुद्ध नन्द के आगामी भव के सुख बता कर सुस्थिर करते हैं। विशेष उल्लेखनीय यह है कि मेघकुमार की तरह प्राक्तन भवों में नन्द के भी हाथी होने का वर्णन जातक[2] में है।

शालिभद्र

राजगृह के शालिभद्र, जिनके वैभव को देख कर राजा बिम्बिसार भी विस्मित रह गए थे ; भिक्षु-जीवन में आकर उत्कट तपस्वी बने। मासिक, द्विमासिक और त्रैमासिक तप उनके निरन्तर चलता रहता। एक बार महावीर बृहत् भिक्षु-संघ के साथ राजगृह आए। शालिभद्र भी साथ थे। उस दिन उनके एक महीने की तपस्या का पारण होना था। उन्होंने नतमस्तक हो, महावीर से भिक्षार्थ नगर में जाने की आज्ञा माँगी। महावीर ने कहा—"जाओ, अपनी माता के हाथ से 'पारण' पाओ।" शालिभद्र अपनी माता भद्रा के घर आए। भद्रा महावीर और अपने पुत्र के दर्शन को तैयार हो रही थी। उत्सुकता में उसने घर आए मुनि की ओर ध्यान ही नहीं दिया। कर्मकरों ने भी अपने स्वामी को नहीं पहचाना। शालिभद्र बिना भिक्षा पाए ही लौट गए। रास्ते में एक अहीरिन मिली। दही का मटका लिए जा रही थी। मुनि को देख कर उसके मन में स्नेह जगा। रोमाञ्चित हो गई। स्तनों से दूध की धारा बह चली। उसने मुनि को दही लेने का आग्रह किया। मुनि दही लेकर महावीर के पास आए। 'पारण' किया। महावीर से पूछा—"भगवन् ! आपने कहा था, माता के हाथ से पारण करो। वह क्यों नहीं हुआ ?" महावीर ने कहा—"शालिभद्र ! माता के हाथ से ही 'पारण' हुआ है। वह अहीरिन तुम्हारे पिछले जन्म की माता थी।"

महावीर की अनुज्ञा पा शालिभद्र ने उसी दिन वैभार गिरि पर जा आमरण अनशन कर दिया। भद्रा समवशरण में आई। महावीर के मुख से शालिभद्र का भिक्षाचरी से लेकर अनशन तक का सारा वृत्तान्त सुना। माता के हृदय पर जो बीत सकता है, वह बीता। तत्काल वह पर्वत पर आई। पुत्र की उस तपः क्लिष्ट काया को और मरणाभिमुख

---

१ सुत्तनिपात-अट्ठकथा, पृ० २७२ ; धम्मपद-अट्ठकथा, खण्ड १, पृ० ९६-१०५, जातक सं० १८२ ; थेरगाथा १५७ ; Dictionary of Pali Proper Names, Vol. 1, pp. 10-11.

२. सङ्गामावचर जातक, सं० १८२, (हिन्दी अनुवाद) खण्ड २, पृ० २४८-२५४।

स्थिति को देख कर उसका हृदय हिल उठा।। वह दहाड़ मार कर रोने लगी। राजा बिम्बिसार ने उसे सान्त्वना दी। उद्बोधन दिया। वह घर गई। शालिभद्र सर्वोच्च देव-गति को प्राप्त हुए। उनके गृही-जीवन की विलास-प्रियता और भिक्षु-जीवन की कठोर साधना दोनों ही उत्कृष्ट थी।

स्कन्दक

स्कन्दक महावीर के परिव्राजक भिक्षु थे। परिव्राजक-साधना से भिक्षु-साधना में आना और उसमें उत्कृष्ट रूप से रम जाना उनकी उल्लेखनीय विशेषता थी। आगम बताते हैं—स्कन्दक यत्नापूर्वक चलते, यत्नापूर्वक ठहरते, यत्नापूर्वक बैठते, यत्नापूर्वक सोते, यत्नापूर्वक खाते और यत्नापूर्वक बोलते। प्राण, भूत, जीव, सत्त्व के प्रति संयम रखते। वे कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक ईर्या आदि पाँचों समितियों से संयत, मनः संयत, वचः संयत, काय संयत, जितेन्द्रिय, आकाँक्षा-रहित, चपलता-रहित और संयमरत थे।[1]

वे स्कन्दक भिक्षु स्थविरों के पास अध्ययन कर एकादश अंगों के ज्ञाता बने। उन्होंने भिक्षु की द्वादश प्रतिमा आराधी। भगवान् महावीर से आज्ञा लेकर गुणरत्नसंवत्सर-तप तपा। इस उत्कट तप से उनका सुन्दर, सुडौल और मनोहारी शरीर रूक्ष, शुष्क और कृश हो गया। चर्मवेष्टित हड्डियाँ ही शरीर में रह गईं। जब वे चलते, उनकी हड्डियाँ शब्द करतीं; जैसे कोई सूखे पत्तों से भरी गाड़ी चल रही हो, कोयलों से भरी गाड़ी चल रही हो। वे अपने तप के तेज से दीप्त थे।[2]

स्कन्दक तपस्वी को बोलने में ही नहीं; बोलने का मन करने मात्र से ही क्लान्ति होने लगी। अपने शरीर की इस क्षीणावस्था का विचार कर वे महावीर के पास आए। उनसे आमरण अनशन की आज्ञा माँगी। अनुज्ञा पा, परिचारक भिक्षुओं के साथ विपुलाचल पर्वत पर आए। यथाविधि अनशन ग्रहण किया। एक मास के अनशन से काल-धर्म को पा

---

१. भगवती सूत्र, श० २, उ० १।

२. तए णं से खंदए अणगारे तेणं उरालेणं, विउलेणं,···महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के, लुक्खे, निम्मंसे, अट्ठि-चम्मावणद्धे, किडिकिडियाभूए, किसे, धमणि संतए जाए यावि होत्था। जीवं—जीवेण गच्छइ, जीवंजीवेण चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भास भासमाणे गिलाइ, भासं भासिस्सामीति गिलायति। से जहानामए कट्ठसगडिया इ वा, पत्तसगडिया इ वा, पत्त-तिल-भंडगसगडिया इ वा, एरंडकट्ठसगडिया इ वा, इंगालसगडिया इ वा उण्हे दिण्णा सुक्का समाणी ससद्दं गच्छइ, ससद्दं चिट्ठइ, ऐवामेव खंदए वि अणगारे ससद्दंगच्छइ, ससद्दंचिट्ठइ, उवचिए तवेणं, अवचिए मससोणिएणं, हुयासणे विव भासारासिपडिच्छण्णे तवेणं, तेएणं, तव—तेयसिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे चिट्ठइ।
—भगवती सूत्र, श० २, उ० १

अच्युत्कल्प स्वर्ग में देव हुए। महावीर के पारिपार्श्विकों में इनका भी उल्लेखनीय स्थान रहा है। पंचमांग **भगवती सूत्र** में इनके जीवन और इनकी साधना पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

महावीर की भिक्षुणियों में चन्दनबाला के अतिरिक्त मृगावती, देवानन्दा, जयन्ती, सुदर्शना आदि अनेक नाम उल्लेखनीय हैं।

महावीर और बुद्ध के पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियों की यह संक्षिप्त परिचय-गाथा है। विस्तार के लिए इस दिशा में बहुत अवकाश है। जो लिखा गया है, वह तो प्रस्तुत विषय की झलक मात्र के लिए ही यथेष्ट माना जा सकता है।

*

: १२ :

प्रमुख उपासक-उपासिकाएँ

आगमों और त्रिपिटकों की छान-बीन में महावीर और बुद्ध की उपासक-उपासिकाओं का विवरण भी पर्याप्त रूप से मिल जाता है। अनुयायी के अर्थ में दोनों ही परम्पराओं में 'श्रमणोपासक' शब्द मुख्यतः प्रयुक्त हुआ है। जैन और बौद्ध श्रमण-परम्परा की ही शाखाएँ थीं; अतः श्रमणोपासक शब्द उनके पृष्ठवर्ती तादात्म्य को व्यक्त करता है। 'श्रावक' शब्द का प्रयोग भी दोनों परम्पराओं में मिलता है। जैन-परम्परा में उपासक के ही अर्थ में तथा बौद्ध-परम्परा में भिक्षु और उपासक; दोनों ही अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है। जैसे—भिक्षु-श्रावक और उपासक-श्रावक।[1]

प्रमुख जैन-उपासक

उपासकों का परिचय और उनकी चर्या जितनी व्यवस्थित रूप से आगमों में मिलती है; उतनी त्रिपिटकों में नहीं। जैन-परम्परा के ग्यारह अंग सूत्रों में सातवाँ अंग सूत्र महावीर के दश प्रमुख श्रावकों की जीवन-चर्या का ही परिचायक है। **भगवती** आदि और भी अनेक सूत्रों में अनेकानेक उपासक-उपासिकाओं का विवरण मिलता है। **उपासकदशांग** में दशों ही उपासकों के निर्ग्रन्थ-धर्म स्वीकार करने का, उनके पारिवारिक जनों का, उनके व्यवसाय का, उनकी धन-राशि का तथा उनके गो-कुलों का क्रमबद्ध विवरण है। ऊपर में एक-एक श्रावक के पास चौबीस करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ और अशीति (अस्सी) सहस्र गौएँ होने का वर्णन किया गया है। बौद्ध उपासिका विशाखा के पास तो और अधिक धन होने की सूचना मिलती है। २७ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ तो उसने पूर्वराम आश्रम के निर्माण में खर्च की थीं। बौद्ध उपासकों के पास भी बड़ी संख्या में गौएँ होने का संकेत त्रिपिटक-साहित्य में मिलता है। बौद्ध उपासकों की विशेषता मुख्यतः विहार-निर्माण और भोजन, वस्त्र आदि के दान के रूप में ही व्यक्त की गई है। जैन उपासकों की विशेषताओं में द्वादश-व्रतों की आराधना, सम्यक्त्व की आराधना, तपस्या आदि का प्रमुख स्थान है। जैन उपासकों की आराधना

१. अंगुत्तरनिकाय, एककनिपात, १४।

में देवकृत उपसर्गों का भी रोमांचक वर्णन आता है। कुछ श्रावक विचलित हो जाते हैं और कुछ अचल रह जाते हैं। **उपासकदशांग** के दश उपासकों के नाम हैं—(१) आनन्द, (२) कामदेव, (३) चुलिणीप्पिया, (४) सुरादेव, (५) चुल्लशतक, (६) कुण्डकोलिक, (७) शकडाल-पुत्र, (८) महाशतक, (९) नन्दिनीपिता, (१०) सालिहीपिता। इनके ग्राम-नगर हैं—(१) वाणिज्य ग्राम, (२) चम्पानगरी, (३-४) वाराणसी, (५) आलम्भिका, (६) काम्पिल्यपुर, (७) पोलासपुर, (८) राजगृह, (९-१०) श्रावस्ती। इनके पास क्रमशः गौएँ थीं—(१) चालीस सहस्र, (२) साठ सहस्र, (३) अस्सी सहस्र, (४) साठ सहस्र, (५) साठ सहस्र, (६) साठ सहस्र, (७) दश सहस्र, (८) अस्सी सहस्र, (९) चालीस सहस्र, (१०) चालीस सहस्र।

इनकी धन-राशि का उल्लेख क्रमशः इस प्रकार मिलता है—(१) बारह हिरण्य कोटि, (२) अट्ठारह हिरण्य कोटि, (३) चौबीस हिरण्य कोटि, (४-५-६) अट्ठारह-अट्ठारह हिरण्य कोटि, (७) तीन हिरण्य कोटि, (८) चौबीस हिरण्य कोटि (९-१०) बारह-बारह हिरण्य कोटि।

दश उपासकों के अतिरिक्त भी महावीर के अनेक उपासक-उपासिकाएँ थीं; जिनमें—(१) शंख,[1] (२) पोक्खली,[2] (३) सुदर्शना,[3] (४) सुलसा,[4] (५) रेवती[5] आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

महावीर के कुल श्रावक १ लाख ५९ सहस्र तथा श्राविकाएँ ३ लाख १८ सहस्र बताई गई हैं।[6] यह कहीं नहीं बताया गया है कि यह संख्या किस कोटि के श्रावकों की है, अनुयायी मात्र की या केवल आनन्द आदि द्वादश व्रतधारी श्रावकों की।

प्रमुख बौद्ध उपासक-उपासिकाएँ

बुद्ध ने **'एतदग्ग वग्ग'** में निम्न उपासक-उपासिकाओं की गणना की है—

१—भिक्षुओ! मेरे उपासक श्रावकों में प्रथम शरण आने वालों में तपस्सु[7] और भल्लुक[8] वणिक् अग्र हैं।

---

१. भगवती सूत्र, श० १२, उ० १।

२. वही।

३. वही।

४. आवश्यक चूर्णि।

५. भगवती सूत्र, श० १५।

६. समवायांग, सूत्र ११४-११५।

७. असितंजन नगर, कुटुम्बिक गेह।

८. वही।

२·············दाताओं में अनाथ-पिण्डिक सुदत्त गृहपति[1]···।

३·············धर्म-कथिकों में चित्र गृहपति[2]···।

४·············चार संग्रह वस्तुओं से परिषत् को संयोजित करने वालों में हस्तक आलवक[3]···।

५·············उत्तम वस्तुओं के दाताओं में महानाम शाक्य[4]···।

६·············मनाप (प्रिय) वस्तुओं के दाताओं में गृहपति उग्र[5]··· ।

७·············संघ-सेवकों में गृहपति उद्गत[6]···।

८·············अत्यन्त प्रसन्नमना में शूर अम्बष्ट[7]···।

९·············पुद्गल (व्यक्तिगत) प्रसन्नमना में जीवक कौमार भृत्य[8]···।

१०·············विश्वस्तों में गृहपति नकुल-पिता[9]···।

१. भिक्षुओ ! मेरी श्राविकाओं में प्रथम शरण-ग्रहण करने वाली उपासिकाओं में सुजाता[10] अग्र है ।

२ ·············दायिकाओं में विशाखा मृगारमाता[11]···।

३·············बहुश्रुताओं में खुज्ज उत्तरा[12]···।

४·············मैत्री विहार-प्राप्तों में सामावती[13]···।

५·············ध्यायिकाओं में उत्तरा नन्दमाता[14]···।

६·············प्रणीत-दायिकाओं में सुप्रवासा कोलिय-दुहिता[15]···।

---

१. कौशल, श्रावस्ती, सुमन श्रेष्ठि-पुत्र ।
२. मगध, मच्छिकाषण्ड, श्रेष्ठि-कुला ।
३. पंचाल, आलवी, राजकुमार ।
४. शाक्य, कपिलवस्तु, क्षत्रिय, (अनुरुद्ध का ज्येष्ठ भ्राता)
५. वज्जी, वैशाली, श्रेष्ठि-कुल ।
६. वज्जी, हस्तिग्राम, श्रेष्ठि-कुल ।
७. कौशल, श्रावस्ती, श्रेष्ठि-कुल ।
८. मगध, राजगृह, अभयकुमार और सालवलिका गणिका से उत्पन्न ।
९. भग्ग, संसुमार गिरि, श्रेष्ठि-कुल ।
१०. मगध, उरुवेला सेनानी-ग्राम, सेनानी कुटुम्बिक की पुत्री ।
११. कौशल, श्रावस्ती, वैश्य ।
१२. वत्स, कौशाम्बी, घोषक श्रेष्ठी की धाय की पुत्री ।
१३. भद्रवती राष्ट्र, भद्रिका नगर, भद्रवतिक श्रेष्ठि-पुत्री, पश्चात् वत्स, कौशाम्बी, घोषित श्रेष्ठी की धर्मपुत्री ; वत्सराज उदयन की महिषी ।
१४. मगध, राजगृह, सुमन श्रेष्ठी के अधीन पूर्णसिंह की पुत्री ।
१५. शाक्य, कुण्डिया, सीवली माता क्षत्रिय ।

७............रुग्णों की शुश्रूषिकाओं में उपासिका सुप्रिया[1]...।

८............अत्यन्त प्रसन्नमना में कात्यायनी[2]...।

९............विश्वस्तों में गृहपत्नी नकुल-माता[3]...।

१०............अनुश्रव प्रसन्नमना में उपासिका काली[4]...।

उल्लिखित उपासक-उपासिकाओं में कुछ के नामोल्लेख मात्र ही मिलते हैं और कुछ के नाना घटना-प्रसंग। तपस्सुक और भल्लुक ने बोधि-लाभ के पश्चात् बुद्ध को मोदक और दधि का दान किया और प्रथम शरणागत बने। ये बनजारे थे और इनका बुद्ध से आकस्मिक संयोग हुआ था।

चित्र गृहपति बुद्ध का आदर्श व चर्चावादी उपासक था। उसने निगण्ठ नातपुत्त से भी चर्चा की थी।[5] एक बार सुधम्म भिक्षु के साथ उसका मतभेद हो गया। सुधम्म बुद्ध के पास गया। बुद्ध ने कहा—"सुधम्म! तुम्हारा ही दोष है। जाओ, चित्र से क्षमा माँगो।" यह ठीक वैसा ही लगता है, जैसा महावीर ने गौतम को आनन्द के सम्बन्ध में कहा था।[6]

चित्र गृहपति की मरण-वेला पर देवता उपस्थित हुए। उन्होंने कहा—"आप हमारे इन्द्र हो, ऐसा संकल्प करें।" चित्र ने कहा—"मैं ऐसी नश्वर कामना नहीं करता।"[7] जैन-आगम भगवती[8] में तपस्वी तामली का वर्णन है। उसने आमरण अनशन किया। उस समय देवता आये और उसे अपना इन्द्र होने का निदान करने के लिए कहा। वह चुप रहा, यह सोच कर कि तपस्या को बेचना अलाभ और अशिव के लिए होगा।

जीवक कौमार भृत्य बिम्बिसार का राज-वैद्य था। सुदूर राज्यों तक राज-कुलों में, श्रेष्ठि-कुलों में इसकी महिमा थी। इसने अनेक अनहोने उपचार अनहोने ढंग से किये थे। बिम्बिसार ने इसे राज्य-वैद्य के रूप में स्थापित करने के साथ-साथ बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ की सेवा के लिए भी स्थापित किया था। यह राजगृह की सालवती-नामक नगर वधू

---

१. काशी, वाराणसी, वैश्य।

२. अवन्ती, कुररघर (वैश्य) सोणकुटिकण्ण की माता।

३. भग्ग, ससुमारगिरि।

४. मगध, राजगृह, कुलगेह में उत्पन्न और अवन्ती के कुररघर में उद्वाहिता।

—अंगुत्तरनिकाय, एकक निपात, १४ के आधार से।

५. विशेष विवरण देखें, "त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त" प्रकरण के अन्तर्गत "चित्र गृहपति"।

६. देखें इसी प्रकरण में "गृहपति आनन्द"।

७. संयुक्त निकाय, ३९।१।१० ; Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I, pp. 866.

८. शतक ३, उद्देशक १।

का पुत्र था।[1] कूड़े के ढेर पर फेंक दिये जाने के कारण अभयकुमार के महलों में इसका पालन हुआ। तक्षशिला में इसकी शिक्षा हुई। 'अंगुत्तर निकाय अर्थकथा' व विनयपिटक आदि में इसके द्वारा किए गये बुद्ध के तथा अन्य व्यक्तियों के अद्भुत उपचारों का रोचक वर्णन है।

बौद्ध-मान्यता के अनुसार उस युग का यह एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति था। इसने ही बुद्ध से अजातशत्रु का प्रथम सम्पर्क कराया था, पर जैन-आगमों व जैन-पुराण-साहित्य में जीवक के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

जैन-परम्परा में आनन्द और सुलसा तथा बौद्ध-परम्परा में अनाथपिण्डिक और विशाखा मृगार माता के जीवन-प्रसंग परम्परा-बोध के प्रतीक माने जा सकते हैं। उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

गृहपति आनन्द

वाणिज्य ग्राम में जितशत्रु का राज्य था। उसकी ईशान दिशा में द्युतिपलाश नामक एक उद्यान भी था। द्युतिपलाश यक्ष का वहाँ आयतन था; अतः उसका वही नामकरण हो गया। गृहपति आनन्द उसी वाणिज्य ग्राम का निवासी था। उसकी पत्नी का नाम शिवानन्दा था। वह अत्यन्त सुरूपा, कला-कुशल व पति-भक्ता थी। गृहपति आनन्द का दाम्पत्य-जीवन बहुत ही सुखपूर्ण था। उसके पास प्रचुर सम्पत्ति थी। चार करोड़ हिरण्य उसकी सुरक्षित निधि थी, चार करोड़ हिरण्य ब्याज-व्यवसाय में और चार करोड़ हिरण्य उसके प्रविस्तार (व्यापार) में लगे हुए थे। उसके पास चार व्रज (गोकुल) थे। प्रत्येक व्रज में दस हजार गौएँ थीं। प्रचुर सामग्री व महत्तम गो-कुलों से वह महर्द्धिक कहलाता था।

आनन्द अपने नगर का विश्वस्त व श्रद्धापात्र था। राजा, युवराज, नगर-रक्षक, सीमान्त प्रदेश के राजा, ग्राम-प्रधान, श्रेष्ठी, सार्थवाह आदि सभी व्यक्ति अपने बहुत सारे कार्यों में, अपनी गुप्त मंत्रणाओं, रहस्यों व व्यवहारों में उससे परामर्श लेते थे। अपने परिवार का वही आधार-स्तम्भ था।

निर्ग्रन्थ प्रवचन में रुचि

वाणिज्य ग्राम की उत्तर-पूर्व दिशा में कोल्लाग उपनगर था। वह भी बहुत समृद्ध था। गृहपति आनन्द के वहाँ भी बहुत सारे मित्र व सम्बन्धी रहते थे। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम पधारे। समवशरण लगा। राजा जितशत्रु और सहस्रों की संख्या में जनता दर्शनार्थ व उपदेश श्रवणार्थ आई। शहर में अद्भुत चहल-पहल थी। आनन्द ने भी भगवान् महावीर के शुभागमन का संवाद सुना। वह पुलकित व रोमाञ्चित हुआ। भगवान् के दर्शन महाफल-दायक होते हैं; इस मनोरथ के साथ उसने

---

१. अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा (खण्ड २, पृ० ३९९) में उसे अभयकुमार का पुत्र माना गया है।

दर्शनार्थ जाने और पर्युपासना करने का निश्चय किया। उसने स्नान किया, शुद्ध वस्त्र पहने और आभूषणों से सुसज्जित हो, अनुयायी वृन्द से परिवृत्त, वाणिज्य ग्राम के मध्य से पैदल ही चला। उसके छत्र पर कोरंट की माला लगी हुई थी। वह द्युतिपलाश चैत्य पहुँचा, जहाँ कि महावीर ठहरे हुए थे। तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक उसने वन्दना की और परिषद् के साथ उपदेश-श्रवण में लीन हो गया। धर्मोपदेश सुन कर जनता अपने घर गई। गृहपति आनन्द भगवान् महावीर के उस उपदेश से बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न हुआ। उसने निवेदन किया—"भन्ते! मै निर्ग्रन्थ-प्रवचन में श्रद्धाशील हूँ। निर्ग्रन्थ-प्रवचन में ही मेरी प्रतीति व रुचि है। जैसे आप कहते हैं, सब वैसे ही है। यह सत्य है। मै इस धर्म की चाह रखता हूँ; पुनः-पुनः चाह रखता हूँ। भन्ते! आपके पास बहुत से राजा, युवराज, सेनापति, नगर-रक्षक, माण्डलिक, कौटुम्बिक, श्रेष्ठी, सार्थवाह मुण्डित होकर आगार-धर्म से अनगार-धर्म में आते हैं। किन्तु मै साधु-जीवन की कठिन चर्या में निर्गमन के लिए असमर्थ हूँ; अतः गृहि-धर्म के द्वादश व्रत ग्रहण करना चाहता हूँ।"

भगवान् महावीर ने कहा—"यथा सुख करो, किन्तु श्रेय में विलम्ब न करो।"

निर्ग्रन्थ-धर्म का ग्रहण

गाथापति आनन्द ने द्वादश व्रत ग्रहण करते हुए निवेदन किया—"भन्ते! मै दो करण और तीन योग से स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद व स्थूल अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। शिवानन्दा के अतिरिक्त सभी स्त्रियों में मेरी मातृ-दृष्टि होगी। इच्छा-परिमाण व्रत के अन्तर्गत संरक्षित चार हिरण्य कोटि, व्यवसाय में प्रयोजित चार हिरण्य कोटि और धन्य-धान्य आदि के प्रविस्तार में प्रयोजित चार हिरण्य कोटि के अतिरिक्त धन-संग्रह का त्याग करता हूँ। चार व्रज से अधिक नही रखूंगा। क्षेत्र-भूमि में पाँच सौ हल से अधिक नहीं रखूँगा। पाँच सौ शकट प्रदेशान्तर में जाने के लिए और पाँच सौ शकट घरेलू काम के लिए, इस प्रकार एक हजार से अधिक शकट नही रखूँगा। चार वाहन (जहाज) प्रदेशान्तर में व्यवसाय के लिए और चार वाहन घरेलू काम के लिए, इस प्रकार आठ से अधिक वाहन नही रखूँगा। स्नान करने के बाद शरीर पोछने के अभिप्राय से गंधकाषायित वस्त्र के अतिरिक्त अन्य वस्त्र का त्याग करता हूँ। मधु-यष्टि के अतिरिक्त दातून का त्याग करता हूँ। क्षीरामलक के अतिरिक्त सभी फलो का त्याग करता हूँ। क्षौम युगल के अतिरिक्त समस्त वस्त्र पहनने और कार्णेयक (कान का आभूषण) व नामांकित मुद्रिका के अतिरिक्त आभूषण पहनने का प्रत्याख्यान करता हूँ।"

भगवान् महावीर ने कहा—"आनन्द! जीवाजीव की विभक्ति के ज्ञाता व अपनी मर्यादा में विहरण करने वाले श्रमणोपासक को व्रतों के अतिचार भी जानना चाहिए और उनका परिहार करते हुए ही आचरण करना चाहिए।"

अभिग्रह

आनन्द की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने अतिचारों का सविस्तार विवेचन किया। आनन्द ने पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा-व्रत ग्रहण किये। आनन्द ने एक अभिग्रह ग्रहण करते हुए निवेदन किया—"भन्ते ! आज से मैं इतर तैर्थिकों को, इतर तैर्थिकों के देवताओं व इतर तैर्थिकों द्वारा स्वीकृत अरिहन्त चैत्यों को वन्दन-नमस्कार नहीं करूँगा। उनके द्वारा वार्ता का आरम्भ न होने पर, उनसे वार्तालाप करना, पुनः-पुनः वार्तालाप करना, गुरु-बुद्धि से उन्हें अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि देना मुझे नहीं कल्पता है। भन्ते ! इस अभिग्रह में मेरे छः अपवाद होंगे—(१) राजा, (२) गण, (३) बलवान और (४) देवताओं के अभियोग से, (५) गुरु आदि के निग्रह से तथा (६) अरण्य आदि का प्रसंग उपस्थित होने पर मुझे उन्हें दान देना कल्पता है।"

अपनी दृढ़ धार्मिकता व्यक्त करते हुए गृहपति आनन्द ने कहा—"भन्ते ! निर्ग्रन्थों को प्रासुक व एषणीय अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, कम्बल, प्रतिग्रह (पात्र), पाद-प्रोञ्छन, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध, भैषज का प्रतिलाभ करना मुझे कल्पता है।"

अभिग्रह ग्रहण के अनन्तर गृहपति आनन्द ने बहुत से प्रश्न पूछे और तत्त्व को हृदयंगम किया। तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना की और अपने घर आया। हर्ष-विभोर होकर शिवानन्दा से कहने लगा—"श्रमण भगवान् महावीर के समीप मैंने धर्म को सुना। वह धर्म मुझे बहुत इष्ट है। वह मुझे बहुत रुचिकर प्रतीत हुआ। सुभगे ! तुम भी जाओ। भगवान् महावीर को वन्दना-नमस्कार करो, पर्युपासना करो और उनसे पाँच अणुव्रत और सात शिक्षा-व्रत रूप गृहस्थ-धर्म स्वीकार करो।"

पति का निर्देश पाकर शिवानन्दा बहुत पुलकित हुई। उसने स्नान किया, अल्प भार व बहुमूल्य वस्त्राभरण पहने और दासियों के परिकर से घिरी शीघ्रगामी, प्रशस्त व सुसज्जित श्रेष्ठ धार्मिक यान पर आरूढ़ होकर द्युतिपलाश चैत्य में भगवान् महावीर के समवशरण में पहुँची। महती परिषद् के साथ भगवान् की देशना सुनी और आत्म-विभोर हुई। भगवान् महावीर के समक्ष उसने द्वादश व्रत रूप गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया और अपने आवास लौट आई।

गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"प्रभो ! श्रमणोपासक आनन्द क्या आपके समीप प्रव्रजित होने में समर्थ है ?"

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम ऐसा नहीं है। श्रमणोपासक आनन्द बहुत वर्षों तक श्रावक-पर्याय का पालन करेगा और अनशन पूर्वक शरीर-त्याग कर सौधर्म कल्प के अरुणाभ विमान में चार पल्योपम की स्थिति से उत्पन्न होगा।

गृह-भार से मुक्ति

आनन्द और शिवानन्दा, दोनों ही जीव-अजीव की पर्यायों पर अनुचिन्तन करते हुए सुखपूर्वक रहे। शील व्रत, गुण व्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास आदि के माध्यम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उनके चौदह वर्ष बीत गये। पन्द्रहवाँ वर्ष चल रहा था। एक बार रात्रि के उत्तरार्ध में धर्म-जागरणा करते हुए उसके मन में संकल्प उत्पन्न हुआ—"वाणिज्य ग्राम नगर के राजा, युवराज, नगर-रक्षक, नगर-प्रधान आदि आत्मीय जनों का मैं आधार हूँ। अधिकांश कार्यों में वे सभी मुझ से मन्त्रणा करते रहते हैं। इसी व्यस्तता और व्यग्रता के कारण भगवान् महावीर के समीप स्वीकृत धर्म-प्रज्ञप्ति को पूर्णतया क्रियान्वित करने में मैं अब तक असमर्थ रहा हूँ। कितना सुन्दर हो, कल प्रातः काल होते ही मित्र, ज्ञाति-स्वजनों को अपने घर निमन्त्रित कर, उन्हें अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि से संतर्पित कर, उनकी उपस्थिति में ज्येष्ठ पुत्र को घर का सारा दायित्व सौंप दूँ और उन सबकी अनुमति लेकर कोल्लाक सन्निवेशस्थ ज्ञातकुल की पौषधशाला में महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार कर विचरण करूँ।" सूर्योदय होते ही श्रमणोपासक आनन्द ने अपने दृढ़ निश्चय को क्रियान्वित किया। अपने प्रांगण में मित्र व ज्ञाति-स्वजनों का सम्मान किया और उनके बीच अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का दायित्व सौंपा और सबसे कहा—"भविष्य में मुझ से किसी सम्बन्ध में विचार-विमर्शण न करें। मैं एकान्त में धर्म-जागरणा ही करना चाहता हूँ।"

अपने स्वजनों से अनुज्ञा ले गृहपति आनन्द कोल्लाग सन्निवेशस्थ पौषधशाला में आया। पौषधशाला को पूंजा, उच्चार-प्रस्रवण की भूमि का प्रतिलेखन किया। दर्भ का संस्तारक बिछाया, उस पर बैठा और भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार कर विचरने लगा।

प्रतिमा-ग्रहण

गृहपति आनन्द ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमा स्वीकार की। सूत्र के अनुसार, कल्प के अनुसार, मार्ग के अनुसार व तत्त्व के अनुसार उसने प्रत्येक प्रतिमा को काया द्वारा ग्रहण किया और उपयोग पूर्वक उनका रक्षण किया। अतिचारों का त्याग करते हुए वह विशुद्ध हुआ। प्रत्याख्यान का समय समाप्त होने पर भी वह कुछ समय तक उनमें और भी स्थिर रहा।

प्रतिमाओं का स्वीकरण और उनमें होने वाले घोर तपश्चरण से श्रमणोपासक आनन्द का शरीर अत्यन्त कृश हो गया। नसें दिखलाई पड़ने लगीं। धर्म-जागरणा करते हुए एक दिन उसके मन में फिर विचार उत्पन्न हुआ—"इस अनुष्ठान से मैं अस्थियों का पिंजर मात्र

रह गया हूँ ; फिर भी मुझ में अब तक उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम, श्रद्धा, धृति और संवेग है । क्यों न मैं इनकी अवस्थिति में ही अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना से युक्त होकर, भक्त-पान का प्रत्याख्यान करूँ । ऐसा करना ही अब मेरे लिए श्रेयस्कर है ।" उसने वैसा ही किया ।

एक बार शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम व विशुद्ध होती हुई लेश्याओं से आनन्द के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हुआ । उससे उसे सुविस्तृत अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई । उस ज्ञान के बल पर वह उत्तर में चूल हेमवन्त पर्वत तक, दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में पाँच सौ योजन लवण समुद्र तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और अधो प्रथम नरक के लोलुप नरकावास तक देखने और जानने लगा ।

गौतम और अवधिज्ञान

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम आए । गौतम स्वामी बेले की तपस्या पूर्ण कर भगवान् महावीर से आज्ञा लेकर भिक्षा के लिए नगर में आए । नगर में आनन्द श्रावक के आमरण अनशन की जब चर्चा सुनी तो उनके मन में देखने का भाव उत्पन्न हुआ । वे आनन्द की पौषधशाला में आए । आनन्द ने शारीरिक असामर्थ्य के कारण लेटे-लेटे ही वन्दना की और चरण-स्पर्श किया । आनन्द ने कहा—"भगवन् गौतम ! क्या आमरण अनशन में गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?"

गौतम—"हाँ, हो सकता है ।"

आनन्द—"मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है और वह पूर्व और पश्चिम आदि दिशाओं में इतना विशाल है ।"

गौतम—"आनन्द ! गृहस्थ को इतना विशाल अवधिज्ञान नहीं मिल सकता । अनशन में तुझ से यह मिथ्या सम्भाषण हुआ है ; अतः तू इसकी आलोचना व प्रायश्चित्त कर ।"

आनन्द—"प्रभो ! महावीर के शासन में सत्याचरण का प्रायश्चित्त होता है या असत्याचरण का ?"

गौतम—"असत्याचरण का ।"

आनन्द—"प्रभो ! आप ही प्रायश्चित्त करें । आप ही से असत्याचरण हुआ है ।"

आनन्द की इस दृढ़तापूर्ण वार्ता को सुन कर गौतम स्वामी ससंभ्रम हुए । वहाँ से चल कर वे भगवान् महावीर के पास आये और वह सारा वार्तालाप उन्हें सुनाया । भगवान् महावीर ने कहा—"गौतम ! तुझ से ही असत्याचरण हुआ है । तू आनन्द के पास जा और उससे क्षमा-याचना कर ।"

गौतम स्वामी तत्काल आनन्द के पास आए और बोले—"आनन्द ! भगवान् महावीर ने तुझे ही सत्य कहा है । मैं वृथा विवाद के लिए तुझ से क्षमा चाहता हूँ ।"

गृहपति आनन्द ने बीस वर्ष तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन किया। अंतिम समय अनशन, आलोचना आदि कर सौधर्म कल्प के अरुणाभ विमान में उत्पन्न हुआ।[1]

सुलसा

राजगृह में नाग रथिक रहता था। उसकी धर्मपत्नी का नाम सुलसा था। दोनों ही निर्ग्रन्थ-श्रावक थे। वे दृढ़धर्मी व प्रियधर्मी के नाम से पुकारे जाते थे। उनकी सम्यक्त्व निर्मल व सुदृढ़ थी। वे श्रावक के व्रतों का शुद्धतापूर्वक पालन करते थे। सुलसा धर्म में अधिक दृढ़ थी। श्रावक नाग ने यह भी नियम कर रखा था कि अब वह दूसरा विवाह नहीं करेगा। दोनों ही आनन्दपूर्वक अपना जीवन बिताते हुए धर्माराधन कर रहे थे।

पुत्र का अभाव

एक बार नाग ने किसी सेठ के बालकों को घर के आँगन में खेलते हुए देखा। बच्चे बड़े सुकुमार, चंचल व मनोहारी थे। उनके खेलने से आँगन खिल उठा। श्रावक नाग के हृदय में वह दृश्य समा गया। उसके मन में बार-बार यह विचार उभरता कि वह घर सूना है, जहाँ ऐसे बच्चे न हों। किन्तु सूने घर की पूर्ति करना किसी के वश की बात तो नहीं है। पुत्र-प्राप्ति की प्रबल इच्छा ने श्रावक नाग को इसके लिए बहुत कुछ सोचने को बाधित कर दिया। वह लौकिक देव, ज्योतिषियों व पण्डे-पुजारियों के चक्कर में घूमने लगा। सुलसा को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने स्पष्ट शब्दों में अपने पति से कहा—"पुत्र, यश, धन आदि सभी अपने ही कृत कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। मनुष्य के प्रयत्न या देव-कृपा केवल निमित्त मात्र ही हो सकते हैं। किसी वस्तु का प्राप्त न होना, यह तो अपने अन्तराय कर्म से ही सम्बन्धित है। इसे दूर करने के लिए ज्योतिषियों द्वारा बताये गये अनुष्ठान, लौकिक देवों की उपासना व अन्य साधन क्या कर सकेंगे? हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपना अधिक-से-अधिक समय दान, शील, तपश्चर्या आदि धार्मिक अनुष्ठान में लगायें। इससे कर्म शिथिल होंगे और अपने अभिलषित की प्राप्ति भी हो सकेगी। मुझे लगता है, अब मुझ से आपको पुत्र की प्राप्ति नहीं होगी, अतः कितना सुन्दर हो, आप दूसरा विवाह कर लें।"

श्रावक नाग ने उत्तर दिया—"मुझे तुम्हारे ही पुत्र की आवश्यकता है। मैं दूसरा विवाह नहीं करना चाहता।"

सुलसा ने अपनी स्वाभाविक भाषा में कहा—"यह तो संयोग-वियोग की बात है। प्राप्ति और अप्राप्ति में हर्ष व शोक दोनों ही नहीं होने चाहिए। जो व्यक्ति इनसे ऊपर उठता है, वह अपने लक्ष्य पर अवश्य पहुँच जाता है।" सुलसा की इस प्रेरणा से नाग के

---

१. उपासकदसांग सूत्र, अ० १ के आधार पर।

मन में पुत्र-अभाव का दुःख कुछ कम हुआ और वह अपने अन्य कार्यों के साथ धार्मिक क्रियाओं में दृढ़ता से संलग्न हो गया।

परीक्षा

एक बार सुलसा के घर एक साधु आया। उसने सुलसा से रुग्ण साधु के नाम पर लक्षपाक तेल की याचना की। सुलसा अपने घर साधु को देखकर पुलकित हो उठी। तेल लाने के लिए शीघ्रता से अपने कमरे में गई। देव-योग से ज्यों ही वह तेल का बर्तन उठाने लगी, उसके हाथ से वह छूट गया और फूट गया। तीन बार ऐसा ही हुआ। बर्तन भी फूट गया और बहुमूल्य तेल भी बिखर गया। स्वभावतः ही ऐसे अवसर पर व्यक्ति गुस्से से भर जाया करता है, पर उसके ऐसा न हुआ। घर में तेल के तीन ही बर्तन थे और तीनों ही इस तरह फूट गये। बाहर आकर उसने शान्त भाव से मुनि से सारी घटना कह सुनाई। साधु ने उसे अच्छी तरह से देखा, वह बिल्कुल शान्त थी और इतना होने पर भी उसके मन में साधु के प्रति भक्ति ही उमड़ रही थी। साधु ने अपना स्वरूप बदला और देव के रूप में सुलसा के सम्मुख खड़ा हो गया। सुलसा उसे समझ नही पाई। दूसरे ही क्षण देव ने कहा—"देव-सभा में शक्रेन्द्र ने तेरी क्षमाशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। शक्रेन्द्र का कहना था कि वह सम्यक्त्व व श्रावक-व्रत में इतनी दृढ़ है कि देव, दानव या मानव कोई भी उसे विचलित नही कर सकता। शक्रेन्द्र के कथन से प्रेरित होकर परीक्षा के निमित्त मैं यहाँ आया। साधु कोई नही था, मै ही था। बर्तन तेरे हाथ मे फिसले हैं, पर उनमें मेरी शक्ति भी लगी है। मैं तेरी दृढ़ धार्मिकता और उपशान्तता से बहुत प्रभावित हुआ हूँ। शक्रेन्द्र का कथन वस्तुतः ठीक ही था। मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ और तुझे वर माँगने के लिए आह्वान करता हूँ।"

सुलसा ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"धन, ऐश्वर्य व सम्मान की मेरे लिए कोई कमी नहीं है। जीवन में खलने वाला एक ही अभाव है, जिसे आप भी जानते ही हैं। मैं समझती हूँ, समय आने पर मेरा वह मनोरथ भी स्वतः फलित होगा।"

अभाव की पूर्ति

देव सुलसा की भावना का बड़ा सम्मान करने लगा। वह उसके सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख समझने लगा। उसने कहा—"बहिन ! ये लो बत्तीस गोलियाँ। समय-समय पर एक-एक गोली खाना। तेरे बत्तीस पुत्र होंगे और तेरी कामना फलित होगी। इसके अतिरिक्त और भी जब कभी कोई कार्य हो, मुझे याद करना।" सुलसा ने वे बत्तीस गोलियाँ ले लीं और देव अन्तर्धान हो गया।

सुलसा के मन में आया, मैं बत्तीस पुत्रों का क्या करूँगी। सूने घर को भरने के लिए तो शुभ लक्षणों वाला एक पुत्र भी पर्याप्त हो सकता है। कितना अच्छा हो, यदि इन गोलियों

को एक साथ ही खा लें। इससे बत्तीस ही शुभ लक्षणों वाला एक पुत्र हो जायेगा। वह सभी गोलियाँ एक साथ ही खा गई। कुछ ही दिनों बाद सुलसा के उदर में भयंकर वेदना आरम्भ हो गई। वह तिलमिला उठी। अपने कष्ट को दूर करने का उसे कोई भी उपाय नहीं सूझा। उसने उसी देव का स्मरण किया। देव उपस्थित हुआ तो सुलसा ने अपनी व्यथा कह सुनाई। देव ने कहा—"तू ने भयंकर भूल की है। इससे एक गर्भ के स्थान पर एक साथ बत्तीस ही गर्भ रह गये हैं। अब तेरे बत्तीस ही सन्तान एक साथ पैदा होंगी और यदि उनमें से एक की भी मृत्यु हो गई तो सबकी ही मृत्यु सम्भावित है।"

सुलसा ने कहा—"आखिर होता तो वही है, जो भवितव्यता होती है। आपके निमित्त से यदि कुछ बन भी गया तो आखिर उसका परिणाम तो वही आया।" देव ने अनुकम्पावश अपनी विशिष्ट शक्ति से उसका कुछ कष्ट शान्त कर दिया। समय पर सुलसा ने बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। बत्तीसों की समान आकृति थी और समान ही व्यवहार था। उनकी सुकुमारता, भव्यता व चंचलता से प्रत्येक व्यक्ति उनकी ओर आकृष्ट हो जाता था। नाग रथिक का सूना घर एक साथ खिल उठा। जब वह अपने बच्चों की ओर पलक मारता, उसका दिल हिलोरें लेने लगता। बत्तीसों ही कुमार बड़े हुए। यौवन में उनका कुलीन कन्याओं के साथ विवाह कर दिया गया। वे साथ ही रहते व साथ ही सब कार्य करते।

राजा श्रेणिक के अंग-रक्षक के रूप में उन सबकी नियुक्ति हो गई। वे युद्ध-कला में पूर्णतः दक्ष थे। राजा श्रेणिक जब चेलणा को लेकर भूमिगत मार्ग से राजगृह की ओर दौड़ा और चेटक ने उसका पीछा किया तो बत्तीस ही अंग-रक्षकों ने चेटक का मार्ग रोका। श्रेणिक वहाँ से अपने महलों में सकुशल पहुँच गया। दोनों ही दलों में घमासान युद्ध हुआ और उसके परिणाम स्वरूप श्रेणिक का एक अंग-रक्षक मारा गया। एक की मृत्यु के साथ ही इकतीस योद्धा और गिर पड़े और इस तरह श्रेणिक के सारे अंग-रक्षक, सुलसा के सब पुत्र वहाँ काम आ गये।

बत्तीस ही पुत्रों की एक साथ मृत्यु से सुलसा को बहुत आघात लगा। वह दृढ़ धार्मिक थी, पर अपने पुत्रों के अनुराग से विह्वल हो उठी। प्रधानमंत्री अभयकुमार उसे ढाढ़स बंधाने के लिए आया। उसने भी उसको बहुत सान्त्वना दी। सुलसा ने अपने विवेक को जागृत किया और धर्म-ध्यान में लीन हो गई।

महावीर द्वारा प्रशंसा

भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक बार चम्पा आये। नगर के बाहर समवसरण की रचना हुई। परिषद् धर्मोपदेश सुनने के लिए आई। राजगृह का अम्बड़ श्रावक भी भगवान् की देशना सुनने व दर्शन करने के लिए आया। वह अपनी विद्या के आधार

पर नाना रूप बदल सकता था। देशना के अन्त में उसने भगवान् से निवेदन किया—"भन्ते! आपके उपदेश से मेरा जन्म सफल हो गया। आज मैं राजगृह जा रहा हूँ।"

भगवान् महावीर ने कहा—"राजगृह में एक सुलसा श्राविका है। वह अपने श्रावक-धर्म में बहुत दृढ़ है। ऐसे श्रावक विरल ही होते हैं।"

अन्य उपस्थित व्यक्तियों व अम्बड़ श्रावक ने सोचा—"सुलसा सचमुच ही बड़ी पुण्यशालिनी है, जिसको स्वयं भगवान् ने इस प्रकार बताया है।" अम्बड़ के मन में आया, सुलसा का ऐसा कौनसा विशेष गुण है, जिसको लेकर भगवान् ने उसे धर्म में दृढ़ बताया। मुझे उसकी परीक्षा तो करनी चाहिए। वह एक परिव्राजक के रूप में सुलसा के घर आया। सुलसा से उसने कहा—"आयुष्मती! तुम मुझे भोजन दो। इससे तुझे धर्म होगा।"

सुलसा ने उत्तर दिया—"मैं जानती हूँ, किसे देने में धर्म होता है और किसे देने में केवल व्यवहार-साधन।"

अम्बड़ द्वारा परीक्षा

अम्बड़ वहाँ से लौट आया। उसने तपस्या आरम्भ कर दी और पद्मासन लगा कर निरालम्ब आकाश में ठहर गया। यह एक अद्भुत चमत्कार था। दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ी। नगर व आस-पास के सहस्रों व्यक्ति वहाँ आने लगे और अम्बड़ की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करने लगे। सुलसा ने भी यह सब घटना सुनी, पर उसे कोई आश्चर्य नहीं हुआ। वह न वहाँ गई और न उसने उसके बारे में किसी से एक शब्द भी कहा। लोग अम्बड़ की तपस्या से प्रभावित हुए। सभी ने अपने-अपने घर भोजन करने के लिए उसे आमन्त्रित किया, पर उसने किसी का भी निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। आखिर जनता उससे पूछने लगी—"तपस्विन्! आपके भोजन का लाभ किस सौभाग्यशाली को प्राप्त होगा?"

अम्बड़ ने कहा—"सुलसा को।"

लोग दौड़े-दौड़े सुलसा के घर आये और उसे अत्यधिक बधाइयाँ देने लगे। उन्होंने उसे सूचित किया—"अम्बड़ जैसे महातपस्वी ने तेरी बिना प्रार्थना के भी भोजन करने की स्वीकृति प्रदान कर दी है। अब तुम चलो और उनसे प्रार्थना करो। तुम तो निहाल हो जाओगी।"

सुलसा ने एक ही वाक्य में उन सबको उत्तर देते हुए कहा—"आप इसे तपस्या समझते हैं और मैं इसे ढोंग।"

लोगों को सुलसा की बात से आश्चर्य हुआ और उन्होंने अम्बड़ से भी जाकर कहा। अम्बड़ ने यह अच्छी तरह जान लिया कि सुलसा परम सम्यक्दृष्टि है और वह अरिहन्त व निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी को देव व गुरु नहीं मानती। उसे इस श्रद्धा से कोई भी शक्ति

विचलित नहीं कर सकती। अम्बड़ ने वह अपना पद्मासन समाप्त कर दिया और एक निर्ग्रन्थ साधु के वेष में वह सुलसा के घर आया। अम्बड़ केवल आकृति से ही निर्ग्रन्थ नहीं बना, अपितु उसके प्रत्येक क्रिया-कलापों में उसकी सजीव झलक थी। सुलसा ने उसे देखा तो नमस्कार किया और भक्तिपूर्वक सम्मान भी। अम्बड़ ने अपना असली रूप बनाया और भगवान् महावीर द्वारा की गई उसकी भत-प्रशंसा की सारी घटना सुनाई। वह भी उसके मुक्त-कण्ठ से गुण-गान करने लगा।[1]

सम्यक्त्व में दृढ़ होने के कारण सुलसा ने तीर्थङ्कर नाम-गोत्रकर्म का उपार्जन किया। आगामी चौबीसी में वह निर्मम नामक पन्द्रहवाँ तीर्थङ्कर होगी।[2]

गृहपति अनाथपिण्डिक

प्रथम सम्पर्क

गृहपति अनाथपिण्डिक सुदत्त श्रावस्ती के सुमन श्रेष्ठी का पुत्र था। वह राजगृहक श्रेष्ठी का बहनोई था। एक बार किसी प्रयोजन से वह राजगृह आया। उस समय भगवान् बुद्ध भी राजगृह के सीत-बन में विहार कर रहे थे। अनाथपिण्डिक ने वहाँ सुना, 'लोक में बुद्ध उत्पन्न हो गए हैं।' उसके मन में तथागत के दर्शनों की उत्कण्ठा जागृत हुई। राजगृहक श्रेष्ठी ने संघ-सहित बुद्ध को अपने घर दूसरे दिन के लिए निमन्त्रण दिया था; अतः उसने अपने दास और कर्मकरों को ठीक समय पर खिचड़ी, भात और सूप बनाने का निर्देशन दिया। अनाथपिण्डिक ने सोचा, मेरे आगमन से यह गृहपति सब काम छोड़ मेरे ही आगत-स्वागत में लगा रहता था। आज विक्षिप्तचित्त दास व कर्मकरों को भोजन तैयार करने का निर्देशन दे रहा है; क्या यहाँ कोई विवाह होगा, महायज्ञ होगा या मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार सपरिकर कल के भोजन के लिए आयेंगे?

राजगृहक श्रेष्ठी अनाथपिण्डिक के पास आया और उसे प्रतिसम्मोदन कर एक ओर बैठ गया। अनाथपिण्डिक ने राजगृहक श्रेष्ठी के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की। राजगृहक श्रेष्ठी ने कहा—"मेरे यहाँ कल न विवाह होगा, न कोई यज्ञ होगा और न मगधराज ही भोजन के लिए आमन्त्रित किये गये हैं; अपितु संघ-सहित भगवान् बुद्ध कल के भोजन के लिए निमन्त्रित किये गये हैं।" अनाथपिण्डिक सुनते ही बहुत विस्मित हुआ। उसने तीन बार साश्चर्य पूछा—'बुद्ध?' और राजगृहक श्रेष्ठी ने उत्तर दिया—'हाँ, बुद्ध।'

अनाथपिण्डिक ने कहा—"बुद्ध शब्द का श्रवण भी लोक में बहुत दुर्लभ है। क्या मैं इस समय उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शनार्थ जा सकता हूँ?"

---

१. आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्द्ध पत्र सं० १६४; भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, पत्र सं० २४८-२, २५५-१ उपदेशप्रासाद, स्तम्भ ३, व्याख्यान ३६।

२. ठाणांगसूत्र, ठा० ६, उ० ३, सूत्र ६६१, पत्र ४५५-२।

राजगृहक श्रेष्ठी ने नकारात्मक उत्तर देते हुए कहा—"भगवान् के दर्शनों का यह उपयुक्त समय नहीं है।" अनाथपिण्डिक ने ज्यों-त्यों रात बिताई। वह बीच ही में तीन बार उठा, किन्तु रात्रि की नीरवता को देख, चलने को उद्यत न हो सका। प्रत्यूष से बहुत पूर्व ही उठा। उस समय भी रात्रि की अधिकता थी; फिर भी वह अपनी उत्कण्ठा को रोक न सका। वह चला। नगर के शिवद्वार पर पहुँचा। द्वार बन्द था, किन्तु उसके वहाँ पहुँचते ही देवों ने उसे खोल दिया। वह नगर-द्वार से बाहर आया। कुछ ही दूर चला होगा, सहसा प्रकाश लुप्त हो गया और अन्धकार छा गया। अनाथपिण्डिक भीत हुआ, स्तब्ध हुआ और रोमांचित हुआ। उसके बढ़ते हुए चरण रुक गये। शिवक यक्ष ने अन्तरिक्ष में तिरोहित रह कर उसे प्रेरित करते हुए कहा—"गृहपति चल, शीघ्रता से चल। चलना ही तेरे लिए श्रेयस्कर है, लौटना नहीं।" सहसा अन्धकार नष्ट हो गया। मार्ग प्रकाशित हो गया। भय, स्तब्धता व रोमांच जाता रहा। अनाथपिण्डिक आगे बढ़ा। फिर अन्धेरा छा गया, भय लगने लगा और बढ़ते हुए चरण रुक गये। आवाज आई, उससे साहस बढ़ा और अनाथपिण्डिक चल पड़ा। तीन बार ऐसे हुआ। अनाथपिण्डिक आगे बढ़ता गया और सीत-वन पहुँच गया। भगवान् बुद्ध प्रत्यूष काल की खुली हवा में उस समय टहल रहे थे। भगवान् ने अनाथपिण्डिक को दूर से ही आते हुए देखा तो चंक्रमण भूमि से उतर कर बिछे आसन पर बैठ गये और गृहपति को आह्वान किया—"आ सुदत्त।" नामग्राह आमन्त्रण से अनाथपिण्डिक बहुत हर्षित हुआ। भगवान् के समीप पहुँचा और चरणों में गिर कर नमस्कार किया। कुशल प्रश्न के साथ उसने पूछा—"भन्ते! भगवान् को निद्रा तो सुख से आई?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"निर्वाण-प्राप्त ब्राह्मण सदा ही सुख से सोता है।" साथ ही उन्होंने अनाथपिण्डिक को आनुपूर्वी कथा कही। कालिमा-रहित शुद्ध वस्त्र जैसे रंग पकड़ लेता है, उसी प्रकार उसे भी उसी आसन पर बैठे विरज, विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ। धर्म-तत्त्व को जान कर, सन्देह-रहित होकर और शास्ता के शासन में स्वतन्त्र होकर उसने निवेदन किया—"आश्चर्य भन्ते! आश्चर्य भन्ते! जैसे उलटे को सीधा कर दे, आवृत्त को अनावृत्त कर दे, मार्ग-विस्मृत को मार्ग बता दे, अन्धेरे में तेल का दीपक दिखा दे, जिससे सनेत्र देख सकें; उसी प्रकार भगवान् ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी। आज से मुझे अञ्जलिबद्ध शरणागत स्वीकार करें और भिक्षु-संघ-सहित कल के भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करें।" भगवान् ने मौन स्वीकृति प्रदान की। अनाथपिण्डिक अभिवादन कर घर चला आया।

श्रावस्ती का निमन्त्रण

राजगृहक श्रेष्ठी ने अनाथपिण्डिक द्वारा भगवान् को निमंत्रित किये जाने की घटना

सुनी तो वह उसके पास आया और उसने कहा—"गृहपति ! तू अतिथि है ; अतः मैं तुझे धन देता हूँ, इससे तू संघ-सहित भगवान् के भोजन की तैयारी कर।"

अनाथपिण्डिक ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—"मेरे पास धन है ; अतः आवश्यकता नहीं है।"

अनाथपिण्डिक द्वारा बुद्ध को भोजन के लिए निमंत्रित किये जाने का उदन्त नैगम[1] ने भी सुना। उसने भी उसे धन देना चाहा, पर उसने अनावश्यक समझ कर अस्वीकार कर दिया।

गृहपति अनाथपिण्डिक ने अपने ही व्यय से राजगृहक श्रेष्ठी के घर पर ही भोजन की तैयारी कराई। समय होने पर भगवान् बुद्ध को सूचना दी गई। भगवान् पूर्वाह्ण के समय सुआच्छादित हो, पात्र-चीवर हाथ में ले, राजगृहक श्रेष्ठी के घर आये। बिछे आसन पर बैठे। अनाथपिण्डिक ने अपने हाथों से भोजन परोसा। जब वे भोजन कर चुके तो गृहपति अनाथपिण्डिक उनके समीप बैठा और निवेदन किया—"भन्ते ! भिक्षु-संघ के साथ श्रावस्ती में वर्षावास स्वीकार करें।"

बुद्ध ने कहा—"गृहपति ! तथागत शून्य आगार में ही अभिरमण करते हैं।"

"भन्ते ! मैं समझ गया ; सुगत ! मैं समझ गया।"

गृहपति अनाथपिण्डिक के राजगृह में बहुत से मित्र थे। वहाँ वह अपना काम समाप्त कर श्रावस्ती की ओर चला। मार्गवर्ती ग्रामों में सर्वत्र उसने निर्देश दिया—"आर्यो ! प्रत्येक योजन पर आराम बनाओ। विहार प्रतिष्ठित करो। लोक में अब बुद्ध उत्पन्न हो गये हैं। मैंने श्रावस्ती के लिए उन्हें निमंत्रित किया है। वे इसी मार्ग से आवेंगे।" जो मार्गवर्ती धनिक थे, उन्होंने अपने व्यय से आराम बनाया और जो इतने अर्थ-सम्पन्न नहीं थे, उन्हें अनाथपिण्डिक ने धन दिया।[2] अनाथपिण्डिक की प्रेरणा से मार्गवर्ती सभी ग्रामवासियों ने बहुत शीघ्र ही आराम बनाये और विहार प्रतिष्ठित किये।

जेतवन निर्माण और दाम

अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती पहुँच कर आराम के उपयुक्त स्थान का चारों ओर पर्यवेक्षण किया। उसने सोचा, स्थान ऐसा होना चाहिए, जो शहर से न अधिक दूर हो, न अधिक समीप। इच्छुक व्यक्तियों को वहाँ पहुँचने में कोई बाधा भी नहीं होनी चाहिए। दिन को वहाँ भीड़ कम हो। रात को अल्प निर्घोष, विजन-वात और एकान्त हो, जो ध्यान के योग्य हो सके। उसने जेत राजकुमार का उद्यान देखा। वह उसे सब तरह से उपयुक्त जंचा। वह

---

१. श्रेष्ठी या नगर-सेठ उस समय का एक अवैतनिक राजकीय-पद था। नैगम भी इसी प्रकार का एक पद था ; जो सम्भवतः नगर-सेठ से उच्चतर गिना जाता था।

२. विनयपिटक, अट्ठकथा।

जेत राजकुमार के पास आया और उससे कहा—"आर्यपुत्र ! आराम बनाने के लिए आप अपना उद्यान मुझे दें ।"

राजकुमार ने कहा—"गृहपति ! कोटि-संथार से भी वह आराम अदेय है ।"

अनाथपिण्डिक ने तत्काल कहा—"आर्यपुत्र ! मैंने आराम ले लिया ।"

राजकुमार ने उसका प्रतिवाद किया—"गृहपति ! तू ने वह नहीं लिया ।"

लिया या नहीं, उन्होंने व्यवहार-अमात्यों (न्यायाध्यक्षों) से पूछा तो उन्होंने कहा—"आर्यपुत्र ! क्योंकि तू ने मोल किया ; अतः वह लिया गया ।"

अनाथपिण्डिक ने उसी समय गाडियाँ भर कर हिरण्य (मोहरें) मँगाया और जेतवन में एक दूसरे से सटा कर बिछाया । 'इस प्रकार अठारह करोड़ का एक चह बच्चा (छोटा तलगृह) खाली हो गया ।'[1] द्वार के कोठे के समीप थोड़ा स्थान रिक्त रह गया । अनाथपिण्डिक ने अपने नौकरों को हिरण्य लाने और उस रिक्त स्थान को भरने का निर्देश दिया । जेत राजकुमार के मन में सहसा विचार उत्पन्न हुआ—"यह गृहपति यदि इतना हिरण्य व्यय कर रहा है तो यह कार्य भी विशेष महत्त्वपूर्ण है । क्यों न मैं भी इसमें सम्मिलित होऊँ ।" राजकुमार ने तत्काल अनाथपिण्डिक से कहा—"गृहपति ! इस रिक्त स्थान को तू न भर । इसके लिए तू मुझे अवकाश दे । यह मेरा दान होगा ।" अनाथपिण्डिक ने सोचा—"जेत राजकुमार गणमान्य पुरुष है । इस धर्म विनय में ऐसे पुरुष का अनुराग होना लाभदायक है ।" उसने वह स्थान राजकुमार को दे दिया । राजकुमार ने वहाँ एक बड़ा कमरा बनवाया । अनाथपिण्डिक ने जेतवन में विहार बनवाये । उनके साथ ही परिवेण, कोठरियाँ, उपस्थानशालायें, अग्नि-शालायें, कल्पिक कुटियाँ, शौचस्थान, मूत्रालय, चंक्रमण वेदिका, चंक्रमण शालायें, प्रपा, प्रपागृह, स्नानागार, पुष्करिणी व मण्डप आदि भी बनवाये ।[2] इस प्रकार आठ करीस भूमि में विहार आदि के निर्माण में आठ करोड़ रुपये व्यय हुए ।[3]

भगवान् बुद्ध वैशाली आदि में क्रमशः चारिका करते हुए श्रावस्ती आये । अनाथपिण्डिक के जेतवन में ठहरे । सूचना पाकर अनाथपिण्डिक हर्षितचित्त आया । भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया और उसने भिक्षु-संघ-सहित दूसरे दिन के भोजन का निमन्त्रण दिया । भगवान् ने मौन रह कर उसे स्वीकार किया । दूसरे दिन अनाथपिण्डिक ने प्रत्यूष काल से ही भोजन की तैयारी आरम्भ की । समय पर संघ-सहित बुद्ध आये । उन्हें अपने हाथों भोजन परोसा और संतर्पित किया । भोजन से निवृत्त होकर भगवान् जब एक

---

१. विनयपिटक-अट्ठकथा ।

२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६-३-१ के आधार पर ।

३. विनयपिटक-अट्ठकथा ।

ओर बैठे तो अनाथपिण्डिक ने विनम्र निवेदन किया—"भन्ते ! जेतवन के लिए मैं अब क्या करूँ ?"

भगवान् बुद्ध ने उत्तर दिया—"तू इसे आगत-अनागत चातुर्दिश संघ के लिए प्रदान कर दे।"

अनाथपिण्डिक ने बुद्ध के उस निर्देश को शिरोधार्य किया और उसी समय उसने उसे आगत-अनागत चातुर्दिश संघ को समर्पित कर दिया। भगवान् बुद्ध ने अनाथपिण्डिक के उस दान का अनुमोदन किया और आसन से उठ कर चले गये।[1]

भगवान् बुद्ध का श्रावस्ती में उसके बाद पुनः-पुनः आगमन होता रहा और वे अधिकांशतया अनाथपिण्डिक के उसी जेतवन के विहार में ठहरते रहे। यहीं से उन्होंने भिक्षु-संघ के लिए बहुत सारे नये नियमों की संघटना की।

मृत्यु-शय्या पर

जीवन के अन्तिम समय में अनाथपिण्डिक रुग्ण हुआ। बुद्ध से कहलाया—"मैं रुग्ण हूँ। यहीं से मेरा वन्दन स्वीकार हो।" सारिपुत्र से कहलाया—"कृपया आप मेरे घर पर आकर दर्शन दें।" सारिपुत्र आनन्द को साथ लेकर अनाथपिण्डिक के घर गये। वह अनेक व्याधियों से पीड़ित था। सारिपुत्र ने उसे इन्द्रिय-संयम और अनासक्ति का उपदेश दिया। अनाथपिण्डिक हर्षातिरेक में रो पड़ा। बोला—"भगवन् ! मैंने शास्ता के समीप जीवन भर धर्म-कथाएँ सुनीं। पर, आज की यह धर्म-कथा प्रथम ही है।" सारिपुत्र लौटे। अनाथपिण्डिक काल-धर्म को प्राप्त कर तुषित-काय (देवलोक) में उत्पन्न हुआ। वहाँ से अनाथपिण्डिक देवपुत्र ने जेतवन में आकर शास्ता के दर्शन किये और उनका अभिवादन किया।[2]

अनाथपिण्डिक के अन्तिम समय में सारिपुत्र का उसके घर पहुँचना लगभग वैसा ही है, जैसा गौतम गणधर का आनन्द श्रावक के घर पहुँचना।

विशाखा मृगार माता

विशाखा का जन्म अंग देशान्तर्गत भद्दिया नगर में हुआ। गृहपति मेण्डक उसके दादा, धनंजय उसके पिता व सुमना देवी उसकी माता थी। गृहपति मेण्डक की गणना जोतिय, जटिल, पुण्णक और काकवलिय के साथ अमित भोग-सम्पन्न पाँच महानुभावों में की जाती थी। ये पाँचों ही मगधराज सेनिय बिम्बिसार के राज्य में थे। पाँचों में प्रत्येक के यहाँ दिव्य बल-सम्पन्न पाँच-पाँच व्यक्ति थे। गृहपति मेण्डक के यहाँ वह स्वयं, उसकी

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ६-३-६ के आधार पर।

२. मज्झिमनिकाय, अनाथपिण्डिकोवाद सुत्त, ३-५-१।

पत्नी चन्द्रपद्मा, उसका ज्येष्ठपुत्र धनंजय, धनंजय की पत्नी सुमनादेवी व उसका दास पूरण, ये पाँच महापुण्यात्मा थे ।[1]

दिव्य बल

गृहपति मेण्डक स्नान से निवृत्त होकर, धान्यागार को संमार्जित करवा कर, जब उसके द्वार पर बैठता था तो आकाश से अनाज की धारा गिर कर धान्यागार को भर देती थी । चन्द्रपद्मा का दिव्य बल था कि एक आढ़क चावल व सूप से वह अपने समस्त दास-दासियों को भोजन परोस सकती थी तथा जब तक वह वहाँ से नहीं उठती, वह सामग्री समाप्त नहीं होती । धनंजय का दिव्य बल था, एक हजार मुद्राएँ थैली में भर कर वह अपने यहाँ काम करने वाले दास, कर्मकर व सभी पुरुषों को छः मास का वेतन चुका देता था और वह थैली जब तक उसके हाथ में रहती थी, खाली नहीं होती थी । सुमनादेवी का दिव्य बल था, एक बटलोई में चार द्रोण प्रमाण अनाज भर कर दास, कर्मकर व सभी पुरुषों को छः मास तक का भोजन दे देती थी और जब तक वह वहाँ से नहीं उठती, बटलोई खाली भी नहीं होती थी । दास पूरण का दिव्य बल था कि जब वह हल जोतता तो एक ही साथ सात सीताएँ निकलती थीं ।

मगधराज सेनिय बिम्बिसार ने गृहपति मेण्डक के दिव्य बल के बारे में जब सुना तो अपने एक सर्वार्थक महामात्य को उसकी पूरी छान-बीन के लिए भेजा । वह सेना के साथ गृहपति मेण्डक के घर आया, सबके दिव्य बल को प्रयोगात्मक विधि से देखा और पुनः लौट कर उसने वृत्त बिम्बिसार को निवेदित किया ।[2]

बुद्ध एक बार भद्दिया आये । गृहपति मेण्डक ने सूचना पाकर विशाखा को बुद्ध का स्वागत करने का निर्देश दिया । अपने परिवार की पाँच सौ कन्याओं तथा पाँच सौ दासियों के साथ पाँच सौ रथों पर आरूढ़ होकर विशाखा चली । जहाँ तक रथ जा सकते थे, वहाँ तक रथ से और उसके बाद पैदल ही शास्ता के पास पहुँची । वन्दना की और एक ओर खड़ी हो गई । भगवान् ने उसे देशना दी । देशना के अंत में पाँच सौ कन्याओं के साथ वह स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुई । मेण्डक श्रेष्ठी भी बुद्ध के पास आया, देशना सुनी और वह भी स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हुआ । गृहपति मेण्डक ने अगले दिन के लिए भिक्षु-संघ के साथ गौतम बुद्ध को निमंत्रित किया । उत्तम खाद्य-भोज्य से उसने बुद्ध व संघ को संतर्पित किया । इसी प्रकार आठ मास तक गृहपति मेण्डक ने महादान किया । शास्ता भद्दिया में यथेच्छ विचरण कर अन्यत्र चले गये ।

---

१. धम्मपद-अट्ठकथा, ४-८ के आधार पर ।

२. विनयपिटक, महावग्ग, ६-६-१ व २ के आधार पर ।

महापुण्य पुरुष का प्रेषण

राजा बिम्बिसार और राजा प्रसेनजित् कोशल एक-दूसरे के बहनोई थे। राजा प्रसेनजित् कोशल ने एक बार सोचा—राजा बिम्बिसार के राज्य में पाँच अमित भोग-सम्पन्न महापुण्य व्यक्ति निवास करते हैं। मेरे राज्य में एक भी नहीं है। क्यों न बिम्बिसार से याचना कर एक महापुण्य पुरुष को मैं अपने राज्य में ले आऊँ। प्रसेनजित् कोशल राजगृह आया। बिम्बिसार ने उसका स्वागत किया और आने का कारण पूछा। प्रसेनजित् कोशल ने अपनी भावना व्यक्त की। बिम्बिसार ने कहा—"हम महाकुलो को हटा नहीं सकते।"

प्रसेनजित् कोशल ने दृढ़ स्वर में कहा—"बिना पाये मैं भी नहीं जाऊँगा।"

राजा ने अमात्यों से परामर्श किया और निश्चय किया—"जोतिय आदि महाकुलों को कहीं अन्यत्र प्रेषित करना पृथ्वी-प्रकम्प के सदृश है; अतः यह तो उचित नहीं है। मेण्डक महाश्रेष्ठी का पुत्र धनंजय यदि जा सके तो समाधान हो सकता है।"

बिम्बिसार ने धनंजय को बुलाया और कहा—"कोशल-राजा एक श्रेष्ठी को अपने राज्य का मुख्य अंग बनाना चाहते हैं। क्या तुम उसके साथ जाओगे?"

धनंजय ने विनम्रता से उत्तर दिया—"यदि आप अनुज्ञा करेंगे तो अवश्य जाऊँगा।"

बिम्बिसार ने प्रसन्नतापूर्वक निर्देश दिया—"तो तुम अपना प्रबन्ध करो।"

धनंजय ने अपनी सारी व्यवस्थाएँ की और राजा बिम्बिसार के पास उपस्थित हुआ। बिम्बिसार ने उसका बहुत सम्मान किया और राजा प्रसेनजित् कोशल को प्रसन्नतापूर्वक उपहार के रूप में उसे समर्पित किया। कोशल-राजा ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और श्रावस्ती की ओर प्रयाण किया। मार्ग में एक रात ठहर कर वे दोनों श्रावस्ती के लगभग निकट पहुँच गये। श्रावस्ती वहाँ से केवल सात योजन दूर थी। सन्ध्या का समय हो गया था; अतः वहीं डेरा डाला गया। धनंजय ने राजा से पूछा—"यह राज्य किसका है?"

"श्रेष्ठिन्! मेरा ही है।"

"यहाँ से श्रावस्ती कितनी दूर है?"

"सात योजन।"

"नगर में जन-संकुलता अधिक होती है। हमारा परिजन परिकर अधिक है, अतः यदि अनुज्ञा हो तो हम यहीं बस जायें?"

प्रसेनजित् कोशल ने अनुज्ञा दे दी। वहीं नगर बसा दिया गया। राजा ने वह नगर और अन्य चौदह ग्राम धनंजय को प्रदान कर दिये। वहाँ सायं वास किया गया था; अतः उस नगर का साकेत नामकरण हुआ।[1]

---

१. धम्मपद-अट्ठकथा, ४-८ के आधार पर।

विशाखा का चयन

श्रावस्ती में मृगार श्रेष्ठी रहता था। उसके पुत्र का नाम पूर्णवर्द्धन था। जब वह यौवन में आया, उसके विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। मृगार श्रेष्ठी ने अपने कुशल पुरुषों को योग्य कन्या की खोज में भेजा। श्रावस्ती में कुमार के उपयुक्त कन्या नहीं मिली। वे साकेत आये। विशाखा उस समय पाँच सौ कुमारियों के साथ एक महावापी पर उत्सव में लीन हो रही थी। वे पुरुष साकेत की गली-गली में घूमे, पर वहाँ भी उन्हें कोई उपयुक्त कन्या दृष्टिगत नहीं हुई। वे नगर से बाहर आये और नगर-द्वार पर खड़े भावी योजनाओं पर विमर्षण कर रहे थे। सहसा वर्षा आरम्भ हो गई। विशाखा के साथ आई हुई पाँच सौ कन्याएँ भींगने के भय से शीघ्रता से दौड़ कर समीपवर्ती एक शाला में घुस गईं। उन पुरुषों ने उन्हें भी एक-एक कर देखा, पर उन्हें कोई भी कन्या उपयुक्त नहीं लगी। विशाखा मन्द गति से चलती हुई उन सब से पीछे आई और शाला में प्रविष्ट हुई। उन पुरुषों ने उसे देखा। उसकी भव्यता और शालीनता से वे आकृष्ट हुए। उन्होंने यह भी सोचा, अन्य कन्याएँ भी इतनी रूपवती हो सकती हैं। किसी-किसी का रूप पके नारियल की तरह होता है; अतः देखना चाहिए, वह कितनी मधुर-भाषिणी है। वे विशाखा के पास आये और उससे कहा—"अम्म ! क्या तुम वृद्धा हो ?"

विशाखा ने विनम्रता से कहा—"ऐसा आपने क्या देखा ?"

पुरुषों ने कहा—"तुम्हारे साथ क्रीड़ा करने वाली दूसरी कुमारियाँ भींगने के भय से शीघ्रता से चल कर शाला में दौड़ आईं और तुम वृद्धा की तरह मन्द-मन्द चलती रहीं, तुमने साड़ी के भींगने की भी परवाह नहीं की। यदि हाथी या घोड़ा भी तुम्हारा पीछा करे तो भी क्या तुम ऐसा ही करोगी ?"

विशाखा की वाणी में कोमलता थी। उसने शालीनता से कहा—"तातो ! मेरे लिए साड़ियाँ दुर्लभ नहीं हैं। तरुण स्त्री विकाऊ वर्तन की तरह होती है। हाथ-पैर टूट जाने से वह विकलांग हो जाती है। लोग उससे घृणा करने लग जाते हैं और उसे कोई ग्रहण नहीं करते, मेरी मन्द गति का यही कारण है।"

आगन्तुक लोगों को गहरा सन्तोष हुआ। उन्हें दृढ़ विश्वास हुआ, यह जैसी रूप में है, वैसी ही आलाप में मधुर है। सब कुछ विचारपूर्वक ही कहती है। उन्होंने माला को गुंडेर कर उसके ऊपर से फेंका। विशाखा को अनुभव हुआ, मैं पहले अपरिगृहीता थी और अब परिगृहीता हो गई हूँ। वह संकोचवश भूमि पर वहीं बैठ गई। उसे कनात से घेर दिया गया। वह दासियों से परिवृत अपने घर लौट आयी।

मृगार श्रेष्ठी के वे पुरुष धनंजय श्रेष्ठी के घर आये। परस्पर परिचय का आदान-प्रदान हुआ। धनंजय ने आगमन का कारण पूछा। उन्होंने अपना उद्देश्य प्रस्तुत करते हुए

कहा—"हमारे सेठ के पूर्णवर्द्धन कुमार है। वह स्वास्थ्य, सौन्दर्य और गुण में श्रेष्ठ है। आपकी कन्या और हमारे कुमार यदि प्रणय-सूत्र में आबद्ध हो जायें तो यह दोनों के लिए ही सौभाग्य-वर्धक होगा।"

धनंजय ने कहा—"तुम्हारे श्रेष्ठी सम्पदा में हम से न्यून हैं, किन्तु जाति में समान हैं। सब तरह से समान मिलना तो कठिन है। जाओ, श्रेष्ठी को हमारी स्वीकृति की सूचना दे दो।"

मृगार श्रेष्ठी के अनुचर शीघ्रता से लौट आये। उन्होंने उल्लास-वर्धक वह संवाद श्रेष्ठी को सुनाते हुए कहा—"साकेत में धनंजय श्रेष्ठी की कन्या विशाखा अपने कुमार के अनुरूप है।" मृगार श्रेष्ठी को इस संवाद से अत्यन्त प्रसन्नता हुई। महाकुल की कन्या अपने कुमार के लिए है; अतः उसने धनंजय को उसी समय पत्र (शासन) लिखा। उसमें उसने लिखा—"हम इसी समय कन्या को लेने आयेंगे, आप अपना प्रबन्ध करें।" प्रसन्न-मना धनंजय ने प्रतिशासन भेजा—"हमारे लिए यह कोई कठिन नहीं है। आप अपनी व्यवस्था करें।"

मृगार श्रेष्ठी कोशल-राजा के पास आया। उसने निवेदन किया—"देव! मेरे घर एक मंगल प्रसंग है। धनंजय श्रेष्ठी अपनी कन्या विशाखा पूर्णवर्द्धन को प्रदान करेगा; अतः मुझे साकेत जाने की आज्ञा प्रदान करें।"

राजा ने आज्ञा प्रदान करते हुए पूछा—"क्या मुझे भी चलना है?"

मृगार श्रेष्ठी ने कहा—"देव! हमारा ऐसा सौभाग्य?"

राजा ने कहा—"महाकुल-पुत्र को सन्तुष्ट करने के अभिप्राय से मैं भी चलूँगा।"

विशाखा का विवाह

कोशल-राजा मृगार श्रेष्ठी के बृहत् परिवार के साथ साकेत आया। धनंजय ने दोनों का हार्दिक स्वागत किया। वास-स्थान, माला, गन्ध, वस्त्र आदि की प्रत्येक के लिए सुन्दर व्यवस्था की गई। सभी यह अनुभव करते थे, धनंजय श्रेष्ठी हमारा ही सत्कार कर रहा है। इस प्रकार उन्हें वहाँ रहते हुए काफी समय बीत गया। राजा ने एक दिन धनंजय को शासन (पत्र) भेज कर सावधान किया—"तुम हमारा चिरकाल तक भरण-पोषण नहीं कर सकते; अतः कन्या की विदाई का समय निश्चित करो।"

धनंजय ने राजा को प्रतिशासन भेजा—"वर्षा ऋतु आ गई है। चार मास तक आपका प्रस्थान नहीं हो सकता। आपके परिकर का सारा दायित्व मेरे ऊपर है। जो भी आवश्यक हो, आदेश करें। मेरे निवेदन के अनन्तर ही आप प्रस्थान का निश्चय करें।"

साकेत में प्रतिदिन महोत्सव होने लगे। तीन मास बीत गये। विशाखा का महालता

आभूषण तब तक भी तैयार न हो सका। प्रबन्ध-कर्ता श्रेष्ठी के पास आये और उन्होंने कहा—"स्वामिन्! आपके घर किसी वस्तु की अल्पता नहीं है। भोजन पकाने के लिए इन्धन की अल्पता हो गई है।" श्रेष्ठी ने तत्काल निर्देश दिया—"गजशाला, अश्वशाला और गोशाला के स्तम्भ उखाड़ लो और उन्हें इन्धन के रूप में काम लो।" वैसा ही किया गया, किन्तु आधा महीना ही बीता होगा कि इन्धन की फिर अल्पता हो गई। श्रेष्ठी को स्थिति से पुनः परिचित किया गया। श्रेष्ठी ने निर्देश दिया—"इस समय इन्धन सुलभता से नहीं मिल सकता; अतः कपड़े के गोदाम खोल दो। मोटी-मोटी साड़ियों की बत्ती बनाओ, तेल में भिगोओ, उन्हें जलाओ और भोजन पकाओ।" चार मास का समय पूरा हो गया। विशाखा का महालता प्रसाधन भी बन कर तैयार हो गया।

दस शिक्षाएँ

धनंजय ने विशाखा को पतिगृह-प्रेषित करने का निश्चय किया। कन्या को अपने पास बुलाया और उसे पतिकुल का आचार बताते हुए दस शिक्षाएँ दीं:

(१) घर की आग बाहर नहीं ले जानी चाहिए।
(२) बाहर की आग घर में नहीं लानी चाहिए।
(३) देने वालों को ही देना चाहिए।
(४) न देने वालों को नहीं देना चाहिए।
(५) देने वालों को व न देने वालों को भी देना चाहिए।
(६) सुख से बैठना चाहिए।
(७) सुख से खाना चाहिए।
(८) सुख से लेटना चाहिए।
(९) अग्नि की तरह परिचरण करना चाहिए।
(१०) घर के देवताओं को नमस्कार करना चाहिए।

धनंजय विशाखा को जब ये शिक्षाएँ दे रहा था; मृगार श्रेष्ठी ने भी बाहर बैठे यह सब कुछ सुना।

दहेज

धनंजय ने सभी श्रेणियों (वणिक्-सभाओं) को एकत्रित किया और राज-सेना के बीच आठ कौटुम्बिकों (पंचों) को दायित्व सौंपा—"यदि पति-गृह में मेरी कन्या का कोई अपराध हो जाये तो आप उसका शोधन करना।" धनंजय ने विशाखा को नौ करोड़ के बहुमूल्य महालता प्रसाधन (एक प्रकार का आभूषण) से विभूषित किया और दहेज में प्रचुर धन-सामग्री दी। वह सामग्री पचपन सौ गाड़ों में भरी गई। पाँच-पाँच सौ गाड़ों में धन, स्वर्ण, रजत और ताम्र के आभूषण, सिक्के व बर्तन थे। पाँच-पाँच सौ गाड़ों में घी,

चावल और धान था। पन्द्रह सौ गाड़ों में खेती का सामान था। पाँच सौ उत्तम रथ थे, जिनमें प्रत्येक में तीन-तीन दासियाँ थीं। पौन गावुत लम्बे और आठ यष्टि चौड़े समतल मैदान में जितने दुधारू पशु समा सकते थे, उतने पशु भी दहेज में दिये गये। जब वे सभी पशु श्रावस्ती की ओर प्रयाण करने लगे, तो धनंजय के साठ हजार वृषभ और साठ हजार गौएँ भी अपने-अपने गोष्ठ को छोड़ कर उन पशुओं के पीछे-पीछे हो गईं।

धनंजय की अधीनता में चौदह ग्राम थे। विशाखा जब ससुराल जाने लगी तो सभी ग्रामों के नागरिक अत्यन्त खिन्न हुए। धनंजय ने घोषणा की—"कोई भी नागरिक विशाखा के साथ जाना चाहे तो जा सकता है।" विशाखा बहुत लोकप्रिय थी। सारे ही ग्राम खाली हो गये और नागरिक विशाखा के साथ जाने लगे। श्रेष्ठी मृगार ने सोचा, इन सहस्रों लोगों को मैं भोजन कैसे करवा सकूंगा। उसने उन सबको प्रतिविसर्जित कर दिया।

श्वसुरालय में

पितृ-गृह से प्रस्थान कर बृहत् परिवार के साथ विशाखा श्रावस्ती के नगर-द्वार पर पहुँची। सहसा उसके मन में आया, आवृत्त यान में बैठ कर नगर प्रवेश करूँ या अनावृत्त यान में खड़े होकर। यदि आवृत्त यान से प्रवेश करूँगी तो जनता मेरे महालता-प्रसाधन की विशेषता से परिचित नहीं हो सकेगी। उसने अनावृत्त यान से ही नगर-प्रवेश किया। श्रावस्ती के नागरिकों ने विशाखा के सौन्दर्य और ऐश्वर्य को जी-भर कर देखा और भूरि-भूरि प्रशंसा की। 'बारात में धनंजय ने हमारा बहुत स्वागत किया', इस विचार से नागरिकों ने विशाखा को बहुत सारे उपहार भेंट किये। विशाखा ने उन्हें स्वीकार किया और एक-दूसरे कुल में उन्हे वितरित कर दिया।

जिस दिन विशाखा श्वसुरालय में आयी, उस रात में एक आजन्य घोड़ी को गर्भ-वेदना हुई। वह अपने महल से चली। उसके साथ उसका दासी-परिवार भी हाथ में मशाल लिये हुए था। विशाखा ने घोड़ी को गर्म पानी से नहलाया, तेल से मालिश करवाई और प्रसव होने पर वह अपने वास-स्थान लौट आई।

निर्ग्रन्थों से घृणा

मृगार श्रेष्ठी ने एक सप्ताह तक विवाहोत्सव मनाया। वह निर्ग्रन्थों का अनुयायी था ; अतः उसने इस उपलक्ष पर सातवें दिन बहुत सारे निर्ग्रन्थों को आमंत्रित किया, किन्तु गौतम बुद्ध को आमंत्रित नहीं किया। निर्ग्रन्थों से उसका सारा घर भर गया। श्रेष्ठी ने विशाखा को शासन भेजा—"अपने घर अर्हत् आये हैं ; अतः तुम आकर उन्हें वन्दना करो।" विशाखा स्रोतापन्न आर्य श्राविका थी। अर्हत् का नाम सुन कर वह बहुत हृष्ट-तुष्ट हुई। वह तत्काल तैयार हुई और वन्दना करने के लिए चली आई। उसने जब नग्न निर्ग्रन्थों को

देखा तो वह सहसा सिहर उठी। उसके मुँह से कुछ शब्द निकल ही पड़े—"क्या अर्हत् ऐसे ही होते हैं? मेरे श्वसुर ने इन लज्जा-हीन श्रमणों के पास मुझे क्यों बुलाया? धिक्, धिक्।" वह उसी क्षण अपने महल में लौट आई।

नग्न श्रमण विशाखा के उस व्यवहार से बहुत खिन्न हुए। उन्होंने मृगार श्रेष्ठी को कड़ा उलाहना देते हुए कहा—"श्रेष्ठिन्! क्या तुझे दूसरी कन्या नहीं मिली? श्रमण गौतम की इस महाकुलक्षणा श्राविका को अपने घर क्यों लाया? यह तो जलती हुई गाजर है। शीघ्र ही इसे घर से निकालो।"

मृगार श्रेष्ठी असमंजस में पड़ गया। उसने सोचा, विशाखा महाकुल की कन्या है। इनके कथन मात्र से इसे निकाला नहीं जा सकता। न निकालने पर श्रमणों का कोप भी उससे अपरिचित नहीं था। उसने अत्यधिक विनम्रता के साथ उनसे क्षमा माँगी और उन्हें ससम्मान विदा किया। स्वयं बड़े आसन पर बैठा। सोने की कलछी से सोने की थाली में परोसा गया निर्जल मधुर क्षीर भोजन करने लगा। उसी समय एक स्थविर भिक्षु पिण्ड-चार करता हुआ श्रेष्ठी के गृह-द्वार पर आया। विशाखा ने उसे देखा। श्वसुर को सूचित करना उसे उचित नहीं लगा; अतः वह वहाँ से हट कर एक ओर इस प्रकार खड़ी हो गई जिससे मृगार श्रेष्ठी भिक्षु को अच्छी तरह से देख सके। मूर्ख श्रेष्ठी स्थविर को देखता हुआ भी न देखते हुए की तरह नीचा मुँह कर पायस खाता रहा। विशाखा ने जब यह सारा दृश्य देखा तो उससे नहीं रहा गया। स्थविर को लक्ष्य कर वह बोली—"भन्ते! आगे जायें। मेरा श्वसुर बासी खा रहा है।"

श्रेष्ठी का रोष

निर्ग्रन्थों के प्रति विशाखा द्वारा हुए असभ्य व्यवहार से ही मृगार श्रेष्ठी बहुत रुष्ट था और जब उसने अपने प्रति 'बासी खा रहा है', यह सुना तो उसके कोप का ठिकाना नहीं रहा। उसने भोजन से हाथ खींच लिया और अपने अनुचरों को निर्देश दिया—"इस पायस को ले जाओ और इसे (विशाखा को) भी घर से निकालो। यह मुझे ऐसे मंगल घर में भी अशुचि-भोजी बना रही है।"

सभी अनुचर विशाखा के अधिकार में थे और उसके प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। उसे पकड़ने की बात तो दूर रही, उसके प्रति असभ्य शब्द का व्यवहार भी कोई नहीं कर सकता था। विशाखा श्वसुर को सम्बोधित करती हुई बोली—"तात! मैं ऐसे नहीं निकल सकती। आप मुझे किसी पनिहारिन की तरह नहीं लाये हैं। माता-पिता की वर्तमानता में कन्याओं के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता। मेरे पिता ने जिस दिन मुझे अपने घर से विदा किया था, आठ कौटुम्बिकों को मेरे अपराध के शोधन का दायित्व सौंपा था। उन्हें बुला कर पहले आप मेरे दोष का परिशोधन करें।"

कौटुम्बिकों के बीच शिक्षाओं का स्पष्टीकरण

मृगार श्रेष्ठी ने आठों कौटुम्बिकों को बुलाया और सरोष वह सारी घटना सुनाई। कौटुम्बिकों ने विशाखा से सारी स्थिति की जानकारी चाही। विशाखा ने कहा—"मेरे श्वसुर अशुचि-भोजी बनना चाहते होंगे। मैंने तो इनके साथ ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया। एक पिण्डपातिक (माधुकरी वृत्ति वाले) स्थविर भिक्षु द्वार पर खड़े थे। श्रेष्ठी उनकी ओर ध्यान न देकर निर्जल पायस खाये जा रहे थे। इस दृश्य को लक्षित कर मैंने भिक्षु से कहा था—'भन्ते ! आप आगे जायें। मेरा श्वसुर इस शरीर में पुण्य नहीं करता। पूर्व पुण्य को ही खा रहा है।' आप ही बतायें, मैंने इसमें क्या अशिष्ट व्यवहार किया ?"

कौटुम्बिकों ने विशाखा को निर्दोष प्रमाणित करते हुए निर्णय दिया—"यह दोष नहीं है ; क्योंकि हमारी पुत्री आपकी पुण्यशालिता का यौक्तिक कारण बतलाती है।"

श्रेष्ठी ने अन्यमनस्कता के साथ उस प्रसंग को टालते हुए विशाखा पर आरोप मढ़ा—"यह कन्या जिस दिन मेरे घर आई थी ; उस दिन मेरे पुत्र का विचार न कर अपनी रुचि के स्थान पर चली गई। क्या यह इसके अनुरूप था ?"

स्पष्टीकरण के अभिप्राय से कौटुम्बिकों ने जब विशाखा की ओर देखा तो वह बोली—"मैं अपनी रुचि के स्थान पर नहीं गई। इसी घर में आजन्य घोड़ी के प्रसव-समय की ओर ध्यान न देकर ऐसे ही बैठे रहना अनुचित था ; अतः मशालों सहित दासियों के परिवार से मैं वहाँ गई और मैंने प्रसव-उपचार करवाया।"

कौटुम्बिकों ने निर्णय दिया—"आर्य ! हमारी पुत्री ने तुम्हारे घर दासियों के भी न करने का काम किया है ; अतः इसमें आप क्या दोष देखते हैं ?"

मृगार श्रेष्ठी ने आक्रोशपूर्वक कहा—"यह चाहे गुण भी हो, पर जब यह यहाँ आ रही थी, तब इसके पिता ने इसे शिक्षा दी थी, घर की आग बाहर नहीं ले जानी चाहिए। क्या दोनों ओर पड़ोसियों के घर बिना आग के रह सकते हैं ?"

कौटुम्बिकों ने विशाखा की ओर देखा तो उसने कहा—"मेरे पिता ने इस आग को लेकर नहीं कहा, अपितु इस अभिप्राय से कहा था, घर में सास आदि स्त्रियों की गुप्त बातें दास-दासियों को नहीं कहनी चाहिए। ये बातें धीरे-धीरे उग्र कलह का रूप ले लेती हैं।"

मृगार श्रेष्ठी की बातें ज्यों-ज्यों कटती गईं, त्यों-त्यों वह एक-एक कर अन्य बातें भी कहता गया। उसने कहा—"चाहे यह इसका दोष न भी हो, पर इसके पिता ने कहा था, बाहर की आग घर में नहीं लानी चाहिए। घर में आग बुझ जाने पर भी क्या बाहर से आग लाये बिना काम चल सकता है ?"

कौटुम्बिकों के संकेत पर विशाखा ने हार्द स्पष्ट करते हुए कहा—"मेरे पिता ने इस आग के बारे में नहीं कहा था, अपितु उनका अभिप्राय था, कर्मकरों की गल्तियाँ पारिवारिकों को नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि उससे कर्मकरों के प्रति अविश्वास की भावना बढ़ती है।"

मृगार श्रेष्ठी ने कहा, विशाखा के पिता ने और भी तो कहा था, उसका हार्द क्या था ? मैं उसे भी जानना चाहता हूँ।

विशाखा ने उत्तर देना प्रारम्भ किया—'देते हैं, उन्हें ही देना चाहिए', नहीं देने वालों को नहीं देना चाहिए'—यह मंगनी को लक्षित कर कहा गया था। 'देने वालों को और न देने वालों को भी देना चाहिए'; यह इस अभिप्राय से कहा था कि अमीर व गरीब अपने जाति-मित्रों को—चाहे वे प्रतिदान न भी कर सकें, देना ही चाहिए। 'सुख से बैठना चाहिए' का तात्पर्य था, सास-श्वसुर को देख कर उठने के स्थान पर नहीं बैठना चाहिए। 'सुख से खाना चाहिए' का तात्पर्य था, सास-श्वसुर व स्वामी के भोजन करने से पूर्व भोजन नहीं करना चाहिए। सबने भोजन किया या नहीं किया, यह जानकर ही स्वयं को भोजन करना चाहिए। 'सुख से लेटना चाहिए' का तात्पर्य था, सास, श्वसुर व पति की परिचर्या कर, उनके लेटने के बाद लेटना चाहिए। 'अग्नि की तरह परिचरण करना चाहिए' का तात्पर्य था, सास, श्वसुर व पति को अग्नि-पुंज व नागराज की भाँति समझना चाहिए। 'घर के देवताओं को नमस्कार करना चाहिए' का तात्पर्य था, घर आये प्रव्रजितों को उत्तम खाद्य-भोज्य से सन्तर्पित कर ही भोजन करना चाहिए।

कौटुम्बिकों ने तत्काल मृगार श्रेष्ठी से प्रश्न किया—"क्या आपको प्रव्रजितों को देख कर न देना ही उचित मालूम देता है ?" श्रेष्ठी कुछ भी उत्तर न दे सका। अधोमुख होकर बैठ गया।[1]

कौटुम्बिकों ने सात्विक गौरव की एक अनुभूति करते हुए पूछा—"श्रेष्ठिन् ! हमारी पुत्री में क्या और भी कोई दोष है ?" श्रेष्ठी ने नकारात्मक उत्तर दिया। कौटुम्बिकों ने निर्देशन की भाषा में कहा—"फिर निष्कारण ही हमारी पुत्री को आप घर से क्यों निकलवाते थे ?"

विशाखा का स्वाभिमान चमक उठा। उसने कौटुम्बिकों की ओर इङ्गित कर सरोष कहा—"श्वसुर के कहने से मेरा जाना उचित न था। मेरे अपराध-शोधन का दायित्व पिताजी ने आप पर छोड़ा था। आपने मुझे दोष-मुक्त कर दिया है ; अतः अब मैं जा रही हूँ।" उसने दास-दासियों को निर्देश दिया—"रथ तैयार करो।"

---

१. इसी प्रकार के पदार्थ-कथानक जैन-परम्परा में भी अनेकों प्रचलित हैं। 'मुनिवर अजहुँ सवार', 'पुत्र को चार शिक्षाएं' आदि प्रचलित कथानक तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही सरस एवं महत्त्वपूर्ण हैं।

मृगार श्रेष्ठी हतप्रभ-सा कौटुम्बिकों की ओर देखने लगा। वह न उगल सका और न निगल सका। अधीर की तरह उसने विशाखा से कहा—"मैंने यह अनजान में कह डाला। तुम मुझे क्षमा करो।"

मृगार निर्ग्रन्थ-संघ से बुद्ध-संघ की ओर

विशाखा ने क्षमा-प्रदान करते हुए अपनी एक शर्त प्रस्तुत की। उसने कहा—"मैं बुद्ध-धर्म में अत्यन्त अनुरक्त कुल की कन्या हूँ। मैं भिक्षु-संघ की सेवा के बिना नहीं रह सकती। यदि मुझे भिक्षु-संघ की सेवा का यथेच्छ अवसर दिया जाये तो मैं रहूँगी, अन्यथा इस घर में रहने के लिए कतई प्रस्तुत नहीं हूँ।" मृगार श्रेष्ठी ने विशाखा की शर्त स्वीकार की और एक अपवाद संयोजित किया—"बुद्ध का स्वागत तुझे ही करना होगा। मैं उसमें उपस्थित होना नहीं चाहता।" विशाखा ने दूसरे ही दिन बुद्ध को ससंघ निमन्त्रित किया। बुद्ध जब उसके घर आये तो सारा घर भिक्षुओं से भर गया। विशाखा ने उनका हार्दिक स्वागत किया। नग्न श्रमणों (निर्ग्रन्थों) ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वे भी दौड़े आये और उन्होंने मृगार श्रेष्ठी के घर को चारों ओर से घेर लिया। विशाखा ने बुद्ध प्रभृति को दक्षिणोदक दिया और श्वसुर के पास शासन भेजा—सत्कार-विधि सम्पन्न हो गई है, आप आकर भोजन परोसें। श्रेष्ठी निर्ग्रन्थों के प्रभाव में था, अतः नहीं आया। भोजन समाप्त हो चुकने पर विशाखा ने फिर शासन भेजा, श्वसुर बुद्ध का धर्मोपदेश सुनें। अब न जाना अनुचित होगा, यह सोच कर मृगार श्रेष्ठी अपने कक्ष से चला। नग्न श्रमणों (निर्ग्रन्थों) ने आकर उसे रोका और कहा—"श्रमण गौतम का धर्मोपदेश कनात के बाहर रह कर सुनना।" मृगार श्रेष्ठी ने वैसा ही किया। वह कनात के बाहर से उपदेश सुनने लगा। बुद्ध ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"तू चाहे कनात के बाहर, दिवाल या पर्वत की आड़ में व चक्रवाल के अन्तिम छोर पर भी क्यों न बैठे, मैं बुद्ध हूँ, अतः तुझे उपदेश सुना सकता हूँ।"

मृगार-माता

बुद्ध ने उपदेश प्रारम्भ किया। सुनहले, पके फलों से लदी आम्र-वृक्ष की शाखा को झकझोरने पर जैसे फल गिरने लगते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठी के पाप विनष्ट होने लगे और उपदेश समाप्त होते-होते वह स्रोतापत्ति-फल में प्रतिष्ठित हो गया। उसने तत्काल कनात को हटाया, आगे बढ़ा, पाँचों अंगों को भूतल तक नमाया और शास्ता की चरण-धूलि लेकर नमस्कार किया। शास्ता के सामने ही उसने विशाखा को सम्बोधित करते हुए कहा—"अम्म! आज से तू मेरी माता है।" श्रेष्ठी ने तत्काल उसे माता के स्थान पर प्रतिष्ठित करते हुए उसका स्तन-पान किया। विशाखा के नाम के साथ उस दिन से 'मृगार-माता' शब्द और संयुक्त हो गया। विशाखा के एक पुत्र का नाम भी मृगार रखा गया।[1]

---

१. धम्मपद अट्ठकथा, ४-८ के आधार पर।

मृगार श्रेष्ठी की ओर से मातृ-पद-प्रदान के उपलक्ष में विशाखा मृगार-माता का अभिनन्दन किया गया। उस समारोह में बुद्ध को भी ससंघ आमन्त्रित किया गया। सोलह घड़े पुष्पसार से उसे नहलाया गया और मृगार श्रेष्ठी की ओर से एक लाख मूल्य का 'घन मत्थक प्रसाधन' आभूषण विशाखा को भेंट किया गया।[1]

विशाखा मृगार-माता प्रतिदिन पाँचसौ भिक्षुओं को अपने घर पर भोजन के लिए निमंत्रित करती थी।[2] बुद्ध का प्रतिदिन उपदेश सुनती थी और विहार में जाकर आगन्तुक, प्रतिष्ठासु, रोगी व शैक्ष भिक्षु-भिक्षुणियों की आवश्यकताओं की देख-भाल करती थी।[3]

पूर्वाराम-निर्माण

उत्सव का दिन था। सभी व्यक्ति विशेष सज्जा के साथ तैयार होकर धर्म-श्रवण के लिए विहार की ओर जा रहे थे। विशाखा ने भी निमंत्रित स्थान पर भोजन किया, महालता प्रसाधन से अलंकृत हुई और जनता के साथ विहार में आई। महालता प्रसाधन तथा अन्य आभूषण उसने उतार कर दासी को दिये और कहा—"शास्ता के पास से लौटते समय मैं इन्हें पहनूँगी।" विशाखा ने धर्मोपदेश सुना और वन्दना कर लौट आई। दासी आभूषणों को वहीं भूल गई। परिषद् के चले जाने पर कुछ भी यदि वहाँ छूट जाता तो आनन्द स्थविर उसे सम्भालते। महालता प्रसाधन को उन्होंने सम्भाला और शास्ता को उसकी सूचना दी। शास्ता ने उसे एक ओर रख देने का परामर्श दिया। आनन्द ने उसे सीढ़ी के पास रख दिया। विशाखा सुप्रिया दासी के साथ आगन्तुक, गमिक व रोगी आदि की सार-सम्भाल के लिए विहार में घूमती रही। दूसरे द्वार से निकलकर विहार से बाहर आई। दासी से महालता प्रसाधन व अन्य आभूषण माँगे। दासी को अपनी गल्ती का भान हुआ। उसने अपनी स्वामिनी से वस्तुस्थिति निवेदित की। विशाखा ने कहा—"जा उन्हें अब ले आ। किन्तु ध्यान रखना, यदि स्थविर आनन्द ने उठाकर कहीं रख दिया हो तो न लाना। मैं उसे आर्य ही को प्रदान करती हूँ।" दासी विहार में आई। आनन्द स्थविर ने उसे देखा। आगमन का कारण पूछा। सुप्रिया ने अपना उद्देश्य स्पष्ट किया। आनन्द स्थविर ने कहा—"मैंने उसे उठाकर सीढ़ी के पास रख दिया है; तू उसे ले जा।" सुप्रिया यह कहती हुई लौट आई कि आपके हाथ से छू जाने पर ये आभूषण मेरी आर्यिका के पहनने के आयोग्य हो गये हैं। विशाखा ने जब

---

१. Dictionary of Pali Proper Names, Vol II, p. 902.

२. जातक, भाग ४, पृ० १४४।

३. धम्मपद-अट्ठकथा, पृ० १-१२८।

यह सारा उदन्त सुना तो उसने उसे आर्यों को ही समर्पित कर दिया। किन्तु आर्यों को उसकी सुरक्षा में दुविधा होगी। उससे कल्प्य वस्तुएँ बनवाऊँगी; यह सोचकर दासी के द्वारा उसने उस प्रसाधन को मंगवा लिया।

विशाखा ने उसे नहीं पहना। उसने उसे बेचने का संकल्प किया। स्वर्णकारों को बुलाकर उसका मूल्य पूछा गया। उन्होंने नौ करोड़ उसका मूल्य और एक लाख उसकी बनवाई बताई। उसने उस मूल्य पर आभूषण बेच देने का कहा। किन्तु इतनी बड़ी राशि देकर उसे कोई नहीं खरीद सकता था; अतः उसने उसे स्वयं खरीदा। नौ करोड़ और एक लाख मुद्राएँ गाड़ों में भरवा कर वह विहार में आई। शास्ता को नमस्कार कर उसने निवेदन किया—"भन्ते! आनन्द स्थविर के हाथ से मेरा आभूषण छू गया था; अतः मैं इसे नहीं पहन सकती। मैंने इसे आर्यों को समर्पित किया है। आर्यों के कल्प्य की वस्तुएँ खरीदने के अभिप्राय से मैंने इसे बेच दिया। इतनी बड़ी राशि देकर अन्य कोई नहीं खरीद सकता था; अतः मैंने ही इसे खरीदा है। भिक्षुओं के चारों प्रत्ययों में से मैं किसे लाऊँ?"

तथागत ने पूर्व-द्वार पर वास-स्थान बनाने का सुझाव दिया। विशाखा ने उस सुझाव को क्रियान्वित किया। नौ करोड़ से उसने भूमि को खरीदा और पूर्वाराम में प्रासाद-निर्माण का काम आरम्भ हो गया।

शास्ता का प्रस्थान

शास्ता स्वभावतः ही विशाखा के घर भिक्षा ग्रहण कर, नगर के दक्षिण-द्वार से निर्गमन कर, जेतवन में निवास करते थे और अनाथपिण्डिक के घर भिक्षा ग्रहण कर, नगर के पूर्व-द्वार से निर्गमन कर, पूर्वाराम में वास करते थे। जब वे नगर के उत्तर-द्वार की ओर अभिमुख होते, जनता समझ लेती शास्ता चारिका के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। विशाखा ने एक दिन शास्ता को उत्तर के द्वार की ओर प्रयाण करते हुए देखा। वहाँ शीघ्र ही शास्ता के समीप आई और वन्दना कर व्यग्रता के साथ बोली—"भन्ते! आप चारिका के लिए जाना चाहते हैं?"

"हाँ, विशाखे!"

विशाखा का हृदय मुँह की ओर आ गया। उसने रूँधे हुए गले से कहा—"भन्ते! इतना धन देकर मैं तो आपके लिए विहार बनवा रही हूँ और आप गमन कर रहे हैं? नहीं, ऐसा नहीं करें, पुनः लौट चलें।"

"यह गमन लौटने का नहीं है।"

"भन्ते! तो फिर कृत-अकृत के ज्ञाता किसी एक भिक्षु को तो आप मेरे लिए लौटा कर जायें।"

"विशाखे ! जिस भिक्षु को तू चाहे, उसका पात्र ले ले।"

विशाखा ने आनन्द स्थविर का पात्र ग्रहण करने की ठानी। दूसरे ही क्षण उसके मन में आया, आयुष्मान् महामौद्गल्यायन ऋद्धिमान् हैं। उनके ऋद्धि-बल से विहार-निर्माण का कार्य शीघ्र ही समाप्त हो सकेगा। उसने उनका पात्र ग्रहण कर लिया। मौद्गल्यायन ने शास्ता की ओर देखा। शास्ता ने निर्देश दिया—"मौद्गल्यायन ! पाँचसौ भिक्षुओं के अपने पूरे परिवार के साथ लौट जाओ।"

मौद्गल्यायन लौट आये। उनके ऋद्धि-बल से प्रासाद-निर्माण का कार्य बहुत सुगम हो गया। विशाखा के कर्मकर पच्चास-साठ योजन से वृक्ष या पाषाण लेकर उसी दिन लौट आते थे। गाड़ियों पर वृक्षों और पाषाणों को लादने में उन्हें कोई कठिनता नहीं होती थी और न गाड़ियों का धुरा ही टूटता था। दो मंजिल का विशाल प्रासाद बनकर शीघ्र ही तैयार हो गया। प्रत्येक मंजिल में पाँच-पाँचसौ छोटे-बड़े कमरे थे। विहार के निर्माण में नौ करोड़ की राशि व्यय हुई।

नौ मास की अवधि समाप्त होने पर चारिका करते हुए शास्ता पुनः श्रावस्ती आये। विशाखा के प्रासाद-निर्माण का कार्य तब तक समाप्त हो चुका था। जेतवन में ठहरने के अभिप्राय से शास्ता उस ओर चले। विशाखा ने जब यह सुना तो वह शास्ता के पास आई और उन्हें संघ के साथ अपने यहाँ ही चातुर्मासिक-प्रवास के लिए अनुनय किया। क्योंकि वह प्रासाद का उत्सव करना चाहती थी, बुद्ध ने उसे स्वीकार किया।

सखी का गलीचा

विशाखा की एक सखी एक दिन उसके पास आई। वह अपने साथ एक सहस्र मूल्य का गलीचा भी लाई थी। उसने विशाखा से कहा—"मैं यह गलीचा तेरे प्रासाद में कहीं बिछाना चाहती हूँ। तू मुझे स्थान बता।"

विशाखा ने कहा—"यदि मैं तुझे कहूँ कि अवकाश नहीं है तो तू समझेगी, मैं तुझे प्रासाद में स्थान देना नहीं चहती; अतः तू ही दोनों मंजिलों को गौर से देख ले और जहाँ तुझे उचित स्थान मिले, वहाँ अपना गलीचा बिछा दे।"

सखी प्रासाद में चारों ओर घूमी, पर उसे कोई फर्श खाली नहीं मिला। वह जहाँ गई, उसे अपने से अधिक बहुमूल्य गलीचे बिछे मिले। वह दुःखित होकर रो पड़ी। आनन्द स्थविर ने उसे देखा। स्थविर ने उससे पूछा तो उसने अपना हृदय खोल दिया। आनन्द ने उसे सान्त्वना दी और स्थान बताते हुए कहा—"सीढ़ी और पैर धोने के स्थान के बीच इसे पाद-पोंछन बनाकर बिछा दे। भिक्षु पैर धोकर इससे पोंछेंगे और फिर कमरे में प्रवेश करेंगे। इससे तुझे महाफल होगा।" विशाखा का उस स्थान की ओर ध्यान नहीं गया था।

प्रासाद का उत्सव

विशाखा ने चार ही महीने तक बुद्ध-प्रभृति भिक्षु-संघ को विहार में ही भिक्षा-दान किया। उसने अन्तिम दिन संघ को चीवर-शाटक दिये। सब से नये भिक्षु को दिये गये चीवर का मूल्य एक सहस्र था। सभी भिक्षुओं को पात्र भरकर भैषज्य (घी, गुड़ आदि) दिया गया। दान देने में नौ करोड़ व्यय हुआ। इस प्रकार भूमि खरीदने में, विहार-निर्माण में और विहार-उत्सव में विशाखा ने सत्ताईस करोड़ की राशि व्यय की। एक महिला और मिथ्या-दृष्टि के घर में वास करते हुए बुद्ध-शासन में उसने जो दान किया, वैसा दूसरे का नहीं था।[1]

भिक्षुओं द्वारा नग्न ही स्नान

भगवान् बुद्ध वाराणसी से क्रमशः चारिका करते हुए श्रावस्ती पहुँचे। अनाथपिण्डिक के जेतवन में ठहरे। विशाखा मृगार-माता भगवान् को अभिवादन करने गई। धर्म-कथा द्वारा भगवान् ने उसे समुत्तेजित व सम्प्रहर्षित किया। विशाखा ने भगवान् को भिक्षु-संघ के साथ अगले दिन के भोजन का निमंत्रण दिया। भगवान् ने मौन रहकर उस निमंत्रण को स्वीकार किया।

रात बीतने पर चातुर्द्वीपिक महामेघ बरसाने लगा। बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा—"जेतवन में जैसे यह मेघ बरस रहा है, वैसे ही चारों द्वीपों में बरस रहा है। यह अन्तिम चातुर्द्वीपिक महामेघ है; अतः इसमें स्नान करो।" भिक्षुओं ने उस निर्देश को स्वीकार किया और वस्त्र उतार कर नग्न ही स्नान करने लगे। विशाखा ने दासी को भोजन-काल की सूचना के लिए विहार में भेजा। दासी ने नग्न भिक्षुओं को स्नान करते देखा, तो उल्टे पैरों लौट आई और उसने विशाखा को परिस्थिति से अवगत किया—"वहाँ तो शाक्य भिक्षु नहीं हैं, आजीवक भिक्षु हैं; अतः वर्षा में स्नान कर रहे है।" विशाखा चतुरा थी। उसने स्थिति को तत्काल भाँप लिया। उसने दासी को काल की सूचना का दूसरी बार निर्देश दिया। दासी पुनः आराम में आई। भिक्षु उस समय स्नान कर, शरीर को शान्त कर, वस्त्र पहन अपने-अपने विहार में चले गये थे। दासी को आराम में कोई भिक्षु नहीं मिला। वह पुनः लौट आई। विशाखा को सारी परिस्थिति से परिचित किया। विशाखा ने सोचा, आर्य लोग स्नान से निवृत्त होकर निश्चित ही विहार में चले गये होंगे; इसीलिए इसे आराम सुना मिला है। उसने दासी को पुनः भेजा।

भोजन का समय हो आने पर भगवान् ने भिक्षुओं को पात्र-चीवर तैयार करने का निर्देश दिया। भिक्षु शीघ्र ही तैयार हुए। कोई बलशाली पुरुष फैली हुई बाँह को जैसे

---

१. धम्मपद अट्ठकथा, ४-४ के आधार पर।

समेटे और समेटी हुई बाँह को जैसे फैलाये और उसमें उसे किसी प्रयत्न विशेष की अवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार बुद्ध बिना प्रयास ही जेतवन में अन्तर्धान हुए व विशाखा के घर प्रकट हुए और संघ के साथ बिछे आसन पर बैठे। विशाखा ने साश्चर्य कहा—"तथागत की महर्द्धिकता स्तुत्य है। सारे शहर में जँघा तक व कहीं-कहीं कमर तक पानी भरा है और एक भिक्षु का पैर या चीवर भी नहीं भीगा।" उसने अतीव हर्षित होकर बुद्ध प्रमुख भिक्षु-संघ को उत्तम खाद्य-भोज्य परोसा और उन्हें संतर्पित किया।

आठ वर

बुद्ध जब भोजन से निवृत्त हो गये तो वह एक ओर बैठ गई और उसने बुद्ध से कहा—

"भन्ते! मैं कुछ वर माँगती हूँ।"

"तथागत वर से दूर हो चुके हैं।"

"भन्ते! वे कल्प्य और निर्दोष हैं।"

बुद्ध से अनुमति पाकर विशाखा ने वर माँगते हुए कहा—

१. मैं यावज्जीवन संघ को वर्षा की वर्षिक साटिका देना चाहती हूँ।

२. मैं यावज्जीवन नवागन्तुकों को भोजन देना चाहती हूँ।

३. मैं यावज्जीवन गमिकों (प्रस्थान करने वाले भिक्षुओं) को भोजन देना चाहती हूँ।

४. मैं यावज्जीवन रोगी को भोजन देना चाहती हूँ।

५. मैं यावज्जीवन रोगी-परिचारक को भोजन देना चाहती हूँ।

६. मैं यावज्जीवन रोगी को औषधि-दान करना चाहती हूँ।

७. मैं यावज्जीवन संघ को प्रतिदिन प्रातः काल यवागू देना चाहती हूँ।

८. मैं यावज्जीवन भिक्षुणी-संघ को उदक-साटिका[1] देना चाहती हूँ।

तथागत ने विशाखा से वर माँगने का कारण पूछा तो उसने एक-एक पहलू पर विशद प्रकाश डाला। उसने भिक्षुओं के नग्न ही स्नान करने की घटना सुनाई और कहा—

१. भन्ते! नग्नता घृणित, मलिन व बुरी है; अतः मैं यावज्जीवन संघ को वर्षिक साटिका देना चाहती हूँ।

२. नवागन्तुक भिक्षु श्रावस्ती के मार्ग नहीं जानते। थके-माँदे होते हैं। वे मेरे यहाँ भोजन कर गली-कूचों से परिचित हो जायेंगे और थकावट दूर कर भिक्षाचार करेंगे; अतः मैं यावज्जीवन संघ के नवागन्तुक भिक्षु को भोजन देना चाहती हूँ।

३. प्रस्थान करने वाले भिक्षुओं का, भोजन की एषणा करते हुए, समय अधिक लग जाता है; अतः वे अपने कारवाँ से विलग हो जाते हैं या अपने लक्षित स्थान पर वे विकाल

१. रजस्वला स्त्रियों के काम में लाया जाने वाला वस्त्र।

(अपराह्न) में पहुँचेंगे और थके हुए आयेंगे। मेरे यहाँ भोजन करने वाले गमिक भिक्षुओं का न कारवाँ छूटेगा और न वे विकाल में पहुँचेंगे। वे मार्ग-श्रम से क्लान्त भी नहीं होंगे। इस उद्देश्य से संघ के गमिक भिक्षुओं को जीवनपर्यन्त भोजन देना चाहती हूँ।

४. रोगी भिक्षुओं को अनुकूल भोजन न मिलने पर उनके रोग में वृद्धि होती है या उनकी मृत्यु हो जाती है। मेरा भोजन करने से न उनका रोग बढ़ेगा और न उनकी मृत्यु होगी।

५. रोगी-परिचारक भिक्षु अपने भोजन की गवेषणा में रोगी के पास विलम्ब से पहुँचेगा या उस दिन वह भोजन न कर सकेगा। रोगी-परिचारक भोजन कर यदि रोगी के लिए समय से भोजन ले आयेगा, तो वह भक्तच्छेद भी नहीं कहलायेगा।

६. रोगी भिक्षु को अनुकूल भैषज्य न मिलने पर उसका रोग बढ़ता है या उसकी मृत्यु हो जाती है। मेरे भैषज्य को ग्रहण करने पर न उनका रोग बढ़ेगा और न उनकी मृत्यु होगी।

७. अन्धकविंद में भगवान् ने दश गुणों को देख यवागू की अनुमति दी है। उन गुणों को देखकर ही संघ को मैं प्रतिदिन यवागू देना चाहती हूँ।

८. एक बार भिक्षुणियाँ अचिरवती नदी में वेश्याओं के साथ एक ही घाट पर नंगी स्नान कर रही थीं। वेश्याओं ने भिक्षुणियों को ताना कसा—"तुम सब युवतियों को ब्रह्मचर्य-वास का क्या प्रयोजन? तुम्हें तो इस अवस्था में भोगों का ही परिभोग करना चाहिए और वार्धक्य में ब्रह्मचर्य-वास। ऐसा करने से तुम्हारे दोनों ही फलितार्थ शुभ होंगे।" भिक्षुणियाँ उन्हें कोई उत्तर न दे सकीं। स्त्रियों की नग्नता गर्हास्पद व घृणास्पद होती है; अतः मैं जीवन पर्यन्त भिक्षुणी-संघ को उदक-साटिका देना चाहती हूँ।"

वर से उपलब्धि

तथागत ने पूछा—"विशाखे! तुझे इन वरों में किस विशेष गुण की उपलब्धि दृष्टिगत हो रही है?"

विशाखा ने कहा—"नाना दिशाओं में वर्षावास सम्पन्न कर भगवान् के दर्शनार्थ भिक्षुजन जब श्रावस्ती आयेंगे, भगवान् से पूछेंगे, "अमुक भिक्षु मर गया है। उसकी गति क्या है? क्या परलोक है?" उस समय भगवान् स्रोतापत्ति-फल, सकृदागामि-फल या अर्हत्व का व्याकरण करेंगे। मैं उन भिक्षुओं से पूछूँगी, वे मृत भिक्षु श्रावस्ती आये थे या नहीं? यदि वे मुझे कहेंगे कि वह भिक्षु श्रावस्ती में आया था, तो मैं निश्चय कर लूँगी, उस आर्य ने मेरे यहाँ से वर्षिक साटिका या नवागन्तुक-भोजन या गमिक-भोजन या रोगी-भोजन या रोगी-परिचारक भोजन या रोगी-भैषज्य या नैरन्तरिक-यवागू अवश्य ही ग्रहण किया

होगा। उसका स्मरण कर मेरे चित्त में प्रमोद होगा, प्रमोद से प्रीति होगी, प्रीति से काया शान्त होगी, काया शान्त होने से मैं सुख का अनुभव करूँगी और सुख का अनुभव होने पर मेरा चित्त समाधि को प्राप्त होगा। यह सारी प्रक्रिया ही मेरी इन्द्रिय-भावना, बल-भावना और बोध्यंग-भावना होगी। इस वर-याचना में मुझे इसी विशेष गुण की उपलब्धि दृष्टिगत हो रही है।"

तथागत ने विशाखा के विचारों का अनुमोदन किया, उसे साधुवाद दिया और उसे आठों ही वरों की स्वीकृत दी। बुद्ध आसन से उठकर चले गये। विहार में पहुँच कर उन्होंने भिक्षुओं को आमंत्रित किया और उन्हें आठों ही कार्यों की अनुमति दी।[1] इसी प्रकार एक दिन वह मुख पोंछने का वस्त्र ले भगवान् के पास आई और अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। उसने वह वस्त्र शास्ता को उपहृत किया और कहा—"आप इसे स्वीकार करें। यह मेरे चिर कालिक हित-सुख के लिए होगा।" शास्ता ने उस वस्त्र को लिया और उसे धार्मिक कथा द्वारा समुत्तेजित व सम्प्रहर्षित किया। विशाखा जब लौट आई तो शास्ता ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया और मुख पोंछने के वस्त्र की अनुमति दी।[2]

*

१. विनयपिटक, महावग्ग, ८-४-५ व ६ के आधार पर।

२. विनयपिटक, महावग्ग, ८-३-५ के आधार पर।

: १३ :

विरोधी शिष्य

महावीर और बुद्ध के योग्य पारिपार्श्विकों ने अपने उत्सर्ग, अपनी सेवा, अपने समर्पण और अपनी समुज्जवल साधना से जैसे नया इतिहास गढ़ा है वैसे ही कुछ एक विरोधी शिष्यों ने विरोध और संघर्ष का ज्वलन्त इतिहास भी गढ़ा है। वे विरोधी शिष्य थे—गोशालक और देवदत्त। गोशालक का सम्बन्ध महावीर से था और देवदत्त का बुद्ध से। दोनों ही दोनों के दीक्षित शिष्य थे। दोनों ही के पास लब्धि-बल था, पर अन्त में दोनों ही निस्तेज हो जाते हैं। गोशालक ने अपने को जिन कहा, महावीर को अजिन कहा। देवदत्त ने महती परिषद् के बीच बुद्ध से कहा—"अब आप वृद्ध हो चले हैं, जीर्ण हो चले हैं, भिक्षु-संघ को मुझे सौंप दें। मैं उसका शास्ता बनूँगा।" महावीर ने गोशालक की अजिनता व्यक्त की और बुद्ध ने देवदत्त को खखार कहा। परिणामतः दोनों ने ही अपने-अपने गुरु को मारने का प्रयत्न किया। महावीर और बुद्ध दोनों के ही शिष्य-परिवार में गोशालक और देवदत्त की हरकतों से चिन्ता परिव्याप्त हुई। उस अवसर पर महावीर ने अपनी दीर्घ जीविता की घोषणा कर आनन्द, सीह आदि शिष्यों को सान्त्वना दी और बताया—"जिन निरुपक्रमी और अवध्य होते हैं।" बुद्ध ने भी अपने शिष्यों से कहा—"भिक्षुओ! बुद्ध निरुपक्रमी होते हैं। वे अपने मरण-काल में ही मरते हैं। कोई उन्हें मारने में क्षम नहीं होता।

दोनों घटना-प्रसंगों में आयात संयोग यह भी है कि गोशालक भी महावीर के आनन्द भिक्षु को अपना सन्देशवाहक बनाते हैं और देवदत्त भी बुद्ध के आनन्द भिक्षु को। यह भी बहुत समान है कि महावीर और बुद्ध दोनों ही लगभग एक ही प्रकार से वस्तु-स्थिति का प्रकाशन करते हैं।

दोनों ही विरोधी शिष्य कुछ समय के लिए बहुत प्रभावशाली रहे। गोशालक का अनुयायी-समुदाय बहुत बड़ा था। देवदत्त के पीछे अजातशत्रु का बल था। वह उनके व्यक्तिगत प्रभाव में था।

उल्लेखनीय बात यह है, जीवन के अन्तिम क्षणों में दोनों ही अपने-अपने शास्ता के प्रति श्रद्धाशील होते हैं। दोनों की मृत्यु भी रक्तज और पित्तज निमित्त से होती है।

देवदत्त मरकर अवीचि नरक में उत्पन्न हुआ। एक लाख कल्प वह वहाँ रह कर अट्ठिस्सर नामक प्रत्येक बुद्ध होगा व निर्वाण प्राप्त करेगा। गोशालक वहाँ से मर कर अच्युत कल्प स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वहाँ से वे पुनः-पुनः नरकादि गतियों में परिभ्रमण करेंगे। अन्त में कैवल्य प्राप्त कर निर्वाणगामी होंगे।

महावीर और बुद्ध के विरोधी वातायन में देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति के भेद से असमानता तो स्वाभाविक और मूल-भूत है ही। उन स्वाभाविक असमानताओं में इतनी समानताओं का होना अवश्य विलक्षण है। गोशालक का विवरण **भगवती सूत्र** का एक प्रमुख प्रकरण है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ के **'गोशालक'** अध्याय में समुद्धृत हुआ है। देवदत्त का मुख्य विवरण **विनयपिटक के चुल्लवग्ग (संघभेदक खन्धक प्रकरण)** में है, जो सारांशतः यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। दोनों ही प्रकरण तत्कालीन विविध धार्मिक मान्यताओं, राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों और साम्प्रदायिक मनोभावों के पूरे-पूरे परिचायक भी हैं। घटना-वृत्त दोनों ही प्रकरणों का नितान्त विकट और कटुक है। कुल मिलाकर गवेषक दोनों ही प्रकरणों से बहुत कुछ पा सकता है।

देवदत्त

अजातशत्रु पर प्रभाव

भगवान् बुद्ध अनूपिया में चारिका करते हुए कौशाम्बी आये। घोषिताराम में ठहरे। देवदत्त एकान्त में बैठा था। उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ—"मैं किसको प्रसादित करूँ; जिसके प्रसन्न होने पर मुझे बड़ा लाभ व सत्कार प्राप्त हो।" सहसा उसे अजातशत्रु की याद आई। उसके विषय में उसने सोचा—"अजातशत्रु कुमार तरुण है। उसका भविष्य उत्तम है। मुझे उसे ही प्रसादित करना चाहिए। ऐसा होने पर मुझे बड़ा लाभ व सत्कार प्राप्त होगा।"

देवदत्त शयनासन संभाल कर और पात्र-चीवर आदि लेकर राजगृह की ओर चल पड़ा। वहाँ पहुँच कर उसने अपने रूप का अन्तर्धान किया। एक बालक बन, कटि पर तागड़ी पहनी और सीधा अजातशत्रु की गोद में प्रादुर्भूत हुआ। इस अनालोचित दृश्य को देखकर अजातशत्रु भीत, शंकित और त्रस्त हुआ। देवदत्त ने बालक के रूप में अजातशत्रु से कहा—"कुमार! तू मुझ से भय खाता है?"

"हाँ, भय खाता हूँ। तुम कौन हो?"

"मैं देवदत्त हूँ।"

"भन्ते! यदि आप आर्य देवदत्त हैं तो अपने स्वरूप में प्रकट हों।"

देवदत्त ने कुमार का रूप छोड़ा, संघाटी, पात्र-चीवर धारण किये और अजातशत्रु

कुमार के सामने अपने मूल रूप में प्रकट हुआ। अजातशत्रु देवदत्त के इस दिव्य चमत्कार से बहुत प्रभावित हुआ। वह प्रतिदिन प्रातः और सायं पाँच सौ रथों के साथ देवदत्त के उपस्थान के लिए जाने लगा और भोजन के लिए प्रतिदिन पाँच सौ स्थाली-पाक भेजने लगा।

लाभ, सत्कार और श्लाघा से अभिभूत देवदत्त के मन में अभिलाषा जागृत हुई—"मैं भिक्षु-संघ का नेतृत्व करूँ।" इस विचार मात्र से ही उसका योग-बल नष्ट हो गया।

भगवान् बुद्ध कौशाम्बी से चारिका करते हुए राजगृह आये। कलन्दक निवाप के वेणुवन में ठहरे। बहुत सारे भिक्षु बुद्ध के पास आये। अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। उन्होंने बुद्ध से कुमार अजातशत्रु द्वारा विहित देवदत्त के सन्मान के विषय में कहा। बुद्ध ने उत्तर में कहा—"भिक्षुओ! देवदत्त के लाभ, सत्कार और श्लाघा की स्पृहा मत करो। जब तक कुमार अजातशत्रु देवदत्त के उपस्थान के लिए आयेगा, तब तक देवदत्त की कुशल धर्मों में हानि ही होगी; वृद्धि नहीं। यह उसके आत्म-वध और पराभव के लिए हुआ है। केला, बाँस और नरकट का फल तथा अश्वतरी का गर्भ जैसे उनके आत्म-वध और पराभव के लिए होता है; वैसे ही देवदत्त के लिए यह प्रसंग हुआ है।"

देव द्वारा सूचना

आयुष्मान् महामौद्गल्यायन का उपस्थाक ककुध नामक कोलिय-पुत्र उन्हीं दिनों मृत्यु प्राप्त कर मनोमय (देव) लोक में उत्पन्न हुआ। उसका शरीर मगध के गाँवों के दो-तीन खेतों के बराबर बड़ा था। पर वह शरीर न उसके लिए पीड़ा-कारक था और न दूसरों के लिए। ककुध देवपुत्र आयुष्मान् मौद्गल्यायन के पास आया। अभिवादन कर एक ओर खड़ा हो गया और उन्हें सूचित किया—"भन्ते! आदत्तचित्त देवदत्त के मन में इच्छा उत्पन्न हुई है—'मैं भिक्षु-संघ का नेतृत्व ग्रहण करूँ।' इस विचार के उभरते ही उसकी ऋद्धि नष्ट हो गई है।" ककुध देवपुत्र यह कहकर तत्काल तिरोहित हो गया।

मौद्गल्यायन द्वारा पुष्टि

मौद्गल्यायन बुद्ध के पास आये और ककुध देवपुत्र द्वारा कथित वृत्तान्त उन्हें निवेदित किया। बुद्ध ने मौद्गल्यायन से पूछा—"क्या तू ने भी योग-बल से इस वृत्त को उसी प्रकार जाना है?"

विनम्रता से मौद्गल्यायन ने कहा—"भन्ते! जो कुछ ककुध देवपुत्र ने कहा है, सब वैसे ही है; अन्यथा नहीं।"

बुद्ध महती परिषद् में धर्म-उपदेश कर रहे थे। राजा भी उसमें उपस्थित था। देवदत्त अपने आसन से उठा। उत्तरासंग किया और करबद्ध हो, बुद्ध से बोला—"भन्ते!

भगवान् अब जीर्ण, अध्वगत और वयः-अनुप्राप्त हैं ; अतः निश्चिन्त होकर इस जन्म के सुख-विहार के साथ विहरें। भिक्षु-संघ मुझे सौंप दें। इसे मैं ग्रहण करूँगा।"

"बस, देवदत्त ! तुझे भिक्षु-संघ का ग्रहण न रुचे।"

देवदत्त ने तीन बार अपने कथन को दुहराया। बुद्ध ने उसका प्रतिवाद करते हुए दृढ़ता से कहा—"देवदत्त ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को भी मैं भिक्षु-संघ नहीं देता, फिर तेरे जैसे खखार (श्लेष्म) को तो देने की बात ही क्या ?"

देवदत्त मन-ही-मन उबलने लगा और कहने लगा—"इस महत्ती परिषद् में, जिसमें कि राजा भी उपस्थित है, भगवान् ने खखार कहकर मुझे अपमानित किया है और सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को बढ़ाया है।" वह कुपित हुआ और असन्तुष्ट होकर भगवान् को अभिवादन व प्रदक्षिणा कर चला गया। देवदत्त का यह पहला द्रोह था।

प्रकाशनीय कर्म

बुद्ध ने संघ को आमन्त्रित किया और कहा—"भिक्षुओ ! संघ राजगृह में देवदत्त का प्रकाशनीय कर्म करे—'देवदत्त पहले अन्य प्रकृति का था और अब अन्य प्रकृति का है। देवदत्त काय व वचन से अब जो कुछ भी करे, बुद्ध, धर्म और संघ उसका उत्तरदायी नहीं है। देवदत्त ही उत्तरदायी है।'

"इस प्रकाशनीय कर्म के लिए चतुर व समर्थ भिक्षु-संघ को ज्ञप्ति करे, अनुश्रावण करे और उपरोक्त वाक्य को दुहराता हुआ कहे—'संघ इस अभिमत से सहमत है, अतः मौन है। मैं इसकी धारणा करता हूँ'।"

बुद्ध ने सारिपुत्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"सारिपुत्र ! तू राजगृह में देवदत्त का प्रकाशन कर।"

"भन्ते ! मैंने राजगृह में पहले देवदत्त की प्रशंसा करते हुए कहा था—'गोधिपुत्र (देवदत्त) महर्द्धिक (दिव्य शक्तिधर) है।' भन्ते ! अब मैं उसका प्रकाशन करूँ ?"

"सारिपुत्र ! तू ने देवदत्त की पहले यथार्थ ही तो प्रशंसा की थी न ?"

"हाँ, भन्ते !"

"सारिपुत्र ! इसी प्रकार यथार्थ ही देवदत्त का राजगृह में प्रकाशन कर।"

सारिपुत्र ने बुद्ध का आदेश शिरोधार्य किया। बुद्ध ने भिक्षु-संघ से कहा—"संघ सारिपुत्र को राजगृह में देवदत्त के प्रकाशन-कार्य के लिए चुने।" उसी समय बुद्ध ने चुनाव-विधि पर प्रकाश डालते हुए कहा—"संघ पहले सारिपुत्र को पूछे। उसके अनन्तर चतुर व समर्थ भिक्षु-संघ को सूचित करे और क्रमशः ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा करे।"

संघ द्वारा चुने जाने के बाद आयुष्मान् सारिपुत्र बहुत से भिक्षुओं के साथ राजगृह आये। वहाँ देवदत्त का प्रकाशन किया। श्रद्धालु, पण्डितों व बुद्धिमानों ने सोचा—"भगवान् राजगृह में देवदत्त का जो प्रकाशन करवा रहे हैं, यह साधारण घटना नहीं है।"

अजातशत्रु को पितृ-हत्या की प्रेरणा

देवदत्त कुमार अजातशत्रु के पास आया। कुमार से कहा—"मनुष्य पहले दीर्घायु होते थे। अब अल्पायु होते हैं। हो सकता है, तुम कुमार रहते ही मर जाओ। कुमार! तुम पिता को मार कर राजा होओ और मैं बुद्ध को मार कर बुद्ध होऊँगा।"

अजातशत्रु जाँघ में छुरा बाँध कर भीत, उद्विग्न, शंकित व त्रस्त की तरह मध्याह्न में सहसा अन्तःपुर में पहुँचा। अन्तःपुर के उपचारक महामात्यों ने तत्काल उसे ज्यों-का-त्यों पकड़ लिया। कुमार से महामात्यों ने पूछा—"सच-सच बताओ, तुम क्या करना चाहते थे?"

"पिता को मारना चाहता था।"

"किसने प्रोत्साहित किया?"

"आर्य देवदत्त ने।"

कुछ महामात्यों ने सम्मति दी—"कुमार को भी मारना चाहिए और देवदत्त व भिक्षुओं को भी।"

कुछ महामात्यों ने कहा—"न कुमार को मारना चाहिए, न देवदत्त और भिक्षुओं को भी, अपितु राजा को सूचित कर देना चाहिए। वे जैसा चाहेंगे, करेंगे।"

महामात्य अजातशत्रु को लेकर मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार के पास गये। उन्हें सारी घटना सुनाई। श्रेणिक ने महामात्यों के परामर्श के बारे में पूछा। उनके विचार भी बताये गये। श्रेणिक ने निर्णय दिया—"भणे! इसमें बुद्ध, धर्म और संघ का क्या दोष है? भगवान् ने तो राजगृह में पहले ही इसका प्रकाशन करवा दिया है। जिन महामात्यों ने कुमार, देवदत्त व भिक्षुओं को मारने का परामर्श दिया है, उन्हें पद से पृथक् कर दिया जाये और जिन्होंने कुमार, देवदत्त व भिक्षुओं को मारने का परामर्श न देकर मुझे सूचित करने का प्रस्ताव किया है, उनकी पदोन्नति कर दी जाये।"

मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार ने अजातशत्रु से पूछा—"कुमार! तू मुझे किस प्रयोजन से मारना चाहता था?"

"देव! राज्य चाहता हूँ।"

बुद्ध-हत्या का षड्यंत्र

श्रेणिक ने उस समय अजातशत्रु को राज्य-भार सौंप दिया। देवदत्त अजातशत्रु

कुमार के पास आया। अपनी योजनाओं से परिचित करते हुए उससे कहा—"महाराज! अनुचरों को निर्देश दो कि वे श्रमण गौतम का प्राण-वियोजन कर दें।"

अजातशत्रु देवदत्त के ऋद्धि-बल से बहुत प्रभावित था; अतः उसने अपने विश्वस्त व्यक्तियों को तत्सम्बन्धी सारे निर्देश तत्काल दे दिये। देवदत्त ने एक पुरुष को आज्ञा दी—"आवुस! श्रमण गौतम अमुक स्थान पर विहार करता है। उसका प्राण-वियोजन कर इस रास्ते से चले आओ। उस मार्ग में दो पुरुषों को बैठाया और उन्हें निर्देश दिया—"इस मार्ग से जो अकेला पुरुष आये, उसे जान से मारकर तुम इस मार्ग से चले आओ।" इसी प्रकार चार पुरुषों को उन दो के लिये, आठ पुरुषों को उन चार के लिये और सोलह पुरुषों को उन आठ पुरुषों के वध के लिये निर्देश दिया। सभी निर्दिष्ट मार्ग और स्थान पर सावधान होकर बैठ गये। वह अकेला पुरुष ढाल-तलवार और तीर-कमान ले बुद्ध के पास गया। अविदूर में भीत, उद्विग्न, शंकित, शून्य-सा एक ओर खड़ा हो गया। बुद्ध ने उसे देखा। कोमल सम्बोधन करते हुए बुद्ध ने उससे कहा—"आओ, आवुस! आओ। डरो मत।" उस पुरुष ने ढाल-तलवार और तीर-कमान एक ओर डाल दिये। बुद्ध के चरणों में शिर से गिरकर बोला—"भन्ते! बाल, मूढ़ व अकुशल की भाँति मैंने जघन्य अपराध किया है। मैं दुष्ट चित्त होकर आपके वध के लिये यहाँ आया। मुझे क्षमा करें। भन्ते! भविष्य में संवर के लिए मेरे इस अपराध को अत्यय (विगत) के रूप में स्वीकार करें।"

बुद्ध ने उसे सान्त्वना के शब्दों में कहा—"यद्यपि तूने अपराध किया है, पर भविष्य के लिये अत्यय के रूप में देखकर तू उसका धर्मानुसार प्रतिकार करता है; अतः हम उसे स्वीकार करते हैं।" बुद्ध ने उस समय उसे आनुपूर्वी कथा कही। उस पुरुष को उसी आसन पर धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया। वह बुद्ध से बोला—"भन्ते! आज से मुझे अञ्जलिबद्ध शरणागत उपासक धारण करें।" बुद्ध ने अपने ऋद्धि-बल से देवदत्त के षड्यन्त्र को जानकर उसके जाने का मार्ग बदलवा दिया। वह पुरुष देवदत्त द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से नहीं गया। वे दोनों पुरुष व्यग्रता से उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। जब वह नहीं आया तो वे दोनों उसी दिशा में चले। एक वृक्ष के नीचे उन्होंने बुद्ध को बैठे देखा। अभिवादन कर वे भी एक ओर खड़े हो गये। बुद्ध ने उन्हें आनुपूर्वी कथा कही। उन्हें भी धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ और वे बुद्ध के अञ्जलिबद्ध शरणागत हो गये। इसी प्रकार वे चार, आठ और सोलह पुरुष भी क्रमशः बुद्ध के पास आये। उन्हें भी धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ और वे सभी बुद्ध के अञ्जलिबद्ध शरणागत हो गये। बुद्ध ने क्रमशः उन सब के वापिस जाने के मार्ग को बदलवा दिया। वह अकेला पुरुष देवदत्त के पास आया और वास्तविकता को उद्घाटित करते हुए उसने कहा—"भन्ते! मैं उन भगवान् का शरीरान्त न कर सका। वे महर्द्धिक महानुभाव हैं।" अन्यमनस्कता के साथ देवदत्त ने कहा—"खैर, जाने दो। तू श्रमण गौतम को मत मार, मैं ही उसे मारूँगा।"

देवदत्त द्वारा प्रयत्न

बुद्ध गृध्रकूट पर्वत की छाया में चंक्रमण कर रहे थे। देवदत्त पर्वत पर चढ़ा। बुद्ध को मारने के अभिप्राय से एक शिला उन पर फेंकी। दो पर्वत कूटों ने आकर उस शिला को रोका। सहसा एक पपड़ी उछली और वह बुद्ध के पैरों पर पड़ी। पैर से खून बहने लगा। बुद्ध ने ऊपर देखा और देवदत्त से कहा—"फल्गु पुरुष! तू ने द्वेषवश तथागत का रुधिर निकाल कर बहुत पाप कमाया है।"[1] भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए उस कार्य को लक्षित कर कहा—"देवदत्त ने यह प्रथम आनन्तर्य (मोक्ष का बाधक) कर्म किया है।"

भिक्षुओं ने देवदत्त के इस कुत्सित प्रयत्न को सुना, तो वे बुद्ध की गुप्ति के लिए विहार के चारों ओर टहलते हुए उच्चस्वर से स्वाध्याय करने लगे। बुद्ध ने आनन्द के द्वारा भिक्षुओं को अपने पास बुलाया और कहा—"भिक्षुओ! यह सम्भव नहीं है कि किसी दूसरे के प्रयत्न से तथागत का जीवन छूटे। तथागत किसी दूसरे के उपक्रम से नहीं, अपितु स्वाभाविक मृत्यु से ही परिनिर्वाण को प्राप्त हुआ करते हैं। भिक्षुओ! तुम अपने-अपने विहार को जाओ। तथागतों की रक्षा की आवश्यकता नहीं है।"

नालागिरि हाथी

राजगृह में नालागिरि नामक मनुष्य-घातक और बहुत ही चण्ड हाथी था। देवदत्त ने एक दिन गजशाला में आकर महावत को आदेश दिया—"जब श्रमण गौतम इस सड़क से आये, तुम इस हाथी को खोलकर उसके सम्मुख कर देना।" महावत ने आदेश शिरोधार्य किया। पूर्वाह्न के समय बुद्ध भिक्षु-संघ के साथ पिंडचार के लिए राजगृह में आये। महावत ने उस दिशा में हाथी छोड़ दिया। सहवर्ती भिक्षु भय-त्रस्त हुए और उन्होंने दो-तीन बार बुद्ध से मार्ग छोड़ कर एक ओर हो जाने के लिए प्रार्थना की। उस समय बहुत सारे मनुष्य प्रासादों व हर्म्यों की छतों पर चढ़कर उत्कन्धर हो, उस दृश्य को देखने लगे। बहुत सारे अश्रद्धालु व दुर्बुद्धि कहने लगे—"अभिरूप महाश्रमण आज नाग (हाथी) से मारा जायेगा।" श्रद्धालु और पण्डित कहने लगे—"नाग नाग (बुद्ध) से संग्राम करेगा।"

बुद्ध ने दूर से आते हुए नालागिरि को मैत्री-भावना से आप्लावित किया। हाथी उससे स्पृष्ट हुआ और सूंड को नीचे किये बुद्ध के पास आकर खड़ा हो गया। बुद्ध ने नालागिरि के कुम्भ का अपने दाहिने हाथ से स्पर्श किया। नालागिरि ने अपनी सूंड़ से बुद्ध की चरण-धूलि उठाई और शिर पर डाली। वापस चला। जहाँ तक बुद्ध उसे दृष्टिगत होते रहे, वह उनकी ओर बिना पीठ किये ही लौटा। गजशाला में जाकर अपने स्थान पर खड़ा

---

१. 'कूलबालक' की प्रसिद्ध जैन कथा में भी ठीक इसी प्रकार का घटना-प्रसंग मिलता है। अविनीत शिष्य कूलबालक अपने गुरु के वध के लिए ऐसा ही उपक्रम करता है और इसी प्रकार गुरु से शाप पाता है। देखें, उत्तराध्ययन सूत्र लक्ष्मीवल्लभ गणि कृत टीका पृ० ८-९।

हो गया। जनता में चर्चा चल पड़ी—"देवदत्त कैसा पापी और अलक्षणी है, जो ऐसे महर्द्धिक महानुभाव श्रमण गौतम के वध का प्रयत्न करता है।" देवदत्त का लाभ-सत्कार घटा और बुद्ध का लाभ-सत्कार बढ़ा।

संघ-भेद की योजना

असफल देवदत्त ने अपनी विद्रोही प्रवृत्तियों को उग्र कर दिया। वह कोकालिक कटमोर-तिस्सक और खण्ड देवी-पुत्र समुद्रदत्त के पास गया। संघ-भेद के लिए प्रोत्साहित करते हुए उनके समक्ष उसने एक प्रस्ताव रखा—"हम श्रमण गौतम से आग्रह करें कि भिक्षु-संघ के लिए पाँच नये नियम बनायें। उनके अनुसार (१) भिक्षु जीवन-भर अरण्य में ही रहे, ग्राम में नहीं; (२) जीवन-भर पिण्डपातिक हो कर रहे, किन्तु निमन्त्रण की भिक्षा स्वीकार न करे; (३) जीवन-भर पांसुकूलिक हो कर ही रहे। गृहस्थ द्वारा दिये गये चीवर का उपयोग न करे; (४) जीवन-भर वृक्षमूलिक ही रहे; (५) जीवन-भर मछली-मांस न खाये। श्रमण गौतम इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेंगे। तब हम जनता को बहुत सहजता में उससे विमुख कर अपनी ओर आकर्षित कर सकेंगे।"

देवदत्त परिषद् के साथ बुद्ध के पास गया। अभिवादन कर अपना चिर-चिन्तित प्रस्ताव उनके समक्ष प्रस्तुत किया। बुद्ध ने उत्तर में कहा—"देवदत्त! अलम्! मैंने अरण्य-वास व ग्राम-वास, पिण्डपातिक व निमन्त्रित भिक्षा, पांसुकूलिक व गृहस्थ द्वारा प्रदत्त वस्त्र और आठ मास वृक्षमूल शयनासन की अनुज्ञा दी है। मैंने अदृष्ट[1], अश्रुत[2] व अपरि-शंकित[3], इस तीन कोटि से परिशुद्ध मांस की भी अनुज्ञा दी है। मैं इनमें कोई दोष नहीं मानता।"

बुद्ध ने जब देवदत्त का प्रस्ताव ठुकरा दिया तो वह अत्यन्त हर्षित वहाँ से राजगृह में चला आया। जनता के समक्ष बुद्ध की कलई खोलते हुए वह कहने लगा—"भगवान् अल्पेच्छ, सन्तुष्ट, सल्लेख (तप), धुत (त्यागमय रहन-सहन), प्रासादिक, अपचय (त्याग) और वीर्यारम्भ (उद्योग) के प्रशंसक हैं, अतः हमने संघ के लिए पाँच नियम बनाने का प्रस्ताव रखा। किन्तु उन्होंने संघ के लिए इसकी अनुमति नहीं दी। हम इन पाँचों नियमों का अनुवर्तन करते हैं।" अश्रद्धालु और मूर्ख इसे सुन कहने लगे—"यह शाक्यपुत्रीय श्रमण अवधूत सल्लेखवृत्ति (तपस्वी) है। श्रमण गौतम संग्रहशील और संग्रह के लिए ही प्रेरणा देता है।" जो श्रद्धालु व धीमान् थे, वे देवदत्त की इस कुत्सित प्रवृत्ति पर हैरान थे। उनके मुँह से एक ही बात निकल रही थी, "देवदत्त भगवान् के संघ-भेद के लिए ही

---

१. मेरे लिए मारा गया, यह देखा न हो।
२. मेरे लिए मारा गया, यह सुना न हो।
३. मेरे लिए मारा गया, यह सन्देह न हो।

प्रयत्न कर रहा है।" भिक्षुओं ने इस जन-चर्चा को सुना। उन्होंने आकर बुद्ध से कहा। बुद्ध ने भिक्षुओं के समक्ष देवदत्त को लक्षित कर कहा—"बस, देवदत्त! संघ में फूट डाल-कर प्रसन्न न हो। संघ-भेद भारी अपराध है। जो अविभक्त संघ को विभक्त करता है, वह नरक में कल्प भर रहने वाले पाप को कमाता है। कल्प भर नरक में पकता है। जो भिन्न-भिन्न संघ को एक करता है, वह ब्राह्म (उत्तम) पुण्य को कमाता है। कल्प भर स्वर्ग में आनन्द करता है। इसलिए देवदत्त! संघ में फूट डालना तुझे रुचिकर न हो।"

आयुष्मान् आनन्द पूर्वाह्न में राजगृह में भिक्षा के लिए गये। देवदत्त ने उन्हें देखा और अपने पास बुलाया। आनन्द से उसने कहा—"आवुस आनन्द! आज से मैं भगवान् से व भिक्षु-संघ से अलग ही उपोसथ करूँगा, अलग ही संघ-कर्म करूँगा।"

भिक्षा से निवृत्त होकर आनन्द विहार में लौट आये। उन्होंने बुद्ध को सूचित किया—"भन्ते! देवदत्त आज संघ को तोड़ेगा। वह अलग ही संघ-कर्म करेगा। जब मैं पिण्डचार के लिए राजगृह में गया तो उसने मुझे यह सब कुछ कहा।"

बुद्ध ने उस समय उदान कहा—"साधु के साथ साधुता सुकर है। पापी के साथ साधुता दुष्कर है। पापी के साथ पाप सुकर है और आर्यों के साथ पाप दुष्कर है।"

पाँच सौ भिक्षुओं द्वारा शलाका-ग्रहण

वैशाली के पाँच सौ वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने उन्हीं दिनों प्रव्रज्या ग्रहण की थी। वे चर्या से पूर्णतः परिचित नहीं थे। उपोसथ के दिन देवदत्त ने उन्हें लक्षित कर कहा—"आवुसो! हमने श्रमण गौतम के समक्ष पाँच नियम प्रस्तुत किये थे। श्रमण गौतम ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। हम उसका वर्तन करेंगे। जिस आयुष्मान् को ये पाँच नियम रुचें, वे शलाका ग्रहण करें।" देवदत्त ने उसी समय सब की ओर शलाकाएँ बढ़ाईं। पाँच सौ भिक्षुओं ने सोचा—"यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का शासन है।" सबने ही वे शलाकाएँ ले लीं। देवदत्त ने संघ को फटा कर पाँच सौ भिक्षुओं को अपने साथ मिला लिया। सबके साथ चारिका करते हुए गयासीस की ओर प्रस्थान कर दिया।

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने बुद्ध को इस घटना से सूचित किया। बुद्ध ने कहा—"सारिपुत्र! तुम लोगों को उन नये भिक्षुओं पर तनिक दया नहीं आई? आपत्ति में फँसने से पूर्व ही उन भिक्षुओं को तुम बचाओ।"

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन द्वारा प्रयत्न

सारिपुत्र और मौद्गल्यायन तत्काल वहाँ से चले। गयासीस पहुँचे। देवदत्त बड़ी परिषद् के बीच धर्म-उपदेश कर रहा था। उसने उन्हें दूर से ही आते हुए देखा। अत्यन्त प्रसन्न मुख हो, देवदत्त ने भिक्षुओं से कहा—"मेरा धर्म कितना सु-आख्यात है। इससे

आकृष्ट होकर श्रमण गौतम के प्रधान शिष्य सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन भी मेरे पास आ रहे हैं। वे मेरे धर्म को मानते हैं।"

कोकालिक ने देवदत्त के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—"सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन का विश्वास मत करो। वे पापेच्छ हैं।"

देवदत्त ने अपने विचारों को दुहराते हुए कहा—"नहीं, उनका स्वागत है। वे मेरे धर्म पर विश्वास करते हैं।"

सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन समीप पहुँचे तो देवदत्त ने सारिपुत्र को अपने आधे आसन का निमन्त्रण दिया। किन्तु वे दोनों दूसरे ही आसन लेकर एक ओर बैठ गये। देवदत्त ने भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया। बहुत रात बीतने तक भी भिक्षु सुनने में लीन थे। सारिपुत्र से देवदत्त ने कहा—"आवुस! इस समय ये भिक्षु आलस्य व प्रमाद रहित हैं। तुम इन्हें उपदेश दो। मेरी पीठ अगिया रही है; अतः मैं लेटूँगा।" सारिपुत्र भिक्षुओं को सम्बोधित करने लगे और देवदत्त चौपेती संघाटी बिछाकर दाहिनी करवट से लेट गया। स्मृति व संप्रजन्य-रहित हो जाने से उसे मुहूर्त भर में नींद आ गई। सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन ने अवसर का लाभ उठाया। सारिपुत्र ने आदेशना-प्रातिहार्य व अनुशासनीय-प्रातिहार्य और महा मौद्‌गल्यायन ने ऋद्धि-प्रातिहार्य के साथ भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया। सभी भिक्षुओं को उस समय विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

पाँच सौ भिक्षुओं को साथ लेकर सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन ने वेणुवन की ओर प्रस्थान कर दिया। कोकालिक ने देवदत्त को उठाया और उससे कहा—"मैंने पहले ही कहा था, इन दोनों का विश्वास मत करो। वे अपने पाँच सौ साथियों को फोड़कर चलते बने हैं।" देवदत्त के मुख से वहीं गर्म खून निकल पड़ा।

सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन पाँच सौ भिक्षुओं के परिवार से बुद्ध के पास पहुँचे। उन्होंने निवेदन किया—"भन्ते! संघ में फूट डालने वाले अनुयायी भिक्षुओं को पुनः उपसम्पदा प्रदान करें।"

बुद्ध ने कहा—"सारिपुत्र! ऐसे नहीं। पहले इन्हें अपने थुल्लच्चय (बड़े अपराध) की देशना कराओ। जब तक ऐसा नहीं होगा, ये उपसम्पदा के अनधिकारी रहेंगे।

बुद्ध ने पूछा—"सारिपुत्र! देवदत्त ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?"

सारिपुत्र ने उत्तर दिया—"भन्ते! बहुत रात बीत जाने तक भगवान् भिक्षुओं को धर्म-कथा द्वारा समुत्तेजित और संप्रहर्षित करते हैं। बहुत बार भगवान् मुझे आज्ञा देते हैं—चित्त व शरीर के आलस्य से रहित भिक्षु-संघ को तू धर्म-कथा कह। मेरी पीठ अगिया रही है; अतः मैं लम्बा होकर लेटूँगा। भन्ते! उसी प्रकार देवदत्त ने मेरे साथ किया।"

बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"प्रचीन युग में एक महासरोवर था। वहाँ बहुत सारे हाथी रहते थे। वे प्रतिदिन सरोवर में आते, मृणाल को निकालते और अच्छी तरह धोकर खाते। इससे उनका सौन्दर्य और बल बढ़ता था। वे सब प्रकार के दुःखों से मुक्त रहते थे। कुछ तरुण सियार उन हाथियों का अनुकरण करते थे। वे भी मृणाल खाते थे, पर उन्हें अच्छी तरह धोते नहीं थे। इससे उनका बल व सौन्दर्य घटता था। यह सारा उपक्रम उनके दुःख का निमित्त बनता था। इसी प्रकार भिक्षुओ! देवदत्त मेरी नकल कर कृपण होकर मरेगा। वह अपायिक, नैरयिक, कल्पस्थ और अचिकित्स्य है।"[१]

गर्म खून निकलने से देवदत्त बहुत ही पीड़ित हुआ। नौ महीने तक उग्र वेदना भोगता रहा। अन्तिम दिनों में उसे सन्मति आई। खिन्नता के साथ उसने पूछा—"आजकल शास्ता कहाँ है?" उत्तर मिला—"जेतवन में।" देवदत्त ने अपने साथियों से कहा—"मुझे खाट पर डालकर ले चलो और शास्ता के दर्शन कराओ।" साथियों ने वैसा ही किया। जब वे उसे लिए जा रहे थे, जेतवन पुष्करिणी के समीप फटी पृथ्वी में धंसकर वह अवीचि नरक में पहुँच गया। एक लाख कल्प तक वहाँ रह कर अपने अग्रिम जन्म में वह अट्ठिस्सर नामक प्रत्येक बुद्ध होगा और निर्वाण प्राप्त करेगा।[२] **सद्धर्म पुण्डरीक** के अनुसार वह देवराज नामक बुद्ध होगा।[3]

जमालि

महावीर के विरोधी शिष्यों में गोशालक के अतिरिक्त एक उल्लेखनीय विरोधी शिष्य और था। वह था, जमालि। वह महावीर का भानेज भी था और जामाता भी। उसकी दीक्षा का वर्णन पूर्व प्रकरणों में आ ही चुका है। वह पाँच सौ क्षत्रिय कुमारों के साथ दीक्षित हुआ था। जमालि की पत्नी (महावीर की पुत्री) प्रियदर्शना भी एक सहस्र स्त्रियों के साथ महावीर के समवशरण में दीक्षित हुई थी। जमालि के विरोधी होने का इतिहास **भगवती सूत्र**[४] में मिलता है। वहाँ बताया गया है : "जमालि अनगार एक दिन भगवान् महावीर के पास आये। उन्होंने निवेदन किया—'भन्ते! यदि आपकी अनुज्ञा हो तो मैं पाँच सौ साधुओं के साथ अन्य प्रदेश में विचरना चाहता हूँ।' महावीर ने जमालि का निवेदन सुना, पर उत्तर नहीं दिया। मौन रहे। जमालि ने अपने कथन को तीन बार दुहराया; फिर भी महावीर ने उत्तर नहीं दिया। जमालि ने पाँच सौ साधुओं के साथ अन्य प्रदेश में विचरने के लिए प्रस्थान कर दिया।

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघ-भेदक खंधक के आधार से।
२. धम्मपद अट्ठकथा।
३. अध्याय ११।
४. शतक ९, उ० ३३।

"एक बार जमालि अनगार श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में ठहरे हुए थे। प्रति दिन तुच्छ, नीरस, ठण्डा और अल्प भोजन करने से उनके शरीर में पित्तज्वर हो गया। सारा शरीर दाह व वेदना से पीड़ित रहने लगा। एक दिन उन्होंने अपने सहवर्ती साधुओं से शय्या-संस्तारक लगाने के लिए कहा। साधु तत्काल कार्य में जुट गये। जमालि पीड़ा से अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे। एक क्षण का विलम्ब भी उन्हे सह्य नही हो रहा था। उन्होंने पुनः पूछा—"क्या मेरे लिए शय्या-संस्तारक कर दिया गया है?" साधुओं ने विनम्र उत्तर दिया—'अभी तक किया नही है, कर रहे हैं।' उत्तर सुनते ही जमालि सोचने लगे—भगवान् महावीर तो कृतमान को कृत, चलमान को चलित कहा करते हैं। यह तो गलत है। जब तक शय्या-संस्तारक बिछ नही जाता, तब तक उसे बिछा हुआ कैसे माना जा सकता है? उन्होंने श्रमण निर्ग्रन्थो को बुलाया और उनके समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट किया। कुछ श्रमणों ने उनके सिद्धान्त को स्वीकार किया और कुछ ने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने स्वीकार किया, वे उनके साथ रहे और जिन्होंने स्वीकार नही किया, वे भगवान् महावीर के पास लौट आये।

"कुछ समय पश्चात् अनगार जमालि स्वस्थ हुए। वे श्रावस्ती से विहार कर चम्पा आये। महावीर भी उस समय वहीं पधारे हुए थे। जमालि महावीर के पास आये और बोले—"आपके अनेक शिष्य छद्मस्थ हैं, केवलज्ञानी नहीं है। परन्तु मैं तो सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन से युक्त, अर्हत, जिन और केवली के रूप में विचर रहा हूँ।" गणधर गौतम ने जमालि के कथन का प्रतिवाद करते हुए कहा—"केवलज्ञानी का दर्शन पर्वत आदि से कभी आच्छन्न नही होता। यदि तू केवलज्ञानी है तो मेरे प्रश्नो का उत्तर दे—'लोक शाश्वत है या अशाश्वत?', 'जीव शाश्वत है या अशाश्वत?'

"जमालि कोई भी प्रत्युत्तर न दे सके। वे मौन रहे। भगवान् महावीर ने कहा—'जमालि! मेरे अनेक शिष्य इन प्रश्नों के उत्तर दे सकते हैं; फिर भी वे अपने को जिन या केवली घोषित नही करते हैं।' जमालि को महावीर का कथन अच्छा न लगा। वे वहाँ से उठे और चल दिये। अलग ही रहने लगे और वर्षों तक असत्य प्ररूपणाओं द्वारा मिथ्यात्व का पोषण करते रहे। अन्त में अनशन कर, अपने पाप-स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमणा किये बिना ही काल-धर्म को प्राप्त हुए और लान्तक देवलोक में किल्विषिक रूप में उत्पन्न हुए।"

जमालि की वर्तमानता में ही प्रियदर्शना एक बार अपने साध्वी-परिवार सहित श्रावस्ती गई। वहाँ वह ढंक कुँभकार की शाला में ठहरी। ढंक महावीर का परम अनुयायी था। प्रियदर्शना को प्रतिबोध देने के लिए उसने उसकी संघाटी में आग लगा दी। संघाटी

जलने लगी। प्रियदर्शना हठात् बोल पड़ी—"संघाटी जल गई," "संघाटी जल गई।" ढंक ने कहा—"आप मिथ्या संभाषण क्यों करती हैं? संघाटी जली कहाँ, वह तो जल रही है।" प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हुई। पुनः अपने साध्वी-समूह के साथ महावीर के शासन में प्रविष्ट हुई।[1]

❀

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गा० २३२४-२३३२।

: १४ :

अनुयायी राजा

श्रेणिक-बिम्बिसार

महावीर और बुद्ध के अनुयायिओं में अनेक राजा लोग भी थे। विस्मय की बात तो यह है कि कुछ एक राजाओं व राजकुमारों को जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराएँ अपने-अपने उपासक मानती हैं। ऐसे लोगों में श्रेणिक-बिम्बिसार, कौणिक (अजातशत्रु) और अभयकुमार के नाम प्रमुखता से आते हैं। दोनों ही परम्पराएँ इन सबको अपने अनुयायी ही नहीं, दृढ़-उपासक भी मानती हैं। आगमों, त्रिपिटकों और दोनों ही परम्पराओं के पुराण-साहित्य में उक्त सभी पात्रों को भरपूर चर्चाएँ हैं। गवेषक विद्वानों का ध्यान भी उन चर्चाओं की ओर गया है। नाना निष्कर्ष निकले हैं। कुछ लोग मानते हैं, ये सब महावीर के उपासक थे तो कुछ एक मानते हैं, ये सब बुद्ध के उपासक थे। एक विचारधारा है, श्रेणिक पहले बौद्ध था, फिर जैन बना तो दूसरी विचारधारा है, पहले वह जैन था, फिर बौद्ध बना। वस्तु-स्थिति की स्पष्टता के लिए अपेक्षा है, सम्बन्धित पुरावों को बटोर कर किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न किया जाये।

प्रथम सम्पर्क

बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध और बिम्बिसार का प्रथम सम्पर्क बोधिलाभ से बहुत पूर्व और प्रव्रज्या-ग्रहण के अनन्तर ही हो जाता है। तरुण भिक्षु बुद्ध भिक्षार्थ राजगृह में प्रवेश करते हैं। बुद्ध के आकर्षक व्यक्तित्व पर सहस्रों नर-नारियों का ध्यान खिंच जाता है। महाकवि अश्वघोष के शब्दों में—"बुद्ध को देखते ही जिसकी आँखें जहाँ लगीं, भ्रू पर, ललाट पर, मुख पर, आँखों पर, शरीर पर, हाथों पर, चरणों पर, गति पर, उसकी आँखें वहीं बन्ध गईं।"[1]

---

१. भ्रुवौ ललाटं मुखमीक्षणे वा, वपुः करौ वा चरणौ गतिं वा।
यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र, तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षुः॥ (बुद्ध चरित, सर्ग १०, श्लोक ८)

राजगृह में भिक्षाचार करते बुद्ध की आँखें स्थिर थी। वे जुए की दूरी तक देखकर चलते थे। वे मूक थे। उनकी गति मन्द व नियंत्रित थी। उनका मन संयत था।[1]

बिम्बिसार ने भी इस दिव्य प्रभाव वाले भिक्षुक को अपने राजमहलों से देखा। वह अत्यन्त आकृष्ट हुआ। भिक्षुक से बात करने को उत्सुक हुआ। राजगृह के पाण्डु (रत्नगिरि) पर्वत पर आकर उसने बुद्ध से साक्षात्कार किया।

बिम्बिसार ने बुद्ध से राज्य और भोग-सामग्री के ग्रहण और उपभोग के लिए प्रार्थना की। बुद्ध ने यह सब अस्वीकार करते हुए राजा को काम-विकारों का कुफल बताया और कहा—"मैं राज्य पाने के लिए नहीं, बुद्धत्व पाने के लिये प्रव्रजित हुआ हूँ।" बिम्बिसार ने कहा—"आपकी कामना सफल हो। बुद्धत्व प्राप्त कर आप मेरे नगर राजगृह में अवश्य आना।"[2]

जैन परम्परा में श्रेणिक राजा का प्रथम समागम अनाथी मुनि के साथ हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। वह समागम भी बहुत कुछ पूर्वोक्त समागम से समानता रखने वाला है। राजगृह के निकट मण्डी कुक्षी उद्यान था। वह नाना कुसुमों से आच्छादित व बहुत ही रमणीय था। एक दिन मगधराज श्रेणिक वन-क्रीड़ा के लिए उस उद्यान में आया। वहाँ उसने एक महानिर्ग्रन्थ को देखा। वह एक घने वृक्ष की छाया में बैठा था। उसकी आकृति सुकोमल और भव्य थी। वय से वह तरुण था। मुख पर असीम शान्ति विराजमान थी। मगधराज श्रेणिक ने ज्यों ही उसे देखा, उसके मुख से निकल पड़ा—"कैसा वर्ण! कैसा रूप! इस आर्य की कैसी सौम्यता! कैसी इसकी क्षमा! कैसा इसका त्याग! कैसी इसकी भोग-निस्पृहता!"[3]

मगधराज श्रेणिक उस महानिर्ग्रन्थ के निकट गया और पूछने लगा—"भिक्षुक! तुम तरुण हो, इस भोग-काल में ही कैसे दीक्षित हो गये?"

मुनि—"महाराज! मैं अनाथ था।"

राजा—"भिक्षुक! तुम्हारे जैसा ऋद्धिमान् अनाथ? मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। पुनः संसार में प्रवेश करो और मनुष्य-जीवन का आनन्द लूटो।"

---

१. अलोलचक्षुर्युगमात्रदर्शी, निवृत्तवाग् यंत्रितमन्दगामी।
चचार भिक्षां स तु भिक्षुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः॥
(बुद्ध चरित, सर्ग १०, श्लोक १३)

२. सुत्तनिपात, महावग्ग, पव्वज्जा सुत्त; बुद्ध चरित, सर्ग ११, श्लोक ७२।

३. अहो वण्णो अहो रूवं, अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खन्ती अहो मुत्ती, अहो भोगे असंगया॥ (उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २०, गा० ६)

मुनि—"मगधराज ! तुम तो स्वयं अनाथ हो, मेरे नाथ कैसे हो जाओगे ?"

राजा—"मैं अनाथ कैसे ! तुम अनाथ किसे कहते हो भिक्षुक ?"

मुनि—"कौशाम्बी नगरी थी। यथानाम तथागुण 'प्रभूत धन संचय' नामक मेरा पिता था। माता, पत्नी, बन्धु सब का सुखद संयोग था। एक बार मेरी आँखों में भयंकर वेदना उत्पन्न हुई। शरीर में भी दाह-ज्वर उत्पन्न हुआ। वह वेदना निरुपम थी, असह्य थी। कुशल चिकित्सक, अभ्यस्त मंत्रविद् सभी हताश रहे। वेदना शान्त नहीं हुई। राजन् ! मेरा पिता मेरे लिए सब कुछ न्योछावर करने को प्रस्तुत था ; फिर भी वह मुझे वेदना-मुक्त नहीं कर सका; यह मेरी अनाथता थी। मेरी माता भीगी आँखों से मुझे निहारती रही, पर मुझे वेदना-मुक्त नहीं कर सकी ; यह मेरी अनाथता थी। सगे भाई और सगी बहिनें भी मुझे वेदना-मुक्त नहीं कर सकीं ; यह मेरी अनाथता थी। मेरी पत्नी अनवरत मेरे पास खड़ी ही रहती थी और अपने अश्रुओं से मेरे वक्ष का परिसिंचन करती थी। वह भी मुझे वेदना-मुक्त नहीं कर सकी ; यह मेरी अनाथता थी।"

उस महानिर्ग्रन्थ ने मगधराज श्रेणिक को बताया—"राजन् ! मैंने स्वयं को सब तरह से अनाथ पाकर धर्म की शरण ग्रहण की। मैंने संकल्प किया—'मेरी वेदना शान्त हो, तो मैं अनगार धर्म को अंगीकार करूँ।' अगले ही दिन वेदना शान्त हो गई और मैं अनगार बन गया।"

अनाथी मुनि और श्रेणिक राजा के इस संलाप का पूरा विवरण **उत्तराध्ययन सूत्र** के बीसवें **महानिर्ग्रन्थीय** अध्ययन में किया गया है। अनाथी मुनि ने इसी प्रसंग पर एक दूसरे प्रकार की अनाथता का भी परिचय दिया। वह अनाथता थी, प्रव्रजित होकर भी प्रव्रज्या-नियमों के अनुकूल न चलना। शिथिलाचार की तीव्र भर्त्सना करते हुए मुनि कहते हैं—

"हे राजन् ! अनाथता के अन्य स्वरूप को भी एकाग्र होकर सुन। ऐसे कातर पुरुष भी होते हैं जो निर्ग्रन्थ धर्म को पाकर भी उसमें शिथिल हो जाते हैं।[1]

"जैसे पोली मुट्ठी असार होती है और खोटी मुद्रा में भी कोई सार नहीं होता ; उसी प्रकार द्रव्य लिंगी मुनि भी असार होता है। जैसे काँच की मणि वैडूर्य मणि की तरह प्रकाश तो करती है, किन्तु विज्ञ पुरुषों के सम्मुख उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता ; उसी प्रकार बाह्य लिंग से मुनियों की तरह प्रतीत होने पर भी वह द्रव्य लिंगी मुनि विज्ञ पुरुषों के समक्ष अपना कुछ भी मूल्य नहीं रखता।[2]

---

१. इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !, तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि।
नियण्ठधम्मं लहियाण वी जहा, सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥३८॥

२. पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे, अयंतिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ य जाणएसु ॥४२॥
कुसीललिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलप्पमाणे, विणिघायमागच्छइ से चिरं पि ॥४३॥

"जो पुरुष लक्षण, स्वप्न आदि का प्रयोग करता है, निमित्त और कौतुक कर्म में आसक्त है, इसी प्रकार वह असत्य और आश्चर्य उत्पादक विद्याओं से जीवन व्यतीत करने वाला है; पापोदय के समय उसका कोई त्राण नहीं है।[1]

"जो असाधु पुरुष औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्यपिण्ड और अनेषणीय कुछ भी नहीं छोड़ता, अग्नि की तरह सर्वभक्षी होकर जीता है, वह नरकादि गतियों में जाता है।"[2]

संयम-शून्य साधुओं का आचार बताते हुए अनाथी ने मगधराज श्रेणिक से स्पष्ट-स्पष्ट कहा—

सोच्चाण मेहावि सुभासियं इमं अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं महानियण्ठाण वए पहेणं ॥५१॥

हे मेधाविन्! ज्ञानगुणोपपेत इस सुभाषित अनुशासन को सुनकर और कुशील जनों के मार्ग का सर्वथा परित्याग कर महानिर्ग्रन्थों (तीर्थंकरों) के पथ पर चल।

यह सब सुनकर मगधराज श्रेणिक बहुत तुष्ट हुआ। अंजलिबद्ध होकर कृतज्ञता के शब्दों में उसने कहा : "महामुने! आपने अनाथता का मुझे सम्यग् दिग्दर्शन कराया। आपका जन्म सफल है। आप ही सनाथ और सबन्धु हैं; क्योंकि आप सर्वोत्तम जिन-मार्ग में अवस्थित हैं। मैंने आपको भोगार्थ आमंत्रित किया, आपके ध्यान में विघ्न किया, इसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। मैं आपका अनुशासन ग्रहण करता हूँ।"[3]

इसी अध्ययन की उपसंहारात्मक गाथा में कहा गया है : "इस प्रकार नरपति-सिंह (श्रेणिक) अनगार-सिंह अनाथी मुनि को प्रणाम कर सपरिजन, सबन्धु धर्म में अनुरक्त हुआ।"[4]

---

१. जो लक्खणं सुविण पउंजमाणे, निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥४५॥

२. उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता, इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥४७॥

३. तुट्ठो य सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहाभूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥५४॥
तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं, लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी ।
तुब्भे सणाहा य सबंधवा य, जं भे ठिआ मग्गे जिणुत्तमाणं ॥५५॥
तं सि णाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया ! ।
खामेमि ते महाभाग ! इच्छामि अणुसासिउं ॥५६॥
पुच्छिऊण मए तुब्भं, झाणविग्घो उ जो कओ ।
निमंतिओ य भोगेहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥५७॥

४. एवं थुणित्ताण य रायसीहो, अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
सओरोहो य सपरियणो, धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥५८॥

उक्त दोनों घटना-प्रसंगों में यह समानता बहुत ही विस्मयोत्पादक है कि मगधराज तरुण भिक्षु के सौन्दर्य और सौम्यता पर मुग्ध होता है, सांसारिक भोगों के लिए आमंत्रित करता है और अस्वीकृति मूलक उत्तर पाता है। दोनों प्रकरणों का रचना-क्रम सहसा यह सोचने को विवश करता है कि किसी एक परम्परा ने दूसरी परम्परा का अनुकरण तो नहीं किया है? 'मंडिकुच्छि' उद्यान का उल्लेख बौद्ध-परम्परा में 'मद्दकुच्छि' नाम से मिलता है।[1] अनाथी मुनि का इस अध्ययन के अतिरिक्त और कहीं वर्णन नहीं मिलता। वे महावीर के संघ में थे या पार्श्व-परम्परा में, इसका भी कोई विवरण नहीं मिलता। वे कभी महावीर से मिले थे, ऐसा भी उल्लेख नहीं है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से इतिहासकार डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने इस सारे प्रकरण को अनाथी के साथ न जोड़ कर 'अनगार-सिंह' शब्द-प्रयोग के आधार से महावीर के साथ जोड़ा है। उनका कथन है, श्रेणिक की यह भेंट महावीर के साथ ही हुई थी।[2] ऐसा होने में इस भेंट का ऐतिहासिक महत्त्व तो बढ़ता है, पर यह मानने के लिए कोई पर्याप्त आधार नहीं है। कौशाम्बी नगरी, प्रभूतधनसंचय श्रेष्ठी, अक्षि-वेदना आदि इस घटना-प्रसंग को सर्वांशतः पृथक् व्यक्त करते हैं।

दोनों प्रथम सम्पर्कों में उल्लेखनीय अन्तर तो यह है कि बुद्ध को तो श्रेणिक बोधि-लाभ के पश्चात् राजगृह आने का आमंत्रण मात्र ही करता है और अनाथी मुनि के सम्पर्क में श्रेणिक निर्ग्रन्थ-धर्म को सपरिवार स्वीकार करता है।

अनाथी निर्ग्रन्थ दूसरे प्रकार की अनाथता का वर्णन करते हुए द्रव्यलिंगियों पर तीव्र प्रहार कर राजा के मन को उधर से हटाते हुए प्रतीत होते हैं। उस वर्णन से यह निकाल पाना तो कठिन है कि उनके वे संकेत अमुक पन्थ के लिए हुए हैं और इससे पूर्व श्रेणिक अमुक पन्थ को ही माना करता था। वहाँ मुख्य अभिव्यक्ति शिथिलाचारी निर्ग्रन्थों की प्रतीत होती है, पर पता नहीं, उस समय कौन से निर्ग्रन्थ इतने शिथिलाचारी हो रहे थे। पार्श्व-परम्परा के शिथिल निर्ग्रन्थों की ओर यदि यह संकेत है, तो इससे इतना तो प्रतीत होता ही है कि यह घटना-प्रसंग महावीर के कैवल्य-लाभ और राजगृह-आगमन से पूर्व का है जबकि समाज में पार्श्वापत्यिक शिथिलाचारी भिक्षुओं का बोलबाला था।

त्रिपिटक साहित्य में

धर्म-चक्षु का लाभ

राजा बिम्बिसार के बौद्ध-धर्म स्वीकार करने के भी कुछ एक स्पष्ट उल्लेख मिलते

---

१. दीघनिकाय, महावग्गो, महापरिनिब्बान सुत्त, पृ० ६१।

२. हिन्दू सभ्यता, पृ० १८५।

है। मूलभूत उल्लेख **विनयपिटक** का है ; जिसमें बताया गया है—बुद्ध उरुवेल काश्यप आदि सहस्र जटिलों को बौद्ध-धर्म में दीक्षित कर राजगृह आये। राजा बिम्बिसार ने यह समाचार सुना। उसने बारह लाख मगध-निवासी ब्राह्मणों और गृहस्थों के साथ बुद्ध के दर्शन किये। बुद्ध उस समय लट्ठिवन में प्रतिष्ठित थे। उन्होंने बिम्बिसार आदि बारह लाख मगध-निवासियों को धर्मोपदेश दिया। धर्मकथा सुन कर उनमें से बिम्बिसार आदि ग्यारह लाख मगधवासियों को उसी आसन पर "जो कुछ पैदा होने वाला है, वह नाशमान है"—यह विरज (=निर्मल) धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ और एक लाख उपासक बने।[1]

बुद्ध के धर्म में विशारद होकर बिम्बिसार ने कहा—"भन्ते ! पहले कुमार-अवस्था में मेरी पाँच अभिलाषाएँ थीं। वे अब पूरी हो गईं। मैं चाहता था—मेरा राज्याभिषेक हो, मेरे राज्य में अर्हत् अर्थात् बुद्ध आयें, उनकी मैं सेवा करूँ, वे मुझे धर्मोपदेश करें और उन भगवान् को मैं जानूँ। आज तक यथाक्रम मेरी पाँचों अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं। भिक्षु-संघ सहित कल के लिए मेरा निमंत्रण स्वीकार करें।"

अगले दिन मगधराज बिम्बिसार ने बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को अपने हाथ से उत्तम भोजन कराया और अपना वेणुवन उद्यान भिक्षु-संघ के लिए प्रदान किया।[2]

इसी प्रकरण की पुष्टि का एक समुल्लेख **दीघनिकाय** के **'कूटदन्त सुत्त'** में मिलता है। कूटदन्त विप्र अपने परामर्शक और सहयोगी विप्रों से कहता है—"मैं क्यों न श्रमण गौतम के दर्शनार्थ जाऊँ ? मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार पुत्र सहित, भार्या सहित, अमात्य सहित प्राणार्पण से श्रमण गौतम का शरणागत हुआ है।"[3] ठीक यही उल्लेख **सोणदण्ड सुत्त** में प्रसंगोपात्त सोणदण्ड ब्राह्मण करता है।[4]

उपोसथ का आरम्भ

शरण-ग्रहण के पश्चात् बिम्बिसार का बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ के साथ कैसा सम्पर्क रहा, इस बात के द्योतक भी अनेक घटना-प्रसंग उपलब्ध होते हैं। कुछ एक बार और भी बुद्ध व बिम्बिसार के साक्षात् होने के उल्लेख **विनयपिटक**, महावग्ग में मिलते हैं। एक भेंट में बिम्बिसार प्रस्ताव रखते हैं—"अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा के दिन अन्य धर्मावलम्बी एकत्र होते हैं, उपदेश करते हैं, क्यों न भन्ते ! हमारा भिक्षु-संघ भी ऐसा करे।" बुद्ध ने तथारूप अनुमति दी।

सैनिकों को दीक्षा-निषेध

एक अन्य भेंट में उसने सैनिकों को दीक्षित करने का अनुरोध बुद्ध से किया। स्थिति यह थी कि बिम्बिसार सैनिकों को सीमा-प्रदेश पर शत्रुओं से लड़ने के लिए

१. विनयपिटक, महावग्गो, महाखन्धक, पृ० ३५-३६।
२. वही, पृ० ३७-३८।
३. दीघनिकाय, १-५, पृ० १११-११२।
४. वही, १-४, पृ० १०८।

भेजता। सैनिक मरने के भय से भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हो जाते। बुद्ध ने वह प्रस्ताव स्वीकार किया।

एक बार श्रेणिक बिम्बिसार ने अपने अधीनस्थ अशीति सहस्र गाँवों के प्रतिनिधियों को अपने पास एकत्रित किया। उन्हें राज, समाज और अर्थ-सम्बन्धी व्यवस्थाएँ बताई। अन्त में उसने कहा—"मैंने जो भी बताया है, वह लौकिक है। लोकोत्तर ज्ञान के लिए तुम सब बुद्ध की शरण में जाओ।" तदनन्तर वे सब गृध्रकूट पर्वत पर आये और बुद्ध के शरणागत हुए।[1]

श्रेणिक बिम्बिसार ने अपने राज-वैद्य जीवक कौमार भृत्य को बुद्ध और भिक्षु-संघ की चिकित्सा के लिए नियुक्त किया था, जिसका उल्लेख **'प्रमुख उपासक-उपासिकाएँ'** प्रकरण में किया जा चुका है। बिम्बिसार द्वारा भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए आवास-निर्माण का भी उल्लेख मिलता है।[2]

पेटावत्थु अट्ठकथा के अनुसार श्रेणिक बिम्बिसार प्रतिमास अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को उपोसथ करता था।[3]

कारावास में दर्शन

महायान के **अमितायुर्ध्यान सुत्त** के अनुसार अपने जीवन के सांध्य में श्रेणिक बिम्बिसार जब कारावास में था, तब उसे मौद्गल्यायन भिक्षु अपने ऋद्धि-बल से वहीं प्रकट होकर दर्शन देते और धर्म सूक्त सुनाते। बिम्बिसार ने वहीं बैठे ऐसा चाहा था और वैसे ही होने लगा। बिम्बिसार की पत्नी वैदेही भी एक पृथक् कारावास में दे दी गई थी। उसकी प्रार्थना पर बुद्ध के वहाँ प्रकट होने का भी उल्लेख है।[4]

धम्मपद-अट्ठकथा के अनुसार लिच्छवियों के प्रतिनिधि महाली के आमन्त्रण को स्वीकार कर जब बुद्ध वैशाली की ओर चले, तब श्रेणिक बिम्बिसार गंगा-तट तक उन्हें पहुँचाने के लिए आया। उसने इस प्रसंग से राजगृह से गंगा तक नवीन पथ का निर्माण कराया। उसे फूलों से सजवाया, मंजिल-मंजिल पर विश्राम-गृह बनवाये। बुद्ध नौका में बैठे। नौका चली। बिम्बिसार नौका को पकड़े-पकड़े पानी में चला। गले तक पानी आया, तब वापस मुड़ा। जब तक बुद्ध वैशाली से वापस नहीं आये, वहीं गंगा-तट पर डेरे डाल कर रहा। फिर बुद्ध को लेकर राजगृह में आया।[5]

---

१. विनयपिटक, महावग्गो, चम्मखन्धक, पृ० १९९।
२. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, क्षुद्रकवस्तुस्कंधक, पृ० ४५८।
३. गा० २०९।
४. *S. B. E.*, vol. XLIV, p. 166.
५. खण्ड ३, पृ० ४३८ क्रमशः; *Dictionary of Pali Proper Names*, vol. II, p., 288.

ललितविस्तर में बुद्ध और भिक्षु-संघ के लिए नौका-विहार सदा के लिए निःशुल्क कर देने का भी उल्लेख है।

पक्कुसाति-प्रतिबोध

मज्झिमनिकाय के **धातुविभंग सुत्त** की अट्ठकथा में बताया गया है—"एक बार बिम्बिसार की राज्य-सभा में तक्षशिला के कुछ व्यापारी आये। प्रसंग से उन्होंने अपने राजा पक्कुसाति की गुण-चर्चा की। उसे गुणों से और वय से बिम्बिसार के समान ही बताया। दोनों राजाओं के बीच सन्देशों के आदान-प्रदान से मैत्री हो गई। राजगृह के व्यापारी तक्षशिला में तथा वहाँ के यहाँ कर-मुक्त कर दिये गये। पक्कुसाति ने पाँच पंच-रंगे शाल बिम्बिसार को भेंट में भेजे। बिम्बिसार ने एक स्वर्ण-पट पर बुद्ध की प्रशस्ति लिखा कर उसे भेंट में भेजी। पक्कुसाति बुद्ध को देखने राजगृह तक पैदल आया और भिक्षु-संघ में प्रविष्ट हो गया।"

मृत्यु के बाद

दीघनिकाय के **जनवसभ सुत्त** में बिम्बिसार की लोकोत्तर गति का भी वर्णन है। आनन्द ने कहा—"भन्ते! आपने अनेक देशों के अनेक उपासकों की लोकोत्तर गति का बखान किया है, श्रेणिक बिम्बिसार भी तो धार्मिक, धर्म-राजा बुद्ध का शरणागत था। वह मृत्यु-धर्म प्राप्त हो, किस गति, किस लोक में उत्पन्न हुआ, यह उल्लेख भी करें।"

आनन्द के इस अनुरोध पर बुद्ध ने ध्यान लगाया। आत्म-शक्ति केन्द्रित की। यह जानने का प्रयत्न किया कि बिम्बिसार किस गति में सुख-दुःख पा रहा है।

एक दिव्य यक्ष प्रकट हुआ और बोला—"भन्ते! मैं जनवसभ हूँ, मैं जनवसभ हूँ, मैं जनवसभ हूँ। मैं ही बिम्बिसार हूँ।" तब बुद्ध ने जाना और आनन्द के सम्मुख प्रकट किया—बिम्बिसार यक्ष-योनि में जनवसभ नामक यक्ष हुआ है।

थेरी गाथा में बिम्बिसार की एक रानी खेमा का बौद्ध भिक्षु-संघ में दीक्षित होने का भी उल्लेख है, जो महाप्रज्ञाओं में अग्रगण्या मानी गई है।

आगम-साहित्य में

पूर्वोक्त सारे ही समुल्लेख अपने आप में सुस्पष्ट हैं। केवल इन्हीं के आधार पर हमें निर्णय करना हो, तो यह निस्सन्देह माना जा सकता है कि श्रेणिक बिम्बिसार बुद्ध का ही उपासक था। आगम-साहित्य की छानबीन में जब हम जाते हैं तो इनसे भी कहीं अधिक इतने ही सुस्पष्ट उल्लेख हमें वहाँ मिल जाते हैं।

महावीर के सम्पर्क में

मगधराज श्रेणिक को अनाथी निर्ग्रन्थ से धर्म-बोध मिला, यह उल्लेख हम कर आये

है। दशाश्रुतस्कन्ध में महावीर के साक्षात् सम्पर्क और उनके प्रति रही असाधारण श्रद्धा का परिचायक एक ज्वलन्त प्रकरण है। वहाँ बताया गया है—"उस काल उस समय में राजगृह नगर था। उसके बाहर गुणशिल उद्यान था। श्रेणिक राजा राज्य करता था। एक दिन अपनी उपस्थान शाला में राज-सिंहासन पर बैठे श्रेणिक ने कौटुम्बिक (राजकर्मचारी) पुरुषों को बुलाया और उनसे कहा—देवानुप्रियो ! तुम जाओ और राजगृह नगर के बाहर जितने ही आराम, उद्यान, शिल्पशालायें, आयतन, देवकुल, सभायें, प्रपायें, उदकशालायें, पण्यशालायें, भोजनशालायें, चुने के भट्ठे, व्यापार की मण्डियाँ, लकड़ी आदि के ठेके, मूँज आदि के कारखाने हैं, उनके जो-जो अध्यक्ष हैं, उनसे जाकर कहो—देवानुप्रियो ! श्रेणिक राजा भंभसार आदेश करता है—'जब श्रमण भगवान् महावीर इस नगर में आयें, तुम लोग स्थान, शयनासन आदि ग्रहण करने की आज्ञा दो और उनके आने के संवाद को मेरे तक पहुँचाओ।' कौटुम्बिक पुरुषों ने ऐसा ही किया।

"उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर राजगृह में आये, परिषद् जुटी। आराम आदि के स्वामी एकत्रित हो, श्रेणिक के पास आये और कहने लगे—'स्वामिन् ! जिनके दर्शन को आप उत्सुक हैं, जिनके नाम-गोत्र सुनकर आप हर्षित होते हैं, वे धर्म-प्रवर्तक, तीर्थङ्कर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् महावीर गुणशिल चैत्य में विराजमान हैं।"

"इस संवाद को सुनकर श्रेणिक हर्षित और सन्तुष्ट हुआ। सिंहासन से उठकर सात-आठ कदम आगे जा, वहीं से उसने भगवान् महावीर को वंदन किया। तदनन्तर संवाद-वाहकों को पारितोषिक दे, उसने सेनापति, वाहनाधीश आदि को बुलाया, चतुरङ्गिणी सेना सुसज्जित करने का आदेश दिया और धर्म-रथ सुसज्जित करने को कहा।

"यह सब करके वह चेलणा रानी के पास आया और बोला—'देवप्रिये ! तथारूप अरिहन्त भगवान् के दर्शन बहुत फलदायक होते हैं। इसलिए हम चल, श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करें, नमस्कार करें, उनका सत्कार और सम्मान करें। ये महावीर कल्याणकारी, मंगलकारी, देवाधिदेव और ज्ञानी हैं। वहाँ चलकर पर्युपासना करें। यह पर्युपासना हमारे इस लोक के लिए, परलोक के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए, मोक्ष के लिए यावत् भव-परम्परा में फलदायक होगी।' यह सब सुनकर चेलणा आनन्दित हुई, प्रफुल्लित हुई।

"चेलणा स्नानादि कर्म से निवृत्त हुई। बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों से परिसज्जित हुई। राजा श्रेणिक के साथ धार्मिक यान पर आरूढ़ हुई। क्रमशः गुणशिल उद्यान में आई। महावीर के अभिमुख हुई। तीन प्रदक्षिणा से अभिवन्दन किया। कुशल प्रश्न पूछे तथा राजा श्रेणिक को आगे कर महावीर की पर्युपासना में लीन हुई।

"महावीर ने धर्म-कथा कही। परिषद् विसर्जित हुई। श्रेणिक की दिव्य ऋद्धि को

देखकर कतिपय भिक्षुओं के मन में आया—'धन्य है यह श्रेणिक भंभसार, चेलणा जैसी रानी और मगध जैसे राज्य को भोग रहा है। हमारी भी तपः-साधना का कोई फल हमें मिले तो यही कि हम भी आगामी जीवन में ऐसे ही मनोरम काम-भोगों को प्राप्त करें।' चेलणा की दिव्य ऋद्धि को देखकर कतिपय भिक्षुणियों के भी मन में आया—'धन्य है यह चेलणा। हमारी तप-साधना का कोई फल हो तो आगामी जीवन में हमें भी ऐसे काम-भोग मिलें।'

"महावीर ने भिक्षु-भिक्षुणियों के इस निदान को अपने ज्ञान-बल से जाना। उन्हें एकत्रित किया। निदान के कुफल से उन्हें परिचित कराया। भिक्षु-भिक्षुणियों ने अपने दुस्संकल्प की आलोचना की।"

प्रस्तुत प्रकरण महावीर के प्रति श्रेणिक भंभसार की भक्ति का परिचायक होने के साथ-साथ इस बात का भी संकेत करता है कि यह प्रकरण श्रेणिक और महावीर के प्रथम सम्पर्क का होना चाहिए। इसमें चेलणा आगे होकर महावीर से मिलती है और फिर वह श्रेणिक को आगे कर उनकी पर्युपासना करती है। जैन-परम्परा यह मानती है, कि श्रेणिक पहले इतर धर्मावलम्बी था। चेलणा अपने पितृ-पक्ष से ही निर्ग्रन्थ-धर्म को मानने वाली थी। उसके प्रयत्न से ही श्रेणिक जैन बना। प्रथम सम्पर्क में ही चेलणा का आगे होकर महावीर का साक्षात्कार करना संगत होता है। भिक्षु-भिक्षुणियों का श्रेणिक और चेलणा को देखकर निदान-बद्ध होना भी प्रथम सम्पर्क में अधिक सहज है।

अनुत्तरोपपातिक दशांग आगम में बताया गया है—राजा श्रेणिक ने भगवान् के दर्शन किये और देशना के अन्त में पूछा—"भन्ते! आपके इन्द्रभूति आदि चौदह सहस्र श्रमणों में सर्वाधिक तप करने वाला और सर्वाधिक कर्मों की निर्जरा करने वाला कौन है?" भगवान् ने कहा—"श्रेणिक! धन्य अनगार उत्कृष्ट तपस्वी और उत्कृष्ट निर्जरा-परायण है।" यह सुनकर श्रेणिक हर्षित हुआ। धन्य अनगार के पास आया और बोला—"देवानुप्रिय! तुम धन्य हो, कृतपुण्य हो।" वहाँ से पुनः भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने प्रासाद लौटा।[1]

ज्ञाताधर्मकथा के १३वें अध्ययन में भी श्रेणिक के सदल-बल महावीर के दर्शन करने का उल्लेख है।

राजकुमारों की दीक्षा

मेघकुमार के दीक्षा-प्रसंग पर भी श्रेणिक निर्ग्रन्थ-धर्म की प्रशस्ति में कहता है—"निर्ग्रन्थ-धर्म सत्य है, प्रधान है, परिपूर्ण है, मोक्षमार्ग है, तर्क-सिद्ध है और निरुपम है। उस (भिक्षु-धर्म) का ग्रहण लोहे के चने चबाने की तरह कठिन है।"[2]

१. अनुत्तरोपपातिक दशांग, तृतीय वर्ग, सू० ४
२. ज्ञाताधर्मकथांग, १।१।

श्रेणिक के अन्य पुत्र नन्दीसेन ने भी महावीर के समवसरण में दीक्षा ग्रहण की।[1]

ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि श्रेणिक ने एक बार अपने राज-परिवार, सामन्तों तथा मंत्रियों के बीच यह उद्घोषणा की—"कोई भी भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करे, मैं रोकूँगा नहीं।"[2] इस घोषणा से प्रेरित हो श्रेणिक के जालि, मयालि आदि २३ पुत्र महावीर के पास दीक्षित हुए।[3] नन्दा, नन्दमती आदि १३ रानियाँ दीक्षित हुईं।[4]

नरक-गमन और तीर्थङ्कर पद

एक बार समवसरण में श्रेणिक महावीर की पर्युपासना कर रहा था। एक कुष्ठी भी उसके निकट आ बैठा। महावीर को छींक आई। कुष्ठी बोला—'मर रे।' श्रेणिक को छींक आई। कुष्ठी बोला—'जी रे।' अभयकुमार को छींक आई। कुष्ठी बोला—'जी, चाहे मर।' महाकसाई कालशौरिक ने छींका। कुष्ठी बोला—'न मर, न जी।' इस असम्बद्ध प्रलाप पर श्रेणिक के सैनिकों ने उसे पकड़ना चाहा पर वह देखते-देखते अन्तरिक्ष में विलीन हो गया। श्रेणिक ने महावीर से इस देव-माया का हाल पूछा। महावीर ने कहा—"यह देव था और इसने जो कहा, सब सत्य कहा। मुझे मरने के लिए कहा, इसलिए कि मेरे लिए आगे मोक्ष है। तुम्हे जीने के लिए कहा, इसलिए कि तुम्हारे आगे नरक है अर्थात् तुम्हे यहाँ से मर कर नरक पहुँचना है। अभयकुमार यहाँ भी मनुष्य है, धर्मनिष्ठ है। आगे भी उसे देवगति में जाना है; इसलिए उसे कहा—मर, चाहे जी। महाकसाई कालशौरिक यहाँ भी बीभत्स जीवन जीता है, आगे भी उसे नरक मिलना है; इसलिए उसे कहा—न मर, न जी।"

श्रेणिक अपने नरक-गमन की बात सुनकर स्तब्ध रहा। बोला—"भगवन्! क्या आपकी उपासना का यही फल सबको मिलता है?" महावीर बोले—"राजन्! ऐसा नहीं है। तुमने मृगया-गृद्धि के कारण नरक का आयुष्य बहुत पहले से बाँध रखा है। मेरी उपासना का फल तो यह है कि जैसे मैं इस चौबीसी का अन्तिम तीर्थङ्कर हूँ, नरक गति से निकलते ही तू आगामी चौबीसी का प्रथम तीर्थङ्कर पद्मनाभ होगा।"[5] श्रेणिक इस महान् संवाद को सुनकर अत्यन्त आनन्दित और प्रफुल्लित हुआ।

अपने नरक-गमन को टाल सकने का उपाय भी श्रेणिक ने महावीर से पूछा। महावीर ने कहा—"कपिला ब्राह्मणी दान दे तथा कालशौरिक जीव-वध छोड़ दे तो तुम्हारा नरक-गमन टल सकता है।" श्रेणिक की बात न कपिला ने मानी और न कसाई ने मानी।

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १० सर्ग ६।
२. गुणचन्द्र रचित, महावीर चरियं, पृ० ३३४-१।
३. अणुत्तरोववाइ दसाओ, वर्ग १, अ० १-१० ; वर्ग १, अ० १-१३।
४. अन्तगडदसाओ, र्ग ७, अ० १-१३।
५. पद्मनाभ तीर्थङ्कर का विस्तृत वर्णन, ठाणांग, ठा० ९, उ० ३, सूत्र ६९३ में उपलब्ध है।

बलात् दान दिलवाना प्रारम्भ किया तो कपिला बोली—"दान मैं नहीं दे रही हूँ, राजा ही दे रहा है।" कालशौरिक को कुएँ में डाल दिया गया तो वहाँ भी ५०० मिट्टी के भैंसे बना कर उनका वध किया।[1] तात्पर्य, न ये दोनों बातें होने वाली थीं, न नरक टलने वाला था। केवल प्रतिबोध के लिए महावीर ने श्रेणिक को ये दो मार्ग बतलाये थे।

राजर्षि प्रसन्नचन्द्र के विषय में

महावीर और श्रेणिक के अनेक संस्मरण जैन-वाङ्मय में प्रचलित हैं। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र का इस सम्बन्ध में एक प्रेरक प्रसंग है। ये पोतनपुर के राजा थे। महावीर के पास दीक्षित हुए। राजगृह में समवसरण के बाहर एक दिन ये ध्यान-मुद्रा में खड़े थे। श्रेणिक की सवारी आयी। दुर्मुख सेनापति ने राजर्षि के विषय में कहा—"यह ढोंगी है और अबुद्ध भी। अल्पवयस्क राजकुमार को राज सौंप प्रव्रज्या का ढोंग रचा है। इसके मंत्री शत्रु राजा से मिलकर राज हड़पने लगे हैं।" ध्यानस्थ राजर्षि के कानों में ये शब्द पड़े। मन में उथल-पुथल मच गई। शत्रुओं पर, मंत्रियों पर रोष उमड़ पड़ा। श्रेणिक भी राजर्षि को वन्दन करके महावीर के पास पहुँचा। प्रश्न पूछा—"प्रसन्नचन्द्र मुनि ध्यान-मुद्रा में अभी-अभी काल-धर्म को प्राप्त हों तो किस गति को प्राप्त करेंगे?" भगवान् महावीर ने कहा—"सप्तम नरक।" राजा विस्मित रहा। कुछ समय ठहर कर उसने और पूछ लिया—"भगवन्! यदि अब वे काल-धर्म को प्राप्त हों तो?" महावीर ने कहा—"सर्वार्थ सिद्ध, जो परमोच्च देव-गति है। राजन्! विस्मय की बात नहीं है। परिणामों की तरतमता ही मूल आधार है। प्रथम प्रश्न के समय उसके मन में द्वन्द्व चल रहा था। दूसरे प्रश्न के समय राजर्षि अपने आपको संभाल चुका है और आत्म-विमर्षण में लग चुका है।" श्रेणिक का महावीर के साथ यह संलाप चल ही रहा था कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने कैवल्य प्राप्त कर लिया। आकाश में देव-दुंदुभि बजने लगी। श्रेणिक अर्हत् शासन की इस महिमा को देख कर झूम उठा।[2]

चउपन्न महापुरिस चरिय के अनुसार इन्द्र ने एक दिन प्रशंसा की—श्रेणिक के समान श्रद्धाशील और धार्मिक अभी कोई नहीं है। इन्द्र की इस बात से रुष्ट हो एक देव श्रेणिक की परीक्षा लेने आया। निर्ग्रन्थ-धर्म में उसे सब तरह से दृढ़ पाकर देव प्रसन्न हुआ। उसी देव ने श्रेणिक को वह ऐतिहासिक अठारहसरा हार दिया, जो आगे चलकर 'रथमूसल संग्राम' व 'महाशिला कंटक संग्राम' का एक निमित्त बना।

दिगम्बर मान्यता के अनुसार महावीर की प्रथम देशना राजगृह के विपुलाचल पर

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६।

२. वही।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को हुई। मगधराज श्रेणिक सपरिवार एवं सपरिकर उस समवसरण में उपस्थित था। वह उपासक-संघ का अग्रणी था तथा साम्राज्ञी चेलणा उपासिका-संघ की अग्रणी थी।[1]

जैन या बौद्ध ?

उक्त जैन पुरावों पर ध्यान देते हैं तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता कि श्रेणिक दृढ़धर्मी जैन श्रावक नहीं था, पर जब बौद्ध और जैन दोनों ओर के पुरावों को सामने रख कर एक तटस्थ चिन्तन करते हैं, तो दोनों पलड़े सम हो जाते हैं। श्रेणिक को अपना उपासक व्यक्त करने में किसी ओर के पुरावों को न्यून या अधिक कह पाना कठिन है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों ही परम्पराओं के उक्त पुरावों की ऐतिहासिक समीक्षा में जाएँ तो बहुत सारे पुरावे उत्तरकालिक सिद्ध होंगे, जो समय-समय पर पुराण-ग्रन्थों में जोड़े जाते रहे हैं। जैसे, रायस डेविड्स का कहना है—"**कूटदन्त सुत्त** काल्पनिक प्रतीत होता है। कूटदन्त नामक कोई व्यक्ति था, ऐसा अन्यत्र कोई प्रमाण नहीं मिलता।"[2] एडवर्ड थॉमस का अभिमत है—"बिम्बिसार और बुद्ध की प्रथम भेंट का एक जनश्रुति से अधिक महत्त्व नहीं है। वह नाना स्थलों पर नाना रूपों में मिलती है। प्राचीन पालि-ग्रन्थों में वह मिलती ही नहीं।"[3] जैन पुरावों की समीक्षा में जायें तो उनमें भी कुछ एक जनश्रुतिपरक ही माने जा सकते हैं। अस्तु, पुरावे कुछ भी हों, कैसे भी हों, उनकी वास्तविकता और काल्पनिकता के बीच कोई सीधी रेखा नहीं खींची जा सकती। जिन्हें हम काल्पनिक सोचते हैं, उस सोचने का आधार भी तो हमारी कल्पना ही है। इस स्थिति में वास्तविकता और अवास्तविकता की छान-बीन का मार्ग भी हमें किसी निश्चित बिन्दु पर नहीं पहुँचा सकता।

इस विषय में निर्णायक प्रकाश महावीर, बुद्ध और बिम्बिसार के कालक्रम से ही मिल सकता है। 'काल-गणना' प्रकरण में तीनों के कालक्रम पर व्यवस्थित और प्रमाणोपेत विचार कर चुके हैं। उसके अनुसार कैवल्य-प्राप्त महावीर और श्रेणिक की समसामयिकता १३ वर्षों की होती है तथा बोधि-प्राप्त बुद्ध की और बिम्बिसार की समसामयिकता केवल ४ वर्षों की होती है। इन ४ वर्षों में महावीर भी वर्तमान होते हैं। महावीर कैवल्य-प्राप्ति का प्रथम वर्षावास भी राजगृह में करते हैं। उसी वर्षावास के प्रारम्भ[4] में श्रेणिक सम्यक्त्व-

---

१. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ६५।

२. *Dialogues of Buddha*, Part 1, p. 163.

३. *Life of Buddha*, pp. 68-80.

४. तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ११।

धर्म तथा अभयकुमार आदि श्रावक-धर्म स्वीकार करते हैं ।[1] श्रेणिक के निर्ग्रन्थ-धर्म स्वीकार करने की बात अनाथी श्रमण के प्रसंग में भी आ चुकी है ! हो सकता है, उसी का विधिवत् रूप यहाँ बना हो । अस्तु, श्रेणिक का महावीर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क कैवल्य-लाभ के प्रथम वर्ष में ही हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं । उस घनिष्ठ सम्पर्क का ही परिणाम माना जा सकता है कि वह अपने कुमारों और रानियों को निर्बाध दीक्षित होने देता है और स्वयं उनके दीक्षा-समारोह मनाता है । मेघकुमार और नन्दीसेन की दीक्षा तो इसी प्रथम वर्षावास में हो जाती है ।[2] हो सकता है, श्रेणिक की इस असाधारण श्रद्धा के परिणाम-स्वरूप ही महावीर ने राजगृह में पुनः-पुनः चातुर्मास किये हों ।

श्रेणिक स्वभाव से ही आध्यात्मिक संस्कारों का व्यक्ति था । बुद्ध के उदय से पूर्व ही महावीर का राजगृह में पुनः-पुनः आगमन होता रहा । इस स्थिति में वह महावीर का अनुयायी न बन गया हो, यह सोचा भी नहीं जा सकता । साथ-साथ यह भी सम्भव नहीं लगता कि जीवन के अपने अन्तिम चार वर्षों में महावीर की वर्तमानता में ही वह निर्ग्रन्थ-धर्म को छोड़ कर बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर ले, जब कि अनेकानेक रानियाँ और राजकुमार महावीर के पास दीक्षित हो चुके थे । प्रो० दलसुखभाई मालवणिया का यह कथन भी यथार्थ नहीं लगता कि महावीर ने उसका नरक-गमन बताया है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अन्त में बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया था ।[3] ऐसा ही होता तो महावीर नरक-गति के अनन्तर ही उसके अपने ही जैसा 'पद्मनाभ' तीर्थङ्कर होने की बात क्यों कहते ?

बौद्ध-ग्रन्थ **महावंश** में बताया गया है—बुद्ध बिम्बिसार से ५ वर्ष बड़े थे । वे ३५ वर्ष की आयु में बुद्धत्व प्राप्त कर राजगृह आये । बिम्बिसार १५ वर्ष की आयु में अभिषिक्त हुआ । अपने शासन काल के १६वें तथा अपने जीवन के ३१वें वर्ष में बुद्ध की शरण में आया । तदनन्तर ३७ वर्ष बुद्ध की वर्तमानता में वह जीवित रहा । अजातशत्रु के राजगद्दी पर बैठने के ८ वर्ष पश्चात् बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ ।[4] **महावंश** का यह उल्लेख यथार्थ नहीं है । उसकी अयथार्थता पर 'काल-गणना' प्रकरण में विस्तार से विचार किया जा चुका है ।

---

१. (क) श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत् ।
श्रावकधर्मं त्वभयकुमाराद्याः प्रपेदिरे ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ३७६

(ख) एमाई धम्मकहं सोउं सेणिय निवाइया भव्वा ।
समत्तं पडिवन्ना, केई पुण देशविरयाइ ॥

—नेमिचन्द्र रचित, महावीर चरियं, गा० १२६४

२. तीर्थंकर महावीर, भाग २, पृ० ११-१६ ।

३. स्थानांग-समवायांग (गुजराती अनुवाद), पृ० ७४१ ।

४. महावंश, परिच्छेद २, गा० २६-३२ ।

श्रेणिक की निर्ग्रन्थ-धर्म की घनिष्ठता का एक प्रमाण यह भी है कि उसकी रानियाँ और राजकुमार महावीर के पास जितनी बड़ी संख्या में दीक्षित हुए हैं, उस अपेक्षा में बुद्ध के पास दीक्षित होने वालों की संख्या नगण्य है।

श्रेणिक के परम्परागत जैन होने का भी आधार मिलता है। उसके पिता के सम्बन्ध में बताया गया है—वह पार्श्व-परम्परा का सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती उपासक था।[1] डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार श्रेणिक के पूर्वज काशी से मगध में आये थे।[2] यह भी माना जाता है कि काशी का यह वही राजवंश था, जिसमें तीर्थङ्कर पार्श्व पैदा हुए थे।[3] इस आधार पर यह सोचा जा सकता है, श्रेणिक का कुल-धर्म जैन-धर्म ही रहा है। जैन अनुश्रुति के अनुसार भी श्रेणिक अपने कुल-धर्म से जैन होते हुए भी अपने निर्वासन-काल में जैन-धर्म से विमुख हो गया था। हो सकता है, उसी समय वह शिथिलाचारी श्रमणों को मानने लगा हो, जिसका संकेत हमें अनाथी श्रमण के प्रसंग में भी मिलता है। अस्तु जिसके पूर्वज जैन और जिसका पिता जैन उस श्रेणिक का जन्म-जात जैन होना सहज बात है।

जीवन के अन्तिम चार वर्षों में उसका सम्बन्ध बुद्ध और बौद्ध भिक्षु-संघ से भी रहा, इसमें संदेह नहीं ; पर वह सम्बन्ध सौहार्द और सहानुभूति से अधिक गहरा प्रतीत नहीं होता।

उक्त तथ्य की पुष्टि में एक सबल प्रमाण यह है कि राजगृह महावीर और निर्ग्रन्थ-संघ का ही प्रमुख केन्द्र था। महावीर ने स्वयं वहाँ १४ वर्षावास बिताये। अनेक बार शेषकाल में भी वे वहाँ आते रहे। राजगृह के लोग पहले से भी पार्श्व-परम्परा को मानते आ रहे थे। इसमें संदेह नहीं होना चाहिए कि राजगृह के निर्ग्रन्थ-संघ और महावीर का केन्द्र होने में श्रेणिक की अनुयायिता भी एक प्रमुख आधार थी।

बुद्ध और बौद्ध भिक्षु-संघ का केन्द्र राजगृह नहीं, श्रावस्ती था। वहीं अनाथपिण्डक का जेतवन था और वहीं विशाखा मृगारमाता का पूर्वाराम। वहीं बुद्ध का परम अनुयायी राजा प्रसेनजित् था। वहाँ बुद्ध ने स्वयं २६ वर्षावास बिताये, जब कि राजगृह में केवल पाँच। महावीर ने श्रावस्ती में केवल एक वर्षावास बिताया। उल्लेखनीय बात यह है कि महावीर ने जिस प्रकार श्रेणिक के तीर्थङ्कर होने की घोषणा की, वैसे ही बुद्ध ने प्रसेनजित् के लिए बुद्ध होने की घोषणा की।[4] कुल मिला कर यही यथार्थ लगता है कि श्रेणिक महावीर का अनुयायी था और प्रसेनजित् बुद्ध का।

---

१. श्रीमत्पार्श्वजिनाधीश-शासनाम्भोजषट्पदः।
सम्यग्दर्शन पुण्यात्मा, सोऽणुव्रतधरोभवत्॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ८

२. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ६२।

३. वही, अध्याय ३, पृ० ६२।

४. अनागतवंश: *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. II, P. 174.

श्रेणिक के विषय में डॉ० वी० ए० स्मिथ का भी अभिमत है—"वह अपने आप में जैन-धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। जैन-परम्परा उसे राजा संप्रति के समान ही जैन-धर्म का प्रभावक मानती है।"[1] उसी ग्रन्थ में वे आगे लिखते हैं—"महावीर अपने मातृक सम्बन्ध के कारण विदेह, मगध और अंग आदि देशों के राजगुरु थे। बिम्बिसार और अजातशत्रु से उनका व्यक्तिगत सम्पर्क था; ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं। यह भी प्रतीत होता है कि बिम्बिसार और अजातशत्रु, इन दोनों ने महावीर के सिद्धान्तों का अनुसरण किया था।"[2]

नाम-चर्चा

भिंभिसार आदि

जैन आगमों में श्रेणिक के लिए भंभसार, भिंभसार, भिंभिसार शब्दों का प्रयोग भी बहुतायत से मिलता है।[3] उत्तरवर्ती संस्कृत-प्राकृत-ग्रन्थों में भंभासार शब्द ही मुख्यतः प्रयुक्त हुआ है।[4] भंभा, भिंभा और भिंभि—ये शब्द भेरी के अर्थ में एकार्थवाची माने गये हैं।[5] विविध ग्रन्थों में इस नामकरण का एक ही हार्द बताया गया है—महलों में आग लग जाने से सभी राजकुमार विविध वस्तुएँ लेकर भागे। श्रेणिक 'भंभा' को ही राजचिह्न के रूप में सारभूत समझ कर भागा। इसलिए उसका नाम भंभासार पड़ा।[6] श्री विजयेन्द्र सूरि ने केवल भम्भासार शब्द को ही यथार्थ माना है। अन्य सब नामों को अशुद्ध ठहराने का प्रयत्न किया है,[7] पर यह उचित नहीं लगता। ये सभी शब्द मूल आगमों में अनेकधा प्रयुक्त

---

१. He appears to have been a Jain in religion, and sometimes is coupled by Jain tradition with Asoka's grandson, samprati, as a notable petron of the creed of Mahāvīra. —*The oxford History of India, p. 45*

२. Being related through his mother to the reigning king of Videha, Magadha and Anga, he was in a position to gain official patronage for his teaching, and is recorded, to have been in personal touch with both Bimbisāra and Ajātasatru, who seem to have followed his doctrine. — *The Oxford History of India, p. 51,52*

३. (क) सेणिए भंभसारे।
—ज्ञाताधर्मकथा, श्रु० १, अ० १३ (पत्र१८६-२); दशाश्रुतस्कन्ध, दशा १० सू० १ आदि
(ख) सेणिए भंभसारे, सेणिए भिंभसारे।
—उववाई सुत्त, सू० ७ पृ० २३; सू० ६ पृ० २५; सू० २६ पृ० ११५
(ग) सेणिए भिंभिसारे। —ठाणांग सूत्र, ठा० ६, पत्र ४५८-२

४. अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लो० ३७६; उपदेशमाला सटीक, पत्र ३३४; ऋषि मण्डल प्रकरण, पत्र १४३; श्रीभरतेश्वर बाहुवली वृत्ति, प्रथम विभाग, पत्र २२; आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १५८।

५. पाइय-सद्द-महण्णवो, पृ० ७६४,८०७।

६. सेणिय कुमारेण पुणो जयढक्का कड्ढिया पविसिऊणं।
पिऊण तुट्ठे पतओ भणिओ सो भंभासारो॥ —उपदेशमाला सटीक, पत्र ३३४-१

७. तीर्थंकर महावीर, भा० २, पृ० ६३० से ६३३।

हुए हैं। 'भंभा' के अतिरिक्त 'भिभ' आदि शब्द भंभावाची न भी होते हों, जैसे कि विजयेन्द्र सूरि का कहना है, तो भी श्रेणिक के नाम के साथ उनका योग तो है ही। अतः ये संज्ञावाची होकर अपने अर्थ के वाचक हो ही जाते हैं। आर्ष संज्ञाओं के विषय में अशुद्ध होने का कोई प्रश्न बनता ही नहीं। विजयेन्द्र सूरि **स्थानांग वृत्ति** से प्रमाणित करते हैं—**"भंभा' त्ति ढक्का सा सारो यस्य स भंभासारः।"** लगता है, यह प्रमाण दृष्टि-दोष से ही उन्होंने अपने पक्ष में प्रयुक्त कर लिया है। वस्तुतः जिस प्रति से उन्होंने यह पंक्ति उद्धृत की है, उस प्रति में तो प्रत्युत यह बताया गया है—**"भिंभि' त्ति ढक्का सा सारो यस्य स तथा (भिंभिसारः)।"**[1] जिस पाठ की वहाँ व्याख्या की जा रही है, वह पाठ भी तो स्पष्टतः **"सेणिए राया भिंभिसारे"** ही है। वृत्तिकार श्री अभयदेव सूरि उसी प्रसंग में भी तो स्पष्ट करते हैं—**'तेन कुमारत्वे प्रदीपनके जयढक्का गेहान्निष्काशिता ततः पित्रा भिंभिसार उक्तः।"**[2] डॉ० पिशल ने भी भिंभिसार शब्द को यथार्थ ही माना है।[3]

बिम्बिसार

बौद्ध-परम्परा में श्रेणिक का अन्य नाम बिम्बिसार माना गया है। 'बिम्बि' अर्थात् स्वर्ण। स्वर्ण के समान वर्ण होने के कारण बिम्बिसार नाम पड़ा।[4] तिब्बती-परम्परा में माना गया है—श्रेणिक की माता का नाम बिम्बि था, अतः उसे बिम्बिसार कहा जाता था।[5]

भिंभिसार और बिम्बिसार नाम एक दूसरे के बहुत निकट प्रतीत होते हैं। इनकी समानता का हार्द अन्वेषणीय है। हो सकता है, एक ही नाम भाषा व उच्चारण आदि के भेद से दो रूपों में चल पड़ा हो।

श्रेणिक

श्रेणिक नाम जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में समान रूप से अभिमत है। दोनों परम्पराओं में क्रमशः 'श्रेणिक भिंभिसार' और 'श्रेणिक बिम्बिसार' का संयुक्त प्रयोग ही मुख्यतः मिलता है। श्रेणिक शब्द के व्यौत्पत्तिक अर्थ में भी बहुत कुछ समानता है। जैन-परम्परा मानती

---

१. आगमोदय समिति, प्रकाशन—सन् १९२०।

२. पत्र ४६१-१।

३. *Grametic Derprakrit sprachen,* para. 201.
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, पृ० ३१३।

४. उदान अट्ठकथा, १०४।

५. *Life of Buddha* by W. W. Rockhill, p. 16.

है—"श्रेणियों की स्थापना करने से श्रेणिक नाम पड़ा।"[1] बौद्ध-परम्परा मानती है—"पिता के द्वारा अठारह श्रेणियों का स्वामी बनाये जाने के कारण वह श्रेणिक बिम्बिसार कहलाया।"[2] दोनों ही परम्पराओं में श्रेणियों की संख्या अठारह है।[3] श्रेणियों के नाम भी बहुत कुछ समान रूप से मिलते हैं। जैनागम **जम्बूद्वीपपण्णत्ति** में नव नारु[4] और नव कारु[5]—श्रेणियों के ये अठारह भेद बहुत ही विस्तृत रूप में बताये गये हैं। बौद्ध-साहित्य में श्रेणियों के नाम एक रूप तथा इतने व्यवस्थित नहीं मिलते हैं। **महावस्तु**[6] के नाम **जम्बूद्वीपपण्णत्ति** के नामों से बहुत कुछ मिलने वाले हैं, पर वे संख्या में तीस कर दिये गये हैं। डॉ० आर० सी० मजुमदार ने विविध ग्रन्थों से एकत्रित कर श्रेणियों के सत्ताइस नाम संजोये हैं। मालूम होता है, उन्होंने **जम्बूद्वीपपण्णत्ति** का अवलोकन नहीं किया। नहीं तो उन्हें यह नहीं लिख देना होता कि "ये अठारह श्रेणियाँ कौन थीं, यह बताना सम्भव नहीं है।"[7] कुछ लोग यह भी मानते हैं कि महती सेना होने से या सेनिय गोत्र होने से, श्रेणिक नाम पड़ा।[8]

पिता का नाम

श्रेणिक के पिता का नाम श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार प्रसेनजित् ठहरता है।[9] दिगम्बर-परम्परा के **उत्तरपुराण** में उसके पिता का नाम कुणिक बताया गया है,[10] जो स्पष्टतः अयथार्थ है। दिगम्बर आचार्य हरिषेण कृत **बृहत् कथाकोष** (कथांक, ५५) में श्रेणिक

---

१. श्रेणी : कायति श्रेणिको मगधेश्वर :।
—अभिधान चिन्तामणि :, स्वोपज्ञवृत्तिः, मर्त्यकाण्ड, श्लो० ३७६।

२. सपित्राष्टादशसु श्रेणिष्ववतारितः। अतोऽस्य श्रेण्यो बिम्बिसार इति ख्यातः॥
—विनयपिटक, गिलगिट मांस्क्रुप्ट।

३. जम्बूद्वीपपण्णत्ति, वक्ष० ३; जातक, मूगपक्खजातक, भा० ६।

४. कुंभार(१), पट्टइल्ला(२), सुवण्णकारा(३), सूवकारा(४) य।
गंधव्वा(५), कासवग्गा(६), मालाकारा(७), कच्छकरा(८) ॥१॥
तंबोलिया य ए ए नवप्पयारा य नारुआ भणिआ।

५. अह णं णवप्पयारे कारुअवण्णे पवक्खामि ॥२॥
चम्मयरु, जंतपीलग, गंछिअ, छिंपाय, कंसारे य।
सीवग, गुआर, भिल्लग, धीवर, वण्णइ अट्ठदस ॥३॥

६. भा० ३, पृ० ११३ तथा ४४२-४४३।

७. *Corporate life in Ancient India,* Vol. II, p. 18.

८. *Dictionary of Pali Proper Names,* Vol. II, pp. 289,1284.

९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६, श्लो० १।

१०. सुनुः कुणिक भूपस्य श्रीमत्यां त्वमभूरसौ।
अथान्यदा पिता तेऽसौ मत्पुत्रेषु भवेत्पतिः॥
—उत्तरपुराण, चतुःसप्ततितमं पर्व, श्लो० ४१८।

के पिता का नाम उपश्रेणिक बताया गया है।[1] **श्रीमद् भागवत पुराण** में श्रेणिक को विधिसार तथा उसके पिता को क्षेत्रज्ञ[2] कहा गया है। अन्यत्र उसके भट्टिय, महापद्म, हेमजित्, क्षेत्रोजा, क्षेत्रोजा आदि विभिन्न नाम आते हैं।[3]

रानियाँ

जैन-साहित्य में श्रेणिक की २५ रानियों के नाम उपलब्ध होते हैं। नन्दा आदि १३ रानियों के नाम तथा काली, सुकाली आदि १० रानियों के नाम **अन्तकृद्दशा सूत्र** में मिलते हैं। ये श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् महावीर के पास दीक्षित होती हैं। **दशाश्रुतस्कन्ध** में चेलणा का साम्राज्ञी के रूप में वर्णन आया ही है। **निशीथ चूर्णि** में श्रेणिक की एक पत्नी का नाम अपतगंधा आया है,[4] जो विशेष प्रसिद्ध नहीं है। **ज्ञाताधर्मकथा** में श्रेणिक की धारिणी रानी का विशद वर्णन है।[5]

विनयपिटक में राजा बिम्बिसार के ५०० पत्नियाँ बताई गई हैं।[6] जीवक कौमार भृत्य ने बिम्बिसार के भगन्दर रोग का उपचार एक लेप में कर दिया। प्रसन्न हो, बिम्बिसार ने ५०० स्त्रियों को अलंकृत कर उनके सब आभूषण जीवक को उपहार रूप में दिये। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, ये ५०० श्रेणिक की रानियाँ ही रही हों।

बौद्ध मान्यता के अनुसार राजा प्रसेनजित् की बहिन कोशला देवी बिम्बिसार की पत्नी थी। इसके दहेज में एक लाख कार्षापण की आय वाला एक गाँव बिम्बिसार को मिला था।[7]

रानी खेमा मद्र-देश की राज-कन्या थी। वह रूप-गर्विता थी। प्रतिबोध पाकर बुद्ध के पास दीक्षित हुई।[8]

उज्जयिनी की गणिका पद्मावती भी श्रेणिक की पत्नी मानी गई है।[9]

---

१. तथास्ति मगधे देशे पुरं राजगृहं परम्।
तत्रोपश्रेणिको राजा तद्भार्या सुप्रभा प्रभा ॥१॥
तयोरन्योन्यसंप्रीतिसंलग्नमनसोरभूत् ।
तनयः श्रेणिको नाम सम्यक्त्व कृतभूषणः ॥२॥
२. स्कन्ध १२, अ० १, पृ० ६०३।
३. *Political History of Ancient India*, p. 205
४. सभाष्य, भा० १, पृ० १७।
५. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, अ० १ सू० ८ (पत्र १४-१)।
६. महावग्ग, ८-१-१५।
७. जातक, २-४०३; *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. II, p. 286; संयुक्तनिकाय, अट्ठकथा।
८. थेरी गाथा-अट्ठकथा, १३६-१४३।
९. थेरी गाथा, ३१-३२।

अभिनिष्क्रमण सूत्र में वैदेही वासवी के बिम्बिसार की रानी होने का उल्लेख मिलता है। शीलवा और जयसेना भी उसकी रानियाँ थीं।[१]

बिम्बिसार की रानियों के विषय में जैन और बौद्ध समुल्लेख परस्पर भिन्न हैं। लगता है, बिम्बिसार के बहुत-सी पत्नियाँ थी। मुख्यतः जिस-जिस परम्परा से जिनका सम्बन्ध रहा है, उस परम्परा में उनका ही समुल्लेख मुख्यतः हुआ है। हो सकता है, कुछ एक रानियाँ नाम-भेद से दोनों परम्पराओं में उल्लिखित हुई हों।

राजपुत्र

श्रेणिक का उत्तराधिकारी राजपुत्र कूणिक (अजातशत्रु) था। बौद्ध-परम्परा में कुछ एक पुत्रों का उल्लेख है। अभयकुमार को नर्तकी रानी पद्मावती का पुत्र बताया गया है।[२] अम्बपाली गणिका से उत्पन्न बिम्बिसार का एक पुत्र विमल कोडञ्ञ था, जो आगे चल कर बौद्ध भिक्षु हुआ।[३] शीलवा का एक पुत्र शीलवत्[४] था। जयसेना के भी एक पुत्र होने का वर्णन मिलता है।[५]

जैन-परम्परा में कूणिक के अतिरिक्त भी बहुत सारे राजकुमारों का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। **अनुत्तरोववाइय** में १० राजकुमारों का वर्णन आया है। उनके नाम हैं—(१) जाली, (२) मयाली, (३) उवयाली, (४) पुरिससेण, (५) वारिसेण, (६) दिहदन्त, (७) लट्ठदन्त, (८) वेहल्ल, (९) वेहायस और (१०) अभयकुमार। इनमें से प्रथम ७ धारिणी के पुत्र थे, वेहल्ल और वेहायस चेलणा के तथा अभयकुमार नन्दा का।[६]

उसी आगम में प्रसंगान्तर से १३ राजकुमारों के निम्नोक्त नाम बताये गए हैं— (१) दीहसेण, (२) महासेण, (३) लट्ठदन्त, (४) गूढ़दन्त, (५) शुद्धदन्त, (६) हल्ल, (७) दुम, (८) दुमसेण, (९) महादुमसेण, (१०) सीह, (११) सीहसेण, (१२) महासीहसेण और (१३) पुण्णसेण।

निरियावलिका में काली, सुकाली आदि रानियों से निम्नोक्त दस राजकुमार माने गये हैं—(१) कालकुमार, (२) सुकालकुमार, (३) महाकालकुमार, (४) कण्हकुमार, (५) सुकण्हकुमार, (६) महाकण्हकुमार, (७) वीरकण्हकुमार, (८) रामकण्हकुमार, (९) सेणकण्ह-कुमार और (१०) महासेणकण्हकुमार।

मेघकुमार, नन्दीसेन—ये दो राजपुत्र जैन-परम्परा में बहुत प्रसिद्ध रहे हैं।

---

१. *Dictionary of Pali Proper Names*, Vo. III, p. 286.
२. थेरी गाथा, ३१-३२।
३. थेर गाथा अट्ठकथा, ६४।
४. थेरी गाथा, ६०९,६१९।
५. मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, २,६३२।
६. नवरं सत्त धारिणीसुआ, वेहल्ल वेहासा चेल्लणाअे···, अभयस्स णाणत्तं रायगिहे नयरे सेणिये राया नन्दा देवी।
—अनुत्तरोववाइय, वर्ग १

जैन आगमों में उक्त राजपुत्रों का नामग्राह उल्लेख मात्र ही नहीं ; यथास्थान इन सबका व्यवस्थित जीवन-वृत्त भी है। इनमें से कालकुमार आदि दस महाशिलाकण्टक संग्राम में मरे हैं और शेष सभी ने दीक्षा ग्रहण की है।

अजातशत्रु कूणिक

श्रेणिक की तरह कूणिक (अजातशत्रु) का भी दोनों परम्पराओं में समान स्थान है। दोनों ही परम्पराएँ उसे अपना-अपना अनुयायी मानती हैं और इसके लिए दोनों के पास अपने-अपने आधार हैं। बौद्ध परम्परा के अनुसार **सामञ्ञफल सुत्त** का सम्पर्क बुद्ध और अजातशत्रु का प्रथम-प्रथम मिलन था। उसी में वह बुद्ध, धर्म और संघ का शरणागत उपासक हुआ।[1] बुद्ध के प्रति अजातशत्रु की भक्ति का अन्य उदाहरण उनकी अस्थियों पर एक महान् स्तूप बनवाना है। बुद्ध के भस्मावशेष जब बांटे जाने लगे, उस समय अजातशत्रु ने भी कुशीनारा के मल्लों से कहलाया—"बुद्ध भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ। अवशेषों का एक भाग मुझे अवश्य मिलना चाहिए।" द्रोण विप्र के परामर्श पर उसे एक अस्थि-भाग मिला और उस पर उसने स्तूप बनाया।[2]

सामञ्ञफल सुत्त में अजातशत्रु कार्तिक पूर्णिमा की रात को ही अपने राज वैद्य जीवक कौमार भृत्य से बुद्ध का परिचय पाता है और पाँच सौ हाथियों पर पाँच सौ रानियों को लिए उसी रात में बुद्ध का साक्षात् करता है। महावीर से उसका प्रथम साक्षात् कब होता है, यह कहना कठिन है। उनके जितने साक्षात् उनसे मिलते हैं, वे चिर परिचय और अनन्य भक्ति के ही सूचक मिलते हैं। प्रथम उपाङ्ग **औपपातिक** आगम मुख्यतः महावीर और कूणिक के सम्बन्धों पर ही प्रकाश डालता है। चम्पा नगरी और कूणिक की राज्य-स्थिति का भी वहाँ सुन्दर चित्रण है। कूणिक की महावीर के प्रति रही भक्ति के विषय में वहाँ बताया गया है—उसके एक प्रवृत्ति वादुक पुरुष था। वह महान् आजीविका पाता था। उसका कार्य था, महावीर की प्रतिदिन की प्रवृत्ति से उसे अवगत करते रहना। उसके नीचे अनेकों कर्मकर रहते थे। वे भी आजीविका पाते थे। उनके माध्यम से महावीर के प्रतिदिन के समाचार उस प्रवृत्ति-वादुक पुरुष को मिलते और वह उन्हें कूणिक को बताता।[3]

---

१. एसाहं, भन्ते, भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खु सङ्घं च। उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं।

२. बुद्धचर्या, पृ० ५०१।

३. तस्स णं कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकय-वित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए, भगवओ तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेएइ। तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्ण-भति-भत्त-वेअणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ तद्देवसिअं पवित्तिं निवेदेंति। —औपपातिक सूत्र, सू०, ८

महावीर के चम्पा-आगमन और कूणिक के भक्ति-निदर्शन का विवरण औपपातिक सूत्र में बहुत ही विशद् और प्रेरक है। 'सामञ्ञफल सुत्त' की तरह यह भी यदि गवेषकों की समीक्षा का विषय बना होता, तो उतना ही महत्त्व उसका बनता। स्थिति यह है कि जितनी शोध-खोल अब तक त्रिपिटकों पर हुई है, उतनी आगमों पर नहीं। यदि ऐसा हुआ होता तो अनेकों महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णायक प्रकाश पड़ता। अजातशत्रु कूणिक के विषय में भी जितनी अवगति आगम देते है, उतनी त्रिपिटक नहीं।

महावीर के आगमन का सन्देश

महावीर और कूणिक का यह सम्पर्क चम्पा नगरी में होता है—महावीर ग्रामानुग्राम बिहार करते १४ सहस्र भिक्षु ३६ सहस्र भिक्षुणियों के परिवार से चम्पा नगरी के उप गर में आये। प्रवृत्ति-वादुक पुरुष यह सम्वाद पा, आनन्दित हुआ, प्रफुल्लित हुआ। स्नान कर मंगल वस्त्र पहने, अल्प भार युक्त तथा बहुल मूल्य युक्त आभूषण पहने। घर से निकला। चम्पा नगरी के मध्य होता हुआ भंभसार पुत्र कूणिक की राजसभा में आया, जय-विजय शब्द से वर्धापना की, बोला—"देवानुप्रिय! आप जिनके दर्शन चाहते हैं, जिनके दर्शन आपके लिए पथ्य हैं, जिनके नाम-गोत्र आदि के श्रवण से ही आप हृष्ट-तुष्ट होते हैं, वे श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरते हुए क्रमशः चम्पा नगरी के उपनगर में आये हैं और चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में आने वाले हैं। यह सम्वाद आपके लिए प्रिय हो।"

भंभसार पुत्र कूणिक उस प्रवृत्ति-निवेदक से यह सम्वाद सुनकर अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके नेत्र और मुख विकसित हो गये। वह शीघ्रता से राज-सिंहासन छोड़ कर उठा, पादुकाएँ खोलीं। पाँचों राज-चिह्न दूर किये।[1] एक साटिक उत्तरासंग किया। अंजलिबद्ध होकर सात-आठ कदम महावीर की दिशा में आगे गया। बाँये पैर को संकुचित किया। दाँये पैर को संकोच कर धरती पर रखा। मस्तक को तीन बार धरणी-तल पर लगाया। फिर थोड़ा सा ऊपर उठ कर हाथ जोड़े। अंजलि को मस्तक पर लगा कर 'णमोत्थुणं' से अभिवादन करते हुए बोला—"श्रमण भगवान् महावीर जो आदिकर हैं, तीर्थङ्कर हैं...यावत् सिद्ध गति के अभिलाषुक हैं। मेरे धर्मोपदेशक और धर्माचार्य हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो। यहाँ से मैं तत्रस्थ भगवान् का वन्दन करता हूँ। भगवान् वहीं से मुझे देखते हैं।[2]

इस प्रकार वन्दन-नमस्कार कर राजा पुनः सिंहासनारूढ हुआ। उसने प्रवृत्ति वादुक

---

१. खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानत् और चामर।

२. णमोऽत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थगरस्स...जाव संपाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स।
वंदामि णं भगवन्तं तत्थगयं इहगए, पासइ मे (मे से) भगवं तत्थगए इहगयं तिकट्टु वंदइ णमंसइ।
—औपपातिक सूत्र, सू० १२

पुरुष को एक लाख आठ सहस्र रजत-मुद्राओं का 'प्रीतिदान' दिया और कहा—"भगवान् महावीर जब चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारें, तब मुझे पुनः सूचना देना।"

महावीर का चम्पा-आगमन

सहस्र किरणों से सुशोभित सूर्य आकाश में उदित हुआ। प्रभात के उस मनोरम वातावरण में भगवान् महावीर जहाँ चम्पा नगरी थी, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे। यथारूप स्थान ग्रहण कर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। चम्पा नगरी के शृङ्गाटकों और चतुष्कों पर सर्वत्र यही चर्चा थी—"श्रमण भगवान् महावीर यहाँ आये हैं, पूर्णभद्र चैत्य में ठहरे हैं; उनके नाम-गोत्र के श्रवण से ही महाफल होता है। उनके साक्षात् दर्शन की तो बात ही क्या? देवानुप्रियो! चलो, हम सब भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार करें। वह हमारे इस लोक और आगामी लोक के लिए हितकर और सुखकर होगा।"

तदनन्तर लोकों ने स्नान किया, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हुए तथा मालाएँ धारण की। कुछ घोड़ों पर, कुछ हाथियों पर व कुछ शिविकाओं में आरूढ़ होकर तथा अनेक जनवृन्द पैदल ही भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चले।

प्रवृत्ति वादुक पुरुष ने कूणिक को यह हर्ष-संवाद सुनाया। राजा ने साढ़े बारह लाख रजत-मुद्राओं का 'प्रीतिदान' दिया।[1] तब भंभसार पुत्र कूणिक ने बलव्यापृत पुरुष (सेनाधिकारी) को बुलाया और कहा—"हस्तिरत्न को सजा कर तैयार करो। चतुरंगिनी सेना को तैयार करो। सुभद्रा आदि रानियों के लिए रथों को तैयार करो। चम्पा नगरी को बाहर और भीतर से स्वच्छ करो। गलियों और राजमार्गों को सजाओ। दर्शकों के लिए स्थान-स्थान पर मंच तैयार करो। मै भगवान् महावीर की अभिवन्दना के लिए जाऊँगा।"

राजा के आदेशानुसार सब तैयारियाँ हुईं। राजा हस्तिरत्न हाथी पर सवार हुआ। सुभद्रा प्रभृति रानियाँ रथों पर सवार हुईं। इस प्रकार चतुरंगिनी सेना के महान् वैभव के साथ राजा भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चला।[2] चम्पा नगरी के मध्य-भाग से होता हुआ

---

१. मूल प्रकरण में 'रजत' शब्द नहीं है, पर परम्परा से ऐसा माना जाता है कि चक्रवर्ती का प्रीतिदान साढ़े बारह कोटि स्वर्ण-मुद्राओं का होता है। वासुदेव का प्रीतिदान साढ़े बारह कोटि रजत-मुद्राओं का होता है तथा माण्डलिक राजाओं का प्रीतिदान साढ़े बारह लक्ष रजत-मुद्राओं का होता है। —उववाई (हिन्दी अनुवाद), पृ० १३३

२. कूणिक राजा के वैभव, आडम्बर और अभियान-व्यवस्था के विस्तृत वर्णन के लिए द्रष्टव्य—औपपातिक सूत्र, सू० २८-३१।

पूर्णभद्र चैत्य के समीप आया। श्रमण भगवान् महावीर के छत्र आदि तीर्थङ्कर-अतिशय दूर से देखे। वहीं उसने हस्तिरत्न छोड़ दिया। पाँचो राज-चिह्न छोड़ दिये। वहाँ से वह भगवान् महावीर के सम्मुख आया। पंच अभिगमन कर भगवान् महावीर को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर मानसिकी, वाचिकी और कायिकी उपासना करने लगा।[१]

महावीर का उपदेश

भगवान् महावीर ने उपस्थित परिषद् को अर्धमागधी भाषा में देशना दी, जिसमें बताया—"लोक है, अलोक है। इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा···आदि हैं। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध मान, माया, लोभ···आदि हैं। प्राणातिपात-विरमण, मृषावाद-विरमण, अदत्तादान-विरमण, मैथुन-विरमण, परिग्रह-विरमण,···यावत् मिथ्यादर्शन शल्यविवेक हैं। सभी अस्तिभाव अस्ति में हैं, सभी नास्ति भाव नास्ति में हैं। सुचीर्ण कर्म का सुचीर्ण फल होता है, दुश्चीर्ण कर्म का दुश्चीर्ण फल होता है। जीव पुण्य-पाप का स्पर्श करते है। जीव जन्म-मरण करते हैं। पुण्य और पाप सफल हैं।····धर्म दो प्रकार का है—अगार धर्म और अनगार धर्म। अनगार धर्म का तात्पर्य है—सर्वतः सर्वात्मना मुण्ड होकर गृहावस्था से अगृहावस्था में चले जाना अर्थात् प्राणातिपात आदि से सर्वथा विरमण। अनगार धर्म बारह प्रकार का है—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत।"[२]

श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का श्रवण कर परिषद् उठी। भंभसार पुत्र कूणिक भी उठा। वन्दन-नमस्कार कर बोला—"भन्ते! आपका निर्ग्रन्थ-प्रवचन सु-आख्यात है, सुप्रज्ञप्त है, सुभाषित है, सुविनीत है, सुभावित है, अनुत्तर है। आपने धर्म को कहते हुए उपशम को कहा, उपशम को कहते हुए विवेक को कहा, विवेक को कहते हुए विरमण को कहा, विरमण को कहते हुए पापकर्मों के अकरण को कहा। अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसा धर्म कह सके। इससे अधिक की तो बात ही क्या?"[३]

यह कह कर राजा जिस दिशा से आया था, उस दिशा से वापिस गया।[४]

---

१. वन्दनार्थ जाने की यही वर्णन-शैली आगे चलकर बौद्धों ने भी अपनाई, ऐसा लगता है। महायानी परम्परा के महावस्तु ग्रन्थ में बुद्ध के वन्दनार्थ जाते राजा बिम्बिसार का ठीक ऐसा ही वर्णन किया है। (Mahavastu, Tr. by J. J. Jones, Vol. III, pp. 442-3.)

२. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—उपासकदसांग सूत्र, अ० १।

३. णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणेवा जे एरिसं धम्म-माइक्खित्तए। किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं? —औपपातिक सूत्र, सू० २५

४. औपपातिक सूत्र, सू० ३४-३७ के आधार से।

जैन या बौद्ध ?

सामञ्ञफल सुत्त और इस औपपातिक-प्रकरण को तुलना की दृष्टि से देखा जाये तो औपपातिक-प्रकरण बहुत गहरा पड़ जाता है। सामञ्ञफल सुत्त में अजातशत्रु के बुद्धानुयायी होने में केवल यही पंक्ति प्रमाणभूत है कि "आज से भगवान् मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक समझें।" औपपातिक-प्रकरण में प्रवृत्ति वादुक पुरुष की नियुक्ति, सिंहासन से अभ्युत्थान, णमोत्थुणं से अभिवन्दन, भक्ति सूचक साक्षात्कार आदि उसके महावीरानुयायी होने के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इन शब्दों से कि "जैसा धर्म आपने कहा, वैसा कोई भी श्रमण या ब्राह्मण कहने वाला नहीं है", उसकी निर्ग्रन्थ धर्म के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त होती है। लगता है, बुद्ध के प्रति अजातशत्रु का समर्पण मात्र औपचारिक था। मूलतः वह बुद्ध का अनुयायी बना हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

बुद्ध से जहाँ उसने एक ही बार साक्षात किया,[1] वहाँ महावीर से अनेक बार साक्षात् करता ही रहा है।[2] यहाँ तक कि महावीर-निर्वाण के पश्चात् महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा की धर्म-परिषद् में भी वह उपस्थित होता है।[3]

डॉ० स्मिथ का कहना है—"बौद्ध और जैन दोनों ही अजातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है, जैनों का दावा अधिक आधार-युक्त है।[4]

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार भी महावीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।[5] उन्होंने यह भी लिखा है—"जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदायिभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं; क्योंकि दोनों जैन धर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध-ग्रन्थों में उनके चरित्र पर कालिक पोती गई है।"[6]

अजातशत्रु के बुद्धानुयायी न होने में और भी अनेक निमित्त हैं—देवदत्त के साथ घनिष्ठता, जब कि देवदत्त बुद्ध का विद्रोही शिष्य था; वज्जियों से शत्रुता, जब कि वज्जी बुद्ध के अत्यन्त कृपा-पात्र थे, प्रसेनजित् से युद्ध, जब कि प्रसेनजित् बुद्ध का परम भक्त एवं अनुयायी था।

---

१. Buddhist India, p. 88.

२. स्थानांग वृत्ति, स्था० ४, उ० ३।

३. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, सू० १-५; परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लो० १५-५४।

४. Both Buddhists and Jains claimed him as one of themselves. The Jain claim appears to be well-founded.

—*Oxford History of India*, by V.A. smith, Second Edition, Oxford, 1923, p. 51.

५. हिन्दू सभ्यता, पृ० १९०-१।

६. वही, पृ० २६४।

बौद्ध-परम्परा उसे पितृ-हतक के रूप में देखती है,[1] जब कि जैन परम्परा अपने कृत्य के प्रति अनुताप कर लेने पर उसे अपने पिता का विनीत कह देती है।[2] ये उल्लेख भी दोनों परम्पराओं के क्रमशः दूरत्व और सामीप्य के सूचक हैं।

अजातशत्रु के प्रति बुद्ध के मन में अनादर का भाव था, यह इस बात से भी प्रतीत होता है कि श्रामण्य-फल की चर्चा के पश्चात् अजातशत्रु के चले जाने पर बुद्ध भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहते हैं—"इस राजा का संस्कार अच्छा नहीं रहा। यह राजा अभागा है। यदि यह राजा अपने धर्म-राज पिता की हत्या न करता, तो आज इसे इसी आसन पर बैठे-बैठे विरज, निर्मल, धर्म-चक्षु उत्पन्न हो जाता।"[3] देवदत्त के प्रसंग में भी बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ! मगधराज अजातशत्रु, जो भी पाप हैं, उनके मित्र हैं, उनसे प्रेम करते हैं और उनसे संसर्ग रखते हैं।"[4]

एक बार बुद्ध राज-प्रासाद में बिम्बिसार को धर्मोपदेश कर रहे थे। शिशु अजातशत्रु बिम्बिसार की गोद में था। बिम्बिसार का ध्यान बुद्ध के उपदेश में न लग कर, पुनः-पुनः अजातशत्रु के दुलार में लग रहा था। बुद्ध ने तब राजा का ध्यान अपनी ओर खींचा। एक कथा सुनाई, जिसका हार्द था—तुम इसके मोह में इतने बन्धे हो, यही तुम्हारा घातक होगा।[5]

वज्जियों की विजय के लिए अजातशत्रु ने अपने मंत्री वस्सकार को बुद्ध के पास भेजा। विजय का रहस्य पाने के लिए सचमुच वह एक षड्यंत्र ही था। अजातशत्रु बुद्ध का अनुयायी होता, तो इस प्रकार का छद्म कैसे खेलता?

कहा जाता है, मौद्गल्यायन के वधक ५०० निगण्ठों का वध अजातशत्रु ने करवाया।[6] इससे उसकी बौद्ध धर्म के प्रति दृढ़ता व्यक्त होती है; पर यह उल्लेख अट्ठकथा का है; अतः एक किंवदन्ती मात्र से अधिक इसका कोई महत्त्व नहीं होता।

अट्ठकथाओं के और भी कुछ उल्लेख हैं। जैसे—'बुद्ध की मृत्यु का सम्वाद अजातशत्रु को कौन सुनाये, कैसे सुनाये?'—अमात्यवर्ग में यह प्रश्न उठा। उन्होंने सोचा—राजा के हृदय पर आघात न लगे, इस प्रकार से यह सम्वाद सुनाया जाय। मंत्रियों ने दुःस्वप्न-फल के निवारण का बहाना कर 'चतु-मधुर' स्नान की व्यवस्था की। उस आनन्दप्रद वातावरण

---

१. दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० ३२।

२. औपपातिक सूत्र (हिन्दी अनुवाद), पृ० २६; सेनप्रश्न, तृतीय उल्लास, प्रश्न २३७।

३. दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० ३२।

४. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, संघभेदक खन्धक, ७।

५. जातकअट्ठकथा, थुस जातक, सं० ३३८।

६. धम्मपद अट्ठकथा, १०-७।

में उन्होंने बुद्ध के निर्वाण का सम्वाद अजातशत्रु को सुनाया। फिर भी सम्वाद सुनते ही अजातशत्रु मूर्च्छित हो गया। दो बार पुनः 'चतु-मधुर' स्नान कराया गया। तब उसकी मूर्च्छा टूटी और उसने गहरा दुःख व्यक्त किया।[1] एक परम्परा यह भी कहती है—मंत्री वस्सकार ने जन्म से निर्वाण तक बुद्ध की चित्रावली दिखा कर अजातशत्रु को बुद्ध की मृत्यु से ज्ञापित किया।[2] इस घटना से बुद्ध के प्रति रही अजातशत्रु की भक्ति का निदर्शन मिलता है। बहुत उत्तरकालिक होने से यह कोई प्रमाणभूत आधार नहीं बनती।

देवदत्त के शिष्य मिण्डिका-पुत्र उपक ने बुद्ध से चर्चा की। अजातशत्रु के पास आया और बुद्ध की गर्हा करने लगा। पर अजातशत्रु क्रोधित हुआ और उसे चले जाने के लिए कहा।[3] अट्ठकथाकार ने इतना और जोड़ दिया है कि अजातशत्रु ने अपने कर्मकरों से उसे गलहत्था देकर निकलवाया।[4] इस प्रसंग से भी अजातशत्रु का अनुयायित्व सिद्ध नहीं होता। अशिष्टता से चर्चा करने वालों को तथा मुखर गर्हा करने वालों को हर बुद्धिमान् व्यक्ति टोकता ही है। यदि उपक अजातशत्रु को बुद्ध का दृढ़ अनुयायी मानता, तो अपनी बीती सुनाने वहाँ जाता ही क्यों? अपने गुरु देवदत्त का हितैषी समझ कर ही उसने ऐसा किया होगा।

उत्तरवर्ती साहित्य में कुछ प्रसंग ऐसे भी मिलते है, जो बौद्ध धर्म के प्रति अजातशत्रु का विद्वेष व्यक्त करते हैं। **अवदानशतक** के अनुसार राजा बिम्बिसार ने बुद्ध की वर्तमानता में ही बुद्ध के नख और केशों पर एक स्तूप अपने राजमहल में बनवाया था। राजमहल की स्त्रियाँ धूप, दीप और फूलों से उसकी पूजा करती थीं। अजातशत्रु ने सिंहासनारूढ़ होते ही पूजा बन्द करने का आदेश दिया। श्रीमती नामक एक स्त्री ने फिर भी पूजा की, तो उसे मृत्यु-दण्ड दिया।[5] **थेरगाथा-अट्ठकथा** के अनुसार अजातशत्रु ने अपने अनुज सीलवत् भिक्षु को मरवाने का भी प्रयत्न किया।[6] उक्त उदाहरण अजातशत्रु को बौद्ध धर्म का अनुयायी सिद्ध न कर प्रत्युत विरोधी सिद्ध करते हैं; पर इनका भी कोई आधारभूत महत्त्व नही है।

बौद्ध साहित्य के मर्मज्ञ राईस डेविड्स भी स्पष्टतः लिखते हैं—"बातचीत के अन्त में अजातशत्रु ने बुद्ध को स्पष्टतया अपना मार्ग-दर्शक स्वीकार किया और पितृ-हत्या का पश्चाताप व्यक्त किया। किन्तु यह असंदिग्धतया व्यक्त किया गया है कि उसका धर्म-

---

१. धम्मपद अट्ठकथा, खण्ड २, ६०५-६।

२. *Encyclopaedia of Buddhism*, p. 320.

३. अंगुत्तरनिकाय, ४-८-१८८।

४. *Encyclopaedia of Buddhism*, p. 319.

५. अवदानशतक, ५४।

६. थेरगाथा-अट्ठकथा, गाथा ६०९-१९।

परिवर्तन नहीं किया गया। इस विषय में एक भी प्रमाण नहीं है कि उस हृदयस्पर्शी प्रसंग के पश्चात् भी वह बुद्ध की मान्यताओं का अनुसरण करता रहा हो। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, उसके बाद उसने बुद्ध के अथवा बौद्ध संघ के अन्य किसी भिक्षु के न तो कभी दर्शन किये और न उनके साथ धर्म-चर्चा ही की और न मेरे ध्यान में यह भी आता है कि उसने बुद्ध के जीवन-काल में भिक्षु संघ को कभी आर्थिक सहयोग भी किया हो।

"इतना तो अवश्य मिलता है कि बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् उसने बुद्ध की अस्थियों की मांग की, पर वह भी यह कह कर कि 'मैं भी बुद्ध की तरह एक क्षत्रिय ही हूँ' और उन अस्थियों पर फिर उसने एक स्तूप बनवाया। दूसरी बात—उत्तरवर्ती ग्रन्थ यह बताते हैं कि बुद्ध निर्वाण के तत्काल बाद ही जब राजगृह में प्रथम संगीति हुई, तब अजातशत्रु ने सप्तपर्णी गुफा के द्वार पर एक सभा भवन बनवाया था, जहाँ बौद्ध पिटकों का संकलन हुआ। पर इस बात का बौद्ध धर्म के प्राचीनतम और मौलिक शास्त्रों में लेशमात्र भी उल्लेख नही हैं। इस प्रकार बहुत सम्भव है कि उसने बौद्ध धर्म को बिना स्वीकार किये ही उसके प्रति सहानुभूति दिखाई हो। यह सब उसने केवल भारतीय राजाओं की उस प्राचीन परम्परा के अनुसार ही किया हो कि सब धर्मों का संरक्षण राजा का कर्तव्य होता है।"[1]

दोहद और जन्म

कूणिक के जन्म और पितृ-द्रोह का वर्णन दोनों ही परम्पराओं में बहुत कुछ समान रूप से मिलता है। जैन आगम **निरयावलिका** और बौद्ध शास्त्र **दीघनिकाय-अट्ठकथा** में एतद् विषयक वर्णन मिलता है। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार इसके पिता का नाम श्रेणिक (बिम्बिसार) है। माता का नाम जैन परम्परा के अनुसार चेलणा तथा बौद्ध परम्परा के अनुसार कोशल-देवी था। माता ने गर्भाधान के अवसर पर सिंह का स्वप्न देखा। बौद्ध परम्परा में ऐसा उल्लेख नहीं है। गर्भावस्था में माता को दोहद उत्पन्न हुआ। जैन परम्परा के अनुसार दोहद था—राजा श्रेणिक के कलेजे का मांस तल कर, भून कर मैं खाऊँ और मद्य पीऊँ। बौद्ध परम्परा के अनुसार दोहद था—राजा श्रेणिक की बाहु का रक्त पीऊँ। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार राजा ने दोहद की पूर्ति की। जैन परम्परा के अनुसार अभयकुमार ने ऐसा छद्म रचा कि राजा के कलेजे का मांस भी न काटना पड़े और रानी को यह अनुभव होता रहे कि राजा के कलेजे का माँस काटा जा रहा है और मुझे दिया जा रहा है। बौद्ध परम्परा के अनुसार वैद्य के द्वारा बाहु का रक्त निकलवा कर दोहद की पूर्ति की। दोहद-पूर्ति के पश्चात् रानी इस घटना-प्रसंग से दुःखित होती है और गर्भस्थ बालक को ही नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती है। बौद्ध परम्परा के अनुसार वह ऐसा इसलिए करती है कि ज्योतिषी उसे कह देते हैं—यह पितृहतक होगा। जैन परम्परा के

१. Buddhist India, pp. 15-16.

अनुसार वह स्वयं ही सोच लेती है कि जिसने गर्भस्थ ही पिता के कलेजे का मांस माँगा है, न जाने जन्म लेकर वह क्या करेगा ?

श्रेणिक का पुत्र-प्रेम

जन्म के अनन्तर जैन-परम्परा के अनुसार चेल्लणा उसे अवकर पर डलवा देती है। वहाँ कोई एक कुर्कुट उसकी कनिष्ठ अंगुली काट लेता है। अंगुली से रक्तस्राव होने लगता है। राजा श्रेणिक इस घटना का पता चलते ही पुत्र-मोह से व्याकुल होकर वहाँ आता है, उसे उठा कर रानी के पास ले जाता है और रक्त व मवाद चूस-चूस कर बालक की अंगुली को ठीक करता है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार जन्मते ही राजा के कर्मकर बालक को वहाँ से हटा लेते हैं; इस भय से कि रानी कहीं उसे मरवा न डाले। कालान्तर से वे उसे रानी को सौंपते हैं ; तब पुत्र-प्रेम से रानी भी उसमें अनुरक्त हो जाती है। एक बार अजातशत्रु की अंगुली में एक फोड़ा हो गया। व्याकुलता से रोते बालक को कर्मकर राजसभा में राजा के पास ले गये। राजा ने उस अंगुली को मुँह में डाला। फोड़ा फूट गया। पुत्र-प्रेम से राजा ने वह रक्त और मवाद उगला नहीं, प्रत्युत निगल गया।

पिता को कारावास

पितृ-द्रोह के सम्बन्ध से जैन-परम्परा कहती है, कूणिक के मन में महत्त्वाकाँक्षा उदित हुई और अन्य भाइयों को अपने साथ मिला कर स्वयं राज-सिंहासन पर बैठा तथा निगड-बन्धन कर श्रेणिक को कारावास में डलवा दिया।

बौद्ध-परम्परा के अनुसार अजातशत्रु देवदत्त की प्रेरणा से महत्त्वाकाँक्षी बना और उसने अपने पिता को धूम-गृह (लोह-कर्म करने का घर) में डलवा दिया।

पिता का वध

जैन-परम्परा के अनुसार कूणिक किसी एक पर्व-दिन पर अपनी माता चेल्लणा के पास पाद-वन्दन करने के लिए गया। माता ने उसका पाद-वन्दन स्वीकार नहीं किया। कारण पूछने पर माता ने श्रेणिक के पुत्र-प्रेम की घटना सुनाई और उसे उस दुष्कृत्य के लिये धिक्कारा। कूणिक के मन में भी पितृ-प्रेम जागा। अपनी भूल पर अनुताप हुआ। तत्काल उसने निगड काटने के लिए परशु हाथ में उठाया और पितृ-मोचन के लिए चल पड़ा। श्रेणिक ने सोचा—"यह मुझे मारने के लिए ही आ रहा है। अच्छा हो, अपने आप मैं प्राणान्त कर लूं।" उसने तत्काल तालपुट विष खा अपना प्राण-वियोजन किया।

बौद्ध-परम्परा में बताया गया है कि धूम-गृह में कोशल देवी के सिवाय अन्य किसी को जाने का आदेश नहीं था। अजातशत्रु राजा को भूखा रख कर मारना चाहता था ; क्योंकि देवदत्त ने कहा था—"पिता शस्त्र-वध्य नहीं होता; अतः उसे भूखा रख कर ही

मारे।" कोशल देवी मिलने के बहाने उत्संग में भोजन छिपा कर ले जाती और राजा को देती। अजातशत्रु को पता चला ही उसने कर्मकरों को कहा—मेरी माता को उत्संग बान्ध कर मत जाने दो। तब वह जूड़े में छिपा कर ऐसा करने लगी। उसका भी निषेध हुआ, तब वह स्वर्ण-पादुका में छिपा कर ऐसा करने लगी। उसका भी निषेध होने पर रानी गन्धोदक से स्नान कर अपने शरीर पर चार मधु का अवलेप कर राजा के पास जाती। राजा उसके शरीर को चाट-चाट कर कुछ दिन जीवित रहा। अन्त में अजातशत्रु ने माता को धूम-गृह में जाने से रोक दिया। अब राजा श्रोतापत्ति के सुख पर जीने लगा।

अजातशत्रु ने जब यह देखा कि राजा मर ही नहीं रहा है, तब उसने नापित को बुलवाया और आदेश दिया—"मेरे पिता राजा के पैरों को शस्त्र से चीर कर उन पर नून और तेल का लेप करो और खैर के अंगारों से उन्हें पकाओ।" नापित ने वैसा ही किया और राजा मर गया।

अनुताप

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक का अनुतापित होना दोनों ही परम्पराएँ बताती हैं। जैन-परम्परा के अनुसार तो माता से पुत्र-प्रेम की बात सुन कर पिता की मृत्यु से पूर्व ही कूणिक को अनुताप हो चुका था। राजा की आत्म-हत्या के पश्चात् तो वह परशु से छिन्न चम्पक-वृक्ष की तरह भूमितल पर गिर पड़ा। मुहूर्त्तान्तर से सचेत हुआ। फूट-फूट कर रोया और कहने लगा—"अहो! मैं कितना अधन्य हूँ, कितना अपुण्य हूँ, कितना अकृतपुण्य हूँ, कितना दुष्टकृत हूँ। मैंने अपने देव तुल्य पिता को निगड-बन्धन में डाला। मेरे ही निमित्त से श्रेणिक राजा कालगत हुआ।" इस शोक से अभिभूत होकर वह कुछ ही समय पश्चात् राजगृह को छोड़ कर चम्पानगरी में निवास करने लगा। उसे ही मगध की राजधानी बना दिया।

बौद्ध-परम्परा के अनुसार जिस दिन बिम्बिसार की मृत्यु हुई, उसी दिन अजातशत्रु के पुत्र उत्पन्न हुआ। संवादवाहकों ने पुत्र-जन्म का लिखित संवाद अजातशत्रु के हाथ में दिया। पुत्र-प्रेम से राजा हर्ष-विभोर हो उठा। अस्थि और मज्जा तक पुत्र-प्रेम परिणत हो गया। उसके मन में आया, जब मैंने जन्म लिया, तब राजा श्रेणिक को भी इतना ही तो प्रेम हुआ होगा। तत्क्षण उसने कर्मकरों को कहा—"मेरे पिता को बन्धन-मुक्त करो।" सम्वादवाहकों ने बिम्बिसार की मृत्यु का पत्र भी राजा के हाथों में दे दिया। पिता की मृत्यु का सम्वाद पढ़ते ही वह चीख उठा और दौड़ कर माता के पास आया। माता से पूछा—"मेरे प्रति मेरे पिता का स्नेह था?" माता ने वह अंगुली चूसने की बात अजातशत्रु को बताई। तब वह और भी शोक-विह्वल हो उठा और अपने किये पर अनुताप करने लगा।

जीवन-प्रसंग : एक समीक्षा

दोहद, अंगुली-व्रण, कारावास आदि घटना-प्रसंगों के बाह्य निमित्त कुछ भिन्न हैं, पर घटना-प्रसंग हार्द की दृष्टि से दोनों परम्पराओं में समान हैं। एक ही कथा-वस्तु का दो परम्पराओं में इतना-सा भेद अस्वाभाविक नहीं है। प्रत्येक बड़ी घटना अपने वर्तमान में भी नाना रूपों में प्रचलित हो जाया करती है। **निरयावलिका** आगम का रचना-काल विक्रम संवत् के पूर्व का माना जाता है[1] तथा अट्ठकथाओं का रचना-काल विक्रम संवत् की पाँचवीं शताब्दी का है।[2] यह भी एक भिन्नता का कारण है। जिस-जिस परम्परा में अनुश्रुतियों से कथा-वस्तु का जो भी रूपक आ रहा था, वह शताब्दिओं बाद व शताब्दिओं के अन्तर से लिखा गया।

वध-सम्बन्धी समुल्लेखों से यह तो अवश्य व्यक्त होता है कि बौद्ध-परम्परा अजातशत्रु की क्रूरता सुस्पष्ट कर देना चाहती है; जब कि जैन-परम्परा उसे मध्यम स्थिति से रखना चाहती है। बौद्ध-परम्परा में पैरों को चिरवाने, उनमें नमक भरवाने और अग्नि से तपाने का उल्लेख बहुत ही अमानवीय-सा लगता है। जैन-परम्परा में श्रेणिक को केवल कारावास मिलता है। भूखों मारने आदि की यातनाएँ वहाँ नहीं हैं। मृत्यु भी उसकी 'आत्म-हत्या' के रूप में होती है। जब कि बौद्ध-परम्परा के अनुसार अजातशत्रु स्वयं पितृवधक होता है। इस सबका हेतु भी यही हो सकता है कि कूणिक जैन-परम्परा का अनुयायी-विशेष था।

मातृ-परिचय

दोनों परम्पराओं में कूणिक की माता के नाम भिन्न-भिन्न हैं। **जातक** के अनुसार कोशल देवी कोशल देश के राजा महाकोशल की पुत्री अर्थात् कोशल-नरेश प्रसेनजित् की बहिन थी।[3] विवाह-प्रसंग पर काशी देश का एक ग्राम उसे दहेज में दिया गया था। बिम्बिसार के वध से प्रसेनजित् ने वह ग्राम वापस ले लिया। लड़ाई हुई, एक बार हारने के पश्चात् प्रसेनजित् की विजय हुई। भानजा समझ कर उसने अजातशत्रु को जीवित छोड़ा, सन्धि की तथा अपनी पुत्री वजिरा का उसके साथ विवाह किया। वही ग्राम पुनः उसे कन्या-दान में दे दिया।[4] **संयुत्तनिकाय** के इस वर्णन में अजातशत्रु को प्रसेनजित् का भानजा

---

१. पं० दलसुख मालवणिया—आगम-युग का जैन-दर्शन, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६, पृ० २९।

२. द्रष्टव्य—भिक्षु धर्म रक्षित : आचार्य बुद्धघोष, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६ पृ० ७।

३. *Jataka*, Ed. By Fausboll, Vol. III, p. 121.

४. जातक अट्ठकथा, सं० २४९, २८३।

भी कहा है और 'वैदेही पुत्त' भी कहा है।[१] इन दोनों नामों में कोई संगति नहीं है। बुद्ध घोष ने यहाँ 'वैदेही' का अर्थ 'विदेह देश की राज-कन्या' न कर 'पण्डिता' किया है।[२] यथार्थता यह है कि जैन-परम्परा में कथित चेल्लणा वैशाली गणतन्त्र के प्रमुख चेटक की कन्या होने से 'वैदेही' थी। प्रसेनजित् की बहिन कोशल देवी अजातशत्रु की कोई एक विमाता हो सकती है। तिब्बती-परम्परा[३] तथा **अमितायुर्ध्यान सूत्र**[४] के अनुसार अजातशत्रु की माता का नाम 'वैदेही वासवी' था और उसका वैदेही होने का कारण भी यही माना गया है कि वह विदेह देश की राज कन्या थी।[५] 'विदेह' शब्द का प्रयोग तथारूप से अन्यत्र भी बहुलता से मिलता है। भगवान् महावीर को **'विदेह विदेहदिन्ने विदेहजच्चे'** कहा गया है।[६] महावीर स्वयं विदेह देश में उत्पन्न हुए थे, इसलिए **'वैदेह'**; उनकी माता भी विदेह देश में उत्पन्न थी, इसलिए **'विदेहदत्तात्मज'** और विदेहों में श्रेष्ठ थे, इसलिए **'विदेहजात्यः'** कहे गये हैं।[७]

महाकवि भास ने अपने नाटक **स्वप्नवासवदत्ता** में राजा उदायन को 'विदेहपुत्र' कहा है;[८] क्योंकि उसकी माता विदेह देश की राज-कन्या थी। जैन-परम्परा के अनुसार चेल्लणा और उदायन की माता मृगावती सगी बहिनें थीं। वे वैशाली के राजा चेटक की कन्याएँ थीं।[९] भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहिन थी।[१०] अतः **विदेहदिन्न** या **विदेहपुत्त** आदि विशेषण बहुत ही सहज और बुद्धिगम्य हैं। जैन-आगमों में भी तो कूणिक को **'विदेहपुत्त'** कहा गया है।[११] राईस डेविड्स के मतानुसार भी राजा बिम्बिसार के दो रानियाँ थीं—एक प्रसेनजित् की बहिन कोशल देवी तथा दूसरी विदेह-कन्या और अजातशत्रु विदेह-कन्या का पुत्र था।[१२]

---

१. संयुत्तनिकाय, ३-२-४।

२. वेदेहिपुत्तो ति वेदेहीति पण्डिताधिवचनं एतं, पण्डितित्थिया पुत्तो ति अत्थो।
—संयुत्तनिकाय, अट्ठकथा, १, १२०।

३. Rockhill : *Life of Buddha*, p. 63.

४. *S. B. E.*, Vol. XLIX, p. 166.

५. Rockhill : *Life of Buddha*, p. 63.

६. कल्पसूत्र, ११०।

७. *S.B.E.*, Vol. XXII : p. 256; वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, कल्पसूत्र (बंगला अनुवाद), पृ० २७।

८. हिन्दू सभ्यता, पृ० १९८।

९. आवश्यक चूर्णि, भाग २, पत्र १६४।

१०. वही, भाग १, पत्र २५४।

११. भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक ९, पृ० ५७६।

१२. *Buddhist India*, p. 3.

राजा बिम्बिसार जब धूम-गृह में था, परिचारिका रानी 'कोशला थी, यह अट्ठकथा बताती है। इन्सायक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म में परिचारिका रानी का नाम खेमा बताया गया है और उसे कोशल देश की राज-कन्या भी कहा है।[1] पर यह स्पष्टतः भूल ही प्रतीत होती है। खेमा वस्तुतः मद्र देश की थी।[2] लगता है, कोशल देवी के बदले खेमा का नाम दे दिया गया है। अमितायुर्ध्यान सूत्र तथा तिब्बती-परम्परा के अनुसार परिचारिका रानी का नाम 'वैदेही वासवी' था।[3] डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी कहते हैं—"वैदेही वासवी की पहिचान चेल्लणा से की जा सकती है।"[4] बौद्ध-परम्परा की इन विविधताओं में भी इससे परे की बात नहीं निकलती कि अजातशत्रु विदेह-राज-कन्या का पुत्र था और इसीलिए वह 'वेदेहीपुत्त' कहलाता था। न जाने आचार्य बुद्धघोष को क्यों यह भ्रम रहा कि 'वेदेही' नाम 'पण्डिता' का है और अजातशत्रु कोशल देश की राज-कन्या कोशला का पुत्र था।

नाम-भेद

जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में नाम-भेद है। जैन-परम्परा जहाँ उसे सर्वत्र 'कूणिक' कहती है, वहाँ बौद्ध-परम्परा उसे सर्वत्र 'अजातशत्रु' कहती है। उपनिषद्[5] और पुराणों[6] में भी अजातशत्रु नाम व्यवहृत हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि कूणिक मूल नाम है और अजातशत्रु उसका एक विशेषण (epithet)। कभी-कभी उपाधि या विशेषण मूल नाम से भी अधिक प्रचलित हो जाते हैं। जैसे—वर्धमान मूल नाम है, महावीर विशेषता-परक ; पर व्यवहार में 'महावीर' ही सब कुछ बन गया है। भारतवर्ष के सामान्य इतिहास में केवल अजातशत्रु नाम ही प्रचलित है। मथुरा संग्रहालय के एक शिलालेख में 'अजातशत्रु कूणिक' लिखा गया है।[7] वस्तुतः इसका पूरा नाम यही होना चाहिए। नवीन साहित्य में 'अजातशत्रु कूणिक' शब्द का ही प्रयोग किया जाये, यह अधिक यथार्थता बोधक होगा।

'अजातशत्रु' शब्द के दो अर्थ किये जाते हैं—न जातः शत्रुर्यस्य अर्थात् 'जिसका शत्रु

---

१. *Encyclopaedia of Buddhism*, p. 316.

२. थेरीगाथा, अट्ठकथा, १३९-४३।

३. Rockhill : *Life of Buddha*, p. 63.

४. हिन्दू सभ्यता, पृ० १८३।

५. *Dialogues of Buddha*, Vol. II, p. 78.

६. वायुपुराण, अ० ९९, श्लो० ३१९ ; मत्स्यपुराण, अ० २७१, श्लो० ९।

७. *Journal of Bihar and Orissa Research Society*, Vol. V, Part, IV, pp. 550-51.

जन्मा ही नहीं'[1] और अजातोऽपि शत्रुः अर्थात् 'जन्म से पूर्व ही (पिता का) शत्रु'।[2] दूसरा अर्थ आचार्य बुद्धघोष का है और वह अपने आप में संगत भी है, पर वह युक्ति-पुरस्सर है और पहला अर्थ सहज है। कूणिक बहुत ही शौर्यशील और प्रतापी नरेश था। अनेकों दुर्जय शत्रुओं को जीता था। अतः अजातशत्रु विशेषण गर्हा का द्योतक न होकर उसके शौर्य का द्योतक अधिक प्रतीत होता है।

'कूणिक' नाम 'कूणि' शब्द से बना है। 'कूणि' का अर्थ है—अंगुली का घाव।[3] 'कूणिक' का अर्थ हुआ—अंगुली के घाव वाला। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

रूढव्रणापि सा तस्य कूणिता भवदंगुलिः।
ततः सपांशुरमणैः सोऽभ्यधीयत कूणिकः॥[4]

आवश्यक चूर्णि में कूणिक को 'अशोक चन्द्र' भी कहा गया है।[5] पर यह विरल प्रयोग है।

महाशिलाकंटक-युद्ध और वज्जी-विजय

अजातशत्रु के जीवन का एक ऐतिहासिक घटना-प्रसंग जैन शब्दों में 'महाशिला-कंटक-युद्ध' तथा बौद्ध शब्दों में 'वज्जी-विजय' रहा है। दोनों परम्पराओं में युद्ध के कारण, युद्ध की प्रक्रिया और युद्ध की निष्पत्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से मिलती है; पर इसका सत्य एक है कि वैशाली गणतन्त्र पर वह मगध की ऐतिहासिक विजय थी। इस युद्ध-काल में महावीर और बुद्ध—दोनों वर्तमान थे। दोनों ने ही युद्ध-विषयक प्रश्नों के उत्तर दिये हैं। दोनों ही परम्पराओं का युद्ध-विषयक वर्णन बहुत ही लोमहर्षक और तात्कालिक राजनैतिक स्थितियों का परिचायक है। जैन-विवरण **भगवती सूत्र, निरयावलिका सूत्र** तथा **आवश्यक चूर्णि** में मुख्यतः उपलब्ध होता है। बौद्ध-विवरण **दीघनिकाय** के **महापरिनिब्बान-सुत्त** तथा उसकी अट्ठकथा में मिलता है।

महाशिलाकंटक संग्राम

चम्पानगरी में आकर कूणिक ने कालकुमार आदि अपने दस भाइयों को बुलाया। राज्य, सेना, धन आदि को ग्यारह भागों में बाँटा और आनन्दपूर्वक वहाँ राज्य करने लगा।

---

१. *Dialogues of Buddha*, Vol. II, p. 78.
२. दीघनिकाय, अट्ठकथा, १, १३३।
३. *Apte's Sanskrit-English Dictionary*, Vol. I, p. 580.
४. त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लो० ३०६।
५. असोगवण चंद उत्ति असोगचंदुत्ति नामं च से कतं, तत्थ य कुक्कुडपिच्छेणं कणंगुली से विद्धा सुकुमालिया, सा ण पाउणति सा कुणिगा जाता, ताहे से दासा रुवेहिं कतं नामं कूणिओत्ति।
—आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पत्र १६७।

कूणिक राजा के दो सगे भाई (चेल्लणा के पुत्र) हल्ल और विहल्ल थे।[1] राजा श्रेणिक ने अपनी जीवितावस्था में ही अपनी दो विशेष वस्तुएँ उन्हें दे दी थीं—सेचनक हस्ती और अठारहसरा देवप्रदत्त हार।[2]

प्रतिदिन विहल्लकुमार सेचनक हस्ती पर सवार हो, अपने अन्तःपुर के साथ जल-क्रीड़ा के लिए गंगा-तट पर जाता। उसके आनन्द और भोग को देख कर नगरी में चर्चा छिड़ी—"राजश्री का फल तो विहल्लकुमार भोग रहा है, कूणिक नहीं।" यह चर्चा कूणिक की रानी पद्मावती तक पहुँची। उसे लगा—"यदि सेचनक हाथी मेरे पास नहीं, देवप्रदत्त हार मेरे पास नहीं तो इस राज्य-वैभव से मुझे क्या?" कूणिक से उसने यह बात कही। अनेक बार के आग्रह से कूणिक हार और हाथी माँगने के लिए विवश हुआ। हल्ल और विहल्लकुमार को बुलाया और कहा—"हार और हाथी मुझे सौंप दो।" उन्होंने उत्तर दिया—"हमें पिता ने पृथक् रूप से दिये हैं। हम इन्हें कैसे सौंप दें?" कूणिक इस उत्तर से रुष्ट हुआ। हल्ल और विहल्लकुमार अवसर देख कर हार, हाथी और अपना अन्तःपुर लेकर वैशाली में अपने नाना चेटक के पास चले गये। कूणिक को यह पता चला। उसने चेटक राजा के पास अपना दूत भेजा और हार, हाथी तथा हल्ल-विहल्ल को पुनः चम्पा लौटा देने के लिए कहलाया। चेटक ने कहा—"हार और हाथी हल्ल-विहल्ल के हैं। वे मेरी शरण आये हैं। मैं उन्हें वापस नहीं लौटाता। यदि श्रेणिक राजा का पुत्र, चेल्लणा का आत्मज, मेरा नप्तृक (दोहिता) कूणिक हल्ल-विहल्ल को आधा राज्य दे तो मैं हार, हाथी उसे दिलवाऊँ।" उसने पुनः दूत भेजा और कहलाया "हल्ल और विहल्ल बिना मेरी अनुज्ञा के हार और हाथी ले गये हैं। ये दोनों वस्तुएँ हमारे राज्य मगध की हैं।" चेटक ने पुनः नकारात्मक उत्तर देकर दूत को विसर्जित किया। दूत ने आकर कूणिक को सारा संवाद कहा। कूणिक उत्तेजित हुआ। आवेश में आया। उसके ओठ फड़कने लगे। आँखें लाल हो गईं। ललाट में त्रिवली बन गई। दूत से कहा—"तीसरी बार और जाओ। मैं तुम्हें लिखित पत्र

---

१. हल्ल और विहल्ल—इन नामों के विषय में सर्वत्र विविधता मिलती है। निरयावलिका मूल में इस सारे घटना-प्रसंग को केवल विहल्ल के साथ ही जोड़ा है। निरयावलिका-टीका, भगवती टीका, भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति आदि ग्रन्थों में इसी घटना-प्रसंग के लिए हल्ल और विहल्ल—दो नाम प्रयुक्त हुए हैं।

अनुत्तरोपपातिक सूत्र में विहल्ल और वेहायस को चेल्लणा का पुत्र बताया है तथा हल्ल को धारिणी का। निरयावलिका वृत्ति और भगवती वृत्ति के अनुसार हल्ल और विहल्ल दोनों ही चेल्लणा के पुत्र हैं। वस्तुस्थिति अन्वेषण का विषय है।

२. कहा जाता है—सेचनक हाथी और देवप्रदत्त हार का मूल्य श्रेणिक के पूरे राज्य के बराबर था। (आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १६७)।

देता हूँ। इसमें लिखा है—'हार, हाथी वापस करो या युद्ध के लिए सज्ज हो जाओ।' चेटक की राजसभा में जा कर उसके सिंहासन पर लात मारो। भाले की अणी पर रख कर मेरा यह पत्र उसके हाथों में दो।" दूत ने वैसा ही किया। चेटक भी पत्र पढ़ कर और दूत का व्यवहार देख कर उसी प्रकार उत्तेजित हुआ। आवेश में आया। दूत से कहा—"मैं युद्ध के लिए सज्ज हूँ। कूणिक शीघ्र आये, मैं प्रतीक्षा करता हूँ।" चेटक के आरक्षकों ने दूत को गलहस्था देकर सभा से बाहर किया।

कूणिक ने दूत से यह सब कुछ सुना। कालकुमार आदि अपने दस भाइयों को बुलाया और कहा—"अपने-अपने राज्य में जा कर समस्त सेना से सज्ज होकर यहाँ आओ। चेटक राजा से मैं युद्ध करूँगा।" सब भाई अपने-अपने राज्यों में गये। अपने-अपने तीन सहस्र हाथी, तीन सहस्र घोड़े, तीन सहस्र रथ और तीन करोड़ पदातिकों को साथ लेकर आये। कूणिक ने भी अपने तीन सहस्र हाथी, तीन सहस्र घोड़े, तीन सहस्र रथ और तीन करोड़ पदातिकों को सज्ज किया। इस प्रकार तेंतीस सहस्र हस्ती, तेंतीस सहस्र अश्व, तेंतीस सहस्र रथ और तेंतीस करोड़ पदातिकों की बृहत् सेना को लेकर कूणिक वैशाली पर चढ़ आया।

राजा चेटक ने भी अपने मित्र नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी—इन अट्ठारह काशी-कोशल के राजाओं को एकत्रित किया। उनसे परामर्श माँगा—"श्रेणिक राजा की चेल्लणा रानी का पुत्र, मेरा नप्तृक (दोहिता) कूणिक हार और हाथी के लिए युद्ध करने आया है। हम सब को युद्ध करना है या उसके सामने समर्पित होना है?" सब राजाओं ने कहा—"युद्ध करना है, समर्पित नहीं होना है।" यह निर्णय कर सब राजा अपने-अपने देश में गये और अपने-अपने तीन सहस्र हाथी, तीन सहस्र अश्व, तीन सहस्र रथ और तीन करोड़ पदातिकों को लेकर आये। इतनी ही सेना से चेटक स्वयं तैयार हुआ। ५७ सहस्र हाथी, ५७ सहस्र अश्व, ५७ सहस्र रथ और ५७ सहस्र पदातिकों की सेना लिए चेटक भी संग्राम-भूमि में आ डटा।

राजा चेटक भगवान् महावीर का उपासक था। उपासक के १२ व्रत उसने स्वीकार किये थे। उसका अपना एक विशेष अभिग्रह था—"मैं एक दिन में एक से अधिक बाण नहीं चलाऊँगा।" उसका बाण अमोघ था अर्थात् निष्फल नहीं जाता था। पहले दिन अजातशत्रु की ओर से कालकुमार सेनापति होकर सामने आया। उसने गरुड़ व्यूह की रचना की। राजा चेटक ने शकट व्यूह की रचना की। भयंकर युद्ध हुआ। राजा चेटक ने अपने अमोघ बाण का प्रयोग किया। कालकुमार धराशायी हुआ। इसी प्रकार एक-एक कर अन्य नौ भाई एक-एक दिन सेनापति होकर आये और चेटक राजा के अमोघ बाण से मारे गये। महावीर उस समय चम्पानगरी में वर्तमान थे। कालकुमार आदि राजकुमारों की माताएँ काली आदि दस रानियों ने युद्ध-विषयक प्रश्न महावीर से पूछे। महावीर ने कालकुमार

आदि की मृत्यु का सारा वृत्तान्त उन्हें बताया। उन रानियों ने महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।[1]

इन्द्र की सहायता

कूणिक ने तीन दिनों का तप किया। शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की। वे प्रकट हुए। उनके योग से प्रथम दिन महाशिलाकंटक संग्राम की योजना हुई। कूणिक शक्रेन्द्र द्वारा निर्मित अभेद्य वज्रप्रतिरूप कवच से सुरक्षित होकर युद्ध में आया ताकि चेटक का अमोघ बाण भी उसे मार न सके। घमासान युद्ध हुआ। कूणिक की सेना द्वारा डाला गया कंकड़, तृण व पत्र भी चेटक की सेना पर महाशिला जैसा प्रहार करता था। एक दिन के संग्राम में ८४ लाख मनुष्य मरे। दूसरे दिन रथ-मूसल संग्राम की विकूर्वणा हुई। चमरेन्द्र देव-निर्मित स्वयं-चालित रथ पर चला। अपने चारों ओर से मूसल की मार करता हुआ सारे दिन वह शत्रु की सेना में घूमता रहा। एक दिन में ९६ लाख मनुष्यों का संहार हुआ। चेटक और नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी—ऐसे अट्ठारह काशी-कोशल के गणराजाओं की पराजय हुई तथा कूणिक की विजय हुई।[2]

वैशाली प्राकार-भंग

पराजित होकर राजा चेटक अपनी नगरी में चला गया। प्राकार के द्वार बन्द कर लिये। कूणिक प्राकार को तोड़ने में असफल रहा। बहुत समय तक वैशाली को घेरे वह वहीं पड़ा रहा। एक दिन आकाशवाणी हुई—"श्रमण कूलवालक[3] जब मागधिका वेश्या में अनुरक्त होगा, तब राजा अशोकचन्द्र (कूणिक) वैशाली नगरी का अधिग्रहण करेगा।"[4] कूणिक ने कूलवालक का पता लगाया। मागधिका को बुलाया। मागधिका ने कपट श्राविका बन कूलवालक को अपने आप में अनुरक्त किया। कूलवालक नैमित्तिक का वेष बना जैसे-तैसे वैशाली नगरी में पहुँचा। उसने जाना की मुनि सुव्रत स्वामी के स्तूप के प्रभाव से यह नगरी बच रही है। लोगों ने शत्रु-संकट का उपचार पूछा, तब उसने कहा—"यह स्तूप टूटेगा, तभी शत्रु यहाँ से हटेगा।" लोगों ने स्तूप को तोड़ना प्रारम्भ किया। एक बार तो कूणिक की सेना पीछे हटी; क्योंकि वह ऐसा समझा कर आया था। ज्यों ही सारा स्तूप

---

१. निरयावलिका सूत्र (सटीक), पत्र ६-१।
२. भगवती, शतक ७, उद्दे० ९, सू० ३०१।
३. 'कूलवालक' तपस्वी नदी के कूल के समीप आतापना करता था। उसके तपः प्रभाव से नदी का प्रवाह थोड़ा मुड़ गया। उससे उसका नाम 'कूलवालक' हुआ।
—(उत्तराध्ययन सूत्र, लक्ष्मीवल्लभ कृत वृत्ति, (गुजराती अनुवाद सहित), अहमदाबाद, १९३५, प्रथम खण्ड, पत्र ८)।
४. समणे जइ कूलवालए, मागहिअं गणिअं रमिस्सए।
राया अ असोगचंदए, वेसालिं नगरीं गहिस्सए॥ —वही, पत्र १०।

टूटा, कूणिक ने कूलवालक के कहे अनुसार एकाएक आक्रमण कर वैशाली-प्राकार भंग किया।[1]

हल्ल और विहल्ल हार और हाथी को लेकर शत्रु से बचने के लिए भगे। प्राकार की खाई में प्रच्छन्न आग थी। हाथी सेचनक इसे अपने विभङ्ग-ज्ञान से जान चुका था। वह आगे नहीं बढ़ा। बलात् बढ़ाया गया तो उसने हल्ल और विहल्ल को नीचे उतार दिया और स्वयं अग्नि में प्रवेश कर गया। मर कर अपने शुभ अध्यवसायों के कारण प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुआ। देव-प्रदत्त हार देवताओं ने उठा लिया। हल्ल और विहल्ल को शासन देवी ने भगवान् महावीर के पास पहुँचा दिया। वहाँ वे निग्गंठ-पर्याय में दीक्षित हो गये।[2]

राजा चेटक ने आमरण अनशन व अपने शुभ अध्यवसायों से सद्गति प्राप्त की।[3]

बौद्ध-परम्परा—वज्जियों से शत्रुता

गंगा के एक पत्तन के पास पर्वत में रत्नों की एक खान थी।[4] अजातशत्रु और लिच्छवियों में आधे-आधे रत्न बाँट लेने का समझौता था। अजातशत्रु "आज जाऊँ, कल जाऊँ" करते ही रह जाता। लिच्छवी एकमत हो सब रत्न ले जाते। अजातशत्रु को खाली हाथों वापस लौटना पड़ता। अनेकों बार ऐसा हुआ। अजातशत्रु क्रुद्ध हो सोचने लगा—"गण के साथ युद्ध कठिन है, उनका एक भी प्रहार निष्फल नहीं जाता,[5] पर कुछ भी हो, मैं महर्द्धिक वज्जियों को उच्छिन्न करूँगा, उनका विनाश करूँगा।" अपने महामंत्री वस्सकार ब्राह्मण को बुलाया और कहा—"जहाँ भगवान् बुद्ध हैं, वहाँ जाओ। मेरी यह भावना उनसे कहो। जो उनका प्रत्युत्तर हो, मुझे बताओ।"[6]

उस समय भगवान् बुद्ध राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे। वस्सकार वहाँ आया। अजातशत्रु की ओर से सुख-प्रश्न पूछा और उसके मन की बात कही। तब भगवान् ने वज्जियों के सात अपरिहानीय नियम बतलाये—

(१) सन्निपात-बहुल हैं अर्थात् उनके अधिवेशन में पूर्ण उपस्थिति रहती है।

(२) वज्जी एकमत से परिषद् में बैठते हैं, एकमत से उत्थान करते हैं, एक ही करणीय कर्म करते हैं। वे सन्निपात-भेरी के बजते ही खाते हुए, आभूषण पहनते हुए या वस्त्र पहनते हुए भी ज्यों के त्यों एकत्रित हो जाते हैं।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, लक्ष्मीवल्लभ कृत वृत्ति, पत्र ११।
२. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र १००-१०१।
३. आचार्य भिक्षु, भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड २, पृ० ८८।
४. बुद्धचर्या (पृ० ४८४) के अनुसार "पर्वत के पास बहुमूल्य सुगन्ध वाला माल उतरता था।"
५. दीघनिकाय अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी), खण्ड २, पृ० ५२६; Dr. B. C. Law: Buddha Ghosa, p. 111; हिन्दू सभ्यता, पृ० १८७।
६. दीघनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त, २।३ (१६)।

(३) वज्जी अप्रज्ञप्त (अवैधानिक) को प्रज्ञप्त नहीं करते, प्रज्ञप्त का उच्छेद नहीं करते।

(४) वज्जी महल्लकों (वृद्धों) का सत्कार करते हैं, गुरुकार करते हैं, उन्हें मानते हैं, पूजते हैं।

(५) वज्जी कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों के साथ बलात् विवाह नहीं करते।

(६) वज्जी अपने नगर के बाहर और भीतर के चैत्यों का आदर करते हैं। उनकी मर्यादाओं का लंघन नहीं करते।

(७) वज्जी अर्हतों की धार्मिक सुरक्षा रखते हैं, इसलिए कि भविष्य में उनके यहाँ अर्हत् आते रहें और जो हैं, वे सुख से विहार करते रहें।

जब तक ये सात अपरिहानीय-नियम उनके चलते रहेंगे, तब तक उनकी अभिवृद्धि ही है ; अभिहानि नहीं।[1]

वज्जियों में भेद

वस्सकार पुनः अजातशत्रु के पास आया और बोला—"बुद्ध के कथनानुसार तो वज्जी अजेय हैं, पर उपलापन (रिश्वत) और भेद से उन्हें जीता जा सकता है।"

राजा ने पूछा—"भेद कैसे डालें ?"

वस्सकार ने कहा—"कल ही राजसभा में आप वज्जियों की चर्चा करें। मैं उनके पक्ष में कुछ बोलूँगा। उस दोषारोपण में मेरा शिर मुंडवा कर मुझे नगर से निकाल देना। मैं कहता जाऊँगा—"मैंने तेरे प्राकार, परिखा आदि बनवाये हैं। मैं दुर्बल स्थानों को जानता हूँ। शीघ्र ही मैं तुम्हें सीधा न कर दूँ तो मेरा नाम वस्सकार नहीं है।"

अगले दिन वही सब घटित हुआ। बात वज्जियों तक भी पहुँच गई। कुछ लोगों ने कहा—"यह ठगी है। इसे गंगा-पार मत आने दो।" पर अधिक लोगों ने कहा—"यह घटना बहुत ही अपने पक्ष में घटित हुई है। वस्सकार का उपयोग अजातशत्रु करता था। यह बुद्धिमान् है, इसका उपयोग हम ही क्यों न करें ? यह शत्रु का शत्रु है ; अतः आदरणीय है।" इस धारणा पर उन्होंने वस्सकार को अपने यहाँ अमात्य बना दिया।

थोड़े ही दिनों में उसने वहाँ अपना प्रभाव जमा लिया। अब उसने वज्जियों में भेद डालने की बात शुरू की। बहुत सारे लिच्छवी एकत्रित होते, वह किसी एक से एकान्त में होकर पूछता—

"खेत जोतते हो ?"

"हाँ, जोतते हैं।"

"दो बैल जोत कर ?"

"हाँ, दो बैल जोत कर।"

---

१. दीघनिकाय महापरिनिब्बाण सुत्त, २।३ (१६)।

दूसरा लिच्छवी उस लिच्छवी को एकान्त में ले जाकर पूछता—"महामात्य ने क्या कहा ?" वह सारी बात उसे कह देता ; पर उसे विश्वास नहीं होता कि महामात्य ने ऐसी साधारण बात की होगी । "मेरे पर तुम्हें विश्वास नहीं है, सही नहीं बतला रहे हो ।" यह कह कर सदा के लिए वह उससे टूट जाता । कभी किसी लिच्छवी को वस्सकार कहता—"आज तुम्हारे घर में क्या शाक बनाया था ?" वही बात फिर घटित होती । किसी एक लिच्छवी को एकान्त में ले जाकर कहता—"तुम बड़े गरीब हो ।" किसी को कहता—"तुम बड़े कायर हो ।" "किसने कहा ?" पूछे जाने पर उत्तर देता—"अमुक लिच्छवी ने, अमुक लिच्छवी ने ।"

कुछ ही दिनों में लिच्छवियों में परस्पर इतना अविश्वास और मनोमालिन्य हो गया कि एक रास्ते से भी दो लिच्छवी नहीं निकलते । एक दिन वस्सकार ने सन्निपात-भेरी बजवाई । एक भी लिच्छवी नहीं आया । तब उसे निश्चय हो गया कि अब वज्जियों को जीतना बहुत आसान है । अजातशत्रु को आक्रमण के लिए उसने प्रच्छन्न रूप से कहला दिया । अजातशत्रु ससैन्य चल पड़ा । वैशाली में भेरी बजी—"आओ चलें, शत्रु को गंगा पार न होने दें ।" कोई नहीं आया । दूसरी भेरी बजी—"आओ चलें, नगर में न घुसने दें । द्वार बन्द करके रहें ।" कोई नहीं आया । भेरी सुन कर सब यही बोलते—"हम तो गरीब हैं, हम क्या लड़ेंगे ?" "हम तो कायर हैं, हम क्या लड़ेंगे ?" "जो श्रीमन्त हैं और शौर्यवन्त हैं, वे लड़ेंगे ।" खुले ही द्वार अजातशत्रु नगरी में प्रविष्ट हुआ और वैशाली का सर्वनाश कर चला गया ।[1]

महापरिनिब्बाण सुत्त के अनुसार अजातशत्रु के दो महामात्य सुनीध और वस्सकार ने वज्जियों से सुरक्षित रहने के लिए गंगा के तट पर ही पाटलिपुत्र नगर बसाया । जब वह बसाया जा रहा था, संयोगवश बुद्ध भी वहाँ आये । सुनीध और वस्सकार के आमन्त्रण पर उनके यहाँ भोजन किया । चर्चा चलने पर पाटलिपुत्र की प्रशंसा की और उसके तीन अन्तराय बताये—आग, पानी और पारस्परिक-भेद । बुद्ध के कथनानुसार त्रयस्त्रिंश देवों के साथ मंत्रणा करके सुनीध और वस्सकार ने यह नगर बसाया था ।

समीक्षा

दोनों ही परम्पराएँ अपने-अपने ढंग से इस मगध-विजय और वैशाली-भंग का पूरा-पूरा ब्योरा देती हैं । युद्ध का निमित्त, युद्ध का प्रकार आदि दोनों परम्पराओं के सर्वथा भिन्न हैं । जैन-परम्परा चेटक को लिच्छवी-नायक के रूप में व्यक्त करती है ; बौद्ध-परम्परा प्रतिपक्ष के रूप में केवल वज्जी-संघ (लिच्छवी-संघ) को ही प्रस्तुत करती है । जैन-परम्परा के कुछ

---

१. दीघनिकाय अट्ठकथा, खण्ड २, पृ० ५२३ ।

उल्लेख जैसे—कूणिक व चेटक की क्रमशः ३३ करोड़ व ५७ करोड़ सेना, शक्र और असुरेन्द्र का सहयोग, दो ही दिनों में १ करोड़ ८० लाख मनुष्यों का वध होना, कूलवालक के सम्बन्ध से आकाशवाणी का होना, स्तूप मात्र के टूटने से लिच्छवियों की पराजय हो जाना आदि बातें आलंकारिक जैसी लगती हैं। बौद्ध-परम्परा का वर्णन अधिक सहज और स्वाभाविक लगता है। युद्ध के निमित्त में एक ओर रत्न-राशि का उल्लेख है तो एक ओर महार्घ्य देव-प्रदत्त हार का। भावनात्मक समानता अवश्य है। चेटक के बाण को जैन-परम्परा में अमोघ बताया गया है। बौद्ध-परम्परा का यह उल्लेख कि उन (वज्जिगण) का एक भी प्रहार निष्फल नहीं जाता, उसी प्रकार का संकेत देता है।

जैन-परम्परा स्तूप के प्रभाव से नगरी की सुरक्षा बताती है। बुद्ध कहते हैं—"जब तक वज्जी नगर के बाहर व भीतर के चैत्यों (स्तूपों) का आदर करेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही है, हानि नहीं।"

युद्ध के पात्रों का व्यवस्थित ब्यौरा जितना जैन-परम्परा देती है, उतना बौद्ध-परम्परा नहीं। चेटक तथा ९ मल्लकी, ९ लिच्छवी—अट्ठारह गणराजाओं का यत्किंचित् विवरण भी बौद्ध-परम्परा नहीं देती।

वैशाली-विजय में छद्म-भाव का प्रयोग दोनों ही परम्पराओं ने माना है।

जैन-परम्परा के अनुसार युद्ध के दो भाग हो जाते हैं—

(१) पखवाड़े का प्रत्यक्ष युद्ध और

(२) प्राकार-भंग।

इन दोनों के बीच बहुत समय बीत जाता है। डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी की धारणा के अनुसार यह अवधि कम-से-कम १६ वर्षों की हो सकती है।[1] बौद्ध-परम्परा के अनुसार वस्सकार लगभग तीन वर्ष वैशाली में रहता है और लिच्छवियों में भेद डालता है। इन सबसे यह प्रतीत होता है कि बौद्ध-परम्परा का उपलब्ध वर्णन केवल युद्ध का उत्तरार्ध मात्र है।

रानियाँ और पुत्र

जैन-परम्परा में कूणिक की तीन रानियों के नाम मुख्यतया आते हैं—पद्मावती[2],

---

१. हिन्दू सभ्यता, पृ० १८६।

२. तस्स णं कूणियस्स रन्नो पउमावई नामं देवी......

—निरयावलिका सूत्र, (पी० एल० वैद्य सम्पादित) पृ० ४।

धारिणी[१] और सुभद्रा।[२] आवश्यक चूर्णि के अनुसार कूणिक ने आठ राज-कन्याओं के साथ विवाह किया था,[३] पर वहाँ उनका कोई विशेष परिचय नहीं है।

बौद्ध-परम्परा में कूणिक की रानी का नाम वजिरा आता है। वह कोशल के प्रसेनजित् राजा की पुत्री थी। कूणिक के पुत्र का नाम जैन-परम्परा में उदायी और बौद्ध-परम्परा में उदायीभद्र आता है। जैन-परम्परा के अनुसार वह पद्मावती का पुत्र था और बौद्ध-परम्परा के अनुसार वह वजिरा का पुत्र था। वजिरा का पुत्र होने में एक असंगति आती है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार उदायीभद्र का जन्म उसी दिन हुआ, जिस दिन श्रेणिक का शरीरान्त हुआ,[४] जब कि वजिरा का विवाह भी श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् हुआ।[५]

मृत्यु

कूणिक (अजातशत्रु) की मृत्यु दोनों परम्पराओं में विभिन्न प्रकार से बताई गई है। जैन-परम्परा मानती है—

कूणिक ने महावीर से पूछा—"चक्रवर्ती मर कर कहाँ जाते हैं?"

उत्तर मिला—"चक्रवर्ती पद पर मरने वाला सप्तम नरक में जाता है।"

"मैं मर कर कहाँ जाऊँगा?"

"तुम छठे नरक में जाओगे।"

"क्या मैं चक्रवर्ती नहीं हूँ?"

"नहीं हो।"

इस पर उसे चक्रवर्ती बनने की धुन लगी। कृत्रिम चौदह रत्न बनाये। षड्खण्ड-विजय के लिए निकला। तिमिस्र गुफा में देवता ने रोका और कहा—"चक्रवर्ती ही इस गुफा को पार कर सकता है और चक्रवर्ती बारह हो चुके हैं।" कूणिक ने कहा—"मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती हूँ।" इस अनहोनी बात पर देव कुपित हुआ और उसने उसे वहीं भस्म कर दिया।[६]

बौद्ध-परम्परा बताती है कि राज्य-लोभ से उदायीभद्र ने उसकी हत्या की।[७]

इस विषय में दोनों परम्पराओं की समान बात यही है कि कूणिक मर कर नरक में गया। जैन-परम्परा जहाँ तमःप्रभाव का उल्लेख करती है, वहाँ बौद्ध-परम्परा लौहकुम्भीय

---

१. तस्स णं कूणियस्स रण्णो धारिणी नामं देवी···

—औपपातिक सूत्र (सटीक), सू० ७, पत्र २२।

२. वही, सू० ३३, पत्र १४४।
३. आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १६७।
४. आचार्य बुद्धघोष, सुमंगलविलासिनी, खण्ड १, पृ० १३७।
५. जातक अट्ठकथा, खण्ड ४, पृ० ३४३; *Encyclopædia of Buddhism*, p. 317.
६. स्थानांग सूत्र वृत्ति, स्था० ४, उ० ३; आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १७६-१७७।
७. महावंश, ४।१।

नरक का उल्लेख करती है ।[1] कुल नरक जैनों के अनुसार सात हैं,[2] बौद्धों के अनुसार आठ हैं ।[3] बौद्ध-परम्परा के अनुसार अजातशत्रु अनेक भवों के पश्चात् विदित विशेष अथवा विजितावी नामक प्रत्येक बुद्ध होकर निर्वाण प्राप्त करेगा ।[4]

पूर्व भव

कूणिक के पूर्व भवों की चर्चा भी दोनों परम्पराओं में मिलती है ।[5] घटनात्मक दृष्टि से दोनों चर्चाएँ सर्वथा भिन्न हैं ; पर तत्त्व-रूप से वे एक ही मानी जा सकती हैं । दोनों का हार्द है—श्रेणिक के जीव ने कूणिक के जीव का किसी एक जन्म में वध किया था ।

अभयकुमार

श्रेणिक बिम्बिसार व अजातशत्रु कूणिक से भी अधिक रहस्य का प्रश्न अभयकुमार का है । इसके विषय में दोनों परम्पराएँ अपना-अपना अनुयायी ही होने का आग्रह नहीं करतीं, प्रत्युत अपने-अपने भिक्षु-संघ में दीक्षित होने का भी निरूपण करती हैं । आगमिक-उल्लेख के अनुसार वह स्वयं महावीर के पास दीक्षित होता है । त्रैपिटक उल्लेख के अनुसार वह स्वयं बुद्ध के पास प्रव्रज्या पाता है ।

---

१. दीघनिकाय अट्ठकथा, खण्ड १, पृ० २३७-३८ ।

२. रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा (तमतमाप्रभा) । —भगवती, शतक १, उद्दे० ५ ।

३. संजीव, कालसुत्त, संघात, जालरौरव, धूमरौरव, महा-अवीचि, तपन, पतापन । (जातकअट्ठकथा, खण्ड ५, पृ० २६६,२७१) । दिव्यावदान में ये ही नाम हैं, केवल जाल रौरव के स्थान पर रौरव और धूमरौरव के स्थान पर महारौरव मिलता है । (दिव्यावदान, ६७) । संयुत्तनिकाय, अंगुत्तर निकाय तथा सुत्तनिपात में १० नरकों के नाम आये हैं—अब्बुद, निरब्बुद, अबब, अटट अहह, कुमुद, सोगन्धिक, उप्पल, पुण्डरीक, पदुम । (सं० नि० ६-१-१० ; अं० नि० (P.T.S), खण्ड ५, पृ० १७३ ; सुत्तनिपात, महावग्ग, कोकालिय सुत्त, ३।३६ । अट्ठकथाकार के अनुसार ये नरकों के नाम नहीं, पर नरक में रहने की अवधियों के नाम हैं । आगमों में भी इसी प्रकार के काल-मानों का उल्लेख है । (उदाहरणार्थ देखें—भगवती सूत्र, शतक ६, उद्दे० ७) । बौद्ध-साहित्य में अन्यत्र ५ नरकों की सूची भी मिलती है । (मज्झिम निकाय, देवदूत सुत्त) तथा जातकों में स्फुट रूप से दूसरे नामों का उल्लेख भी है । 'लोहकुम्भी निरय, का उल्लेख भी स्फुट नामों में है (जातकअट्ठकथा, खण्ड ३, पृ० २२ ; खण्ड ५, पृ० २६६ ; सुत्तनिपात अट्ठकथा, खण्ड १, पृ० ५९) ।

४. *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. I, p. 35.

५. जैन वर्णन—निरयावलिका सूत्र, घासीलालजी महाराज कृत, सुन्दर बोधनी टीका, पृ० १२९-१३३ ; बौद्ध वर्णन—जातकअट्ठकथा, संकिच्च जातक, जातक संख्या ५३० ।

जन्म

जैन-परम्परा मानती है कि वह श्रेणिक भंभसार की नन्दा नामक रानी से उत्पन्न हुआ था।[1] नन्दा वेन्नातटपुर[2] के धनावह नामक श्रेष्ठी की कन्या थी। श्रेणिक कुमारावस्था में निर्वासित होकर वहाँ पहुँचा था और उसने नन्दा के साथ पाणि-ग्रहण किया था। अभयकुमार आठ वर्ष तक अपनी माता के साथ ननिहाल ही रहा। उसके पश्चात् माता व पुत्र दोनों ही राजगृह आ गये।[3]

बौद्ध-परम्परा में अभयकुमार को सर्वत्र 'अभयराजकुमार' कहा गया है। उसके अनुसार वह उज्जैनी की पद्मावती गणिका से उत्पन्न श्रेणिक बिम्बिसार का पुत्र था।[4] पद्मावती की लावण्य-ख्याति बिम्बिसार ने सुनी। वह उसकी ओर आकृष्ट हुआ। अपने मन की बात अपने पुरोहित से कही। पुरोहित की आराधना से कुम्भिर नामक यक्ष प्रकट हुआ। वह यक्ष बिम्बिसार को उज्जैनी ले गया। वहाँ बिम्बिसार का पद्मावती वेश्या से संसर्ग हुआ। राजकुमार अभय अपने जन्म-काल से सात वर्ष तक उज्जैनी में अपनी माता के पास रहा। फिर वह राजगृह में अपने पिता के पास आ गया और अन्य राजकुमारों के साथ रहने लगा।[5]

अभयकुमार की माता के विषय में यथार्थता क्या थी, यह कह पाना कठिन है। दोनों ही परम्पराएँ दो प्रकार की बात कहती हैं। इतना अवश्य है कि जैन-परम्परा का उल्लेख आगमिक है और बौद्ध-परम्परा का उल्लेख अट्ठकथा पर आधारित है। यक्ष का आना और श्रेणिक को उज्जैनी ले जाना, यह सब भी किंवदन्ती मात्र से अधिक नहीं ठहरता।

---

१. (क) तस्स णं सेनियस्स रन्नो पुत्ते नंदाए देवीए अत्तए अभए नामं कुमारे होत्था।

—निरयावलिका, सू० २३।

(ख) तस्स णं सेणियस्स पुत्ते नंदाए देवीए अत्तए अभए नामं कुमारे होत्था।

—ज्ञाताधर्मकथांग, श्रु० १, अ० १।

(ग) अभयस्सणाणत्तं, रायगिहे नगरे, सेणिए राया. नंदा देवी माया, सेसं तहेव।

—अनुत्तरोपपातिक दशांग सूत्र, १।१।

२. वेन्नातट नगर, दक्षिण की कृष्णा नदी जहाँ पूर्व के समुद्र में गिरती है, वहाँ पर होना चाहिए। विशेष विवरण के लिए देखें—तीर्थङ्कर महावीर, भा० २, पृ० ६४१-४३।

३. भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति, पत्र ३६।

४. गिल्गिट मांस्क्रुप्ट के अनुसार अभयराजकुमार वैशाली की गणिका आम्रपाली से उत्पन्न बिम्बिसार का पुत्र था। (खण्ड ३, २, पृ० २२)। श्रेणिक से उत्पन्न अम्बपाली के पुत्र का नाम मूल पाली-साहित्य में 'विमल कोण्डञ्ञ' आता है, जो कि आगे चल कर बौद्ध भिक्षु बना। (थेरगाथा-अट्ठकथा, ६४)।

५. थेरीगाथा-अट्ठकथा, ३१-३२।

प्रवृत्ति और व्यक्तित्व

बौद्ध-परम्परा अभय को एक सामान्य राजकुमार से अधिक कुछ नहीं मानती। अधिक-से-अधिक उसे रथ-विद्या-विशारद के रूप में प्रस्तुत करती है।[1] जैन-परम्परा बताती है—"श्रेणिक राजा का पुत्र तथा नन्दा देवी का आत्मज अभयकुमार अहीन यावत् सुरूप साम, दण्ड, भेद, उपप्रदान, नीति तथा व्यापार-नीति का ज्ञाता था। ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा तथा अर्थ-शास्त्र में कुशल था। औत्पातिकी, वैनयिकी, कार्मिकी तथा पारिणामिकी—इन चार प्रकार की बुद्धियों से युक्त था। वह श्रेणिक राजा के लिए बहुत से कार्यों में, कौटुम्बिक कार्यों में, मन्त्रणा में, गुह्य कार्यों में, रहस्यमय कार्यों में, निश्चय करने में एक बार और बार-बार पूछने योग्य था। वह सबके लिए 'मेढीभूत'[2] था, प्रमाण था, आधार था, आलम्बन था, चक्षुभूत था, सब कार्यों और सब स्थानों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला था, सबको विचार देने वाला था, राज्य की धुरा को धारण करने वाला था; वह स्वयं ही राज्य (शासन), राष्ट्र (देश), कोष, कोठार (अन्न-भाण्डार), सेना, वाहन, नगर और अन्तःपुर की देख-भाल करता रहता था।"[3]

जैन-मान्यता के अनुसार अभयकुमार श्रेणिक भंभसार का मनोनीत मंत्री था।[4] उसकी हर समस्या का स्वयं में ही वह एक समाधान था। मेघकुमार की माता धारिणी का दोहद[5] तथा कूणिक की माता चेल्लणा का दोहद[6] अपने बुद्धि-बल से अभयकुमार ने ही पूरा किया। अपनी चूल्ल माता (छोटी माता) चेल्लणा और श्रेणिक का विवाह भी अभयकुमार के बुद्धि-बल से हुआ।[7] बुद्धि-बल के लिए अभयकुमार जैन-परम्परा का प्रसिद्ध पुरुष कहा जा सकता है। अनेकानेक घटना-प्रसंग प्रचलित हैं, जो उसके बुद्धि-वैशिष्ट्य को व्यक्त करते हैं।

अभयकुमार ने श्रेणिक के राजनैतिक संकट भी अनेक बार टाले थे। एक बार उज्जैनी के राजा चण्डप्रद्योत ने चौदह राजाओं के साथ राजगृह पर आक्रमण किया। अभयकुमार ने जहाँ शत्रु का शिविर लगना था, वहाँ पहले से ही स्वर्ण-मुद्राएँ गड़वा दीं। जब चण्डप्रद्योत ने राजगृह को घेर लिया, तो अभयकुमार ने उसे एक पत्र लिखा, जिसमें बताया—"मैं

---

१. मज्झिमनिकाय, अभयराजकुमार सुत्त।
२. मेढी—खलियान में गाड़ा हुआ स्तम्भ—जिसके चारों ओर घूम-घूम कर बैल धान्य को रौंदते हैं।
३. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन।
४. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र ३८।
५. 'भिक्षु-संघ और उसका विस्तार' प्रकरण।
६. देखिए—इसी प्रकरण के अन्तर्गत 'अजातशत्रु कूणिक'।
७. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ६, श्लो० २२६-२२७, पत्र ७८-२।

आपका हितैषी होकर बता रहा हूँ कि आपके सहचर राजा श्रेणिक से मिल गये है। वे आपको बाँध कर श्रेणिक को सम्भलाने वाले हैं। उन्होंने श्रेणिक से बहुत धन-राशि ली है। विश्वास के लिए आपका जहाँ शिविर है, वहाँ की भूमि को खुदवा कर देखें।"

चण्डप्रद्योत ने भूमि खुदवाई तो हर स्थान पर उसे स्वर्ण-मुद्राएँ गड़ी मिलीं। घबरा कर वह ज्यों का त्यों उज्जैनी लौट गया।[1]

अभयकुमार के सम्बन्ध से दोनों परम्पराओं में कोई भी घटना-साम्य नहीं है। केवल एक नगण्य-सी घटना दोनों परम्पराओं में यत्किंचित् समानता से मिलती है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार एक सीमा-विवाद को कुशलतापूर्वक निपटा देने के उपलक्ष में बिम्बिसार ने एक सुन्दर नर्तकी उसे उपहार में दी।[2] जैन कथा-वस्तु के अनुसार श्रेणिक राजा के सेणा नामक एक बहिन थी। वह किसी विद्याधर को व्याही थी। अन्य विद्याधरों ने सेणा को मार डाला और उसकी पुत्री को श्रेणिक के यहाँ भेज दिया। श्रेणिक ने वह कन्या पत्नी के रूप में अभयकुमार को प्रदान की।[3]

बौद्ध प्रव्रज्या

मज्झिमनिकाय के **अभयराजकुमार सुत्त**[4] में बताया गया है—एक समय भगवान् राजगृह में वेणुवन कलन्दक निवाप में विहार करते थे। तब अभयराजकुमार निगण्ठ नातपुत्त के पास गया। निगण्ठ नातपुत्त ने उससे कहा—"राजकुमार! श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ कर, इससे तेरा सुयश फैलेगा। जनता में चर्चा होगी, अभयराजकुमार ने इतने महर्द्धिक श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ किया है।"

अभयराजकुमार ने निगण्ठ नातपुत्त से पूछा—"भन्ते! मैं शास्त्रार्थ का आरम्भ किस प्रकार करूँ?"

निगण्ठ नातपुत्त ने उत्तर दिया—"तुम गौतम बुद्ध से पूछना, 'क्या तथागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरों को अप्रिय हो?' यदि श्रमण गौतम स्वीकृति में उत्तर दे तो पूछना, 'फिर पृथग् जन (अज्ञ संसारी जीव) से तथागत का क्या अन्तर हुआ? ऐसे वचन तो पृथग् जन भी बोल सकता है।' यदि श्रमण गौतम नकारात्मक उत्तर दे तो पूछना, 'आपने

---

१. उज्जैनी पहुँच कर चण्डप्रद्योत ने समझ लिया—यह सब अभयकुमार का ही षड्यन्त्र था। क्रुद्ध होकर उसने भी एक षड्यंत्र रचा और अभयकुमार को अपना बन्दी बनाया। मुक्त होकर अभयकुमार ने उसका बदला लिया। उसने भी छद्म-विधि से चण्डप्रद्योत को बन्दी बनाया। इस सरस वर्णन के लिए देखें—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्, पर्व १०, सर्ग ११, श्लो०१२४ से २९३ तथा आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १५९ से १६३।

२. धम्मपद-अट्ठकथा, १३-४।

३. आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १६०।

४. प्रकरण ७६।

देवदत्त के लिए यह भविष्यवाणी क्यों की, वह दुर्गतिगामी, नैरयिक, कल्पभरनरकवासी और अचिकित्स्य है। आपके इस वचन से वह कुपित (असन्तुष्ट) हुआ है।' इस प्रकार दोनों ओर के प्रश्न पूछने पर श्रमण गौतम न उगल सकेगा, न निगल सकेगा। किसी पुरुष के गले में यदि लोहे की बंसी फँस जाती है तो वह न उगल सकता है, न निगल सकता है; ऐसी ही स्थिति बुद्ध की होगी।"

निगण्ठ नातपुत्त को अभिवादन कर अभयराजकुमार वहाँ से उठा और बुद्ध के पास गया। अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। अभयराजकुमार ने समय देख कर सोचा—"भगवान् के साथ शास्त्रार्थ करने का आज समय नहीं है। कल अपने घर पर ही शास्त्रार्थ करूँगा।" राजकुमार ने उस समय चार आदमियों के साथ बुद्ध को दूसरे दिन के भोजन का निमंत्रण दिया। बुद्ध ने मौन रह कर उसे स्वीकार किया। अभयराजकुमार अपने राजप्रासाद में चला आया।

दूसरे दिन पूर्वाह्न के समय चीवर पहिन कर, पात्र व चीवर लेकर बुद्ध अभयराजकुमार के घर आये। बिछे आसन पर बैठे। अभयराजकुमार ने बुद्ध को उत्तम खाद्य भोज्य से अपने हाथ से तृप्त किया। बुद्ध के भोजन कर चुकने पर, पात्र से हाथ हटा लेने पर अभयराज-कुमार एक नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया और शास्त्रार्थ आरम्भ किया। बोला—"भन्ते! क्या तथागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरों को अप्रिय हो?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"राजकुमार! यह एकान्तिक रूप से नहीं कहा जा सकता।"

उत्तर सुनते ही अभयराजकुमार बोल पड़ा—"भन्ते! निगण्ठ नष्ट हो गये।"

बुद्ध ने साश्चर्य पूछा—"राजकुमार! क्या तू ऐसे बोल रहा है—'भन्ते! निगण्ठ नष्ट हो गये।'

अभयराजकुमार ने दृढ़ता के साथ कहा—"हाँ भन्ते! बात ऐसी ही है। मैं निगण्ठ नातपुत्त के पास गया था। मुझे आपसे यह दुधारा प्रश्न पूछने के लिए उन्होंने ही प्रेरित किया था। उनका कहना था, इस प्रकार पूछने पर श्रमण गौतम न उगल सकेगा और न निगल सकेगा।"

अभयराजकुमार की गोद में उस समय एक बहुत ही छोटा व मन्द शिशु बैठा था। उसे लक्षित कर बुद्ध ने कहा—"राजकुमार! तेरे या धाय के प्रमाद से यह शिशु मुख में काठ या ढेला डाल ले तो तू इसका क्या करेगा?"

राजकुमार ने उत्तर दिया—"भन्ते! मैं उसे निकाल लूँगा। यदि मैं उसे सीधे ही न निकाल सका तो बाँये हाथ से सिर पकड़ कर, दाहिने हाथ से अँगुली टेढ़ी कर खून सहित भी निकाल लूँगा; क्योंकि कुमार पर मेरी दया है।"

बुद्ध ने कहा—"राजकुमार ! तथागत अतथ्य, अनर्थ युक्त और अप्रिय वचन नहीं बोलते। तथ्य-सहित होने पर भी यदि अनर्थक और अप्रिय होता है तो तथागत वैसा वचन भी नहीं बोलते। दूसरों को प्रिय होने पर भी जो वचन अतथ्य व अनर्थक होता है, तथागत उसे भी नहीं बोलते। जिस वचन को तथ्य व सार्थक समझते हैं, वह फिर प्रिय या अप्रिय भी क्यों न हो, कालज्ञ तथागत बोलते हैं ; क्योंकि उनकी प्राणियों पर दया है।"

अभयराजकुमार ने कहा—"भन्ते ! क्षत्रिय-पण्डित, ब्राह्मण-पण्डित, गृहपति-पण्डित, श्रमण-पण्डित प्रश्न तैयार कर तथागत के पास आते हैं और पूछते हैं। क्या आप पहले से ही मन में सोचे रहते हैं, जो मुझे ऐसा पूछेंगे, मैं उन्हें ऐसा उत्तर दूँगा।"

बुद्ध ने कहा—"राजकुमार ! मैं तुझे ही एक प्रश्न पूछता हूँ ; जैसा जचे, वैसा उत्तर देना। क्या तू रथ के अंग-प्रत्यंग में चतुर है ?"

"हाँ, भन्ते ! मैं रथ के अंग-प्रत्यंग में चतुर हूँ।"

"राजकुमार ! रथ की ओर संकेत कर यदि तुझे कोई पूछे, रथ का यह कौन-सा अंग-प्रत्यंग है ? तो क्या तू पहले से ही सोचे रहता है, ऐसा पूछे जाने पर मैं ऐसा उत्तर दूँगा या अवसर पर ही यह तुझे भासित होता है ?"

"भन्ते ! मैं रथिक हूँ। रथ के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का मैं प्रसिद्ध ज्ञाता हूँ, अतः मुझे उसी क्षण भासित हो जाता है।"

"राजकुमार ! इसी प्रकार तथागत को भी उसी क्षण उत्तर भासित हो जाता है ; क्योंकि उनकी धर्म-धातु (मन का विषय) अच्छी तरह सध गई है।"

अभयराजकुमार बोला—"आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! आपने अनेक प्रकार (पर्याय) से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी। आज से मुझे अञ्जलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

अभयराजकुमार के बुद्ध से साक्षात् होने का एक घटना-प्रसंग **संयुत्तनिकाय में अभयसुत्त**[1] का है, जिसमें वह बुद्ध से पूरण काश्यप की मान्यता से सम्बन्धित एक प्रश्न करता है।

अभयकुमार को श्रोतापत्ति-फल तब मिला,[2] जब कि वह नर्तकी की मृत्यु से खिन्न होकर बुद्ध के पास गया और बुद्ध ने उसे धर्मोपदेश किया।[3]

---

१. ४४-६-६।

२. थेरगाथा-अट्ठकथा (१-५८) के अनुसार अभय को श्रोतापत्ति-फल तब मिला, जब कि बुद्ध ने 'तालच्छिगुलुपमसुत्त' का उपदेश दिया था।

३. धम्मपद-अट्ठकथा, १३-४।

थेरगाथा[1] और उसकी अट्ठकथा[2] के अनुसार पिता की मृत्यु से खिन्न होकर अभय-राजकुमार ने बुद्ध के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और कालान्तर से अर्हत्-पद प्राप्त किया। थेरीगाथा अट्ठकथा[3] में यह भी बताया गया है कि भिक्षु-जीवन में उसने अपनी माता पद्मा-वती गणिका को उद्‌बोध दिया। वह भी दीक्षित हुई और उसने भी अर्हत्-पद पाया।

जैन प्रव्रज्या

जैन धारणा के अनुसार अभयकुमार महावीर का परम उपासक था। एक बार एक द्रुमक (लकड़हारा) सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुआ। जब वह राजगृह में भिक्षा के लिए गया तो लोगों ने उसका उपहास किया—"ये आये हैं, महात्यागी मुनि। इन्होंने तो धन-कंचन सब छोड़ दिया है।" इस लोक-चर्चा से द्रुमक मुनि व्यथित हुआ। आकर सुधर्मा स्वामी से यह व्यतिकर कहा। द्रुमक मुनि की परीषह-निवृत्ति के लिए गणधर सुधर्मा ने अगले ही दिन विहार की ठानी। अभयकुमार को पता चला। उसके निवेदन पर विहार रुका। राजगृह में आकर एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओं की तीन राशियाँ उसने स्थापित की। नगर के लोगों को आमंत्रित किया। धन-राशि पाने के लिए सभी लोग ललचाये। अभय-कुमार ने कहा—"ये तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ वह ले सकता है, जो जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और पानी का परित्याग करे।" कोई आगे नहीं आया। जब अभयकुमार ने कहा—"द्रुमक मुनि कितना महान् है, उसने आजीवन स्त्री, अग्नि एवं पानी का परित्याग किया है।" इस प्रकार अभय ने वह लोक-चर्या समाप्त की।[4]

अभयकुमार की धर्मानुरागिता के अनेकानेक घटना-प्रसंग जैन-परम्परा में प्रचलित हैं। अभयकुमार की छींक का फल बताते हुए महावीर ने स्वयं उसे धर्मनिष्ठ कहा।[5] अभयकुमार के संसर्ग से ही राजगृह के प्रसिद्ध कसाई कालशौरिक का पुत्र सुलसकुमार निगण्ठ-धर्म का अनुयायी बना।[6] अभयकुमार ने ही आर्द्रककुमार को धर्मोपकरण उपहार रूप में भेजे थे, जिनसे प्रतिबुद्ध होकर वह भिक्षु बन गया।[7]

अभयकुमार की प्रव्रज्या के विषय में बताया गया है—भगवान् महावीर राजगृह में

---

१. थेरगाथा, २६।

२. थेरगाथा-अट्ठकथा, खण्ड १, पृ० ८३-४।

३. वही, ३१-३२।

४. धर्मरत्नप्रकरण, अभयकुमार कथा, १-३०।

५. विस्तार के लिए देखिए—इसी प्रकरण में 'श्रेणिक बिम्बिसार' के अन्तर्गत 'नरक-गमन व तीर्थङ्कर-पद'।

६. हेमचन्द्र-योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति सहित, अ० १, श्लो० ३०, पृ० ६१-६५।

७. विस्तार के लिए देखिए—'समसामयिक धर्म-नायक' प्रकरण के अन्तर्गत 'आर्द्रक मुनि'।

आये। अभयकुमार भी वन्दन के लिए उद्यान में गया। देशना के अन्त में अभयकुमार ने पूछा—"भगवन् ! अन्तिम मोक्षगामी राजा कौन होगा ?"[1] महावीर ने उत्तर दिया—"वीत-भयपुर का राजा उदायन, जो मेरे पास दीक्षित हुआ है, वही अन्तिम मोक्षगामी राजा है।" अभयकुमार के मन में आया—"मैं यदि राजा बन कर फिर दीक्षित बनूँगा तो मेरे लिए मोक्षगामी होने का रास्ता ही बन्द हो जायेगा। क्यों न मैं कुमारावस्था में ही दीक्षा ग्रहण करूँ !"

अभयकुमार श्रेणिक के पास आया। दीक्षा की बात उसे कही। श्रेणिक ने कहा—"दीक्षा लेने के दिन तो मेरे हैं, तुम्हारे तो राज्य-ग्रहण करने के दिन हैं।" अभयकुमार के विशेष आग्रह पर श्रेणिक ने कहा—"जिस दिन मैं रुष्ट होकर तुझे कहूँ—दूरे व्रज ! मुखं मा दर्शय—उस दिन तुम प्रव्रजित हो जाना।"

कालान्तर से फिर महावीर राजगृह के उपवन में आये। भीषण शीतकाल का समय था। एक दिन सायं श्रेणिक और चेल्लणा ने उपवन से आते नदी के तट पर, एक मुनि को ध्यानस्थ खड़े देखा। रात को रानी जगी। मुनि की याद आई। उसके मुँह से सहसा निकला—"आह ! वह क्या करता होगा ?" राजा ने भी यह वाक्य सुन लिया। उसके मन में रानी के प्रति अविश्वास हुआ। प्रातःकाल भगवद्-वन्दन के लिए जाते-जाते उसने अभय-कुमार को आदेश दिया—"महल जला डालो। यहाँ दुराचार पलता है।" अभयकुमार ने रानियों को पृथक् कर खाली महल को जला डाला।

श्रेणिक ने महावीर से जिज्ञासा की और महावीर ने उत्तर दिया—"तुम्हारी चेल्लणा आदि सब रानियाँ निष्पाप हैं।" राजा को अपने आदेश पर पछतावा हुआ। राजा सहसा वहाँ से चला कि कोई हानि न हो जाये। अभयकुमार रास्ते में ही मिल गया। राजा ने कहा—"तुमने महल का क्या किया ?" अभयकुमार ने उत्तर दिया—"आपके आदेशानुसार जला दिया।" राजा को अत्यन्त दुःख हुआ। अभयकुमार पर रंज भी हुआ। उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा—"दूरे व्रज ! मुखं मा दर्शय—" दूर चला जा, मुँह मत दिखा। अभयकुमार ने पितृ-वाक्य शिरोधार्य किया और भगवान् महावीर के पास जा प्रव्रज्या ग्रहण की।

राजा ने महल को सम्भाला तो सब रानियाँ सुरक्षित थी। उसे भान हुआ—"अभय-कुमार दीक्षित होगा, मैं उसे रोकूँ।" राजा शीघ्रता से महावीर के पास आया, तो देखा वह

---

१. यह भी माना जाता है कि अभयकुमार की यह पृच्छा 'मोक्षगामी राजा' के लिए न होकर 'मुकुट बद्ध राजा के दीक्षित होने' के विषय में थी। (देखिए—अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ३, पृ० ४८१)।

तो दीक्षित हो ही गया है।[१] **अंतगडदशांग सूत्र** में अभय की माता नन्दा के भी दीक्षित होने व मोक्ष जाने का उल्लेख है।[२]

दीक्षा के अनन्तर भिक्षु अभयकुमार ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। "गुणरत्न तप" किया। अत्यन्त कृशकाय हो गया।[3] काल-धर्म को प्राप्त हो विजय अनुत्तर विमान में देव-रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ वह २२ सागरोपम स्थिति का भोग कर महाविदेह-क्षेत्र में उत्पन्न होगा। वहाँ से वह सिद्ध-गति प्राप्त करेगा।[४]

उपसंहार

अभयकुमार सम्बन्धी दोनों ओर के पुरावों को देखते हुए लगता है, क्यों न अभयकुमार और राजकुमार अभय को पृथक्-पृथक् दो व्यक्ति माना जाय ? पितृ साम्य के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाण उनके दो व्यक्ति होने के पक्ष में ही माने जा सकते हैं। बौद्ध-परम्परा उसे जीवक कौमार-भृत्य का जनक[५] मानती है, जब कि जैन-परम्परा में इसका कोई आभास नहीं मिलता। इसी प्रकार एक की माता वणिक्-कन्या है तो एक की गणिका ; एक प्रधानमंत्री है तो एक कुशल रथिक ; एक महावीर के पास दीक्षित होता है तो एक बुद्ध के पास। अभयराजकुमार निगण्ठ-धर्म से बुद्ध-धर्म में आता है। यदि अभय एक ही व्यक्ति होता तो महावीर के पास उसके दीक्षित होने की चर्चा कैसे मिलती ? श्रेणिक बिम्बिसार के अनेकानेक राजकुमार थे। किन्हीं दो का नाम-साम्य कोई आश्चर्य का विषय नहीं।

वस्तुतः एक ही व्यक्ति के लिए दोनों परम्पराओं की ये सारी चर्चाएँ हों तो यह स्पष्ट है कि जैन-दीक्षा का उल्लेख **अनुत्तरोपपातिकदशांग सूत्र** का है। यह मूलभूत ग्यारह अंगों में एक है। उसका रचना-काल विक्रम पूर्व दूसरी शताब्दी के पूर्व का ही है।[६] बौद्ध-दीक्षा का उल्लेख **अट्ठकथा** तथा **थेरापदान**[७] का है। **अट्ठकथा** तो उत्तरकालिक है ही, **अपदान** भी पिटक-साहित्य में सबसे उत्तरवर्ती माना जाता है।[८]

---

१. भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र ३८-४०।

२. मोदी सम्पादित, पृ० ५१।

३. स्कन्दक संन्यासी की तपः-साधना जैसा ही वर्णन अभयकुमार का है। स्कन्दक मुनि का विवरण देखिए—"पारिपार्श्विक भिक्षु-भिक्षुणियाँ" प्रकरण में।

४. अनुत्तरोपपातिक दशांग सूत्र, प्रथम वर्ग, अध्ययन १०।

५. देखिए—"प्रमुख उपासक-उपासिकाएँ" प्रकरण।

६. दलसुख मालवणिया, आगम-युग का जैन दर्शन, पृ० २८।

७. थेरापदान, भद्दियवग्गो, अभयत्थेरअपदानं।

८. भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, खण्ड ७, नालन्दा, Introduction, P. V.

उद्रायण

दोनों परम्पराओं में दीक्षित होने वालों में एक नाम राजा उदायन का भी है। बौद्ध-ग्रन्थ **अवदानकल्पलता**[1] के अनुसार इसका नाम उद्रायण तथा **दिव्यावदान**[2] के अनुसार रुद्रायण है। उत्तरवर्ती जैन-साहित्य में भी इसका नाम 'उद्रायण' मिलता है।[3] दोनों ही परम्पराओं के अनुसार यह सिन्धुसौवीर देश का स्वामी था। महावीर और बुद्ध के सम्पर्क में आने का वर्णन पृथक्-पृथक् प्रकार से मिलता है। राजधानी का नाम जैन-मान्यता में वीतभय है और बौद्ध-मान्यता में रोरूक है। धर्म-प्रेरणा दोनों ही परम्पराओं के अनुसार उसकी दिवंगत पत्नी स्वर्ग से आकर करती है।

महावीर मगध से सिन्धुसौवीर जा कर उसे दीक्षित करते हैं, बुद्ध राजा के सिन्धुसौवीर से मगध आने पर उसे दीक्षित करते हैं। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार दीक्षित होने के पश्चात् भिक्षु उदायन (उद्रायण) अपनी राजधानी में जाते हैं और दुष्ट अमात्यों की प्रेरणा से राजा उनका वध करवा देता है। जैन-मान्यता के अनुसार दीक्षा से पूर्व उद्रायण ने अपना राज्य अपने भानेज केशी को सौंपा था, इसलिए कि 'मेरा पुत्र अभीचकुमार राजा होकर नरक-गामी न बने'। बौद्ध-मान्यता के अनुसार उसने अपना राज्य अपने पुत्र शिखण्डी को सौंपा था। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार राजा केवली या अर्हत् होकर निर्वाण प्राप्त करता है और दैवी प्रकोप से नगर धूलिसात् हो जाता है।[4]

यह **'रुद्रायणावदान'** प्रकरण पालि-साहित्य में नहीं है और न वह हीनयान-परम्परा के अन्य कथा-साहित्य में भी कहीं मिलता है। **दिव्यावदान** और **अपदानकल्पलता**—ये दोनों ही ग्रन्थ महायान-परम्परा के हैं। महायानी त्रिपिटक मूलतः संस्कृत में ही हैं और वे उत्तर-कालिक हैं।[5] **दिव्यावदान** स्वयं में एक संकलन मात्र है और इसका रचना-काल ईस्वी २०० से ३५० तक का माना जाता है।[6] ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है ही कि उदायन के जैन आख्यान को **रुद्रायणावदान** के रूप में परिवर्तित किया गया है। एक ही राजा महावीर और बुद्ध दोनों के पास दीक्षा ले और मोक्ष प्राप्त करे, यह सम्भव भी कैसे हो सकता है? इस कथानक की कृत्रिमता इससे भी व्यक्त होती है कि राजा बिम्बिसार और उद्रायण

---

१. अवदान, ४०।

२. वही, ३७।

३. उद्दायण राया, तावसभत्तो —आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्ध, पत्र ३९९।

४. जैन विवरण के लिए देखिए—"भिक्षु-संघ और उसका विस्तार" के अन्तर्गत "उदायन" तथा बौद्ध विवरण के लिए देखिए—दिव्यावदान, रुद्रायणावदान, ३७।

५. दिव्यावदान, सम्पा० पी० एल० वैद्य, प्रस्तावना।

६. वही, पृ० १७।

का मैत्री-सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार से कराया जाता है, जैसा कि जैन-परम्परा में अभयकुमार और आर्द्रककुमार का कराया जाता है[1] तथा बौद्ध-परम्परा में बिम्बिसार और पक्कुसाति का कराया जाता है।[2] इस अवदान से यह भी भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि महावीर और बुद्ध दोनों के पास एक ही व्यक्ति के दीक्षित होने के जो अन्य प्रकरण हैं, वे भी एक-दूसरी परम्परा से रूपान्तरित किये गये हो सकते हैं। ख्यातनामा व्यक्ति को अपने-अपने धर्म में समाहित करने का दर्रा बहुत पहले से रहा है। यही तो कारण है कि राम वैदिक, बौद्ध व जैन—इन सभी परम्पराओं के एक आदर्श पुरुष बन रहे हैं। सभी परम्पराओं ने अपने-अपने ढंग से उनकी जीवन-कथा गढ़ी है।

उदायन का जैन आख्यान जैन आगम **भगवती**[3] में मिलता है। **उत्तराध्ययन सूत्र**[4] में इसका संक्षिप्त उल्लेख है। इन प्राकृत ग्रन्थों के अतिरिक्त यह कथानक उत्तरवर्ती टीका व चूर्णि-साहित्य में भी चर्चित हुआ है।

जैन आगम[5] उदायन के पुत्र अभीचकुमार को भी निगण्ठ-उपासक मानते हैं। राज्य न देने के कारण पिता के प्रति उसके मन में द्रोह बना रहा ; अतः वह असुरयोनि में उत्पन्न हुआ।

चण्ड-प्रद्योत

युद्ध-प्रियता

श्रेणिक बिम्बिसार और अजातशत्रु कूणिक के अतिरिक्त जिस राजा का नाम दोनों परम्पराओं में आता है, वह है—चण्ड-प्रद्योत। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार वह राजा प्रारम्भ में बहुत चण्ड, युद्ध-प्रेमी, व्यसनी व अनीति-परायण था। दोनों ही परम्पराओं में उसके युद्धों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। वत्स देश के राजा उदयन और चण्ड-प्रद्योत का युद्ध-विवरण दोनों परम्पराओं में बहुत कुछ समानता से मिलता है।[6] इस युद्ध का पुराण-साहित्य में भी समुल्लेख है।[7] उसी घटना-प्रसंग पर महाकवि भास ने प्रसिद्ध नाटक **'स्वप्नवासवदत्ता'** लिखा है।

---

१. देखिए, "गोशालक" प्रकरण के अन्तर्गत "आर्द्रककुमार"।
२. देखिए, इसी प्रकरण के अन्तर्गत "श्रेणिक बिम्बिसार"।
३. शतक १३, उद्देशक ६।
४. अ० १८, गा० ४८।
५. भगवती सूत्र, शतक १३, उद्देशक ६।
६. धम्मपद-अट्ठकथा, २-१ ; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ११, श्लोक १८४-२६५।
७. कथासरित्सागर, १२।१६।६।

जैन-परम्परा के अनुसार चण्ड-प्रद्योत ने सिन्धु-सौवीर के राजा उदायन के साथ,[1] वत्स-नरेश शतानीक के साथ,[2] मगध के राजा बिम्बिसार के साथ[3] तथा पांचाल देश के राजा दुम्मह के साथ[4] युद्ध किया। उदायन के साथ स्वर्ण-गुलिका दासी के लिए, शतानीक के साथ रानी मृगावती के लिए, दुम्मुह के साथ "द्विमुख-अवभासक" मुकुट के लिए तथा श्रेणिक के साथ उसके बढ़ते हुए प्रभाव को न सह सकने के कारण उसने युद्ध किया। उक्त सारे ही घटना-प्रसंग रोचकता और अद्भुतता से भरे-पूरे हैं।

मज्झिमनिकाय[5] के अनुसार अजातशत्रु ने भी चण्ड-प्रद्योत के भय से राजगृह में किल्लाबन्दी की थी। उक्त अन्य युद्धों के उल्लेख बौद्ध-परम्परा में नहीं हैं।

किस धर्म का अनुयायी ?

जैन धारणा के अनुसार चण्ड-प्रद्योत जैन धर्म की अराधना तो तब आरम्भ कर देता है, जब धर्मनिष्ठ श्रावक उदायन राजा के द्वारा बन्दी-अवस्था से मुक्त किया जाता है।[6] इससे पूर्व तो वह यही कहता था—"मेरे माता-पिता श्रावक थे।"[7] महावीर के समवसरण में शतानीक राजा की पत्नी मृगावती तथा चण्ड-प्रद्योत की शिवा आदि ८ पत्नियाँ दीक्षित हुईं, तब स्वयं चण्ड-प्रद्योत भी वहाँ उपस्थित था।[8] वही उसका महावीर से प्रथम साक्षात्कार था और उसी में उसने विधिवत् जैन धर्म स्वीकार किया था।[9]

बौद्ध मान्यता के अनुसार चण्ड-प्रद्योत को धर्म-बोध भिक्षु महाकात्यायन के द्वारा मिला। ये भिक्षु-जीवन से पूर्व चण्ड-प्रद्योत के राज-पुरोहित थे। चण्ड-प्रद्योत ने उन्हें बुद्ध को आमंत्रित करने के लिए भेजा था। बुद्ध स्वयं नहीं आये। महाकात्यायन को दीक्षित कर

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ११, श्लोक ४४५-५६७ ; उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १८, नेमिचन्द्र कृत वृत्ति ; भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति, भाग १, पत्र १७७-१।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ११, श्लोक १८४-२६५।

३. वही, पर्व १०, सर्ग ११, श्लोक १७२-२६३।

४. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ६, नेमिचन्द्र कृत टीका।

५. ३-१-८, गोपक मोग्गलान सुत्त।

६. ततः प्रद्योतनो राजा जैन धर्म शुद्धमारराध।

—भरतेश्वर-बाहुबली-वृत्ति, भाग १, पत्र १७७।

७. "श्रावकौ पितरौ मम"।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०।११।५६७।

८. भरतेश्वर-बाहुबली-वृत्ति, द्वितीय विभाग, प० ३२३।

९. "ततश्चण्डप्रद्योतो धर्ममङ्गीकृत्य स्वपुरम् ययौ" :

—वही, २-३२३।

उज्जैनी भेज दिया। उस प्रसंग पर चण्ड-प्रद्योत बुद्ध का अनुयायी बना।[1] बुद्ध से उसके साक्षात्कार का कोई घटना-प्रसंग बौद्ध-साहित्य में नहीं मिलता।

दोनों ही परम्पराओं के आधारभूत ग्रन्थों में चण्ड-प्रद्योत के सम्बन्ध में धर्मानुयायी होने का कोई उल्लेख नहीं है। कथा-साहित्य में ही मुख्यतः सारा विवरण मिलता है। वह महावीर और बुद्ध का अनुयायी कैसे रहा, यह एक प्रश्न ही रह जाता है। हो सकता है, पहले वह एक का अनुयायी रहा हो, फिर दूसरे का। यह भी सम्भव है, दोनों ही परम्पराओं से रहे यत्किंचित् सम्पर्क को भी बढ़ावा देकर कथाकारों ने अपना-अपना अनुयायी बना लिया हो।

उदयन

कौशाम्बी का राजा उदयन भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों ही परम्पराओं में इसका जीवन-वृत्त यत्किंचित् भेद-प्रभेद से मिलता है। इस राजा के पास हाथिओं की बहुत बड़ी सेना थी। बीणा बजाकर यह हाथिओं को पकड़ा करता था।

आगमों में

जैनागम **भगवती**[2] में बताया गया है, "उस समय वहाँ राजा सहस्रानीक का पौत्र, शतानीक का पुत्र, वैशाली के राजा चेटक की पुत्री मृगावती देवी का आत्मज, श्रमणोपासिका जयन्ती का भतीजा, उदयन नामक राजा राज्य करता था। भगवान् महावीर कौशाम्बी में पधारे। यह सम्वाद पाकर राजा उदयन हृष्ट-तुष्ट हुआ। उसने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाया और कूणिक[3] की तरह सब आज्ञाएँ दी।

"कूणिक की तरह ही साजसज्जा से वह भगवान् महावीर के समवसरण में गया। उसके साथ उसकी माता मृगावती तथा बूआ जयन्ती[4] गई। सब ने धर्म-देशना सुनी।"

जैन आगम **विपाक**[5] में उसकी रानी पद्मावती की दुराचार-कथा का वर्णन है। गौतम महावीर से इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करते हैं और महावीर विस्तार से उनका उत्तर देते हैं। **विपाक सूत्र** में भी इस राजा को हिमालय की तरह महान् और प्रतापी बताया गया है।

जैन कथा-साहित्य में चण्ड-प्रद्योत के साथ होने वाले युद्ध तथा वासवदत्ता सम्बन्धी वर्णन भी विस्तार से मिलता है।

---

१. विशेष विस्तार के लिए देखिए, "भिक्षु-संघ और उसका विस्तार" प्रकरण के अन्तर्गत "महाकात्यायन"; तथा थेरगाथा-अट्ठकथा, भाग १, पृ० ४८३।

२. शतक १२, उद्देशक २।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए, इसी प्रकरण के अन्तर्गत "अजातशत्रु कूणिक।"

४. विशेष विवरण के लिए देखिए, "भिक्षु-संघ और उसका विस्तार" प्रकरण के अन्तर्गत "जयन्ती"।

५. श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ५।

त्रिपिटकों में

बौद्ध मान्यता के अनुसार उदयन प्रारम्भ में बुद्ध और उनके भिक्षु-संघ का विरोधी था। एक बार घोषक, कुक्कुट और पावारिय--इन तीन श्रेष्ठिओं[1] ने बुद्ध को कौशाम्बी में आमंत्रित किया। बुद्ध का उपदेश सुनने के लिए श्यामावती रानी की परिचारिका खुज्जुत्तरा जाया करती थी। बुद्ध के उपदेशों का वह अनुवचन भी करने लगी। उसके सम्पर्क से रानी श्यामावती भी बुद्ध के प्रति श्रद्धाशील हो गई। जब बुद्ध राजप्रासाद के निकट से होकर जाते, तो गवाक्षों से वह उन्हें प्रणाम करती। उसकी सौत मागन्दिया रानी ने यह सब उदयन को बता दिया। उदयन बुद्ध और भिक्षु-संघ का विरोधी था। वह श्यामावती से अप्रसन्न हो गया। उसने उसके वध का भी प्रयत्न किया। दैवी घटना से वह बच गई। राजा का क्रोध शान्त हुआ। उसने श्यामावती के अनुरोध पर बौद्ध भिक्षुओं को राजप्रासाद में भोजन कराने की भी अनुज्ञा दी। भोजन के उपरान्त राजप्रासाद की महिलाएँ भिक्षुओं को वस्त्रदान करतीं। उदयन ने इसका भी विरोध किया। आनन्द के समझाने पर उसने वस्त्रदान की उपयोगिता मानी।[2]

उदयन का बुद्ध से कभी साक्षात् हुआ, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। **संयुत्त निकाय**[3] के अनुसार पिण्डोल भारद्वाज से उसने कौशाम्बी के घोषिताराम में भेंट की। 'तरुण लोग कैसे भिक्षु हो जाते हैं?' इस विषय पर चर्चा की और अन्त में कहा—"मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ और भिक्षु-संघ की शरण जाता हूँ। भारद्वाज! आज से आजन्म मुझे शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

समीक्षा

उदयन-सम्बन्धी सभी जैन समुल्लेख श्लाघापरक ही हैं, जब की प्रारम्भ के सभी बौद्ध समुल्लेख अश्लाघापरक हैं। एक बार उसने पिंडोल भारद्वाज पर लाल चीटियाँ भी छुड़वाई, ऐसा भी वर्णन मिलता है। बुद्ध ने भी उस घटना-प्रसंग को सुनकर कहा—"यह उदयन इसी जीवन में नहीं, पिछले जीवन में भी भिक्षुओं के लिए कष्ट कारक रहा है।[4]" इस स्थिति में यह तो निश्चित रूप से कहा ही जा सकता है कि उदयन पहले महावीर का

१. ये तीनों श्रेष्ठी पहले इतर भिक्षुओं को मानते थे। फिर बौद्ध बने। अपने-अपने नाम से आराम बनाये। विशेष विवरण देखिए, धम्मपद-अट्ठकथा, २-१।

२—धम्मपद-अट्ठकथा, २-१ के आधार से; तथा डॉ० नलिनाक्षदत्त, उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास, पृ० ११४।

३. ३४-२-२-४।

४. घटना का विस्तार एवं पूर्व-जन्म सम्बन्धी वृत्तान्त देखिए, जातक-अट्ठकथा, मातंग जातक, सं० ४९७।

अनुयायी रहा है। इस तथ्य के समर्थन में केवल इतना ही आधार नहीं है कि जैन-परम्परा में इसका वर्णन श्लाघापरक है और बौद्ध-परम्परा में अश्लाघापरक ; परन्तु उसके जनक शतानीक, उसकी माता मृगावती तथा बूआ जयन्ती का जैन होना भी उदयन के जैन होने को पुष्ट करता है।

बुद्ध के प्रति उदयन के मन में निरादर का भाव बना रहा, उसका एक निमित्त मागन्दिका रानी भी थी। वह अपनी कुमारावस्था से ही बुद्ध के प्रति कुपित थी। उसका पिता चाहता था, मेरी कन्या जितनी सुन्दर है, उतना ही सुन्दर उसे पति मिले। इस आतुरता में उसने बुद्ध से मागन्दिका के साथ पाणि-ग्रहण करने की प्रार्थना कर दी। बुद्ध ने उसे बुरा माना और कहा—"तुम इस मल-मूत्र से भरी पुतली को सुन्दर कहते हो? मैं इसे पैर से छूना भी पसन्द नहीं करता।"[1] वह मागन्दिका उदयन को व्याही गई, पर अपने निरादर के कारण बुद्ध के प्रति उसके मन में सदा ही घृणा का भाव रहा। उदयन उसके प्रभाव में था ही ; अतः वह बुद्ध का अनुयायी कैसे हो पाता?

शरणागत उपासक होने आदि के उल्लेखों से अवश्य यह प्रतीत होता है कि शनैः-शनैः बुद्ध और बौद्ध संघ के प्रति रही उदयन की घृणा मिटती गई और वह उनके निकट होता गया।

महावीर के पश्चात् बुद्ध २५ वर्ष जीये,[2] इस स्थिति में यह अधिक सम्भव है ही कि बौद्ध भिक्षु-संघ के बढ़ते हुए प्रभाव से उदयन प्रभावित हुआ और पिण्डोल भारद्वाज के सम्पर्क से बुद्ध का अनुयायी भी बना हो। इसके पुत्र बोधिराजकुमार[3] का वर्णन केवल त्रिपिटक-साहित्य में ही मिलता है और उसके जनक शतानीक आदि का वर्णन आगम साहित्य में मिलता है, तो यह भी उदयन के पहले जैन और फिर बौद्ध होने का एक ठोस आधार है।

प्रसेनजित्

बुद्ध का अनुयायी

कोसल-राज प्रसेनजित् भी महावीर और बुद्ध के समसामयिक राजाओं में एक ऐतिहासिक राजा रहा है। वह पहले वैदिक धर्म का अनुयायी था। बड़े-बड़े यज्ञ-याग कराता

---

१. धम्मपद-अट्ठकथा, २।१ ;
"तस्मादिमां मूत्रपुरीषपूर्णां
प्रष्टुं हि यत्तामपि नोत्सहेयम्।" —दिव्यावदान, ३६।

२. देखिए, "काल निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "महावीर और बुद्ध की समसामयिकता।"

३. बोधिराजकुमार उसकी रानी वासवदत्ता का पुत्र था और बुद्ध का परम उपासक था। विशेष विवरण देखिए, मज्झिमनिकाय, बोधिराजकुमार सुत्त, २।४।५ ; मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, २।४।५।

था। **संयुत्त निकाय**[1] के अनुसार उसने एक यज्ञ के लिए ५०० बैल, ५०० बछड़े, ५०० बछड़ियाँ, ५०० बकरियाँ, ५०० भेड़ आदि एकत्रित किये थे। बुद्ध के उपदेश से उन सब का बिना वध किये ही यज्ञ का विसर्जन कर दिया।[2] इस प्रकार अनेक बार के सम्पर्क से वह बुद्ध का दृढ़ अनुयायी बन गया। यह सुविदित है ही कि बुद्ध ने अपने अन्तिम २५ वर्षावास श्रावस्ती के ही जेतवन और पूर्वाराम विहार में बिताये थे। प्रसेनजित् का बुद्ध से सतत सम्पर्क बना रहना स्वाभाविक ही था। वह बुद्ध से अनेक छोटे-बड़े प्रश्न पूछता ही रहता था। **संयुत्तनिकाय** में एक **कोसलसंयुत्त** पूरा प्रसेनजित् राजा के प्रश्नों का ही है।

इसी प्रकरण का एक उल्लेखनीय संस्मरण है—"उस समय कोसल-राज प्रसेनजित् द्रोण भर भोजन करता था। तब कोसल-राज प्रसेनजित् भोजन कर, लम्बी-लम्बी सांस लेते, जहाँ भगवान् थे, वहाँ आया और भगवान् का अभिवादन कर एक ओर बैठ गया।

तब, कोसल-राज प्रसेनजित् को भोजन कर लम्बी-लम्बी सांस लेते देखकर भगवान् के मुँह से उस समय यह गाथा निकल पड़ी—

> **मनुजस्स सदा सतीमतो**
> **मत्तं जानतो लद्धभोजने।**
> **तनु तस्स भवन्ति वेदना**
> **सणिकं जीरति आयु पालयं॥**
>
> सदा स्मृतिमान् रहने वाले,
> प्राप्त भोजन में मात्रा जानने वाले,
> उस मनुष्य की वेदनायें कम होती हैं,
> (वह भोजन) आयु को पालता हुआ धीरे-धीरे हजम होता है।

उस समय सुदर्शन माणवक राजा······के पीछे खड़ा था।

तब, राजा······ ने सुदर्शन माणवक को आमंत्रित किया—तात् सुदर्शन! भगवान् से तुम यह गाथा सीख लो। मेरे भोजन करने के समय यह गाथा पढ़ना। इसके लिए बराबर प्रतिदिन तुम्हें सौ कहापण (=कार्षापण) मिला करेंगे।

"महाराज! बहुत अच्छा", कह, सुदर्शन माणवक ने राजा···को उत्तर दे, भगवान् से···उस गाथा को सीख, राजा के भोजन करने के समय कहा करता—

> सदा स्मृतिमान् रहने वाले,
> प्राप्त भोजन में मात्रा जानने वाले,
> उस मनुष्य की वेदनाये कम होती हैं,
> (वह भोजन) आयु को पालता हुआ धीरे-धीरे हजम होता है।

---

१. कोसल संयुत्त, यञ्ञ सुत्त, ३-१-६।
२. धम्मपद-अट्ठकथा, ५-१; *Buddhist Legends,* Vol. II, p. 104 ff.

तब, राजा'''क्रमशः नालि भर ही भोजन करने लगा।

तब कुछ समय के बाद राजा का शरीर बड़ा सुडौल और गठीला हो गया। अपने गालों पर हाथ फेरते हुए राजा के मुँह से उस समय उदान के यह शब्द निकल पड़े—

"अरे!''''भगवान् ने दोनों तरह से मुझ पर अनुकम्पा की है—इस लोक की बातों में और परलोक की बातों में भी।"[1]

इसके अतिरिक्त त्रिपिटक-साहित्य में विविध स्थलों पर राजा प्रसेनजित् के विविध घटना-प्रसंग मिलते हैं, जिनमें से कुछ एक प्रस्तुत ग्रन्थ में चर्चे हो जा चुके हैं।

उस युग का प्रसिद्ध डाकू अंगुलिमाल प्रसेनजित् के राजगुरु गग्ग का ही पुत्र था। अंगुलिमाल जब प्रव्रजित हो बुद्ध के पास बैठा था, तभी प्रसेनजित् ५०० अश्वारोहिओं के साथ उसे खोजने जा रहा था। बुद्ध ने भिक्षु अंगुलिमाल का हाथ पकड़कर उसे प्रसेनजित् के सामने कर दिया। "यह अंगुलिमाल!" इतना जानते ही राजा भयभीत हुआ, रोमांचित हुआ, स्तब्ध हुआ; उसके शरीर से स्वेद बह निकला। बुद्ध ने कहा—"राजा! डरो मत। अब इससे तुम्हें भय नहीं है।" वस्तु-स्थिति समझ लेने के पश्चात् प्रसेनजित् ने इस अद्भुत सफलता के लिए बुद्ध की भूरि-भूरि प्रशंसा की।[2]

बुद्ध में अनुरक्ति के कारण

बुद्ध के द्वारा यह पूछे जाने पर, "राजन! मुझ में ही तुम इतने अनुरक्त क्यों रहते हो?" प्रसेनजित् ने मुख्यतः दो उत्तर दिये—

१—"अनेक संन्यासियों को जानता हूँ जो १० से ४० वर्ष तक गृहत्यागी रहकर पुनः गृहस्थ-जीवन में लौट आये और विषय-भोग में पड़ गये। परन्तु किसी बौद्ध भिक्षु को ऐसा करते मैंने नहीं देखा। मैंने पिता, माता और पुत्र को तथा राजाओं और उनके सामन्तों को परस्पर लड़ते देखा है, परन्तु बौद्ध भिक्षुओं को सदा शान्ति और मेल से रहते पाया है। मैंने ऐसे संन्यासिओं को देखा है, जो रुग्ण होकर पीले पड़ गये हैं, परन्तु बौद्ध भिक्षुओं में किसी को ऐसा नहीं पाया। मैंने न्यायालयों में लोगों को अनर्गल प्रलाप करते हुए सुना है, किन्तु जिस सभा में बुद्ध का प्रवचन होता है, उसमें मैंने कभी किसी को खाँसते हुए भी नहीं सुना। वहाँ कोई प्रश्न भी नहीं करता, जैसे कि मैंने अन्य धर्माचार्यों की सभा में लोगों को करते देखा है।"

२—"भगवान् भी क्षत्रिय हैं, मैं भी क्षत्रिय हूँ, भगवान् भी कोसलक (=कोसलवासी, कोसल-गोत्रज) हैं, मैं भी कोसलक हूँ। भगवान् भी अस्सी वर्ष के, मैं भी अस्सी वर्ष का।

---

१. संयुत्तनिकाय, ३-२-३।
२. मज्झिमनिकाय, अंगुलिमाल सुत्तन्त, २।४।६।

इसलिए योग्य ही है, भगवान् का परम सम्मान करना, विचित्र गौरव प्रदर्शित करना।[1]

प्रसेनजित् की एक प्रमुख रानी मल्लिका थी। वह बुद्ध की परम-भक्ता थी। बुद्ध की ओर राजा को प्रभावित करने में वह भी सदा प्रेरक रहती थी। अजातशत्रु को ब्याही जाने वाली वजिरा उसकी ही कन्या थी।

विडूडभ

प्रसेनजित् ने बुद्ध से सामीप्य बढ़ाने के निमित्त शाक्यों से एक राज-कन्या माँगी। शाक्यों ने जाति में अपने से हीन मानकर कन्या देना न चाहा; 'पर वह बलवान् है' इस भय से महानाम शाक्य की दासी-सुता वासभ-खत्तिया का विवाह उसके साथ कर दिया। प्रसेनजित् ने उसे क्षत्रिय-कन्या मान अग्रमहिषी बना दिया। इससे विडूडभ कुमार का जन्म हुआ। वह बहुत शौर्यशाली था। अल्पावस्था में ही सेनापति बना दिया गया। वह १६ वर्ष की आयु में बड़े जन-समूह के साथ अपनी ननिहाल गया। शाक्यों ने उससे छोटी आयु वाले जितने राजपुत्र थे, उन्हें नगर के बाहर भेज दिया। बड़े-बड़े उसके स्वागत में एकत्रित हुए। विडूडभ ने एक-एक कर सब को प्रणाम किया, पर उसे प्रणाम करने वाला एक भी नहीं मिला। वह मन में सन्देहशील हुआ। वहाँ से उसके प्रस्थान करने पर उसके बैठने का काष्ठपीठ दूध और पानी से धुलवाया। उसके कर्मकर को इस बात का पता चला। उसने श्रावस्ती जाते विडूडभ को सारा वृत्तान्त बताया। वह यह जानकर कि 'मैं दासी का पुत्र हूँ, इसलिए ही किसी शाक्य ने मुझे नमस्कार नहीं किया और मेरे आसन को दूध व पानी से धुलवाया,' अत्यन्त क्रोधित हुआ और प्रतिज्ञा की—'शाक्यों का समूल नाश करूँगा।'

प्रसेनजित् को जब यह पता चला कि वासभ-खत्तिया दासी-कन्या है, उसने उसे और विडूडभ को दास-दासियों की श्रेणी में डाल दिया। बुद्ध ने उसे समझाया—"राजन! वासभखत्तिया महानाम शाक्य से उत्पन्न हुई है, विडूडभ तुम से उत्पन्न हुआ है। इस स्थिति में मातृ-कुल का कोई महत्त्व नहीं रह जाता।" राजा ने उन दोनों को पुनः यथास्थान स्थापित किया।

दीर्घकारायण प्रसेनजित् का सेनापति था। उसके मातुल को मरवा कर उसे सेनापति बनाया था। अन्तरंग में वह राजा का विद्रोही था। एक बार प्रसेनजित् बुद्ध के दर्शनार्थ गया। बुद्ध के निकट जाते मुकुट और तलवार दीर्घकारायण के हाथ में थमाए। वह उन्हें लेकर चुपचाप वहाँ से खिसका और विडूडभ से मिलकर उसे ही राजा बना दिया। धर्म-चर्चा के पश्चात् राजा को इस बात की अवगति हुई। वह अजातशत्रु से सहयोग पाने राजगृह आया। नगर के द्वार बन्द मिले। उसने नगर के बाहर धर्मशाला में रात काटने का विचार

१. मज्झिमनिकाय, २-२-६।

किया। राजा थका-माँदा था। धूप और लू से उत्पीड़ित था। रात को वहीं उनका प्राणान्त हो गया। प्रातः अजातशत्रु को इस बात का पता चला, तो उसने ससम्मान उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की।

विडूडभ ने शाक्यों पर चढ़ाई की। शाक्य उसके पराक्रम से घबरा गये। किसी ने मुँह में तृण लिया, किसी ने नल (जलबेत)। वे बच गये। शेष दुध-मुँहे बच्चों तक का उसने संहार किया और उनके रक्त से अपना काष्ठ-पीठ धुलवाया। कहा जाता है, इस संदर्भ में ७७००० शाक्य मारे गये।[1] इतिहासकारों का अभिमत है कि इसी घटना-प्रसंग के साथ शाक्य-गणतंत्र का अन्त हुआ।[2]

वहाँ से श्रावस्ती लौटते अचीरवती नदी में अकस्मात् बाढ़ आ जाने से वह और उसकी सारी सेना निधन को प्राप्त हुई।[3]

सारिपुत्त को अनागत बुद्ध का उपदेश करते बुद्ध ने प्रसेनजित् के लिए चतुर्थ बुद्ध होने की घोषणा की।[4]

जैन आगमों में

इस प्रसेनजित् का नाम आगम-ग्रन्थों में कहीं भी नहीं मिलता, श्रावस्ती के राजा का नाम जितशत्रु आता है।[5] महावीर से उसका साक्षात् हुआ, यह भी स्पष्ट नहीं है। महावीर के दो प्रमुख श्रावक श्रावस्ती के थे—नन्दिनीपिआ और साहिलीपिआ। उनके लिए आया है—"**जहा आणन्दे तहा निग्गए।**" इस 'तहा' (तथा) शब्द से जितशत्रु के भी वन्दनार्थ जाने का अर्थ निकाला जाता है, पर वह बहुत ही दूरान्वयी लगता है। आगम-रचयिताओं ने वाणिज्य ग्राम, चम्पा, वाराणसी, आलम्भिया आदि अनेक नगरिओं के राजा का नाम जितशत्रु माना है।[6] लगता है, उस युग में 'जितशत्रु' एक ऐसा गुणवाचक शब्द था, जो किसी भी राजा के लिए प्रयुक्त किया जा सकता था। **रायपसेणिय** आगम में श्रावस्ती के राजा जितशत्रु का कुछ विस्तृत वर्णन आता है, पर महावीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध हो, ऐसा उल्लेख नहीं है। **दीघनिकाय**[7] के अनुसार राजा प्रदेशी प्रसेनजित् के अधीन था। **रायपसेणिय** आगम के अनुसार जितशत्रु प्रदेशी राजा का अन्तेवासी था। कौन किस के अधीन था, इस

---

१. अवदानकल्पलता; *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. II, p. 877 foot note.
२. हिन्दू सभ्यता, पृ० १९४; *Buddhist India*, p. 11.
३. धम्मपद-अट्ठकथा, ४-३ के आधार से।
४. अनागतवंश; *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. II, p. 174.
५. उपासकदशांग सूत्र, अ० ९, १०; रायपसेणिय सूत्र।
६. देखिए—उपासकदशांग सूत्र के क्रमशः अ० १,२,३,५ इत्यादि।
७. दीघनिकाय, २।१०।

चर्चा में हम न भी जायें, तो भी इतना निष्कर्ष तो इन उल्लेखों से निकल ही जाता है कि प्रसेनजित् को ही जैन-परम्परा में 'जितशत्रु' कहा गया है। यह भी बहुत सम्भव है कि वह बुद्ध का परम अनुयायी था, इसलिए ही आगम-रचयिताओं ने न उसके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख किया है और न उसके प्रसेनजित् नाम का ही ; वर्णन-शैली के अनुसार जहाँ श्रावस्ती के राजा का नाम अपेक्षित हुआ, वहाँ उसे उपेक्षा-भाव से 'जितशत्रु' कह दिया है। इसका तात्पर्य यह तो नहीं लेना चाहिए, अन्य जिन-जिन राजाओं को जितशत्रु कहा गया है, उन सब का भी यही निमित्त हो।

श्रावस्ती का राजा भले ही महावीर का अनुयायी न रहा हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि श्रावस्ती निर्ग्रन्थों का भी मुख्य केन्द्र थी। केशीकुमार और गौतम की चर्चा यहीं होती है। महावीर के साथ गोशालक का विवाद यहीं होता है। श्रावस्ती के उपासक महावीर के दर्शनार्थ समूह रूप में कयंगला गये, ऐसा भी उल्लेख है।[1]

चेटक

जिस प्रकार प्रसेनजित् का उल्लेख आगम-ग्रन्थों में नहीं मिलता, उस प्रकार राजा चेटक का उल्लेख त्रिपिटक-ग्रन्थों में नहीं मिलता। प्रसेनजित् की तरह वह भी उस युग का एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। त्रिपिटक-ग्रन्थों में उसका उल्लेख न होने का कारण भी यही हो सकता है कि वह भगवान् महावीर का परम उपासक था। जैन-परम्परा राजा चेटक को दृढ़धर्मी उपासक के रूप में मानती है। यह भी कहा जाता है कि साधर्मिक राजा के अतिरिक्त अन्य राजा को अपनी कन्या न ब्याहने का उसका प्रण था ; पर आगम-ग्रन्थों में तो चेटक के निर्ग्रन्थ उपासक होने का भी कहीं उल्लेख नहीं है। **आवश्यकचूर्णि** आदि उत्तरकालिक ग्रन्थों में ही उसे श्रावक बताया गया है।[2] साथ-साथ उसके निर्ग्रन्थ उपासक होने में जैन व जैनेतर परम्परा में कोई विरोधी प्रमाण भी नहीं मिलता। इस स्थिति में वह निर्विवाद रूप से ही जैन राजा माना जा सकता है।

परिवार

भगवान् महावीर की माता त्रिशला राजा चेटक की सगी बहिन थी। उसकी कन्याएँ भी प्रख्यात राजाओं को ब्याही गईं थीं और वे स्वयं भी बहुत प्रख्यात थीं। वे क्रमशः—प्रभावती वीतभय के राजा उदायन को, पद्मावती अंग देश के राजा दधिवाहन को, मृगावती

१. भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशक १।

२. (क) सो चेडवो सावओ। —आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १६४।

(ख) चेटकस्तु श्रावको। —त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १०-६-१८८।

वत्स देश के राजा शतानीक को, शिवा उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत को, ज्येष्ठा महावीर के भ्राता नन्दीवर्धन को और चेलना मगध के राजा बिम्बिसार को ब्याही थीं। एक कन्या सुज्येष्ठा महावीर के पास प्रव्रजित हो गई।

वैशाली-गणतंत्र

चेटक का राज्य वैशाली-गणतंत्र के नाम से प्रसिद्ध था। उस समय छोटे-बड़े अनेक गणतंत्र राज्य थे।[1] ये 'संघ-राज्य' या 'संघ' भी कहलाते थे। **जातकअट्ठकथा**[2] के अनुसार वैशाली-गणतंत्र के ७७०७ सदस्य थे। वे सब राजा कहलाते थे। महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ भी इनमें से एक थे; ऐसा माना गया है।[3] पाणिनी[4] के अनुसार इन राजाओं का अभिषेक होता था और वे अपने-अपने क्षेत्र के अधिपति होते थे। अभिषिक्त राजाओं की प्रचलित 'संज्ञाराजन्य' थी। **ललित-विस्तर**[5] में बताया गया है कि लिच्छवी परस्पर एक-दूसरे को छोटा या बड़ा नहीं मानते थे। सभी समझते—**"अहं राजा, अहं राजा"**। प्रत्येक राजा के अपने-अपने उपराजा, सेनापति, भाण्डारिक आदि होते। वैशाली में इनके पृथक्-पृथक् प्रासाद, आराम आदि थे। ७७०७ राजाओं की शासन-सभा "संघ-सभा" कहलाती थी और इनका गणतंत्र 'वज्जी-संघ' या 'लिच्छवी-संघ' कहलाता था।

इस गणतंत्र में नौ-नौ लिच्छवियों की दो उपसमितियाँ थीं। एक न्याय-कार्य को सम्भालती थी और एक परराष्ट्र-कार्य को। इस दूसरी समिति ने ही मल्लकी, लिच्छवी और काशी-कोशल के गणराजाओं का संगठन बनाया था, जिसके अध्यक्ष महाराज चेटक थे।

जितशत्रु, सिंह और चेटक

डॉ० हर्नले ने अपने **उपासकदशांग** आगम के अनुवाद में वाणिज्य ग्राम के राजा जितशत्रु और चेटक को एक ही बता दिया है, पर यह यथार्थ नहीं है। वैशाली-गणतंत्र में जब ७७०७ पृथक्-पृथक् राजा थे, तब उन दोनों को एक मानने का कोई कारण नहीं रह जाता। डॉ० ओटो स्टीन ने भी इस विषय को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है।[6]

कुछ लोग कल्पना करते हैं कि बौद्ध-परम्परा में उल्लिखित सिंह सेनापति और जैन-परम्परा में उल्लिखित राजा चेटक एक ही व्यक्ति थे।[7] इस धारणा का आधार सम्भवतः यह

---

१. हिन्दू सभ्यता, पृ० १६३।
२. भाग १, पृ० ३३६; (भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)।
३. तीर्थङ्कर महावीर, भा० १, पृ० ६६।
४. पाणिनि व्याकरण, ६।२।३४।
५. ३।२३।
६. *Jinist Studies*, Ed. by Muni Jina Vijayji, Pub. by Jain Sahitya Sansodhaka Studies, Ahmedabad, 1948.
७. उदाहरणार्थ देखिए—जयभिक्खु लिखित गुजराती उपन्यास, नरकेसरी, पृ० २३४ टिप्पणी।

हो सकता है कि तिब्बती-परम्परा[1] के अनुसार राजा बिम्बिसार की रानी वासवी सिंह सेनापति की पुत्री थी और वही अजातशत्रु की माता थी। पर इस बात की पुष्टि तिब्बती-परम्परा के अतिरिक्त और कहीं से नहीं होती। बिम्बिसार का श्वसुर और अजातशत्रु का नाना सिंह सेनापति होता, तो त्रिपिटक-साहित्य में अवश्य इस सम्बन्ध का उल्लेख मिलता। अतः तिब्बती अनुश्रुति का एक उत्तरकालिक दन्तकथा से अधिक कोई महत्त्व नहीं ठहरता।

इसके अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य में 'सिंह'[2] को सर्वत्र 'सेनापति' कहा है, जब कि चेटक वैशाली-गणराज्य का राजा था। यह भी सम्भव नहीं है कि राजा को ही सेनापति कह दिया हो, क्योंकि तत्कालीन व्यवस्था में राजा और सेनापति का स्थान सर्वथा पृथक्-पृथक् बताया गया है। डॉ० ज्योति प्रसाद जैन का कहना है—"महाराजा चेटक के दस पुत्र थे, जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगण के प्रसिद्ध सेनापति थे।"[3]

जीवन-परिचय

राजा चेटक के जीवन का अधिकतम परिचय जैन-आगम **निरयावलिका** और **भगवती** में मिलता है, जो 'अजातशत्रु कूणिक' प्रकरण के अन्तर्गत लिखा ही जा चुका है।

अन्य राजा

उक्त राजाओं के अतिरिक्त अनेक राजाओं का उल्लेख दोनों ही परम्पराओं में आता है। उनमें से कुछ एक राजाओं का वर्णन "भिक्षु-संघ और उसका विस्तार" प्रकरण में लिखा जा चुका है और कुछ एक का अन्य प्रकरणों में प्रसंगोपात्त वर्णन किया जा चुका है। ये सब राजा ऐसे हैं, जो असंदिग्ध रूप से महावीर या बुद्ध के अनुयायी हैं; क्योंकि उनका वर्णन अपनी-अपनी परम्परा में ही मिलता है। वैसे और भी अनेक राजा दोनों परम्पराओं में उल्लिखित हैं, पर तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व नहीं है; अतः यहाँ उनका उल्लेख अनपेक्षित है।

चार प्रत्येक बुद्ध राजाओं का वर्णन दोनों परम्पराओं में मिलता है। उनका विवरण व विवेचन यथा प्रसंग किया जाना है।

---

१. Rokhill, *Life of Buddha*, p. 63. तथा देखिए—इसी प्रकरण के अन्तर्गत "अजातशत्रु कूणिक"।

२. उदाहरणार्थ देखिए—"त्रिपिटकों में निगंठ व निगंठ नातपुत्त" प्रकरण के अन्तर्गत "सिंह सेनापति" का प्रसंग।

३. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ५६।

: १५ :

परिनिर्वाण

महावीर का परिनिर्वाण पावा में और बुद्ध का परिनिर्वाण कुसिनारा में हुआ। दोनों क्षेत्रों की दूरी के विषय में **दीघ-निकाय-अट्ठकथा** (सुमंगलविलासिनी) बताती है—**"पावानगरतो तीणि गावुतानि कुसिनारानगरं"** अर्थात् पावानगर से तीन गव्यूत (तीन कोस) कुसिनारा था। बुद्ध पावा से मध्याह्न में विहार कर सायंकाल कुसिनारा पहुँचते हैं। वे रुग्ण थे, असक्त थे; विश्राम ले ले कर वहाँ पहुँचे। इससे भी प्रतीत होता है कि पावा से कुसिनारा बहुत ही निकट था। कपिलवस्तु (लुम्बिनी) और वैशाली (क्षत्रिय-कुण्डपुर) के बीच २५० मील की दूरी मानी जाती है।[1] जन्म की २५० मील की क्षेत्रीय दूरी निर्वाण में केवल ६ ही मील की रह गई। कहना चाहिए, साधना से जो निकट थे, वे क्षेत्र से भी निकट हो गये।

दोनों की ही अन्त्येष्टि क्रिया मल्ल-क्षत्रियों द्वारा सम्पन्न होती है। महावीर के निर्वाण-प्रसंग पर नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी ; अठारह काशी-कौशल के गणराजा पौषध-व्रत में होते हैं और प्रातःकाल अन्त्येष्टि-क्रिया में लग जाते हैं। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग पर आनन्द कुसिनारा में जाकर संस्थागार में एकत्रित मल्लों को निर्वाण की सूचना देते हैं। आनन्द ने बुद्ध के निर्वाण के लिए कुसिनारा को उपयुक्त भी नहीं समझा था ; इससे प्रतीत होता है कि मल्ल बुद्ध की अपेक्षा महावीर के अधिक निकट रहे हों।

इन्द्र व देव-गण दोनों ही प्रसंगों पर प्रमुखता से भाग लेते हैं। महावीर की चिता को अग्निकुमार देवता प्रज्वलित करते हैं और मेघकुमार देवता उसे शान्त करते हैं। बुद्ध की चिता को भी मेघकुमार देवता शान्त करते हैं। दोनों के ही दाढ़ा आदि अवशेष ऊर्ध्वलोक और पाताल लोक के इन्द्र ले जाते हैं। दोनों ही प्रसंगों पर इन्द्र व देवता शोकातुर होते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि महावीर की अन्त्येष्टि में देवता ही प्रमुख होते हैं, मनुष्य गौण। बुद्ध की अन्त्येष्टि में दीखते रूप में सब कुछ मनुष्य ही करते हैं, देवता अदृष्ट रह कर योगभूत होते हैं ; देवता क्या चाहते हैं, कैसा चाहते हैं, यह अर्हत् भिक्षु मल्लों को बताते रहते हैं। देवताओं के सम्बन्ध में बौद्धों की उक्ति परिष्कारक लगती है।

---

१. राहुल सांकृत्यायन, सूत्रकृतांग सूत्र की भूमिका, पृ० १।

अन्तिम वर्ष का विहार दोनों का ही राजगृह से होता है। महावीर पावा वर्षावास करते हैं और कार्तिक अमावस्या की शेष रात में वहीं निर्वाण प्राप्त करते हैं। पावा और राजगृह के बीच का कोई घटनात्मक विवरण नहीं मिलता और न कोई महावीर की रुग्णता का भी उल्लेख मिलता है। बुद्ध का राजगृह से कुसिनारा तक का विवरण विस्तृत रूप से मिलता है। उनका शरीरान्त भी सुकरमद्दव से उद्भूत व्याधि से होता है। उनकी निर्वाण-तिथि वैशाखी पूर्णिमा मुख्यतः मानी गई है ; पर सर्वास्तिवाद-परम्परा के अनुसार तो तो उनकी निर्वाण-तिथि कार्तिक पूर्णिमा है।[1]

निर्वाण से पूर्व दोनों ही विशेष प्रवचन करते हैं। महावीर का प्रवचन दीर्घकालिक होता है और बुद्ध का स्वल्प-कालिक। प्रश्नोत्तर-चर्चा दोनों की विस्तृत होती है। अनेक प्रश्न शिष्यों द्वारा पूछे जाते हैं और दोनों द्वारा यथोचित उत्तर दिये जाते हैं। दोनों ही परम्पराओं के कुछ प्रश्न ऐसे लगते हैं कि वे मौलिक न होकर पीछे से जुड़े हुए हैं। लगता है, जिन बातों को मान्यता देनी थी, वे बातें महावीर और बुद्ध के मुँह से कहलाई गईं। अन्तिम रात में दोनों ही क्रमशः राजा हस्तिपाल और सुभद्र परिव्राजक को दीक्षा प्रदान करते हैं।

निर्वाण-गमन जानकर महावीर के अन्तेवासी गणधर गौतम मोहगत होते हैं और रुदन करते हैं। बुद्ध के उपस्थापक आनन्द मोहगत होते हैं और रुदन करते हैं। गौतम इस मोह-प्रसंग के अनन्तर ही केवली हो जाते हैं ; आनन्द कुछ काल पश्चात् अर्हत् हो जाते हैं।

आयुष्य-बल के विषय में महावीर और बुद्ध ; दोनों सर्वथा पृथक् बात कहते हैं। महावीर कहते हैं—"आयुष्य-बल बढ़ाया जा सके, न कभी ऐसा हुआ है और न कभी ऐसा हो सकेगा।" बुद्ध कहते हैं—"तथागत चाहें तो कल्पभर जी सकते हैं।"

महावीर का निर्वाण-प्रसंग मूलतः **कल्पसूत्र** में उपलब्ध होता है। **कल्पसूत्र** से ही वह टीका चूर्णि व चरित्र-ग्रन्थों में पल्लवित होता रहा है। **कल्पसूत्र** महावीर के सप्तम पट्टधर आचार्य भद्रबाहु द्वारा संकलित माना जाता है। वैसे **कल्पसूत्र** में देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक कुछ संयोजन होता रहा है ऐसा प्रतीत होता है। देवर्द्धि क्षमाश्रमण का समय ईस्वी सन् ४५३ माना गया है ; पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि महावीर का निर्वाण-प्रसंग उस सूत्र का मूलभूत अंग ही है। भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व ३७१-३५७ का माना गया है।

बुद्ध की निर्वाण-चर्चा **दीघनिकाय** के **महापरिनिब्बानसुत्त** में मिलती है। **महापरिनिब्बानसुत्त** में निर्वाण-प्रसंग के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सारी चर्चाएँ हैं, जो अन्य त्रिपिटक ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलती हैं। इससे ऐसा लगता है कि यह भी संग्रहीत प्रकरण है। **दीघनिकाय** मूल त्रिपिटक-साहित्य का अंग है, पर **महापरिनिब्बानसुत्त** के विषय में राईस

---

१. E. J. Thomas, *Life of Buddha*, p. 158.

डेविड्स[1], ई० जे० थॉमस[2] और विंटरनिट्ज[3] का भी अभिमत है कि वह कुछ काल पश्चात् संयोजित हुआ है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि **महापरिनिब्बानसुत्त** बहुत अर्वाचीन है। दोनों प्रकरणों की भाव, भाषा और शैली से भी उनकी काल-विषयक निकटता व्यक्त होती है। आलंकारिकता और अतिशयोक्तिवाद भी दोनों में बहुत कुछ समान है।

महावीर का निर्वाण-प्रसंग बहुत संक्षिप्त व कहीं-कहीं अक्रमिक-सा प्रतीत होता है। कुछ घटनाएँ काल-क्रम की शृंखला में जुड़ी हुई-सी प्रतीत नहीं होतीं। बहुत सारी घटनाएँ केवल यह कह कर बता दी गई हैं—"उस रात को ऐसा हुआ।" बुद्ध का निर्वाण-प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक सुयोजित लगता है। वह विस्तृत भी है।

प्रस्तुत प्रकरण में महावीर और बुद्ध; दोनों के निर्वाण-प्रसंग क्रमशः दिये जाते हैं। मूल प्रकरणों को संक्षिप्त तो मुझे करना ही पड़ा है। साथ-साथ यह भी ध्यान रखा गया है कि प्रकरण अधिक से अधिक मूलानुरूपी रहे। महावीर के निर्वाण-प्रसंग में **कल्पसूत्र** के अतिरिक्त **भगवती सूत्र, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र, सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, महावीर चरियं** आदि ग्रन्थों का भी आधार लेना पड़ा है। बुद्ध के निर्वाण-प्रसंग में **महापरिनिब्बानसुत्त** ही मूलभूत आधार रहा है। महत्त्वपूर्ण उक्तियों के मूल पाठ भी दोनों प्रसंगों के टिप्पण में दे दिये गये हैं।

महावीर

अन्तिम वर्षावास

राजगृह से विहार कर महावीर अपापा (पावापुरी[4]) आये। समवशरण लगा। भगवान् ने अपनी देशना में बताया—

"तीर्थङ्करों की वर्तमानता में यह भारतवर्ष धन-धान्य से परिपूर्ण, गाँवों और नगरों से व्याप्त स्वर्ग-सदृश होता है। उस समय गाँव नगर जैसे, नगर देवलोक जैसे, कौटुम्बिक राजा जैसे और राजा कुबेर जैसे समृद्ध होते हैं। उस समय आचार्य इन्द्र समान, माता-पिता देव समान, सास माता समान और श्वसुर पिता समान होते हैं। जनता धर्माधर्म के विवेक से युक्त, विनीत, सत्य-सम्पन्न, देव और गुरु के प्रति समर्पित और सदाचार-युक्त होती है। विज्ञजनों का आदर होता है। कुल, शील तथा विद्या का अंकन होता है। ईति, उपद्रव आदि नहीं होते। राजा जिन-धर्मी होते हैं।

"अब जब तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि अतीत हो जायेंगे, कैवल्य और मनःपर्यव

१. Rhys Davids, *Dialogues of Buddha*, Vol. II, p. 72.
२. E. J. Thomes, *Life of Buddha*, p 156.
३. *Indian Literature*, Vol. II, p. 38-42.
४. यह कौन-सी पावा थी, कहाँ थी, आदि वर्णन के लिए देखिए—"काल-निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "महावीर का निर्वाण किस पावा में ?"

ज्ञान का भी विलोप हो जायेगा, तब भारतवर्ष की स्थिति क्रमशः प्रतिकूल ही होती जायेगी। मनुष्य में क्रोध आदि बढ़ेंगे ; विवेक घटेगा ; मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न होंगी ; स्वैराचार बढ़ेगा ; धर्म घटेगा ; अधर्म बढ़ेगा। गाँव श्मशान जैसे, नगर प्रेत-लोक जैसे, सज्जन दास जैसे व दुर्जन राजा जैसे होने लगेंगे। मत्स्य-न्याय से सबल दुर्बल को सताता रहेगा। भारतवर्ष बिना पतवार की नाव के समान डाँवाडोल स्थिति में होगा। चोर अधिक चोरी करेंगे, राजा अधिक कर लेगा व न्यायाधीश अधिक रिश्वत लेंगे। मनुष्य धन-धान्य में अधिक आसक्त होगा।

"गुरुकुलवास की मर्यादा मिट जायेगी। गुरु शिष्य को शास्त्र-ज्ञान नहीं देंगे। शिष्य गुरुजनों की सेवा नहीं करेंगे। पृथ्वी पर क्षुद्र जीव-जन्तुओं का विस्तार होगा। देवता पृथ्वी से अगोचर होते जायेंगे। पुत्र माता-पिता की सेवा नहीं करेंगे ; कुल-वधुएँ आचार-हीन होंगी। दान, शील, तप और भावना की हानि होगी। भिक्षु-भिक्षुणियों में पारस्पकि कलह होंगे। झूठे तौल-माप का प्रचलन होगा। मंत्र, तंत्र, औषधि, मणि, पुष्प, फल, रस, रूप, आयुष्य, ऋद्धि, आकृति, ऊँचाई ; इन सब उत्तम बातों में ह्रास होगा।

"आगे चल कर दुःषम-दुषमा नामक छठे आरे में तो इन सब की अत्यन्त हानि होगी। पंचम दुःषमा आरे के अन्त में दुःप्रसह नामक आचार्य होंगे, फल्गुश्री साध्वी होगी, नागिल श्रावक होगा, सत्यश्री श्राविका होगी। इन चार मनुष्यों का ही चतुर्विध संघ होगा। विमलवाहन और सुमुख नामक क्रमशः राजा और मंत्री होंगे। उस समय मनुष्य का शरीर दो हाथ परिमाण और आयुष्य बीस वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन प्रातःकाल चारित्र-धर्म, मध्याह्न राज-धर्म और अपराह्न में अग्नि का विच्छेद होगा।

"२१००० वर्ष के पंचम दुःषम आरे के व्यतीत होने पर इतने ही वर्षों का छठा दुःषम-दुःषमा आरा आयेगा। धर्म, समाज, राज-व्यवस्था आदि समाप्त हो जायेंगे। पिता-पुत्र के व्यवहार भी लुप्त-प्रायः होंगे। इस काल के आरम्भ में प्रचण्ड वायु चलेगी तथा प्रलयकारी मेघ[1] बरसेंगे। इससे मानव और पशु बीज-मात्र ही शेष रह जायेंगे। वे गंगा और सिंधु[2] के तट-विवरों में निवास करेंगे। माँस और मछलियों के आधार पर वे अपना जीवन-निर्वाह करेंगे।

"इस छठे आरे के पश्चात् उत्सर्पिणी काल-चक्रार्ध का प्रथम आरा आयेगा। यह ठीक वैसा ही होगा, जैसा अवसर्पिणी काल-चक्रार्ध का छठा आरा था। इसका दूसरा आरा

---

१. भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देशक ६ में इन मेघों को अरसमेघ, विरसमेघ, क्षारमेघ, खट्टमेघ, अग्निमेघ, विज्जुमेघ, विषमेघ, अशनिमेघ आदि नामों से बताया है।

२. उस समय गंगा और सिंधु का प्रवाह रथ-मार्ग जितना ही विस्तृत रह जायेगा।

—भगवती सूत्र, शतक ७, उद्देश० ६।

उसके पंचम आरे के समान होगा। इसमें शुभ का प्रारम्भ होगा। इसके आरम्भ में पुष्कर संवर्तक-मेघ बरसेगा, जिससे भूमि की ऊष्मा दूर होगी। फिर क्षीर-मेघ बरसेगा, जिससे धान्य का उद्भव होगा। तीसरा घृत-मेघ बरसेगा, जो पदार्थों में स्निग्धता पैदा करेगा। चौथा अमृत-मेघ बरसेगा, इससे नाना गुणोपेत औषधियाँ उत्पन्न होंगी। पाँचवाँ रस-मेघ बरसेगा, जिससे पृथ्वी में सरसता बढ़ेगी। ये पाँचों ही मेघ सात-सात दिन तक निरन्तर बरसने वाले होंगे।[1]

"वातावरण फिर अनुकूल बनेगा। मनुष्य उन तट-विवरों से निकल कर मैदानों में बसने लगेंगे। क्रमशः उनमें रूप, बुद्धि, आयुष्य आदि की वृद्धि होगी। दुःषम-सुषमा नामक तृतीय आरे में ग्राम, नगर आदि की रचना होगी। एक-एक कर तीर्थङ्कर होने लगेंगे। इस उत्सर्पिणी-काल के चौथे आरे में यौगलिक-धर्म का उदय हो जायेगा। मनुष्य युगल रूप में पैदा होंगे, युगल रूप में मरेंगे। उनके बड़े-बड़े शरीर और बड़े-बड़े आयुष्य होंगे। कल्पवृक्ष उनकी आशापूर्ति करेंगे। आयुष्य और अवगाहना से बढ़ता हुआ पाँचवाँ और छठा आरा आयेगा। इस प्रकार यह उत्सर्पिणी-काल समाप्त होगा। एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणी काल का एक काल-चक्र होगा। ऐसे काल-चक्र अतीत में होते रहे हैं और अनागत में होते रहेंगे। जो मनुष्य धर्म की वास्तविक आराधना करते हैं, वे इस काल-चक्र को तोड़ कर मोक्ष प्राप्त करते हैं, आत्म-स्वरूप में लीन होते हैं।"[2]

भगवान् महावीर ने अपना यह अन्तिम वर्षावास भी पावापुरी में ही किया। वहाँ हस्तिपाल नामक राजा था। उसकी रज्जुक सभा[3] (लेखशाला) में वे स्थिरवास से रहे। कार्तिक अमावस्या का दिन निकट आया। अन्तिम देशना के लिए अन्तिम समवशरण की रचना हुई। शक्र ने खड़े होकर भगवान् की स्तुति की। तदनन्तर राजा हस्तिपाल ने खड़े होकर स्तुति की।

अन्तिम देशना व निर्वाण

भगवान् ने अपनी अन्तिम देशना प्रारम्भ की। उस देशना में ५५ अध्ययन पुण्य-फल विपाक के और ५५ अध्ययन पाप-फल विपाक के कहे[4]; वर्तमान में जो सुख-विपाक और

---

१. क्रमशः दो मेघों के बाद सात दिनों का 'उघाड़' होगा। इस प्रकार तीसरे और चौथे मेघ के पश्चात् फिर सात दिनों का 'उघाड़' होगा। कुल मिला कर पाँचों मेघों का यह ४९ दिनों का क्रम होगा। —जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सू ., वक्ष २, काल अधिकार।

२. नेमिचन्द्र सूरि कृत महावीर चरियं के आधार से।

३. इसका अर्थ शुल्क-शाला भी किया जाता है।

४. समवायांग सूत्र, सम० ५५; कल्पसूत्र, सू० १४७।

पुण्य-विपाक नाम से आगम रूप हैं। ३६ अध्ययन अपृष्ट व्याकरण के कहे[1], जो वर्तमान में 'उत्तराध्ययन' आगम कहा जाता है। प्रधान नामक मरुदेवी माता का अध्ययन कहते-कहते भगवान् पर्यङ्कासन (पद्मासन) में स्थिर हुए।[2] तब भगवान् ने क्रमशः बादर काय-योग में स्थित रह, बादर मनो-योग और वचन-योग को रोका। सूक्ष्म काय-योग में स्थित रह बादर काय-योग को रोका ; वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। इस प्रकार शुक्ल-ध्यान का "सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति" नामक तृतीय चरण प्राप्त किया। तदनन्तर सूक्ष्म काय-योग को रोक कर "समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति" नामक शुक्ल-ध्यान का चतुर्थ चरण प्राप्त किया। फिर अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण-काल जितनी शैलेशी-अवस्था को पार कर और चतुर्विध अघाती कर्म-दल का क्षय कर भगवान् महावीर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।[3]

वह वर्षाऋतु का चतुर्थ मास था, कृष्ण पक्ष था, पन्द्रहवाँ दिवस था, पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी। एक युग के पाँच संवत्सर होते हैं, 'चन्द्र' नामक वह दूसरा संवत्सर था। एक वर्ष के बारह मास होते हैं, उनमें वह 'प्रीतिवर्द्धन' नाम का चौथा मास था। एक मास में दो पक्ष होते हैं, वह 'नन्दीवर्धन' नाम का पक्ष था। एक पक्ष में पन्द्रह दिन होते हैं, उनमें 'अग्निवेश्य' नामक वह पन्द्रहवाँ दिन था, जो 'उपशम' नाम से भी कहा जाता है। पक्ष में पन्द्रह रातें होती हैं, वह 'देवानन्दा' नामक पन्द्रहवीं रात थी, जो 'निरति' नाम से भी कही जाती है। उस समय अर्च नाम का लव था, मुहूर्त नाम का प्राण था, सिद्ध नाम का स्तोक था[4], नाग नाम का करण था।[5] एक अहोरात्र में तीस मुहूर्त होते हैं, वह

---

१. कल्पसूत्र, सू० १४७ ; उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २८३। उत्तराध्ययन के अन्तिम अध्ययन की अन्तिम गाथा भी इस बात को स्पष्ट करती है—

इइ पाउकरे बुद्धे, नायए परिनिव्वुए।
छत्तीसं उत्तरज्झाए, भवसिद्धीयसम्मए॥

यह विशेष उल्लेखनीय है कि यहाँ महावीर को 'बुद्ध' भी कहा गया है।

२. संपलियंकनिसण्णे—सम्यक् पद्मासनेनोपविष्टः। —कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र १२३।

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं ... बावत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जाउयनामगोत्ते, इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए समाए बहुवीइक्कंताए, तिहिं वासेहिं अद्धनवमेहि य मासेहिं सेसएहिं पावाए मज्झिमाए हत्थिपालगस्स रज्जो रज्जुयसभाए एगे अबीए छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं, साइणा नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पच्चूसकालसमयंसि, संपलियंकनिसन्ने, पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं पणपन्नं अज्झयणाइं पावफलविवागाइं छत्तीसं च अपुट्ठ-वागरणाइं वागरित्ता पधाणं नाम अज्झयणं विभावेमाणे विभावेमाणे कालगए वितिक्कंते समुज्जाए छिन्न-जाइ-जरा-मरण-बंधणे सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतकडे परिनिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।
—कल्पसूत्र, सू० १४७।

४. ७ प्राण = १ स्तोक
७ स्तोक = १ लव
७७ लव = १ मुहूर्त। —भगवती सू०, शतक ६, उद्दे० ७।

५. शकुन्यादिकरणचतुष्के तृतीयमिदं। अमावास्योत्तरार्द्धेऽवश्यं भवत्येतद्।
—कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११२।

सर्वार्थसिद्धि नामक उनतीसवाँ मुहूर्त[1] था। उस समय स्वाति नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था।

प्रश्न चर्चाएँ

भगवान् महावीर की यह अन्तिम देशना सोलह प्रहर की थी।[2] भगवान् छट्ठ-भक्त से उपोसित थे।[3] देशना के अन्तर्गत अनेक प्रश्न-चर्चाएँ हुईं। राजा पुण्यपाल ने अपने ८ स्वप्नों का फल पूछा। उत्तर सुन कर संसार से विरक्त हुआ और दीक्षित हुआ।[4] हस्तिपाल राजा भी प्रतिबोध पा कर दीक्षित हुआ।

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—"भगवन् ! आपके परिनिर्वाण के पश्चात् पाँचवाँ आरा कब लगेगा ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"तीन वर्ष साढ़े आठ मास बीतने पर।" गौतम के प्रश्न पर आगामी उत्सर्पिणी-काल में होने वाले तीर्थङ्कर, वासुदेव, बलदेव, कुलकर आदि का भी नाम-ग्राह परिचय भगवान् ने दिया।

गणधर सुधर्मा ने पूछा—"भगवन् ! कैवल्य-रूप सूर्य कब तक अस्तगत होगा ?" भगवान् ने कहा—"मेरे से बारह वर्ष पश्चात् गौतम सिद्ध-गति को प्राप्त होगा, मेरे से बीस वर्ष पश्चात् तुम सिद्ध-गति प्राप्त करोगे, मेरे से चौसठ वर्ष पश्चात् तुम्हारा शिष्य जम्बू अनगार सिद्ध-गति को प्राप्त करेगा। वही अन्तिम केवली होगा। जम्बू के पश्चात् क्रमशः प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, संभूतिविजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र, चतुर्दश पूर्वधर होंगे। इनमें से शय्यम्भव पूर्व-ज्ञान के आधार पर दशवैकालिक आगम की रचना करेगा।"[5]

शक्र द्वारा आयु-वृद्धि की प्रार्थना

जब महावीर के परिनिर्वाण का अन्तिम समय निकट आया, इन्द्र का आसन प्रकम्पित हुआ। देवों के परिवार से वह वहाँ आया। उसने अश्रुपूरित नेत्रों से महावीर को निवेदन किया—"भगवन् ! आपके गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान में हस्तोत्तरा नक्षत्र था। इस

---

१. संवत्सर, मास, पक्ष, दिन, रात्रि, मुहूर्त इनके समग्र नामों के लिए देखिए—कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११३। टीकाकार ने इन समग्र नामों को 'जैन-शैली' कह कर अभिहित किया है।

२. (क) षोडश प्रहरान् यावद् देशनां दत्तवान्।

—सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, पत्र १००।

(ख) सोलस प्रहराइ देसणं करेइ।

—विविधतीर्थकल्प, पृ० ३६।

३. कल्पसूत्र, सू० १४७ ; नेमिचन्द्र कृत महावीर चरित्र, पत्र ९९।

४. सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व, कथा संग्रह, पत्र १००-१०२।

५. सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व, कथा संग्रह, पत्र १०६। इस ग्रन्थ के रचयिता ने महावीर की इस भविष्यवाणी को क्रमशः हेमचन्द्राचार्य तक पहुँचा दिया है।

समय उसमें भस्म-ग्रह संक्रान्त होने वाला है। आपके जन्म-नक्षत्र में आकर वह ग्रह दो सहस्र वर्षों तक आपके संघीय प्रभाव के उत्तरोत्तर विकास में बहुत बाधक होगा। दो सहस्र वर्षों के पश्चात् जब वह आपके जन्म-नक्षत्र से पृथक् होगा, तब श्रमणों का, निर्ग्रन्थों का उत्तरोत्तर पूजा-सत्कार बढ़ेगा। अतः जब तक वह आपके जन्म-नक्षत्र में संक्रमण कर रहा है, तब तक आप अपने आयुष्य-बल को स्थित रखें। आपके साक्षात् प्रभाव से वह सर्वथा निष्फल हो जायेगा।" इस अनुरोध पर भगवान् ने कहा—"शक्र ! आयुष्य कभी बढ़ाया नहीं जा सकता। ऐसा न कभी हुआ है, न कभी होगा। दुःषमा-काल के प्रभाव से मेरे शासन में बाधा तो होगी ही।"[1]

गौतम को कैवल्य

उसी दिन भगवान् महावीर ने अपने प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया। अपने चिर अन्तेवासी शिष्य को दूर भेजने का कारण यह था कि मृत्यु के समय वह अधिक स्नेह-विह्वल न हो। इन्द्रभूति ने देवशर्मा को प्रतिबोध दिया। उन्हें भगवान् के परिनिर्वाण का सम्वाद मिला। इन्द्रभूति के श्रद्धा-विभोर हृदय पर वज्राघात-सा लगा। अपने आप बोलने लगे-"भगवन् ! यह क्या किया ? इस अवसर पर मुझे दूर किया ! क्या मैं बालक की तरह आपका अंचल पकड़ कर आपको मोक्ष जाने से रोकता ? क्या मेरे स्नेह को आपने कृत्रिम माना ? मैं साथ हो जाता, तो क्या सिद्ध-शिला पर संकीर्णता हो जाती ? क्या मैं आपके लिए भार हो जाता ? मैं अब किसके चरण-कमलों में प्रणाम करूँगा ? किससे अपने जगत् और मोक्षविषयक प्रश्न करूँगा ? किसे मैं 'भदन्त' कहूँगा ? मुझे अब कौन 'गौतम ! गौतम !' कहेगा ?"

इस भाव-विह्वलता में बहते-बहते इन्द्रभूति ने अपने-आपको सम्भाला। सोचने लगे—"अरे ! यह मेरा कैसा मोह ? वीतरागों के स्नेह कैसा ? यह सब मेरा एक-पाक्षिक मोह-मात्र है। बस ! अब मैं इसे छोड़ता हूँ। मैं तो स्वयं एक हूँ। न मैं किसी का हूँ। न मेरा यहाँ कुछ भी है। राग और द्वेष विकार-मात्र हैं। समता ही आत्मा का आलम्बन है।" इस प्रकार आत्म-रमण करते हुए इन्द्रभूति ने तत्काल कैवल्य प्राप्त किया।[2]

---

१. जिनेश ! तव जन्मर्क्षं गन्ता भस्मकदुर्ग्रहः।
बाधिष्यते स वर्षाणां, सहस्रो द्वे तु शासनम्॥
तस्य सङ्क्रामणं यावद्विलम्बस्व ततः प्रभो।
भवत्प्रभावप्रभावेण स यथा विफलो भवेत्॥
स्वाम्यचे शक्र ! केनाऽपि नायुः सन्धीयते क्वचित्।
दुःषमाभावतो बाधा, भाविनी मम शासने॥

—कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी पत्र, १२१।

२. कल्पसूत्र, कल्पार्थबोधिनी, पत्र ११४।

जिस रात को भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हुआ, उस रात को नौ मल्लकी, नौ लिच्छवी ; अठारह काशी-कोशल के गणराजा पौषध-व्रत में थे ।[1]

निर्वाण-कल्याणक

भगवान् की अन्त्येष्टि के लिए सुरों के, असुरों के सभी इन्द्र अपने-अपने परिवार से वहाँ पहुँचे । सबकी आँखों में आँसू थे । उनको लगता था—हम अनाथ हो गये हैं । शक्र के आदेश से देवता नन्दन-वन आदि से गोशीर्ष चन्दन लाये । क्षीर-सागर से जल लाये । इन्द्र ने भगवान् के शरीर को क्षीरोदक से स्नान कराया, विलेपन आदि किये, दिव्य वस्त्र ओढ़ाये । तदनन्तर भगवान् के शरीर को दिव्य शिविका में रखा ।

इन्द्रों ने वह शिविका उठाई । देवों ने जय-जय ध्वनि के साथ पुष्प-वृष्टि की । मार्ग में कुछ देवांगनाएँ और देव नृत्य करते चलते थे, कुछ देव मणिरत्न आदि से भगवान् की अर्चा कर रहे थे । श्रावक-श्राविकाएँ भी शोक-विह्वल होकर साथ-साथ चल रहे थे । यथास्थान पहुँच कर शिविका नीचे रखी गई । भगवान् के शरीर को गोशीर्ष चन्दन की चिता पर रखा गया । अग्निकुमार देवों ने अग्नि प्रकट की । वायुकुमार देवों ने वायु प्रचालित की । अन्य देवों ने घृत और मधु के घट चिता पर उड़ेले । जब प्रभु का शरीर भस्मसात् हो गया, तो मेघकुमार देवों ने क्षीर-सागर के जल से चिता शान्त की । शक्रेन्द्र तथा ईशानेन्द्र ने ऊपर की दाईं और बाईं दाढ़ों का संग्रह किया । चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने नीचे की दाढ़ों का संग्रह किया । अन्य देवों ने अन्य दाँत और अस्थि खण्डों का संग्रह किया । मनुष्यों ने भस्म लेकर सन्तोष माना । अन्त में चिता-स्थान पर देवताओं ने रत्नमय स्तूप की संघटना की ।[2]

दीपमालोत्सव

जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, देव और देवियों के गमनागमन से भू-मण्डल आलोकित हुआ ।[3] मनुष्यों ने भी दीप संजोये । इस प्रकार दीप-माला पर्व का प्रचलन हुआ ।[4]

जिस रात को भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, उस रात को सूक्ष्म कुंथु जाति का उद्भव हुआ । यह इस बात का संकेत था कि भविष्य में सूक्ष्म जीव-जन्तु बढ़ते जायेंगे और संयम दुराराध्य होता जायेगा । अनेक भिक्षु-भिक्षुणियों ने इस स्थिति को समझ कर उस समय आमरण अनशन किया ।[5]

---

१. जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, तं रयणिं च णं नव मल्लई नव लिच्छई कासी-कोसलगा अट्ठारस-वि गणरायाणो अमावासाए पाराभोयं पोसहोववासं पट्ठवइंसु । —कल्पसूत्र, सू० १३२ ।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग १३ के आधार से ।

३. कल्पसूत्र, सू० १३०-१३१ ।

४. सौभाग्यपञ्चम्यादि पर्व कथा संग्रह, पत्र १००-११० ।

५. कल्पसूत्र, सू० १३६-३७ ।

बुद्ध

अन्तिम वर्षावास

बुद्ध राजगृह से वैशाली आये। वहाँ कुछ दिन रहे। वर्षावास के लिए समीपस्थ वेलुव-ग्राम (वेणु-ग्राम) में आये। अन्य भिक्षुओं को कहा—"तुम वैशाली के चारों ओर मित्र, परिचित आदि देख कर वर्षावास करो।" यह बुद्ध का अन्तिम वर्षावास था।

वर्षावास में मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ। बुद्ध ने सोचा मेरे लिए यह उचित नहीं कि मैं उपस्थाकों और भिक्षु-संघ को बिना जतलाये ही परिनिर्वाण प्राप्त करूँ। यह सोच उन्होंने जीवन-संस्कार को दृढ़तापूर्वक धारण किया। रोग शान्त हो गया। शास्ता को निरोग देख कर आनन्द ने प्रसन्नता व्यक्त की और कहा—"भन्ते ! आपकी अस्वस्थता से मेरा शरीर शून्य हो गया था। मुझे दिशाएँ भी नहीं दिख रही थीं। मुझे धर्म का भी भान नहीं होता था।" बुद्ध ने कहा—"आनन्द ! मैं जीर्ण, वृद्ध, महल्लक, अध्वगत, वयःप्राप्त हूँ। अस्सी वर्ष की मेरी अवस्था है। जैसे पुराने शकट को बाँध-बूँध कर चलाना पड़ता है, वैसे ही मैं अपने-आपको चला रहा हूँ। मैं अब अधिक दिन कैसे चलूँगा ? इसलिए आनन्द ! आत्म-दीप, आत्मशरण, अनन्यशरण ; धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्यशरण होकर विहार करो।"[1]

आनन्द की भूल

एक दिन भगवान् चापाल-चैत्य में विश्राम कर रहे थे। आयुष्मान् आनन्द उनके पास बैठे थे। आनन्द से भगवान् ने कहा—"आनन्द ! मैंने चार ऋद्धिपाद साधे हैं। यदि चाहूँ तो मैं कल्प-भर ठहर सकता हूँ।" इतने स्थूल संकेत पर भी आनन्द न समझ सके। उन्होंने प्रार्थना नहीं की—"भगवन् ! बहुत लोगों के हित के लिए, बहुत लोगों के सुख के लिए आप कल्प-भर ठहरें।" दूसरी बार और तीसरी बार भी भगवान् ने ऐसा कहा, पर आनन्द नहीं समझे। मार ने उनके मन को प्रभावित कर रखा था। अन्त में भगवान् ने बात को तोड़ते हुए कहा—"जाओ आनन्द ! जिसका तुम काल समझते हो !"

मार द्वारा निवेदन

आनन्द के पृथक् होते ही पापी मार भगवान् के पास आया और बोला—"भन्ते ! आप यह बात कह चुके हैं—'मैं तब तक परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं करूँगा, जब तक मेरे भिक्षु, भिक्षुणियाँ, उपासक, उपासिकाएँ आदि सम्यक् प्रकार से धर्मज्ञ, धर्म-कथिक और आक्षेप-निवारक नहीं हो जायेंगे तथा यह ब्रह्मचर्य (बुद्ध-धर्म) सम्यक् प्रकार से ऋद्ध, स्फीत व बहुजन-गृहीत नहीं हो जायेगा।' भन्ते ! अब यह सब हो चुका है। आप शीघ्र निर्वाण को प्राप्त

---

१. अत्तदीपा विहरथ, अत्तसरणा, अनञ्ञसरणा, धम्मदीपा, धम्मसरणा, अनञ्ञसरणा।

करें।" भगवान् ने उत्तर दिया—"पापी! निश्चिन्त हो। आज से तीन मास पश्चात् मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा।"

भूकम्प

तब बुद्ध ने चापाल-चैत्य में स्मृति-संप्रजन्य के साथ आयु-संस्कार को छोड़ दिया। उस समय भयंकर भूकम्प हुआ। देव-दुन्दुभियाँ बजीं। आनन्द भगवान् के पास आये और बोले—"आश्चर्य भन्ते! अद्‌भुत भन्ते! इस महान् भूचाल का क्या हेतु है? क्या प्रत्यय है?" भगवान् ने कहा—"भूकम्प के आठ हेतु होते हैं। उनमें से एक हेतु तथागत के द्वारा जीवन-शक्ति का छोड़ा जाना है। उसी जीवन-शक्ति का विसर्जन मैंने अभी-अभी चापाल-चैत्य में किया है। यही कारण है, भूकम्प आया, देव-दुन्दुभियाँ बजीं।"

यह सब सुनते ही आनन्द को समझ आई; कहा—"भन्ते! बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय आप कल्प-भर ठहरें।" बुद्ध ने कहा—"अब मत तथागत से प्रार्थना करो। अब प्रार्थना करने का समय नहीं रहा।" आनन्द ने क्रमशः तीन बार अपनी प्रार्थना को दुहराया। बुद्ध ने कहा—"क्यों तथागत को विवश करते हो? रहने दो इस बात को। आनन्द मैं कल्प-भर नहीं ठहरता; इसमें तुम्हारा ही दोष है। मैंने अनेक बार तथागत की क्षमता का उल्लेख तुम्हारे सामने किया। पर तुम मूक ही बने रहे।"

वहाँ से उठ कर भगवान् महावन-कूटागार शाला में आये। वहाँ आकर आनन्द को आदेश दिया—"वैशाली के पास जितने भिक्षु विहार करते हैं, उन्हें उपस्थान-शाला में एकत्रित करो।" भिक्षु एकत्रित हुए। बुद्ध ने कहा—"हन्त भिक्षुओ! तुम्हें कहता हूँ, संस्कार (कृत-वस्तु) नाशमान् है। प्रमाद-रहित हो, आदेय का सम्पादन करो। अचिर-काल में ही तथागत का परिनिर्वाण होगा, आज से तीन मास पश्चात्।"

अन्तिम यात्रा

तब भगवान् वैशाली से कुसिनारा की ओर चले। भोगनगर के आनन्द-चैत्य में बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओ! कोई भिक्षु यह कहे—'आवुसो! मैंने इसे भगवान् के मुख से सुना; यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का उपदेश है।' भिक्षुओ! उस कथन का पहले न अभिनन्दन करना, न निन्दा करना। उस कथन की सूत्र और विनय में गवेषणा करना। वहाँ वह न हो, तो समझना यह इस भिक्षु का ही दुर्गृहीत है। सूत्र और विनय में वह कथन मिले, तो समझना अवश्य यह तथागत का वचन है।"

भगवान् विहार करते क्रमशः पावा पहुँचे। चुन्द कर्मार-पुत्र के आम्र-वन में ठहरे। चुन्द कर्मार-पुत्र ने भिक्षु-संघ-सहित बुद्ध को अपने यहाँ भोजन के लिए आमंत्रित किया।

पहली रात को भोजन की विशेष तैयारियाँ कीं। बहुत सारा 'सूकर-मद्दव'[1] तैयार किया। यथासमय भगवान् पात्र-चीवर ले चुन्द कर्मार-पुत्र के घर आये और भोजन किया। भोजन करते भगवान् ने चुन्द को कहा—"अन्य भिक्षुओं को मत दो यह सूकर-मद्दव। ये इसे नहीं पचा सकेंगे।" भोजन के उपरान्त भगवान् को असीम वेदना हुई। विरेचन पर विरेचन होने लगा और वह भी रक्तमय।

इतना होने पर भी भगवान् पावा से कुसिनारा की ओर चल पड़े। क्लान्त हो रास्ते में बैठे। आनन्द से कहा—"निकट की नदी से पानी लाओ। मुझे बहुत प्यास लगी है।" आनन्द ने कहा—"भगवन्! अभी-अभी ५०० गाड़े इस निकट की नदी से निकले हैं। यह छोटी नदी है। सारा पानी मट-मैला हो रहा है। कुछ ही आगे ककुत्था नदी है, वह स्वच्छ और रमणीय है। वहाँ पहुँच कर भगवान् पानी पीयें।" भगवान् ने दूसरी बार और तीसरी बार वैसे ही कहा, तो आनन्द उठ कर गए। देखा, पानी अत्यन्त स्वच्छ और शान्त है। आनन्द भगवान् के इस ऋद्धि-बल से आनन्द-विभोर हुए। पात्र में पानी ला भगवान् को पिलाया।

आलार-कालाम के शिष्य से भेंट

भगवान् के वहाँ बैठे आलार-कालाम का शिष्य पुक्कुस मल्ल-पुत्र मार्ग चलते आया। एक ओर बैठ कर बोला—"भन्ते! प्रव्रजित लोग शान्ततर विहार से विहरते हैं। एक बार आलार-कालाम मार्ग के समीपस्थ वृक्ष की छाया में विहार करते थे। ५०० गाड़ियाँ उनके पीछे से गईं। कुछ देर पश्चात् उसी सार्थ का एक आदमी आया। उसने आलार-कालाम से पूछा—

"भन्ते! गाड़ियों को जाते देखा?"

"नहीं आवुस!"

"भन्ते! शब्द सुना?"

"नहीं आवुस!"

"भन्ते! सो गये थे?"

"नहीं आवुस।"

---

१. बुद्धघोष ने (उदान-अट्ठकथा, ८।५) 'सूकर-मद्दव' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—"नातितरूणस्स नातिजिण्णस्स एक जेट्ठकसूकरस्स पवत्तमंसं अर्थात् 'न अति तरुण, न अति वृद्ध एक (वर्ष) ज्येष्ठ सूअर का बना मांस।' 'सूकर-मद्दव' के अन्य अमांसपरक अर्थ भी किये जाते हैं, पर मांसपरक अर्थ में भी कोई विरोधाभास नहीं लगता। अन्य किसी प्रसंग पर उग्ग गृहपति के अनुरोध पर बुद्ध ने सूकर का मांस ग्रहण किया, ऐसा अगुत्तर-निकाय (पञ्चक निपात) में उल्लेख है।

"भन्ते ! आपकी संघाटी पर गर्द पड़ी है ?"

"हाँ, आवुस ।"

तब उस पुरुष को हुआ—"आश्चर्य है ! अद्‌भुत है ! प्रव्रजित लोग आत्मस्थ होकर कितने शान्त विहार से विहरते हैं !"

भगवान् ने कहा—"पुक्कुस ! एक बार मैं आतुमा के भू सागर में विहार करता था । उस समय जोरों से पानी बरसा । बिजली कड़की । उसके गिरने से दो किसान और चार बैल मरे । उस समय एक आदमी मेरे पास आया और बोला—"भन्ते ! मेघ बरसा, बिजली कड़की, किसान और बैल मरे । आपको मालूम पड़ा, भन्ते ?"

"नहीं, आवुस !"

"आप कहाँ थे ?"

"यहीं था ।"

"बिजली कड़कने का शब्द सुना, भन्ते ?"

"नहीं, आवुस !"

"क्या आप सोये थे ?"

"नहीं, आवुस !"

"आप सचेतन थे ?"

"हाँ, आवुस !"

"पुक्कुस ! तब उस आदमी को हुआ—'आश्चर्य है, अद्‌भुत है, यह शान्त विहार !'

पुक्कुस मल्ल-पुत्र यह बात सुन कर बहुत प्रभावित हुआ और बोला—"भन्ते ! यह बात तो पाँच सौ गाड़ियाँ, हजार गाड़ियाँ और पाँच हजार गाड़ियाँ निकल जाने से भी बड़ी है । आलार-कालाम में मेरी जो श्रद्धा थी, उसे आज मैं हवा में उड़ा देता हूँ, शीघ्र धार वाली नदी में बहा देता हूँ । आज से मुझे शरणागत उपासक धारण करें ।" तब पुक्कुस ने चाकचिक्य पूर्ण दो सुनहरे शाल भगवान् को भेंट किए ; एक भगवान् के लिए और एक आनन्द के लिए ।

पुक्कुस मल्ल-पुत्र चला गया । आनन्द ने अपना शाल भी भगवान् को ओढ़ा दिया । भगवान् के शरीर से ज्योति उद्‌भूत हुई । शालों का चाकचिक्य मन्द हो गया । आनन्द के पूछने पर भगवान् ने कहा—"तथागत की ऐसी वर्ण-शुद्धि बोधि-लाभ और निर्वाण—इन दो अवसरों पर होती है । आज रात के अन्तिम प्रहर में कुसिनारा के मल्लों के शाल-वन में शाल-वृक्षों के बीच तथागत का परिनिर्वाण होगा ।"

ककुत्था नदी पर

भगवान् भिक्षु-संघ सहित ककुत्था नदी पर आये। स्नान किया। नदी को पार कर तटवर्ती आम्रवन में पहुँचे। विश्राम करते भगवान् ने कहा—"आनन्द ! चुन्द कर्मारपुत्र को कोई कहे—'आवुस चुन्द ! अलाभ है तुझे, दुर्लभ है तुझे ; तथागत तेरे पिण्डपात को खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए' ; तो तू चुन्द के इस अपवाद को दूर करना। उसे कहना—'आवुस चुन्द ! लाभ है तुझे, सुलाभ है तुझे, तथागत तेरे पिण्डपात को खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए' और उसे बताना—'दो पिण्डपात समान फल वाले होते हैं ; जिस पिण्डपात को खाकर तथागत अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं तथा जिस पिण्डपात को खाकर तथागत निर्वाण-धर्म को प्राप्त करते हैं।"

कुसिनारा में

ककुत्था के आम्र-वन से विहार कर भगवान् कुसिनारा की ओर चले। हिरण्यवती नदी को पार कर कुसिनारा में जहाँ मल्लों का "उपवत्तन" शाल-वन है, वहाँ आये। जुड़वें शाल-वृक्षों के बीच भगवान् मंचक (चारपाई) पर लेटे। उनका सिरहाना उत्तर की ओर था।

उस समय आयुष्मान् उपवान भगवान् पर पंखा हिलाते भगवान् के सामने खड़े थे। भगवान् ने अकस्मात् कहा— "हट जाओ, भिक्षु ! मेरे सामने से हट जाओ।" आनन्द ने तत्काल पूछा—"ऐसा क्यों भगवन ?" भगवान् ने कहा—"आनन्द ! दशों लोकों के देवता तथागत के दर्शन के लिए एकत्रित हुए हैं। इस शाल-वन के चारों ओर बारह योजन तक बाल की नोंक गड़ाने-भर के लिए भी स्थान खाली नहीं है। देवता खिन्न हो रहे हैं कि यह पंखा झलने वाला भिक्षु हमारे अन्तराय भूत हो रहा है।" आनन्द ने कहा—"देवता आपको किस स्थिति में दिखलाई दे रहे हैं ?"

"आनन्द ! कुछ बाल खोल कर रो रहे हैं, कुछ हाथ पकड़ कर चिल्ला रहे हैं, कुछ कटे वृक्ष की भाँति भूमि पर गिर रहे हैं। वे विलापात कर रहे हैं—'बहुत शीघ्र सुगत निर्वाण को प्राप्त हो रहे हैं, बहुत शीघ्र चक्षुष्मान् लोक से अन्तर्धान हो रहे हैं'।"

आनन्द के प्रश्न

आनन्द ने पूछा—"भगवन् ! अब तक अनेक दिशाओं में वर्षावास कर भिक्षु आपके दर्शनार्थ आते थे। उनका सत्संग हमें मिलता था। भगवन् ! भविष्य में हम किसका सत्संग करेंगे, किसके दर्शन करेंगे ?"

"आनन्द ! भविष्य में चार स्थान संवेजनीय (वैराग्यप्रद) होंगे—

(१) जहाँ तथागत उत्पन्न हुए (लुम्बिनी)।

(२) जहाँ तथागत ने सम्बोधि-लाभ किया (बोधिगया)।

(३) जहाँ तथागत ने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया (सारनाथ)।

(४) जहाँ तथागत ने निर्वाण प्राप्त किया (कुसिनारा)।

"भन्ते! स्त्रियों के साथ कैसा व्यवहार हो?"

"अदर्शन।"

"दर्शन होने पर, भगवन्!"

"अनालाप।"

"आलाप आवश्यक हो, वहाँ भन्ते!"

"स्मृति को संभाल कर अर्थात् सजग होकर आलाप करें।"

"भन्ते! तथागत के शरीर की अन्त्येष्टि कैसे होगी?"

"जैसे चक्रवर्ती के शरीर की अन्त्येष्टि होती है।"

"वह कैसे होती है, भगवन्!"

"आनन्द! चक्रवर्ती के शरीर को नये वस्त्र से लपेटते हैं। फिर रूई में लपेटते हैं। फिर नये वस्त्र से लपेटते हैं। फिर तेल की लोह-द्रोणी में रखते हैं। फिर सुगंधित काष्ठ की चिता बना कर चक्रवर्ती के शरीर को प्रज्वलित करते हैं। तदनन्तर चौराहे पर चक्रवर्ती का स्तूप बनाते हैं।"

आनन्द का रुदन

तब आयुष्यमान् आनन्द विहार में जाकर कपिशीर्ष (खूंटी) को पकड़ कर रोने लगे—"हाय मैं शैक्ष्य हूँ। मेरे शास्ता का परिनिर्वाण हो रहा है।" भगवान् ने भिक्षुओं से पूछा—"आनन्द कहाँ है?"

"भगवन्! वे विहार के कक्ष में रो रहे हैं।"

"उसे यहाँ लाओ।"

तब आयुष्यमान् आनन्द वहाँ आये। भगवान् ने कहा—"मत आनन्द! शोक करो, मत आनन्द! रोओ। मैंने कल ही कहा था, सभी प्रियों का वियोग अवश्यंभावी है। आनन्द! तू ने चिरकाल तक तथागत की सेवा की है। तू कृतपुण्य है। निर्वाण-साधन में लग। शीघ्र अनाश्रव हो।"

कुसिनारा ही क्यों?

आनन्द ने कहा—"भन्ते! मत इस क्षुद्र नगरक में, शाखा नगरक में, जंगली नगरक में, आप परिनिर्वाण को प्राप्त हों। अनेक महानगर है—चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी; वहाँ आप परिनिर्वाण को प्राप्त करें। वहाँ बहुत से धनिक क्षत्रिय,

धनिक ब्राह्मण, तथा अन्य बहुत से धनिक गृहपति भगवान् के भक्त हैं। वे तथागत के शरीर की पूजा करेंगे।"

"आनन्द ! मत ऐसा कहो। कुसिनारा का इतिहास बहुत बड़ा है। किसी समय यह नगर महासुदर्शन चक्रवर्ती की कुशावती नामक राजधानी था। आनन्द ! कुसिनारा में जाकर मल्लों को कह—'वाशिष्टो ! आज रात के अन्तिम प्रहर तथागत का परिनिर्वाण होगा। चलो वाशिष्टो ! चलो वाशिष्टो ! नहीं तो फिर अनुताप करोगे कि हम तथागत के बिना दर्शन के रह गए।"

आनन्द ने ऐसा ही किया। मल्ल यह संवाद पा चिन्तित व दुःखित हुए। सब के सब भगवान् के वन्दन के लिए आये। आनन्द ने समय की स्वल्पता को समझ कर एक-एक परिवार को क्रमशः भगवान् के दर्शन कराये।

इस प्रकार प्रथम याम में मल्लों का अभिवादन सम्पन्न हुआ। द्वितीय याम में सुभद्र की प्रव्रज्या सम्पन्न हुई।[1]

अन्तिम आदेश

(१) तब भगवान् ने कहा—"आनन्द ! सम्भव है, तुम्हे लगे की शास्ता चले गये, अब उनका उपदेश है, शास्ता नहीं हैं। आनन्द ! ऐसे समझना, मैंने जो धर्म कहा है, मेरे बाद वही तुम्हारा शास्ता है। मैंने जो विनय कहा है, मेरे बाद वही तुम्हारा शास्ता है।

(२) "आनन्द ! अब तक भिक्षु एक-दूसरे को 'आवुस' कह कर पुकारते रहे हैं। मेरे पश्चात् अनुदीक्षित को 'आवुस' कहा जाये और पूर्व दीक्षित को 'भन्ते' या 'आयुष्यमान्' कहा जाये।

(३) "आनन्द ! मेरे पश्चात् चाहे तो संघ छोटे और साधारण भिक्षु-नियमों को छोड़ दे।

(४) "आनन्द ! मेरे पश्चात् छन्न भिक्षु को ब्रह्म-दण्ड करना चाहिए।"

तब भगवान् ने उपस्थित भिक्षुओं से कहा—"बुद्ध, धर्म और संघ में किसी को आशंका हो, तो पूछ ले। नहीं तो फिर अनुताप होगा कि मैं पूछ न सका।" भगवान् के एक बार, दो बार और तीन बार कहने पर भी सब भिक्षु चुप रहे।

तब आनन्द ने कहा—"भगवन् ! इन पाँच सौ भिक्षुओं में कोई सन्देहशील नहीं है। सब बुद्ध, धर्म और संघ में आश्वस्त हैं।"

तब भगवान् ने कहा—"हन्त ! भिक्षुओ ! अब तुम्हें कहता हूँ। संस्कार (कृत-वस्तु)

---

१. पूरे विवरण के लिए देखिए—"काल-निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "श्री श्रीचन्द रामपुरिया" तथा "त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त" प्रकरण के अन्तर्गत २४वाँ प्रसंग।

व्ययधर्मा है। अप्रमाद से जीवन के लक्ष्य का संपादन करो। यह तथागत का अन्तिम वचन है।"[1]

निर्वाण-गमन

तब भगवान् प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठ कर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। इसी प्रकार क्रमशः तृतीय व चतुर्थ ध्यान को। तब भगवान् आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त हुए, तदनन्तर विज्ञानानन्त्यायतन को, आकिंचन्यायतन को, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को, संज्ञावेदयित-निरोध को प्राप्त हुए। आयुष्मान् आनन्द ने आयुष्मान् अनुरुद्ध से कहा—"क्या भगवान् परिनिर्वृत्त हो गये?" अनुरुद्ध ने कहा—"नहीं, आनन्द! भगवान् संज्ञावेदयित-निरोध को प्राप्त हुए हैं।" तब भगवान् संज्ञावेदयित-निरोध-समापत्ति (चारों ध्यानों के ऊपर की समाधि) से उठ कर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हुए। तब क्रमशः प्रतिलोम से पुनः सब श्रेणियों को पार कर प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। तदनन्तर क्रमशः चतुर्थ ध्यान में आये और उसे पार कर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उस समय भयंकर भूचाल आया, देव-दुन्दुभियाँ बजीं।

निर्वाण के अनन्तर सहापति ब्रह्मा ने, देवेन्द्र शक्र ने, आयुष्मान् अनुरुद्ध ने तथा आयुष्मान् आनन्द ने स्तुति-गाथाएँ कही।

उस समय अवीतराग भिक्षु क्रन्दन करने लगे, रोने लगे, कटे वृक्ष की तरह भूमि पर गिरने लगे। अनुरुद्ध ने उनका मोह-निवारण किया।

तब आयुष्मान् आनन्द कुसिनारा में गए, संस्थागार में एकत्रित मल्लों को उन्होंने कहा—"भगवान् परिनिर्वृत्त हो गये हैं, अब जिसका तुम काल समझो।" इस दुःखद संवाद से सारा कुसिनारा शोक-सन्तप्त हुआ।

तब कुसिनारा के मल्लों ने ६ दिन तक निर्वाणोत्सव मनाया। अन्त्येष्टि की तैयारियाँ कीं। सातवें दिन आठ मल्ल-प्रमुखों ने भगवान् के शरीर को उठाया। देवता और मनुष्य नृत्य करते साथ चले। जहाँ मुकुट-बन्धन नामक मल्लों का चैत्य था, वहाँ सब आये। आनन्द से मार्ग-दर्शन पाकर चक्रवर्ती की तरह भगवान् का अन्त्येष्टि-कार्य सम्पन्न करने लगे। उसी क्रम से भगवान् के शरीर को चिता पर रखा।

महाकाश्यप का आगमन

उस समय मल्लों ने चिता को प्रज्वलित करना चाहा। पर वे वैसा न कर सके। आयुष्मान् अनुरुद्ध ने इसका कारण बताया—"वाशिष्टो! तुम्हारा अभिप्राय कुछ और है और देवताओं का अभिप्राय कुछ और। देवता चाहते हैं, भगवान् की चिता तब जले, जब आयुष्मान् महाकाश्यप भगवान् का चरण-स्पर्श कर लें।"

---

१. "हन्द दानि, भिक्खवे आमन्तयामि वो—वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथा" ति।

"कहाँ हैं भन्ते ! आयुष्मान् महाकाश्यप ?"

अनुरुद्ध ने उत्तर दिया—"पाँच सौ भिक्षुओं के साथ वे पावा और कुसिनारा के बीच रास्ते में आ रहे हैं।" मल्लों ने कहा—"भन्ते ! जैसा देवताओं का अभिप्राय हो, वैसा ही हो।"

आयुष्मान् महाकाश्यप मुकुट-बन्धन चैत्य में पहुँचे। तब उन्होंने चीवर को एक कन्धे पर कर, अंजलि जोड़, तीन बार चिता की परिक्रमा की। वस्त्र हटा कर अपने सिर से चरण स्पर्श किया। सार्धवर्ती पाँच सौ भिक्षुओं ने भी वैसा ही किया। यह सब होते ही चिता स्वयं जल उठी। जैसे घी और तेल के जलने पर कुछ शेष नहीं रहता, वैसे भगवान् के शरीर में जो चर्म, मांस आदि थे, उनकी न राख बनी, न कोयला बना। केवल अस्थियाँ ही शेष रहीं। भगवान् के शरीर के दग्ध हो जाने पर आकाश में मेघ प्रादुर्भूत हुआ और उसने चिता को शान्त किया।

उस समय मल्लों ने भगवान् की अस्थियाँ अपने संस्थागार में स्थापित कीं। सुरक्षा के लिए शक्ति-पंजर[1] बनवाया। धनुष-प्राकार[2] बनवाया। अस्थियों के सम्मान में नृत्य, गीत आदि प्रारम्भ किये।

धातु-विभाजन

उस समय मगधराज अजातशत्रु ने दूत भेज कर मल्लों को कहलाया—"भगवान् क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ। भगवान् की अस्थियों का एक भाग मुझे मिले। मैं स्तूप बनवाऊँगा और पूजा करूँगा।" इसी प्रकार वैशाली के लिच्छवियों ने, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने, राम-गाम के कोलियों ने, वेठ-दीप के ब्राह्मणों ने तथा पावा के मल्लों ने भी अपने पृथक्-पृथक् अधिकार बतला कर अस्थियों की माँग की। कुसिनारा के मल्लों ने निर्णय किया—"भगवान् हमारे यहाँ परिनिर्वृत्त हुए हैं; अतः हम किसी को अस्थियों का भाग नहीं देंगे।"

द्रोण ब्राह्मण ने मल्लों से कहा—"यह निर्णय ठीक नहीं। भगवान् क्षमावादी थे, हमें भी क्षमा से काम लेना चाहिए। अस्थियों के लिए झगड़ा हो, यह ठीक नहीं। आठ स्थानों पर भगवान् की अस्थियाँ होंगी, तो आठ स्तूप होंगे और अधिक लोग बुद्ध के प्रति आस्थाशील बनेंगे।"

मल्लों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया। तदनन्तर द्रोण ब्राह्मण ने अस्थियों के आठ विभाग कर सबको एक-एक भाग दिया। जिस कुम्भ में अस्थियाँ रखी थीं, वह अपने

---

१. हाथ में भाला लिए पुरुषों का घेरा।
२. हाथ में धनुष लिए पुरुषों का घेरा।

पास रखा। पिप्पलीवन के मौर्य आये। अस्थियाँ बँट चुकी थीं, वे चिता से अंगार (कोयला) ले गये। सभी ने अपने-अपने प्राप्त अवशेषों पर स्तूप बनवाये।

भगवान् की एक दाढ़ स्वर्गलोक में पूजित है और एक गन्धारपुर में। एक कलिंग-राजा के देश में और एक को नागराज पूजते हैं। चालीस केश, रोम आदि को एक-एक करके नाना चक्रवालों में देवता ले गये।[1]

ॐ

---

१. एका हि दाण तिदिवेहि पूजिता,
एका पन गन्धारपुरे महीयति।
कालिङ्गरञ्ञो विजिते पुनेकं,
एकंपन नागराजा महेति॥...
चत्तालीस समा दन्ता, केसा लोमा च सब्बसो।
देवा हरिसं एकेकं, चक्कवालपरम्परा ति॥

: १६ :

विहार और वर्षावास

दोनों युग-पुरुष विहार और वर्षावास की दृष्टि से बहुत ही अभिन्न रहे हैं। मगध, विदेह, काशी, कोशल वत्स, अङ्ग, वज्जी, मल्ल आदि जनपद दोनों के प्रमुख विहार-क्षेत्र रहे हैं। राजगृह, मिथिला, वाराणसी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, चम्पा, वैशाली, पावा—ये नगरियाँ क्रमशः इन जनपदों की राजधानियाँ थीं और ये महावीर और बुद्ध—दोनों के ही गमनागमन के केन्द्र रही हैं। अधिकांश राजधानियों में दोनों ने वर्षावास भी किये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की काल-गणना के अनुसार राजगृह में दो वर्षावास दोनों के एक साथ होते हैं।

महावीर ने कहाँ कितने वर्षावास किये, यह ब्यौरा **कल्पसूत्र**[1] में मिलता है। वर्षावास के अतिरिक्त किन-किन ग्रामों में महावीर रहे, यह ब्यौरा आगम-ग्रन्थों में घटना-प्रसंगों के साथ प्रकीर्ण रूप से मिलता है। छद्मस्थ-अवस्था के द्वादश वर्षों का क्रमिक ब्यौरा **आवश्यक** की **निर्युक्ति**, **चूर्णि**, **भाष्य** और **टीका** में, **कल्पसूत्र** की टीका में तथा आचार्य नेमिचन्द्र, गुणचन्द्र तथा हेमचन्द्र द्वारा लिखे गए महावीर-चरित्रों में मिलता है। शेष वर्षावास और विहार का क्रमिक रूप क्या था, यह न **कल्पसूत्र** में ही मिलता है और न इतर साहित्य में। वर्तमान के कुछ विद्वानों ने महावीर के विहार और वर्षावासों को क्रमिक रूप देने का प्रयत्न किया है, जिनमें मुनि कल्याणविजयजी[2] व आचार्य विजयेन्द्र सूरि[3] के नाम उल्लेखनीय हैं।

बुद्ध के विहार और वर्षावासों का क्रमिक विवरण मूल पिटक ग्रन्थों में नहीं मिलता। **अंगुत्तर-निकाय अट्ठकथा**[4] में बोधिलाभ के उत्तरवर्ती वर्षावासों का क्रमिक सन्धान किया गया है। राइस डेविड्स[5], राहुल सांकृत्यायन[6], भरतसिंह उपाध्याय[7], प्रभृति विद्वानों ने

---

१. सू० १२२।
२. श्रमण भगवान् महावीर।
३. तीर्थङ्कर महावीर (२ भाग)।
४. २-४-५।
५. *Buddhism*।
६. बुद्धचर्या।
७. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९६१।

बुद्ध के समग्र वर्षावासों और विहारों का क्रमिक रूप प्रस्तुत किया है। अनुमान पर आधारित इस सन्धान में मतभेदों का होना तो स्वाभाविक है ही।

कुल मिला कर अभाव को सद्भाव में परिणत करने का यह आयास उपयोगी ही है। इससे दोनों युग-पुरुषों के वर्षावासों और विहारों का मोटा खाका सर्व-साधारण के सम्मुख आ ही जाता है।

यहाँ आचार्य विजयेन्द्र सूरि और राहुल सांकृत्यायन द्वारा संयोजित दोनों युग-पुरुषों के विहार और वर्षावासों का क्रमिक ब्यौरा दिया जा रहा है। वह तुलनात्मक अनुसन्धित्सा की दृष्टि से बहुत उपयोगी हो सकेगा, ऐसी आशा है।

उक्त ब्यौरे को प्रस्तुत ग्रन्थ की काल-गणना के साथ भी संगत कर दिया गया है। सुविधा और स्पष्टता के लिए प्रस्तुत तालिकाओं का एक प्रामाणिक तुलनात्मक विवरण भी बना दिया गया है, जो यहाँ दिया जा रहा है :

महावीर विहार

सन् ई० पू०	वर्ष	छद्मस्थावस्था	वर्षावास
५६९	१	कुण्डग्राम, ज्ञातखण्डवन, कर्मारग्राम, कोल्लाग सन्निवेश, मोराक सन्निवेश, दूइज्जंतग-आश्रम, अस्थिक ग्राम (वर्धमान)।	अस्थिक ग्राम (वर्धमान)
५६८	२	मोराक सन्निवेश, वाचाला, दक्षिण-वाचाला, सुवर्ण वालुका (नदी), रूप्य वालुका (नदी), कजकखल आश्रमपद, उत्तर-वाचाला, श्वेताम्बी, सुरभिपुर, गंगा नदी, थूणाक सन्निवेश, राजगृह, नालन्दा सन्निवेश।	नालन्दा सन्निवेश
५६७	३	कोल्लाग सन्निवेश, सुवर्ण खल, ब्राह्मणग्राम, चम्पानगरी।	चम्पानगरी
५६६	४	कालाय सन्निवेश, पत्त कालाय, कुमाराक सन्निवेश, चोराक सन्निवेश, पृष्ठ चम्पा।	पृष्ठ चम्पा
५६५	५	कयंगला सन्निवेश, श्रावस्ती, हलिद्दुयं, जंगला, आवत्ता, चोराय सन्निवेश, कलंकबुका सन्निवेश, राढ देश (अनार्य भूमि), पूर्णकलश (अनार्य गाँव), मलय प्रदेश, भद्दिया।	भद्दिया नगरी
५६४	६	कयली समागम, जम्बूसंड, तंबाय सन्निवेश, कूपिय सन्निवेश, वैशाली, ग्रामाक सन्निवेश, शालीशीर्ष, भद्दिया।	भद्दिया नगरी
५६३	७	मगध भूमि, आलंभिया।	आलंभिया
५६२	८	कुण्डाल सन्निवेश, मद्दन सन्निवेश, बहुसालग, शालवन, लोहार्गला, पुरिमताल, शकटमुख उद्यान, उन्नाग (तुन्नाक), गोभूमि, राजगृह।	राजगृह
५६१	९	लाढ, वज्रभूमि और सुम्हभूमि, अनार्य देश।	वज्रभूमि
५६०	१०	सिद्धार्थपुर, कूर्मग्राम, सिद्धार्थपुर, वैशाली, गंडकी नदी (मंडकी), वाणिज्य ग्राम, श्रावस्ती।	श्रावस्ती

कुछ विहार

वर्ष	साधनावस्था	वर्षावास

सन् ई० पू०	वर्ष	छद्मस्थावस्था	वर्षावास
५५६	११	सानुलट्ठिय सन्निवेश, दृढभूमि, पोलास-चैत्य, वालुका, सुभोग, सुच्छेता, मलय, हत्थिसीस, तोसलि, सिद्धार्थपुर, व्रजगाँव, आलंभिया, सेयविया, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, राजगृह, मिथिला, वैशाली, काम महावन ।	वैशाली
५५८	१२	सुंसमारपुर, भोगपुर, नन्दिग्राम, मेंढिय ग्राम, कौशाम्बी, सुमंगल, सुच्छेता, पालक, चम्पा ।	चम्पा
५५७	१३	जंभियग्राम, मेंढिय, छम्माणि, मध्यम अपापा, जंभियग्राम, ऋजुवालुका (नदी) ।	
		कैवल्यावस्था	
५५७	१	ऋजुवालुका, पावापुरी, राजगृह ।	राजगृह
५५६	२	राजगृह, ब्राह्मणकुण्ड, वैशाली ।	वैशाली
५५५	३	वैशाली, कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम ।	वाणिज्यग्राम
५५४	४	वाणिज्यग्राम, राजगृह ।	राजगृह
५५३	५	राजगृह, चम्पा, वीतभय, वाणिज्यग्राम ।	वाणिज्यग्राम
५५२	६	वाणिज्यग्राम, वाराणसी, आलंभिया, राजगृह ।	राजगृह
५५१	७	राजगृह ।	राजगृह
५५०	८	राजगृह, आलंभिया, कौशाम्बी, वैशाली ।	वैशाली
५४९	९	वैशाली, मिथिला, काकंदी, कांपिल्यपुर, पोलासपुर, वाणिज्यग्राम, वैशाली ।	वैशाली
५४८	१०	वैशाली, राजगृह ।	राजगृह

वर्ष	साधनावस्था	वर्षावास
१	कपिलवस्तु, अनूपिया (मल्ल), राजगृह, उरूवेला (अथवा कपिलवस्तु, वैशाली, राजगृह, उरूवेला) ।[1]	उरूवेला (सेनानीग्राम)
२	उरूवेला ।	उरूवेला
३	”	”
४	”	”
५	”	”
६	”	”

१–महायान परम्परा के अनुसार ।

सन् पू० ई०	वर्ष	कैवल्यावस्था	वर्षावास
५४७	११	राजगृह, कृतंगला, श्रावस्ती, वाणिज्यग्राम ।	वाणिज्यग्राम
५४६	१२	वाणिज्यग्राम, ब्राह्मणकुण्ड, कौशाम्बी, राजगृह ।	राजगृह
५४५	१३	राजगृह, चम्पा, राजगृह ।	राजगृह
५४४	१४	राजगृह, काकन्दी, मिथिला, चम्पा ।	चम्पा
५४३	१५	चम्पा, श्रावस्ती, मेंढियग्राम, चम्पा, मिथिला ।	मिथिला
५४२	१६	मिथिला, हस्तिनापुर, मोकानगरी, वाणिज्यग्राम ।	वाणिज्यग्राम
५४१	१७	वाणिज्यग्राम, राजगृह ।	राजगृह
५४०	१८	राजगृह, पृष्ठचम्पा, चम्पा, दशार्णपुर, वाणिज्यग्राम ।	वाणिज्यग्राम
५३९	१९	वाणिज्यग्राम, काम्पिल्यपुर, वैशाली ।	वैशाली
५३८	२०	वैशाली, वाणिज्यग्राम, वैशाली ।	वैशाली
५३७	२१	वैशाली, राजगृह, चम्पा, पृष्ठचम्पा, राजगृह ।	राजगृह
५३६	२२	राजगृह, नालन्दा ।	नालन्दा
५३५	२३	नालन्दा, वाणिज्यग्राम, वैशाली ।	वैशाली
५३४	२४	वैशाली, साकेत, वैशाली ।	वैशाली
५३३	२५	वैशाली, राजगृह ।	राजगृह
५३२	२६	राजगृह, नालन्दा ।	नालन्दा

वर्ष	बुद्धावस्था	वर्षावास
१	उरूवेला, गया, ऋषिपत्तन (वाराणसी)।	ऋषिपत्तन (वाराणसी)
२	ऋषिपत्तन, उरूवेला, गया, राजगृह, (अथवा वैशाली, कपिलवस्तु, अनूपिया, राजगृह)।*	राजगृह
३	राजगृह, कपिलवस्तु, अनूपिया (मल्ल), नलकपान (कोशल), राजगृह (अथवा राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, कीटागिरि, आलवी, राजगृह)।*	राजगृह
४	राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, राजगृह*।	राजगृह
५	राजगृह, कपिलवस्तु, वैशाली।	वैशाली
६	वैशाली, मंकुलपर्वत।	मंकुलपर्वत
७	मंकुलपर्वत, राजगृह, श्रावस्ती, त्रयस्त्रिंश।	त्रयस्त्रिंश
८	त्रयस्त्रिंश, संकाश्यनगर, श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, सुंसुमारगिरि।	सुंसमारगिरि
९	सुंसुमारगिरि, कौशाम्बी, बालक लोणकार, प्राचीन वंश दाव (अथवा कौशाम्बी—कम्मासदम्म (कुरु)।*	कौशाम्बी
१०	प्राचीन वंश दाव, पारिलेयक, श्रावस्ती।	पारिलेयक
११	नाला (एकनाला)।*	नाला
१२	नाला, नालंदा, पंचशाला, कम्मासदम्म (कुरु), मथुरा, वेरंजा (अथवा श्रावस्ती, वेरंजा)।*	वेरंजा
१३	वेरंजा, वाराणसी, वैशाली, चालियपर्वत (अथवा वेरंजा, मथुरा, वेरंजा, कोरेय्य, संकस्स, कण्णकुज्ज, पयागपतिट्ठान, वाराणसी, वैशाली, श्रावस्ती, चालियपर्वत।*	चालियपर्वत
१४	चालियपर्वत, वैशाली, भद्दिया, आपण (अंगुत्तराप), कुसिनारा, आतुमा, श्रावस्ती।	श्रावस्ती
१५	श्रावस्ती, मनसाकट (कोसल), इच्छानंगल (कोसल), ओपसाद, खाणुमत्त (मगध), चम्पा, कपिलवस्तु।	कपिलवस्तु
१६	कपिलवस्तु, कीटागिरि, आलवी।	आलवी

---

* भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार।

सन् ई० पू०	वर्ष	कैवल्यावस्था	वर्षावास
५३१	२७	नालन्दा, मिथिला।	मिथिला
५३०	२८	मिथिला।	मिथिला
५२९	२९	मिथिला, राजगृह।	राजगृह
५२८	३०	राजगृह, अपापापुरी (निर्वाण)।	अपापापुरी (पावा)
५२७			
५२६-५०३			
५०२			

वर्ष	बुद्धावस्था	वर्षावास
१७	आलवी, राजगृह (अथवा आलवी, श्रावस्ती, आलवी, राजगृह)* ।	राजगृह
१८	राजगृह, चालियपर्वत ।	चालियपर्वत
१९	चालियपर्वत, चम्पा, कजंगला, शिलावती (सुह्म), सेतकण्णिक (सुह्म), चालियपर्वत (अथवा चालियपर्वत, आलवी चालियपर्वत)* ।	चालियपर्वत
२०	चालियपर्वत, राजगृह ।	राजगृह
२१	राजगृह, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, सामगाम, पावा वैशाली+ ।	श्रावस्ती
२२	अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जी ।	
४५	वंस, चेदि, पंचाल, कुरु, विदेह, शाक्य, कोलिय, मल्ल आदि जनपदों के विभिन्न स्थान× ।	श्रावस्ती
४६	श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, पावा और कुसिनारा (निर्वाण) ।	वेलुव (वैशाली)

*

* भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार ।

\+ सामगाम, पावा की यात्रा राहुलजी के अनुसार परिनिर्वाण से दो वर्ष पूर्व की थी, पर हमारी काल-गणना के अनुसार यह संगत नहीं है ।

× भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार (द्रष्टव्य, बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ११२-११८ ।)

: १७ :

त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त

आगमों में जहाँ बुद्ध के नामोल्लेख की भी अल्पता है, वहाँ त्रिपिटकों में महावीर सम्बन्धी घटना-प्रसंगों की बहुलता है। वहाँ उन्हें 'निगण्ठ नातपुत्त'[1] कहा गया है। 'निगण्ठ' शब्द सामान्यतः जैन भिक्षु का सूचक है। नातपुत्त शब्द भगवान् महावीर के लिए आगम-साहित्य में भी प्रयुक्त है।[2] वे घटना-प्रसंग कहाँ तक यथार्थ हैं, इस चिन्ता में यदि हम न जायें, तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे बहुत ही सरस, रोचक और प्रेरक हैं। दोनों धर्म-संघों के पारस्परिक सम्बन्धों, सिद्धान्तों व धारणाओं पर वे पूरा प्रकाश डालते हैं।

महावीर और बुद्ध का एक-दूसरे से कभी साक्षात् हुआ, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक समय में एक ही नगर के विभिन्न उद्यानों में वे रहे, ऐसे अनेक उल्लेख अवश्य मिलते हैं। गृहपति उपालि के चर्चा-प्रसंग व असिबन्धक पुत्र ग्रामणी के चर्चा-प्रसंग पर दोनों धर्मनायक नालंदा में थे। सिंह सेनापति के चर्चा-प्रसंग पर दोनों वैशाली में थे। अभयराजकुमार की चर्चा में दोनों के राजगृह में होने का उल्लेख है। **महासकुलुदायी सुत्तन्त** में तो सातों धर्मनायकों का एक ही वर्षावास राजगृह में होने का उल्लेख है। 'दिव्यशक्ति-प्रदर्शन' के घटना-प्रसंग पर सातों धर्मनायकों के एक साथ राजगृह में होने का उल्लेख है।[3]

साम्प्रदायिक संकीर्णता (Odium theologicium)

त्रिपिटकों में आये सभी समुल्लेख भाव-भाषा से बुद्ध की श्रेष्ठता और महावीर की न्यूनता व्यक्त करते हैं। **जातकअट्ठकथा**[4] और **धम्मपद-अट्ठकथा**[5] के कुछ प्रसंग इस साम्प्रदायिक संकीर्णता (Odium theologicium) के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एक प्रसंग ऐसा भी है, जो सामान्य अवलोकन में बहुत निम्न श्रेणी का लगता है, पर मूलतः वह ऐसा नहीं है। महावीर के निर्वाण संवाद को लेकर पहुँचने वाले भिक्षु चुन्द समणुद्देश को बुद्ध के पास ले

---

१. कहीं-कहीं निगण्ठ नाथपुत्त और निगण्ठ नातपुत भी है।

२. दशवैकालिक, सू० ६।२०।

३. देखिए—इसी प्रकरण के क्रमशः प्रसंग संख्या २,६,१,३,१३ और १७।

४. इस प्रकरण की प्रसंग संख्या ३४,३५,३६।

५. इस प्रकरण की प्रसंग संख्या १७,१८,४०।

जाते हुए आनन्द कहते हैं: **"अत्थि खो, इदं, आवुसो चुन्द, कथापाभतं भगवन्तं दस्सनाय"** अर्थात् आवुस चुन्द ! भगवान् के दर्शन में यह सम्वाद कथा-प्राभृत (उपहार) होगा। सामान्यतः यह लगता ही है कि महावीर का निधन-संवाद पाकर आनन्द को कितना हर्ष हुआ है और उसने उसे उपहार रूप माना है। मैंने अपने एक प्राक्तन निबन्ध में उसकी तथारूप आलोचना भी की है।[1] पर सारिपुत्र के मृत्यु-संवाद को लेकर भी वही चुन्द आनन्द के पास आता है, वहाँ पर भी आनन्द कहते हैं: **"अत्थि खो, आवुस चुन्द, कथापाभतं भगवन्तं दस्सनाय"**[2]। इससे प्रमाणित होता है कि यह बौद्ध-परम्परा की या उस युग की उक्ति-मात्र है। इससे कुत्सा अभिव्यक्त नहीं होती।

पालि वाङ्मय में प्रायः सभी समुल्लेख निगण्ठ नातपुत्त व निगण्ठ-धर्म के प्रति आक्षेपात्मक हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे बौद्धों और निगण्ठों के अधिकतम मतभेद की सूचना देते हैं। बहुधा होता यह है, जो सम्प्रदाय जिस सम्प्रदाय से जितना निकट है, उतना ही अधिक उसका आलोचक होता है। दूर के भेद क्षम्य होते हैं, निकट के अक्षम्य। यही उक्त मनोवृत्ति का कारण हो सकता है। आज के सम्प्रदायों में भी यही स्थिति है। जैन-सम्प्रदाय जितने परस्पर एक-दूसरे के आलोचक हैं, उतने बौद्ध या वैदिक धर्मों के नहीं।

प्रसंगों की समग्रता

प्रस्तुत प्रकरण में त्रिपिटक-साहित्य के वे समुल्लेख संगृहीत किये गये हैं, जिनमें किसी-न-किसी रूप में महावीर का सम्बन्ध आता है। साथ-साथ वे समुल्लेख भी ले लिये गये हैं, जो निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के सम्बन्ध से हैं। अनेक समुल्लेख पिछले प्रकरणों में प्रसंगोपात्त उद्धृत हुए हैं, पर समग्रता की दृष्टि से उन्हे इस प्रकरण में भी पुनः ले लिया गया है। डॉ० हर्मन जेकोबी ने 'जैन सूत्रों' की भूमिका[3] में त्रिपिटकों में आये महावीर व निर्ग्रन्थों सम्बन्धी समुल्लेखों का समीक्षात्मक संकलन प्रस्तुत किया है। वे समुल्लेख ११ हैं। डॉ० जेकोबी की धारणा में तब तक की प्रकाशित सामग्री का वह समग्र संकलन है। प्रस्तुत प्रकरण में वे समुल्लेख ११ की अपेक्षा ५१ हो गये हैं। इन नवीन प्रसंगों में से कुछ उन ग्रन्थों के हो सकते हैं, जो उस समय तक प्रकाशित न हुए हों, पर कुछ समुल्लेख ऐसे भी हैं जो डॉ० जेकोबी की निगाह से बच रहे थे; क्योंकि एक ही ग्रन्थ के कुछ समुल्लेख डॉ० जेकोबी के संकलन में आये हैं और कुछ नहीं। डा० मलालशेखर[4] ने भी 'निगण्ठ नातपुत्त' शब्द पर जो संदर्भ आकलित किये हैं, वे भी परिपूर्ण नहीं हैं।

---

१. भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, 'पालि वाङ्मय में भगवान् महावीर' शीर्षक लेख, श्री जैन श्वेता० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६०, खण्ड २, पृ० ६ से १०।

२. संयुत्तनिकाय, चुन्द सुत्त, ४५-२-३।

३. *S.B.E.*, Vol XIV, Introduction, pp. XIV-XXIII.

४. *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. II, pp. 61-65.

प्रस्तुत संकलन में इतनी जागरूकता विशेषतः बरती गई है कि त्रिपिटकों में से कोई भी प्रसंग विलग न रह जाये। अट्ठकथाओं व इतर ग्रन्थों के प्रसंग भी यथासम्भव इस संकलन में ले लिये गये हैं। कहा जा सकता है, प्रस्तुत प्रकरण 'त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त विषयक प्रसंगों' का भरा-पूरा और प्रामाणिक आकलन बन गया है, जो सम्बन्धित विषय के पाठकों व गवेषकों के लिए महत्त्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

वर्गीकरण व भाषा

प्रसंग मूल रूप में प्रकीर्ण हैं। प्रस्तुत आकलन में उन्हें तीन विभागों में बाँटा गया है—(१) चर्चा-प्रसंग, (२) घटना-प्रसंग और (३) उल्लेख-प्रसंग। इन प्रसंगों की संख्या क्रमशः १३,७ और २२ है। समुल्लेखों पर यथास्थान समीक्षात्मक टिप्पण भी दे दिये गये हैं।

भाषा की दृष्टि से यह ध्यान तो रखा ही गया है कि अधिक-से अधिक मूलानुसारी रहे; पर पुनरुक्ति व विस्तार के भय से बहुत स्थानों पर भावमात्र ले लिया गया है। कुछ एक प्रसंग विविध विषयों से सम्बन्धित थे; उनसे मुख्यतया यहाँ इतना ही अंश लिया गया है, जो निगण्ठ नातपुत्त या निर्ग्रन्थ-धर्म से सम्बन्धित था। सभी प्रसंगो के मूल पालि पाठ परिशिष्ट में दिये गये हैं।[1]

१–चर्चा-प्रसंग

(१) सिंह सेनापति

एक बार भगवान् वैशाली के महावन की कूटागारशाला में विहार करते थे। उस समय प्रतिष्ठित लिच्छवी संस्थागार में एकत्र हो, बुद्ध धर्म और संघ का गुणोत्कीर्तन कर रहे थे। निगंठों का श्रावक सिंह सेनापति भी वहाँ बैठा था। उस गुणोत्कीर्तन से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने सोचा—"निःसंशय भगवान् बुद्ध अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध होंगे। इसीलिए बहुत सारे प्रतिष्ठित लिच्छवी उनका यशोगान कर रहे हैं। क्यों न मैं भी उन भगवान् के दर्शन करूँ ?"

सिंह सेनापति निगंठ नाथपुत्त के पास आया और उन्हे अपने संकल्प से सूचित किया। निगंठ नाथपुत्त ने कहा—"सिंह ! क्रियावादी होते हुए भी तू अक्रियावादी श्रमण गौतम के दर्शनार्थ जाएगा ? वह तो श्रावकों को अक्रियावाद का ही उपदेश करता है।" सेनापति की भावना शान्त हो गई। दूसरी बार फिर एक दिन बहुत सारे प्रतिष्ठित लिच्छवी संस्थागार में एकत्रित हुए। सिंह सेनापति भी वहाँ उपस्थित था। बुद्ध, धर्म और संघ का गुणोत्कीर्तन सुन, वह पुनः प्रभावित हुआ। उसके मन में बुद्ध के दर्शनों की पुनः उत्कण्ठा जाग्रत हुई। निगंठ नाथपुत्त के पास आया और अपनी भावना व्यक्त की। निगंठ नाथपुत्त

---

१. देखिए—परिशिष्ट—१।

ने पुनः उसी बात को दुहराया। सेनापति ने बुद्ध के पास जाने का विचार त्याग दिया। तीसरी बार संस्थागार में पुनः वही प्रसंग उपस्थित हुआ। इस बार सिंह सेनापति ने मन-ही-मन विमर्षण किया—"पूछूँ या न पूछूँ? निगंठ नाथपुत्त मेरा क्या करेंगे? क्यों न मैं उन्हें बिना पूछे ही उन भगवान् के दर्शनार्थ जाऊँ?"

दोपहर को सिंह सेनापति पाँच सौ रथों के साथ बुद्ध के दर्शनार्थ वैशाली से चला। जहाँ तक रथ पहुँच सकते थे, वहाँ तक रथ से और बाद में पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। भगवान् के पास गया और अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। विनम्रता से निवेदन किया—"भन्ते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है, अक्रिया के लिए ही धर्मोपदेश करता है और शिष्यों को उसी ओर ले जाता है। भन्ते! जो ऐसा कहता है, क्या वह आपके बारे में ठीक कहता है? झूठ से भगवान् की निन्दा तो नहीं करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? इस प्रकार के वाद-विवाद से धर्म की निन्दा तो नहीं होती? भन्ते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते?"

"सिंह! इसका कारण है, जिससे मुझे ऐसा कहा जाता है।"

"भन्ते! इसका क्या कारण है?"

"सिंह! मैं काय-दुश्चरित, वचन-दुश्चरित, मन-दुश्चरित और तथाप्रकार की अनेक बुराइयों को अक्रिया कहता हूँ तथा उनके निवारण के लिए जनता को उपदेश देता हूँ; अतः मुझे लोग अक्रियावादी कहते हैं।"

"सिंह! मुझे बहुत सारे लोग क्रियावादी भी कहते हैं। वे कहते हैं, मैं क्रिया के लिए धर्मोपदेश करता हूँ और उसी ओर श्रावकों को ले जाता हूँ। उसका भी कारण तूने खोजा होगा?"

"भन्ते! मैं उस कारण को जानना चाहता हूँ।"

"सिंह! मैं काय-सुचरित, वाक्-सुचरित, मनः-सुचरित और तथाप्रकार के अनेक धर्मों की क्रिया कहता हूँ; अतः मुझे लोग क्रियावादी कहते हैं। इसी प्रकार मुझे उच्छेदवादी, जुगुप्सु, वैनयिक, तपस्वी व अपगर्भ भी कहते हैं।"

"सिंह! मुझे अस्ससंत (आश्व संत) भी कहते हैं। उसका तात्पर्य है, मैं परम आश्वास से आश्वासित हूँ। आश्वास के लिए धर्मोपदेश करता हूँ और आश्वास के मार्ग से ही श्रावकों को ले जाता हूँ।"

सिंह सेनापति के मुख से सहसा उदान निकला—"आश्चर्य भन्ते! आश्चर्य भन्ते! मुझे आप उपासक स्वीकार करें।"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"सिंह! सोच-समझ कर कदम उठाओ। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त व्यक्ति के लिए सोच-समझ कर ही निश्चय करना उचित है।"

सिंह सेनापति बोला—"भन्ते ! भगवान् के इस कथन से मैं और भी सन्तुष्ट हुआ हूँ। दूसरे तैर्थिक तो मेरे जैसा शिष्य पाकर फूले नहीं समाते हैं। सारी वैशाली में पताका उड़ाते हैं—'सिंह सेनापति हमारा शिष्य (श्रावक) हो गया है !' किन्तु भगवान् तो मुझे यह परामर्श देते हैं—'सिंह ! सोच-समझ कर ही ऐसा करो।' भन्ते ! मैं दूसरी बार भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की शरण जाता हूँ।"

"सिंह ! तेरा घर दीर्घ काल से निगंठों के लिए प्याऊ की तरह रहा है। तेरे घर आने पर उन्हें पिण्ड न देना चाहिए, ऐसा मत समझना।"

"भन्ते ! इससे मैं और भी प्रसन्न मन, सन्तुष्ट और अभिरत हुआ हूँ। मैंने सुना था, श्रमण गौतम कहता है—'मुझे ही दान देना चाहिए।' किन्तु भगवान् तो मुझे निगंठों को भी दान देने के लिए कहते हैं। भन्ते ! हम भी इसे उपयुक्त समझते हैं। मैं तीसरी बार भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ।"

गौतम बुद्ध ने सिंह सेनापति को आनुपूर्वी कथा कहते हुए दान-शील व स्वर्ग-कथा, कामभोगों के दोष, अपकार व क्लेश, और निष्कामता का माहात्म्य प्रकाशित किया। बुद्ध ने जब सिंह सेनापति को अरोग चित्त, मृदु चित्त, अनाच्छादित चित्त, उदग्र चित्त, प्रसन्न चित्त जाना तो बुद्धों की स्वयं उठाने वाली धर्म-देशना से उसे प्रकाशित किया। शुद्ध वस्त्र जिस प्रकार सहजता से रंग पकड़ लेता है, उसी प्रकार सिंह सेनापति को उसी आसन पर विमल, विरज धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

सिंह सेनापति दृष्ट-धर्म, प्राप्त-धर्म, विदित-धर्म, पर्यवगाढ़-धर्म, संदेह-रहित, वाद-विवाद-रहित, विशारदता-प्राप्त, शास्ता के शासन में स्वतंत्र हो भगवान् से बोला—"भन्ते ! भिक्षु-संघ के साथ मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।" गौतम बुद्ध ने मौन के साथ उस निमंत्रण को स्वीकार किया। सिंह सेनापति आसन से उठा और अभिवादन कर व प्रदक्षिणा कर चला गया।

सिंह सेनापति ने अपने एक अनुचर को निर्देश दिया—"यदि कहीं तैयार मांस मिलता हो तो ले आ।" रात बीतने पर वह स्वयं उठा। उत्तम भोजन तैयार करवाये और भगवान् को काल की सूचना दी। पूर्वाह्न के समय बुद्ध चीवर पहन, पात्र-चीवर ले सिंह सेनापति के घर आये। भिक्षु-संघ के साथ बिछे आसन पर बैठे। उस समय बहुत सारे निगंठ (जैन-साधु) वैशाली के राजमार्गों व चौराहों पर ऊर्ध्व बाहु होकर चिल्ला रहे थे—"सिंह सेनापति ने आज एक बहुत बड़े पशु को मार कर श्रमण गौतम के लिए भोजन बनाया है। श्रमण गौतम जान-बूझकर अपने ही उद्देश्य से बनाये गये उस मांस को खाता है।"

शहर में इस उदन्त को सुनकर एक पुरुष सिंह सेनापति के पास गया। उसके कान में सारी बात कही। सिंह सेनापति ने उपेक्षा दिखाते हुए कहा—"जाने दो आर्य ! ये

आयुष्मान् (निगंठ) चिरकाल से बुद्ध, धर्म व संघ की निन्दा चाहने वाले हैं। ये भगवान् की असत्, तुच्छ, मिथ्या निन्दा करते हुए भी नहीं शरमाते। हम तो अपने लिए भी जान-बूझकर किसी का प्राण-वियोजन नहीं करेंगे।"

सिंह सेनापति ने बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को अपने हाथों उत्तम भोजन परोसा। उन्हें सन्तर्पित कर परिपूर्ण किया। पात्र से हाथ खींच लेने पर सिंह सेनापति एक ओर बैठ गया। बुद्ध ने उसे धार्मिक कथा द्वारा संदर्शित किया और आसन से उठकर चल दिये।

भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए बुद्ध ने कहा—"जान-बूझकर अपने उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाये, उसे दुक्कट का दोष। भिक्षुओ, अदृष्ट, अश्रुत व अपरिशंकित—इन तीन कोटि से परिशुद्ध मांस खाने की मैं अनुज्ञा देता हूँ।"

(**विनयपिटक** महावग्ग, भैषज्य खन्धक, ६-४-८ के आधार से)

समीक्षा

सिंह सेनापति और तथाप्रकार के उदन्त का आगम-साहित्य में कहीं आभास नहीं मिलता। महावीर के किसी अनुयायी का बुद्ध के शरण में आ जाना और बुद्ध के किसी अनुयायी का महावीर की शरण में आ जाना, कोई अद्भुत व असम्भव बात नहीं है, पर जैन-परम्परा में इस घटना का यत्किंचित् भी समुल्लेख होता तो वह पूर्णतया ही ऐतिहासिक रूप ले लेती। असंभव की कोटि में मानने का तो अब भी कोई आधार नहीं है।

गुजराती साहित्यकार श्री जयभिक्खू ने अपने उपन्यास **नरकेसरी** में सिंह सेनापति को महावीर के परम अनुयायी चेटक होने की सम्भावना व्यक्त की है, पर वह यथार्थ नहीं है।[1]

सिंह सेनापति का विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में भी नहीं मिलता। इस घटना-प्रसंग के अतिरिक्त उसका नामोल्लेख अंगुत्तर-निकाय[2] में बुद्ध से की गई दान-सम्बन्धी चर्चा में आता है या थेरीगाथा[3] में सिंहा भिक्खुणी के पितृव्य के रूप में आता है।

उक्त प्रकरण में महावीर को क्रियावादी व्यक्त किया गया है। क्रियावाद शब्द उस समय में बहुत व्यापक अर्थ का वाची रहा है। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद के ३६३ भेद जैन-परम्परा में माने गए हैं।[4] पर क्रियावाद और अक्रियावाद के इन भेदों में महावीर का अभिमत नहीं है। वे सब पर-मत की चर्चा हैं। महावीर को जो क्रियावादी कहा गया है, अपेक्षा-भेद से यह भी यथार्थ माना जा सकता है। इसका आधार सूत्रकृतांग में मिलता है। वहाँ बताया गया है कि जो आत्मा को जानता है, जो लोक को

---

१. विशेष चर्चा देखिए—"अनुयायी राजा" प्रकरण के अन्तर्गत "चेटक"।
२. *The Book of Gradual Sayings*, Vol. III, p. 38 ; Vol. IV, p. 69।
३. गाथा ७७-८१।
४. सूत्रकृतांग सूत्र, श्र० १, गा० १, निर्युक्ति गा० ११९-१२१।

जानता है, जो गति और अन्तर्गति को जानता है, जो नित्य-अनित्य, जन्म-मरण और प्राणियों के गति-क्रम को जानता है, जो सत्त्वों की वेदना को जानता है, जो आश्रव और संवर को जानता है, जो दुःख को तथा निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद को यथार्थ रूप से कह सकता है।[1] जो इन तत्त्वों को जानता है अर्थात् स्वीकार करता है, वही क्रियावादी है।[2]

वस्तुतः तो भगवान् महावीर अनेकान्तवादी थे। उनका दर्शन तो "आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं"[3] की उक्ति में व्यक्त होता है, जिसका हार्द है, ज्ञान और क्रिया की युगपत् स्थिति में ही मोक्ष की सम्भावना है।

उक्त प्रसंग में बुद्ध ने भी तो मनो-दुश्चरित, मनः-सुचरित आदि के अपेक्षा-भेद से स्वयं को क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही बताने का प्रयत्न किया है।

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए मांसाहार का स्पष्ट विधान इसी घटना-प्रसंग से बना है। अदृष्ट, अश्रुत व अपरिशंकित मांस को बुद्ध ने ग्राह्य कहा है। निगंठों ने यहाँ उद्दिष्ट मांस का विरोध किया है। आर्द्रककुमार प्रकरण[4] में भी उद्दिष्ट मांस को गर्हास्पद कहा है।

(२) *गृहपति उपालि*

एक समय भगवान् बुद्ध नालन्दा में प्रावारिक के आम्र-वन में विहार करते थे। उस समय निगण्ठ नातपुत्त भी निगंठों (जैन-साधुओं) की महती परिषद् के साथ नालन्दा में विहार कर रहे थे। एक दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ नालन्दा में भिक्षाचार कर, पिण्डपात समाप्त कर प्रावारिक के आम्र-वन में बुद्ध के पास आया। उन्हें कुशल-प्रश्न पूछा और एक ओर खड़ा हो गया। दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ से बुद्ध ने कहा—"तपस्विन्! आसन तैयार है, यदि इच्छा हो तो बैठ जाओ।"

---

१. अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, गई च जो जाणइ णागइं च।
जो सासय जाण असासयं च, जातिं च मरणं च जणोववायं॥
अहोऽवि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च।
दुक्ख च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियवादं॥

—सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० २०-२१

२. "यश्चैतान् पदार्थान् 'जानाति' अभ्युपगच्छति स परमार्थतः क्रियावादं जानाति।"

—सूत्रकृतांग-वृत्ति, श्रु० १, अ० १२, गा० २१।

३. सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० १, अ० १२, गा० ११।

४. थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पएत्ता।

—सूत्रकृतांग सूत्र, श्रु० २ अ० ६, गा० ३७।

दीर्घ तपस्वी एक नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया। बुद्ध ने उससे कहा—"पाप-कर्म करने के लिए, पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निर्ग्रन्थ नातपुत्र कितने कर्मों का विधान करते हैं?"

"आवुस गौतम! 'कर्म' का विधान करना निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की परम्परा के विरुद्ध है। वे तो 'दण्ड' का ही विधान करते हैं।"

"तपस्विन्! तो पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए निगंठ नातपुत्र कितने 'दण्ड' का विधान करते हैं?"

"गौतम! वे काय-दण्ड, वचन-दण्ड और मन-दण्ड; इन तीन दण्डों का विधान करते हैं।"

"तपस्विन्! क्या वे भिन्न-भिन्न हैं?"

"हाँ, गौतम! वे भिन्न-भिन्न हैं।"

"तपस्विन्! तीन दण्डों में से निगण्ठ नातपुत्त ने किस दण्ड को महादोष-युक्त कहा है?"

"आवुस गौतम! काय-दण्ड को।"

"तपस्विन्! काय-दण्ड को?"

"आवुस गौतम! हाँ, काय-दण्ड को।"

गौतम बुद्ध ने तपस्वी निर्ग्रन्थ से यही प्रश्न तीन बार पूछा और तपस्वी ने यही उत्तर दिया। इस प्रकार बुद्ध ने तपस्वी निर्ग्रन्थ को एक ही कथा-वस्तु में तीन बार प्रतिष्ठापित किया।

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने बुद्ध से पूछा—"आवुस गौतम! पाप-कर्म करने के लिए, पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए तुम कितने 'दण्ड' का विधान करते हो?"

"तपस्विन्! 'दण्ड' का विधान करना तथागत की परम्परा के विरुद्ध है। वे तो 'कर्म' का ही विधान करते हैं।"

"आवुस गौतम! तुम कितने कर्मों का विधान करते हो?"

"तपस्विन्! मैं तो तीन कर्म बतलाता हूँ—काय-कर्म, वचन-कर्म और मन-कर्म।"

"क्या वे भिन्न-भिन्न हैं?"

"हाँ, वे भिन्न-भिन्न हैं?"

"इस प्रकार विभक्त इन तीन कर्मों में तुम किसको महादोषी ठहराते हो?"

"मन-कर्म को महादोषी बतलाता हूँ।"

"मन-कर्म को?"

"हाँ, मन-कर्म को।"

तपस्वी निर्ग्रन्थ ने बुद्ध से वही प्रश्न तीन बार पूछा और बुद्ध ने वही उत्तर दिया। इस प्रकार तपस्वी निर्ग्रन्थ ने बुद्ध को उसी कथा-वस्तु (विवाद) में तीन बार प्रतिष्ठापित किया। वह वहाँ से उठा और निगंठ नातपुत्त के पास चला आया।

निगंठ नातपुत्त उस समय महती गृहस्थ-परिषद् से घिरे थे। बालक लोणकार-निवासी उपालि भी उसमें उपस्थित था। दूर से आते हुए दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ को देख कर निगंठ नातपुत्त ने पूछा—"तपस्विन्! मध्याह्न में तू कहाँ से आ रहा है?"

"भन्ते! श्रमण गौतम के पास से आ रहा हूँ।"

"श्रमण गौतम के साथ क्या तेरा कुछ कथा-संलाप हुआ?"

"हाँ, भन्ते!"

निगंठ नातपुत्त के निर्देश से दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने वह सारा कथा-संलाप सुनाया। निगंठ नातपुत्त ने दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ को साधुवाद देते हुए उसके पक्ष का प्रबल समर्थन किया और कहा—"शास्ता के शासन (उपदेश) का सम्यग् ज्ञाता, बहुश्रुत श्रावक काय-दण्ड को ही महादोषी बतलायेगा; वचन-दण्ड व मन-दण्ड को उस श्रेणी में नहीं।"

उपालि गृहपति ने भी निगंठ नातपुत्त के कथन का समर्थन किया और दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ को साधुवाद दिया। साथ ही उसने यह भी कहा—"भन्ते! यदि आप अनुज्ञा दें तो मैं जाऊँ और इसी कथा-वस्तु में श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ करूँ? श्रमण गौतम ने दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ के समक्ष जिस प्रकार अपने पक्ष का समर्थन किया, वैसे ही यदि वह मेरे सामने करेगा, तो जैसे कोई बलिष्ठ पुरुष भेड़ के लम्बे-लम्बे केशों को पकड़ कर उसे निकालता है, घुमाता है, फफेड़ता है; उसी प्रकार मैं उसके वाद को निकालूँगा, घुमाऊँगा और फफेड़ूँगा। भन्ते! जैसे कोई शौण्डिक-कर्म कर शौण्डिका-किलंज को तालाब में फेंक कर उसके कानों को पकड़ कर निकालता है, घुमाता है, डुलाता है; उसी प्रकार मैं श्रमण गौतम के वाद (सिद्धान्त) को निकालूँगा, घुमाऊँगा और डुलाऊँगा। साठ वर्षीय पुष्ट हाथी गहरी पुष्करिणी में घुस कर जैसे सन-धोवन खेल खेलता है, वैसे ही मैं श्रमण गौतम को सन-धोवन खेल खिलाऊँगा। आप मुझे अनुज्ञा दें। मैं जाता हूँ और शास्त्रार्थ करता हूँ।"

निगंठ नातपुत्त ने उपालि को सहर्ष अनुज्ञा दी और शास्त्रार्थ की प्रेरणा दी। साथ ही उन्होंने एक प्रश्न भी उपस्थित कर दिया—"गृहपति! गौतम के साथ मैं शास्त्रार्थ करूँ, दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ करे या तू करेगा?"

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने प्रस्ताव रखा—"भन्ते! गृहपति उपालि का श्रमण गौतम के पास जाना और शास्त्रार्थ करना उचित नहीं है। वह मायावी है। आवर्तनी माया के माध्यम से वह मति-भ्रम कर देता है और दूसरे तैर्थिकों के श्रावकों को अपने प्रभाव में ले लेता है।"

निगंठ नातपुत्त ने उस प्रस्ताव का विरोध करते हुए कहा—"तपस्विन् ! यह संभव नहीं है कि गृहपति उपालि श्रमण गौतम का श्रावक हो जाए। मुझे तो यही संभव लगता है कि श्रमण गौतम ही गृहपति उपालि का श्रावक हो जाए।" गृहपति उपालि की ओर अभिमुख होकर उन्होंने निर्देश दिया—"गृहपति ! जाओ और श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ करो।"

उपालि ने उस निर्देश को सहर्ष शिरोधार्य किया और निगंठ नातपुत्त को अभिवादन व प्रदक्षिणा कर प्रावारिक आम्र-वन में भगवान् बुद्ध के पास आया। अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। उपालि द्वारा पूछे जाने पर बुद्ध ने दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ के साथ हुए सारे कथा-संलाप को सविस्तार सुनाया। उपालि ने कहा—"यह ठीक ही है। यह निर्जीव मन-दण्ड महान् काय-दण्ड के समक्ष नगण्य है। पाप-कर्म की प्रवृत्ति के लिए काय-दण्ड ही महादोषी है।"

"गृहपति ! यदि तू सत्य में स्थिर होकर मंत्रणा करे तो हम दोनों का संलाप हो।"

"भन्ते ! मैं सत्य में स्थिर हूँ। आप आरम्भ करें।"

"गृहपति ! भयंकर रोग से ग्रस्त, शीतल जल का परित्यागी व उष्ण जल का सेवी एक निगंठ पानी के अभाव से काल-कवलित हो जाता है, तो निगंठ नातपुत्त उसकी पुनः उत्पत्ति कहाँ बतलायेंगे ?"

"भन्ते ! वह निगंठ मनः-सत्त्व देवालय में उत्पन्न होगा, क्योंकि वह मन से बंधा मृत्यु प्राप्त हुआ है।"

"गृहपति ! थोड़ा चिन्तन कर। तेरे पूर्व पक्ष से यह पक्ष और इस पक्ष से पूर्व पक्ष बाधित होता है।"

अपने पक्ष के समर्थन में श्रमण गौतम ने आगे कहा—"गृहपति ! चातुर्याम[1] संवर से संवृत्त, सर्व वारि[2] के निवारण में तत्पर एक निर्ग्रन्थ गमनागमन में बहुत सारे छोटे-छोटे प्राणि-समुदाय को मारता है। निगंठ नातपुत्त इसका क्या फल बतलाते हैं ?"

"भन्ते ! निगंठ नातपुत्त अज्ञात को महादोषी नहीं कहते।"

"यदि ज्ञात हो तो ?"

"भन्ते ! तब महादोष होगा।"

"निगंठ नातपुत्त ज्ञान की गणना किस दण्ड में करते हैं ?"

"भन्ते ! मन-दण्ड में।"

---

१. (क) प्राणियों की हिंसा न करना, न करवाना और न अनुमोदन करना ; (ख) चोरी न करना, (ग) झूठ न बोलना, (घ) भावित (कामभोग) न चाहना।

२. सचित्त शीतल जल या पाप रूपी जल।

"गृहपति ! थोड़ा चिन्तन कर। तेरे पूर्व पक्ष से यह पक्ष और इस पक्ष से पूर्व पक्ष बाधित होता है।"

एक अन्य युक्ति प्रस्तुत करते हुए गौतम बुद्ध ने कहा—"गृहपति ! एक पुरुष नंगी तलवार लेकर आये और कहे—'नालन्दा के सभी नागरिकों को एक ही क्षण व एक ही मुहूर्त में मैं प्रेत्य-धाम पहुँचाऊँगा और खलियान में उनके मांस का एक ढेर बनाऊँगा।' गृहपति ! क्या वह व्यक्ति ऐसा कर सकता है ?"

"भन्ते ! दस-बीस, चालीस-पचास व्यक्ति भी ऐसा नहीं कर सकते, वह एक पामर व्यक्ति क्या कर सकेगा ?"

"गृहपति ! एक बुद्धिमान् श्रमण या ब्राह्मण आये, जिसने अपने चित्त को वश में किया है, और कहे—"मैं इस नालन्दा को मानसिक क्रोध से भस्म कर दूँगा, तो क्या वह ऐसा कर सकता है ?"

"भन्ते ! एक नालन्दा ही क्या ; इस प्रकार के पचासों नगरों को वह भस्म कर सकता है।"

"गृहपति ! थोड़ा चिन्तन कर। क्या तेरा यह कथन पूर्व पक्ष से मेल खाता है ?"

गौतम बुद्ध ने अपने पक्ष के समर्थन में एक अन्य उपमा प्रस्तुत करते हुए उपालि से पूछा—"गृहपति ! तू ने दण्डकारण्य, कलिंगारण्य, मेघ्यारण्य, मातंगारण्य की घटनाएँ सुनी हैं ? वे अरण्य किस प्रकार हुए ?"

"भन्ते ! ऋषियों के मानसिक कोप के श्राप से।"

"गृहपति ! तेरे ही कथन से तेरा पक्ष बाधित होता है और मेरा पक्ष प्रमाणित। तू ने पहले कहा था—सत्य में स्थिर होकर मंत्रणा करूँगा। तू अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कर।"

"भन्ते ! भगवान् की प्रथम उपमा से ही मैं सन्तुष्ट और अभिरत हो गया था। पटिभान (विचित्र प्रश्नों के व्याख्यान) को और अधिक सुनने के अभिप्राय से मैंने आपको प्रतिवादी बनाया था। आश्चर्य भन्ते ! आश्चर्य भन्ते ! जैसे उलटे को सीधा कर दे, आवृत्त को अनावृत्त कर दे, मार्ग-विस्मृत को मार्ग बता दें, अन्धेरे से तेल का दीपक दिखा दे, जिससे सनेत्र देख सकें ; उसी प्रकार भगवान् ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी। आज से मुझे अञ्जलि-बद्ध शरणागत स्वीकार करें।"

बुद्ध ने कहा—"गृहपति ! सोच-समझ कर कदम उठाओ। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त व्यक्ति के लिए सोच-समझ कर ही निश्चय करना उचित है।"

भन्ते ! भगवान् के इस कथन से मैं और भी प्रसन्न-मन, सन्तुष्ट और अभिरत हुआ हूँ। भन्ते ! दूसरे तैर्थिक तो मेरे जैसा श्रावक पाकर फूले नहीं समाते। सारे नालन्दा में

पताका उड़ाते फिरते हैं—'उपालि गृहपति हमारा श्रावक हो गया है।' किन्तु भगवान् तो मुझे सोच-समझ कर ही कदम उठाने का परामर्श देते हैं। भन्ते ! मैं दूसरी बार भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की शरण जाता हूँ।"

"गृहपति ! तेरा घर दीर्घ-काल से निगंठों के लिए प्याऊ की तरह रहा है। घर आने पर उन्हें पिण्ड न देना चाहिए, ऐसा मत समझना।"

भन्ते ! इससे मैं और ही प्रसन्न-मन, सन्तुष्ट और अभिरत हुआ हूँ। मैंने सुना था, श्रमण गौतम कहता है—'मुझे ही दान देना चाहिए, दूसरों को नहीं। मेरे ही श्रावकों को दान देना चाहिए, अन्य को नहीं। मुझे व मेरे श्रावकों को ही दान देने का महाफल होता है, दूसरों को देने से नहीं।' किन्तु भगवान् तो मुझे निगंठों को भी दान देने के लिए कहते हैं। भन्ते ! हम भी इसे उपयुक्त समझते हैं। मैं तीसरी बार भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी।"

गौतम बुद्ध ने गृहपति उपालि को आनुपूर्वी कथा कही। शुद्ध वस्त्र जिस प्रकार सहजता से रंग पकड़ लेता है, उसी प्रकार उपालि को उसी आसन पर विमल, विरज धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

गौतम बुद्ध से अनुमति लेकर उपालि अपने घर आया। अपने द्वारपाल को उसने निर्देश दिया—"सौम्य ! आज से मैं निगंठों और निगंठियों के लिए अपना द्वार बन्द करता हूँ। भगवान् के भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाओं के लिए द्वार खोलता हूँ। यदि कोई निर्ग्रन्थ आये तो उसे द्वार पर रोक कर स्पष्ट शब्दों में मेरा यह निर्देश सुना देना। यदि वे पिण्ड चाहते हों तो उन्हें द्वार पर ही रोके रहना और घर से लाकर वहीं दे देना।"

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने जब यह सुना कि गृहपति उपालि श्रमण गौतम का श्रावक हो गया है तो वह निगंठ नातपुत्त के पास आया और उन्हें सारी घटना सुनाई। निगंठ नातपुत्त ने दृढ़ता के साथ अपने उसी अभिमत को दुहराते हुए कहा—"गृहपति उपालि श्रमण गौतम का श्रावक हो जाए, यह असम्भव है। श्रमण गौतम ही उसका श्रावक हो जाए, यही सम्भव है।"

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने अपने अभिमत को तीन बार दुहराया और निगंठ नातपुत्त ने अपने अभिमत को। दीर्घ तपस्वी निगंठ नातपुत्त से अनुमति लेकर यह जानने के लिए कि उपालि श्रमण गौतम का श्रावक बना या नहीं, गृहपति के घर आया। द्वारपाल ने उसे वहीं रोका और कहा—"गृहपति उपालि आज से श्रमण गौतम का श्रावक हो गया है। उसने निगंठों की उपासना छोड़ दी है। यदि तुम्हें पिण्ड चाहिए तो यहीं ठहरो। हम यहीं ला देंगे।"

"मुझे पिण्ड नहीं चाहिए" ; यह कहता हुआ दीर्घ तपस्वी-निर्ग्रन्थ वापस मुड़ गया और निगंठ नातपुत्त के पास आया। उसने सविस्तार उक्त घटना सुनाते हुए कहा—"भन्ते! मैंने पहले ही कहा था कि गृहपति उपालि को गौतम के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए न भेजें। वह आवर्तनी माया जानता है। भन्ते! वही हुआ। उपालि को श्रमण गौतम ने अपना श्रावक बना ही लिया है।"

निगंठ नातपुत्त ने अपने उसी मत को दुहराते हुए कहा—"तपस्विन्! यह असम्भव है। उपालि श्रमण गौतम का श्रावक नहीं हो सकता। श्रमण गौतम ही उसका श्रावक हो सकता है।"

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने कहा—"भन्ते! ऐसा नहीं है। वह तो उनका श्रावक हो गया है। मैं उसके घर से अभी लौटा हूँ। उसके दौवारिक ने मुझे स्पष्ट कहा है।"

दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ ने अपनी बात को दो-तीन बार दुहराया और निगंठ नातपुत्त ने अपनी बात को। अन्ततः निगंठ नातपुत्त ने तपस्वी से कहा—"तो मैं जाता हूँ और स्वयं ही यह जानने का प्रयत्न करूँगा कि उपालि श्रमण गौतम का श्रावक बना या नहीं?"

निगंठ नातपुत्त निर्ग्रन्थों की महती परिषद् के साथ उपालि गृहपति के घर गए। द्वारपाल ने दूर से आते हुए उन्हें देखा। आगे आकर मार्ग रोकते हुए उन्हे कहा—"भन्ते! घर में प्रवेश न करें। गृहपति उपालि अब से श्रमण गौतम का श्रावक हो गया है। यदि पिण्ड चाहिए तो हम यहीं ला देंगे।"

निगंठ नातपुत्त ने कहा—"तुम गृहपति उपालि के पास जाओ और उसे सूचित करो, निगंठ नातपुत्त एक महती निर्ग्रन्थ परिषद् के साथ द्वार के बाहर खड़े हैं और आपको देखना चाहते हैं।"

दौवारिक ने शीघ्रता से गृहपति उपालि को सूचना दी। उपालि ने दौवारिक को मध्य-शाला में आसन बिछाने का निर्देश दिया। दौवारिक ने वैसा ही किया। उपालि वहाँ आया और श्रेष्ठ व उत्तम आसन पर स्वयं बैठा। दौवारिक से कहा—"निगंठ नातपुत्त चाहे तो उन्हें प्रवेश करने दो।"

द्वारपाल का संकेत पाकर निगंठ नातपुत्त महती परिषद् के साथ मध्य-शाला में आये। निगंठ नातपुत्त जब कभी गृहपति उपालि के घर आते थे, तो वह दूर से उन्हे देखते ही उनके स्वागत में दौड़ पड़ता था। श्रेष्ठ व उत्तम आसनो को चद्दर से स्वयं पोंछ कर उन्हें उन पर बैठाता था। आज उनके आगमन पर वह न खड़ा हुआ, न उनका स्वागत किया और न श्रेष्ठ व उत्तम आसनों के लिए उन्हे निवेदन ही किया। स्वयं बैठा रहा और निगंठ नातपुत्त जब समीप आये, तो सामान्य आसनों की ओर संकेत करते हुए केवल इतना ही कहा—"भन्ते! आसन तैयार है, यदि चाहे तो बैठें।"

निगंठ नातपुत्त ने उपालि से कहा—"गृहपति ! तू उन्मत्त हो गया है ? जड़ हो गया है ? तू ने मुझे कहा था, 'मैं बुद्ध के पास शास्त्रार्थ करूँगा, उसे परास्त करूँगा और स्वयं बड़े भारी वाद के संघाट (जाल) में फँस कर लौटा है। अण्डकोश-हारक जैसे निकाले हुए अण्डों के साथ और अक्षि-हारक जैसे निकाली हुई अक्षि के साथ लौटता है, वैसे ही गृहपति ! तू श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ करने गया था और तू ही स्वयं उसके वाद-संघाट (जाल) में फँस कर लौटा है। श्रमण गौतम ने आवर्तनी माया से तेरी बुद्धि में विभ्रम पैदा कर दिया है।"

गृहपति ने उत्तर दिया—"भन्ते ! यह आवर्तनी माया सुन्दर है, कल्याणी है, मेरे प्रिय ज्ञाति-भाई भी यदि इस आवर्तनी माया द्वारा फेर लिए जायें, तो यह उनके चिरकाल तक हित-सुख के लिए होगा। यदि सभी क्षत्रिय, सभी ब्राह्मण, सभी वैश्य, सभी शूद्र, देव-मार-ब्रह्मा सहित सारा लोक, श्रमण-ब्राह्मण-देव मनुष्य सारी प्रजा इस आवर्तनी माया के द्वारा फेर ली जाये तो यह चिरकाल तक उनके हित-सुख के लिए होगा।"

गृहपति उपालि ने कहा—"भन्ते ! मैं अपने अभिमत को एक उपमा द्वारा और स्पष्ट करना चाहता हूँ। पूर्व काल में किसी जीर्ण महल्लक ब्राह्मण की एक नव वयस्का माणविका पत्नी आसन्न-प्रसवा हुई। उसने ब्राह्मण को कहा—'बाजार से बन्दर के बच्चे का एक खिलौना लाओ। वह मेरे कुमार का खिलौना होगा।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'कुमार का जन्म होते ही मैं खिलौना ला दूँगा। अभी आप इतनी शीघ्रता क्यों करती हैं ?' किन्तु माणविका ने उसकी एक भी नहीं सुनी। उसने हठ-पूर्वक अपनी बात को दो-तीन बार दुहराया। ब्राह्मण उसमें अनुरक्त-चित्त था ; अतः वह बाजार से मार्कट-शावक का खिलौना ले आया और उसे सौंप दिया। माणविका ने कहा—'आप इसे लेकर रजक-पुत्र के पास जायें और उसे आप पीले रंग से रंगने, मलने व चमक-युक्त करने के लिए निर्देश दें।' ब्राह्मण ने वैसा ही किया, किन्तु रजक-पुत्र ने उसे लौटाते हुए कहा—'यह खिलौना न रंगने के योग्य है, न मलने के योग्य है और न चमक करने के योग्य ही।' इसी प्रकार भन्ते ! बाल (मत्त) निगंठों का सिद्धान्त बालों के रंजन के लिए ही है ; पण्डितों के लिए नहीं। यह तो न परीक्षा (अनुयोग) के योग्य है और न मीमाँसा के योग्य।

"वही ब्राह्मण एक धुस्सा लेकर रजक-पुत्र के पास गया। उसने उसे रंगने, मलने और चमक-युक्त करने के लिए दिया। रजक-पुत्र ने उसे ले लिया और कहा—"यह तुम्हारा धुस्सा अवश्य रंगने, मलने व चमक करने के भी उपयुक्त है। इसलिए भन्ते ! उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का वाद (सिद्धान्त) पण्डितों के रंजन के योग्य है ; बालों के लिए नहीं। वह परीक्षा और मीमाँसा के योग्य भी है।"

निगंठ नातपुत्त ने कहा—"गृहपति ! राजा और सारी जनता जानती है कि उपालि गृहपति निगंठ नातपुत्त का श्रावक है । अब तुझे किसका श्रावक समझना चाहिए ?"

गृहपति तत्काल आसन से उठा । उसने उत्तरासंग को एक कन्धे पर किया । जिस दिशा में भगवान् गौतम थे, उस ओर बद्धाञ्जलि होकर निगंठ नातपुत्त से बोला—"मैं उन भगवान् का श्रावक हूँ, जो विगत् मोह, निर्दुःख, विश्व के तारक, अनुत्तर, क्षेमंकर, ज्ञानी, मुक्त, दान्त, आर्य, भावितात्मा, स्मृतिमान्, महाप्रज्ञ, तथागत, सुगत, महान्, उत्तम यश-प्राप्त हैं ।"

"गृहपति ! श्रमण गौतम के गुण तुझे कब ज्ञात हुए ?"

"भन्ते ! पुष्प-राशि लेकर जैसे कोई माली या उसका शिष्य विचित्र माला गूँथे ; उसी प्रकार भन्ते ! वे भगवान् अनेक वर्ण (गुण) वाले, अनेक शत वर्ण वाले हैं । भन्ते ! प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा ?"

श्रमण गौतम के सत्कार को सह न सकने से निगंठ नातपुत के मुँह से गर्म खून निकल आया ।

—(मज्झिम निकाय, उपालि सुत्तन्त, २-१-६ के आधार से)

समीक्षा

उपालि नामक कोई वरिष्ठ उपासक महावीर का था, ऐसा आगम साहित्य में कहीं नहीं मिलता है । जैन भिक्षु इतर भिक्षुओं के प्रति कुशल प्रश्न करे, ऐसी भी परम्परा नहीं है । दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ और बुद्ध के बीच हुए वार्तालाप और सम्बोधन आदि से यह भी प्रतिध्वनित होता है कि बुद्ध युवा हैं और दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ वयोवृद्ध । इससे महावीर का ज्येष्ठ होना और बुद्ध का छोटा होना भी पुष्ट होता है ।

'दण्ड' और 'कर्म' की चर्चा में दोनों ही शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं । दण्ड शब्द का उपयोग आगमों में भी इसी अर्थ में मिल जाता है ।[1] 'मनः कर्म' आदि का जैन परम्परा में कोई विरोध नहीं है । महावीर के मत को एकान्त रूप से कायिक-कर्म-प्रधान बतलाना यथार्थ नहीं है । पाप-पुण्य के विचार में जैन-पद्धति के अनुसार मनः, वचन और काय ; इन तीनों की ही सापेक्षता है । मनः-कर्म की मान्यता के पोषक अनेक आधार जैन-परम्परा में प्रसिद्ध हैं । प्रसन्नचन्द्र[2] राजर्षि का मनोद्वन्द्व, तण्डुल मत्स्य की मानसिक हिंसा, स्कन्दक मुनि का अपने प्राग्भव में काचर (फल विशेष) का छीलना[3] आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं । आगम तो यहाँ तक कहते हैं, एकेन्द्रियप्राणियों के वध में और

१. स्थानांग, स्था० ३, सू० १२६ ; आवश्यक सूत्र, चतुर्थ अध्ययन ।
२. देखिए, "अनुयायी राजा" प्रकरण के अन्तर्गत "श्रेणिक बिम्बिसार" ।
३. मुनि श्री धनराजजी, भाव भास्कर काव्यम्, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली ।

पंचेन्द्रिय प्राणियों के वध में इन्द्रियों के आधार पर पाप की न्यूनाधिकता कहना, अनार्य वचन है।[1]

डॉ० जेकोबी ने उपालि के घटना-प्रसंग पर समीक्षा करते हुए लिखा है—"महावीर का कायिक पाप को बड़ा बताना आगम-सम्मत ही है। सूत्रकृतांग (२, ४ तथा २, ६) में इस अभिमत की पुष्टि मिलती है।"[2] डॉ० जेकोबी की यह समीक्षा-यथार्थ नहीं है; क्योंकि वहाँ जो कहा गया है, इसका हार्द इससे अधिक नहीं है कि काय-दण्ड भी एक पाप-बन्ध का निमित्त है और उपहास मनोदण्ड की एकान्तवादिता का किया गया है।[3] इस प्रसंग में निर्ग्रन्थ को शीतजल का परित्यागी व उष्ण जलसेवी बताया है, जो जैन-साधुओं की क्रिया से सुसंगत ही है।

(३) अभय राजकुमार

एक समय भगवान् राजगृह के वेणु-वन कलन्दक निवाप में विहार करते थे। अभय राजकुमार निगंठ नातपुत्त के पास गया। निगंठ नातपुत्त ने उससे कहा—"राजकुमार! श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ कर, इससे तेरा सुयश फैलेगा। जनता में चर्चा होगी, 'अभय राजकुमार ने इतने महर्द्धिक श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ किया है'।"

अभय राजकुमार ने निगंठ नातपुत्त से पूछा—"भन्ते! मैं शास्त्रार्थ का आरम्भ कैसे करूँ?"

निगंठ नातपुत्त ने उत्तर दिया—"तुम गौतम बुद्ध से पूछना, 'क्या तथागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरों को अप्रिय हो।' यदि श्रमण गौतम स्वीकृति में उत्तर दे तो पूछना, 'फिर पृथग् जन (अज्ञ संसारी जीव) से तथागत का क्या अन्तर हुआ? ऐसे वचन तो पृथग् जन भी बोल सकता है।' यदि श्रमण गौतम नकारात्मक उत्तर दे तो पूछना, 'आपने देवदत्त के लिए यह भविष्यवाणी क्यों की, वह दुर्गतिगामी, नैरयिक, कल्प भर नरकवासी और अचिकित्स्य है। आपके इस कथन से वह कुपित (अप्रसन्तुष्ट) हुआ है।' इस प्रकार दोनों ओर के प्रश्न पूछने पर श्रमण गौतम न उगल सकेगा, न निगल सकेगा। किसी पुरुष के गले में यदि लोहे की बंसी फँस जाती है तो वह न उगल सकता है, न निगल सकता है; ऐसी ही स्थिति बुद्ध की होगी।"

निगंठ नातपुत्त को अभिवादन कर अभय राजकुमार वहाँ से उठा और बुद्ध के पास गया। अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। अभय राजकुमार ने समय देख कर सोचा—"भगवान् के साथ शास्त्रार्थ करने का आज समय नहीं है। कल अपने घर पर ही शास्त्रार्थ

---

१. अहिंसा पर्यवेक्षण, पृ० ६७।
२. *S.B.E.* Vol. XLV, Introduction, p. XVII.
३. देखिए—सम्बन्धित विवरण, "समसामयिक धर्मनायक" प्रकरण के अन्तर्गत "आर्द्रक मुनि"।

सकूँगा ।" राजकुमार ने उस समय चार आदमियों के साथ बुद्ध को दूसरे दिन के भोजन का निमंत्रण दिया। बुद्ध ने मौन रह कर उसे स्वीकार किया। अभय राजकुमार अपने राज-प्रासाद में चला आया।

दूसरे दिन पूर्वाह्न के समय चीवर पहिन कर, पात्र व चीवर लेकर बुद्ध अभय राजकुमार के घर आये। बिछे आसन पर बैठे। अभय राजकुमार ने बुद्ध को उत्तम खाद्य-भोज्य से अपने हाथ से तृप्त किया। बुद्ध के भोजन कर चुकने पर, पात्र से हाथ हटा लेने पर अभय राजकुमार एक नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया और शास्त्रार्थ आरम्भ किया। बोला—"भन्ते ! क्या तथागत ऐसा वचन बोल सकते हैं, जो दूसरों को अप्रिय हो ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"राजकुमार ! यह एकान्तिक रूप से नहीं कहा जा सकता।"

उत्तर सुनते ही अभय राजकुमार बोल पड़ा—"भन्ते ! निगंठ नष्ट हो गये।"

बुद्ध ने साश्चर्य पूछा—"राजकुमार ! क्या तू ऐसे बोल रहा है—'भन्ते ! निगंठ नष्ट हो गए' ।"

अभय राजकुमार ने दृढ़ता के साथ कहा—"हाँ, भन्ते ! बात ऐसी ही है। मैं निगंठ नातपुत्त के पास गया था। मुझे आपसे यह दुधारा प्रश्न पूछने के लिए उन्होंने ही प्रेरित किया था। उनका कहना था, इस प्रकार पूछने पर श्रमण गौतम न उगल सकेगा और न निगल सकेगा।"

अभय राजकुमार की गोद में उस समय एक बहुत ही छोटा व मन्द शिशु बैठा था। उसे लक्षित कर बुद्ध ने कहा—"राजकुमार ! तेरे या धाय के प्रमाद से यह शिशु मुख में काठ या ढेला डाल ले तो तू इसका क्या करेगा ?"

राजकुमार ने उत्तर दिया—"भन्ते ! मैं उसे निकाल लूँगा। यदि मैं उसे सीधे ही न निकाल सका तो बायें हाथ से सिर पकड़ कर, दाहिने हाथ से अँगुली टेढ़ी कर खून सहित भी निकाल लूँगा ; क्योंकि कुमार पर मेरी दया है।"

बुद्ध ने कहा—"राजकुमार ! तथागत अतथ्य, अनर्थ-युक्त और अप्रिय वचन नहीं बोलते। तथ्य-सहित होने पर भी यदि अनर्थक और अप्रिय होता है तो तथागत वैसा वचन भी नहीं बोलते। दूसरों को प्रिय होने पर भी जो वचन अतथ्य व अनर्थक होता है, तथागत उसे भी नहीं बोलते। जिस वचन को तथ्य व सार्थक समझते हैं, वह फिर प्रिय या अप्रिय भी क्यों न हो ; कालज्ञ तथागत बोलते हैं ; क्योंकि उनकी प्राणियों पर दया है।"

अभय राजकुमार ने कहा—"भन्ते ! क्षत्रिय-पण्डित, ब्राह्मण-पण्डित, गृहपति-पण्डित, श्रमण-पण्डित प्रश्न तैयार कर तथागत के पास आते हैं और पूछते हैं। क्या आप पहले से ही मन में सोचे रहते हैं, जो मुझे ऐसा पूछेगा, मैं उन्हें ऐसा उत्तर दूँगा।"

बुद्ध ने कहा—"राजकुमार ! मैं तुझे ही एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ, जैसा जचे, वैसा उत्तर देना। क्या तू रथ के अंग-प्रत्यंग में चतुर है ?"

"हाँ भन्ते ! मैं रथ के अंग-प्रत्यंग में चतुर हूँ।"

"राजकुमार ! रथ की ओर संकेत कर यदि तुझे कोई पूछे, रथ का यह कौन-सा अंग-प्रत्यंग है ? तो क्या तू पहले से ही सोचे रहता है, ऐसा पूछा जाने पर मैं ऐसा उत्तर दूँगा या अवसर पर ही यह तुझे भासित होता है ?"

"भन्ते ! मैं रथिक हूँ। रथ के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का मैं प्रसिद्ध ज्ञाता हूँ ; अतः मुझे उसी क्षण भासित हो जाता है।"

"राजकुमार ! इसी प्रकार तथागत को भी उसी क्षण उत्तर भासित हो जाता है ; क्योंकि उनकी धर्म-धातु (मन का विषय) अच्छी तरह सध गई है।"

अभय राजकुमार बोला—"आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! आपने अनेक प्रकार (पर्याय) से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् को शरण जाता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी। आज से मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

—**मज्झिमनिकाय**, अभय राजकुमार सुत्तन्त, २-१-८ के आधार से

समीक्षा

अभय राजकुमार का समीक्षात्मक वर्णन किया जा चुका है।[1]

'**अपदान**' में भी अभय और महावीर के इसी घटना-प्रसंग का उल्लेख हुआ है।[2] वहाँ अभय राजकुमार अपने अतीत जीवन की गाथा में महावीर से विलग होकर बुद्ध की शरण में जाने की बात कहता है। उल्लेखनीय यह है कि बुद्ध की स्तुति में भी वह वहाँ '**कित्तयित्वा जिनवरं, कित्तितो होमि सब्बदा**' ही कहता है।

(४) कर्म-चर्चा

एक समय भगवान् बुद्ध शाक्यों के देवदह निगम में विहार करते थे। भगवान् ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया और उनसे कहा—"कुछ एक श्रमण-ब्राह्मणों का यह सिद्धान्त[3] है—'यह पुरुष सुख-दुःख या असुख या अदुःख जो कुछ भी अनुभव करता है, वह पूर्वकृत के कारण ही करता है। पूर्वकृत कर्मों का तपस्या द्वारा अन्त करने से व नये कर्मों के अकरण से चित्त भविष्य में विपाक-रहित (अनास्रव) हो जाता है। विपाक-रहित होने से कर्म-क्षय, कर्म-क्षय से दुःख-क्षय, दुःख-क्षय से वेदना-क्षय और वेदना-क्षय से सभी दुःख जीर्ण हो जाते हैं'।

---

१. देखिए—"अनुयायी राजा" प्रकरण के अन्तर्गत "अभयकुमार"।
२. अपदान, ५५-४-२१६ से २२१।
३. निगंठ नातपुत्त का सिद्धान्त।

"भिक्षुओ ! उन निगंठों को जब मैं इस सिद्धान्त के बारे में पूछता हूँ, तो वे इसे ठीक बताते हैं। उनसे मैं पुनः पूछता हूँ—'क्या तुम यह जानते हो कि हम विगत में थे ही या नहीं थे ? हमने विगत में पाप-कर्म किया ही है या नहीं किया है ? अमुक-अमुक पाप-कर्म किया है ? क्या यह भी जानते हो, इतना दुःख-नाश हो गया है, इतना दुःख-नाश अभी करना है और इतना दुःख-नाश हो जाने पर सब दुःख का नाश हो जायेगा ? क्या तुम यह भी जानते हो कि इसी जन्म में अकुशल धर्म का प्रहाण और कुशल धर्म का लाभ होना है ?' निगंठों ने मेरे इन प्रश्नों के उत्तर में अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की। तब मैंने उनसे कहा—'जब तुम्हें यह ज्ञात ही नहीं है तो तुम्हारा यह सिद्धान्त युक्त नहीं है। यदि तुम्हें उपर्युक्त प्रश्नों का ज्ञान होता तो तुम्हारा सिद्धान्त युक्त हो सकता था। जैसे कोई पुरुष विष से उपलिप्त दृढ़ शर के फल से विद्ध हो जाने पर दुःखद, कटु व तीव्र वेदना का अनुभव करता है, उसके मित्र व सगे-सम्बन्धी उसे शल्य-चिकित्सक के पास ले जाते हैं। चिकित्सक उसके घाव को चीरता है। इससे वह और भी अधिक वेदना का अनुभव करता है। चिकित्सक शलाका से शल्य का परिशोधन करता है। शल्य को निकालता है। इन सभी क्रियाओं में उसे तीव्र वेदना की अनुभूति होती है। घाव पर दवा लगाने से वह क्रमशः नीरोग, सुखी व स्ववशी होकर यथेच्छ घूमने लगता है। उसे यह ज्ञात होता है, मैं शल्य से विद्ध हुआ था और क्रमशः इस प्रकार नीरोग और सुखी हुआ हूँ। यदि इसी प्रकार तुम्हें भी यह ज्ञात होता कि हम पूर्व में थे, पाप-कर्म किये थे और अमुक-अमुक किये थे आदि ; तो तुम्हारा सिद्धान्त ठीक होता। किन्तु ऐसा नहीं है ; अतः यह सिद्धान्त युक्त नहीं है'।

"निगंठों ने उत्तर में कहा—'आवुस ! निगंठ नातपुत्त सर्वज्ञ ; सर्वदर्शी, अखिल ज्ञान-दर्शन को जानते हैं। चलते, खड़े रहते, सोते, जागते सदा-सर्वदा उन्हें ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है, वे ऐसा कहते हैं—'आवुसो निगंठो ! जो तुम्हारे पूर्वकृत कर्म हैं, उन्हें इस कड़वी दुष्कर तपस्या से नष्ट करो। इस समय काय, वचन व मन से तुम संवृत हो, यह तुम्हारे भविष्य के पाप का अकारण है। इस प्रकार प्राचीन कर्मों की तपस्या से समाप्ति होने पर व नये कर्मों के अनागमन से भविष्य में तुम अनास्रव हो जाओगे। भविष्य में अनास्रव होने से क्रमशः कर्म-क्षय, दुःख-क्षय, वेदना-क्षय और सभी दुःख निर्जीर्ण हो जायेंगे।' यह सिद्धान्त हमें रुचिकर लगता है। इससे हम सन्तुष्ट हैं।'

"निगंठों से मैंने कहा—'आवुसो ! (१) श्रद्धा, (२) रुचि, (३) अनुश्रव, (४) आकार-परिवितर्क, (५) दृष्टि-निध्यान—क्षान्ति ; ये पाँच धर्म इसी जन्म में दो विपाक वाले हैं। अतीत अंशवादी शास्ता (निगंठ नातपुत्त) में क्या आपकी श्रद्धा, रुचि, अनुश्रव, आकार परिवितर्क और दृष्टि-निध्यान—क्षान्ति है ?' भिक्षुओ ! निगंठों के पास मैं इसका भी कोई वाद-परिहार नहीं देखता।

"भिक्षुओ! उन निगंठों से मैं फिर पूछता हूँ—'जिस समय तुम्हारा उपक्रम तीव्र होता है, उस समय उस उपक्रम-सम्बन्धी दुःखद, तीव्र व कटुक वेदना का अनुभव करते हो? जिस समय तुम्हारा उपक्रम तीव्र नहीं होता, उस समय उस उपक्रम सम्बन्धी दुःखद, तीव्र व कटुक वेदना का अनुभव करते हो?' निगंठ मुझे उत्तर देते हैं—'जिस समय हमारा उपक्रम तीव्र होता है, उस समय हम उस उपक्रम सम्बन्धी दुःखद, तीव्र व कटुक वेदना का अनुभव करते हैं और जिस समय उपक्रम तीव्र नहीं होता, उस समय हम तीव्र वेदना का अनुभव नहीं करते।' निगंठों के इस कथन व उपर्युक्त सिद्धान्त में विरोध बताते हुए मैंने उनसे कहा—'उपक्रम की तीव्रता से वेदना में तीव्रता की अनुभूति का होना और तीव्रता के अभाव में वैसा न होना; यदि तुम यही अनुभव करते हो तो अविद्या, अज्ञान व मोह से उस सिद्धान्त को उलटा समझ रहे हो।' भिक्षुओ! निगठों की ओर से इसका भी मुझे कोई उत्तर नहीं मिला।

"भिक्षुओ! मैंने उनसे और भी कई प्रश्न पूछे और उन्होंने सब में ही अनभिज्ञता व्यक्त की। मैंने उनसे पूछा—'निगंठो! जो इसी जन्म में वेदनीय (भोग्य) कर्म हैं, क्या उन्हें दूसरे जन्म में भी वेदनीय किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'जन्मान्तर वेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या इसी जन्म के लिए वेदनीय किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'सुख-वेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या दुःख-वेदनीय-कर्म किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'दुःख-वेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या सुख-वेदनीय कर्म किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'परिपक्व वेदनीय कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या अपरिपक्व-वेदनीय कर्म किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'अपरिपक्व-वेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या परिपक्व-वेदनीय-कर्म किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'बहु-वेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या अल्प-वेदनीय-कर्म किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'अल्प-वेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या बहु-वेदनीय-कर्म किया जा सकता है?'

'नहीं, आवुस!'

'वेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या अवेदनीय-कर्म किया जा सकता है ?'

'नहीं, आवुस !'

'अवेदनीय-कर्म को उपक्रम-विशेष से क्या वेदनीय-कर्म किया जा सकता है ?'

'नहीं, आवुस !'

"अपने प्रश्नों का उपसंहरण करते हुए मैंने उनसे कहा—"उपक्रम-विशेष से उपरोक्त कार्यों में से जब कुछ भी नहीं किया जा सकता, तो आयुष्मान् निगंठो का उपक्रम और दृढ़ उद्योग निष्फल हो जाता है'।

"भिक्षुओ ! निगंठ ऐसे सिद्धान्त को मानते हैं। ऐसे सिद्धान्तवादी धर्मानुसार दस स्थानों में निन्दनीय होते हैं :

(१) यदि प्राणी पूर्व-विहित कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठों ने विगत में अवश्य ही बुरे कर्म किये थे, जिनसे वे वर्तमान में इस प्रकार दुःखद, तीव्र व कटु वेदनाएँ भोग रहे हैं।

(२) यदि प्राणी ईश्वराधीन ही सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठ अवश्य ही पापी ईश्वर द्वारा बनाए गए हैं, जो वर्तमान में इस प्रकार दुःखद, तीव्र व कटु वेदनाएँ भोग रहे हैं।

(३) यदि प्राणी संगति (भवितव्यता) के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठ अवश्य ही बुरी संगति वाले हैं, जो वर्तमान में इस प्रकार दुःखद, तीव्र व कटु वेदनाएँ भोग रहे हैं।

(४) यदि प्राणी अभिजाति (जन्म) के कारण सुखः-दुःख भोगते हैं, तो निगंठों की अभिजाति अवश्य ही बुरी है, जो वर्तमान में इस प्रकार दुःखद, तीव्र व कटु वेदनाएँ भोग रहे हैं।

(५) यदि प्राणी इसी जन्म के उपक्रम-विशेष से सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठों का इस जन्म का उपक्रम भी बुरा है, जो वर्तमान में इस प्रकार दुःखद, तीव्र व कटु वेदनाएँ भोग रहे हैं।

(६) यदि प्राणी पूर्व-विहित कर्मों के कारण सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठ गर्हणीय है।

(७) यदि प्राणी ईश्वर-निर्मिति से सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठ गर्हणीय हैं।

(८) यदि प्राणी भवितव्यता के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठ गर्हणीय हैं।

(९) यदि प्राणी अभिजाति के कारण सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठ गर्हणीय हैं।

(१०) यदि प्राणी इसी जन्म के उपक्रम के कारण सुख-दुःख भोगते हैं, तो निगंठ गर्हणीय है।

"पाँच उपक्रम, दृढ़ उद्योग सफल हैं :

(१) दुःख से अनभिभूत भिक्षु शरीर को दुःख से अभिभूत नहीं करता।

(२) भिक्षु धार्मिक सुख का परित्याग नहीं करता।

(३) भिक्षु उस सुख में अधिक मूर्च्छित नहीं होता।

(४) भिक्षु ऐसा जानता है, इस दुःख-कारण के संस्कार के अभ्यास-कर्ता को, उस संस्काराभ्यास से विराग होता है।

(५) भिक्षु ऐसा जानता है, इस दुःख-निदान की उपेक्षा करने वाले को उस भावना से विराग होता है।......

"कोई पुरुष किसी स्त्री में अनुरक्त, प्रतिबद्ध चित्त व तीव्र रागी है। यदि वह पुरुष उस स्त्री को किसी अन्य पुरुष के पास खड़े, बातें करते हुए व हास्य-विनोद करते हुए देखता है, तो उसे बहुत शोक व दुःख होता है। वह पुरुष उस प्रसंग से शिक्षा ग्रहण कर अपने मन को वश में कर लेता है तथा उस स्त्री से अपना अनुराग-भाव हटा लेता है। उसके बाद वही पुरुष उस स्त्री को यदि अन्य पुरुष के साथ खड़े, बातें करते हुए व हास्य-विनोद करते हुए देखता है तो उसे शोक व दुःख नहीं होता ; क्योंकि वह पुरुष उस स्त्री से वीतराग हो चुका है। इसी प्रकार जो भिक्षु दुःख से अनभिभूत शरीर को दुःख से अभिभूत नहीं करता, धार्मिक सुख का परित्याग नहीं करता, उस सुख में मूर्च्छित नहीं होता, इत्यादि प्रकारों से उसका दुःख जीर्ण होता है और उसका उपक्रम व दृढ़ उद्योग सफल होता है।

"सुख-विहार करते हुए किसी भिक्षु को ऐसा अनुभव होता है कि मेरे अकुशल धर्म बढ़ रहे हैं और कुशल धर्म क्षीण हो रहे हैं ; अतः क्यों न मैं अपने को दुःख में नियोजित करूँ ? वह अपने को कष्ट-कारक क्रियाओं में लगा देता है। उसके परिणाम-स्वरूप उसके अकुशल धर्म क्षीण होने लगते हैं और कुशल धर्म बढ़ने लगते हैं। जब सब तरह से वह अपने को कुशल धर्मों में प्रतिष्ठित पाता है, तो उन कष्ट-कारक क्रियाओं को छोड़ देता है ; क्योंकि उसका प्रयोजन फलित हो गया। एक इषुकार अंगारों पर बाण-फल को तपाता है, उसे सीधा करता है ; किन्तु जब वह पूर्णतः तप जाता है, सीधा हो जाता है, तो वह उसे पुनः अंगारे पर नहीं रखता ; क्योंकि उसका प्रयोजन फलित हो गया। इसी प्रकार अकुशल धर्म की क्षीणता और कुशल धर्मों की वृद्धि हो जाने पर भिक्षु कायिक कष्ट से उपराम ले लेता है। उसका उपक्रम फलित होता है।

"...भिक्षुओ ! तथागत का यह वाद है। इस वाद के उद्गाता तथागत की प्रशंसा के दस स्थान होते हैं :

(१) यदि प्राणी पूर्व-विहित कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं, तो तथागत विगत में अवश्य ही पुण्य-कर्म करने वाले हैं, जो वर्तमान में आस्रव-विहीन सुख-वेदना का अनुभव करते हैं।

(२) यदि प्राणी ईश्वराधीन हो सुख-दुःख भोगते हैं, तो तथागत अवश्य ही अच्छे ईश्वर द्वारा निर्मित हैं, जो वर्तमान में आस्रव-विहीन सुख वेदना का अनुभव करते हैं।

(३) यदि प्राणी संगति के अनुसार सुख-दुःख भोगता है, तो तथागत अवश्य ही उत्तम संगति वाले हैं, जो वर्तमान में आस्रव-विहीन सुख-वेदना का अनुभव करते हैं।

(४) यदि प्राणी अभिजाति के अनुसार सुख-दुःख भोगते हैं, तो तथागत अवश्य ही उत्तम अभिजाति वाले हैं, जो वर्तमान में आस्रव-विहीन सुख-वेदना का अनुभव करते हैं।

(५) यदि प्राणी इसी जन्म के उपक्रम-विशेष से सुख-दुःख भोगते हैं, तो तथागत अवश्य ही सुन्दर उपक्रम वाले हैं, जो वर्तमान में आस्रव-विहीन सुख-वेदना का अनुभव करते हैं।

(६) यदि प्राणी पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख अनुभव करते हैं, तो तथागत प्रशंसनीय हैं ; यदि पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव नहीं करते, तो भी तथागत प्रशंसनीय हैं।

(७) यदि प्राणी ईश्वर-निर्मिति से सुख-दुःख अनुभव करते हैं या नहीं करते, तो भी तथागत प्रशंसनीय हैं।

(८) यदि प्राणी संगति के कारण सुख-दुःख की अनुभूति करते हैं या नहीं करते, तो भी तथागत प्रशंसनीय हैं।

(९) यदि प्राणी अभिजाति के कारण सुख-दुःख की अनुभूति करते हैं या नहीं करते, तो भी तथागत प्रशंसीय हैं।

(१०) यदि प्राणी इसी जन्म के कारण सुख-दुःख की अनुभूति करते हैं या नहीं करते, तो भी तथागत प्रशंसनीय हैं।"

भिक्षुओं ने सन्तुष्ट हो भगवान् के भाषण का अभिनन्दन किया।

—मज्झिमनिकाय, देवदह सुत्तन्त, ३-१-१ के आधार से

समीक्षा

उक्त प्रकरण में सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का वर्णन तो लगभग वैसा ही है, जैसा चूलदुक्खक्खन्धक सुत्तन्त में किया गया है।[1] इस प्रसंग की नवीन चर्चा वेदनीय अवेदनीय कर्म की है। सभी प्रश्नों का उत्तर निगंठों से निषेध की भाषा में दिलाया गया है। वस्तुस्थिति यह है कि जैन-कर्मवाद में निकाचित कर्मावस्था की अपेक्षा से तो उक्त निषेध यथार्थ माने जा सकते हैं, किन्तु अन्य उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, संक्रमण आदि कर्मावस्थाओं की अपेक्षाओं से अधिकांश निषेध अयथार्थ प्रमाणित होते हैं।[2]

---

१. इसी प्रकरण का पाँचवाँ प्रसंग।
२. कर्मावस्था के भेद-प्रभेद के लिए देखिए—स्थानांग सूत्र, स्था० ४।

(५) निर्ग्रन्थों का तप

एक समय भगवान् बुद्ध शाक्य देश में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार करते थे। महानाम शाक्य भगवान् के पास आया और अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। भगवान् ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"....महानाम ! एक बार मैं राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहा था। उस समय बहुत सारे निगंठ (जैन साधु) ऋषि-गिरि की कालशिला पर खड़े रहने का ही व्रत ले, आसन छोड़ उपक्रम करते थे। वे दुःखद, कटु व तीव्र वेदना झेल रहे थे। मैं सन्ध्याकालीन ध्यान समाप्त कर एक दिन उनके पास गया। मैंने उनसे कहा—'आवुसो ! निगंठो तुम खड़े क्यों हो ? आसन छोड़ कर दुःखद, कटु व तीव्र वेदना क्यों झेल रहे हो ?' निगंठों ने मुझे तत्काल उत्तर दिया—'आवुस ! निगंठ नातपुत्त सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। वे अपरिशेष ज्ञान-दर्शन को जानते हैं। चलते, खड़े रहते, सोते, जागते ; सर्वदा उन्हें ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। वे हमें प्रेरणा देते हैं : 'निगंठो ! पूर्वकृत कर्मों को इस कड़वी दुष्कर क्रिया (तपस्या) से समाप्त करो। वर्तमान में तुम काय, वचन व मन से संवृत हो ; अतः यह अनुष्ठान तुम्हारे भावी-पाप कर्मों का अकारक है। इस प्रकार पूर्वकृत कर्मों का तपस्या से अन्त हो जाने पर और नवीन कर्मों के अनागमन से तुम्हारा चित्त भविष्य में अनास्रव होगा ; अनास्रव न होने से कर्म-क्षय होगा, कर्म-क्षय से दुःख-क्षय, दुःख-क्षय से वेदना-क्षय और वेदना-क्षय से सभी दुःख नष्ट हो जायेंगे।' हमें यह विचार रुचिकर प्रतीत होता है ; अतः हम इस क्रिया से सन्तुष्ट हैं।'

"महानाम ! मैंने उनसे कई प्रश्न पूछे—'क्या तुम जानते हो, हम पहले थे ही या नहीं थे ? हमने पूर्व समय में पापकर्म किये ही हैं या नहीं किये हैं ? क्या तुम यह भी जानते हो, अमुक-अमुक पाप-कर्म किये हैं ? क्या तुम यह भी जानते हो, इतना दुःख नाश हो गया है, इतना दुःख नाश करना है और दुःख नाश होने पर सब दुःखों का नाश हो जायेगा ? क्या तुम यह भी जानते हो, इसी जन्म में अकुशल धर्मों का प्रहाण और कुशल धर्मों का लाभ होगा ?' उन्होने मुझे नकारात्मक उत्तर दिया और इस विषय में अपनी सर्वथा अनभिज्ञता व्यक्त की। मैंने उनसे कहा—'अतएव लोक में जो रुद्र, रक्तपाणि, क्रूरकर्मा और निकृष्ट जाति वाले मनुष्य हैं वे ही निगंठों में प्रव्रजित होते हैं।'

"निगंठों ने मेरे कथन के प्रतिवाद में कहा—'आवुस ! गौतम ! सुख से सुख प्राप्य नहीं है ; दुःख से सुख प्राप्य है। यदि सुख से सुख प्राप्य होता, तो राजा मागध श्रेणिक बिम्बिसार अधिक सुख प्राप्त करता। राजा मागध आयुष्यमान से बहुत सुख-विहारी है।'

"मैंने उनसे कहा—'आयुष्यमान् निगंठों ने अवश्य बिना कुछ सोचे ही शीघ्रता में बात कह दी। आप लोगों को तो मुझे ही पहले-पहल यह प्रश्न पूछना चाहिए था।' निगंठों ने अपनी गलती स्वीकार की और कहा—'हमने अवश्य ही शीघ्रता में यह बात कह डाली।

इसे जाने दीजिए। हम अब आयुष्यमान् गौतम से पूछते हैं, दोनों में अधिक सुख-विहारी कौन है ?'

"मैंने प्रतिप्रश्न प्रस्तुत करते हुए कहा—'निगंठो ! एक बात मैं तुमसे पूछता हूँ। जैसा तुम्हें उपयुक्त लगे, उत्तर देना। निगंठो ! राजा बिम्बिसार विना हिले-डुले और मौन रखते हुए सात अहोरात्र एकान्त सुख का अनुभव करते हुए विहार कर सकता है ?'

'नहीं, आवुस !'

'छः अहोरात्र।'

'नहीं, आवुस !'

'पाँच अहोरात्र, चार अहोरात्र, तीन अहोरात्र, दो अहोरात्र और एक अहोरात्र भी ऐसा अनुभव कर सकता है ?'

'नहीं, आवुस !'

'किन्तु निगंठो ! मैं बिना हिले-डुले और मौन रहकर एक अहोरात्र, दो अहोरात्र, तीन अहोरात्र, चार अहोरात्र, पाँच अहोरात्र, छः अहोरात्र और सात अहोरात्र तक भी एकान्त सुख का अनुभव करता हुआ विहार कर सकता हूँ। इससे तुम सहज ही अनुमान कर सकते हो कि ऐसा होने पर राजा बिम्बिसार और मेरे बीच, दोनों में कौन अधिक सुख-विहारी है ?'

"निगंठों ने एक स्वर से उत्तर दिया—'ऐसा होने पर तो आयुष्मान् गौतम अधिक सुख-विहारी हैं'।"

भगवान् बुद्ध से यह सारा उदन्त सुनकर महानाम शाक्य सन्तुष्ट हुआ और उसने भगवान् के भाषण का अभिनन्दन किया।

—**मज्झिमनिकाय**, चूलदुक्खक्खन्ध सुत्तन्त, १-२-४ के आधार से

समीक्षा

यहाँ सर्वज्ञता और कठोर तपश्चर्या का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह जैन मान्यता से प्रतिकूल नहीं है। अन्य वितर्क तो साम्प्रदायिक पद्धति के हैं ही।

(६) *असिबन्धक पुत्र ग्रामणी*

एक समय भगवान् गौतम नालन्दा में प्रावारिक आम्र-वन में विहार करते थे। निगंठों का शिष्य असिबन्धक पुत्र ग्रामणी भगवान् के पास आया। एक ओर बैठ गया। भगवान् ने उससे पूछा—"ग्रामणी ! निगंठ नातपुत्र अपने श्रावकों (शिष्यों) को क्या धर्मोपदेश करता है ?"

"भन्ते ! जो प्राणों का अतिपात करता है, अदत्त ग्रहण करता है, व्यभिचार में आसक्त

होता है, झूठ बोलता है, वह नरक में पड़ता है। जो व्यक्ति इन कार्यों को जितना अधिक करता है, उसकी वैसी ही गति होती है। निगंठ नातपुत्र अपने श्रावकों को यही धर्मोपदेश करता है।"

"ग्रामणी! निगंठ नातपुत्र के सिद्धान्तानुसार तो कोई भी व्यक्ति नरकगामी नहीं होगा?"

"कैसे भन्ते!"

"ग्रामणी! एक व्यक्ति रह-रह कर दिन या रात में प्राणों का अतिपात करता ही रहता है; फिर भी तुम बतलाओ उसका समय जीव-हिंसा करने में अधिक लगता है या जीव-हिंसा नहीं करने में?"

"भन्ते! यह तो स्पष्ट ही है। उसका अधिकांश समय तो जीव-हिंसा के उपराम में ही व्यतीत होगा।"

"ग्रामणी! तो फिर 'जो-जो अधिक करता है, उसकी वैसी ही गति होती है'; निगंठ नातपुत्र का यह सिद्धान्त यथार्थ कैसे ठहरेगा?"

"ग्रामणी! एक व्यक्ति रह-रह कर दिन में या रात में झूठ बोलता है, अदत्त-ग्रहण करता है या व्यभिचार करता है; फिर भी तुम बतलाओ उसका अधिक समय झूठ बोलने में, अदत्त-ग्रहण में या व्यभिचार में लगता है अथवा झूठ न बोलने में, अदत्त-ग्रहण न करने में, व्यभिचार न करने में?"

"भन्ते! यह भी स्पष्ट ही है। उसका अधिकांश समय झूठ न बोलने में, अदत्त-ग्रहण न करने में और व्यभिचार के उपराम में ही व्यतीत होगा।"

"ग्रामणी! निगंठ नातपुत्र का सिद्धान्त इस प्रकार यथार्थता से दूर जाता है। कुछ एक आचार्य ऐसा मानते हैं और उपदेश करते हैं—'जो जीव-हिंसा करता है, झूठ बोलता है; वह नरक में जाता है।' उस आचार्य के प्रति श्रावक बड़े श्रद्धालु होते हैं।"

"श्रावक के मन में चिन्तन उभरता है, मेरे आचार्य का ऐसा वाद है कि 'जो जीव हिंसा करता है, वह अपाय-गामी होता है।' मैंने भी प्राण-हिंसा की है; अतः मैं भी अपाय-गामी हूँ। ग्रामणी! जब तक वह इस सिद्धान्त, चिन्तन व दृष्टि का परित्याग नहीं करेगा; मर कर अपाय में जायेगा।

"ग्रामणी! संसार में अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या-चरण-सम्पन्न, सुगति-प्राप्त, लोकविद्, अनुत्तर, पुरुष-दम्य सारथी, देवताओं और मनुष्यों के गुरु भगवान् बुद्ध उत्पन्न होते हैं। वे अनेक प्रकार से जीव-हिंसा की निन्दा करते हैं और जीव-हिंसा से विरत रहने का उपदेश देते हैं। वे ऐसे ही अनेक प्रकार से झूठ बोलने, अदत्त-ग्रहण करने व व्यभिचार की निन्दा करते हैं और झूठ, अदत्त-ग्रहण व व्यभिचार से विरत होने का उपदेश देते हैं। उनके प्रति श्रावक श्रद्धालु होते हैं।

"वह श्रावक ऐसा सोचता है—'भगवान् ने अनेक प्रकार से जीव-हिंसा से उपरत रहने का उपदेश दिया है। क्या मैंने भी कभी कुछ जीव-हिंसा की है? हाँ, मैंने भी जीव-हिंसा की है। वह उचित नहीं है, सम्यक् नहीं है। उसी कारण मुझे पश्चाताप करना होगा। मैं उस पाप से अछूता नहीं रहूँगा।' इस प्रकार चिन्तन करता हुआ वह जीव-हिंसा छोड़ देता है और भविष्य में भी उससे विरत रहता हुआ पाप से बच जाता है। उसका यही चिन्तन अदत्त-ग्रहण, व्यभिचार व असत्य-भाषण के बारे में होता है।

"वह जीव-हिंसा छोड़, उससे विरत रहता है; असत्य भाषण छोड़, उससे विरत रहता है; पैशुन्य छोड़, उससे विरत रहता है; कठोर वचन छोड़, उससे विरत रहता है; द्वेष छोड़, उससे विरत रहता है और मिथ्यादृष्टि छोड़, सम्यक् दृष्टि से युक्त होता है।

"ग्रामणी! ऐसा यह आर्य-श्रावक लोभ-रहित, द्वेष-रहित, असम्मूढ़, संप्रज्ञ, स्मृतिमान्, मैत्री-सहगत चित्त से एक दिशा को व्याप्त कर, वैसे ही दूसरी दिशा को, तीसरी व चौथी दिशा को; ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक् दिशाओं को और सब ओर से सारे लोक को विपुल, अप्रमाण, निर्वैर, अव्यापाद, मैत्री-सहगत चित्त से व्याप्त कर विहार करता है।

"कोई बलिष्ठ शंख-वादक अपने अल्प बल-प्रयोग से चारों दिशाओं को गुंजा देता है; वैसे ही मैत्री चेता विमुक्ति के अभ्यास-कर्ता के समक्ष संकीर्णता में डालने वाले कर्म ठहर नहीं पाते।

"इसी प्रकार वह आर्य श्रावक लोभ-रहित, द्वेष-रहित, असम्मूढ़···, करुणा सहगत चित्त से..., मुदिता सहगत चित्त से···, उपेक्षा सहगत चित्त से समस्त दिशाओं को व्याप्त कर विहार करता है। संकीर्णता में डालने वाले कर्म उसके समक्ष ठहर नहीं पाते।"

असिबन्धक पुत्र ग्रामणी भगवान् से बहुत प्रभावित हुआ। उसने निवेदन किया—"आश्चर्य, भन्ते! आश्चर्य, भन्ते!···आज से मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

—**संयुत्तनिकाय**, संखसुत्त, ४०-८ के आधार से—

समीक्षा

आगम-साहित्य में असिबन्धक पुत्र ग्रामणी नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता। त्रिपिटक-साहित्य में भी **'ग्रामणी संयुत्त'** के अतिरिक्त और कहीं इसकी चर्चा विशेषतः नहीं मिलती। 'ग्राम का अगुआ' इस अर्थ में इसे 'ग्रामणी' कहा गया है।

अहिंसा, सत्य आदि चार यमों की चर्चा यहाँ की गई है। बुद्ध ने इनका खण्डन किया है, पर यथार्थ में वाक्-चातुर्य से अधिक वह कुछ नहीं। वस्तुतः तो बुद्ध स्वयं अहिंसा, सत्य आदि को इसी प्रकरण में उपादेय बतलाते हैं। पंचशील में भी चार शील चतुर्याम धर्म

रूप ही तो है।[1] प्रस्तुत प्रकरण में मैत्री, करुणा आदि चार भावनाओं का सम्मुल्लेख हुआ है, जो पातञ्जल योगदर्शन[2] तथा जैन-परम्परा[3] में भी अभिहित है।

(७) नालन्दा में दुर्भिक्ष

भगवान् बुद्ध एक बार कोशल में चारिका करते हुए बृहद् भिक्षु-संघ के साथ नालन्दा आये और प्रावारिक आम्रवन में ठहरे। नालन्दा में उन दिनों भारी दुर्भिक्ष था। आजकल में जनता के प्राण निकल रहे थे। जनता सूखकर शलाका बन गई थी, मृत मनुष्यों की उजली हड्डियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई थीं। निगंठ नातपुत्र निगंठों की बृहद् परिषद् के साथ उस समय वहीं वास करते थे। असिबन्धक पुत्र ग्रामणी निगंठ नातपुत्त का श्रावक था। वह अपने शास्ता के पास गया और अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। निगंठ नातपुत्त ने उससे कहा—"ग्रामणी ! तू श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ कर। इससे दूर-दूर तक तेरा सुयश फैलेगा। जनता कहेगी, असिबन्धक पुत्र ग्रामणी इतने बड़े ऋद्धिमान् तेजस्वी श्रमण गौतम के साथ शास्त्रार्थ कर रहा है।"

"भन्ते ! इतने बड़े ऋद्धिमान् तेजस्वी श्रमण गौतम के साथ मैं शास्त्रार्थ कैसे करूँगा ?"

"ग्रामणी ! श्रमण गौतम के पास जा और उससे पूछ—'भन्ते ! भगवान् तो अनेक प्रकार से कुलों के उदय, अनुरक्षा और अनुकम्पा का वर्णन करते हैं न ?' श्रमण गौतम इस प्रश्न का यदि स्वीकारात्मक उत्तर दे तो तू उसे पुनः पूछना—'भन्ते ! दुर्भिक्ष के इस विकट समय में भी आप इतने बड़े भिक्षु-संघ के साथ यहाँ चारिका कर रहे हैं तो क्या आप कुलों के नाश व उनके अहित के लिए तुले हुए हैं ?' इस प्रकार पूछने पर श्रमण गौतम न उगल सकेगा और न निगल सकेगा।"

असिबन्धक पुत्र ग्रामणी निगंठ नातपुत्त को अभिवादन व प्रदक्षिणा कर चला और गौतम बुद्ध के पास आया। अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। ग्रामणी ने भगवान् से उक्त प्रश्न किया और कहा—"क्या आप इस प्रकार कुलों के नाश व उनके अहित के लिए तुले हुए हैं ?"

भगवान ने उत्तर दिया—"ग्रामणी ! आज से एकानवे कल्प तक का मैं स्मरण करता

---

१. "यो पाणं नातिपातेति मुसावादं न भासति,
लोके अदिन्नं नादियति परदारं न गच्छति,
सुरामेरयपानं च यो नरो नानुयुञ्जति,
पहाय पञ्च वेरानि सीलवा इति वुच्चति ॥"

—अंगुत्तर निकाय, पंचकनिपात, ५।२८।१७९।

२. समाधिपाद, १।३३।

३. शान्तसुधारस भावना, १३ से १६।

हूँ। किन्तु एक कुल को भी ऐसा नहीं पाता, जो घर में पके भोजन में से भिक्षा देने के कारण उपहत हो गया हो, अपितु जो कुल आढ्य, महाधन-सम्पन्न, महाभोग-सम्पन्न, स्वर्ण-रजत-सम्पन्न, वस्तु-उपकरण-सम्पन्न व धन-धान्य-सम्पन्न हैं, वे सभी दान, सत्य और श्रामण्य के फल से हुए हैं। कुलों के उपघात के तो आठ हेतु होते हैं :

(१) राजा द्वारा कोई कुल नष्ट कर दिया जाता है,
(२) चोर द्वारा कुल नष्ट कर दिया जाता है,
(३) अग्नि द्वारा कुल नष्ट कर दिया जाता है,
(४) पानी द्वारा कुल नष्ट कर दिया जाता है,
(५) गड़े धन का अपने स्थान से चला जाना,
(६) अच्छे तौर से न की हुई खेती नष्ट हो जाती है,
(७) कुल-अंगार पैदा हो जाने से, जो सम्पत्ति को फूँक देता है, चौपट कर देता है, विध्वंस कर देता है और
(८) सभी पदार्थों की अनित्यता।

"ग्रामणी ! ये आठ हेतु कुलों के उपघात के लिए हैं। इनके होते हुए भी जो मुझे यह कहे—'भगवान् कुलों के सताने व उनके उपघात के लिए तुले हुए हैं, वह इस बात को बिना छोड़े, इस विचार को बिना छोड़े, इस धारणा का बिना परित्याग किये, मरते ही नरक में जायेगा'।"

असिबन्धक पुत्र ग्रामणी भगवान् के इस कथन से बहुत प्रभावित हुआ। सहसा उसके मुख से उदान निकला—"आश्चर्य, भन्ते ! आश्चर्य, भन्ते ! जैसे औंधे को सीधा कर दे, आवृत को अनावृत कर दे, मार्ग-विस्मृत को मार्ग बता दे, अन्धेरे में तेल का दीपक जला दे; जिससे सनेत्र देख सकें; उसी प्रकार भगवान् ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी। आज से मुझे अञ्जलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

—संयुक्त निकाय, कुलसुत्त, ४०-१-९ के आधार से

समीक्षा

आगम साहित्य में नालन्दा की दुर्भिक्ष-स्थिति का कोई उल्लेख नहीं है।

प्रस्तुत प्रकरण से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि महावीर और बुद्ध एक ही काल में अपनी-अपनी भिक्षु-परिषद् सहित नालन्दा में थे।

(८) चित्र गृहपति

निगंठ नातपुत्र अपनी बृहत् परिषद् के साथ उस समय मच्छिकासण्ड में ठहरे हुए थे। गृहपति चित्र ने जब यह सुना तो कुछ उपासकों के साथ वह उनके पास आया और कुशल

क्षेम पूछकर एक ओर बैठ गया। गृहपति चित्र से निगंठ नातपुत्र ने पूछा—"गृहपति ! क्या तुझे यह विश्वास है कि श्रमण गौतम भी अवितर्क-अविचार समाधि लगता है ? क्या उसके वितर्क और विचार का निरोध होता है ?"

"भन्ते ! मैं श्रद्धा से ऐसा नहीं मानता हूँ कि भगवान् को अवितर्क-अविचार समाधि लगती है।......"

निगंठ नातपुत्र ने अपनी परिषद् की ओर देखकर कहा—"देखो, गृहपति चित्र कितना सरल, सत्यवादी और निष्कपट है। वितर्क और विचार का निरोध कर देना मानो हवा को जाल से बझाना है।"

"भन्ते ! आप ज्ञान को बड़ा समझते हैं या श्रद्धा को ?"

"गृहपति ! श्रद्धा से तो ज्ञान ही बड़ा है।"

"भन्ते ! जब मेरी इच्छा होती है, मैं प्रथम ध्यान, द्वितीय ध्यान, तृतीय ध्यान या चतुर्थ ध्यान में विहार करता हूँ; अतः मैं स्वयं ही जान लेता हूँ और देख लेता हूँ। किसी श्रमण या ब्राह्मण की श्रद्धा से मुझे जानने की आवश्यकता नहीं होती।"

निगंठ नातपुत्र ने अपनी परिषद् की ओर देखकर कहा—"गृहपति चित्र कितना वक्र, शठ व धूर्त है।"

गृहपति चित्र ने निगंठ नातपुत्र को कीलते हुए कहा—"भन्ते ! अभी-अभी आपने कहा था—'गृहपति चित्र सरल, सत्यवादी और निष्कपट है' और अभी-अभी आप कह रहे हैं—'गृहपति चित्र वक्र, शठ व धूर्त है।' यदि आपका पहला कथन सत्य है तो दूसरा कथन मिथ्या है और यदि दूसरा कथन सत्य है तो पहला कथन मिथ्या है।"

गृहपति चित्र ने अपनी वार्ता के संदर्भ में आगे और कहा—"भन्ते ! धर्म के दस प्रश्न आते हैं। जब आपको इनका उत्तर ज्ञात हो तो आप मुझे और अपनी परिषद् को अवश्य बतायें। वे प्रश्न हैं :

(१) जिसका प्रश्न एक का हो, जिसका उत्तर भी एक का हो,

(२) जिसका प्रश्न दो का हो, जिसका उत्तर भी दो का हो,

(३) जिसका प्रश्न तीन का हो, जिसका उत्तर भी तीन का हो,

(४) जिसका प्रश्न चार का हो, जिसका उत्तर भी चार का हो,

(५) जिसका प्रश्न पाँच का हो, जिसका उत्तर भी पाँच का हो,

(६) जिसका प्रश्न छ का हो, जिसका उत्तर भी छ का हो,

(७) जिसका प्रश्न सात का हो, जिसका उत्तर भी सात का हो,

(८) जिसका प्रश्न आठ का हो, जिसका उत्तर भी आठ का हो,

(६) जिसका प्रश्न नौ का हो, जिसका उत्तर भी नौ का हो ; और

(१०) जिसका प्रश्न दस का हो, जिसका उत्तर भी दस का हो।"

गृहपति चित्र ने निगंठ नातपुत्र के समक्ष प्रश्न उपस्थित किया और उठकर चला गया।

—संयुत्तनिकाय, निगंठ सुत्त, ३६-८ के आधार से

समीक्षा

अवितर्क-अविचार समाधि का उल्लेख शुक्ल ध्यान के द्वितीय चरण के रूप में जैन दर्शन में भी आता है।[1] चित्र गृहपति मच्छिकासण्ड ग्राम का निवासी व कोषाध्यक्ष था।[2] धर्म-कथा में वह बहुत कुशल था। इसने महक, कामभू, गोदत्त, अचेल काश्यप आदि अनेक लोगों से चर्चा की थी।[3] बुद्ध ने उसे धर्म-कथिकों में अग्रगण्य कहा।[4]

(६) कौतूहलशाला सुत्त

वत्स गोत्र परिव्राजक भगवान् बुद्ध के पास आया और कुशल-क्षेम पूछ कर एक ओर बैठ गया। भगवान् से बोला—"गौतम! बहुत समय पूर्व की बात है। एक दिन कौतूहल-शाला[5] में एकत्रित विभिन्न मतावलम्बी श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजकों के बीच चर्चा चली—'पूरणकाश्यप संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर और बहुजन-सम्मानित हैं। वे अपने मृत श्रावकों के बारे में सही सही बता देते हैं कि अमुक वहाँ उत्पन्न हुआ है और अमुक वहाँ। उनका जो उत्तम पुरुष, परम पुरुष, परम-प्राप्ति-प्राप्त श्रावक है, वह भी मृत श्रावकों के बारे में सही-सही बता देता है कि अमुक यहाँ उत्पन्न हुआ है और अमुक यहाँ।' मक्खलि गोशाल, निगंठ नातपुत्त, संजयवेलट्ठिपुत्र, प्रकुध कात्यायन और अजित-केशकम्बल भी संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर और बहुजन-सम्मानित हैं। वे सभी मृत श्रावकों के बारे में इस प्रश्न का सही-सही उत्तर देते हैं। उनका परम-प्राप्ति-प्राप्त श्रावक भी इस प्रश्न का सही उत्तर दे सकता है। भन्ते! आपके बारे में भी वहाँ चर्चा चली—'श्रमण गौतम भी संघी, गणी,...बहुजन-सम्मानित हैं और मृत श्रावकों के बारे में सही-सही उत्तर देते हैं। उनके परम-प्राप्ति-प्राप्त श्रावक भी इस प्रश्न को सहज ही समाहित कर देते हैं। इसके साथ बुद्ध यह भी बता देते हैं—'अमुक ने तृष्णा का उच्छेद कर डाला है, बन्धन-मुक्त हो गया है व मान को अच्छी तरह जान कर दुःख का अन्त कर दिया है।' तब मुझे आपके धर्म को जानने की विचिकित्सा व उत्सुकता हुई।"

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, ५।३४।

२. *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. I, p. 865.

३. संयुक्त निकाय, शल यतनवग्ग, चित्तसंयुत्त।

४. अङ्गुत्तर निकाय, एतदग्गवग्ग सुत्त (देखिए, प्रमुख 'उपासक-उपासिकाएँ' प्रकरण)।

५. वह गृह, जहाँ नाना मतावलम्बी एकत्र होकर धर्म-चर्चा करते हैं और जिसे सभी उपस्थित मनुष्य कौतूहलपूर्वक सुनते हैं।

गौतम बुद्ध ने कहा—"वत्स ! विचिकित्सा स्वाभाविक ही थी। जो वर्तमान में उपादान से युक्त है, मैं उसी की उत्पत्ति के बारे में बतलाता हूँ। जो उपादान से मुक्त हो गया है, उसकी उत्पत्ति के विषय में नहीं। उपादान के सद्भाव में ही जैसे अग्नि जलती है, अभाव में नहीं ; वैसे ही मैं उपादान से युक्त की उत्पत्ति के बारे में ही बतलाता हूँ, उपादान से मुक्त के विषय में नहीं।"

"गौतम ! जिस समय अग्नि की लपट उड़ कर दूर चली जाती है, उस समय उसका उपादान आप क्या बतलाते हैं ?"

"वत्स ! हवा ही उसका उपादान है।"

"गौतम ! इस शरीर-त्याग और दूसरे शरीर-ग्रहण के बीच सत्त्व का उपादान क्या होता है ?"

"वत्स ! तृष्णा ही उसका उपादान है।"

—संयुत्तनिकाय, कुतूहलशाला सुत्त, ४२-९ के आधार से।

समीक्षा

जैन-धारणा के अनुसार मृत की गति को जान लेना बहुत साधारण बात है। महावीर तो कैवल्य-सम्पन्न थे। मृत की गति तो अवधिज्ञान से भी जानी जा सकती है।

(१०) *अभय लिच्छवी*

एक समय आयुष्मान् आनन्द वैशाली के महावन में कूटागारशाला में विहार करते थे। उस समय अभय लिच्छवी व पण्डितकुमार लिच्छवी ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—"भन्ते ! ज्ञातिपुत्र निर्ग्रन्थ का कहना है कि वे सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं और उन्हें असीम ज्ञान-दर्शन प्राप्त है। उनका कहना है—मुझे चलते, खड़े रहते, सोते, जागते, सतत ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। उनका कहना है—तपस्या से प्राचीन कर्मों का नाश होता है और कर्मों के अकरण से नवीन कर्मों का घात होता है। इस प्रकार कर्म-क्षय से दुःख-क्षय, दुःख-क्षय से वेदना-क्षय, वेदना-क्षय से समस्त दुःखों की निर्जरा होगी। इस प्रकार सांदृष्टिक निर्जरा-विशुद्धि से दुःख का अतिक्रमण होता है। भन्ते ! भगवान् इस विषय में क्या कहते हैं ?"

आयुष्मान् आनन्द ने उत्तर दिया—"उन भगवान्, ज्ञानी, दर्शी, अर्हत्, सम्यक्-सम्बुद्ध के द्वारा शोक व रोने-पीटने के अतिक्रमण के लिए, दुःख दौर्मनस्य के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा निर्वाण के साक्षात्कार के लिए तीन निर्जरा—विशुद्धियाँ सम्यक् प्रकार कही गई हैं।"

"भन्ते ! वे तीन कौन-सी हैं ?"

"अभय ! भिक्षु सदाचारी, प्रातिमोक्ष के नियमों का पालन करने वाला, आचार-गोचर से युक्त, अणु-मात्र दोष से भी भीत होने वाला और शिक्षापदों के नियमों का पालन करने वाला होता है। वह नया कर्म नहीं करता और प्राचीन कर्म के फल को भोग कर समाप्त कर देता है। यह सांदृष्टिक निर्जरा है और देश-काल की सीमाओं से रहित है। इसके लिए कह सकते हैं, आओ, स्वयं परीक्षा करो, यह स्वयं निर्वाण की ओर ले जाने वाली है। प्रत्येक विज्ञ पुरुष इसका साक्षात् कर सकता है।

"अभय ! इस प्रकार वह शील-सम्पन्न भिक्षु काम-भोगों से दूर हो, सुख व दुःख के परित्याग से सौमनस्य व दौर्मनस्य के पूर्व ही अस्त हो जाने से, सुख-दुःख-रहित चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहार करता है। वह नया कर्म नहीं करता और प्राचीन कर्म के फल को भोग कर समाप्त कर देता है। यह सांदृष्टिक निर्जरा है और देश-काल की सीमाओं से रहित है।……प्रत्येक विज्ञ पुरुष इसका साक्षात् कर सकता है।

"अभय ! इस प्रकार वह शील-सम्पन्न भिक्षु शील-सम्पन्न, समाधि-सम्पन्न तथा प्रज्ञा-सम्पन्न होकर आस्रवों का क्षय कर अनास्रव चित्त-विमुक्ति व प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी शरीर में जान कर, साक्षात्कार कर और प्राप्त कर विहार करता है। वह नवीन कर्म नहीं करता और प्राचीन कर्म के फल को भोग कर समाप्त कर देता है। यह सांदृष्टिक निर्जरा है और देश-काल की सीमाओं से रहित है।………प्रत्येक विज्ञ पुरुष इसका साक्षात् कर सकता है।

"अभय ! उन भगवान्, ज्ञानी, दर्शी, अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा शोक तथा रोने-पीटने के अतिक्रमण के लिए, दुःख-दौर्मनस्य के नाश के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए तथा निर्वाण के साक्षात्कार के लिए ये तीन निर्जरा—विशुद्धियाँ सम्यक् प्रकार कही गई हैं।"

पण्डितकुमार लिच्छवी ने अभय लिच्छवी से पूछा—"सौम्य ! अभय ! आयुष्मान् आनन्द के सुभाषित का सुभाषित के रूप में अनुमोदन क्यों नहीं करता ?"

"सौम्य ! मैं इससे परे नहीं हूँ। जो व्यक्ति आयुष्मान् आनन्द के सुभाषित का अनुमोदन नहीं करेगा, उसका सिर भी गिर सकता है।"

—**अंगुत्तरनिकाय**, तिकनिपात, ७४, (हिन्दी अनुवाद) पृ० २२७-२८ के आधार से।

समीक्षा

अभय लिच्छवी का उल्लेख प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त **साल्ह सुत्त**[1] में भी आता है। वहाँ भी वह साल्ह लिच्छवी के साथ बुद्ध से चर्चा करने के लिए प्रस्तुत होता है। यहाँ यह स्वयं प्रश्न करता है, वहाँ उसका सहवर्ती साल्ह लिच्छवी। **अंगुत्तरनिकाय** के अँग्रेजी

---

१. अंगुत्तरनिकाय, चतुक्कनिपात, महावग्ग, साल्ह सुत्त, ४-२०-१९६।

अनुवाद में डॉ० वुडवार्ड ने अभय लिच्छवी और अभय राजकुमार को एक ही मान लिया है ।[1] पर वस्तुतः वह दोनों ही व्यक्ति पृथक्-पृथक् हैं । अभय राजकुमार राजगृह का निवासी तथा राजा बिम्बिसार का पुत्र होता है और अभय लिच्छवी वैशाली का कोई क्षत्रिय कुमार है ।

प्रस्तुत प्रकरण में तप-विषयक जो चर्चा की है, वह जैन-धारणा के सर्वथा अनुकूल ही है । 'निर्जरा' शब्द का उपयोग बहुत यथार्थ है ।

(११) लोक सान्त-अनन्त

दो लोकायतिक ब्राह्मण भगवान् के पास आये । आकर शास्ता का अभिवन्दन किया और एक ओर बैठ गये । एक ओर बैठे उन्होंने भगवान् से कहा—"हे गौतम ! पूरण काश्यप सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निखिल ज्ञान-दर्शन का अधिकारी है । वह मानता है कि मुझे चलते, खड़े रहते, सोते, जागते भी निरन्तर ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है । वह ऐसा कहता है—'मैं अपने अनन्त ज्ञान से अनन्त लोक को जानता, देखता व विहरता हूँ ।' हे गौतम ! यह निगंठ नातपुत्त भी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निखिल ज्ञान-दर्शन का अधिकारी है । वह मानता है—'मुझे चलते, खड़े रहते, सोते, जागते भी निरन्तर ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है ।' वह ऐसा कहता है—'मैं अपने अनन्त ज्ञान से अनन्त लोक को जानता, देखता, विहरता हूँ ।' इन परस्पर विरोधी ज्ञानवादों में हे गौतम ! कौन-सा सत्य है और कौन-सा असत्य ?"

"रहने दो, ब्राह्मणो ! 'इन परस्पर विरोधी ज्ञानवादों में कौन-सा सत्य है और कौन-सा असत्य' इस बात को । ब्राह्मणो ! मैं तुम्हें धर्मोपदेश करता हूँ, उसे सुनो, सम्यक् प्रकार से ध्यान दो ।"

"अच्छा, भगवन् !" इस प्रकार कह ब्राह्मणों ने उसे स्वीकार किया और भगवान् बोले—

—सुत्तपिटके, **अंगुत्तरनिकाय पालि**, नवक-निपातो, महावग्गो, लोकायतिक सुत्तं, ६-४-७ के आधार से ।

समीक्षा

उक्त प्रकरण में दो लोकायतिक पूरण काश्यप और निगंठ नातपुत्त के लोक-सिद्धान्त की चर्चा करते हैं । उस चर्चा में सान्तता और अनन्तता का मतभेद भी व्यक्त होता है ; पर उक्त प्रकरण में एक मौलिक असंगति यह है कि लोक सम्बन्धी धारणा में दोनों का मतभेद

---

१. *The Book of Gradual Sayings*, Vol. I, p. 200.

भी बताया जाता है और दोनों की धारणा समान रूप से अनन्त भी बताई जाती है। दोनों की धारणाओं में लोक अनन्त है, तो मतभेद कैसा ? इसी प्रकरण के अँग्रेजी अनुवाद में ई० एम० हेर पूरण काश्यप का लोक सान्त और निगंठ नातपुत्त का लोक अनन्त बतलाते हैं।[1] अनुवादक ने एक पाठान्तर के आधार पर ऐसा किया है। पर यह भी सही नहीं लगता। एक दूसरा पाठान्तर जो अनुवादक ने टिप्पण में दिया है, उसमें पूरण काश्यप के साथ 'अनन्तं' और निगंठ नातपुत्त के साथ 'अन्तवन्तं' पाठ है।[2] वह सही लगता है ; क्योंकि महावीर की लोक-सम्बन्धी धारणा के वह नितान्त अनुकूल बैठता है। महावीर ने लोक को सान्त और अलोक को अनन्त माना है।[3] वैसे महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से लोक की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है। अर्थात्—

द्रव्य की अपेक्षा लोक— सान्त
क्षेत्र की अपेक्षा लोक— सान्त
काल की अपेक्षा लोक— अनन्त
भाव की अपेक्षा लोक— अनन्त।[4]

दो लोकायतिकों की लोक-चर्चा क्षेत्रिक अपेक्षा से ही प्रतीत होती है ; अतः **"खेत्तओ लोए सअंते"** यह आगम-पाठ **अंगुत्तरनिकाय** के दूसरे पाठान्तर की पुष्टि कर देता है।

इस प्रश्न को बुद्ध ने बिना अपना मन्तव्य व्यक्त किये ही टाला है। वस्तुस्थिति यह

---

१. *The Book of Gradual Sayings,* Vol. IV, pp. 287-288.
२. *Ibid,* p. 288 fn.
३. भगवती सूत्र, ११-१०-४२१।
४. "एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते, त जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ।
दव्वओ णं एगे लोए सअंते ?
खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं असंखेज्जाओ जोयण-कोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पन्नत्ता· अत्थि पुण सअंते २।
कालओ णं लोए ण कयावि न आसी, न कयावि न भवति· न कयावि न भविस्सति, भविंसु य भवति य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासते अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे, णत्थि पुण से अन्ते ३।
भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा गंधपज्जवा रसपज्जवा फासपज्जवा अणंता संठाण-पज्जवा अणंता गरुयलहुयपज्जवा अणंता अगरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अन्ते ४।
से तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।"
—भगवती सूत्र, २-१-९०।

हैं कि बुद्ध ने इसे तथा इस प्रकार के अनेकों प्रश्नों को मज्झिमनिकाय आदि में 'अव्याकृत' किया है।[1] वे प्रश्न हैं—

(१) क्या लोक शाश्वत है ?

(२) क्या लोक अशाश्वत है ?

(३) क्या लोक अन्तमान है ?

(४) क्या लोक अनन्त है ?

(५) क्या जीव और शरीर एक हैं ?

(६) क्या जीव और शरीर भिन्न हैं ?

(७) क्या मरने के बाद तथागत नहीं होते ?

(८) क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते ?

(९) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं और न नहीं होते हैं ?

(१२) वप्प जैन श्रावक

एक समय भगवान् शाक्य जनपद में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार करते थे। उस समय निगण्ठ नातपुत्त का श्रावक वप्प जहाँ आयुष्मान् महामौद्गल्यायन थे, वहाँ गया। पास पहुँच, महामौद्गल्यायन को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए निगण्ठ नातपुत्र के श्रावक वप्प को महामौद्गल्यायन ने यह कहा—"वप्प ! एक आदमी शरीर, वाणी तथा मन से संयत हो, वह अविद्या से विरक्त हो और विद्यालाभी हो। वप्प ! क्या तुझे इसकी सम्भावना दिखाई देती है कि उस पुरुष को पूर्व जन्म के दुःखद आस्रवों की प्राप्ति हो ?"

"भन्ते ! मैं इसकी सम्भावना देखता हूँ कि आदमी ने पूर्व जन्म में पाप-कर्म किया हो, किन्तु उस पाप-कर्म का फल न भुगता हो, तो ऐसी हालत में उस पुरुष को पूर्व-जन्म के दुःखद आस्रवों की प्राप्ति हो।"

आयुष्मान् मौद्गल्यायन के साथ निगण्ठ श्रावक वप्प शाक्य की यह बातचीत हुई। तब भगवान् शाम के समय ध्यान से उठ, जहाँ उपस्थानशाला थी, वहाँ पहुँचे। पहुँच कर बिछे आसन पर बैठे। बैठ कर भगवान् ने आयुष्मान् मौद्गल्यायन से पूछा—"मौद्गल्यायन ! इस समय बैठे क्या बातचीत कर रहे थे ? इस समय क्या बातचीत चालू थी ?" "भन्ते ! मैंने निगण्ठ श्रावक वप्प शाक्य को यह कहा—'वप्प ! एक आदमी शरीर, वाणी तथा मन से संयत हो; वह अविद्या से विरक्त हो और विद्यालाभी हो। वप्प ! क्या तुझे इसकी

---

१. (क) मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्य सुत्त, ६३।

(ख) दीघनिकाय, पोट्ठपाद सुत्त, १।९।

सम्भावना दिखाई देती है कि उस पुरुष को पूर्व-जन्म के आस्रवों की प्राप्ति हो ?' भन्ते ! ऐसा कहने पर निगण्ठ श्रावक वप्प शाक्य ने मुझे ऐसा कहा—'भन्ते ! मैं इसकी सम्भावना देखता हूँ कि आदमी ने पूर्व-जन्म में पाप-कर्म किया हो, किन्तु उस पाप-कर्म का फल न भुगता हो, तो ऐसी हालत में उस पुरुष को पूर्व-जन्म के दुःखद आस्रवों की प्राप्ति हो।' भन्ते ! निगण्ठ श्रावक वप्प शाक्य के साथ मेरी यह बातचीत चल रही थी कि भगवान् आ पहुँचे।"

तब भगवान् ने निगण्ठ श्रावक वप्प शाक्य से कहा—"वप्प ! जो बात तुझे मान्य हो, उसे मानना, जो बात तुझे स्वीकार करने योग्य न जँचे, उसे स्वीकार मत करना। यदि मेरी कोई बात समझ में न आये तो मुझ से ही उसका अर्थ पूछ लेना कि भन्ते ! इसका क्या मतलब है ? अब हम दोनों की बातचीत हो।"

"भन्ते ! भगवान् की जो बात मुझे मान्य होगी, उसे मानूँगा, जो बात स्वीकार करने योग्य न जँचेगी, उसे स्वीकार नहीं करूँगा। यदि कोई बात मेरी समझ में न आयेगी तो मैं भगवान् से ही उसका अर्थ पूछ लूँगा कि भन्ते ! इसका क्या मतलब है ? हम दोनों की बातचीत हो।"

"वप्प ! तो क्या मानते हो शारीरिक-क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप जो दुःखद आस्रव उत्पन्न होते हैं, शारीरिक-क्रियाओं से विरत रहने से दुःखद आस्रव उत्पन्न नहीं होते ? वह नया कर्म नहीं करता। पुराने कर्म को भुगत-भुगत कर क्षीण कर देता है—यह क्षीण करने वाली क्रिया सांदृष्टिक है, निर्जरा (=क्षयी) है, अकालिक है, इसके बारे में कहा जा सकता है, 'आओ और स्वयं देख लो', (निर्वाण की ओर) ले जाने वाली है, प्रत्येक विज्ञ पुरुष द्वारा जानी जा सकती है। वप्प ! क्या तुझे इसकी सम्भावना दिखाई देती है कि उस पुरुष को पूर्व-जन्म के दुःखद आस्रवों की प्राप्ति हो ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"वप्प ! तो क्या मानते हो, वाणी की क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप जो दुःखद आस्रव उत्पन्न होते हैं ; वाणी की क्रियाओं से विरत रहने से वे दुःखद आस्रव उत्पन्न नहीं होते ? वह नया-कर्म नहीं करता। पुराने कर्म को भुगत-भुगत कर क्षीण कर देता है—यह क्षीण करने वाली क्रिया सांदृष्टिक है, निर्जरा (=क्षयी) है, अकालिक है, इसके बारे में कहा जा सकता है, 'आओ और स्वयं देख लो', (निर्वाण की ओर) ले जाने वाली है, प्रत्येक विज्ञ पुरुष द्वारा जानी जा सकती है। वप्प ! क्या तुझे इसकी सम्भावना दिखाई देती है कि उस पुरुष को पूर्व-जन्म के दुखद आस्रवों की प्राप्ति हो ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"वप्प ! तो क्या मानते हो मन की क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप जो दुःखद आस्रव

उत्पन्न होते हैं ; मन की क्रियाओं से विरत रहने से वे दुःखद आस्रव उत्पन्न नहीं होते ? वह नया कर्म नहीं करता। पुराने कर्म को भुगत-भुगत कर क्षीण कर देता है—यह क्षीण कर देने वाली क्रिया सांदृष्टिक है, निर्जरा (=क्षयी) है, अकालिक है, इसके बारे में कहा जा सकता है, 'आओ और स्वयं देख लो', (निर्वाण की ओर) ले जाने वाली है, प्रत्येक विज्ञ पुरुष द्वारा जानी जा सकती है। वप्प ! क्या तुझे इसकी सम्भावना दिखाई देती है कि उस पुरुष को पूर्व-जन्म के दुःखद आस्रवों की प्राप्ति हो ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"वप्प ! तो क्या मानते हो अविद्या के परिणाम-स्वरूप जो दुःखद आस्रव उत्पन्न होते हैं ; अविद्या के विनष्ट हो जाने से, विद्या के उत्पन्न हो जाने से दुःखद आस्रव उत्पन्न नहीं होते ? वह नया कर्म नहीं करता। पुराने कर्म को भुगत-भुगत कर क्षीण कर देता है—यह क्षीण करने वाली क्रिया सांदृष्टिक है, निर्जरा (=क्षयी) है, अकालिक है, इसके बारे में कहा जा सकता है, 'आओ और स्वयं देख लो', (निर्वाण की ओर) ले जाने वाली है, प्रत्येक विज्ञ पुरुष द्वारा जानी जा सकती है। वप्प ! क्या तुझे इसकी सम्भावना दिखाई देती है कि उस पुरुष को पूर्व-जन्म के दुःखद आस्रवों की प्राप्ति हो ?"

"भन्ते ! नहीं।"

"वप्प ! इस प्रकार जो भिक्षु सम्यक् रीति से विमुक्त हो गया है, उसे छह शान्त-विहरण सिद्ध होते हैं। वह आँख से रूप देखने पर न प्रसन्न होता है, न अप्रसन्न होता है, वह उपेक्षायुक्त रहता है, स्मृतिमान् तथा ज्ञानी। कान से शब्द सुन कर···नाक से गंध सूँघ कर···जिह्वा से रस चख कर···काय से स्पृष्टव्य का स्पर्श करके···तथा मन से धर्म (मन के विषयों) को जान कर न प्रसन्न होता है, न अप्रसन्न होता है, वह उपेक्षायुक्त रहता है, स्मृतिमान् तथा ज्ञानी। वह जब तक पंचेन्द्रियों से अनुभव की जाने वाली सुख-दुःखमय वेदनाओं का अनुभव करता है, तब तक वह जानता है कि मैं पंचेन्द्रियों से अनुभव की जाने वाली सुख-दुःखमय वेदनाओं का अनुभव कर रहा हूँ। वह जब तक जीवनपर्यन्त मनेन्द्रिय से अनुभव की जाने वाली वेदनाओं का अनुभव करता है, तब तक यह जानता है कि मैं मनेन्द्रिय से अनुभव की जाने वाली वेदनाओं का अनुभव करता हूँ। वह यह भी जानता है कि शरीर के न रहने पर, जीवन की समाप्ति हो जाने पर सभी वेदनायें, सभी अच्छी-बुरी लगने वाली अनुभूतियाँ यहीं ठण्डी पड़ जायेंगी। वप्प ! जैसे खम्भे के होने से उसकी प्रतिच्छाया दिखाई देती है। अब एक आदमी कुदाल और टोकरी ले कर आये। वह उस खम्भे को जड़ से काट दे, जड़ से काट कर उसे खने, उसे खन कर जड़ें उखाड़ दे, यहाँ तक की खसकी जड़ पट्ट पतली-पतली जड़ें भी। फिर वह आदमी उस खम्भे के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें फाड़ डाले, फाड़ डाल कर उसके छिलटे-छिलटे कर दे, छिलटे-छिलटे करके उसे

हवा-धूप में सुखा डाले, हवा-धूप में सुखा कर आग से जला डाले, आग से जला कर राख कर दे, राख करके या तो हवा में उड़ा दे अथवा नदी के शीघ्रगामी स्रोत में बहा दे। इस प्रकार वप्प! जो उस खम्भे के होने से प्रतिच्छाया थी, उसकी जड़ जाती रहेगी। वह कटे वृक्ष की-सी हो जायेगी, वह लुप्त हो जायेगी, वह फिर भविष्य में प्रकट न होगी। इसी प्रकार वप्प! जो भिक्षु सम्यक् रीति से विमुक्त-चित्त हो गया है, उसे छः शान्त-विहरण सिद्ध होते हैं। वह आँख से रूप देखने पर न प्रसन्न होता है, न अप्रसन्न होता है, वह उपेक्षा-युक्त रहता है, स्मृतिमान् तथा ज्ञानी। कान से शब्द सुन कर···नाक से गंध सूँघ कर···जिह्वा से रस चख कर···काय से स्पृष्टव्य का स्पर्श करके····तथा मन से धर्म (मन के विषयों) को जान कर न प्रसन्न होता है, न अप्रसन्न होता है, वह उपेक्षा युक्त रहता है, स्मृतिमान् तथा ज्ञानी। वह जब तक पंचेन्द्रियों से अनुभव की जाने वाली सुख-दुःखमय वेदनाओं का अनुभव करता है, तब तक वह जानता है कि मैं पंचेन्द्रिय से अनुभव की जाने वाली सुख-दुःखमय वेदनाओं का अनुभव कर रहा हूँ। वह जब तक जीवनपर्यन्त मनेन्द्रिय से अनुभव की जाने वाली वेदनाओं का अनुभव करता है, तब तक वह जानता है कि मैं मनेन्द्रिय से अनुभव की जाने वाली वेदनाओं का अनुभव कर रहा हूँ। वह यह भी जानता है कि शरीर के न रहने पर, जीवन की समाप्ति हो जाने पर, सभी वेदनाएँ, सभी अच्छी-बुरी लगने वाली अनुभूतियाँ यहीं ठण्डी पड़ जायेंगी।"

ऐसा कहने पर निगंठ श्रावक वप्प शाक्य ने भगवान् से यह कहा—"भन्ते! जैसे कोई आदमी हो, वह अपने धन की वृद्धि चाहता हो, वह बछेरों का पालन-पोषण करे। उसके धन की वृद्धि तो न हो, बल्कि वह क्लेश तथा हैरानी को ही प्राप्त हो। इसी प्रकार भन्ते! मैंने अभिवृद्धि की कामना से मूर्ख निगंठो की संगति की। मेरी अभिवृद्धि तो नहीं ही हुई, प्रत्युत मैं क्लेश और हैरानी का भागीदार हो गया। इसलिए भन्ते! अब आज के बाद से निगंठों के प्रति मेरी जो भी श्रद्धा रही, उसे मैं या तो हवा में उड़ा देता हूँ अथवा तीव्रगामी नदी के वेग में बहा देता हूँ। भन्ते! बहुत सुन्दर है···भन्ते! भगवान् मेरे प्राण रहने तक मुझे अपना उपासक स्वीकार करें।"

—सुत्तपिटके, **अंगुत्तरनिकाय पालि**, चतुक्कनिपात, महावग्गो, वप्पसुत्त, ४-२०-५ (हिन्दी अनुवाद) पृ० १८८-१९२ के आधार से।

समीक्षा

वप्प शाक्य राजा था और स्वयं बुद्ध का चूलपिता (पितृव्य) था।[1] हालाँकि जैन परम्परा में इस सम्बन्ध से कोई उल्लेख नहीं है। उल्लेखनीय बात यह है कि बुद्ध ने जो

१. अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा, खण्ड २, पृ० ५५१।

कुछ वप्प को समझाया है, लगभग वह सब निर्ग्रन्थ-धर्मगत ही है। आस्रव, निर्जरा आदि शब्दों के प्रयोग भी ज्यों के त्यों हुए हैं।

श्रीमती राईस डेविड्स ने पंचवर्गीय वप्प और इस शाक्य वप्प के एक होने की सम्भावना व्यक्त की है[1]; पर यह नितान्त असंभव है। दोनों वप्प कपिलवस्तु के थे, पर एक वशिष्ठ गोत्री ब्राह्मण था और दूसरा शाक्यवंशीय क्षत्रिय। पंचवर्गीय वप्प बुद्ध से बहुत पूर्व दीक्षित हो चुका था। बुद्ध के बोधि-लाभ के पश्चात् अपने साथियों-सहित वह अर्हत्-पद को प्राप्त हुआ।[2]

बुद्ध के पितृव्य का निर्ग्रन्थ-धर्म में होना महावीर की ज्येष्ठता और निर्ग्रन्थ-धर्म की व्यापकता का भी परिचायक है। बुद्ध के विचारों में निर्ग्रन्थ-धर्म का यत्किंचित् प्रभाव आने का भी यह एक निमित्त हो सकता है।

(१३) सकुल उदायी

एक समय भगवान् बुद्ध राजगृह के कलन्दक निवाप में विहार करते थे। सकुल उदायी परिव्राजक भी अपनी महती परिषद् के साथ परिव्राजिकाराम में वास करता था। पूर्वाह्न समय भगवान् सकुल उदायी के पास गये। उदायी ने उनका हार्दिक स्वागत किया और बैठने के लिए आसन की प्रार्थना की। भगवान् एक ओर बैठ गये। उदायी भी एक नीचा आसन लेकर बैठ गया। भगवान् ने पूछा—"उदायी ! क्या कथा चल रही थी ?"

"भन्ते ! इस कथा-चर्चा को जाने दीजिए। जब मैं इस परिषद् के पास नहीं होता हूँ ; यह परिषद् अनेक प्रकार की व्यर्थ कथाएँ करती रहती है। जब मैं इस परिषद् के बीच होता हूँ ; यह मेरी ओर ही टकटकी बान्धे रहती है और जो कुछ मैं कहता हूँ, तन्मय होकर उसे सुनती है। भगवान् जब इस परिषद् के बीच होते हैं तो हम सभी भगवान् की ओर ही टकटकी बान्धे रहते हैं और भगवान् के धर्मोपदेश को सुनने के लिए समुत्सुक रहते हैं।"

"उदायी ! आज तू ही कुछ सुना।"

"भन्ते ! पिछले दिनों मेरी एक शास्ता से भेंट हुई, जो अपने को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी व निखिल ज्ञान-दर्शन का अधिकारी मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि मुझे चलते, खड़े रहते, सोते, जागते भी निरन्तर ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है। मेरे द्वारा आरम्भ के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर वे इधर-उधर जाने लगे और बाहर की कथाओं द्वारा मुझे बिलमाने

---

१. "It is quite in the range of possibility that the vappa in Sutta 195 is one of those five friends in whom the Sakyamuni sought fellow helpers."

—*The Book of Gradual Sayings*, Vol. II, Introduction, p. XIII.

२. विनयपिटक, महावग्ग, महाखन्धक। देखिए—"भिक्षु संघ और उसका विस्तार" प्रकरण के अन्तर्गत "पंचवर्गीय भिक्षु"।

लगे। उन्होंने क्रोध, द्वेष और अविश्वास व्यक्त किया। मुझे उस समय भगवान् के प्रति ही प्रीति उत्पन्न हुई। मुझे यह सुनिश्चित अनुभूति हुई कि भगवान् सुगत हैं, जो इन धर्मों में कुशल हैं।"

"उदायी ! वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी कौन है ?"

"भन्ते ! निगंठ नाथपुत्र।"

"उदायी ! जो अनेक पूर्व जन्मों का ज्ञाता है, वह मुझे पूर्वान्त (आरम्भ) के विषय में प्रश्न पूछे और उसे मैं प्रश्न पूछूं। उत्तर देकर वह मुझे सन्तर्पित करे और मैं उसे सन्तर्पित करूँ। जो दिव्य चक्षु से सत्त्वों को च्युत होते व उत्पन्न होते देखता है, वह मुझे दूसरे छोर (अपर-अन्त) के बारे में प्रश्न पूछे। मैं भी उसे दूसरे छोर के बारे में प्रश्न पूछूँ। वह मुझे उत्तर देकर सन्तर्पित करे और मैं उसे सन्तर्पित करूँ। उदायी ! पूर्व और अपर-अन्त का प्रसंग जाने दो। मैं तुझे धर्म बतला दूँ—ऐसा होने पर यह होता है ; इसके उत्पन्न होने से यह होता है। इसके न होने पर यह नहीं होता। इसके निरोध होने पर यह निरुद्ध होता है।"

—**मज्झिमनिकाय,** चूलसुकुलदायि सुत्तन्त, २-३-६ के आधार से।

समीक्षा

इस प्रकरण में 'कर्म-चर्चा' प्रकरण की तरह सर्वज्ञता की ही कुछ प्रकार-भेद से चर्चा है।

घटना-प्रसंग

(१४) निर्वाण-संवाद-१

एक बार भगवान् शाक्य देश में सामगाम में विहार करते थे। निगंठ नातपुत्त की कुछ समय पूर्व ही पावा में मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्यु के अनन्तर ही निगंठों में फूट हो गई, दो पक्ष हो गये, लड़ाई चल रही थी और कलह हो रहा था। निगंठ एक-दूसरे को वचन-बाणों से बींधते हुए विवाद कर रहे थे—'तू इस धर्म-विनय को नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनय को जानता हूँ'। 'तू भला इस धर्म-विनय को क्या जानेगा ? तू मिथ्यारूढ़ है, मैं सत्यारूढ़ हूँ'। 'मेरा कथन सार्थक है, तेरा कथन निरर्थक है'। 'पूर्व कथनीय बात तू ने पीछे कही और पश्चात् कथनीय बात पहले कही'। 'तेरा वाद बिना विचार का उल्टा है'। 'तू ने वाद आरम्भ किया, किन्तु निगृहीत हो गया'। 'इस वाद से बचने के लिए इधर-उधर भटक'। 'यदि इस वाद को समेट सकता है तो समेट'। नातपुत्रीय निगण्ठों में मानो युद्ध ही हो रहा था।

निगण्ठ नातपुत्र के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नातपुत्रीय निगंठों में वैसे ही

विरक्त-चित्त हैं, जैसे कि वे नातपुत्र के दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अनैर्याणिक, अन्-उपशम-संवर्तनिक, अ-सम्यक्-सम्बुद्ध-प्रवेदित, प्रतिष्ठा-रहित, भिन्न-स्तूप, आश्रय-रहित धर्म-विनय में थे।

चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास समाप्त कर सामगाम में आयुष्मान् आनन्द के पास आये और उन्हें निगण्ठ नातपुत्र की मृत्यु तथा निगण्ठों में हो रहे विग्रह की विस्तृत सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द बोले—"आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिये यह कथा भेंट रूप है। आओ, हम भगवान् के पास चलें और उन्हें निवेदित करें।"

आयुष्मान् आनन्द और चुन्द समणुद्देस भगवान् के पास आये। अभिवादन कर एक ओर बैठ गये। आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द समणुद्देस द्वारा सुनाया गया सारा घटना वृत्त भगवान् बुद्ध को सुनाया।[1]

—**मज्झिमनिकाय**, सामगाम सुत्तन्त, ३-१-४ के आधार से।

(१५) निर्वाण-संवाद-२

भगवान् बुद्ध शाक्य देश में शाक्यों के वेधञ्ञा नामक आम्र-वन-प्रासाद में विहार कर रहे थे। निगण्ठ नातपुत्र (तीर्थङ्कर महावीर) की कुछ ही समय पूर्व पावा में मृत्यु हुई थी। उनकी मृत्यु के अनन्तर ही निगण्ठों में फूट हो गई, दो पक्ष हो गये, लड़ाई चल रही थी और कलह हो रहा था। निगण्ठ एक-दूसरे को वचन-बाणों से बींधते हुए विवाद कर रहे थे—'तुम इस धर्म-विनय को नहीं जानते, मैं इस धर्म-विनय को जानता हूँ। तुम भला इस धर्म-विनय को क्या जानोगे? तुम मिथ्या-प्रतिपन्न हो, मैं सम्यक्-प्रतिपन्न हूँ। मेरा कहना सार्थक है, तुम्हारा कहना निरर्थक है। जो बात पहले कहनी चाहिये थी, वह तुमने पीछे कही; जो पीछे कहनी चाहिए थी, वह तुमने पहले कही। तुम्हारा विवाद बिना विचार का उल्टा है। तुमने वाद रोपा है, तुम निग्रह-स्थान में आ गये। तुम इस आक्षेप से बचने के लिए यत्न करो, यदि शक्ति है तो इसे सुलझाओ।' मानो निगण्ठों में युद्ध हो रहा था।

निगण्ठ नातपुत्त के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य नातपुत्रीय निगण्ठ के दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अनैर्याणिक, अन्-उपशम-संवर्तनिक, अ-सम्यक्-सम्बुद्ध-प्रवेदित, प्रतिष्ठा-रहित, भिन्न-स्तूप, आश्रय-रहित धर्म में अन्यमनस्क, खिन्न और विरक्त हो रहे थे।

चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर सामगाम में आयुष्मान् आनन्द के पास गये और उन्हें निगंठ नातपुत्त की मृत्यु तथा निगण्ठों में परिव्याप्त फूट की विस्तृत सूचना दी। आयुष्मान् आनन्द बोले—"आवुस चुन्द! यह कथा भेंट रूप है। हम भगवान् के पास चलें और उनसे यह निवेदित करें।"

---

१. विशेष समीक्षा के लिए देखिए—"काल-निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "महावीर-निर्वाण-प्रसंग"।

चुन्द समणुद्देस आनन्द के साथ भगवान् बुद्ध के पास गये और उन्हें सारी कथा सुनाई।[1]

—दीघनिकाय, पासादिक सुत्त, ३।६ के आधार से।

(१६) निर्वाण-चर्चा

पावा-वासी मल्लों का उन्नत व नवीन संस्थागार उन्हीं दिनों बना था। तब तक वहाँ किसी श्रमण-ब्राह्मण ने वास नहीं किया था। भगवान् बुद्ध मल्ल में चारिका करते हुए पावा पहुँचे और चुन्द कर्मार-पुत्र के आम्र-वन में ठहरे। जब पावा-वासी मल्लों को इसकी सूचना हुई तो वे उन्हें अपने संस्थागार के लिए अभिमंत्रित करने के लिए आये। उन्होंने निवेदन किया—"संस्थागार का सर्व प्रथम आप ही परिभोग करें। उसके अनन्तर उसका हम परिभोग करेंगे। यह हमारे दीर्घरात्र तक हित-सुख के लिए होगा।"

बुद्ध ने मौन रह कर स्वीकृति दी। मल्ल वापस शहर में आये। उन्होंने संस्थागार की अच्छी तरह सजाया। सब जगह फर्श बिछाया और आसन स्थापित किये। पानी के मटके रखे और तेल के दीपक जलाये। बुद्ध के पास आये और उन्हें सूचित किया। बुद्ध पात्र-चीवर लेकर भिक्षु-संघ के साथ संस्थागार में आये। पावा-वासी मल्लों को बुद्ध ने बहुत रात तक धार्मिक कथा से संदर्शित, समुत्तेजित और संप्रहर्षित कर विसर्जित किया। भिक्षु-संघ को तृष्णीभूत देख कर भगवान् ने सारिपुत्र को आमंत्रित किया और निर्देश दिया—"सारिपुत्र! भिक्षु-संघ स्त्यान-मृद्ध-रहित है। तुम उन्हें धर्म-कथा कहो। मेरी पीठ अगिया रही है, मैं लेटूँगा।"

सारिपुत्र ने बुद्ध का निर्देश शिरोधार्य किया। बुद्ध ने चौपेती संघाटी बिछवा, दाहिनी करवट के बल, पैर पर पैर रख, स्मृति-संप्रजन्य के साथ उत्थान-संज्ञा मन में कर सिंह-शय्या लगाई। निगण्ठ नातपुत्त (तीर्थङ्कर महावीर) की कुछ ही समय पूर्व पावा में मृत्यु हुई थी। उनके काल करने से निगण्ठों में फूट पड़ गई और दो पक्ष हो गये। दोनों विवाद में पड़, एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप करते हुए कह रहे थे—'तू इस धर्म-विनय को नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनय को जानता हूँ।' 'तू इस धर्म को क्या जानेगा?' 'तू मिथ्यारूढ़ है, मैं सत्यारूढ़ हूँ'। 'मेरा कथन अर्थ-सहित है, तेरा नहीं है'।' 'तू ने पहले कहने की बात को पीछे कहा और पीछे कहने की बात पहले कही'। 'तेरा विवाद बिना विचार का उल्टा है। तू ने वाद आरम्भ किया, किन्तु निगृहीत हो गया'। 'इस वाद से बचने के लिए इधर-

---

१. विशेष समीक्षा के लिए देखिए—"काल-निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "महावीर-निर्वाण-प्रसंग"।

उधर भटक'। 'यदि इस वाद को समेट सकता है तो समेट'। निगण्ठों में मानो युद्ध ही हो रहा था।

निगण्ठ नातपुत्त के श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य भी नातपुत्रीय निगण्ठों में वैसे ही विरक्त चित्त हैं, जैसे कि वे नातपुत्त के दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अ-नैर्याणिक, अन्-उपशम-संवर्तनिक, अ-सम्यक्-सम्बुद्ध प्रवेदित, प्रतिष्ठा-रहित, आश्रय-रहित धर्म में हैं।

आयुष्मान् सारिपुत्र ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया और उन्हें निगंठ नातपुत्त की मृत्यु का संवाद तथा निगण्ठों की फूट की विस्तृत जानकारी देते हुए कहा—"हमारे भगवान् का यह धर्म सु-आख्यात, सुप्रवेदित, नैर्याणिक, उपशम-संवर्तनिक, सम्यक्-सम्बुद्ध-प्रवेदित है। यहाँ सबको ही अविरुद्ध भाषी होना चाहिए। विवाद नहीं करना चाहिए, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य अध्वनिक (चिरस्थायी) हो और वह बहुजन-हितार्थ, बहुजन-सुखार्थ, लोक की अनुकम्पा के लिए तथा देव व मनुष्यों के हित व सुख के लिए हो।"[1]

— **दीघनिकाय**, संगीति-पर्याय-सुत्त, ३।१८ के आधार से।

(१७) *निगण्ठ नातपुत्र की मृत्यु का कारण*

वह नातपुत्त तो नालन्दा-वासी था। वह पावा में कैसे कालगत हुआ ? उपालि गृहपति को सत्य का प्रतिबोध हुआ और उसने दस गाथाएँ बुद्ध के उत्कीर्तन में कही। उस बुद्ध कीर्ति को सहन न करते हुए नातपुत्त ने अपने मुँह से उष्ण रक्त उगल दिया। उस अस्वस्थ स्थिति में वह पावा ले जाया गया ; अतः वहीं वह कालगत हुआ।

—**मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा**, सामगाम सुत्त वण्णना, खण्ड ४, पृ० ३४ के आधार से।

समीक्षा

जैन कथा-वस्तु में तो उक्त प्रकार की घटना का उल्लेख है ही नहीं। मूल **मज्झिम-निकाय** के **उपालि सुत्त** में भी इस घटना को महावीर की मृत्यु से नहीं जोड़ा गया है। यह नितान्त अट्ठकथा का ही परिवर्द्धन है। जैन उल्लेख के अनुसार महावीर राजगृह से विहार कर पावा जाते हैं। वहाँ वे वर्षावास करते हैं और कार्तिक अमावस्या को निर्वाण प्राप्त करते हैं। इतनी प्रलम्ब अस्वस्थता उनकी रही होती, तो अवश्य उसका कहीं उल्लेख मिलता ; इस अवधि में उनकी अस्वस्थता का कहीं उल्लेख नहीं है।

(१८) *दिव्य-शक्ति-प्रदर्शन*

उस समय राजगृह के एक श्रेष्ठी को एक महार्घ्य चन्दनसार की चन्दन गाँठ मिली। श्रेष्ठी ने सोचा—"क्यों न मैं इसका पात्र बनवाऊँ ? चूरा मेरे काम आयेगा और पात्र का

---

१. विशेष समीक्षा के लिए देखिए—"काल-निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "महावीर-निर्वाण-प्रसंग"।

दान करूँगा ।" पात्र तैयार हुआ । श्रेष्ठी ने उसे सीके में रख कर, उस सींके को एक पर एक, इस प्रकार अनेक बाँस बाँध कर, सबसे ऊँचे बाँस के सिरे पर लटका दिया । उसने यह घोषणा भी कर दी—"जो श्रमण, ब्राह्मण, अर्हत् या ऋद्धिमान् हो; उसे यह दान दिया जाता है । वह इस पात्र को उतार कर ले ले ।"

पूरणकाश्यप श्रेष्ठी के पास आया और उसने अपने को अर्हत् व ऋद्धिमान् बतलाते हुए उस पात्र की याचना की । श्रेष्ठी ने कहा—"भन्ते ! यदि आप वस्तुतः अर्हत् व ऋद्धिमान् हैं तो पात्र को उतार कर ले लें । मैंने आपको दिया ।" किन्तु पूरणकाश्यप उसे उतारने में सफल नहीं हुआ । मक्खली गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त व निगण्ठ नातपुत्त भी क्रमशः श्रेष्ठी के पास आये और उन्होंने भी अपने को अर्हत् व ऋद्धिमान् बतलाते हुए पात्र की याचना की । श्रेष्ठी का उनको भी वही उत्तर मिला । पात्र को उतारने में कोई भी सफल नहीं हुआ ।

आयुष्मान् मौद्गल्यायन व आयुष्मान् पिण्डोल भारद्वाज पूर्वाह्न को सु-आच्छादित हो, पात्र-चीवर ले, राजगृह में भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए । उन्होंने भी पात्र सम्बन्धी यह सारी घटना सुनी । पिण्डोल भारद्वाज ने मौद्गल्यायन को और मौद्गल्यायन ने पिण्डोल भारद्वाज को पात्र उतार लाने के लिए कहा । पिण्डोल भारद्वाज इस कार्य के लिए तैयार हुए । वे आकाश में उड़े । उस पात्र को लिया और उस पात्र सहित राजगृह के तीन चक्कर लगाये । श्रेष्ठी पुत्र-दारा सहित अपने आवास पर चढ़ा । करबद्ध होकर नमस्कार किया और अपने आवास पर ही उतरने की उनसे प्रार्थना की । पिण्डोल भारद्वाज ने उस प्रार्थना को स्वीकार किया और वहीं उतरे । श्रेष्ठी ने उनके हाथ से पात्र लिया और महार्घ्य खाद्य से उसे भर कर उन्हें भेंट किया । पिण्डोल भारद्वाज पात्र-सहित आराम को लौट आये ।

पात्र को उतार लाने की घटना कुछ ही क्षणों में शहर में फैल गई । कुछ लोग कोलाहल करते हुए ही पिण्डोल भारद्वाज के साथ-साथ आराम में प्रविष्ट हुए । बुद्ध ने जब उस कोलाहल को सुना तो आयुष्मान् आनन्द से उसके बारे में पूछा । आनन्द ने सारा घटना-वृत्त जाना और भगवान् को निवेदित किया । भगवान् ने उसी समय भिक्षु-संघ को एकत्रित किया और सब के बीच पिण्डोल भारद्वाज से पूछा—"क्यों, तू ने सचमुच राजगृह श्रेष्ठी का पात्र उतारा ?"

"हाँ, भगवन् !"

बुद्ध ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा—"भारद्वाज ! यह अनुचित है, प्रतिकूल है, श्रमण के अयोग्य है और अकरणीय है । एक नगण्य से काष्ठ-पात्र के लिए गृहस्थों को उत्तर मनुष्य-धर्म-ऋद्धि-प्रातिहार्य तू ने कैसे दिखाया ? न यह (आचरण) अप्रसन्नों को प्रसन्न करने के लिए

है और न प्रसन्नों (श्रद्धालुओं) को अधिक प्रसन्न करने के लिए ; अपितु अप्रसन्नों को (और भी) अप्रसन्न करने के लिए तथा प्रसन्नों में से भी किसी किसी को उलट देने के लिए है।"

भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा—"गृहस्थों को उत्तर मनुष्य-धर्म-ऋद्धि-प्रातिहार्य नहीं दिखाना चाहिए। जो दिखाये, उसे दुष्कृत की आपत्ति। इस पात्र के टुकड़े-टुकड़े कर भिक्षुओं को अञ्जन पीसने के लिए दे दो।"

उसी प्रसंग पर भिक्षुओं के पात्र-सम्बन्धी नियम का विधान करते हुए बुद्ध ने कहा—"भिक्षुओं को स्वर्ण, रौप्य, मणि, वैडूर्य, स्फटिक, काँस्य, काँच, राँगा, सीसा, ताम्रलोह व काष्ठ का पात्र नहीं रखना चाहिए। जो रखे, उसे दुष्कृत की आपत्ति। केवल लोहे और मिट्टी के पात्र की ही मैं अनुज्ञा देता हूँ।"

—**विनयपिटक**, चुल्लवग्ग, ५-१-१० ; **धम्मपद-अट्ठकथा**, ४-२ के आधर से।

समीक्षा

यह सारा उदन्त अतिशयोक्ति भरा है। पिण्डोल भारद्वाज का चन्दन-पात्र के लिए ऋद्धि-प्रातिहार्य का दिखलाना बुद्ध के द्वारा गर्ह्य बताया गया है। यह कल्पना भी कैसे की जा सकती है कि निगण्ठ नातपुत्त उस चन्दन-पात्र को लेने के लिए ललचाये होंगे और इस कौतुक में प्रयत्नशील हुए होंगे। जैन-परम्परा में तो किसी भी ऋद्धि-प्रदर्शन का सर्वथा वर्जन है।[1] लगता है, पिटकों में जहाँ भी इतर तैर्थिकों की न्यूनता व्यक्त करने का प्रसंग होता है, वहीं निगण्ठ नातपुत्त, पूरणकाश्यप आदि सारे नाम दुहरा दिये जाते हैं।

(१६) छः बुद्ध

पूरणकाश्यप, मक्खली गोशाल, निगण्ठ नातपुत्र, संजय वेलट्ठिपुत्र, प्रकुध कात्यायन, अजितकेशकम्बल आदि छहों शास्ता आचार्यों की सेवा से चिन्तामणि आदि विद्याओं में प्रवीण हो, 'हम बुद्ध हैं' यह घोषित करते हुए देश-देशान्तर में विचर रहे थे। वे चारिका करते हुए क्रमशः श्रावस्ती पहुँचे। उनके भक्तों ने राजा को सूचित किया, पूरणकाश्यप आदि छः शास्ता बुद्ध हैं, सर्वज्ञ हैं और अपने नगर में आये हैं। राजा ने उन्हें, छहों शास्ताओं को निमंत्रित कर अपने राज-प्रासाद में लाने का निर्देश दिया। भक्तों ने अपने-अपने शास्ता को राजा का निमंत्रण दिया और राजा के यहाँ भिक्षा ग्रहण करने के लिए उन्हें बाध्य किया। उन सभी में वहाँ जाने का साहस नहीं था। भक्तों द्वारा पुनः-पुनः आग्रह किये जाने पर वे एक साथ ही राज-प्रासाद की ओर चले। राजा ने उनके लिए बहुमूल्य आसन बिछवा दिये थे। छहों शास्ता उन आसनों पर नहीं बैठे। वे धरती पर ही बैठे। उन आसनों पर बैठने से निर्गुणों के शरीर में राज-तेज छा जाता है ; ऐसी उनकी मान्यता

१. द्रष्टव्य, जयाचार्य कृत प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध, गोशालाधिकार, पृ० १६०।

थी। राजा ने इससे निर्णय किया, इनमें शुक्ल-धर्म नहीं है। राजा ने उन्हें भोजन प्रदान नहीं किया। इस प्रकार वे ताड़ से गिरे हुए तो थे ही और राजा ने मुंगरे की मार जैसा एक प्रश्न उनसे और कर लिया—"तुम बुद्ध हो या नहीं?" सारे ही शास्ता घबरा गये। उन्होंने सोचा—"यदि हम बुद्ध होने का दावा करेंगे, तो राजा हम से बुद्ध के बारे में नाना प्रश्न पूछेगा। यदि हम उनका समुचित उत्तर नही दे सकेंगे, तो राजा यह कह कर कि बुद्ध न होते हुए भी तुम अपने को बुद्ध कह कर जनता को ठगते फिरते हो; क्रुद्ध होकर हमारी जिह्वा भी कटवा सकता है तथा अन्य भी अनर्थ कर सकता है।" सभी ने उत्तर दिया—"हम बुद्ध नहीं हैं।" राजा ने रुष्ट होकर उन्हे राज-प्रासाद से निकलवा दिया।

बाहर खड़े भक्त उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्यों ही वे राज-प्रासाद से बाहर आये, भक्तों ने उन्हें घेर लिया और पूछा—"राजा ने आप सबसे प्रश्न पूछ कर आप को सत्कृत किया? राजा ने आप से क्या प्रश्न पूछे?"

वहाँ आचार्यों ने वास्तविकता पर आवरण डालते हुए उत्तर दिया—"राजा ने हम से पूछा—"तुम बुद्ध हो या नही?" हमने निषेध में उत्तर दिया। उसकी पृष्ठभूमि में हमारा तात्पर्य था, राजा बुद्ध के बारे में अनभिज्ञ है। यदि हम स्वीकृति-सूचक उत्तर देते, तो हमारे प्रति राजा का मन दूषित होता। हमने राजा पर अनुग्रह कर ऐसा उत्तर दिया। वैसे तो हम बुद्ध ही हैं। हमारा बुद्धत्व पानी से धोने पर भी नही जा सकता।"

—संयुत्तनिकाय-अट्ठकथा, ३-१-१ के आधार से।

समीक्षा

एक अतिरंजित कथा के अतिरिक्त इस अट्ठकथा का कोई महत्त्व नही लगता।

(२०) मृगार श्रेष्ठी

श्रावस्ती में मृगार श्रेष्ठी रहता था। उसके पुत्र पूर्णवर्धन का विवाह साकेत के धनञ्जय श्रेष्ठी की पुत्री विशाखा के साथ हुआ। मृगार सेठ ने एक सप्ताह तक विवाहोत्सव मनाया। वह निर्ग्रन्थों का अनुयायी था; अतः उसने इस उपलक्ष पर सातवें दिन बहुत सारे निर्ग्रन्थों को आमंत्रित किया, किन्तु गौतम बुद्ध को आमंत्रित नही किया। निर्ग्रन्थों से उसका सारा घर भर गया। श्रेष्ठी ने विशाखा को शासन भेजा, अपने घर अर्हत् आये हैं; अतः तुम आकर उन्हें वन्दना करो। विशाखा स्रोतापन्न आर्य श्राविका थी। अर्हत् का नाम सुन कर वह बहुत हृष्ट-तुष्ट हुई। वह तत्काल तैयार हुई और वन्दना करने के लिए चली आई। उसने जब नग्न निर्ग्रन्थों को देखा तो वह सहसा सिहर उठी। उसके मुँह से कुछ शब्द निकल ही पड़े—"क्या अर्हत् ऐसे ही होते हैं? मेरे श्वसुर ने इन लज्जाहीन श्रमणों के पास मुझे क्यों बुलाया? धिक्, धिक्।" वह उसी क्षण अपने महल में लौट आई।

नग्न श्रमण विशाखा के उस व्यवहार से बहुत खिन्न हुए। उन्होंने मृगार श्रेष्ठी को कड़ा उलाहना देते हुए कहा—"श्रेष्ठिन् ! क्या तुझे दूसरी कन्या नहीं मिली ? श्रमण गौतम की इस महाकुलक्षणा श्राविका को अपने घर क्यों लाया ? यह तो जलती हुई गाडर है। शीघ्र ही इसे घर से निकालो।"

मृगार श्रेष्ठी असमंजस में पड़ गया। उसने सोचा, विशाखा महाकुल की कन्या है। इनके कथन-मात्र से इसे निकाला नहीं जा सकता। न निकालने पर श्रमणों का कोप भी उससे अपरिचित नहीं था। उसने अत्यधिक विनम्रता के साथ उनसे क्षमा माँगी और उन्हें सम्मान विदा किया।

स्वयं बड़े आसन पर बैठा। सोने की कलछी से सोने की थाली में परोसा गया निर्जल मधुर क्षीर भोजन करने लगा। उसी समय एक स्थविर (बौद्ध) भिक्षु पिण्डचार करता हुआ श्रेष्ठी के गृह-द्वार पर आया। विशाखा ने उसे देखा। श्वसुर को सूचित करना उसे उचित नहीं लगा, अतः वह वहाँ से उठ कर एक ओर इस प्रकार खड़ी हो गई, जिससे मृगार श्रेष्ठी भिक्षु को अच्छी तरह देख सके। मूर्ख श्रेष्ठी स्थविर को देखता हुआ भी न देखते हुए की तरह नीचा मुँह कर पायस खाता रहा। विशाखा ने जब यह सारा दृश्य देखा तो उससे नहीं रहा गया। स्थविर को लक्ष्य कर वह बोली—"भन्ते ! आगे जायें। मेरा श्वसुर बासी खा रहा है।"

श्रेष्ठी का रोष

निर्ग्रन्थों के प्रति विशाखा द्वारा हुए असभ्य व्यवहार से ही मृगार श्रेष्ठी बहुत रुष्ट था और जब उसने अपने प्रति 'बासी खा रहा है' ; यह सुना तो उसके कोप का ठिकाना नहीं रहा। उसने भोजन से हाथ खींच लिया और अपने अनुचरों को निर्देश दिया—"इस पायस को ले जाओ और इसे (विशाखा को) भी घर से निकालो। यह मुझे ऐसे मंगल घर में भी अशुचि-भोजी बना रही है।"

सभी अनुचर विशाखा के अधिकार में थे और उसके प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। उसे पकड़ने की बात तो दूर रही, उसके प्रति असभ्य शब्द का व्यवहार भी कोई नहीं कर सकता था। विशाखा श्वसुर को सम्बोधित करती हुई बोली—"तात ! मैं ऐसे नहीं निकल सकती। आप मुझे किसी पनिहारिन की तरह नहीं लाये हैं। माता-पिता की वर्तमानता में कन्याओं के साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता। मेरे पिता ने जिस दिन मुझे अपने घर से विदा किया था ; आठ कौटुम्बिकों को मेरे अपराध के शोधन का दायित्व सौंपा था। उन्हें बुला कर पहले आप मेरे दोष का परिशोधन करें।"

मृगार निर्ग्रन्थ-संघ से बुद्ध-संघ की ओर

विशाखा ने क्षमा प्रदान करते हुए अपनी एक शर्त प्रस्तुत की। उसने कहा—"मैं बुद्ध-धर्म में अत्यन्त अनुरक्त कुल की कन्या हूँ। मैं भिक्षु-संघ की सेवा के बिना नहीं रह सकती। यदि मुझे भिक्षु-संघ की सेवा का यथेच्छ अवसर दिया जाये तो मैं रहूँगी; अन्यथा इस घर में रहने के लिए कतई प्रस्तुत नहीं हूँ।" मृगार श्रेष्ठी ने विशाखा की शर्त स्वीकार की और एक अपवाद संयोजित किया—"बुद्ध का स्वागत तुझे ही करना होगा। मैं उसमें उपस्थित होना नहीं चाहता।" विशाखा ने दूसरे ही दिन बुद्ध को ससंघ निमंत्रित किया। बुद्ध जब उसके घर आये तो सारा घर भिक्षुओं से भर गया। विशाखा ने उनका हार्दिक स्वागत किया। नग्न श्रमणों (निर्ग्रन्थों) ने जब यह वृत्तान्त सुना तो वे भी दौड़े आये और उन्होंने मृगार श्रेष्ठी के घर को चारों ओर से घेर लिया। विशाखा ने बुद्ध प्रभृति संघ को दक्षिणोदक दिया और श्वसुर के पास शासन भेजा, सत्कार-विधि सम्पन्न हो गई है, आप आकर भोजन परोसें। श्रेष्ठी निर्ग्रन्थों के प्रभाव में था, अतः नहीं आया। भोजन समाप्त हो चुकने पर विशाखा ने फिर शासन भेजा, श्वसुर बुद्ध का धर्मोपदेश सुनें। अब न जाना अनुचित होगा, यह सोच कर मृगार श्रेष्ठी अपने कक्ष से चला। नग्न श्रमणों (निर्ग्रन्थों) ने आकर उसे रोका और कहा—"श्रमण गौतम का धर्मोपदेश कनात के बाहर रह कर सुनना।" मृगार श्रेष्ठी ने वैसा ही किया। वह कनात के बाहर से उपदेश सुनने लगा। बुद्ध ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"तू चाहे कनात के बाहर, दीवाल या पर्वत की आड़ में व चक्रवाल के अन्तिम छोर पर भी क्यों न बैठे, मैं बुद्ध हूँ; अतः तुझे उपदेश सुना सकता हूँ।"

बुद्ध ने उपदेश प्रारम्भ किया। सुनहले, पके फलों से लदी हुई आम्र-वृक्ष की शाखा को झकझोरने पर जैसे फल गिरने लगते हैं, उसी प्रकार श्रेष्ठी के पाप विनष्ट होने लगे और उपदेश समाप्त होते-होते वह स्रोतापत्ति-फल में प्रविष्ट हो गया।[1]

—**धम्मपद-अट्ठकथा**, ४-४ के आधार से।

समीक्षा

यह सारा प्रसंग **धम्मपद-अट्ठकथा** का है, अतः अतिरंजित होना तो सहज है ही। आगमों में किसी भी मृगार नामक गृहपति के निगण्ठ-श्रावक होने का उल्लेख नहीं मिलता। मूल त्रिपिटकों में भी उक्त घटना-प्रसंग का कोई विवरण नहीं है।

---

१. प्रस्तुत कथा-वस्तु अनाथपिण्डिक की कन्या चूल सुभद्दा के सम्बन्ध से भी ज्यों की त्यों मिलती है। (देखिए—धम्मपद-अट्ठकथा, २१-८)।

(३१) गरहदिन्न और सिरिगुत्त

श्रावस्ती में दो मित्र रहते थे। एक का नाम सिरिगुत्त था और दूसरे का गरहदिन्न था। सिरिगुत्त बुद्ध का उपासक था, गरहदिन्न निगण्ठों का। दोनों में धार्मिक चर्चाएँ होतीं। गरहदिन्न चाहता था—सिरिगुत्त निगण्ठों का उपासक बने। वह कहता—निगण्ठ सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होते हैं। वे चलते, उठते, सोते सब कुछ जानते हैं, देखते हैं। सिरिगुत्त ने एक दिन अपने यहाँ ५०० निगण्ठ साधुओं को आमंत्रित किया। उनकी सर्वज्ञता की परीक्षा के लिए उसने अपने घर में एक गर्त खुदवाया। गर्त में उसने विष्ठा भरवाया। उस गड्ढे पर एक जाल बाँधा। उस पर आसनादि बिछा दिये। निगण्ठ आये, बिछे आसन पर ज्यों ही बैठे, गर्त में धँस गये।

गरहदिन्न इस घटना से बहुत असन्तुष्ट हुआ। उसके मन में प्रतिशोध की भावना जगी। कालान्तर से उसने अपने यहाँ भिक्षु-संघ-सहित बुद्ध को आमंत्रित किया। उसने भी उसी तरह एक गर्त बनवाया और उसमें अंगारे भरवाये। उसी तरह जाल बिछाया और आसन लगाये। बुद्ध ने आते ही अपने ज्ञान-बल से सब कुछ समझ लिया। अपने ऋद्धि-बल से अंगारों के स्थान में कमल उत्पन्न कर दिये। कमल तत्काल ऊपर उठ आये। तब कमलों पर ५०० भिक्षुओं के साथ बैठ कर बुद्ध ने धर्मोपदेश किया। गरहदिन्न, सिरिगुत्त तथा अन्य अनेक लोग स्रोतापत्ति-फल को प्राप्त हुए।

—**धम्मपद-अट्ठकथा**, ४-१२ के आधार से।

समीक्षा

लगता है, साम्प्रदायिक मनोभावों से अनेक कथाएँ गढ़ी जाती रही हैं। उनमें से एक यह भी है। ठीक इसी प्रकार की एक कथा जैन-परम्परा में भी बहुत प्रचलित है। उसके अनुसार राजा श्रेणिक बौद्ध-मत को मानने वाला था और रानी चेलणा जैन-मत को मानने वाली थी। दोनों एक-दूसरे को अपने धर्म में लाने के लिए प्रयत्नशील थे। श्रेणिक के आग्रह पर चेलणा ने बौद्ध-भिक्षुओं को भोजन के लिए आमंत्रित किया। भिक्षु आये। श्रेणिक उन्हें महाज्ञानी मानता था। चेलणा ने बौद्ध-गुरुओं की चर्म-उपानत् उठा कर मँगवा ली और उनकी कतरनें करके 'सांगरी का रायता' बनवा दिया। रायता अनेक सुगन्धित पदार्थों से भावित था। वह बौद्ध-गुरुओं को बहुत अच्छा लगा। इस प्रकार वे अपनी सारी जूती रायते के साथ खा गये। लौटते समय जब बौद्ध-गुरु को जूती नहीं मिली, तब चेलणा ने सारा भेद खोला। बौद्ध-भिक्षु बेचारे शरमाये। राजा श्रेणिक इस बात से बहुत क्रोधित हुआ और उसने प्रतिशोध लेने की बात मन में ठानी।

राजा ने एक दिन सायंकाल वन-क्रीड़ा से आते एक शून्य देवालय में एक निगण्ठ मुनि को ध्यानस्थ देखा। तत्काल एक वेश्या को बुला, उसे भी उस देवालय में बिठा दिया।

राजमहल में आ, चेलणा से चर्चा की कि निगण्ठ मुनि वेश्याओं के साथ रात बिताते हैं। मैं सबेरे तुम्हें यह बात बताऊँगा। बात नगर में फैल चुकी थी। सबेरे राजा रानी को लेकर देवालय पर आया। सहस्रों लोग और भी इकट्ठे हुए। निगण्ठ मुनि राजा की इस करतूत को समझ चुका था। उसने अपने तपोबल से अपना रूप बदल कर बौद्ध-भिक्षु का रूप बना लिया। दरवाजा खुलते ही बौद्ध-भिक्षु और वेश्या सब को दिखलाई दिये। रानी की विजय हुई। राजा ने अपने धर्म का उपहास और घृणाभाव नगर में करा लिया।

अन्य धर्मों के सम्बन्ध से भी इस प्रकार के अनेकों कथानक दोनों परम्पराओं में मिलते हैं तथा इन दोनों परम्पराओं के सम्बन्ध में इतर धर्मों में भी ऐसे ही कथानक मिलते हैं। लगता है, कोई युग ही आया था, जिसमें ऐसे कथानक गढ़ने की होड़ लगी थी।

'मिलिन्द प्रश्न' में कहा गया है—गरहदिन्न के घर बुद्ध के धर्मोपदेश करते समय ८४००० लोगों को स्रोतापत्ति-फल मिला।[1] यह भी प्रस्तुत कथानक की अयथार्थता का एक प्रमाण है।

उल्लेख-प्रसंग

(२२) श्रामण्यफल

एक समय बुद्ध राजगृह में जीवक कौमार-भृत्य के आम्र-वन में साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के बृहद् संघ के साथ विहार कर रहे थे। पूर्णमासी के उपोसथ का दिन था। चातुर्मासिक कौमुदी से युक्त पूर्णिमा की रात को, राजा मागध अजातशत्रु वैदेहीपुत्र, राज-अमात्यों से घिरा हुआ, उत्तम प्रासाद पर बैठा था। उस समय अजातशत्रु ने उदान कहा—"अहो! कैसी रमणीय चाँदनी रात है! कैसी सुन्दर, दर्शनीय, प्रासादिक व लाक्षणिक रात है! किस श्रमण या ब्राह्मण का सत्संग करें, जो हमारे चित्त को प्रसन्न करे।"

एक राजमंत्री ने कहा—"महाराज! पूरणकाश्यप गणनायक, गणाचार्य, ज्ञानी, यशस्वी, तीर्थङ्कर, बहुजन-सम्मानित, अनुभवी, चिर-प्रव्रजित व वयोवृद्ध हैं। आप उनसे धर्म-चर्चा करें। उनका अल्पकालिक सत्संग भी आपके चित्त को प्रसन्न करेगा।"

राजा अजातशत्रु ने सुना, किन्तु मौन रहा।

दूसरे मंत्री ने उक्त विशेषणों को दुहराते हुए मक्खलि गोशाल का सुझाव दिया। राजा अजातशत्रु मौन रहा। इस प्रकार विभिन्न मंत्रियों ने इसी उक्ति के साथ क्रमशः अजितकेशकम्बल, प्रकुध कात्यायन, निगण्ठ नातपुत्त व संजय बेलट्ठिपुत्र का सुझाव दिया। अजातशत्रु ने यह सब कुछ सुना, किन्तु मौन रहा। जीवक कौमार-भृत्य भी अजातशत्रु के

---

१. मिलिन्द प्रश्न, ३५० ।

पास मौन बैठा था। राजा ने उससे कहा—"सौम्य जीवक! तुम मौन क्यों हो? तुम भी अपना सुझाव दो।"

जीवक ने कहा—"महाराज! मेरे आम्र-उद्यान में साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के बृहद् संघ के साथ भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध विहार कर रहे हैं। उनका मंगलयश फैला हुआ है। वे भगवान् अर्हत्, परमज्ञानी, विद्या और आचरण से युक्त, सुगत, लोकविद्, पुरुषों को सन्मार्ग पर लाने के लिए अनुपम अश्व-नियन्ता, देव व मनुष्यों के शास्ता तथा बुद्ध हैं। महाराज! आप उनके पास चलें और उनसे धर्म-चर्चा करें। कदाचित् आपका चित्त प्रसन्न हो जायेगा।"

अजातशत्रु जीवक के सुझावानुसार बुद्ध के दर्शनार्थ चला। सुसज्जित पाँच सौ हाथियों पर उसकी पाँच सौ रानियाँ थीं। स्वयं भी पट्टहस्ती पर आरूढ़ हुआ। मशालों की रोशनी से घिरा, राजकीय विपुल आडम्बर के साथ चला। उद्यान के समीप पहुँचते ही राजा का मन भय व आशंका से भर गया। रोमांचित होकर उसने जीवक से कहा—"कहीं तुम मुझे धोखा तो नहीं दे रहे हो? मेरे साथ विश्वासघात तो नहीं कर रहे हो? कहीं तुम मुझे शत्रुओं के हाथ तो नहीं दे रहे हो? साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के इतने बड़े संघ की अवस्थिति पर भी किसी के थूकने, खाँसने तक का तथा अन्य किसी दूसरे प्रकार तक का शब्द नहीं हो रहा है।"

जीवक ने सस्मित उत्तर दिया—"महाराज! मैं आपको धोखा नहीं दे रहा हूँ और न मैं आपको शत्रुओं के हाथों ही दे रहा हूँ। आप आगे चलें। सामने देखें, मण्डप में दीपक जल रहे हैं।"

जहाँ तक हाथी जा सकता था, वहाँ तक अजातशत्रु हाथी पर गया। उसके बाद पैदल ही मण्डप-द्वार पर पहुँचा। क्रमशः मण्डप में प्रविष्ट हुआ। अद्भुत शान्ति को देख कर वह बहुत प्रभावित हुआ। सहसा उसने उदान कहा—"मेरा कुमार उदयभद्र भी इस प्रकार की शान्ति में सुस्थिर हो।"

अजातशत्रु भगवान् को अभिवादन कर व भिक्षु-संघ को करबद्ध नमस्कार कर एक ओर बैठ गया। राजा ने प्रश्न पूछने की अनुमति ली और पूछा—"भन्ते! विविध शिल्पों के माध्यम से व्यक्ति जीविका उपार्जन कर प्रत्यक्षतः सुखी होता है; क्या उसी प्रकार इसी जीवन में श्रामण्य का प्रत्यक्ष फल भी पाया जा सकता है?"

"महाराज! क्या यह प्रश्न तुमने दूसरे श्रमण-ब्राह्मणों से भी पूछा है? यदि पूछा हो तो उन्होंने क्या उत्तर दिया, बताओ?"

अजातशत्रु ने बताया—"मैं पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रकुध कात्यायन व संजय बेलट्ठिपुत्र के पास गया। कैसे कि भन्ते! पूछे आम और उत्तर दे कटहल;

पूछे कटहल और उत्तर दे आम। उसी प्रकार भन्ते ! उन सभी ने सांदृष्टिक श्रामण्य-फल पूछे जाने पर क्रमशः अक्रियवाद, दैववाद, उच्छेदवाद, अकृततावाद व अनिश्चिततावाद[1] का उत्तर दिया। मैंने उनके कथन का न तो अभिनन्दन ही किया और न निन्दा ही की। मैंने उनके सिद्धान्त को न स्वीकार ही किया और न निरादर ही किया। आसन से उठ कर चला आया।

"भन्ते ! मैं निगण्ठ नातपुत्त के पास भी गया और उनसे भी सांदृष्टिक श्रामण्य-फल के बारे में पूछा। उन्होंने उसके उत्तर में मुझे चातुर्याम संवरवाद बतलाया। उन्होंने कहा—'निगण्ठ चार संवरों से संवृत्त रहता है—(१) वह जल के व्यवहार का वर्जन करता है, जिससे जल के जीव न मरें, (२) वह सभी पापों का वर्जन करता है, (३) सभी पापों के वर्जन से धुतपाप होता है और (४) सभी पापों के वर्जन में लगा रहता है। इसीलिए वह निर्ग्रन्थ, गतात्मा, यतात्मा और स्थितात्मा कहलाता है।' भन्ते ! मेरा प्रश्न तो था, प्रत्यक्ष श्रामण्य-फल के बारे में और निगण्ठ नातपुत्त ने वर्णन किया चार संवरों का। भन्ते ! यह भी वैसा ही था, जैसे पूछे आम और उत्तर दे कटहल ; पूछे कटहल और उत्तर दे आम। मैंने उनके कथन का भी न अभिनन्दन किया और न निन्दा ही की। उनके सिद्धान्त को न मैंने स्वीकार किया और न उसका निरादर ही किया। आसन से उठ कर चला आया।"

बुद्ध ने राजा अजातशत्रु के प्रश्न का दृष्टान्त, युक्ति व सिद्धान्त के माध्यम से सविस्तार उत्तर दिया।[2] अजातशत्रु उससे बहुत प्रभावित हुआ। बोला—"आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! जैसे उल्टे को सीधा कर दे, आवृत्त को अनावृत्त कर दे, मार्ग-विस्मृत को मार्ग बता दे, अन्धेरे में तेल का दीपक दिखा दे ; जिससे सनेत्र देख सकें ; उसी प्रकार भगवान् ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् की शरण ग्रहण करता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी। आज से यावज्जीवन मुझे शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

अजातशत्रु ने अपना आत्मालोचन करते हुए कहा—"भन्ते ! मैंने एक बड़ा भारी अपराध किया है। मैंने अपनी मूढ़ता, मूर्खता और पापों के कारण राज्य-लोभ से प्रेरित होकर धर्मराज पिता की हत्या की है। भन्ते ! भविष्य में सम्भल कर रहूँगा। आप मेरे जैसे अपराधी को क्षमा करें।"

बुद्ध ने उत्तर में कहा—"चूँकि महाराज ! तुम अपने पाप को समझ कर, भविष्य में सावधान रहने की प्रतिज्ञा करते हो ; अतः मैं तुमको क्षमा प्रदान करता हूँ। आर्य-धर्म में यह वृद्धि (लाभ) की बात समझी जाती है, यदि कोई अपने पाप को समझ कर और स्वीकार कर भविष्य में वैसा न करने और धर्माचरण करने की प्रतिज्ञा करता है।"

---

१. इन मतवादों का विस्तृत उल्लेख के लिए देखिए—"समसामयिक धर्म-नायक" प्रकरण।

२. देखिए—"समसामयिक धर्म-नायक" प्रकरण।

अजातशत्रु बुद्ध के कथन का अभिनन्दन व अनुमोदन कर आसन से उठा और वन्दना-प्रदक्षिणा कर चला आया। बुद्ध ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—"इस राजा का संस्कार अच्छा नहीं रहा। यह राजा अभागा है। यदि यह राजा अपने धर्मराज पिता की हत्या नहीं करता तो आज इसे इसी आसन पर बैठे-बैठे विरज, विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हो जाता।"

—दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, १-२ के आधार से।

समीक्षा

सामञ्ञफल सुत्त की समीक्षा पूर्व के 'समसामयिक धर्म-नायक' व 'काल-निर्णय' प्रकरणों में अनेक पहलुओं से की जा चुकी है।

महावीर को चातुर्याम-धर्म का निरूपक बतलाना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्ध-भिक्षु पार्श्वनाथ[1] की परम्परा से संपृक्त रहे हैं और महावीर के धर्म को भी उन्होंने उसी रूप में देखा है, जब कि वह पञ्चशिक्षात्मक था।

चार याम जो यहाँ बताये गये हैं, वे यथार्थ नहीं है। तथा प्रकार की व्रत-परिकल्पना और भी किसी नाम से जैन-परम्परा में नहीं मिलती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शीतोदक-वर्जन आदि के रूप में यह चार निषेध जैन-परम्परा से विरुद्ध नहीं हैं।

चूलसकुलुदायि सुत्त[2] और ब्राह्मणो संयुत्त[3] में प्राणातिपात, अदत्तादान, कामेसु-मिच्छाचार व मुसावाद से निवृत्त होने का उल्लेख है, पर वहाँ 'चातुर्याम' शब्द का प्रयोग नहीं है।

महावीर का नाम अजातशत्रु को किस मंत्री ने सुझाया, यह उक्त प्रसंग में नहीं है। पर महायान-परम्परा के अनुसार उक्त सुझाव अभयकुमार ने दिया था।

यहाँ अन्य सभी धर्म-नायकों को चिर-प्रव्रजित और वयोऽनुप्राप्त कहा गया है, पर बुद्ध के लिए जीवक ने इन विशेषणों का प्रयोग नहीं किया है। इससे सूचित होता है, इन सबकी अपेक्षा में बुद्ध तरुण थे।

(२३) बुद्ध : धर्माचार्यों में कनिष्ठ

एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। राजा प्रसेनजित् कौशल भगवान् के पास गया, कुशल-प्रश्न पूछे और जिज्ञासा व्यक्त की—"गौतम! क्या आप भी अधिकार-पूर्वक यह कहते हैं, आपने अनुत्तर सम्यग् सम्बोधि को प्राप्त कर लिया है?"

---

१. चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी॥ —उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गाथा २३

२. मज्झिमनिकाय, ७९ तथा इसी प्रकरण में सम्बन्धित प्रसंग-संख्या ११।

३. इसी प्रकरण में सम्बन्धित प्रसंग-संख्या ६।

भगवान् ने उत्तर दिया—"महाराज ! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक् कहे तो वह मुझे ही कह सकता है। मैंने ही अनुत्तर सम्यग् सम्बोधि का साक्षात्कार किया है।"

राजा प्रसेनजित् कौशल ने कहा—"गौतम ! दूसरे श्रमण-ब्राह्मण, जो संघ के अधिपति, गणाधिपति, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर और बहुजन-सम्मत पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, निगण्ठ नातपुत्त, संजय बेलट्ठिपुत्त, प्रकुध कात्यायन, अजितकेशकम्बली आदि से भी ऐसा पूछा जाने पर, वे अनुत्तर सम्यग् सम्बोधि-प्राप्ति का अधिकार-पूर्वक कथन नहीं करते हैं। आप तो अल्पवयस्क व सद्यः प्रव्रजित हैं ; फिर यह कैसे कह सकते हैं ?"

बुद्ध ने कहा—"क्षत्रिय, सर्प, अग्नि व भिक्षु को अल्पवयस्क समझ कर कभी भी उनका परिभव व अपमान नहीं करना चाहिए। कुलीन, उत्तम, यशस्वी क्षत्रिय को अल्प-वयस्क समझना भूल है। हो सकता है, समयान्तर से वह राज्य प्राप्त कर मनुष्यों का इन्द्र हो जाये और उसके बाद तिरस्कर्ता का राज-दण्ड के द्वारा प्रतिशोध ले। अपने जीवन की रक्षा के लिए इससे बचना आवश्यक है। गाँव हो या अरण्य, सर्प को भी छोटा नहीं समझना चाहिए। सर्प नाना रूपों से तेज में विचरता है। समय पाकर वह नर, नारी, बालक आदि को डँस सकता है। जीवन-रक्षा के निमित्त इससे बचना भी आवश्यक है। बहुभक्षी कृष्णवर्त्मा पावक को दहर नहीं समझना चाहिए। सामग्री पाकर वह अग्नि सुविस्तृत होकर नर-नारियों को जला देती है ; अतः जीवन-रक्षा के निमित्त इससे बचना भी आवश्यक है। अग्नि वन को जला देती है। अहोरात्र बीतने पर वहाँ अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु शील-सम्पन्न भिक्षु अपने तेज से जिसे जला डालता है, उसके पुत्र, पशु तक भी नहीं होते। उसके दायाद भी धन नहीं पाते। वह निःसन्तान और निर्धन सिर कटे ताल वृक्ष जैसा हो जाता है। अतः पण्डित-पुरुष अपने हित का चिन्तन करता हुआ भुजंग, पावक, यशस्वी क्षत्रिय और शील-सम्पन्न भिक्षु के साथ अच्छा व्यवहार करे।"

राजा प्रसेनजित् कौशल ने कहा—"आश्चर्य भन्ते ! आश्चर्य भन्ते ! जैसे औंधे को सीधा कर दे, आवृत्त को अनावृत्ति कर दे, मार्ग-विस्मृत को मार्ग बता दे, अन्धेरे में तैल-प्रदीप दिखा दे, जिससे सनेत्र देख सकें, वैसे ही भन्ते ! भगवान् ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है। भन्ते ! मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ और भिक्षु-संघ की शरण जाता हूँ। आज से जीवन-पर्यन्त मुझे शरणागत उपासक स्वीकार करें।"

—संयुत्तनिकाय, दहरसुत्त, ३-१-१ के आधार से।

समीक्षा

सब धर्म-नायकों में बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। महावीर और बुद्ध की समसामयिकता के निर्णय में डॉ० जेकोबी आदि ने इस प्रसंग को छुआ तक नहीं

है। यह उन्हें सुलभ हुआ होता, तो सम्भवतः वे भी महावीर की ज्येष्ठता निर्विवाद सिद्ध करते।[1]

(२४) सभिय परिव्राजक

एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह में वेलुवन कलन्दक निवाप में विहार कर रहे थे। सभिय परिव्राजक के एक हितैषी देव ने उसे कुछ प्रश्न सिखाये और कहा—"जो श्रमण-ब्राह्मण इन प्रश्नों का उत्तर दे, उसी के पास तुम ब्रह्मचर्य स्वीकार करना।"

सभिय परिव्राजक प्रातःकाल उठा। वह संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर, बहुजन-सम्मत पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रक्रुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्त और निग्रन्थ नातपुत्त के पास क्रमशः गया और उनसे प्रश्न पूछे। सभी तीर्थङ्कर उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके ; अपितु वे कोप, द्वेष और अप्रसन्नता ही व्यक्त करने लगे तथा उल्टे उससे ही प्रश्न पूछने लगे। सभिय बहुत असन्तुष्ट हुआ। उसका मन नाना ऊहापोहों से भर गया और उसने निर्णय किया—अच्छा हो, गृहस्थ होकर सांसारिक आनन्द लूटूँ।

सभिय परिव्राजक के मन में ऐसा भी विचार उत्पन्न हुआ—श्रमण गौतम भी संघी, गणी, गणाचार्य...बहुजन-सम्मत हैं, क्यों न मैं उनसे भी ये प्रश्न पूछूँ। उसका मन तत्काल ही आशंका से भर गया। उसने सोचा, पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बल, प्रक्रुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्त और निग्रन्थ नातपुत्त जैसे जीर्ण, वृद्ध, वयस्क, उत्तरावस्था को प्राप्त, वयोतीत, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित, संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर, बहुजन-सम्मानित श्रमण-ब्राह्मण भी मेरे प्रश्नों का उत्तर न दे सके, न दे सकने पर कोप, द्वेष व अप्रसन्नता व्यक्त करते हैं और मुझ से ही इनका उत्तर पूछते हैं। श्रमण गौतम क्या मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे? वे तो आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन हैं। फिर भी श्रमण युवक होता हुआ भी महर्द्धिक और तेजस्वी होता है ; अतः श्रमण गौतम से भी मैं इन प्रश्नो को पूछूँ।

सभिय परिव्राजक राजगृह की ओर चला। क्रमशः चारिका करता हुआ वेलुवन कलन्दक निवाप में भगवान् के पास पहुँचा। कुशल-संवाद पूछ कर एक ओर बैठ गया। सभिय ने भगवान् से निवेदन किया—"भन्ते! संशय और विचिकित्सा से प्रेरित होकर मैं प्रश्न पूछने के अभिप्राय से आया हूँ। धार्मिक-रीति से उत्तर देकर मेरी उन शंकाओं का निरसन करें।"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"सभिय! प्रश्न पूछने के अभिप्राय से तुम दूर से आये हो। तुम एक-एक कर मुझ से पूछो। मैं उनका समाधान कर तुम्हें संशय-मुक्त कर सकता हूँ।"

---

१. इस प्रसंग पर विशेष चर्चा के लिए देखिए—"काल-निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "महावीर की ज्येष्ठता"।

सभिय परिव्राजक ने सोचा—आश्चर्य है ! अद्‌भुत है ! अन्य श्रमण-ब्राह्मणों ने जिन प्रश्नों के पूछने के लिए अवकाश तक नहीं दिया, वहाँ श्रमण गौतम मुझे उनके निरसन का विश्वास दिलाते हैं। प्रसन्न व प्रमुदित होकर उसने पूछना आरम्भ किया। ......गौतम बुद्ध ने उनका सविस्तार उत्तर दिया। ......सभिय परिव्राजक ने भगवान् के भाषण का अभिनन्दन किया, अनुमोदन किया और आनन्दित हो कर आसन से उठा। उत्तरीय को एक कन्धे पर सम्भाल कर उसने भगवान् बुद्ध की स्तुति में कुछ गाथाएँ कहीं। भगवान् के पाद-पद्मों में नतमस्तक हो कर कहने लगा—"आश्चर्य है गौतम ! अद्‌भुत है गौतम ! जैसे औंधे को सीधा कर दे, आवृत को अनावृत कर दे, मार्ग-विस्मृत को मार्ग बता दे, अन्धेरे में तैल का दीपक जला दे, जिससे सनेत्र देख सकें, उसी प्रकार आप गौतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया है। मैं भगवान् गौतम की शरण ग्रहण करता हूँ, धर्म व भिक्षु-संघ की भी। मैं आपके पास प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण करना चाहता हूँ।"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"सभिय ! कोई अन्य तीर्थिक इस धर्म-विनय में प्रव्रज्या और उपसम्पदा की आकांक्षा करता है तो उसके लिए सामान्य नियम यह है कि उसे पहले चातुर्मासिक परिवास करना होता है। परिवास में सफल होने पर भिक्षु-जन प्रव्रज्या और उपसम्पदा प्रदान करते हैं। कुछ एक व्यक्तियों के लिए इसमें अपवाद भी किया जा सकता है।"

सभिय ने विनम्रता से उत्तर दिया—"भन्ते ! मैं इसके लिए भी प्रस्तुत हूँ। भिक्षु मुझे प्रव्रजित करें, उपसम्पदा प्रदान करें।"

सभिय परिव्राजक ने भगवान् के पास प्रव्रज्या व उपसम्पदा प्राप्त की। कुछ समय पश्चात् सभिय एकान्त में अप्रमत्त, उद्योगी तथा तत्पर हो, जिस प्रयोजन के लिए कुलपुत्र सम्यक् प्रकार से घर से बेघर हो विहार करता है, उस अनुत्तर ब्रह्मचर्य के अन्त को इसी जीवन में स्वयं जान कर और साक्षात्कार कर विहार करने लगे। उन्होंने जान लिया—"जन्म क्षीण हुआ, ब्रह्मचर्य पूर्ण हुआ, कृतकृत्य हो गया और पुनर्जन्म समाप्त हो गया।" आयुष्मान् सभिय अर्हतों में से एक हुए।

—सुत्तनिपात, महावग्ग, सभियसुत्त के आधार से।

समीक्षा

उक्त प्रसंग महावीर की ज्येष्ठता[1] का अनन्य प्रमाण है। यहाँ बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्म-नायकों को 'जिण्ण, वुड्ढा, महल्लका, अद्धगता, वयो अनुपत्ता, थेरा रत्तञ्ञू, चिर पब्बजिता' अर्थात् जीर्ण, वृद्ध, वयस्क, चिरजीवी, अवस्था-प्राप्त, स्थविर, अनुभवी, चिर-प्रव्रजित कहा

१. विशेष समीक्षा के लिए देखिए—"काल निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "महावीर की ज्येष्ठता"।

गया है। यह समुल्लेख सुत्तनिपात का है, इस दृष्टि से भी अधिक प्राचीन और अधिक प्रामाणिक है।[1]

सभिय परिव्राजक के विषय में थेरगाथा-अट्ठकथा आदि ग्रन्थ विस्तृत ब्यौरा देते हैं। एक सुभट-कन्या अपने अभिभावकों के आदेश से किसी एक परिव्राजक के पास शास्त्रादि का अध्ययन करती थी। उसी संसर्ग में उसके गर्भाधान हुआ। वह घर से निकाली गई। चौराहों पर फिरते उसने एक शिशु को जन्म दिया। सभा अर्थात् लोक-समूह के बीच जन्म होने के कारण उस बालक का नाम सभिय पड़ा और वह बड़ा हो कर परिव्राजक बना।[2] इन्हीं अट्ठकथाओं में इसके पूर्वजन्म सम्बन्धी विस्तृत चर्चा भी है।

(२५) सुभद्र परिव्राजक

कुसिनारा में सुभद्र परिव्राजक रहता था। उसने सुना, आज रात के अन्तिम प्रहर में श्रमण गौतम का परिनिर्वाण होगा। उसने सोचा, मैंने वृद्ध आचार्य-प्राचार्य परिव्राजकों से यह सुना है कि तथागत सम्यक् सम्बुद्ध कभी-कभी ही उत्पन्न हुआ करते हैं। आज रात को गौतम का परिनिर्वाण होगा। मेरे मन में कुछ संशय है। मैं श्रमण गौतम के प्रति श्रद्धावान् हूँ। वे मुझे ऐसा धर्मोपदेश कर सकते हैं, जिससे मेरे संशयों का निवारण हो जायेगा।

सुभद्र परिव्राजक मल्लों के शाल-वन उपवत्तन में आया। आयुष्मान् आनन्द के समीप पहुँचा। श्रमण गौतम के दर्शन करने के अपने अभिप्राय से उन्हें सूचित किया। आयुष्मान् आनन्द ने उससे कहा—"आवुस! सुभद्र! तथागत को कष्ट न दो। भगवान् थके हुए हैं।" सुभद्र ने अपनी बात को दो-तीन बार दुहराया। भगवान् ने उस कथा-संलाप को सुन लिया। आनन्द से उन्होंने कहा—"सुभद्र को मत रोको। सुभद्र को तथागत के दर्शन पाने दो। यह जो कुछ भी पूछेगा, वह परम ज्ञान की इच्छा से ही पूछेगा; कष्ट देने के अभिप्राय से नहीं। प्रश्न के उत्तर में इसे जो कुछ भी बताऊँगा, वह शीघ्र ही ग्रहण कर लेगा।"

आनन्द से अनुज्ञा पा कर सुभद्र तथागत के पास आया। उन्हें संमोदन कर एक ओर बैठ गया। वार्तालाप का आरम्भ करते हुए बोला—"गौतम! जो श्रमण-ब्राह्मण संघी, गणी गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर, बहुत लोगों द्वारा उत्तम माने जाने वाले हैं; जैसे कि पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रक्रुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्त, निगण्ठ नातपुत्र; क्या वे सभी अपने पक्ष को तद्वत् ही जानते हैं या तद्वत नहीं जानते हैं, या कोई-कोई तद्वत् जानते हैं या कोई-कोई तद्वत् नहीं जानते हैं?"

बुद्ध ने उस प्रश्न को बीच ही में काटते हुए कहा—"उन सभी पक्षों को तू जाने दे। मैं तुझे धर्मोपदेश करता हूँ। उसे तू अच्छी तरह सुन और उस पर मनन कर।"

---

१. *S. B. E.*, Vol. X, Part II, Introduction by Fausboll.

२. थेरगाथा अट्ठकथा, १,३८१; सुत्तनिपात अट्ठकथा, २,४१९।

सुभद्र तमन्य हो कर बैठ गया। बुद्ध ने कहा—"सुभद्र! जिस धर्म-विनय में अष्टांगिक मार्ग उपलब्ध नहीं होता, उसमें प्रथम श्रमण (स्रोत आपन्न), द्वितीय श्रमण (सकृदागामी), तृतीय श्रमण (अनागामी), चतुर्थ श्रमण (अर्हत्) भी उपलब्ध नहीं होता। सुभद्र! इस धर्म-विनय में ऐसा होता है; अतः यहाँ चारों प्रकार के श्रमण हैं। दूसरे मत श्रमणों से दूर हैं। यदि यहाँ भिक्षु ठीक से विहार करें तो लोक अर्हतो से शून्य न हो।

"सुभद्र! उनतीस वर्ष की अवस्था में कुशल का गवेषक होकर मैं प्रव्रजित हुआ था। अब मुझे इसमें इकावन वर्ष हो चुके हैं। न्याय-धर्म के एक देश को देखने वाला भी यहाँ से बाहर नहीं है।"

आश्चर्याभिभूत होकर सुभद्र परिव्राजक ने कहा—"आश्चर्य भन्ते! आश्चर्य भन्ते! मै भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षु-संघ को भी शरण जाता हूँ। मुझे भगवान् से प्रव्रज्या मिले, उपसम्पदा मिले।"

—**दीघनिकाय**, महापरिनिब्बाण सुत्त, २-३ के आधार से।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की अन्तिम अवस्था तक महावीर के वर्तमान होने की बात निकलती है, पर यह यथार्थ नही है।[1]

(२६) राजगृह में सातों धर्म-नायक

एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह में वेलुवन कलन्दक निवाप में विहार कर रहे थे। उस समय अनुगार-वरचर और सकुल-उदायी आदि बहुत सारे प्रसिद्ध परिव्राजक मोर-निवाप परिव्राजकाराम में वास करते थे। पूर्वाह्न समय भगवान् पहिनने का वस्त्र पहिन कर, पात्र-चीवर ले राजगृह में पिण्डचार के लिए प्रविष्ट हुए। उन्हें अनुभव हुआ, पिण्डचार के लिए अभी बहुत सबेरा है। वे वहाँ से सकुल-उदायी से मिलने के अभिप्राय से मोर-निवाप परिव्राजकाराम की ओर आगे बढ़े। सकुल-उदायी उस समय राज-कथा, चोर-कथा, माहात्म्य-कथा, सेना-कथा, भय-कथा, युद्ध-कथा, अन्न-कथा, पान-कथा, वस्त्र-कथा आदि कथाओं व निरर्थक कथाओं के माध्यम से कोलाहल करने वाली बड़ी परिषद् से घिरा बैठा था। सकुल-उदायी ने दूर ही से गौतम बुद्ध को अपनी ओर आते हुए देखा। परिषद् को सावधान करते हुए कहा—"आप सब चुप हो जायें। शब्द न हो। श्रमण गौतम आ रहे हैं। ये आयुष्मान् निःशब्द-प्रेमी व अल्प शब्द-प्रशंसक हैं। परिषद् को शान्त देख कर सम्भवतः इधर भी आयें।"

सभी परिव्राजक शान्त हो गये। भगवान् सकुल-उदायी के पास गये। सकुल-उदायी

---

१. विशेष समीक्षा के लिए देखिए—"काल-निर्णय" प्रकरण के अन्तर्गत "श्रीचन्दजी रामपुरिया"।

ने भगवान् का स्वागत करते हुए कहा—"आइये भन्ते ! स्वागत भन्ते ! बहुत समय बाद आप यहाँ आये। बैठिये। यह आसन बिछा है।"

भगवान् बुद्ध बिछे आसन पर बैठे। सकुल-उदायी एक नीचा आसन लेकर एक ओर बैठ गया। वार्ता का आरम्भ करते हुए भगवान् ने कहा—"उदायी ! किस कथा में संलग्न थे ? क्या वह कथा अधूरी ही रह गई है ?"

सकुल-उदायी ने उस प्रसंग को बीच ही में काटते हुए कहा—"भन्ते ! इन कथाओं को आप यहीं छोड़ दें। आपके लिए इन कथाओं का श्रवण अन्यत्र भी दुर्लभ नहीं होगा। विगत दिनों की ही घटना है। कुतूहलशाला में एकत्रित नाना तीर्थों के श्रमण-ब्राह्मणों के बीच यह कथा चली—आज कल अङ्ग-मागधों को अच्छा लाभ मिल रहा है ; क्योंकि यहाँ राजगृह में संघपति, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, बहुजन-सम्मानित और तीर्थङ्कर वर्षावास के लिए आये हैं। पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रकुध कात्यायन, संजयबेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त उनमें प्रमुख हैं। श्रमण गौतम भी वर्षावास के लिए यहाँ आये हुए हैं। इन सब श्रमण-ब्राह्मणों में श्रावकों (शिष्यों) द्वारा कौन अधिक सत्कृत व पूजित है ? श्रावक किसे अधिक सत्कार, गौरव, मान व पूजा प्रदान करते हैं ?

"उपस्थित सभी व्यक्तियों में मुक्त चर्चा होने लगी। किसी ने कहा—'पूरणकाश्यप संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, बहुजन-सम्मत व तीर्थङ्कर कहे जाते हैं, किन्तु वे न तो श्रावकों द्वारा सत्कृत हैं और न पूजित ही। इन्हें श्रावक सत्कार, गौरव, मान व पूजा प्रदान नहीं करते। एक बार की घटना है। पूरणकाश्यप सहस्रों की सभा को धर्मोपदेश कर रहे थे। उनके एक श्रावक ने जोर से वहाँ कहा—'आप लोग ये बात पूरणकाश्यप से न पूछें। ये इसे नहीं जानते। इसे हम जानते हैं। यह बात हमें पूछें। हम आप लोगों को बतायेंगे।" पूरणकाश्यप उस समय बाँह पकड़ कर चिल्लाते थे—'आप सब चुप रहें, शब्द न करें। ये लोग आप सब से नहीं पूछ रहे हैं। हमारे से पूछते हैं। इन्हें हम ही बतलायेंगे।' किन्तु वे उस परिषद् को शान्त न कर सके। पूरणकाश्यप के बहुत सारे श्रावक वहाँ से विवाद करते हुए निकल पड़े—'तू इस धर्म-विनय को नहीं जानता, मैं इस धर्म-विनय को जानता हूँ।' 'तू इस धर्म-विनय को क्या जानेगा ?' 'तू मिथ्यारूढ़ है, मैं सम्यग्-प्रतिपन्न हूँ।' 'मेरा कथन सार्थक है, तेरा निरर्थक है।' 'तू ने पूर्व कथनीय बात को पीछे कहा और पश्चात् कथनीय बात को पहले कहा।' 'अविचीर्ण को तू ने उलट दिया।' तेरा वाद निग्रह में आ गया।' 'वाद छुड़ाने के लिए यत्न कर।' 'यदि सामर्थ्य है तो इसे खोल ले।' इस प्रकार पूरण-काश्यप श्रावकों द्वारा न सत्कृत हैं, न गुरुकृत हैं, न पूजित हैं, न मानित हैं बल्कि परिषद् के द्वारा वे तो धिक्कृत हैं।'

"किसी ने वहाँ उपरोक्त प्रकार से मक्खलि गोशाल की चर्चा की तो किसी ने

अजितकेशकम्बल की और किसी ने प्रकुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्त व निगंठ नातपुत्त की चर्चा की। सभी आचार्यों को उन्होंने असत्कृत, अगुरुकृत, अपूजित और अमानित ही ठहराया।

"एक अन्य व्यक्ति ने कहा—'श्रमण गौतम संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, बहुजन-सम्मानित व तीर्थङ्कर हैं। वे श्रावकों द्वारा सत्कृत, गुरुकृत, मानित और पूजित हैं तथा उन्हें गौरव प्रदान कर, उनका आलम्बन ले विचरते हैं। एक समय की घटना है कि श्रमण गौतम सहस्रों की सभा को धर्मोपदेश कर रहे थे। श्रमण गौतम के एक शिष्य ने वहाँ खाँसा। दूसरे सब्रह्मचारी ने उसका पैर दबाते हुए कहा—"आयुष्मन्! चुप रहें, शब्द न करें। शास्ता हमें धर्मोपदेश कर रहे हैं।' जिस समय श्रमण गौतम सहस्रों की परिषद् को धर्मोपदेश करते हैं, उस समय श्रावकों के थूकने व खाँसने का भी शब्द नहीं होता। जनता उनकी प्रशंसा करती है और प्रत्युत्थान करती हुई कहती है—'भगवान् हमें जो धर्मोपदेश करेंगे, उसे सुनेंगे।' श्रमण गौतम के जो श्रावक सब्रह्मचारियों के साथ विवाद कर, भिक्षु-नियमों को छोड़ गृहस्थ-आश्रम को लौट आते हैं; वे भी शास्ता के प्रशंसक होते हैं, धर्म के प्रशंसक होते हैं, संघ के प्रशंसक होते हैं। वे दूसरों की नहीं, अपनी ही निन्दा करते हुए कहते हैं—'हम भाग्यहीन हैं, जो ऐसे स्वाख्यात धर्म में प्रव्रजित हो, परिपूर्ण व परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का जीवन-पर्यन्त पालन नहीं कर सके।' इसके अतिरिक्त आराम-सेवक हो या गृहस्थ (उपासक) हो, पाँच शिक्षापदों को ग्रहण कर विचरते हैं। इस प्रकार श्रमण गौतम श्रावकों द्वारा सत्कृत, गुरुकृत, मानित और पूजित हैं और श्रावक उन्हें गौरव प्रदान कर, उनका आलम्बन ले विचरते हैं।"

—**मज्झिमनिकाय**, महासकुलदायि सुत्तन्त, २-३-७ के आधार से।

समीक्षा

इस उदन्त में उल्लेखनीय अभिव्यक्ति यही है कि सातों धर्म-नायकों का एक साथ राजगृह में वर्षावास बताया गया है।

(२७) *निगण्ठ उपोसथ*

एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में विशाखा मृगार-माता के पूर्वाराम-प्रासाद में विहार कर रहे थे। विशाखा मृगार-माता उपोसथ के दिन भगवान् के पास आई। अभिवादन कर एक ओर बैठ गई। विशाखा से भगवान् ने पूछा—"दिन चढ़ते ही आज कैसे आई?"

"भन्ते! आज मैंने उपोसथ (व्रत) रखा है।"

"विशाखे! उपोसथ तीन प्रकार का होता है:

(१) गोपाल-उपोसथ, (२) निर्ग्रन्थ-उपोसथ तथा (३) आर्य-उपोसथ।"

"भन्ते ! गोपाल-उपोसथ किसे कहते हैं ?"

"विशाखे ! कोई ग्वाला सन्ध्या होने पर गौओं को अपने-अपने स्वामियों को सौंपने के बाद सोचता है, इन गौओं ने आज अमुक-अमुक स्थान पर चराई की और अमुक-अमुक स्थान पर पानी पीया। ये गौएँ कल अमुक-अमुक स्थान पर चरेंगी तथा अमुक-अमुक स्थान पर पानी पीयेंगी। इसी प्रकार उपोसथ-व्रती सोचता है—आज मैंने अमुक पदार्थ खाया है और कल अमुक पदार्थ खाऊँगा। वह अपना सारा दिन लोभ-युक्त चित्त से व्यतीत कर देता है। यह गोपाल-उपोसथ होता है। इसका न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है और न महान् विस्तार होता है।"

"भन्ते ! निर्ग्रन्थ-उपोसथ किसे कहते हैं ?"

"विशाखे ! निर्ग्रन्थ नामक श्रमणों की एक जाति है। वे अपने अनुयायिओं को व्रत दिलाते हैं—हे पुरुष ! तू यहाँ है। पूर्व दिशा में सौ योजन तक जितने प्राणी हैं, उन्हें तू दण्ड-मुक्त कर। इसी प्रकार पश्चिम दिशा, उत्तर दिशा और दक्षिण दिशा में सौ-सौ योजन तक जितने भी प्राणी हैं, उन्हें भी तू दण्ड-मुक्त कर। वे इस प्रकार कुछ प्राणियों के प्रति दया व्यक्त करते हैं और कुछ प्राणियों के प्रति दया व्यक्त नहीं करते हैं। उपोसथ के दिन वे अपने श्रावकों को व्रत दिलाते हैं—पुरुष ! तू इधर आ। सभी वस्त्रों का परित्याग कर तू व्रत ग्रहण कर—न मैं कहीं, किसी का, कुछ हूँ और न मेरा कहीं, कोई, कुछ है। किन्तु उसके माता-पिता जानते हैं, यह मेरा पुत्र है और पुत्र भी जानता है, ये मेरे माता-पिता हैं। पुत्र-स्त्री आदि उसके पारिवारिक भी जानते हैं, यह हमारा स्वामी है और वह भी जानता है, पुत्र-स्त्री आदि ये मेरे पारिवारिक हैं। उसके दास, नौकर, कर्मकर भी जानते हैं, यह हमारा स्वामी है और वह भी जानता है, ये मेरे दास, नौकर, कर्मकर आदि हैं। जिस समय वे व्रत लेते हैं, झूठ का अवलम्बन लेते हैं। मैं कहता हूँ, इस प्रकार वे मृषावादी हैं। रात्रि व्यतीत हो जाने पर वे उन त्यक्त वस्तुओं को बिना किसी के दिये ही उपभोग में लाते हैं। इस प्रकार वे चोरी करने वाले भी होते हैं। यही निर्ग्रन्थ-उपोसथ होता है। इस प्रकार के उपोसथ-व्रत का न महान् फल होता है, न महान् परिणाम होता है, न महान् प्रकाश होता है तथा न महान् विस्तार होता है।"

"भन्ते ! आर्य-उपोसथ किसे कहते हैं ?"

"विशाखे ! आर्य-श्रावक चित्त की निर्मलता के लिए तथागत का अनुस्मरण करता है—भगवान् अर्हत् हैं, सम्यक्-सम्बुद्ध हैं, विद्या-आचरण से युक्त हैं, सुगत हैं, लोक के ज्ञाता हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, कुमार्गगामी पुरुषों का दमन करने वाले उत्तम सारथी हैं तथा देवताओं और मनुष्यों के शास्ता हैं। वे भगवान् बुद्ध हैं। इस प्रकार आर्य-श्रावक ब्रह्म-उपोसथ-व्रत

रखता है और ब्रह्मा के साथ रहता है। ब्रह्म के सम्बन्ध से उसका चित्त प्रसन्न होता है, मोद बढ़ता है और चित्त के मैल का प्रहाण होता है।

"आर्य-श्रावक धर्म का अनुस्मरण करता है—यह धर्म भगवान् द्वारा सुप्रवेदित है, यह धर्म इहलोक-सम्बन्धी है, इस धर्म का पालन सभी देशों तथा सभी कालों में किया जा सकता है। यह धर्म निर्वाण तक ले जाने में समर्थ है तथा प्रत्येक बुद्धिमान् इस धर्म का साक्षात् कर सकता है। इस प्रकार आर्य-श्रावक धर्म-उपोसथ-व्रत रखता है और धर्म के साथ रहता है। धर्म के सम्बन्ध से उसका चित्त प्रसन्न होता है, मोद बढ़ता है और चित्त के मैल का प्रहाण होता है।

"आर्य-श्रावक संघ का अनुस्मरण करता है—भगवान् का श्रावक-संघ सुन्दर, सरल, न्याय व समीचीन मार्ग पर चलने वाला है। इस संघ में आठ प्रकार के सत्पुरुषों का समावेश होता है। यह संघ आदरणीय है, आतिथ्य के योग्य है। दान-दक्षिणा के योग्य है और करबद्ध नमस्कार के योग्य है। यह लोगों के लिए सर्वश्रेष्ठ पुण्य-क्षेत्र है। इस प्रकार संघ का अनुस्मरणकरने वाले का चित्त प्रसन्न होता है, मोद बढ़ता है और चित्त के मैल का प्रहाण होता है।

"आर्य-श्रावक अपने शील का स्मरण करता है—यह अखण्डित, अछिद्र, मालिन्य-रहित, पवित्र, शुद्ध, विज्ञपुरुषों द्वारा प्रशंसित, अकलंकित व समाधि की ओर ले जाने वाला है। इस प्रकार शील के अनुस्मरण से चित्त प्रसन्न होता है, मोद बढ़ता है और चित्त के मैल का प्रहाण होता है।

"आर्य-श्रावक चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माण-रति, परनिर्मित-वशवर्ती, ब्रह्मकायिक देवता और इससे आगे के देवताओं का अनुस्मरण करता है—जिस प्रकार की श्रद्धा, शील, श्रुत (ज्ञान), त्याग और प्रज्ञा से युक्त वे देवता यहाँ से मर कर वहाँ उत्पन्न हुए हैं, मेरे में भी उसी प्रकार की श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा है। उन देवताओं की श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा का अनुस्मरण करने वाले का चित्त प्रसन्न होता है, मोद बढ़ता है और चित्त के मैल का प्रहाण होता है।

"उपोसथ के दिन वह आर्य-श्रावक चिन्तन करता है—

(१) अर्हत् जीवन-पर्यन्त प्राण-वियोजन से विरत हो, दण्ड-त्यागी, शस्त्र-त्यागी, पाप-भीरु, दयावान् हो कर सभी प्राणियों का हित और उन पर अनुकम्पा करते हुए विचरते हैं। मैं भी आज अहोरात्र तक प्राण-वियोजन से विरत हो, दण्ड-त्यागी, शस्त्र-त्यागी, पाप-भीरु व दयावान् होकर सभी प्राणियों का हित और उन पर अनुकम्पा करते हुए विहार करूँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुकरण करूँगा तथा मेरा उपोसथ (व्रत) पूर्ण होगा।'

(२) 'अर्हत् जीवन-पर्यन्त अदत्त से विरत रह, केवल दत्त के ही ग्राहक, दत्त के ही आकांक्षी हो कर पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं। मैं भी आज अहोरात्र तक अदत्त से विरत

हो, केवल दत्त का ही ग्राहक, दत्त का ही आकांक्षी हो कर पवित्र जीवन बिताऊँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुकरण करूँगा तथा मेरा उपोसथ पूर्ण होगा।

(३) अर्हत् जीवन-पर्यन्त अब्रह्मचर्य का त्याग कर, ब्रह्मचारी, अनाचार-रहित, मैथुन ग्राम्य-धर्म से विरत रहते हैं। मैं भी आज अहोरात्र तक अब्रह्मचर्य का त्याग कर, ब्रह्मचारी, अनाचार-रहित, मैथुन ग्राम्य-धर्म से विरत हो कर रहूँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुकरण करूँगा तथा मेरा उपोसथ पूर्ण होगा।

(४) अर्हत् जीवन-पर्यन्त मृषावाद का त्याग कर, सत्यवादी, विश्वसनीय, स्थिर, निर्भर तथा लोक में असत्य न बोलने वाले हो कर रहते हैं। मैं भी आज अहोरात्र तक मृषावाद का त्याग कर, सत्यवादी, विश्वसनीय, स्थिर, निर्भर तथा लोक में असत्य न बोलने वाला हो कर रहूँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुकरण करूँगा तथा मेरा उपोसथ पूर्ण होगा।

(५) अर्हत् जीवन-पर्यन्त सुरा आदि प्रमाद-कारक वस्तुओं का परित्याग कर उनसे विरत हो कर रहते हैं। मैं भी आज अहोरात्र तक सुरा आदि प्रमाद-कारक वस्तुओं से विरत हो कर रहूँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुकरण करूँगा तथा मेरा उपोसथ पूर्ण होगा।

(६) अर्हत् जीवन-पर्यन्त एकाहारी, रात्रि-भोजन-त्यागी, विकाल भोजन से विरत हो कर रहते हैं। मैं भी आज का अहोरात्र एकाहारी, रात्रि-भोजन-त्यागी, विकाल भोजन से विरत हो कर बिताऊँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुसरण करूँगा तथा मेरा उपोसथ पूर्ण होगा।

(७) अर्हत् जीवन-पर्यन्त नृत्य, संगीत, वाद्य, मनोरंजक दृश्य देखने, माला, गन्ध, विलेपन, शृङ्गारिक परिधान आदि से विरत रहते हैं। मैं भी आज का अहोरात्र नृत्य, संगीत, वाद्य, मनोरंजक दृश्य देखने, माला, गन्ध, शृङ्गारिक परिधान आदि से विरत हो कर बिताऊँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुसरण कर पाऊँगा तथा मेरा उपोसथ पूर्ण होगा।

(८) अर्हत् जीवन-पर्यन्त ऊँची व महान् शय्या का त्याग कर, उससे विरत हो कर चारपाई या चटाई का नीचा आसन ही काम में लेते हैं। मैं भी आज अहोरात्र ऊँची व महान् शय्या का त्याग कर, उससे विरत हो, चटाई या नीचा आसन ही काम में लूँ। इस अंश में भी मैं अर्हतों का अनुसरण कर पाऊँगा तथा मेरा उपोसथ पूर्ण होगा।

"विशाखे! उपरोक्त विधि से रखे गये उपोसथ का महान् फल होता है, महान् परिणाम होता है, महान् प्रकाश होता है तथा महान् विस्तार होता है।"

"भन्ते ! उस उपोसथ से कितना महान् फल, कितना महान् परिणाम, कितना महान् प्रकाश तथा कितना महान् विस्तार होता है ?"

"विशाखे ! महान् सप्त रत्न-बहुल अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जी, मल्ल, चेदी, बंग, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शौरसेन, अश्मक, अवन्ती, गन्धार तथा कम्बोज आदि महाजनपदों का ऐश्वर्य भी अष्टांग उपोसथ-व्रत के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं होता ; क्योंकि दिव्य सुख के समक्ष मानुषी राज्य का कोई मूल्य नहीं है। अष्टांगिक उपोसथ का पालन करने वाले स्त्री या पुरुष शरीर छूटने के अनन्तर चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माण-रति, परनिर्मित-वशवर्ती देवताओं का सहवासी हो जाये।

"...चन्द्रमा और सूर्य दोनों सुदर्शन हैं। जहाँ तक सम्भव होता है, वे प्रकाश फेंकते हैं और अन्धकार का नाश करते हैं। वे अन्तरिक्ष-गामी हैं ; अतः आकाश की सभी दिशाओं को आलोकित करते हैं। जहाँ जो कुछ भी मुक्ता, मणि, वैडूर्य, जातरूप व हाटक कहलाने वाला स्वर्ण, चन्द्रमा का प्रकाश तथा सभी तारागण उपोसथ के सोलहवें अंश के सदृश भी नहीं होते। सदाचारी नर-नारी उपोसथ का पालन कर, सुख-दायक पुण्य-कर्म कर, आनन्दित रह स्वर्ग स्थान को प्राप्त होते हैं।"

—**अंगुत्तरनिकाय**, तिकनिपात, ७० के आधार से।

समीक्षा

जैन-श्रावक के बारह व्रतों में ग्यारहवाँ "पौषध व्रत" है। प्रस्तुत प्रकरण में उसका विकृत ही चित्रण हुआ है और विकृत ही समीक्षा हुई है। पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं में १०० योजन उपरान्त पाप न करना, 'छट्ठे दिग्विरति व्रत' का सूचक है। इसमें कुछ की हिंसा और कुछ की दया का दोष बताना अयथार्थ है। यथाशक्य विरमण का अर्थ कुछ जीवों की हिंसा व कुछ जीवों की दया नहीं होता।

पौषध-व्रत में असत्य और चौर्य का दोष भी बताया गया, पर यह वाग् विरोध मात्र है। यथार्थ में पौषध का अभिप्राय है—एक अहोरात्र के लिए निर्ग्रन्थ-जीवन जीना। उसमें भी इतना विशेष कि वह अहोरात्र श्रावक निर्जल और निराहार बिताये। बुद्ध ने स्वयं जिस तीसरी कोटि के उपोसथ का प्ररूपण किया है, उसकी भावना में और निर्ग्रन्थ-उपोसथ की भावना में मुख्यतः कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। उन्होंने आर्य-उपोसथ में एकाहारी रहने की बात कही है और निर्ग्रन्थ-उपोसथ में निराहारी रहने की बात है। बुद्ध ने भी तो उपोसथ की भावना यही मानी है कि उपासक एक अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीएँ। उसमें हिंसा, असत्य, अदत्त आदि के अहोरात्रिक त्याग बतलाये हैं। यदि जैन-उपोसथ में हिंसा, असत्य, अदत्त आदि के दोष आयेंगे तो फिर बौद्ध-उपोसथ में क्यों नहीं आयेंगे ?

बौद्ध-उपासक भी तो अहोरात्र के पश्चात् माता को माता और पिता को पिता मानता है तथा अपने धन आदि का उपभोग-परिभोग आदि करता है। जब कि अहोरात्र के लिए अर्हत्-जीवन जीते समय उस सब व्यवहार का वर्जन हो गया था।

लगता है, उस युग की यह भी एक मुख्य चर्चा रही है। जैन-आगम **भगवती सूत्र**[1] के अनुसार आजीवकों ने निगण्ठ स्थविरों को ऐसे ही अनेक प्रश्न पूछे। गौतम ने उन्हीं प्रश्नों को महावीर के सम्मुख प्रस्तुत किया। महावीर ने सविस्तार उन प्रश्नों का उत्तर दिया। वे प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं :

"भन्ते ! उपाश्रय में कोई श्रावक सामायिक-व्रत लेकर बैठा हो। कोई अन्य पुरुष उसके भण्डोपकरण ले जाये। सामायिक पूर्ण कर वह श्रावक अपने भण्डोपकरणों की खोज करता है या दूसरों के भण्डोपकरणों की ?"

"गौतम ! वह अपने भण्डोपकरणों की गवेषणा करता है, अन्य के भण्डोपकरणों की नहीं।"

"भन्ते ! शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास में क्या श्रावक के भण्ड अभण्ड नहीं होते ?"

"गौतम ! वे अभण्ड होते हैं।"

"भन्ते ! ऐसा फिर किसलिए कहा गया कि वह अपने भण्ड की गवेषणा करता है ?"

"गौतम ! सामायिक करने वाले श्रावक के मन में आता है, 'यह हिरण्य मेरा नहीं है, यह स्वर्ण मेरा नहीं है ; इसी प्रकार यह कांस्य, वस्त्र, धन, कनक, रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, शील, प्रवाल, विद्रुम, स्फटिक आदि द्रव्य मेरे नहीं हैं।' सामायिक-व्रत पूर्ण होने पर ममत्व भाव के कारण वह अपरिज्ञात बनता है। इसलिए हे गौतम ! यह कहा गया कि वह अपने भण्ड की गवेषणा करता है, पर-भण्ड की नहीं।"

"भन्ते ! उपाश्रय में सामायिक-व्रत करते श्रावक की भार्या का कोई अन्य पुरुष भोग करता है, तो वह उसकी भार्या को भोगता है या अभार्या को ?"

"गौतम ! वह उसकी भार्या को भोगता है।"

"भन्ते ! शीलव्रत, गुणव्रत, पौषधोपवास आदि के समय क्या भार्या अभार्या नहीं होती ?"

"गौतम ! होती है।"

"भन्ते ! तो यह कैसे कहा गया कि वह उसकी भार्या को भोगता है ?"

---

१. ८।५।६७७।

"गौतम ! शीलव्रत, पौषधोपवास आदि के समय श्रावक के मन में यह विचार होता है—'यह मेरी माता नहीं है, यह मेरा पिता नहीं है, यह मेरा भाई नहीं है, यह मेरी बहिन नहीं है, यह मेरी स्त्री नहीं है, यह मेरा पुत्र नहीं है, यह मेरी पुत्री नहीं है, यह मेरी पुत्र-वधू नहीं है।' गौतम ! यह सोचते समय भी उसका प्रेम-बन्धन व्युच्छिन्न नहीं होता। इसलिए अन्य पुरुष उसकी भार्या का ही भोग करता है।"

कुल मिला कर ये सब आपेक्षिक कथन हैं। संगत अपेक्षा में सोचने से ये सब संगत हैं और असंगत अपेक्षा में सोचने से ये सब विरूप लगते हैं।

बौद्धों ने प्रस्तुत सुत्त में असंगत अपेक्षाएँ सामने रख कर निगण्ठ उपोसथ का उपहास किया है।

(२८) छः *अभिजातियों में निर्ग्रन्थ*

एक बार भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे। आयुष्मान् आनन्द भगवान् के समीप आये, अभिवादन किया और एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे आनन्द ने भगवान् से कहा—"भन्ते ! पूरणकाश्यप ने छः अभिजातियों का निरूपण किया है—कृष्ण अभिजाति, नील अभिजाति, लोहित अभिजाति, हरिद्र अभिजाति, शुक्ल अभिजाति और परम शुक्ल अभिजाति।

पूरणकाश्यप ने कृष्ण अभिजाति में कसाई, आखेटक, लुब्धक, मत्स्यघातक, चोर, लुण्टाक, कारागृहिक और इस प्रकार के अन्य क्रूर कर्मान्तक लोगों को गिनाया है।

नील अभिजाति में कण्टकवृत्तिक भिक्षुक और अन्य कर्मवादी, क्रियावादी लोगों को गिनाया है।

लोहित अभिजाति में एक शाटक (एक वस्त्रधारी) निर्ग्रन्थों को गिनाया है।

हरिद्र अभिजाति में श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ व अचेलक (निर्ग्रन्थ) श्रावकों को गिनाया है।

शुक्ल अभिजाति में आजीवक और उनके अनुयायियों को गिनाया है।

परम शुक्ल अभिजाति में नन्द, वत्स, कृश-सांकृत्य और मक्खलि गोशाल को गिनाया है।

—**अंगुत्तरनिकाय**, ६-६-५७ के आधार से।

समीक्षा

छः अभिजातियाँ यहाँ पूरणकाश्यप के नाम से बताई गई हैं; पर मूलतः यह गोशालक द्वारा निरूपित हैं। **दीघनिकाय** के **सामञ्ञफल सुत्त** में, **संयुत्तनिकाय** के **खन्धवग्ग** में और **मज्झिमनिकाय** के **सन्दक सुत्त** में इन्हें गोशालक द्वारा निरूपित ही बताया गया है। पूरण-

काश्यप के नाम से इनको प्रस्तुत प्रकरण के अतिरिक्त और कहीं नहीं बताया गया है। तीन समुल्लेख जब समान रूप से मिलते हैं तो इस चतुर्थ समुल्लेख के सम्बन्ध में यथार्थता यही लगती है कि शास्त्र-संकलयिताओं की भूल ही से ऐसा हुआ है। इस प्रकार की भूलों के और भी अनेक प्रमाण त्रिपिटक-साहित्य में मिलते हैं। जैसे गोशालक के अहेतुवाद को **संयुत्तनिकाय**[1] में पूरणकाश्यप का बता दिया गया है।[2] **जातक अट्ठकथा**[3] में पूरणकाश्यप के अभिमत को निगंठ नातपुत्त के नाम से बता दिया गया है। **संयुत्तनिकाय**[4] में गोशालक के समग्र मतवाद का उल्लेख प्रक्रुध कात्यायन के वाद के अन्तर्गत कर दिया गया है। वहाँ ये छः अभिजातियाँ भी प्रक्रुध कात्यायन की बता दी गई हैं। यहाँ तक कि त्रिपिटकों के तिब्बती संस्करण[5] में छः अभिजातियाँ अजितकेशकम्बल के नाम से उल्लिखित हुई हैं। त्रिपिटकों के व्याख्याता आचार्य बुद्धघोष[6] ने भी अनेक स्थलों पर अभिजातियों का सम्बन्ध केवल गोशालक से जोड़ा है।

मूलतः अभिजातियों के गोशालक की होने में एक प्रमुख प्रमाण जैन-आगम **भगवती सूत्र**[7] का है। वहाँ गोशालक अपने प्रवृत्त-परिहार का उल्लेख करते हुए बताता है कि उदायी के पोट्ट-परिहार में मेरी शुक्ल-अभिजाति थी।

अभिजातियों सम्बन्धी जितने प्रकरण त्रिपिटकों में हैं, उनमें सबसे अधिक प्रामाणिक **सामञ्ञफल सुत्त** को ही माना गया है।[8] इससे भी यह पुष्ट होता है कि अभिजातियों का सम्बन्ध मूलतः गोशालक से है और यही तो कारण है कि अभिजातियों में सर्वोपरि स्थान आजीवकों और आजीवक-प्रवर्तकों का रहा है।

---

१. संयुत्तनिकाय, खन्धक संयुत्त, मज्झिम पण्णासक, उपयवर्ग, महालिसुत्त, २१-२-१-८ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ३५२।

२. डॉ० वुडवार्ड का भी कहना है—By a quite curious carelessness, the editors of the *Kindred Sayings* have imputed to purana Kassapa—the teaching imputed in the *Dihga* (1-53) to makkhali gosāla. He denied *hetu-paccyo,* condition and cause, the efficacy of Karmas. He is *ahetuvado,* non-causationist. —*Book of Kindred Sayings*, Vol. III, p. 61 n

३. खण्ड ५, पृ० २२७।

४. २३-१-८।

५. A. L. Basham, *History and Doctrines of Ajivikas*, P. 22.

६. सुमंगलविलासिनी, खण्ड १, पृ० १६२।

७. शतक १५, सूत्र ५५०।

८. That in the *Dihga Nikāya* shows a completeness and consistency lacking in the rest, and perhaps represents the original source of the other sources. —Dr. A. L. Bashām, *op. cit.*, P. 23.

डॉ० बाशम का अभिमत है—पूरणकाश्यप वयोवृद्ध धर्म-नायक था। गोशालक उस समय तरुण था। पूरणकाश्यप ने अपने मत का ह्रास और गोशालक के मत का उदय देख कर उसके नवोदित मत की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। वह छः अभिजातियों का समुल्लेख भी करने लगा।[१]

डॉ० बाशम की यह धारणा यदि सही है, तब तो त्रिपिटक-साहित्य में पूरणकाश्यप के नाम से अभिजातियों का उल्लेख होना स्वाभाविक है ही, जैसा कि प्रस्तुत प्रकरण में हुआ है।

अर्थ-भेद

अभिजातियों के अर्थ में भी कुछ-कुछ भेद डाला जाता है। तीसरी लोहित अभिजाति में **'निगंठा एकसाटका'** ऐसा पाठ है। डॉ० हेर ने अपने अँग्रेजी अनुवाद में उसका अर्थ 'जैन और कौपीन (एक वस्त्र) धारी लोक' किया है।[२] डॉ० बाशम[३], डॉ० हर्नले[४] और आचार्य बुद्धघोष[५] ने इसका अर्थ 'एक वस्त्र पहनने वाले निर्ग्रन्थ' किया है और यही यथार्थता के अधिक समीप लगता है। अन्यत्र भी सर्वस्त्र निर्ग्रन्थों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में मिलता है।[६]

चतुर्थ हरिद्र अभिजाति में **'गिही-ओदातवसना अचेलक सावका'** ऐसा पाठ है। डॉ० बाशम ने इसका अर्थ 'अचेलकों के शिष्य—श्वेत वस्त्रधारी शिष्य' किया है।[७] 'अचेलक' शब्द से उन्होंने आजीवकों का ग्रहण किया है।[८] उनका कहना है—"अन्य सभी भिक्षुओं

---

१. We may tentatively reconstruct the relations of the prophets as follows : Pūrana, a heretical leader of long standing, maintaining a fātalistic doctrine with tendencies to antinomianism, came in contant with Makkhali Gosala, a younger teacher with doctrines much the same as his own, but with a more successful appeal to the public recognising his eclipse, adimitted the superiority of the new teacher and accepted the sixfold classification of men. —*Ibid,* p, 90.

२. "Jains and loin cloth folk." —*The Book of Gradual Sayings,* Vol. III, p. 273.

३. "Red (*Lohita*), *niganthas,* who wear a single garment." —Op. cit. p. 243.

४. *Encyclopaedia of Religion and Ethics,* Vol. I, p. 262.

५. *The Book of Kindred Sayings*, Vol. III, p. 17 fn.

६. E. W. Burlinghame, *Buddhist Legends*, Vol. III, p. 176.

७. The householder clad in White robs, the disciples of the *Achelakas.* —Op. cit. pp, 139.

८. *Ibid*, p. 243.

से आजीवक गृहस्थों को यहाँ ऊँचा बताया गया है।"[1] इस पाठ से आचार्य बुद्धघोष ने 'निर्ग्रन्थ श्रावकों' का अर्थ ग्रहण किया है। उनका अभिमत है—निर्ग्रन्थ गृहस्थ श्रावक आजीवक भिक्षुओं को भी दान देते थे ; अतः उनका स्थान निर्ग्रन्थ भिक्षुओं से भी ऊँचा रखा गया है।[2] डॉ० हेर के अनुसार इस पाठ का अर्थ है—'श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थ और नग्न साधुओं के अनुयायी।"[3] कुल मिला कर यथार्थ तो यह लगता है कि 'अवदातवसन-गृही' और 'अचेलक श्रावक' ये दो शब्द हैं। **'गिही ओदातवसना'** पाठ **सामगाम सुत्त**[4], **पासादिक सुत्त**[5] व **संगीति-पर्याय-सुत्त**[6] में भी आया है और वहाँ **'निगण्ठ नातपुत्तस्स सावका'** उनका परिचायक विशेषण है। इससे यह फलित सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि ये 'अवदातवसन-गृही' भी निगण्ठ नातपुत्त के श्रावक हैं। यह कहना कठिन है कि बौद्ध-परम्परा का यह समुल्लेख कौन-से श्रावक-समुदाय की ओर संकेत करता है ; क्योंकि जैन-साहित्य में श्वेत-वस्त्रधारी गृहस्थ श्रावकों का कोई उल्लेख नहीं है। हो सकता है, स्थविरकल्पी मुनियों के लिए यह संकेत हुआ हो। प्रमुखता जिनकल्पी साधुओं की रही हो ; अतः उन्हें निर्ग्रन्थ शिष्य तथा स्थविरकल्पी मुनियों को श्वेत-वस्त्रधारी गृहस्थ शिष्य कह दिया हो। यद्यपि 'अचेलक-श्रावक' का अर्थ डॉ० हेर ने 'अचेलक-अनुयायी' किया है, पर यहाँ श्रावक शब्द का अर्थ 'अचेलक भिक्षुओं का अनुयायी' ही होना चाहिए। बौद्ध-परम्परा में 'श्रावक' शब्द भिक्षु और उपासक—इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। नग्न भिक्षुओं का अर्थ 'निर्ग्रन्थ भिक्षु' ही इसलिए संगत होता है कि आजीवक भिक्षुओं को तो पाँचवीं अभिजाति में पृथक् से गिना ही दिया गया है।

डॉ० बाशम ने पंचम शुक्ल अभिजाति में 'आजीविक भिक्षु और भिक्षुणियों' का अर्थ किया है[7], जब कि डॉ० हेर ने 'आजीवक और उनके अनुयायी' किया है।[8] डॉ० हेर का अर्थ अधिक संगत लगता है।

---

१. "This passage also has its obscurities, but seems to reyer to Ājivika lazmen, who are promoted above the ascetics of other communities".
—*Op. cit.* p. 243.

२. "अयं अत्तनो पच्चय-दायके निगण्ठे हि पि जेट्ठकतरे करोति।"
—सुमंगलविलासिनी, खण्ड १, पृ० १६३ तथा Basham, *Op. cit.* p. 139.

३. "white robed householders and followers of naked ascetics."
—*The Book of Gradual Sayings*, Vol. III, p. 273.

४. मज्झिमनिकाय, ३-१-५।

५. दीघनिकाय, ३।६।

६. वही, ३।१०।

७. "white (*Sukka*) Ājīvikas and Ājīvinis (the latter called in the *Anguttara* Ājīvikiniyo). Ājīvika ascetics of both sexes." —*Op.* cit., p. 243.

८. "Fakirs and their disciples." —*Op. cit.*, p. 273.

छः लेश्याएँ

जैन-परम्परा की छः लेश्याएँ भाव-भाषा में छः अभिजातियों के साथ बहुत कुछ समानता रखती हैं। इनके नाम हैं—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या। विचार और प्रवृत्ति की दृष्टि से प्राणियों का विभागीकरण छः लेश्याओं में निम्न प्रकार से होता है—

पाँच आस्रवों में प्रवृत्त, तीनों गुप्तियों से अगुप्त, षट्काय की हिंसा में आसक्त, उत्कट भावों से हिंसा करने वाला, क्षुद्रबुद्धि, बिना विचारे कार्य करने वाला, निर्दयी, नृशंस—पाप कृत्यों में शंका-रहित और अजितेन्द्रिय मनुष्य कृष्ण लेश्या के अन्तर्गत हैं।

ईर्ष्यालु, कदाग्रही, असहिष्णु, अतपस्वी, अविद्वान्—अज्ञानी, मायावी, निर्लज्ज, विषयी—लम्पट, द्वेषी, शठ—धूर्त, प्रमादी, रसलोलुपी, सुख-गवेषक, आरम्भी, अविरत, क्षुद्र और साहसिक मनुष्य नील लेश्या के अन्तर्गत हैं।

वक्र वचन बोलने वाला, वक्र आचरण करने वाला, छल करने वाला, असरल, अपने दोषों को छिपाने वाला, मिथ्यादृष्टि, अनार्य, मर्म भेदक, दुष्ट वचन बोलने वाला, चोरी व असूया करने वाला मनुष्य कापोत लेश्या के अन्तर्गत है।

नम्रतायुक्त, अचपल, अमायी, अकुतूहली, विनययुक्त, दान्त, स्वाध्याय में रत, उपधान आदि तप करने वाला, धर्मप्रेमी, दृढ़धर्मा, पापभीरु तथा हितैषी—मुक्ति-पथ का गवेषक मनुष्य तेजो लेश्या के अन्तर्गत है।

अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ वाला, प्रशान्त चित्त, दान्तात्मा, योग और उपधान वाला, अत्यल्पभाषी, उपशान्त और जितेन्द्रिय मनुष्य पद्मलेश्या के अन्तर्गत हैं।

आर्त्त-रौद्र ध्यानों को त्याग कर धर्म-शुक्ल ध्यानों का आसेवन करने वाला, प्रशान्त चित्त, दान्तात्मा, पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अल्परागवान् अथवा वीतरागी, उपशान्त और जितेन्द्रिय पुरुष शुक्ल लेश्या के अन्तर्गत हैं।[1]

आगम-साहित्य में लेश्याओं का एक व्यवस्थित और विस्तृत सिद्धान्त है। पृथक्-पृथक् लेश्याओं के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बताये गये हैं। द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या आदि भेद बताये गये हैं। देव, नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि में कितनी-कितनी लेश्याएँ सम्भव हैं, इसका पूरा ब्यौरा है। इनमें प्रथम तीन अशुभ हैं और अग्रिम तीन शुभ हैं। छः अभिजातियों का इतना व्यवस्थित और विस्तृत स्वरूप कहीं नहीं मिलता।

लेश्या-सिद्धान्त के अनुसार वैमानिक देवों में वर्ण की अपेक्षा से क्रमशः तीन शुभ लेश्याएँ हैं। आगमिक उल्लेख के अनुसार आजीवक भिक्षु मृत्यु के पश्चात् बारहवें स्वर्ग

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३४, गा० २१-३२।

तक भी पहुँच सकते हैं।[1] तात्पर्य हुआ, वे तेजस्, पद्म और शुक्ल—तीनों शुभ लेश्याएँ पा सकते हैं। आजीवकों के कथनानुसार निगण्ठ लोहित और हरिद्र अभिजाति में हैं ही। तेजस् और पद्म—लोहित और हरिद्रा[2] वर्ण के ही पर्यायवाची हैं।

डॉ० हर्मन जेकोबी[3] तथा डॉ० बाशम[4] का अभिमत है कि महावीर ने लेश्याओं का सिद्धान्त गोशालक की अभिजातियों पर ही खड़ा किया है। पर कल्पना से अधिक उसका कोई आधार नहीं लगता। महावीर के लेश्याओं से गोशालक ने छः अभिजातियाँ ली हों, यह भी तो उतनी ही सम्भव कल्पना है। 'महावीर ने गोशालक से बहुत कुछ सीखा' इस विचार का निराकरण "गोशालक" प्रकरण में किया ही जा चुका है। डॉ० बाशम का तर्क है कि लेश्या-सिद्धान्त बहुत विस्तृत और व्यवस्थित है, इसलिए भी सोचा जा सकता है कि वह छः अभिजातियों का विकसित रूप है। सम्भव स्थिति तो यह लगती है कि पार्श्व-परम्परा के अनेक सिद्धान्त आजीवक, बौद्ध, जैन आदि श्रमण-परम्पराओं में आये हैं, उनमें एक यह भी हो सकता है।

बौद्ध अभिजातियाँ

पुरुषों के कर्म के आधार पर वर्गीकरण का विचार उस समय बहुत प्रचलित था। गोशालक और महावीर की तरह बुद्ध ने भी वैसा वर्गीकरण किया। आनन्द ने पूरणकाश्यप द्वारा अभिहित छः अभिजातियों के विषय में बुद्ध से पूछा, तो बुद्ध ने कहा—"यह मूर्ख और अबुद्धिमान् लोगों के लिए है। मैं छः अभिजातियाँ इस प्रकार कहता हूँ—

(१) कृष्ण अभिजाति—कृष्णधर्म—कोई पुरुष नीच कुल में पैदा होता है; चण्डाल-कुल में, वेन-कुल में, निषाद-कुल में, रथकार-कुल में, पुक्कुस-कुल में, दरिद्र और बड़ी तंगी से रहने वाले निर्धन-कुल में, जहाँ खाना-पीना बड़ी तंगी से मिलता है। वह दुर्वर्ण, न देखने लायक, नाटा और मरीज होता है। वह काना, लूल्हा, लँगड़ा या लुँज होता है। उसे अन्न, पान, वस्त्र, सवारी, माला, गन्ध, विलेपन, शय्या, घर, प्रदीप कुछ प्राप्त नहीं होता है।

वह शरीर से दुराचरण करता है, वचन से दुराचरण करता है, मन से दुराचरण करता है। इन दुराचरणों के कारण यहाँ से मर कर अपाय में पड़ बड़ी दुर्गति को प्राप्त करता है। यह 'कृष्ण-अभिजाति—कृष्ण-धर्म' वाला है।

---

१. देखिए—"गोशालक" प्रकरण के अन्तर्गत "जैन और आजीवकों में सामीप्य"।
२. डॉ० बाशम ने 'हरिद्रा' का अर्थ 'हरा' (Green) किया है, (*Op. Cit.* p. 243); वस्तुतः 'हरिद्रा' का अर्थ 'पीत' होना चाहिए।
३. *S. B. E*, Vol, XIV, Introduction, p. XXX.
४. *Op. Cit.*, p. 245.

(२) कृष्ण-अभिजाति—शुक्ल-धर्म—कोई पुरुष नीच कुल······प्राप्त नहीं होता। वह शरीर से सदाचार करता है, वचन से सदाचार करता है, मन से सदाचार करता है। इन सदाचारों के कारण यहाँ से मर कर स्वर्ग में उत्पन्न हो सुगति को प्राप्त करता है। यह 'कृष्ण-अभिजाति—शुक्ल-धर्म' वाला है।

(३) कृष्ण अभिजाति—न कृष्ण, न शुक्ल (धर्म) अर्थात् निर्वाण को प्राप्त करने वाला—कोई पुरुष नीच कुल में पैदा होता है और दाढ़ी-केश मुँडवा कर, घर से बेघर हो प्रव्रजित होता है और नाना साधनाओं से निर्वाण प्राप्त करता है। यह कृष्ण अभिजाति—निर्वाण—न शुक्ल, न कृष्ण प्राप्त करने वाला है।

(४) शुक्ल अभिजाति—कृष्ण धर्म—कोई पुरुष ऊँचे कुल में उत्पन्न होता है, ऊँचे क्षत्रिय-कुल में, ब्राह्मण-कुल में, गृहपति-कुल में, धनाढ्य, महाधन, महाभोग······वाले कुल में। वह सुन्दर, दर्शनीय, साफ और बड़ा रूपवान् होता है। अन्न-पान······यथेच्छ लाभ करता है। वह शरीर से दुराचरण आदि कर दुर्गति को प्राप्त होता है।

(५) शुक्ल अभिजाति—शुक्ल-धर्म—कोई पुरुष ऊँचे कुल में उत्पन्न हो, शरीर से सदाचार आदि कर सुगति को प्राप्त होता है।

(६) शुक्ल अभिजाति—निर्वाण अर्थात् न कृष्ण, न शुक्ल—कोई पुरुष ऊँचे कुल में उत्पन्न हो, प्रव्रजित हो कर निर्वाण प्राप्त करता है।"

गोशालक की अभिजातियाँ वर्तमान जीवन से ही सम्बन्धित हैं, जब कि महावीर का लेश्या-विचार तथा बुद्ध की अभिजातियाँ परलोक से भी सम्बन्धित हैं। बुद्ध ने छः अभिजातियाँ कहाँ से लीं, इसका उत्तर अपने-आप में स्पष्ट है ही कि वातावरण में अभिजातियों की चर्चा थी ; अतः बुद्ध ने भी प्रकारान्तर से उनका निरूपण किया।

(२६) *सच्चक निगण्ठपुत्र*

एक समय भगवान् गौतम वैशाली की महावन की कूटागारशाला में विहार कर रहे थे। भगवान् पूर्वाह्न समय वस्त्र धारण कर, पात्र-चीवर ले भिक्षा के लिए वैशाली में प्रविष्ट होना चाहते थे। सच्चक निगण्ठपुत्र (नंगे साधु का पुत्र[1]) जंघा-विहार के लिए अनुविचरण करता हुआ कूटागारशाला में गया। आयुष्मान् आनन्द ने उसे दूर से ही आते हुए देखा। भगवान् को इसकी सूचना दी और कहा—"भन्ते ! सच्चक निगण्ठपुत्र आ रहा है। यह बहुत प्रलापी, पण्डितमानी व बहुजन-सम्मानित है। यह बुद्ध-धर्म व संघ की निन्दा चाहने वाला है। अच्छा हो, यदि थोड़े समय भगवान् कृपा कर यहीं ठहरें।" भगवान् बिछे आसन पर बैठ गये। सच्चक निगण्ठपुत्र भगवान् के पास आया। भगवान् से यथायोग्य कुशल प्रश्न पूछ कर एक ओर बैठ गया। नाना टेढ़े-मेढ़े प्रश्न पूछे और गहरी चर्चा चली। भगवान् बुद्ध ने उन

१. मज्झिमनिकाय, चूलसच्चक सुत्तन्त, १-४-५।

सबका ही सविस्तार उत्तर दिया। गौतम बुद्ध के उत्तरों से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने कहा—"आश्चर्य है, भो गौतम! अद्भुत है, भो गौतम! मैंने आपको चिढ़ा-चिढ़ा कर, ताने दे-दे कर चुभने वाले वचन-प्रयोग से प्रश्न पूछे, किन्तु आपका मुख-वर्ण वैसा ही स्वच्छ व प्रसन्न है, जैसा कि अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का होता है। गौतम! मैंने पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रक्रुध कात्यायन, संजयवेलट्ठिपुत्र व निगण्ठ नातपुत्र के साथ भी शास्त्रार्थ किया है। वे दूसरी-दूसरी बातें ही करते हैं, विषय से बाहर निकल जाते हैं और कोप, द्वेष तथा अप्रसन्नता प्रकट करने लगते हैं। किन्तु आपको मैंने इतना चिढ़ा-चिढ़ा कर भी कहा तथापि आपका मुख-वर्ण स्वच्छ व प्रसन्न है। गौतम! अब हम जायेंगे। हम बहु-करणीय हैं।"

सच्चक निगण्ठपुत्र भगवान् के भाषण का अभिनन्दन व अनुमोदन कर आसन से उठ कर चला गया।

—**मज्झिमनिकाय**, महासच्चक सुत्तन्त, १-४-६ के आधार से।

समीक्षा

जैन-परम्परा में इस नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिलता। **मज्झिमनिकाय** में बताया गया है—सच्चक निगंठपुत्त प्रलापी, पण्डितमानी और बहुत लोगों से सम्मानित था। वह कहा करता था—"मैं ऐसे किसी श्रमण, ब्राह्मण, संघपति, गणाचार्य व स्वयं को अर्हत् सम्यग् सम्बुद्ध कहने वाले को भी नहीं देखता, जो मेरे साथ वाद-विवाद में कम्पित, संप्रकम्पित न हो, जिसकी काँख से पसीना न छूटने लगे। यदि मैं अचेतन स्तम्भ से भी शास्त्रार्थ करूँ, तो वह भी कम्पित, संप्रकम्पित, संप्रवेधित होगा। मनुष्य की तो बात ही क्या?" बुद्ध के साथ महती परिषद् में उसने शास्त्रार्थ किया। अन्त में वही निरुत्तर रहा। बुद्ध ने कहा—"देख, मेरे तो शरीर में पसीना नहीं है, तेरे ललाट पर पसीना आया है।" अन्त में बुद्ध के प्रति नतमस्तक हो, उसने बुद्ध को अपने यहाँ भोजन के लिए आमंत्रित किया। लिच्छवियों ने उसी रात पाँच सौ स्थालीपाक (सीधा) उसके आराम में भेज दिये। उसने भोजन बनवा, बुद्ध व भिक्षु-संघ को तृप्त किया। साथ-साथ यह भी कहा—"भगवन्! इस दान का फल लिच्छवियों को मिले।" बुद्ध ने कहा—"अवीतराग, अवीतद्वेष व अवीतमोह को देने में जो पुण्य होता है, वह उन्हें मिलेगा और वीतराग, वीतद्वेष व वीतमोह को देने में जो पुण्य होता है, वह तुझे मिलेगा अर्थात् उन्होंने यह दान तुझे दिया है और तूने यह दान मुझे दिया है।"[1]

मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा में आचार्य बुद्धघोष ने बताया है—"एक निगंठ और निगंठी बहुत विवादशील थे। दोनों में विवाद ठना। एक-दूसरे को कोई न हरा सका। लिच्छवियों

१. मज्झिमनिकाय, चूलसच्चक सुत्त।

ने समझौते के रूप में दोनों का विवाह करा दिया। चार पुत्रियाँ हुईं, जो सारिपुत्र से विवाद में परास्त हो भिक्षुणियाँ बन गईं। उसी निगंठ-दम्पती की पाँचवीं सन्तान के रूप में यह सच्चक पैदा हुआ। निगंठ-निगंठी का पुत्र होने से वह सच्चक निगंठपुत्र कहलाया।"[1]

बुद्ध ने इसे सम्बोधन में सर्वत्र ही 'अग्निवैश्यायन' कहा है। यह इसका गोत्र था। महावीर को भी पिटक-साहित्य में कुछ एक स्थलों पर 'अग्निवैश्यायन' कहा गया है।[2]

हो सकता है, पिटकों के संकलन-काल में निगंठपुत्र के अग्निवैश्यायन नाम का विपर्यास महावीर के साथ हो गया हो। डॉ० जेकोबी का कहना है—सुधर्मा के अग्नि-वैश्यायन गोत्री होने के कारण यह विपर्यास हुआ है।[3] पर 'निगण्ठ नातपुत्र' और 'निगण्ठपुत्र' के नाम-साम्य में इस विपर्यास की अधिक सम्भवता लगती है।

सच्चक निगण्ठपुत्र ने जो विस्तृत चर्चाएँ बुद्ध के साथ की हैं, उन चर्चाओं से यह जरा भी प्रतीत नहीं होता कि वह कोई निगंठ-मान्यता का अनुयायी रहा हो। कायिक और मानसिक भावना की चर्चा में भी उसने कायिक भावना का सम्बन्ध गोशालक से जोड़ा है। प्रस्तुत **महासच्चक सुत्त** में तो सच्चक ने महावीर की कुत्सा ही अभिव्यक्त की है। जैन-परम्परा से सम्बन्धित यह कोई महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता, तो अवश्य कहीं आगम-साहित्य या कथा-साहित्य में उल्लिखित होता। इस स्थिति में बुद्धघोष की धारणा किंवदन्ती से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

(३०) अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य-वास

एक बार भगवान् बुद्ध कौशाम्बी के घोषिताराम में विहार कर रहे थे। उस समय पाँच सौ परिव्राजकों की महापरिषद् के साथ परिव्राजक सन्दक प्लक्ष गुहा में वास करता था। आयुष्मान् आनन्द सायंकालीन ध्यान से निवृत्त हो भिक्षु-परिवार के साथ देवकट सोब्भ को देखने के लिए गये। सन्दक परिव्राजक अपनी परिषद् से घिरा बैठा था और चारों ओर नाना प्रकार की कथाओं से कोलाहल हो रहा था। सन्दक परिव्राजक ने दूर ही से आयुष्मान् आनन्द को अपनी ओर आते हुए देखा। अपनी परिषद् को सावधान करते हुए कहा—"आप सब चुप हो जायें। शब्द न हो। श्रमण गौतम का श्रावक श्रमण आनन्द आ रहा है। श्रमण गौतम के कौशाम्बी में जितने श्रावक वास करते हैं उनमें श्रमण आनन्द भी एक है। ये श्रमण निःशब्द-प्रेमी व अल्प शब्द-प्रशंसक हैं। परिषद् को शान्त देख कर सम्भवतः ये इधर भी आयें।"

---

१. मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, १-४५०।
२. दीघनिकाय, सामञ्ञफल सुत्त।
३. *S. B. E*, Vol. XLV, Introduction, p. XXI.

सभी परिव्राजक शान्त हो गये। आयुष्मान् आनन्द सन्दक परिव्राजक के पास आये। सन्दक ने उनका स्वागत किया और कहा—"बहुत समय बाद आप इधर आये हैं। यह आसन बिछा है, आप बैठें।"

आयुष्मान् आनन्द आसन पर बैठ गये। सन्दक परिव्राजक भी एक नीचा आसन ले कर बैठ गया। वार्ता का आरम्भ करते हुए आनन्द ने पूछा—"सन्दक! किस कथा में बैठे थे? क्या वह कथा अधूरी ही रह गई?"

सन्दक परिव्राजक ने उस प्रसंग को बीच ही में काटते हुए कहा—"इन कथाओं को आप यहीं छोड़ दीजिये। आपके लिए इन कथाओं का श्रवण अन्यत्र भी दुर्लभ नहीं होगा। अच्छा हो, आप ही अपनी आचार्यक विषयक कथाएँ कहें।"

आयुष्मान् आनन्द ने कहना आरम्भ किया—"सन्दक! ज्ञाता, द्रष्टा, सम्यक् सम्बुद्ध भगवान् ने चार अब्रह्मचर्य-वास और चार अनाश्वासिक-ब्रह्मचर्य-वास बतलाये हैं, जिनमें विज्ञ पुरुष ब्रह्मचर्य-वास स्वीकार नहीं करता और स्वीकार करने पर वह न्याय तथा कुशल धर्म को नहीं पाता।"

प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अब्रह्मचर्य-वास का विस्तृत विवेचन करते हुए आयुष्मान् आनन्द ने क्रमशः अजितकेशकम्बल, पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल और प्रकुध कात्यायन के मतवादों का उल्लेख किया और उन्हें ही उक्त अब्रह्मचर्य-वासों में गिनाया। चार अनाश्वासिक-ब्रह्मचर्य-वास का वर्णन करते हुए प्रथम अनाश्वासिक-ब्रह्मचर्य-वास के अन्तर्गत आनन्द ने निगण्ठ नातपुत्त के मतवाद का उल्लेख किया। उन्होंने कहा—"यहाँ एक शास्ता ऐसा है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञान-दर्शन-युक्त होने का अधिकारपूर्वक कथन करता है। उसके अनुसार उसे चलते, खड़े, सोते, जागते सदा-सर्वदा ज्ञान प्रत्युपस्थित रहता है। तो भी वह सूने घर में जाता है और वहाँ भिक्षा नहीं पाता। उसे कुक्कुट भी काट खाता है। चण्ड हाथी, चण्ड घोड़े और चण्ड बैल से भी उसका सामना हो जाता है। सर्वज्ञ होने पर भी वह स्त्री-पुरुषों के नाम-गोत्र पूछता है, ग्राम-निगम का नाम और मार्ग पूछता है। जब उन्हें यह पूछा जाता है कि सर्वज्ञ हो कर आप यह क्या करते हैं तो वे उत्तर देते हैं—'सूने घर में जाना हमारा प्रारब्ध था, अतः गये। भिक्षा न मिलना भी प्रारब्ध था, अतः न मिली। कुक्कुट का काटना भी प्रारब्ध था। चण्ड हाथी, घोड़े और बैल का मिलना भी प्रारब्ध था।' सन्दक! विज्ञ पुरुष का तब यह चिन्तन उभरता है कि जहाँ शास्ता ऐसे दावा करते हैं, वहाँ ब्रह्मचर्य-वास अनाश्वासिक है और उससे उसका मन उदास हो कर हट जाता है। यह प्रथम अनाश्वासिक-ब्रह्मचर्य-वास है।"

इसी प्रकार आयुष्मान् आनन्द ने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य-वास का वर्णन किया और चतुर्थ में संजय बेलट्ठिपुत्त के वाद का उल्लेख किया।

—मज्झिमनिकाय, सन्दक सुत्तन्त, २-३-६ के आधार से।

समीक्षा

यहाँ अजितकेशकम्बल आदि चार को अब्रह्मचर्य-वास में माना है। अब्रह्मचर्य-वास का अभिप्राय है—असंन्यास। महावीर को अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य-वास में माना है अर्थात् वह संन्यास तो है, पर निर्वाण का आश्वासन देने वाला नहीं। कुल मिला कर यह तो कहा ही जा सकता है, बुद्ध की दृष्टि में निगण्ठ नातपुत्त अन्य धर्मनायकों की अपेक्षा तो श्रेष्ठ ही थे।

सर्वज्ञता सम्बन्धी समुल्लेखों की समीक्षा प्राक्तन प्रकरणों में की जा चुकी है।[1]

(३१) विभिन्न मतों के देव

एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह के वेलुवन कलन्दक निवाप में विहार कर रहे थे। दूसरे मतावलम्बी श्रावक देवपुत्र, असम, सहली, निंक, आकोटक, वेटम्बरी और माणव गामिय रात बीतने पर वेलुवन को चमत्कृत करते हुए भगवान् के पास आये और अभिवादन कर एक ओर खड़े हो गये।

असम देवपुत्र ने पूरणकाश्यप की स्तुति में कहा—"यदि कोई पुरुष किसी को मारता है या किसी को नष्ट करता है तो पूरणकाश्यप उसमें कोई पुण्य-पाप नहीं समझते। उनके बताये हुए सिद्धान्त विश्वसनीय हैं। वे महान् सम्मान के पात्र हैं।"

सहली देवपुत्र ने मक्खलि गोशाल की स्तुति में कहा—"वे कठिन तपश्चरण और पाप-जुगुप्सा से संयत, मौनी, कलह-त्यागी, शान्त, दोष-विरत, सत्यवादी हैं। उनके जैसे पुरुष कभी पाप नहीं कर सकते।"

निंक देवपुत्र ने निगण्ठ नातपुत्त की स्तुति में कहा—"वे पापों से घृणा करने वाले, चतुर, भिक्षु, चार यामों से सुसंवृत्त हैं। दृष्ट व श्रुत का ही आख्यान करते हैं। उनमें क्या पाप का अवकाश हो सकता है?"

आकोटक देवपुत्र ने नाना तैर्थिकों की स्तुति में कहा—"प्रकुध कात्यायन, निगण्ठ नातपुत्त, मक्खलि गोशाल, पूरणकाश्यप आदि श्रामण्य-पर्याय में रमण करने वाले गण-नायक हैं। सत्पुरुषों से ये कैसे दूर जा सकते हैं?"

वेटम्बरी देवपुत्र ने आकोटक देवपुत्र का प्रतिरोध करते हुए कहा—"हुँआ-हुँआ कर रोने वाला तुच्छ सियार सिंह के सदृश नहीं हो सकता। नग्न, असत्यवादी ये गणाचार्य, जिनके चलन में सन्देह किया जा सकता है, सज्जनों के सदृश कभी नहीं हो सकते।"

---

१. देखिए—"कैवल्य और बोधि" प्रकरण के अन्तर्गत "अवलोकन"।

मार ने वेटम्बरी देवपुत्र में प्रवेश कर भगवान् के समक्ष कहा—"जो तप और दुष्कर क्रिया के अनुष्ठान में लगे हैं और उनका विचारपूर्वक पालन करते हैं तथा जो सांसारिक रूप में आसक्त हैं, देवलोक में आनन्द लूटने वाले हैं, वे ही परलोक को बनाने का अच्छा उपदेश देते हैं।"

भगवान् बुद्ध समझ गये, यह मार बोल रहा है। उन्होंने उत्तर में कहा—"राजगृह के पर्वतों में जैसे विपुल पर्वत, हिमालय के शिखरों में श्वेत[1] पर्वत, आकाश-गामियों में सूर्य, जलाशयों में समुद्र, नक्षत्रों में चन्द्रमा श्रेष्ठ हैं ; वैसे ही देवगण-सहित समग्र लोक में बुद्ध अग्रगण्य हैं।"

—**संयुत्तनिकाय**, नानातित्थिय सुत्त, २-३-१० के आधार से।

समीक्षा

देवों के धर्म-चर्चा में रस लेने का उल्लेख आगमों में भी यत्र-तत्र मिलता है। कुण्डकोलिक से चर्चा करने वाला देव गोशालक की धर्म-प्रज्ञप्ति को मानने वाला था, जब कि कुण्डकोलिक महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति में विश्वास करता था। शकडालपुत्र को सन्देश देने वाला देव महावीर का अनुयायी प्रतीत होता है, जब कि तब तक शकडालपुत्र गोशालक का अनुयायी था।[2]

(३२) *पिंगलकोच्छ ब्राह्मण*

एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथ-पिण्डिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। पिंगलकोच्छ ब्राह्मण भगवान् के पास गया। कुशल-प्रश्न पूछ कर एक ओर बैठ गया। पिंगलकोच्छ ने भगवान् से कहा—"गौतम! पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बल प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त संघपति, गणपति, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थङ्कर हैं। क्या ये सभी अपने वाद को समझते हैं या नहीं समझते या कोई-कोई समझते हैं या कोई-कोई नहीं समझते हैं?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"ब्राह्मण! इस प्रसंग को यहीं रहने दो। मैं तुझे उपदेश देता हूँ। तू उसे सुन और हृदयंगम कर।"

पिंगलकोच्छ ब्राह्मण लीन हो कर बैठ गया और भगवान् बुद्ध ने उसे विस्तार से धर्म-कथा कही।

—**मज्झिमनिकाय**, चूल सारोपम सुत्तन्त, १-३-१० के आधार से।

---

१. "कैलाश"—संयुक्तनिकाय अट्ठकथा।

२. देखिए—"समसामयिक धर्म-नायक" प्रकरण।

समीक्षा

यह बुद्ध की अपनी विशेष शैली रही है कि उलझन भरे प्रश्नों को वे बड़ी चतुरता से टाल देते। अनेक स्थलों पर उन्होंने ऐसा किया है।

(३३) जटिलसुत्त

एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में विशाखा मृगार-माता के पूर्वाराम प्रासाद में विहार कर रहे थे। बुद्ध सायं-कालीन ध्यान-सम्पन्न कर बाहर बैठे हुए थे। कोशल-राज प्रसेनजित् भगवान् के पास आया और अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। उस समय काँख में केश व नाखून बढ़ाये सात जटिल, सात निगण्ठ, सात नग्न, सात एकशाटिक और सात परिव्राजक नाना सामग्री लिए भगवान् के निकट से गुजरे। प्रसेनजित् कौशल आसन से उठा, एक कन्धे पर उत्तरीय को व्यवस्थित किया, दाहिने घुटने को भूमि पर टिका जटिल, निगण्ठ आदि जिस ओर जा रहे थे, उस ओर उसने करबद्ध हो तीन बार अपना नाम सुनाया। उनमें से कोई नहीं रुका। सभी चले गए। राजा पुनः भगवान् के पास आया और उसने पूछा—"भन्ते ! लोक में जो अर्हत् या अर्हत्-मार्ग पर आरूढ़ हैं, क्या ये उनमें से भी एक हैं ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"महाराज ! आपने तो गलत समझ लिया। ये तो गृहस्थ, काम-भोगी, बाल-बच्चों में रहने वाले, काशी का चन्दन लगाने वाले, माला-गन्ध व उबटन का प्रयोग करने वाले और परिग्रह बटोरने वाले हैं। अर्हत् या अर्हत्-मार्ग पर आरूढ़ इनमें से कोई नहीं है। राजन ! साथ रहने से, बहुत समय तक साथ रहने से और सदैव इस ओर ध्यान रखने से प्रज्ञावान् पुरुष के द्वारा ही किसी का शील जाना जा सकता है। इसी प्रकार व्यवहार से ही किसी की प्रामाणिकता का, विपत्ति आने पर स्थिरता का और वार्तालाप से ही प्रज्ञा का प्रज्ञावान् पुरुष अनुमान् लगा पाता है।"

राजा ने सहसा कहा—"भन्ते ! आश्चर्य है। आपने सम्यक् ही बतलाया। इनमें से कोई भी अर्हत् या अर्हत्-मार्ग पर आरूढ़ नहीं है। ये तो मेरे गुप्तचर हैं। कहीं का भेद ले कर आ रहे हैं। इनसे मैं भेद ले लेता हूँ और वैसा ही समझता हूँ। अब ये भस्म आदि को धो डालेंगे, स्नान करेंगे, उबटन करेंगे, बाल बनवायेंगे, उज्ज्वल वस्त्र पहनेंगे और पाँच प्रकार के काम-गुणों का उपभोग करेंगे।"

भगवान् के मुँह से गाथाएँ निकलीं—'वेश-भूषा से मनुष्य नहीं जाना जाता। बाह्य आवरण को देख कर ही किसी में विश्वास मत करो। संयम का स्वांग रच कर दुष्ट लोग भी विचरण करते हैं। नकली, मिट्टी या लोहे के बने और सोने के झोले चढ़े कुण्डल के समान कितने ही व्यक्ति साधुता का चोंगा पहिन कर घूमते हैं। वे अन्दर से मैले और बाहर से चमकते हैं।

—संयुत्तनिकाय, जटिलसुत्त, ३-२-१ के आधार से।

समीक्षा

यह प्रसंग तात्कालिक राज-व्यवस्था का बहुत ही गूढ़ परिचय देता है। गुप्तचर विभिन्न मतों के साधु बन कर गुप्तचरता करते, यह एक अद्भुत-सी बात है।

(३४) धम्मिक उपासक

ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम में विहार करते थे, उस समय धम्मिक उपासक पाँच सौ उपासकों के साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। पास आ भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे धम्मिक उपासक ने गाथाओं में भगवान् से कहा—

"महाप्रज्ञ गौतम ! मैं आपसे पूछता हूँ कि किस आचरण का श्रावक अच्छा होता है ? घर से निकल कर बेघर होने वाला या गृहस्थ उपासक ?

"देव-सहित लोगों की गति और विमुक्ति को आप ही जानते हैं। आपके समान निपुण अर्थदर्शी कोई नहीं है। (लोग) आप ही को उत्तम बुद्ध बताते हैं।

"आपने धर्म सम्बन्धी पूरा ज्ञान प्राप्त कर अनुकम्पा-पूर्वक प्राणियों को (वह) प्रकाशित किया है। सर्वदर्शी ! आप (अविद्या-रूपी) पर्दे से मुक्त हैं, निर्मल रूप से सारे संसार में सुशोभित हैं।

"आपको 'जिन' सुन कर 'ऐरावण' नामक हस्तिराज आपके पास आया था। वह भी आपसे वार्तालाप कर (धर्म) सुन कर प्रसन्न हो, प्रशंसा कर चला गया।

"राजा वैश्रवण कुबेर भी धर्म पूछने के लिए आपके पास आया था। धीर ! आपने उसके प्रश्न का भी उत्तर दिया और वह भी (आप की बात) सुन कर प्रसन्न हो चला गया।

"जितने भी वादी तैर्थिक, आजीवक और निर्ग्रन्थ हैं, वे सब प्रज्ञा में आपको वैसे ही नहीं पा सकते जैसे कि शीघ्र चलने वाले को खड़ा रहने वाला।"

—सुत्तनिपात, चूलवग्ग, धम्मिक सुत्त, (हिन्दी अनुवाद), पृ० ७५,७७ के आधार से।

समीक्षा

यहाँ बुद्ध की प्रशंसा करते हुए निगण्ठों का उल्लेख मात्र किया गया है। सुत्तनिपात अट्ठकथा के अनुसार ये पाँच सौ बौद्ध उपासक आकाशगामिनी विद्या के धारक थे व 'अनागामी' थे।

(३५) महाबोधिकुमार

वाराणसी में ब्रह्मदत्त का राज्य-शासन था। काशी राष्ट्र में अस्सी करोड़ की सम्पत्ति वाला महाधनिक उदीच्य ब्राह्मण-कुल था। बोधिसत्त्व उस कुल में उत्पन्न हुए। उनका नाम

बोधिकुमार रखा गया। बड़े होने पर वे तक्षशिला गये, शिल्प सीखा और घर लौट आये। बहुत वर्षों बाद सांसारिक सुखों को ठुकरा कर वे हिमालय चले गये। परिव्राजक बन कर फल-मूल खाते हुए वहाँ रहने लगे। बहुत वर्ष बीत गये। एक बार वर्षा ऋतु में हिमालय से उतरे। चारिका करते हुए क्रमशः वाराणसी पहुँचे। राजा के उद्यान में ठहरे। अगले दिन परिव्राजक-विधि से भिक्षाटन करते हुए राज-द्वार पर पहुँचे। गवाक्ष में खड़े राजा ने उन्हें दूर से ही देखा तो वह उनकी शान्त प्रकृति से बहुत प्रभावित हुआ। उन्हें अपने भवन में लाया और राज-सिंहासन पर बिठाया। कुशल-क्षेम के अनन्तर धर्मोपदेश सुना और श्रेष्ठ भोजन परोसा।

बोधिसत्त्व जब भोजन कर रहे थे, उन्होंने सोचा—'राज-कुल में दोष बहुत होते हैं। शत्रु भी बहुत रहते हैं। आपत्ति आने पर यहाँ मेरी रक्षा कौन करेगा?' उन्होंने चारों ओर दृष्टि डाली। कुछ ही दूरी पर खड़ा, राज-प्रिय एक पिंगल वर्ण कुत्ता उन्हें दिखलाई दिया। बोधिसत्त्व भात का एक बड़ा गोला उसे देना चाहते थे। राजा ने उनके इस इंगित को समझ लिया। उसने कुत्ते का बर्तन मँगवाया और उसमें भात डाला। बोधिसत्त्व ने अपने हाथों वह बर्तन कुत्ते को दिया और अपना भोजन समाप्त किया। राजा ने बोधिसत्त्व से अपने यहाँ नैरन्तरिक प्रवास की भावभरी प्रार्थना की। बोधिसत्त्व ने उसे स्वीकार किया। राजा ने उनके लिए राजोद्यान में पर्णशाला बनवाई, परिव्राजक की समस्त आवश्यकताओं से उसे पूर्ण किया और उन्हें वहाँ बसाया। राजा प्रतिदिन दो-तीन बार उनकी सेवा में आता। भोजन के समय उन्हें राज-सिंहासन पर ही बैठाता और वे राजा का भोजन ही ग्रहण करते। क्रमशः बारह वर्ष बीत गये।

राजा के पाँच अमात्य थे, जो राज्य की अर्थ और धर्म सम्बन्धी अनुशासना करते थे। वे क्रमशः अहेतुवादी, ईश्वर-कर्तृत्ववादी, पूर्वकृतवादी, उच्छेदवादी तथा क्षतविधवादी थे। अहेतुवादी जनता को सिखलाता था ; ये प्राणी संसार में ऐसे ही उत्पन्न होते हैं। ईश्वर-कर्तृत्ववादी जनता को सिखलाता था ; यह संसार ईश्वर द्वारा निर्मित है। पूर्वकृतवादी जनता को सिखलाता था ; प्राणियों को जो सुख-दुःख की अनुभुति होती है, वह पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही होती है। उच्छेदवादी जनता को सिखलाता था ; यहाँ से कोई परलोक नहीं जाता। इस लोक का यहीं उच्छेद हो जाता है। क्षतविधवादी की शिक्षा थी ; माता-पिता को मार कर भी अपना स्वार्थ-साधन करना चाहिए। राजा के द्वारा वे न्यायाधीश के पदों पर नियुक्त थे। रिश्वत खा कर वे असत्य निर्णय देते थे। एक द्वारा अधिकृत वस्तु या भूमि को अन्य के अधीन कर देते थे। इस तरह वे सत्य का गला घोंट रहे थे और अपना अर्थ-भण्डार भी भरते जा रहे थे।

एक बार एक व्यक्ति ने किसी व्यक्ति पर झूठा अभियोग लगाया। उन न्यायाधीशों

ने वास्तविकता के विरुद्ध निर्णय दिया। सच्चा हार गया। बोधिसत्त्व भिक्षा के लिए राज-गृह में प्रवेश कर रहे थे। उसने उन्हें देखा तो रोता हुआ वह उनके पास आया और प्रणाम करते हुए कहा—"भन्ते! आप राज-गृह में भोजन करते हैं। न्यायाधीश रिश्वत लेकर जब संसार का विनाश कर रहे हैं तो आप उपेक्षाशील क्यों हैं? पाँचों न्यायाधीशों ने झूठे अभियोक्ता से रिश्वत ले कर मुझे अपने स्वामित्व से वंचित कर दिया है।" बोधिसत्त्व ने उसके प्रति करुणा दिखलाई। न्यायालय में गये, उचित निर्णय करवाया और उसे अपना स्वामित्व दिलवाया। जनता गगन-भेदी शब्दों में एक बार 'साधु', 'साधु' पुकार उठी।

जनता का कोलाहल राजा के कानों तक पहुँचा। राजा ने उसके बारे में जिज्ञासा की। अनुचरों ने परिस्थिति से उसे अवगत किया। बोधिसत्त्व जब भोजन कर चुके तो राजा ने उनके उपपात में बैठ कर पूछा—"भन्ते! क्या आज आपने किसी अभियोग का निर्णय दिया था?"

"हाँ, महाराज!"

"भन्ते! यदि आप इस कार्य को अपने हाथ में ले लें, तो जनता की उन्नति होगी। मेरा निवेदन है, अब से आप ही न्यायाधीश का पद सम्भालें।"

"महाराज! हम प्रव्रजित हैं। यह हमारा कार्य नहीं है।"

"भन्ते! जनता पर अनुग्रहशील हो कर ऐसा करें। आप पूरा समय इस कार्य में न लगायें। प्रातः उद्यान से यहाँ आते समय और भोजन कर उद्यान को लौटते समय चार-चार अभियोगों का निर्णय दे। इस प्रकार जनता की अभिवृद्धि होगी।"

राजा के पुनः-पुनः अनुरोध करने पर बोधिसत्त्व ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। वे प्रतिदिन आठ-आठ अभियोगों का निर्णय देने लगे। बोधिसत्त्व की उपस्थिति से झूठे अभियुक्तों की दाल गलनी बन्द हो गई और अमात्यों के रिश्वत के द्वार सर्वथा बन्द हो गये। क्रमशः वे निर्धन होते गये। अमात्यों ने बोधिसत्त्व के विरुद्ध एक षड्यंत्र रचा। वे राजा के पास आये और उनसे कहा—"बोधि-परिव्राजक आपका अहित-चिन्तक है।" राजा ने इस कथन पर कोई ध्यान नहीं दिया। उपेक्षा दिखाते हुए कहा—"यह सदाचारी है, ज्ञानी है, ऐसा कभी नहीं हो सकता।"

अमात्यों ने पुनः कहा—"आप चाहे हमारे कथन पर विश्वास न करें, किन्तु उसने सारे नगर-वासियों को अपनी मुट्ठी में कर लिया है। हम पाँचों को वह अपना समर्थक नहीं बना सका है। यदि आपको हमारे कथन पर विश्वास न हो तो जब वह इस ओर आये, उसके अनुयायियों की ओर आप एक दृष्टि डालें।"

राजा असमंजस में पड़ गया। कभी वह सोचता, बोधि परिव्राजक ऐसा नहीं हो सकता। कभी सोचता, अमात्य भी मुझे अन्यथा परामर्श नहीं दे सकते। किन्तु बोधि

परिव्राजक जब राज-महलों की ओर आये तो राजा ने उनके मार्ग की ओर देखा। जन-समूह की अच्छी भीड़ लगी हुई थी। वे सभी बोधि परिव्राजक से अपने-अपने मुकद्दमों का निपटारा चाहते थे। राजा ने उन्हें उनका अनुयायी-वर्ग समझा। राजा का मन विषाक्त हो गया। अमात्यों को बुलाया और पूछा—"क्या करें ?"

"देव ! इन्हें गिरफ्तार कर लें।"

"बिना किसी विशेष दोष के ऐसा कैसे कर सकते हैं ?"

"तो महाराज ! आप इसका आदर-सत्कार करना छोड़ दें। स्वागत के अभाव में यह स्वतः समझ जायेगा और बिना किसी को सूचित किये ही चला जायेगा।"

राजा ने बोधि परिव्राजक के स्वागत में क्रमशः न्यूनता प्रारम्भ कर दी। पहले ही दिन उन्हें राज-सिंहासन पर न बैठा कर नंगे पल्यंक पर बैठाया गया। बोधिसत्त्व ने परिस्थिति को तत्काल भाँप लिया। उद्यान लौटते ही उन्होंने प्रस्थान का विचार किया। फिर उनका चिन्तन उभरा, निश्चयात्मक रूप से जान कर ही यहाँ से जाऊँगा। वे नहीं गये। अगले दिन उन्हें नंगे पल्यंक पर बैठाया गया और राजा के लिए बने चावलों में सामान्य चावल मिश्रित कर उन्हें परोसा गया। तीसरे दिन भी जब बोधिसत्त्व भोजन के लिए आये तो उन्हें ऊपर की मंजिल में चढ़ने से रोका गया और सीढ़ियों में ही मिश्रित भात दिये गये। वे उद्यान लौट आये और वहाँ भोजन किया। चौथे दिन उन्हें प्रासाद पर नहीं चढ़ने दिया गया। नीचे ही कण वाले भात उन्हें दिये गये। उद्यान में आ कर उन्हें भी उन्होंने खाया।

सारे घटना-चक्र को देखते हुए राजा असमंजस में पड़ गया। बोधि परिव्राजक को निकालने का प्रयत्न करने पर भी वे नहीं निकले। राजा ने अमात्यों को बुलाया और कहा—"महाबोधि कुमार का सत्कार घटा दिया, फिर भी वे नहीं जा रहे हैं।"

अमात्यों ने अवसर का लाभ उठाया। उन्होंने राजा से कहा—"महाराज ! वह भात के लिए नहीं घूम रहा है। वह छत्र पाने के प्रयत्न में है। यदि उसके सामने भात का ही प्रश्न होता तो वह यहाँ से कभी का चला जाता।"

राजा घबराया। उसने अमात्यों को पूछा—"तो अब क्या करें ?"

अमात्यों ने कुछ गंभीर हो कर कहा—"महाराज ! अब आपको कुछ कठोरता से काम लेना होगा। आप उसे मरवा दें।"

राजा ने अमात्यों के हाथों में तलवार थमाते हुए कहा—"कल भिक्षा के समय तुम सब छुप कर द्वार के समीप खड़े हो जाना। ज्योंही वे प्रवेश करें, सिर काट डालना और टुकड़े-टुकड़े कर शौचालय के कुएँ में फेंक देना। स्नान कर मेरे पास आना। पर इस कार्य का किसी को पता न चले।"

अमात्यों ने राजा का आदेश शिरोधार्य किया और प्रसन्नचित्त अपने-अपने घर लौट आये।

सायंकाल भोजन से निवृत्त हो कर राजा शय्या पर लेटा था। सहसा उसे बोधिसत्त्व के गुण याद आये। उसका मन शोक से भर गया और पसीने से तर-बतर हो गया। बेचैनी से वह लोट-पोट होने लगा। अग्रमहिषी से राजा ने बात तक नहीं की। पूर्णतः स्तब्धता छाई हुई थी। रानी ने मौन भंग करते हुए पूछा—"महाराज! क्या मैं अपराधिनी हूँ? आप मेरे से बोलते तक नहीं हैं।"

राजा ने अपने को सम्भालते हुए कहा—"देवी! ऐसी बात नहीं है। मैं तो दूसरे ही विचारों में खोया हुआ हूँ। बोधि परिव्राजक मेरा शत्रु हो गया है। पाँचों मंत्रियों को मैंने उसे मार डालने की आज्ञा दे दी है। वे उसे मार कर, टुकड़े-टुकड़े कर शौचालय के कुएँ में डाल देंगे। उसने बारह वर्ष तक हमें धर्मोपदेश किया था। मैंने उसका एक भी प्रत्यक्ष दोष नहीं देखा। दूसरों के कथन पर विश्वास कर मैंने उसके वध का निर्देश दिया है। ज्यों ही यह स्मृति होती है, मैं सिहर उठता हूँ।"

रानी ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—"देव! यदि वह शत्रु ही हो गया है तो उसके वध में इतना क्या विचार है? पुत्र भी यदि शत्रु हो जाये तो उसे भी मरवा कर अपना हित-साधन करना चाहिए। आप चिन्ता न करें।"

श्रेष्ठ पिंगल वर्ण श्वान ने, राजा और रानी का ज्यों ही यह वार्तालाप सुना, मन में संकल्प किया—"अपने कौशल से कल मैं बोधि परिव्राजक के प्राणों की रक्षा करूँगा। अगले दिन सूर्योदय होते ही वह प्रासाद से उतर आया। मुख्य द्वार की देहली पर वह सिर रख कर लेट गया और बोधिसत्त्व के आगमन की व्यग्रता के साथ प्रतीक्षा करने लगा। खड्गधारी अमात्य भी प्रातःकाल आकर द्वार के भीतर छुप कर खड़े हो गये। बोधिसत्त्व अपने समय पर उद्यान से राज-द्वार के समीप आये। कुत्ते ने मुँह बाया, चारों दाँत बाहर निकाले और अपनी भाषा में चिल्लाना आरम्भ किया—"भन्ते! क्या आपको सारे जम्बूद्वीप में अन्यत्र कहीं भिक्षा नहीं मिलती है? हमारे राजा ने आपके वध के लिए पाँच अमात्यों को नियुक्त किया है। नंगी तलवारें ले कर वे द्वार के पीछे छुपे खड़े हैं। अपने प्राणों को हथेली में रख कर आप आगे न बढ़ें। शीघ्र ही लौट जायें।"

बोधि परिव्राजक को सभी बोलियों का ज्ञान था; अतः वे उसे भली-भाँति समझ गये। कुछ क्षण वहीं रुके और उद्यान की ओर लौट आये। प्रस्थान के अभिप्राय से वे अपनी आवश्यक सामग्री को एकत्रित करने में जुट पड़े।

राजा गवाक्ष में खड़ा सब कुछ देखता रहा। उसने सोचा—यदि यह मेरा शत्रु होगा तो उद्यान में लौटते ही सेना को एकत्र कर युद्ध की तैयारी करने लगेगा अन्यथा अपनी

वस्तुओं को बटोर कर प्रस्थान में संलग्न हो जायेगा। मुझे इस बारे में जानकारी करनी चाहिए। वह उद्यान पहुँचा। बोधिसत्त्व अपनी सामग्री बटोर रहे थे। वे उस समय पर्णशाला से निकल चंक्रमण के चबूतरे पर थे। राजा ने प्रणाम किया और एक ओर खड़े हो कर गाथा में कहा :

> **किं नु दण्डं किं अजिनं किं छत्तं किं उपाहनं**
> **किं अंकुसं पत्तं च संघाटिं चापि ब्राह्मण !**
> **तरमानरूपो गण्हासि किं नु पत्थयसे दिसं ॥१॥**

ब्राह्मण ! दण्ड, अजिन, छत्री, उपानह, थैला, पात्र और संघाटी को शीघ्रता से क्यों बटोर रहे हो ? क्या प्रतिष्ठासु हो ?

बोधिसत्त्व ने सोचा, यह मेरे वर्तृत्व से अनभिज्ञ है। मुझे इसे बोध देना चाहिए। उन्होंने गाथा में कहा :

> **द्वादसेतानि वस्सानि वुसितानि तवन्तिके**
> **नाभिजानामि सोनेन पिङ्गलेन अभिनिकूजितं ॥२॥**
>
> **स्वायं दित्तो व नदति सुक्कदाठं विदंसयं।**
> **तव सुत्वा सभरियस्स वीतसद्धस्स मम पति ॥३॥**

राजन् ! बारह वर्ष तक मैं तेरे पास रहा। मैं नहीं जानता, पिंगल कुत्ते ने कभी भूँका हो। किन्तु अब यह जान कर कि तेरी तथा तेरी पत्नी की मेरे प्रति श्रद्धा नहीं रही, वह क्रुद्ध हो कर, दाँत बाहर निकाल कर भूँकता है।

राजा ने अपना दोष स्वीकार किया और क्षमा माँगते हुए कहा :

> **अहु एस कतो दोसो, यथा भाससि ब्राह्मण,**
> **एस भिय्यो पसीदामि, वस ब्राह्मण मा गम ॥४॥**

ब्राह्मण ! जैसा तुम कहते हो, वैसा मेरे से सदोष आचरण हो ही गया है। अब मैं और भी अधिक श्रद्धावान् हूँ। यहीं रहें, प्रस्थान न करें।

"महाराज ! बिना प्रत्यक्ष देखे दूसरों की बात मानने वाले के साथ पण्डितजन नहीं रहते"; बोधिसत्त्व ने यह कहते हुए उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया और उसका अनाचार प्रकाशित करते हुए कहा—"अर्धचन्द्राकार देकर निकाल दिये जाने से पूर्व स्वयं ही चला जाना अच्छा है। जल-रहित कुओं के समान अश्रद्धावान् के आश्रय में नहीं रहना चाहिए। जल-रहित कुएँ को खने भी तो उसका पानी कीचड़ की गन्ध वाला ही होगा। श्रद्धावान् के आश्रय में ही रहे।.........अत्यन्त साथ रहने से, साथ न रहने से तथा असमय ही माँग बैठने से मित्रता नष्ट हो जाती है; अतः न तो निरन्तर जाये, न अति विलम्ब से

आये और न असमय ही माँगे। इस प्रकार मित्रता टूटती नहीं है। अति चिरकाल तक साथ रहने से प्रिय मनुष्य भी अप्रिय हो जाता है। तेरे अप्रिय बनने से पूर्व ही हम तुझे सूचना देकर जाते हैं।"

राजा ने निवेदन किया—"यदि आप हमारी प्रार्थना स्वीकार नहीं करते हैं, अपने अनुयायियों की बात नहीं रखते हैं तो यह वचन दें, फिर शीघ्र ही आयेंगे।"

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—"महाराज! इस प्रकार विचरते हुए मेरे अथवा तुम्हारे शरीर को हानि न हुई तो सम्भव है कुछ दिनों बाद फिर हम एक-दूसरे को देखें।"

बोधिसत्त्व ने राजा को धर्मोपदेश दिया—"महाराज! अप्रमादी रहें।"

बोधिसत्त्व ने उद्यान से प्रस्थान किया। अनुकूल स्थान पर भिक्षाटन कर वाराणसी से भी निर्गमन कर दिया। क्रमशः चारिका करते हुए हिमालय पहुँचे। कुछ समय वहाँ रहे और नीचे उतरे। एक प्रत्यन्त-ग्राम के आश्रय से जंगल में रहने लगे।

महाबोधिकुमार परिव्राजक के चले जाने पर अमात्यों की पाँचों अँगुलियाँ घी में हो गईं। वे न्यायाधीश हो कर फिर लूट मचाने लगे। साथ ही वे सोचने लगे—"महाबोधि कुमार यदि पुनः यहाँ आ गया तो हम नहीं बच पायेंगे। ऐसा उपक्रम करना चाहिए, जिससे वह पुनः यहाँ न आ सके।" उन्होंने चिन्तन किया, प्राणी प्रायः आसक्ति के स्थान को छोड़ नहीं सकता। यहाँ उसकी किसमें आसक्ति है? उन्होंने अनुमान लगाया, महारानी में उसकी आसक्ति है; अतः सम्भव है, इसी कारण से वह पुनः आये। इसे पहले ही मरवा दें।

अमात्य हिल-मिल कर राजा के पास आये। गंभीरतापूर्वक बोले—"देव! नगर में एक चर्चा है।"

"क्या?"

"महाबोधि परिव्राजक और महारानी के बीच अवांछनीय पत्राचार चलता है।"

"किस प्रकार का?"

महाबोधि परिव्राजक ने देवी को लिखा है—"क्या तू राजा को मरवा कर मुझे छत्रपति बनवा सकती है?" रानी ने उसे उत्तर में लिखा है—"राजा को मारने का दायित्व मेरे पर है। शीघ्र चले आओ।"

अमात्यों के पुनः पुनः कहने से राजा को उस कथन पर विश्वास हो गया। उसने पूछा—"क्या करें?"

"देवी को मरवा डालना चाहिए।"

राजा ने निर्देश दिया—"उसे मार डालो और टुकड़े-टुकड़े कर शौचालय के कुएँ में डाल दो।"

अमात्यों ने राजा के आदेश को क्रियान्वित किया। रानी के वध की बात सारे शहर में फैल गई। चारों राजकुमार राजा के इसीलिए शत्रु हो गये। राजा बहुत भयभीत हुआ। समस्या बहुत उलझ गई। सारी घटना बोधिसत्त्व तक पहुँची। उन्होंने सोचा—कुमारों को समझा कर और राजा को भी अपने दोष की अनुभूति करा कर मुझे इस समस्या को सुलझाना चाहिए। मैं राजा को जीवन-दान दूँगा और कुमारों को इस पाप से बचाऊँगा।

बोधिसत्त्व अगले दिन भिक्षाटन के लिए प्रत्यन्त-ग्राम में गये तो मनुष्यों ने उन्हें बन्दर का मांस दिया। उन्होंने उसे खा लिया। उन्होंने बन्दर का चर्म भी माँग कर ले लिया। आश्रम में ला कर उन्होंने उसे सुखाया, गन्ध-रहित कर ओढ़ा, पहिना और कन्धे पर भी रखा। ऐसा करने का उनका तात्पर्य था कि वे यथार्थ कह सकें कि बन्दर बहुत उपकारी था। वे उसका चर्म लेकर क्रमशः वाराणसी पहुँचे। कुमारों के समीप जा कर उन्होंने कहा—"पितृ-हत्या दारुण कर्म है। कभी मत करना। कोई प्राणी अजर-अमर नहीं है। मैं तुम्हारा पारस्परिक मेल करवाने के लिए आया हूँ। जब सन्देश भेजूँ, चले आना।" वे वहाँ से चले और नगर के आभ्यन्तरिक उद्यान में आये। शिला पर बन्दर का चमड़ा बिछा कर बैठ गये। माली ने राजा को यह सूचना दी। राजा बहुत हर्षित हुआ और अमात्यों के साथ उद्यान में पहुँचा। प्रणाम किया और कुशल-क्षेम पूछा। बोधिसत्त्व राजा के साथ बात न कर केवल उस चमड़े को ही मलते रहे। राजा को आघात-सा लगा। उसने पूछा—"भन्ते ! आप मेरी उपेक्षा कर इस चमड़े को ही सहलाते जा रहे हैं, क्या यह मेरी अपेक्षा बहुत उपकारी है ?"

सहज स्वाभिमान से बोधिसत्त्व ने राजा की ओर देखा और कहा—"हाँ, महाराज ! यह बन्दर मेरा बहुत उपकारी है। इसकी पीठ पर बैठ कर मैं बहुत घूमा हूँ। यह मेरे लिए पानी का घड़ा लाया है। इसने मेरा वास-स्थान प्रमार्जित किया है। इसने मेरी सामान्य सेवा की है। मैं अपने चित्त की दुर्बलता से इसका मांस खा कर उपचित हुआ हूँ। इसकी चमड़ी सुखा, फैला, उस पर बैठता हूँ और उस पर लेटता हूँ। महाराज ! इस प्रकार यह मेरा बहुत उपकारी है।"

बोधिसत्त्व ने अमात्यों के मत का निरसन करने के उद्देश्य से वानर-चर्म के स्थान पर वानर शब्द का उपयोग किया। उन्होंने उसे पहिना ; अतः 'पीठ पर चढ़कर घूमा' कहा। उसे कन्धे पर रखकर पानी का घड़ा लाये थे ; अतः 'पानी का घड़ा लाया' कहा। उस चर्म से भूमि का प्रमार्जन किया था ; अतः 'वास-स्थान प्रमार्जित किया' कहा। लेटते समय पीठ का और उठ कर चलते समय पैरों का स्पर्श हुआ ; अतः 'मेरी सामान्य सेवा की'

कहा। भूख लगने पर उसका मांस मिल जाने से खा गये ; अतः 'अपनी दुर्बलता के कारण मांस खाया' कहा। अमात्यों ने ताली बजा कर उनका उपहास किया और कहा—"प्रव्रजित के कर्म को देखो। बन्दर का वध कर, मांस खा, चमड़ी को लिए घूमता है।" बोधिसत्त्व ने सब कुछ देखा। वे सोचने लगे, ये अज्ञ हैं। ये नहीं जानते कि मैं इनके मत का निरसन करने के लिए ही यह चर्म ले कर आया हूँ। मैं यह प्रकट नहीं होने दूंगा। उन्होंने अहेतुवादी को बुलाया और पूछा—"आयुष्मन्! तुमने मेरा उपहास क्यों किया?"

"क्योंकि यह मित्र-द्रोही-कर्म और प्राण-वध है।"

"जो तेरे में और तेरे मत में श्रद्धा रखता है, उसके लिए दुःख की क्या बात है? तेरा तो सिद्धान्त है कि स्वभाव से ही सब कुछ होता है। अनिच्छा से ही करणीय तथा अकरणीय किया जाता है। यदि यह मंत्र कल्याणकारी है, अकल्याणकारी नहीं है और यदि सत्य ही है तो बन्दर की हत्या ठीक ही हुई है। यदि अपने मत के दोष को समझ सकेगा तो मेरी निन्दा नहीं कर सकेगा ; क्योंकि तेरा सिद्धान्त ऐसा ही है।"

बोधिसत्त्व ने अहेतुवादी का निग्रह कर उसे हतप्रभ कर दिया। राजा भी परिषद् में बैठा था। वह भी हतप्रभ हो अधःसिर बैठा रहा। बोधिसत्त्व ने ईश्वर-कर्तृत्ववादी से कहा—"आयुष्मन्! यदि तू ईश्वर-कर्तृत्व में विश्वास करता है तो तू ने मेरा उपहास क्यों किया? यदि ईश्वर ही सारे लोक की जीविका की व्यवस्था करता है, उसी की इच्छानुसार मनुष्य को ऐश्वर्य मिलता है, उस पर विपत्ति आती है, वह भला-बुरा करता है और मनुष्य ईश्वर का ही आज्ञाकारी है, तो ईश्वर ही दोषी ठहरता है। यदि यही मत है तो अपने दोष को समझो। मेरी निन्दा मत करो।" इस प्रकार जैसे आम की मोगरी से ही आम गिराये जाते हैं ; उसी प्रकार उसके हेतुओं से ही उसके सिद्धान्त का निरसन किया।

ईश्वर-कर्तृत्ववादी को हतप्रभ कर बोधिसत्त्व ने पूर्वकृतवादी को पूछा—"आयुष्मन्! यदि तू पूर्वकृत को ही सत्य मानता है तो तू ने मेरा उपहास क्यों किया? यदि पूर्वकृत-कर्म के कारण ही सुख-दुःख होता है, यदि यहाँ का पाप-कर्म प्राचीन पाप-कर्म से ऋण-मुक्ति का कारण होता है, तो यहाँ पाप किसे स्पर्श करता है? यदि यही मत है तो अपने दोष को समझो। मेरी निन्दा मत करो।"

उच्छेदवादी को सम्बोधित करते हुए कहा—"आयुष्मन्! यदि यहाँ किसी का किसी से सम्बन्ध नहीं है; अतः प्राणियों का यहीं उच्छेद हो जाता है, कोई भी परलोक नहीं जाता, तो फिर तू ने मेरा उपहास क्यों किया? पृथ्वी आदि चार महाभूतों से ही प्राणियों के रूप की उत्पत्ति होती है। जहाँ से रूप उत्पन्न होता है, वहीं वह विलीन हो जाता है। जीव यहीं जीता है, परलोक में विनष्ट हो जाता है। पण्डित और मूर्ख सभी का यहीं

उच्छेद हो जाता है। यदि ऐसा है तो यहाँ पाप किसे स्पर्श करता है? यदि यही मत है तो अपने दोष को समझो। मेरी निन्दा मत करो।"

क्षत्रविषवादी को सम्बोधित करते हुए कहा—"आयुष्मन्! जब तेरा यह मत है कि माता-पिता और ज्येष्ठ बन्धु को भी मार कर अपना स्वार्थ-साधन करना चाहिए और वैसा प्रयोजन हो तो पुत्र और स्त्री की भी हत्या कर देनी चाहिए, तो तू ने मेरा उपहास क्यों किया?"

सब मतों का निराकरण करने के अनन्तर बोधि परिव्राजक ने कहा—"हमारी तो यह मान्यता है, जिस वृक्ष की छाया में बैठे अथवा लेटे, उसकी शाखा तक को न तोड़े। मित्र-द्रोह पातक है। तुम्हारा मत है, प्रयोजन होने पर उसे जड़ से भी उखाड़ दो। मेरे तो पाथेय का प्रयोजन था; अतः बानर की हत्या को मैं समुचित ही मानता हूँ।"

पाँचों अमात्यों के हतप्रभ व हतबुद्धि हो जाने पर बोधिसत्त्व ने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा—"महाराज! राष्ट्र के इन पाँच लुटेरों को आप आश्रय दे रहे हैं; अतः आप कितने बड़े मूर्ख हैं। ऐसे व्यक्तियों के संसर्ग से ही आदमी इस लोक में तथा परलोक में महान् दुःख का अनुभव करता है। ये अहेतुवादी, ईश्वरकर्तृत्ववादी, पूर्वकृतवादी, उच्छेद-वादी और क्षत्रविषवादी लोक में असत्पुरुष हैं; जो मूर्ख होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते हैं। ये स्वयं भी पाप करते हैं और दूसरों से भी करवाते हैं। असत्पुरुष की संगति दुःखद तथा कटुक फल देने वाली होती है। पूर्व समय में मेंढ़े से मिलता-जुलता एक भेड़िया रहता था। वह निशंक हो कर बकरियों के झुण्ड में पहुँच जाता था, वहाँ भेड़ों, बकरियों तथा बकरों को मार कर आनन्दपूर्वक खाता था और यथेच्छ घूमता रहता था। इसी प्रकार कुछ श्रमण ब्राह्मण स्वांग रच कर जनता को ठगते हैं। उनमें से कोई अनाहारी होते हैं, कोई कठोर भूमि पर सोते हैं, कोई पाँसुकूलिक होते हैं, कोई उकड़ू ही बैठते हैं, कोई सप्ताह या पक्ष में एक बार भोजन करते हैं, कोई निर्जल रहते हैं और कोई पापाचरण करते हुए भी अपने को अर्हत् बतलाते हैं। पण्डितमानी ये सभी मूर्ख असत्पुरुष हैं।…"

बोधिसत्त्व ने राजा को धर्मोपदेश दिया। चारों राजकुमारों को अपने पास बुलाया और उन्हें भी धर्म-देशना से प्रभावित किया। राजा के कारनामों को प्रकाशित करते हुए कुमारों से कहा—"तुम राजा को क्षमा कर दो।" सबके बीच ही राजा से कहा—"अब कभी अविचारित कार्य न करना और इस प्रकार का दुस्साहस भी न करना।" कुमारों से कहा—"तुम भी राजा से द्वेष न रखना।"

राजा ने कहा—"भन्ते! मैंने इन पाँच अमात्यों के चंगुल में फँस कर आप के तथा देवी के प्रति पाप-कर्म किया है। इन पाँचों को अब मरवाता हूँ।"

"महाराज ! ऐसा नहीं कर सकते।"

"तो इनके हाथ-पाँव कटवा देता हूँ।"

"नहीं, महाराज ! वह भी नहीं कर सकते।"

राजा ने अमात्यों की सम्पत्ति का अपहरण करवा लिया और सिर मुंडा कर, गोबरा बान्ध उन्हें अपमानित किया और देश से बहिष्कृत कर दिया।

बोधिसत्त्व वहाँ कुछ दिन ठहरे और राजा को अप्रमादी रहने का उपदेश दे कर हिमालय की ओर ही चले गये। वहाँ ध्यान-अभिज्ञा प्राप्त की, जीवन-पर्यन्त ब्रह्मविहारों की भावना से अनुप्राणित हो कर ब्रह्मलोकगामी हुए।

शास्ता ने धर्म-देशना के सन्दर्भ में कहा—"भिक्षुओ ! न केवल वर्तमान में ही अपितु विगत में भी शास्ता प्रज्ञावान् तथा अन्य वादियों के सिद्धान्तों का मर्दन करने वाले ही रहे हैं। जातक का मेल बैठाते हुए उन्होंने कहा—"उस समय के पाँच मिथ्यादृष्टि अमात्य पूरणकाश्यप, मक्खलि गोशाल, प्रक्रुध कात्यायन, अजितकेशकम्बल और निगण्ठ नाथपुत्र थे। पिंगल वर्ण कुत्ता आनन्द था। महाबोधि परिव्राजक तो मैं ही था।"

—**जातक अट्ठकथा**, महाबोधि जातक, ५२८ (हिन्दी अनुवाद), पृ० ३१२ से ३३० के आधार से।

समीक्षा

यह **महाबोधि जातक** तथा इस प्रकार के अन्य कथानक यही अभिव्यक्त करते हैं कि बौद्धों ने अपने प्रतिपक्षिओं को हीन व तुच्छ प्रमाणित करने के लिए अनेकों अनगढ़ कथानक रचे हैं।

(३६) मयूर और काक

बुद्ध के उत्पन्न होने से पूर्व तैर्थिकों को लाभ और यश की प्राप्ति थी, किन्तु उनके उत्पन्न होने पर उनका लाभ और यश जाता रहा। उनकी दशा वैसी ही हो गई, सूर्योदय के समय जैसी कि जुगनुओं की होती है। धर्म-सभा में इस प्रसंग पर चर्चा चल पड़ी। शास्ता ने आ कर पूछा—"भिक्षुओ ! बैठे-बैठे अभी क्या बातचीत कर रहे थे ?" भिक्षुओं ने उपर्युक्त वार्तालाप-प्रसंग सुनाया, तो शास्ता ने फिर कहा—"भिक्षुओ ! न केवल अभी, पूर्व में भी जब तक गुणवान् उत्पन्न नहीं हुए थे, गुणहीनों को श्रेष्ठ लाभ और श्रेष्ठ यश मिलता रहा था। गुणवानों के अवतरित होने पर गुणहीनों का लाभ-सत्कार चला जाता रहा था।

"पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य-काल में बोधिसत्त्व मोर की योनि में उत्पन्न हुए थे। बड़े हुए और सुन्दरता से अलंकृत हो, जंगल में विचरने लगे। उस समय कुछ

व्यापारी दिशा-काक[1] को साथ ले कर बावेरु राष्ट्र की ओर चले। बावेरु राष्ट्र में उन दिनों पक्षी नहीं होते थे। वहाँ के निवासी पिंजरे में आबद्ध उस कौए को देख कर अत्यन्त चकित हुए। उसकी ओर संकेत करते हुए वे परस्पर एक-दूसरे को कहने लगे—"इसकी चमड़ी के वर्ण को देखो। इसकी चोंच गले तक है। इसकी आँखें मणि की गोलियों जैसी हैं।" कौए की इस प्रकार प्रशंसा करते हुए उन्होंने उन व्यापारियों से याचना की—"आर्यो! यह पक्षी हमें दे दो। हमें इसकी आवश्यकता है। तुम्हें तो अपने राष्ट्र में अन्य भी मिल जायेंगे।"

"मूल्य चुका कर इसे ले लो।"

"पाँच कार्षापण ले कर दे दें।"

"नहीं देंगे।"

मूल्य बढ़ता हुआ क्रमशः सौ कार्षापण तक पहुँच गया। आगन्तुक व्यापारियों ने कहा—"यद्यपि हमारे लिए यह बहुत उपयोगी है; फिर भी आपकी मैत्री से आकर्षित हो कर हम इसे प्रदान कर रहे हैं।" बावेरु वासियों ने सौ कार्षापण में उसे खरीद लिया। उन्होंने उसे सोने के पिंजरे में रखा। नाना प्रकार के मछली-माँस व फलाफल से उसे पाला। दूसरे पक्षियों के अभाव में वह दुर्गुणी कौआ भी वहाँ समादृत हो कर श्रेष्ठलाभी हुआ।

दूसरी बार वे व्यापारी एक मोर ले कर वहाँ आये। वह बहुत शिक्षित था। ज्यों ही चुटकी बजती, केका हो उठती और ज्यों हो ताली बजती, वह नाचने लगता। जनता के एकत्रित होने पर नौका की धुरा पर खड़ा हो पैरों को फैलाता, मधुर स्वर से केका करता और नाचने लगता। बावेरु-वासी उससे भी बहुत आकर्षित हुए। याचना करते हुए उन्होंने कहा—"आर्यो! यह सुन्दर व सुशिक्षित पक्षी-राज हमें दे दें।"

आगन्तुक व्यापारियों ने कहा—"पहले हम कौआ ले कर आये, आपने उसे ले लिया। अब जब कि हम मयूरराज ले कर आये हैं; आप लोग इसे भी लेना चाहते हैं। आपके राष्ट्र में पक्षी ले कर आना कठिनता से भरा रहता है।"

बावेरु-वासियों ने कहा—"जो भी हो, यह पक्षी तो हमें देना होगा। आपके देश में तो दूसरा भी दुर्लभ नहीं है। यह तो हमें दे दीजिये।"

मूल्य बढ़ता हुआ क्रमशः हजार कार्षापण तक पहुँच गया। बावेरु-वासियों ने वह मूल्य चुका दिया और उसे ले लिया। मोर को सात रत्नों वाले पिंजरे में रखा गया। मछली, माँस, फल, दूध, खील तथा शर्बत से उसे पाला। मोर-राज को वहाँ श्रेष्ठ लाभ और यश मिला। जब से वह वहाँ पहुँचा, कौए का लाभ-सत्कार घट गया। कोई भी

---

१. स्थल की दिशा जानने के लिए जहाजों पर कौआ रखा जाता है।

व्यक्ति उस ओर देखना भी नहीं चाहता था। कौए को जब खाना मिलना बन्द हो गया, वह 'कौंव-कौंव' चिल्लाता हुआ अवकर पर जा गिरा। शास्ता ने दोनों कथाओं को मिलाते हुए कहा—

> अदस्सनेन मोरस्स सिखिनो मञ्जुभाणिनो,
> काकं तत्थ अपूजेसुं मंसेन च फलेन च ॥१॥
> यदा च सरसम्पन्नो मोरो बावेरु मागमा,
> अथ लाभो च सक्कारो वायसस्स अहायथ ॥२॥
> याव नुप्पज्जति बुद्धो धम्मराजा पभङ्करो,
> ताव अञ्ञे अपूजेसुं पुथु समणब्राह्मणे ॥३॥
> यदा च सरसम्पन्नो बुद्धो धम्मं अदेसयि,
> अथ लाभो च सक्कारो तित्थियान अहायथ ॥४॥

जब तक मधुर-भाषी मोर से परिचित न थे, तब तक वहाँ माँस और फल से कौए का समादर हुआ। स्वर-युक्त मयूर जब बावेरु राष्ट्र पहुँचा, कौए का लाभ-सत्कार न्यून हो गया। इसी तरह जब तक प्रभङ्कर धर्मराज पैदा नहीं हुए, दूसरे अनेक श्रमण-ब्राह्मणों की पूजा हुई; किन्तु जब स्वर-युक्त बुद्ध ने धर्मोपदेश दिया तो तैर्थिकों का लाभ-सत्कार नष्ट हो गया।

उस समय कौआ निगण्ठ नातपुत्त था और मोर राजा तो मैं ही था।"

—**जातक अट्ठकथा**, बावेरु जातक, ३३९ (हिन्दी अनुवाद), भा० ३, पृ० २८९ से २९१ के आधार से।

समीक्षा

कथा नितान्त आक्षेपात्मक और गर्हा-सूचक है और परिपूर्ण साम्प्रदायिक मनोभावों से गढ़ी हुई है। यह कथा मूल त्रिपिटकों की नहीं है, इसलिए इसका अधिक महत्त्व नहीं है। मूल जातक में भी गुणी की वर्तमानता में अवगुणी की पूजा का उल्लेख है। यह उदन्त **जातक-अर्थकथा** का है; इसलिए भी काल्पनिक कथानक से अधिक इसका कोई महत्त्व नहीं दीख पड़ता।

(३७) मांसाहार-चर्चा

सिंह सेनापति भगवान् बुद्ध की शरण में आया। अगले दिन के लिए भोजन का निमन्त्रण दिया। बुद्ध ने मौन रह कर उसे स्वीकार किया। सिंह सेनापति ने अन्य भोजन के साथ मांस भी बनाया। निगण्ठों ने जब यह सुना तो वे कुपित व असन्तुष्ट हुए। तथागत को व्यथित करने के अभिप्राय से उन्होंने गाली दी—"श्रमण गौतम जान-बूझ कर अपने

लिए बनाये गये मांस को खाता है।" धर्म-सभा में भिक्षुओं ने गौतम बुद्ध का इस ओर ध्यान आकर्षित किया और कहा—"निगण्ठ नातपुत्त आपको मांसाहार की गाली देता हुआ घूमता है।" बुद्ध ने उत्तर दिया—"निगण्ठ नातपुत्त न केवल वर्तमान में ही मेरी निन्दा करता है; बल्कि उसने पहले भी ऐसा ही किया है।"

बुद्ध ने पूर्व-जन्म की कथा सुनाते हुए कहा—"पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य-काल में बोधिसत्त्व ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए। बड़े होने पर ऋषि-प्रव्रज्या के अनुसार प्रव्रजित हुए। हिमालय में वास करने लगे। एक बार नमक-खटाई खाने के अभिप्राय से वे वाराणसी आये। अगले दिन भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश किया। एक गृहस्थ ने तपस्वी को तंग करने के उद्देश्य से उन्हें अपने घर बुलाया, बिछे आसन पर बिठाया और मत्स्य-मांस का भोजन परोसा। भोजन कर चुकने पर उस गृहस्थ ने कहा—'यह मांस तुम्हारे ही उद्देश्य से प्राणियों का वध कर निष्पन्न किया गया था; अतः इसका पाप केवल हमें ही न लगे अपितु तुम्हें भी लगे।' उसने गाथा कही—

हन्त्वा झत्वा वधित्वा च देति दानं असञ्ञतो।
एदिसं भत्तं भुञ्जमानो स पापेन उपलिप्पति॥

मार कर, परितापित कर, वध कर असंयमी दान देता है। इस प्रकार का भोजन करने वाला पाप-भाग् होता है।'

उत्तर में बोधिसत्त्व ने गाथा कही—

पुत्तदारम्पि चे हन्त्वा देति दानं असञ्ञतो।
भुञ्जमानोपि सप्पञ्ञो न पापेन उपलिप्पति॥

अन्य मांस की तो चर्चा छोड़ो। यदि कोई दुःशील अपने पुत्र व स्त्री को मार कर भी उनके मांस का दान करता है, तो प्रज्ञावान्, क्षमा-मैत्री आदि गुणों से युक्त पुरुष उसे ग्रहण कर पाप से लिप्त नहीं होता।

बोधिसत्त्व धर्मोपदेश कर आसन से उठ कर चले गये।"

शास्ता ने जातक का मेल बैठाते हुए कहा—"उस समय गृहस्थ निगण्ठ नातपुत्त था और तपस्वी तो मैं ही था।"

—**जातक-अट्ठकथा**, तेलोवाद जातक, सं० २४६ के आधार से।

समीक्षा

विनयपिटक और **अंगुत्तरनिकाय** में जहाँ सिंह सेनापति की इस घटना का उल्लेख है[1], वहाँ चौराहों पर मांसाहार की निन्दा करने के प्रसंग में निगण्ठ नातपुत्त का नाम न हो कर केवल निगण्ठों का ही नामोल्लेख है। लगता है, अट्ठकथाकार ने जातक गाथाओं

१. देखिए—इसी प्रकरण का प्रथम प्रसंग।

के साथ पूर्व-जन्म की घटना को जोड़ने के लिए निगण्ठ नातपुत्र को ही नगर-चर्चा का पात्र बना दिया है। अन्य अट्ठकथाओं की तरह इस अट्ठकथा का भी काल्पनिक कथानक से अधिक महत्त्व नहीं लगता।

(३८) चार प्रकार के लोग

भिक्षुओ ! दुनियाँ में चार प्रकार के लोग विद्यमान् हैं। कौन से चार तरह के? भिक्षुओ, एक आदमी अपने को तपाने वाला होता है, अपने को कष्ट देने में ही लगा हुआ; भिक्षुओ, एक आदमी दूसरों को तपाने वाला होता है, दूसरों को कष्ट देने में ही लगा हुआ; भिक्षुओ, एक आदमी अपने को तपाने वाला, अपने को कष्ट देने में लगा हुआ है तथा दूसरों को भी तपाने वाला, दूसरों को कष्ट देने में ही लगा हुआ होता है ; भिक्षुओ, एक आदमी न अपने को तपाने वाला, न अपने को कष्ट देने में ही लगा होता है और न दूसरों को तपाने वाला, दूसरों को कष्ट देने में ही लगा होता है। जो न अपने को अनुतप्त करने वाला होता है, न दूसरों को अनुतप्त करने वाला होता है, वह इसी शरीर में तृष्णा-विहीन हो कर, निर्वृत हो कर, शान्तभाव को प्राप्त हो कर, सुख का अनुभव करता हुआ श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करता है।

भिक्षुओ, एक आदमी अपने को तपाने वाला, अपने को कष्ट देने में ही लगा रहने वाला कैसे होता है? भिक्षुओ, एक आदमी नग्न होता है, शिष्टाचार-शून्य, हाथ चाटने वाला, 'भदन्त आयें' कहने पर न आने वाला, 'भदन्त खड़े रहें' कहने पर खड़ा न रहने वाला, लाया हुआ न खाने वाला, उद्देश्य से बनाया हुआ न खाने वाला और निमंत्रण भी न स्वीकार करने वाला होता है। वह न घड़े में से दिया हुआ लेता है, न ऊखल में से दिया हुआ लेता है, न किवाड़ की ओट से दिया हुआ लेता है, न मोड़े के बीच में आ जाने से दिया हुआ, न डण्डे के बीच में पड़ जाने से लेता है, न मूसल के बीच में आ जाने से लेता है। वह दो जने खाते हों, उनमें से एक उठ कर देने पर नहीं लेता है, न गर्भिणी का दिया लेता है, न बच्चे को दूध पिलाती हुई का दिया लेता है, न पुरुष के पास गई हुई का लेता है, न संग्रह किये हुए अन्न में से पकाया हुआ लेता है, न जहाँ कुत्ता खड़ा हो, वहाँ से लेता है, न जहाँ मक्खियाँ उड़ती हों, वहाँ से लेता है, वह न मछली खाता है, न मांस खाता है, न सुरा पीता है, न मेरय पीता है, न चावल का पानी पीता है। वह या तो एक ही घर में ले कर खाने वाला होता है या एक ही कौर खाने वाला, दो घर से ले कर खाने वाला होता है या दो ही कौर खाने वाला,''''''सात घरों से ले कर खाने वाला होता है या सात कौर खाने वाला।

वह एक ही छोटी तश्तरी से भी गुजारा करने वाला होता है। वह दिन में एक

बार भी खाने वाला होता है, दो दिन में एक बार भी खाने वाला होता है"'सात दिन में एक बार भी खाने वाला होता है; इस प्रकार वह पन्द्रह दिन में एक बार खा कर भी रहता है। वह शाक खाने वाला भी होता है, श्यामाक (धान) खाने वाला भी होता है, नीवार (धान) खाने वाला भी होता है, दद्दल (धान) खाने वाला भी होता है, हट (शाक) खाने वाला भी होता है, कणाज (भात) खाने वाला भी होता है। वह आचाम खाने वाला होता है, खली खाने वाला भी होता है, तिनके (घास) खाने वाला भी होता है, गोबर खाने वाला भी होता है, जंगल के पेड़ों से गिरे फल-मूल को खाने वाला भी होता है।

वह सन के कपड़े भी धारण करता है, सन-मिश्रित कपड़े भी धारण करता है, शव-वस्त्र (कफन) भी पहनता है, फेंके हुए वस्त्र भी पहनता है, वृक्ष-विशेष की छाल के कपड़े भी पहनता है, अजिन (मृग) की खाल भी पहनता है, अजिन (मृग) की चमड़ी से बनी पट्टियों से बुना वस्त्र भी पहनता है, कुश का बना वस्त्र भी पहनता है, छाल (वाक) का वस्त्र भी पहनता है, फलक (छाल) का वस्त्र भी पहनता है, केशों से बना कम्बल भी पहनता है, पूँछ के बालों का बना कम्बल भी पहनता है, उल्लू के परों का बना वस्त्र भी पहनता है।

वह केश-दाढ़ी का लुँचन करने वाला भी होता है। वह बैठने का त्याग कर, निरन्तर खड़ा ही रहने वाला भी होता है। वह उकड़ू बैठ कर प्रयत्न करने वाला भी होता है। वह काँटों की शय्या पर सोने वाला भी होता है। प्रातः, मध्याह्न, सायं—दिन में तीन बार पानी में जाने वाला होता है। इस तरह वह नाना प्रकार से शरीर को पीड़ा पहुँचाता हुआ विहार करता है। भिक्षुओ, इस प्रकार एक आदमी अपने को तपाने वाला, अपने को कष्ट देने में ही लगा रहने वाला होता है।

—अंगुत्तरनिकाय (हिन्दी अनुवाद), भाग २, पृ० १९७ से १९९ के आधार से।

समीक्षा

इस प्रसंग में नामग्राह निर्ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है, पर आचार बहुत कुछ निर्ग्रन्थों का ही बताया गया है। कुछ एक आचार तो दसवैकालिक सूत्र से शब्दशः मिलते हैं।[1]

---

१. दुण्हं तु भुञ्जमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंद से पडिलेहए॥
गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोअणं।
भुंजमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छिए॥
सिआ य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दितिअं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥
थणगं पिज्जमाणी, दारगं व कुमारिअं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं॥
तं भवे भत्तपाणं तु,"''''''''''तारिसं॥

—दसवैकालिक सूत्र, ५।१।३७-४३

इस प्रथम भंग में निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त आजीवक तथा पूरण काश्यप के अनुयायियों के भी कुछ नियम बताये गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। "न वह मांस खाता है, न वह मछली खाता है, न वह सुरा पीता है, न वह मेरय पीता है"—यह आचार भी निर्ग्रन्थ-आचार के संलग्न ही बताया गया है। जैन-साधुओं के मांसाहार के विपक्ष में यह एक अच्छा प्रमाण बन सकता है।

(३९) *निर्ग्रन्थों के पाँच दोष*

भिक्षुओ, जिस आजीवक में ये पाँच बातें होती हैं, वह ऐसा ही होता है, जैसा ला कर नरक में डाल दिया गया हो। कौन सी पाँच बातें? प्राणी-हिंसा करने वाला होता है, चोरी करने वाला होता है, अब्रह्मचारी होता है, झूठ बोलने वाला होता है, सुरा-मेरय आदि नशीली चीजों का सेवन करने वाला होता है। भिक्षुओ, जिस आजीवक में ये पाँच बातें होती हैं, वह ऐसा ही होता है, जैसा ला कर नरक में डाल दिया गया हो।

भिक्षुओ, जिस निगण्ठ (=निर्ग्रन्थ) में···जिस वृद्ध-श्रावक में···जिस जटिलक में··· जिस परिव्राजक में···जिस मागन्दिक में···जिस दण्डिक में···जिस आरुद्धक में···जिस गोतमक में···जिस देव धम्मिक में ये पाँच बातें होती हैं, वह ऐसी ही होता है, जैसा ला कर नरक में डाल दिया गया हो। कौन सी पाँच बातें? वह प्राणी हिंसा करने वाला··· नरक में डाल दिया गया हो।

—**अंगुत्तरनिकाय**, ५-२८-८-१७ (हिन्दी अनुवाद), भाग २, पृ० ४५२ के आधार से।

समीक्षा

यह उल्लेख 'उपसम्पदा वर्ग' का है। इसमें आजीवक, जटिलक, परिव्राजक आदि के लिए भी ये ही पाँच बातें कही गई हैं।

(४०) *वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ*

श्रावस्ती की घटना है। कुछ बौद्ध-भिक्षुओं ने निगण्ठों को जाते देख कर परस्पर बातें कीं—"भिक्षुओ, ये निगण्ठ उन अचेलक भिक्षुओं से तो अच्छे ही हैं, जो थोड़ा भी वस्त्र नहीं रखते। ये बेचारे कम-से-कम अपने अग्रभाग को तो आच्छादित रखते हैं। लगता है, इन श्रमणों में तो सभ्यता और लोक-व्यवहार का कुछ ध्यान है।" बौद्ध-भिक्षुओं की इस चर्चा को सुन कर निगण्ठ श्रमणों ने कहा—"हम लोक-व्यवहार और सभ्यता के लिए वस्त्र नहीं रखते। धूल और गन्दगी भी जीव हैं। हमारे भिक्षा-पात्र में पड़ कर उनकी हिंसा न हो; इसलिए हम वस्त्र पहनते हैं।"

इस पर दोनों—बौद्ध और निगण्ठ—भिक्षुओं में लम्बी चर्चा चली। तत्पश्चात् बौद्ध-भिक्षु जेतवन में भगवान् बुद्ध के पास आये। बुद्ध को अपना चर्चा-प्रसंग बताया। तब बुद्ध ने ये गाथाएँ कहीं—

अलज्जिता ये लज्जन्ति लज्जिता ये न लज्जरे ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥
अभये च भयदस्सिनो भये च अभयदस्सिनो ।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं ॥

लज्जा न करने की बात में जो लज्जित होते हैं और लज्जा करने की बात में लज्जित नहीं होते हैं—वे प्राणी मिथ्या-दृष्टि को ग्रहण करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

भय न करने की बात में भय देखते हैं और भय करने की बात में भय नहीं देखते—वे प्राणी मिथ्या-दृष्टि को ग्रहण करने से दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

—धम्मपद-अट्ठकथा, २२-८ के आधार से।

समीक्षा

इस घटना-प्रसंग में निगण्ठों के वस्त्र-धारण की चर्चा है, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि किस प्रकार का वस्त्र वे धारण करते थे और उसका क्या प्रयोजन था ? पर इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि बौद्ध-परम्परा को सचेलक और अचेलक—दोनों ही प्रकार के निगण्ठों का परिचय है।

(४१) *मौद्गल्यायन का वध*

एक समय तैर्थिक लोग एकत्रित हो सलाह करने लगे—'जानते हो, आवुसो ! किस कारण से, किसलिए, श्रमण गौतम का बहुत लाभ-सत्कार हो गया है ?' ...'एक महा-मौद्गल्यायन के कारण हुआ है। वह देवलोक भी जा कर देवताओं के काम को पूछ कर, आ कर मनुष्यों को कहता है...नरक में उत्पन्न हुओं के भी कर्म को पूछ कर आ कर, मनुष्यों को कहता है...। मनुष्य उसकी बात को सुन कर बड़ा लाभ-सत्कार प्रदान करते हैं। यदि उसे मार सकें, तो वह लाभ-सत्कार हमें होने लगेगा...।' तब (उन्होंने) अपने सेवकों को कह कर एक हजार कार्षापण पा कर, मनुष्य मारने वाले गुण्डों को बुलवा कर—'महामौद्गल्यायन स्थविर काल-शिला में वास करता है, वहाँ जा कर उसे मारो' (कह) उन्हें कार्षापण दे दिये। गुंडों (=चोरों) ने धन के लोभ से उसे स्वीकार कर, स्थविर को मारने के लिए जा कर, उनके वास-स्थान को घेर लिया। स्थविर उनके घेरने की बात जान कर कुंजी के छिद्र से (बाहर) निकल गये। उन्होंने स्थविर को न देख, फिर दूसरे दिन जा कर घेरा। स्थविर जान कर छत फोड़ कर आकाश में चले गये। इस प्रकार वह न प्रथम मास में, न दूसरे मास में ही स्थविर को पकड़ सके। अन्तिम मास प्राप्त होने पर, स्थविर अपने किये कर्म का परिणाम जान कर स्थान से नहीं हटे। घातकों ने जान कर स्थविर को पकड़ कर उनकी हड्डी को तंडुल-कण जैसा करके मार डाला। तब उन्हें मरा जान कर एक झाड़ी के पीछे डाल कर चले गए। स्थविर ने 'शास्ता को देख कर ही मरूँगा' (सोच), शरीर को ध्यान

रूपी वेष्टन से वेष्टित कर, स्थिर कर, आकाश-मार्ग से शास्ता के पास आ, शास्ता को वन्दना कर "भन्ते ! परिनिर्वृत होऊँगा"—कहा।

"परिनिर्वृत होओगे, मौद्गल्यायन !" "भन्ते हाँ"।

"कहाँ जा कर ?" "भन्ते ! काल-शिला-प्रदेश में।"

(मौद्गल्यायन)...शास्ता को वंदना कर काल-शिला जा परिनिर्वृत हुए।...

स्थविर के परिनिर्वृत होने का समाचार जब राजा अजातशत्रु को मिला, तब उसने चर-पुरुषों को नियुक्त करके पाँच सौ चोरों तथा नगर के सब तैर्थिकों को पकड़वा मँगाया और उन्हें नाभी भर गहरे गड्ढों में गड़वा कर जीवित ही जलवा दिया।

—**धम्मपद-अट्ठकथा**, १०।७ के आधार से।

समीक्षा

यह वृत्तान्त दो स्थानों में उपलब्ध होता है—**जातकट्ठकथा** और **धम्मपद-अट्ठकथा**। **जातकट्ठकथा** में मौद्गल्यायन के वध-प्रसंग में निगण्ठों का उल्लेख है और **धम्मपद-अट्ठकथा** में तैर्थिकों का। यथार्थ दोनों ही नहीं लगते। निगण्ठों व तैर्थिकों को गर्हित करने का ही सस्ता उपक्रम लगता है।

डॉ० मलालशेखर ने *Dictionary of Pali Proper Names*[1] में तथा एच० जी० ए० वान ग्लेसनप्प ने *Encyclopaedia of Buddhism*[2] में लिखा है—"अजातशत्रु ने ५०० निगण्ठो का वध करवाया ; इसलिए ही निगण्ठों का अभिप्राय अजातशत्रु के प्रति अच्छा नहीं रहा।" यह लिखना यथार्थ नहीं है। वस्तुस्थिति तो यह है कि बौद्ध-परम्परा अजातशत्रु की बहुत स्थलों पर उपेक्षा करती है ; जब कि जैन-परम्परा मुख्यतया उसे सम्मानित स्थान देती है।[3] अजातशत्रु निगण्ठों का वध कराये, यह जरा भी सम्भव नहीं लगता।

(४२) मिलिन्द प्रश्न

जम्बूद्वीप के सागल नगर में मिलिन्द[4] राजा हुआ। वह पण्डित, चतुर, बुद्धिमान् और योग्य था। भूत, भविष्यत् और वर्तमान सभी योग-विधान में वह सावधान रहता था। उन्नीस विद्याओं में पारंगत था। शास्त्रार्थ करने में अद्वितीय और श्रेष्ठ था। वह सभी तीर्थङ्करों (आचार्यों) में श्रेष्ठ समझा जाता था। राजा मिलिन्द के समान प्रज्ञा, बल, वेग, वीरता, धन और भोग में जम्बूद्वीप में दूसरा कोई नहीं था। वह महासम्पत्तिशाली और उन्नतिशील था। उसकी सेनाओं और वाहनों का अन्त नहीं था।

---

१. Vol I, p. 35.
२. p. 320.
३. विशेष वर्णन—"अनुयायी राजा" प्रकरण के अन्तर्गत "अजातशत्रु"।
४. मिनान्दर (Minander) इन्डोग्रीक सम्राट् ही राजा मिलिन्द था, जिसकी राजधानी सागल (वर्तमान-स्यालकोट) थी ; ऐसा विद्वानों का अभिमत है। देखिए—मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४।

राजा मिलिन्द एक दिन चतुरंगिनी अनन्त सेना को देखने के अभिप्राय से नगर के बाहर आया। सेनाओं की गणना करने के अनन्तर वाद-प्रिय राजा ने शास्त्रार्थ करने के अभिप्राय से उत्सुकतापूर्वक आकाश की ओर देखा और अपने अमात्यों को सम्बोधित किया—"अभी बहुत समय अवशिष्ट है। क्या यहाँ नगर में कोई ऐसा पण्डित सम्यक्-सम्बुद्ध के सिद्धान्तों का ज्ञाता, श्रमण-ब्राह्मण या गणाचार्य है, जिसके साथ वार्तालाप करूँ, जो मेरी शंकाओं का समाधान कर सके।"

पाँच सौ यवनों ने राजा से निवेदन किया—"महाराज! ऐसे छः पण्डित हैं: (१) पूरणकाश्यप, (२) मक्खलि गोशाल, (३) निगण्ठ नातपुत्र, (४) संजय बेलट्ठिपुत्र, (५) अजित केशकम्बल और (६) प्रक्रुध कात्यायन। वे संघ-नायक, गण-नायक, गणाचार्य, प्राज्ञ और तीर्थङ्कर हैं। जनता में उनका बड़ा सम्मान है। महाराज! आप उनके पास जायें और अपनी शंकाओं को दूर करें।"

······वे भिक्षु केतुमती विमान में महासेन देवपुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। राजा मिलिन्द के प्रश्नों को समाहित करने के लिए संघ द्वारा विशेष प्रार्थना किये जाने पर वे हिमालय के पास ब्राह्मणों के काजंगल ग्राम में सोनुत्तर ब्राह्मण के घर अवतरित हुए। उनका नाम नागसेन रखा गया। आगे चल कर यही आचार्य नागसेन हुए, जिन्होंने राजा मिलिन्द के प्रश्नों को समाहित किया।

—**मिलिन्द प्रश्न** (हिन्दी अनुवाद), अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४ से ६ के आधार से।

समीक्षा

राजा मिलिन्द बुद्ध-निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् हुआ, ऐसा बताया गया है।[१] यहाँ भी बुद्ध के अतिरिक्त छहों धर्मनायकों के नाम गिनाये गये हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-साहित्य में ऐसी एक प्रथा ही रही है कि निगण्ठ, आजीविक प्रभृति भिक्षुओं के सम्बन्ध से भी कुछ कहना हो, तो उनके प्रवर्तक निगण्ठ नातपुत्त, मक्खलि गोशाल के नाम से ही कह दिया जाये। निगण्ठ नातपुत्त की वर्त्तमानता में भी जहाँ-तहाँ उनका नाम आया है, अनेक स्थलों पर घटना का सम्बन्ध निगन्ठ भिक्षुओं से ही हो सकता है। इसी घटना-प्रसंग पर भिक्षु जगदीश काश्यप का कहना है—"मालूम होता है कि इन (छहों तीर्थङ्करों) की अपनी-अपनी गद्दियाँ इन्हीं नामों से चलती होंगी, जैसे—भारतवर्ष में 'शंकराचार्य' की गद्दी अभी तक बनी है। किन्तु इन गद्दियों का कब आरम्भ हुआ और कब अन्त; इसका पता नहीं।[२]" शंकराचार्य की तरह एक ही नाम से इन सब की गद्दियाँ

१. मिलिन्द प्रश्न (हिन्दी-अनुवाद), अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ४।
२. वही, बोधिनी, पृ० ६।

चलती हों, इसका तो कोई आधार नहीं है, पर उन मतों के सम्बन्ध में यह एक कहने की पद्धति—Stock phrase—रही है, ऐसा अवश्य लगता है।

(४३) लंका में निर्ग्रन्थ

राजा पाण्डुकाभय का राज्याभिषेक हुआ। उसने सुवर्णपाली को अग्रमहिषी के पद पर व चन्द्रकुमार को पुरोहित के पद पर अभिषिक्त किया।""""राजा ने पाँच सौ चण्डाल नगर की सफाई के लिए, दो सौ चण्डाल नालियों की सफाई के लिए, डेढ़ सौ चण्डाल मुर्दे उठाने के लिए और डेढ़ सौ ही श्मशान में प्रातिहारिक के रूप में नियुक्त किये। श्मशान की पश्चिमोत्तर दिशा में चण्डालों का ग्राम बसाया गया। चण्डाल-ग्राम की पूर्वोत्तर दिशा में चण्डालों के लिए एक नीचा श्मशान बनाया गया। श्मशान के उत्तर और पाषाण-पर्वत के बीच शिकारियों के लिए घरों की कतार बनवाई। उसके उत्तर में ग्रामणी वापी तक अनेक तपस्वियों के लिए आश्रम बनवाये। उसी श्मशान के पूर्व में राजा ने जोतिय निगण्ठ के लिए घर बनवाया। उसी स्थान पर गिरि नामक निगण्ठ तथा अन्य भी अनेक मतों के बहुत सारे श्रमण रहते थे। वहीं राजा ने कुम्भण्ड निगण्ठ के लिए एक देवालय बनाया, जो उसके नाम से ही विश्रुत हुआ।

देवालय के पश्चिम में तथा शिकारियों के घरों से पूर्व की ओर पाँच सौ अन्य मतावलम्बी[1] परिवार बसते थे। जोतिय के घर से उस ओर और ग्रामणी वापी से इस ओर परिव्राजकों के लिए एक आश्रम बनवाया। आजीविकों के लिए घर, ब्राह्मणों के लिए निवास-स्थान, यत्र-तत्र प्रसूतिका-गृह और रोगी-गृह भी बनवाये।

—**महावंश**, परिच्छेद १०, श्लो० ७७-७६ व ९१ से १०२ के आधार से।

समीक्षा

इस समुल्लेख से यह झलक मिलती है कि निर्ग्रन्थ-धर्म समुद्रों पार विदेशों में भी गया था। पाण्डुकाभय (ई० पू० ३७०-३००) राजा सम्राट् अशोक से भी लगभग १०० वर्ष पूर्व होता है। महेन्द्र और संघमित्रा से बहुत पूर्व की यह घटना है। जैन-साहित्य में इन निगण्ठों की कोई चर्चा नहीं है। उक्त घटना-प्रसंग से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि ये निगण्ठ गृही थे या भिक्षुक। जोतिय निगण्ठ को **महावंश टीका** में 'नगर वर्धकि' कहा गया है।

(४४) वैशाली में महामारी

उस समय हिमालय की उपत्यका में एक कुण्डला नामक यक्षिणी रहती थी। उसके सहस्र पुत्र थे। कुण्डला मर गई। सहस्र यक्ष मनुष्यों के बल का अपहरण करते और महामारी फैलाते। वे दो प्रकार की महामारी फैलाते—एक मण्डलक और एक अधिवास। मण्डलक परिवार के लोगों में फैलती और अधिवास प्रदेश-भर के लोगों में। एक बार ये सहस्र यक्ष

१. मिथ्या दृष्टि वाले।

वैशाली आये। मनुष्यों के बल का अपहरण किया। अधिवास महामारी फैली। उत्तरोत्तर लोग मरने लगे।

एक-एक कर अनेक देवताओं की लोगों ने आराधना की, पर रोग शान्त नहीं हुआ। तब लोगों ने एक-एक कर क्रमशः काश्यप पूरण, मस्करी गोशालिपुत्र, ककुद कात्यायन, अजित केसकम्बल, सञ्जयिन् वैरट्टिपुत्र और निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र को बुलाया। तब भी रोग शान्त नहीं हुआ। महामारी में जो लोग मरे थे, उनमें से कुछ देवगति में उत्पन्न हुए। उन्होंने आ कर वैशाली वासियों से कहा—"अनेक कल्पों के पश्चात् लोक में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। वे जहाँ रहते हैं, वहाँ महामारी आदि रोग उत्पन्न नहीं होते।" तब तोमर लिच्छवी राजगृह से बुद्ध को ले कर आया। उनके प्रवेश-मात्र से महामारी रोग शान्त हुआ। सहस्र यक्ष पराभूत हो वैशाली छोड़ गये।

—*Mahavastu*, Tr. by J. J. Jones, Vol. I. pp. 208 to 209 के आधार से।

समीक्षा

कथा सारी की सारी बुद्ध की श्लाघा में गढ़ी गई है। जहाँ बुद्ध रहते हैं, वहाँ महामारी आदि रोग नहीं होते; इस विषय में जैन परम्परा की मान्यता है—"जहाँ जिन रहते हैं, वहाँ चारों दिशाओं में पच्चीस-पच्चीस योजन तथा ऊर्ध्व और अधो दिशा में साढ़े बारह योजन तक ईति, महामारी, स्वचक्रभय, परचक्रभय, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, उपपात आदि नहीं होते।"[१]

(४५) नमो बुद्धस्स, नमो अरहन्तानं

राजगृह में एक सम्यग्-दृष्टि बालक और एक मिथ्या-दृष्टि बालक रहते थे। जब वे गुल्ली-डण्डा खेलते, तो सम्यग्-दृष्टि बालक कहता—'**नमो बुद्धस्स**' और मिथ्या-दृष्टि बालक कहता—'**नमो अरहन्तानं**।' जीत सदा सम्यग्-दृष्टि बालक की होती। मिथ्या-दृष्टि बालक के मन में भी बुद्ध के प्रति श्रद्धा जगी और वह भी '**नमो बुद्धस्स**' कहने लगा।

एक दिन वह अपने पिता के साथ काष्ठ की भरी गाड़ी ले कर जंगल से आ रहा था। मार्ग में श्मशान के पास उन दोनों ने विश्राम किया। बैलों को भी गाड़ी से खोल दिया। खुले बैल नगर में चले गये। कुछ समय पश्चात् पिता भी बैलों को खोजते-खोजते नगर में चला गया। वह बैलों को ले कर वापस लौटने लगा, तो नगर-द्वार बन्द मिला। श्मशान में लड़का अकेला ही रातभर रहा। रात को दो भूत आये। एक सम्यग्-दृष्टि था, एक मिथ्या-दृष्टि। मिथ्या-दृष्टि भूत ने बालक को कष्ट देना चाहा, पर बालक के मुँह से निकला—'**नमो बुद्धस्स**'। भूत भयभीत हो कर दूर हट गया। दोनों भूतों के मन में

१. समवायांग सूत्र, समवाय ३४।

बालक के प्रति प्यार उत्पन्न हुआ। राजा बिम्बिसार के राजप्रासाद से वे स्वर्ण-थाल और पकवान लाये। बालक के माता-पिता का ही रूप बना कर उन्होंने उसे भोजन कराया। स्वर्ण-थाल को उन्होंने वहीं बैलगाड़ी में छोड़ दिया।

प्रातः राजा के आरक्षक स्वर्ण-थाल के चोर की खोज में निकले। लड़के को पकड़ कर राजा के पास लाये और कहा—"राजन्! यही स्वर्ण-थाल का चोर है।" लड़के ने सहज रूप से जो उसे अवगत था, कहा। लड़के के मूल माता-पिता भी वहाँ पहुँच गये। वस्तुस्थिति सबकी समझ में आ गई।

राजा बालक को ले कर बुद्ध के पास आया और बोला—"भन्ते! बुद्धानुस्मृति से ही इस बालक की रक्षा हुई है।"

—**धम्मपद-अट्ठकथा**, २१-५ के आधार से।

समीक्षा

नमो बुद्धस्स और **नमो अरहन्तानं** का शब्द-प्रयोग तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत ही रोचक हो जाता है। दोनों परम्पराओं का वन्दन-सूक्त बहुत ही समान शैली से प्रसूत हुआ है। 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' के शब्द-प्रयोग भी दोनों परम्पराओं की समान धारणाओं के सूचक हैं। जैन-परम्परा भी उक्त अभिप्राय में 'सम्यग्-दृष्टि' और 'मिथ्या-दृष्टि' का प्रयोग करती है।

प्रस्तुत घटना-प्रसंग का शेष महत्त्व एक दन्तकथा के रूप में ही रह जाता है।

(४६) निर्ग्रन्थों को दान

राजगृह में एक ब्राह्मण रहता था। वह सारिपुत्त का मामा था। सारिपुत्त स्थविर ने एक बार अपने मामा से पूछा—"विप्रवर! कोई पुण्य-कर्म करते हो?"

"भन्ते! ब्रह्मलोक जाने के लिए प्रति मास एक सहस्र मुद्राएँ व्यय कर निर्ग्रन्थों को दान देता हूँ।"

सारिपुत्र-ब्राह्मण को साथ लेकर बुद्ध के पास आये। ब्राह्मण से कहा—"ब्रह्मलोक जाने का मार्ग बुद्ध से पूछो।" ब्राह्मण ने वैसा ही किया। भगवान् ने कहा—"इस प्रकार के सौ वर्ष तक दिये गये दान से भी मेरे भिक्षुओं को मुहूर्तमात्र प्रसन्न चित्त से देखना या उन्हें कुड़छी भर भिक्षा देना श्रेष्ठ है।"[1]

—**धम्मपद-अट्ठकथा**, ८-५ के आधार से।

---

१. मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सतं समं।
एकञ्च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं॥ —धम्मपद, १०६

समीक्षा

धम्मपद-अट्ठकथा के रचयिता ने **धम्मपद** की प्रत्येक गाथा पर कोई एक कथा लिख देना आवश्यक ही समझा है, ऐसा लगता है। बहुत सम्भव है, इस हेतु उन्हें बहुत सारी कथाएँ अपनी ओर से ही गढ़ देनी पड़ी हों। निर्ग्रन्थ अपने लिए पकाया व अपने लिए खरीदा अन्न, वस्त्र आदि ग्रहण नहीं करते। इस स्थिति में यह कथा-वस्तु संदिग्ध ही रह जाती है।

सारिपुत्त के मामा को यहाँ निर्ग्रन्थ-उपासक माना गया है। बुद्ध के चाचा निर्ग्रन्थ-उपासक थे ही। इससे इतना तो प्रतीत होता ही है कि निर्ग्रन्थ-धर्म और बौद्ध-धर्म अनेक परिवारों में घुले-मिले ही चलते थे।

लगता है, दोनों परम्पराओं की दान-विषयक धारणा बहुत कुछ समान रही है। अपने-अपने भिक्षुओं को दिया गया दान ही दोनों परम्पराओं में पात्र-दान माना गया है। फिर भी निर्ग्रन्थों को देने से ब्रह्मलोक ही मिले, ऐसा कोई विशेष उल्लेख निर्ग्रन्थ-परम्परा में नहीं मिलता।

(४७) नालक परिव्राजक

असित ऋषि ने नालक परिव्राजक से कहा—"लोक में बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। जिज्ञासाओं के समाधान के लिए तुम वाराणसी चले जाओ।" वह वहाँ गया। वहाँ उसने एक-एक कर काश्यप पूरण यावत् निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र से तत्त्व-चर्चा की। किसी से उसे सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में बुद्ध के पास गया और अपनी जिज्ञासा का समाधान पा कर सन्तुष्ट हुआ।

—*Mahavastu*, Tr. by J. J. Jones, Vol. III, p. 379-388 के आधार से।

समीक्षा

यह प्रसंग महायान-परम्परा का है। हीनयान-परम्परा में भी **नालक सुत्त**[1] में यही कथा-प्रसंग उपलब्ध होता है, पर वहाँ बुद्ध के अतिरिक्त अन्य धर्म-नायकों का उल्लेख नहीं है।

(४८) जिन-श्रावकों के साथ

एक बार बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। भिक्षुओं को आमंत्रित कर बोले—"भिक्षुओ! मैं प्रव्रजित हो, वैशाली गया। वहाँ अपने तीन सौ शिष्यों के साथ आराड़-कालाम रहते थे। मैं उनके पास गया। वे अपने जिन-श्रावकों को कहते—'त्याग करो, त्याग करो।' जिन श्रावक कहते—'हम त्याग करते हैं, हम त्याग करते हैं।'

---

१. सुत्तनिपात, ३७।

"मैंने आराड़-कालम से कहा—'मैं भी आपका शिष्य होना चाहता हूँ।' उन्होंने कहा—'जैसा तुम चाहते हो, वैसा करो।' मैं शिष्य रूप में वहाँ रहने लगा। जो उन्होंने सिखाया, वह मैंने सीखा। मेरी मेधा से वे प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—'जो मैं जानता हूँ, वही यह गौतम जानता है। अच्छा हो, गौतम! हम दोनों मिल कर संघ का संचालन करें।' इस तरह कह उन्होंने मुझे सम्मानित पद दिया।

"मुझे लगा—'इतना-सा ज्ञान पाप-नाश के लिए पर्याप्त नहीं है। मुझे और गवेषणा करनी चाहिए।' यह सोच मैं राजगृह आया। वहाँ अपने सात सौ शिष्यों के परिवार से उद्रक रामपुत्र रहते थे। वे भी अपने जिन-श्रावकों को वैसा ही कहते थे। मैं उनका भी शिष्य बना। उनसे भी मैंने बहुत कुछ सीखा। उन्होंने भी मुझे सम्मानित पद दिया। पर मुझे लगा—'इतना ज्ञान भी पाप-क्षय के लिए पर्याप्त नहीं है। मुझे और अन्वेषण करना चाहिए।' यह सोच मैं वहाँ से भी चल पड़ा।"

—*Mahavastu*, Tr. by J. J. Jones, Vol. II, pp. 114-117 के आधार से।

समीक्षा

यहाँ 'जिन-श्रावक' शब्द का प्रयोग आराड़ कालाम, उद्रक रामपुत्र व उनके अनुयायियों का निगण्ठ धर्मी होना सूचित करता है। यह प्रकरण महावस्तु ग्रन्थ का है, जो महायान का प्रमुख ग्रन्थ है। महायान के त्रिपिटक पालि में न हो कर संस्कृत में हैं। पालि त्रिपिटकों में जिस अभिप्राय में 'निगण्ठ' शब्द आता है, उसी अर्थ में यहाँ 'जिन-श्रावक' शब्द आया है।[1]

इस प्रसंग से यह तो विशेष रूप से स्पष्ट होता ही है कि बुद्ध ने 'जिन-श्रावकों' के साथ रह कर बहुत कुछ सीखा व पाया।

(४६) भद्रा कुण्डलकेशा

भद्रा कुण्डलकेशा राजगृह के एक श्रीमन्त की कन्या थी। उसका पिता राजकीय कोषाध्यक्ष था। भद्रा सुरूप व गुणवती थी। एक दिन प्रासाद में बैठे उसने देखा, आरक्षक एक सुन्दर तरुण को बन्दी बनाये वध-स्थान की ओर ले जा रहे हैं। भद्रा उस तरुण के लावण्य पर मुग्ध हुई। उसने हठ पकड़ा—"मेरा विवाह इसी तरुण के साथ हो।" माता-पिता ने बहुत समझाया; पर वह नहीं मानी। उसके पिता ने आरक्षकों को धन दे कर प्रच्छन्न रूप से उस वध्य को बचा लिया।

वह राजगृह के राज-पुरोहित का पुत्र था। उसका जन्म भी उसी दिन हुआ, जिस दिन भद्रा का हुआ था। वह चोर नक्षत्र में जन्मा था, इसलिए उसका नाम सत्थुक था।

१. Cf. *Mahavastu*, Tr. By J. J. Jones, Vol. II, p. 114 n.

चोरी के अपराध में ही उसे प्राण-दण्ड मिला था। दोनों का विवाह हो गया। कुछ दिन ही गृह-जीवन सुख से चला। सत्थुक के मन में फिर चोरी करने की आने लगी।

एक दिन उसने भद्रा से कहा—"मैंने प्राण-दण्ड के समय देवार्चा की मनौती की थी। बहुत दिन हुए, अब उसे पूरी करना है। सुन्दर वस्त्र और सुन्दर आभूषण पहन तुम मेरे साथ चलो। हम पर्वत पर चलेंगे।" भद्रा ने वैसा ही किया। पर्वत पर पहुँच कर सत्थुक ने भद्रा से कहा—"सब आभूषण खोल दो और मरने के लिए तैयार हो जाओ। मैं जन्म-जात चोर हूँ। तुम निरी मूर्ख हो, जो मेरे साथ लगी।" भद्रा सहम गई। उसने कहा—"प्राणेश! मेरा अब कोई सहारा नहीं है। तुम मुझे मारोगे और आभूषण लोगे। तुम्हारे से अन्तिम विदा लेती हुई मैं एक बात चाहती हूँ; पूरी करोगे? मैं सर्वांग आलिंगन चाहती हूँ। फिर मुझे मरना भी सुखकर होगा।" सत्थुक इसके लिए सहमत हुआ। भद्रा ने पीठ की ओर से आलिंगन करते, उसे ऐसा धक्का दे मारा कि पर्वत के शिखर से लुढ़कते वह बहुत ही गहरे गर्त में जा गिरा।

भद्रा ने सोचा—"अब मैं नगर में अपने माता-पिता को कैसे मुँह दिखाऊँगी? मैंने सब के रोकते-रोकते सत्थुक के साथ विवाह किया और उसका परिणाम यह निकला।" वह पर्वत से नीचे उतर कर एक श्वेत वस्त्रधारी निगण्ठों के संघ में प्रव्रजित हो गई। वहाँ उसका लुंचन हुआ। लुंचन के पश्चात् उसके मस्तक पर कुण्डलाकार केश आये; अतः उसका नाम भद्रा कुण्डलकेशा पड़ा। उसने शास्त्राभ्यास किया। तर्क-वितर्क में कुशल हुई। निगण्ठ-धर्म से असन्तुष्ट हो कर स्वतंत्र विहार करने लगी। प्रत्येक गाँव में वह पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देती। चुनौती का उसका प्रकार था—ग्राम के बाहर धूलि जमा कर जामुन की शाखा रोप देती। लोगों से कहती—"जो इसे बालकों से रौंदवा देगा, वह मुझ से शास्त्रार्थ करेगा।" अनेक विद्वानों को उसने पराजित किया।

एक बार श्रावस्ती में अग्रश्रावक सारिपुत्त से उसका शास्त्रार्थ हुआ। सारिपुत्त से उसने अनेक प्रश्न पूछे। सारिपुत्त ने उनका यथार्थ उत्तर दिया। अन्त में सारिपुत्त ने उससे एक प्रश्न किया—"एक सत्य क्या है, जो सब के लिए मान्य हो?" भद्रा उत्तर नहीं दे सकी। श्रद्धापूर्वक उसने कहा—"भन्ते! मैं आपकी शरण हूँ।" सारिपुत्त ने कहा—"शास्ता की शरण लो, तुम्हें शान्ति मिलेगी।"

वह बुद्ध के पास गई। बुद्ध ने उसे कहा—"अनर्थ पदों से युक्त सौ गाथाएँ कहने की अपेक्षा धर्म का एक पद भी कहना श्रेष्ठ है, जिसे सुन कर उपशम होता है।" यह सुन कर भद्रा अर्हत् हुई। शास्ता ने उसे प्रव्रजित किया।

—धम्मपद अट्ठकथा, ८।३; थेरीगाथा अट्ठकथा, पृ० ९९ के आधार से।

शास्ता के उपदेशों का विस्तार करती वह मगध, कोसल, काशी, वज्जी, अंग आदि देशों में विहार करती रही।[1] बुद्ध ने उसे प्रखर प्रतिभा में अग्रगण्या कहा।[2]

समीक्षा

प्रसंग बहुत ही सरस व घटनात्मक है। बुद्ध की प्रमुख शिष्या का पहले निगण्ठ-संघ में दीक्षित होना, एक विशेष बात है। केश-लुंचन व श्वेत वस्त्रधारी निगण्ठों का उल्लेख ऐतिहासिक महत्त्व का है।

(५०) ज्योतिर्विद् निगण्ठ

गंगा नदी के किनारे एक ब्रह्मचारी निगण्ठ रहता था। उसके ५०० अनुयायी थे। वह ज्योतिर्मण्डल का ज्ञाता था। वह ग्रहों और नक्षत्रों के उदयास्त देख कर भविष्य बताता। एक दिन गंगा नदी के किनारे अपने अनुयायिओं के साथ वह भाग्य सम्बन्धी चर्चा कर रहा था। उस चर्चा-प्रसंग में प्रश्न उठा—"भाग्य कहते किसे हैं?" उन्हें परस्पर के संलाप से कोई सन्तोष-जनक समाधान नहीं मिला, तब वे सब बोधि-वृक्ष के पास आये और उन्होंने तथागत से यह प्रश्न पूछा। तथागत को कुछ ही समय पूर्व यहाँ बोधि-लाभ हुआ था। शास्ता ने संयम, साधना आदि गुणों का कथन किया और कहा—इन्हें जो धारण किये रहता है, वह भाग्यशाली है।

शास्ता के इस उत्तर से सब प्रभावित हुए और शास्ता के पास प्रव्रजित हुए।

—चीनी **धम्मपद कथा** के आधार पर ; S. Beal, Dhammapada (Tr. from Chinese). Susil Gupta (India) Ltd. Calcutta, 1952, pp. 103-4.

समीक्षा

जैन-कथा-साहित्य में इस प्रकार के घटना-प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। यह घटना इतना अवश्य व्यक्त करती है कि बुद्ध के बोधि-लाभ से पूर्व भी निगण्ठ लोग बड़े-बड़े समुदायों में विद्यमान थे। जैन-कथा-साहित्य में ऐसे प्रसंग बहुत अल्प हैं, जिनमें बौद्ध-भिक्षु निगण्ठ-शासन में प्रवेश करते हैं ; जब कि बौद्ध-कथा-साहित्य में प्रस्तुत प्रकार के कथा-प्रसंगों की बहुलता है। इससे निगण्ठों की पूर्ववर्तिता स्पष्टतः व्यक्त होती है। बुद्ध से महावीर के ज्येष्ठ होने का भी यह एक स्पष्ट आधार बनता है।

(५१) धूलि-धूसरित निगण्ठ

उत्तरवर्ती प्रदेश में उस समय ५०० ब्राह्मण रहते थे। उन्होने सोचा, गंगा के किनारे एक निगण्ठ साधु रहता है। वह तपस्वी है, अपने शरीर को धूलि-धूसरित रखता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए हमें उसके पास चलना चाहिए। वे वहाँ से चले। घने जंगल में वे

---

१. थेरी गाथा, १०७-११।
२. अंगुत्तर निकाय, एकक्कनिपात, १४।

प्यासे हो गये। प्यास से पीड़ित हो क्रन्दन करने लगे। उस वन के एक वृक्ष से एक भूत प्रकट हुआ। उसने सबको पानी पिलाया। ब्राह्मणों के सम्मुख उसने बुद्ध की प्रशंसा की। वे ब्राह्मण निगण्ठ के पास न जा कर, बुद्ध के पास श्रावस्ती आ गये। बुद्ध ने कहा—नंगे रहने से, जटा रखने से, धूलि-धूसरित होने से, उपवास करने से, भूमि पर सोने से किसी का कल्याण नहीं होगा। कल्याण तो आत्म-गुणों के विकास से होता है।

यह सब सुन कर ५०० ब्राह्मण श्रमण बन गये।

—चीनी धम्मपद की कथा के आधार पर ; S. Beal, *op. Cit,* P. 54.

*

: १८ :

आचार-ग्रन्थ और आचार-संहिता

आचार और परम्परा का पहलू भी दोनों धर्म-संघों के तुलनात्मक अन्वेषण का सुन्दर विषय बनता है। आचार और परम्परा की चर्चा समग्र आगम और त्रिपिटक साहित्य में छितरी पड़ी है, पर मुख्यतः जैनाचार की सूचना **निशीथ** देता है और बौद्ध-आचार की सूचना **विनयपिटक**।

निशीथ

जैन-आगम प्रचलित विभाग-क्रम के अनुसार चार प्रकार के हैं—(१) अङ्ग, (२) उपाङ्ग (३) मूल और (४) छेद। छेद-विभाग में **निशीथ** एक प्रमुख आगम है। इसकी अपनी कुछ स्वतंत्र विशेषताएँ हैं। इसका अध्ययन वही साधु कर सकता है, जो तीन वर्ष से दीक्षित हो और गाम्भीर्य गुणोपेत हो। प्रौढ़ता की दृष्टि से कक्षा में बाल वाला १६ वर्ष का साधु ही **निशीथ** का वाचक हो सकता है।[1] **निशीथ** का ज्ञाता हुए बिना कोई साधु अपने सम्बन्धियों के घर भिक्षार्थ नहीं जा सकता[2] और न वह उपाध्यायादि पद के उपयुक्त भी माना जा सकता है।[3] साधु-मण्डली का अगुआ होने में और स्वतन्त्र विहार करने में भी **निशीथ** का ज्ञान आवश्यक माना गया है।[4] क्योंकि निशीथज्ञ हुए बिना कोई साधु प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं हो सकता। इन सारे विधि-विधानों से **निशीथ** की महत्ता भली-भाँति व्यक्त हो जाती है।

रचना-काल और रचयिता

परम्परागत धारणाओं के अनुसार सभी आगम महावीर की वाणीरूप हैं। अङ्ग आगमों का संकलन पंचम गणधर व महावीर के उत्तराधिकारी श्री सुधर्मास्वामी के द्वारा हुआ। अङ्गेतर आगमों का संकलन बहुश्रुत व ज्ञान-स्थविर मुनियों द्वारा हुआ। **निशीथ** भी अङ्गेतर आगम है ; अतः वह स्थविर कृत है, यह कहा जा सकता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह महावीर की वाणी से कहीं दूर चला गया है। अर्थागम रूप से सभी

---

१. निशीथ चूर्णि, गा० ६२६५ ; व्यवहार सूत्र, उद्दे० १०, गा० २०-२१ तथा व्यवहार भाष्य, उद्दे० ७, गा० २०२-३।

२. व्यवहार सूत्र, उद्दे० ६, सू० २, ३।

३. वही, उद्दे० ३, सू० ३।

४. वही, उद्दे० ३ सू० १।

आगम भगवत्प्रणीत हैं। सूत्रागम रूप से वे गणधर कृत या स्थविर कृत हैं। आगम-प्रणेता स्थविर भी पूर्वधर होते हैं। उनका प्रणयन उतना ही मान्य है, जितना गणधरों का। अब प्रश्न रहता है, रचयिता के नाम और रचना-काल का। भाष्य, चूर्णि व निर्युक्ति से रचयिता के सम्बन्ध में अनेक अभिमत निकलते हैं। **निशीथ** का अन्य नाम **'आचार प्रकल्प'** व **'आचारांग'** है। **आचारांग चूर्णि** के रचयिता ने इस सम्बन्ध से चर्चा करते हुए 'स्थविर' शब्द का अर्थ 'गणधर' किया है।[1] **आचारांग निर्युक्ति** की **थेरेहिं** (गा० २८७) के स्थविर शब्द की व्याख्या आचार्य शीलांक ने इस प्रकार की है—**'स्थविरै श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविभिः।'** यहाँ श्रुतवृद्ध चतुर्दश पूर्वधर मुनि को स्थविर कहा है। **पंचकल्प भाष्य** की चूर्णि में बताया गया है—"इस आचार प्रकल्प का प्रणयन भद्रबाहु स्वामी ने किया है।" निशीथ सूत्र की कतिपय प्रशस्ति गाथाओं के अनुसार इसके रचयिता विशाखाचार्य प्रमाणित होते हैं।[2] इस प्रकार **निशीथ** के सम्बन्ध से किसी एक ही कर्त्ता विशेष को पकड़ पाना कठिन है। तत्सम्बन्धी मतभेदों का कारण **निशीथ** की अपनी अवस्थिति भी हो सकती है। ऐतिहासिक गवेषणाओं से यह स्पष्ट होता है कि **निशीथ सूत्र** प्रारम्भ में **आचारांग सूत्र** की चूला रूप था। ऐतिहासिक आधारों से यह भी स्पष्ट होता है, **आचारांग** स्वयं पहले नव अध्ययनों तक ही गणधर-रचित द्वादशांगी का प्रथम अङ्ग था। क्रमशः स्थविरों ने इसके आचार-सम्बन्धी विधि-विधानों का पल्लवन किया और प्रथम, द्वितीय, तृतीय चूलिकाओं के रूप में उन्हें इस अङ्ग के साथ संलग्न किया। साधुजन आचार-सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करे तो उनके लिए प्रायश्चित्त-विधान का एक स्वतन्त्र प्रकरण स्थविरों ने बनाया और चूला के रूप में **आचारांग** के साथ जोड़ दिया। यह प्रकरण नवम पूर्व के **'आचार वस्तु'** विभाग से निकाला गया था। इसका विषय **आचारांग** से सम्बन्धित था, अतः वहीं वह एक चूला के रूप में संयुक्त किया गया। **निशीथ** का एक नाम **'आचार'** भी है। हो सकता है, वह इसी बात का प्रतीक हो। आगे चल कर स्थविरों द्वारा गोप्यता आदि कारणों से वह चूला **आचारांग** से पुनः पृथक् हो गई। उसका नाम **निशीथ** रखा गया और वह स्वतंत्र आगम के रूप में छेद-सूत्र का एक प्रमुख अङ्ग बन गया। कर्त्ता के सम्बन्ध में नाना धारणाएँ

---

१. स्याणि पुण आयारग्गाणि आयार चेव निज्जूढाणि।
केण णिज्जूढाणि ? थेरेहिं (२८७) थेरा—गणधरा; ॥ —आचारांग चूर्णि, पृ० ३३६

२. दंसणचरित्तजुत्तो, जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसु।
नामेण विसाहगणी, महत्तरओ गुणाण मंजूसा ॥१॥
कित्तीकंतिपिणद्धो, जसपत्तो (दो) पडहो तिसागरनिरुद्धो।
पुणरुत्तं भाई भहिं, ससिव्व गगणं गुणं तस्स ॥२॥
तस्स लिहियं निसीहं, धम्मधुराधरणपवरपुज्जस्स।
आरोग्गं धाएणिज्जं, सिस्सपसिस्सोवभोज्जं च ॥३॥
—निशीथ सूत्रम्, चतुर्थ विभागः, पृ० ३९५

चूर्णि और भाष्य में मिल रही हैं। विभिन्न अपेक्षाओं से हो सकता है, वे सभी सही हों। इस घटनात्मक इतिहास में किसी अपेक्षा से उसके कर्ता भद्रबाहु मान लिये गये हों और किसी अपेक्षा से विशाखाचार्य।

ऐतिहासिक दृष्टिपात से **निशीथ सूत्र** का रचना-काल बहुत प्राक्तन प्रमाणित होता है। श्री दलसुख मालवणिया के मतानुसार यह भद्रबाहु कृत हो या विशाखाचार्य कृत, वीर निर्वाण से १५० या १७५ वर्षों के अन्तर्गत ही रचा जा चुका था।[1] अस्तु, यह माना जा सकता है, यह ग्रन्थ अर्थागम रूप से २५०० वर्ष तथा सूत्रागम रूप से २३०० वर्ष प्राचीन है।

निशीथ शब्द का अभिप्राय

'निशीथ' शब्द का मूल आधार '**निसीह**' शब्द है। कुछ एक ग्रन्थकारों ने '**णिसिहिय**', '**णिसीहिय**' और '**णिसेहिय**' नाम से इस आगम को अभिव्यक्त किया है तथा इसका सम्बन्ध संस्कृत के '**निषिद्धिका**' शब्द से जोड़ा है। इसका अभिप्राय होता है, निषेधक शास्त्र। यह व्याख्या मुख्यतः दिगम्बरीय **धवला, जय धवला, गोम्मटसार टीका** आदि ग्रन्थों की है। पश्चिमी विद्वान वेबर ने भी इसी अर्थ को मान्यता दी है।[2]

तत्त्वार्थ भाष्य में '**निसीह**' शब्द का संस्कृत रूप 'निशीथ' माना है। निर्युक्तिकार ने भी यही अर्थ अभिप्रेत माना है। चूर्णिकार के मतानुसार निशीथ शब्द का अर्थ है—अप्रकाश[3]। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं : "**निशीथस्त्वर्धरात्रो**"[4] अर्थात् निशीथ शब्द का अर्थ है—अर्ध रात्रि। सारांश यह हुआ एक परम्परा के अनुसार इस आगम का नाम है—'निषेधक' तो एक मान्यता के अनुसार इसका नाम है—'अप्रकाश्य'। **निशीथ सूत्र** के अन्तर्गत जो विषय है, उसके साथ दोनों ही नामों की संगति बैठ सकती है। परिषद् में इसका वाचन न किया जाये, इस चिर-मान्यता के अनुसार वह अप्रकाश्य ही है और इसमें अकरणीय कार्यों की तालिका है ; अतः यह निषेधक भी है। फिर भी यथार्थ रूप में निषेधक आगम **आचारांग** को ही मानना चाहिए, जिसकी भाषा है—साधु ऐसा न करें।

निशीथ सूत्र की भाषा आदि से अन्त तक एक रूप है और वह यह कि साधु अमुक कार्य करे तो अमुक प्रकार का प्रायश्चित्त। इस दृष्टि से 'निषेधक' की अपेक्षा 'अप्रकाश्य'

---

१. निशीथ सूत्रम्, चतुर्थ भाग में 'निशीथः एक अध्ययन', प्र० सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा, १९६०, पृ० २५।

२. The name (निसीह) is explained strangely enough by Nishitha though the character of the contents would lead us to expect Nisheda (निषेध)।
—Indin Antiquary, Vol. 21, p. 97.

३. णिसीहमप्रकाशम्। —निशीथ चूर्णि, गा० ६८, १४८३

४. अभिधान चिन्तामणि कोश (नाममाला), २-५९।

अर्थ यथार्थता के कुछ निकट हो आता है। निशीथ में काम-भावना-सम्बन्धी कुछ एक प्रकरण ऐसे हैं, जो सचमुच ही गोप्य हैं। इस दृष्टि से भी उसका 'अप्रकाश्य' अर्थ संगत ही है।

मूल और विस्तार

निशीथ सूत्र मूलतः न अति विस्तृत है, न अति संक्षिप्त। इसमें २० उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक का विषय कुछ सम्बद्ध है, कुछ प्रकीर्णक है। अन्तिम उद्देशक में प्रायश्चित्त करने के प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। भाषा अन्य जैन-आगमों की तरह अर्धमागधी है। बहुत सारे स्थलों पर भाव अति संक्षिप्त हैं। उनकी यथार्थता को समझने के लिये अपेक्षाएँ खोजनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ—जो साधु अपने आँखों के मैल को, कानों के मैल को, दाँतों के मैल को व नाखूनों के मैल को निकालता है, विशुद्ध करता है, निकालते व विशुद्ध करते किसी अन्य को अच्छा समझता है तो उसे लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है। जो साधु अपने शरीर का स्वेद, विशेष स्वेद, मैल, जमा हुआ मैल निकाले, शुद्ध करे, निकालते हुए को, विशुद्ध करते हुए को अच्छा जाने तो वह मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।[1] जो साधु दिन का लाया हुआ आहार दिन को भोगे, तो वह गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।[2] यहाँ शोभा, आसक्ति, प्रथम प्रहर का चतुर्थ प्रहर में आदि निमित्त ऊपर से न जोड़े जायें तो भाव बुद्धिगम्य नहीं बनते। बीस उद्देशकों में कुल मिला कर १६५२ बोल हैं अर्थात् इतने कार्यों पर प्रायश्चित्त-विधान है।

भाव-भाषा संक्षिप्त है, इसलिए आगे चलकर आचार्यों द्वारा इस पर चूर्णि, निर्युक्ति, भाष्य आदि लिखे गये। इस प्रकार कुल मिलाकर यह एक महाग्रन्थ बन जाता है। तथापि आगम रूप से मूल **निशीथ** ही माना जाता। व्याख्याएँ कहीं-कहीं तो मूल आगम की भावना से बहुत ही दूर चली गई हैं ; अतः वे जैन-परम्परा में सर्व मान्य नहीं हैं। प्रस्तुत प्रकरण में मूल आगम ही विवेचन और समीक्षा का विषय है।

विनय पिटक

बौद्ध-धर्म के आधारभूत तीन पिटकों में एक **विनय पिटक** है। पारम्परिक धारणाओं के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के अनन्तर ही महाकाश्यप के तत्त्वावधान में प्रथम बौद्ध संगीति

---

१. जे भिक्खु अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा, णहमलं वा, णहिरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णिहरंतं वा, विसोहंतं वा, साइज्जइ।
जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेयं वा, जलं वा, पंकं वा, मलं वा णिहरेज्ज वा, विसोहेज्ज वा, णिहरंतं वा, विसोहंतं वा, साइज्जइ। —निशीथ सूत्र, उ० ३, बोल ६६-७०

२. जे भिक्खु दिया असणं वा, ४ पडिग्गहित्ता दिया भंजइ, दिया भुंजंतं वा साइज्जइ।
—निशीथ सूत्र, उ० ११, बोल १७६

हुई और वहीं त्रिपिटक साहित्य का प्रथम प्रणयन हुआ है। विनयपिटक के अन्तिम प्रकरण चुल्लवग्ग के पंचशतिका खंधक में विनयपिटक की रचना का ब्योरा देते हुए बताया गया है :

आयुष्मान् महाकाश्यप ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—"एक समय मैं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ पावा और कुसिनारा के बीच जंगल में था। मार्ग से हट कर एक वृक्ष के नीचे बैठा था। एक आजीवक उस समय मन्दार-पुष्प लेकर पावा के उसी मार्ग से जा रहा था। मैंने उससे पूछा—'आवुस ! हमारे शास्ता को जानते हो ?'

"आजीवक ने उत्तर दिया—'हाँ, आवुस ! जानता हूँ, श्रमण गौतम को परिनिर्वाण प्राप्त हुए एक सप्ताह हुआ है। मैंने यह मन्दार-पुष्प वहीं से लिया है।'

"श्रमण गौतम की स्मृति मात्र से कुछ अवीतराग भिक्षु बाँह पकड़ कर रोने लगे, कुछ कटे वृक्ष के सदृश गिर पड़े, लोटने लगे और कहने लगे, भगवान् बहुत शीघ्र ही परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये। किन्तु जो वीतराग भिक्षु थे, वे स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ उसे सहन कर रहे थे और समचित्त होकर सोच रहे थे, संस्कार (कृत वस्तुएँ) अनित्य हैं। वे अब कहाँ मिलेंगे ?

"सुभद्र नामक एक वृद्ध परिव्राजक भी उस समय उस परिषद् में बैठा था। उसने कहा—'भिक्षुओ ! शोक मत करो। रोओ मत। श्रमण गौतम की मृत्यु से हम सुयुक्त हो गये। उससे हम बहुधा पीड़ित रहा करते थे। वह हमें पुनः-पुनः कहा करता था ; यह तुम्हें विहित है और यह विहित नहीं है। अब हम स्वतंत्र हैं। जो चाहेंगे, करेंगे, नहीं चाहेंगे, नहीं करेंगे।'

"अच्छा हो, अब हम धर्म और विनय का संगायन करें। अधर्म प्रकट हो रहा है और धर्म को हटाया जा रहा है ; अविनय प्रकट हो रहा है और विनय को हटाया जा रहा है ; अधर्मवादी बलवान् हो रहे हैं और धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं ; विनयवादी हीन हो रहे हैं और अविनयवादी पुष्ट हो रहे हैं।"

भिक्षुओं ने समवेत स्वर से प्रस्ताव रखा—"तो भन्ते ! आप स्थविर भिक्षुओं का चुनाव करें।" महाकाश्यप ने उस प्रस्ताव को स्वीकार किया और चार सौ निन्नानवे अर्हत् भिक्षुओं का चुनाव किया। भिक्षुओं ने महाकाश्यप से निवेदन किया—"भन्ते ! यद्यपि आनन्द शैक्ष्य (अन-अर्हत्) हैं, फिर भी छन्द (राग), द्वेष, मोह, भय, अगति (कुमार्ग) पर जाने के अयोग्य हैं। इन्होंने भगवान् के पास बहुत धर्म और विनय प्राप्त किया है ; अतः इन्हें भी चुनें।" आयुष्मान् महाकाश्यप ने आनन्द को भी चुना। इस प्रकार पाँच सौ भिक्षुओं का चुनाव सम्पन्न हो गया।

स्थान का विमर्षण करते हुए स्थविर भिक्षुओं ने राजगृह का निर्णय लिया ; क्योंकि

यह नगर महागोचर[1] और विपुल शयनासन-सम्पन्न था। वहीं वर्षावास करते हुए धर्म और विनय के संगायन का निश्चय किया। साथ ही यह भी निर्णय लिया कि अन्य भिक्षु इस अवधि में राजगृह न आयें।

आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया और अनुश्रावण किया। संघ जब मौन रहा तो महाकाश्यप ने दूसरी बार और तीसरी बार भी वैसे ही किया। 'संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं के राजगृह में वर्षावास करने, धर्म व विनय का संगायन करने तथा वहाँ अन्य भिक्षुओं के अनागमन से सहमत है ; अतः चुप है', यह मैं धारणा करता हूँ।

संघ से अनुमति पाकर स्थविर भिक्षु धर्म और विनय के संगायन के लिए राजगृह आये। उनके मन में आया, भगवान् ने कहा है, सर्व प्रथम टूटे-फूटे को सुसज्ज करो ; अतः प्रथम मास में यही करेंगे और द्वितीय मास में एकत्रित होकर संगायन करेंगे।

आयुष्मान् आनन्द ने सोचा, शैक्ष्य रहते हुए मैं सन्निपात (गोष्ठी) में जाऊँ ; यह मेरे लिए उचित नहीं होगा। रात का अधिकांश समय उन्होंने काय-स्मृति में बिताया। प्रातः काल लेटने के अभिप्राय से जब शरीर को फैलाया ; पैर भूमि तक नहीं पहुँच पाये थे और सिर अधान तक ; इसी बीच उनका चित्त आस्रवों से मुक्त हो गया। आयुष्मान् आनन्द अर्हत् होकर ही सन्निपात में गये॥

आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया—"आवुसो ! संघ सुने , यदि संघ चाहता हो तो मैं उपालि से विनय पूछूँ ?"

आयुष्मान् उपालि ने भी संघ को ज्ञापित किया—"भन्ते ! संघ सुने, यदि संघ चाहता हो तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप द्वारा पूछे गये विनय का उत्तर दूँ।"

आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् उपालि को कहा—

"आवुस ! उपालि ! प्रथम पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गई ?"

"भन्ते ! राजगृह में।"

"किसको लक्षित कर ?"

"सुदिन्न कलन्द-पुत्त को लक्षित कर।"

"किस विषय में ?"

"मैथुन धर्म में।"

महाकाश्यप ने उसके अनन्तर उपालि से प्रथम पाराजिका की कथा भी पूछी, निदान भी पूछा, पुद्गल (व्यक्ति) भी पूछा, प्रज्ञप्ति (विधान) भी पूछी, अनुप्रज्ञप्ति (सम्बोधन) भी पूछी, आपत्ति (दोष-दण्ड) भी पूछी और अनापत्ति भी पूछी।

---

१. आराम के निकट सघन बस्ती वाला।

"उपालि ! द्वितीय पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?"

"भन्ते ! राजगृह में।"

"किसको लक्षित कर ?"

"धनिय कुम्भकार-पुत्त को लक्षित कर।"

"किस विषय में ?"

"अदत्तादान में।"

इसके साथ ही उपालि से द्वितीय पाराजिका की कथा, निदान, पुद्गल, प्रज्ञप्ति, अनुप्रज्ञप्ति, आपत्ति और अनापत्ति भी पूछी।

"उपालि ! तृतीय पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गई ?"

"भन्ते ! वैशाली में।"

"किसको लक्षित कर ?"

"बहुत से भिक्षुओं को लक्षित कर।"

"किस विषय में ?"

"मनुष्य-विग्रह (नर-हत्या) के विषय में।"

इसके साथ ही तृतीय पाराजिका की कथा, निदान, पुद्गल, प्रज्ञप्ति, अनुप्रज्ञप्ति, आपत्ति और अनापत्ति भी पूछी और उपालि ने उन सबका सविस्तार उत्तर दिया।

"उपालि ! चतुर्थ पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?"

"भन्ते ! वैशाली में।"

"किस को लक्षित कर ?"

"वग्गु-मुदा-तीरवासी भिक्षुओं को लक्षित कर।"

"किस विषय में ?"

"उत्तर मनुष्य-धर्म (दिव्य शक्ति) में।"

आयुष्मान् महाकाश्यप ने इसके साथ ही चतुर्थ पाराजिका की कथा, निदान, पुद्गल, प्रज्ञप्ति, अनुप्रज्ञप्ति, आपत्ति और अनापत्ति भी पूछी और उपालि ने उनका सविस्तार उत्तर दिया। इसी प्रकार महाकाश्यप ने भिक्षु-भिक्षुणियों के विनयों को पूछा और उपालि ने उन सबका उत्तर दिया।

ऐतिहासिक-दृष्टि

प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के रचना-सम्बन्ध से पारम्परिक-कथन और गवेषणात्मक ऐतिहासिक-कथन बहुधा भिन्न-भिन्न ही तथ्य प्रस्तुत करते हैं। **विनयपिटक** की भी यही स्थिति है। कुछ एक विद्वानों की राय में तो प्रथम संगीति की बात ही निर्मूल है।

ओल्डनबर्ग का कथन है कि **महापरिनिब्बाण सुत्त** में उक्त संगीति के विषय में कोई उल्लेख नहीं है ; अतः इसकी बात एक कल्पनामात्र ही रह जाती है।[१] फ्रेंक भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहते है—"प्रथम संगीति को मानने का आधार केवल चुल्लवग्ग का ग्यारहवाँ, बारहवाँ प्रकरण है। यह आधार नितान्त पारम्परिक है और इसका महत्त्व मनगढ़न्त कथा से अधिक नहीं है।"[२] परन्तु डॉ० हर्मन जेकोबी उक्त कथन से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है, **महापरिनिब्बाण सुत्त** में इस प्रसंग का उल्लेख करना कोई आवश्यक ही नहीं था।[3] कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि चुल्लवग्ग के उक्त दो प्रकरण वस्तुतः **महापरिनिब्बाण सुत्त** के ही अंग थे और किसी समय **चुल्लवग्ग** के प्रकरण बना दिये गये हैं।[४] वस्तुस्थिति यह है कि **चुल्लवग्ग** के उक्त दो प्रकरण भाव-भाषा की दृष्टि से उसके साथ नितान्त असम्बद्ध-से हैं। **महापरिनिब्बाण सुत्त** के साथ भाव-भाषा की दृष्टि से उनका मेल अवश्य बैठता है। **'संयुक्त वस्तु'** नामक ग्रन्थ में परिनिर्वाण और संगीति का वर्णन एक साथ मिलता है। इससे यह यथार्थ माना जा सकता है कि उक्त दो प्रकरण **महापरिनिब्बाण सुत्त** के ही अङ्गरूप थे। इन आधारों से संगीति की वास्तविकता संदिग्ध नहीं मानी जा सकती, पर उस संगीति के कार्य-क्रम के विषय में अवश्य कुछ चिन्तनीय रह जाता है। उस संगीति में क्या-क्या संग्रहीत हुआ, इस सम्बन्ध से विद्वत् समाज में अनेक धारणाएँ हैं। प्रो० जी० सी० पाण्डे के कथनानुसार **विनयपिटक** व **सुत्तपिटक** का समग्र प्रणयन उस सीमित समय में हो सका, यह असम्भव है।[५] निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **विनयपिटक** में दो संगीतियों का उल्लेख है, पर तीसरी संगीति का नहीं ; जिसका समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दि माना जाता है। सम्राट् अशोक का भी इसमें कोई वर्णन नहीं है, जो कि ई० पू० २६६ में राजगद्दी पर बैठे थे।[६] अतः इससे पूर्व ही **विनयपिटक** का निर्माण हो चुका था, यह असंदिग्ध-सा रह जाता है। **विनयपिटक** का वर्तमान विस्तृत स्वरूप प्रो० जी० सी० पाण्डे के मतानुसार कम से कम पाँच बार अभिवर्धित होकर ही बना है।[७]

---

१. Introduction to the Vinaya Pitaka, XXIX, *Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft*. 1898, pp. 613-94.
२. *Journal of the Pali Text Society*, 1908, pp. 1-80.
३. *Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft*. 1880, p. 184 ff.
४. Finst & Obermiller, *Indian Historical Quarterly*, 1923, S. K. Dutt, *Early Buddhist Monachism*, p. 337.
५. *Studies in the Origins of Buddhism*, p. 10.
६. *History of Buddhist Thought* by Edward J. Thomas, p. 10.
७. *Studies in the Origins of Buddhism* by G. C. Pande, p. 16.

निशीथ सूत्र का रचना-काल महावीर के निर्वाण-काल से १५० या १७५ वर्ष बाद के लगभग प्रमाणित होता है, जो कि ई० पू० ३७५ या ३५० का समय था। **विनयपिटक** का समय ई० पू० ३०० के लगभग का प्रमाणित होता है। तात्पर्य हुआ, दोनों ही ग्रन्थ ई० पू० चौथी शताब्दि के हैं।

भाषा-विचार

जैन-आगमों की भाषा अर्धमागधी और बौद्ध-पिटकों की भाषा पालि कही जाती है। दोनों ही भाषाओं का मूल मागधी है। किसी युग में यह प्रदेश विशेष की लोकभाषा थी। आज भी विहार की बोलियों में एक का नाम 'मगही' है। महावीर का जन्म-स्थान वैशाली (उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर) और बुद्ध का जन्म-स्थान लुम्बिनी था। दोनों स्थानों में सीधा अन्तर २५० मील का माना जाता है। आज भी दोनों स्थानों की बोली लगभग एक है। वैशाली की बोली पर कुछ मैथिली भाषा का और लुम्बिनी (नेपाल की तराई में 'रुमिनदेई' नाम का गाँव) की बोली पर अवधी भाषा का प्रभाव है। दोनों स्थानों की भाषा मुख्यतः 'भोजपुरी' कही जाती है। आज मगही और भोजपुरी को विद्वान् प्राचीन मागधी की सन्तान मानते हैं। हो सकता है, महावीर और बुद्ध दोनों की मातृभाषा एक मागधी ही रही हो। जैन-शास्त्रकारों ने इसे अर्धमागधी कहा है।[1]

अर्धमागधी कहलाने के अनेक कारण माने जाते हैं, प्रदेश विशेष में बोला जाना, अन्य भाषाओं से मिश्रित होना,[2] आगमधरों का विभिन्न भाषा-भाषी होना, आदि।

जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं के आगम शताब्दियों तक मौखिक परम्परा से चलते रहे। बौद्धागम २४ और जैनागम २६ पीढ़ियाँ बीत जाने के पश्चात् लिखे गये हैं। तब तक आगमधरों की मातृभाषा का प्रभाव उन पर पड़ता ही रहा है। आगमों की लेखबद्धता से भाषाओं के जो निश्चित रूप बने हैं, वे एक-दूसरे से कुछ भिन्न हैं। एक रूप का नाम पालि है और दूसरे रूप का नाम अर्धमागधी। दोनों विभिन्न कालों में लिखे गये,; इसलिए भी भाषा-सम्बन्धी अन्तर पड़ जाना सम्भव था। बुद्ध के वचनों को 'पालि'[3] कहा गया है; इसलिए जिस भाषा में वे लिखे गये, उस भाषा का नाम भी पालि ही गया। समग्र आगम-साहित्य के साथ **निशीथ** और **विनयपिटक** का भी यही भाषा-विचार

---

१. (क) भगवं च णं अद्धमागहीए भासाय धम्ममाइक्खइ। —समवायांग सूत्र, पृ० ६०।

(ख) तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स ··· अद्धमागहाए भासाय भासइ ··· सावि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ ··· । —औपपातिक सूत्र।

२. मगदद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारसदेसी भासाणिमयं वा अद्धमागहं। —निशीथ चूर्णि।

३. *Studies in the Origins of Buddhism* by G. C. Pande, p. 573.

है। निम्न दो उदाहरणों से दोनों शास्त्रों की भाषा तथा शैली और अधिक समझी जा सकती है कि वे परस्पर कितनी निकट हैं :

(१) "**जे भिक्खु णवे इमे पडिग्गहं लद्धेत्तिकट्टु, तेलेण वा, घएण वा, णवणीएण वा, वसाएज्ज वा, मक्खेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मक्खंतं वा, भिलिंगंतं वा साइज्जइ।**

जे भिक्खु णवे इमे पडिग्गहं लद्धेत्तिकट्टु, लोद्धेण वा, कक्केण वा, चुण्णेण वा, ण्हाणेण वा, जाव साइज्जइ।

जे भिक्खु णवे इमे पडिग्गहं लद्धेत्तिकट्टु, सीउदग वियडेण वा, उसिणोदग वियडेण वा, उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा, पधोवंतं वा साइज्जइ।"[1]

—जो साधु, मुझे नया पात्र मिला है, ऐसा विचार कर उस पर तेल, घृत, मक्खन, चरबी एक बार लगाये, बार-बार लगाये, लगाते को अच्छा जाने; उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।

जो साधु नया पात्र मिला है, ऐसा विचार कर, उसे लोद्रक, कोष्टक, पद्म चूर्ण आदि द्रव्यों से रंगे, रंगते को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।

जो साधु मुझे नया पात्र मिला है, ऐसा विचार कर, उसे अचित्त (धोवन) ठंडे पानी से, अचित्त गरम पानी से धोये, बार-बार धोये, धोते को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।

(२) "**यो पन भिक्खु जातरूपरजतं उग्गण्हेय्य वा उग्गण्हापेय्य वा उपनिक्खित्तं वा सादियेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति।**

यो पन भिक्खु नानप्पकारकं रूपियसंवोहारं समापज्जेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति।"[2]

—जो कोई भिक्षु सोना या रजत (चाँदी आदि के सिक्के) को ग्रहण करे या ग्रहण करवाये या रखे हुए का उपयोग करे, उसे 'निस्सग्गिय पाचित्तिय' है।

जो कोई भिक्षु नाना प्रकार के रुपयों (सिक्कों) का व्यवहार करे, उसको 'निस्सग्गिय पाचित्तिय' है।

विषय-समीक्षा

'**निशीथ**' के विषय में आगमिक-विधान है—कम-से-कम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला भिक्षु इसका अध्ययन कर सकता है। **निशीथ** व अन्य छेद-सूत्र गोप्य हैं, अतः उनका परिषद् में वाचन नहीं होता और न कोई गृहस्थ विशेष सूत्रागम रूप से उसे पढ़ने का अधिकारी होता है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार **विनयपिटक** के विषय में भी यह मान्यता है कि वह संघ में दीक्षित भिक्षु को ही पढ़ाया जाना चाहिए।[3]

---

१. निशीथ सूत्र, उ० १४, बोल १२, १३, १४।

२. विनयपिटक, पाराजिका पालि, ४-१८, १२५, १३०।

३. विनयपिटक, पाराजिका पालि, आमुख, ले० भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ६।

साधारणतया इस प्रतिबन्धक-विधान को अनावश्यक और संकीर्णता का द्योतक माना जा सकता है, किन्तु वास्तव में इसके पीछे एक अर्थपूर्ण उद्देश्य सन्निहित है। इन ग्रन्थों में मुख्यतया भिक्षु-भिक्षुणियों के प्रायश्चित्त-विधान की चर्चा है। संघ है, वहाँ नाना व्यक्ति हैं। नाना व्यक्ति हैं, वहाँ नाना स्थितियाँ भी होती हैं। भगवान् श्री महावीर ने कहा—"आचार-दृष्टि से एक साधु पूर्णिमा का चाँद है तो एक प्रतिपदा का।"[1] तात्पर्य, भिक्षु-संघ का अभियान साधना की उच्चतम मंजिल की ओर बढ़ने वाला है। पर उस अभियान के सभी सदस्य अपनी गति में कुछ भी न्यूनाधिक न हों, यह स्वाभाविक नहीं है। एक साथ चलने वालों में कोई पीछे भी रह सकता है, कोई लड़खड़ा भी सकता है और कोई गिर भी सकता है; गिरा हुआ पुनः उठ कर चल भी सकता है। इन सारी स्थितियों को ध्यान में रखते हुए संघ-प्रवर्तकों और संघ-नायकों को अनुभूत और आशंकित विधि-विधान सभी गढ़ देने पड़ते हैं। अप्रौढ़ व्यक्ति के लिए उन सबका अध्ययन विचिकित्साएँ पैदा करने वाला बन सकता है। वह उसे संघ के नैतिक पतन का ऐतिहासिक ब्यौरा मान सकता है। ऐसे अनेक कारणों से शास्त्र-प्रणेताओं ने यदि इस प्रकार के शास्त्रों को पढ़ने की आज्ञा सर्वसाधारण को नहीं दी, तो वह किसी असंगति का प्रभाव नहीं है। इनका ध्येय पाप को छिपाने का नहीं, पाप के विस्तार को रोकने का है।

निशीथ और **विनयपिटक** दोनों ही शास्त्रों में अब्रह्मचर्य के नियमन पर खुल कर लिखा गया है। साधारण दृष्टि में वह असामाजिक जैसा भले ही लगता हो, पर शोध के क्षेत्र में गवेषक विद्वानों के लिए विधि-विधान व चिन्तन के नाना द्वार खोलने वाला है।

निशीथ के अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी प्रायश्चित्त-विधान

(१) जो साधु हस्तकर्म करता है, करते को अच्छा समझता है, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[2]

(२) जो साधु अंगुलि आदि से शिश्न को संचालित करे, करते को अच्छा समझे; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[3]

(३) जो साधु शिश्न का मर्दन करे, बार-बार मर्दन करे, मर्दन करते को अच्छा जाने; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[4]

---

१. ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अ० १०।

२. जे भिक्खू हत्थकम्मं कुत्त करेति, करंतं वा साइज्जइ। —निशीथ सूत्र, उ० १, बोल १।

३. जे भिक्खू अंगादाणं कट्ठेण वा, अंगुलियाए वा, सिलागए वा, संचालेइ संचालतं वा, साइज्जइ। —वही, उ० १, बोल २।

४. जे भिक्खू अंगादाणं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्जवा, संवाहंतं वा, पलिमद्देतं वा साइज्जइ। —वही, उ० १, बोल ३।

(४) जो साधु शिश्न को तेल आदि से मर्दन करे, करते को अच्छा समझे ; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[1]

(५) जो साधु शिश्न पर पीठी करे, करते को अच्छा समझे ; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[2]

(६) जो साधु शिश्न का शीत या उष्ण पानी से प्रक्षालन करे, करते को अच्छा समझे; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[3]

(७) जो साधु शिश्न के अग्रभाग को उद्घाटित करे, करते को अच्छा समझे; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[4]

(८) जो साधु शिश्न को सूंघता है, सूंघते को अच्छा समझता है ; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[5]

(९) जो साधु शिश्न को अचित्त छिद्र विशेष में प्रक्षिप्त कर शुक्रपात करे, करते को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[6]

स्त्रियों के सम्बन्ध से कुछ एक प्रायश्चित्त-विधान इस प्रकार किये गये हैं—

(१) जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की प्रार्थना करे, करते को अच्छा समझे ; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[7]

(२) जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री के जननेन्द्रिय में अंगुलि आदि डाले, डालने को अच्छा समझे ; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[8]

---

१. जे भिक्खू अंगादाणं तेलेण वा, घएण वा, वासाएण वा, णवणीए वा, अभंगेज्ज वा, मंक्खेज्ज वा, अब्भंगंतं वा, मक्खंतं वा साइज्जइ । —निशीथ, उ० १, बोल ४ ।

२. जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा, लोद्देण वा, पउमचुण्णेण वा, ण्हाणेण वा, सिणाणेण वा, चुण्णेहिं वा, वण्णेहिं वा, उवट्टेइ वा, उवट्टंतं वा, परिवट्टंतं वा साइज्जइ ।
—वही, उ० १, बोल ५ ।

३. जे भिक्खू अंगादाणं सीउदग वियडेण वा, उसिणोदग वियडेण वा, उच्छोलेज्ज वा, पधोइज्ज वा, उच्छोलंतं वा, पधोयंतं वा साइज्जइ ।
—वही, उ० १, बोल ६ ।

४. जे भिक्खू अंगादाणं णिच्छलेइ, णिच्छलंतं वा साइज्जइ ।
—वही, उ० १, बोल ७ ।

५. जे भिक्खू अंगादाणं जिग्घइ, जिग्घंतं वा साइज्जइ ।
—वही, उ० १, बोल ८ ।

६. जे भिक्खू अंगादाणं अण्णयरंसि अचित्तंसि सोयगंसि अणुप्पविसित्तए सुक्कपोग्गले णिग्घाएइ, णिग्घायंतं वा साइज्जइ ।
—वही, उ० १, बोल ९ ।

७. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए विंणवेइ, विणवंतं वा साइज्जइ ।
—वही, उ० ६, बोल १ ।

८. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणं वडियाए हत्थकम्मं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ।
—वही, उ० ६, बोल २ ।

(३) जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री के शिश्न का मर्दन कराये, करते को अच्छा समझे ; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[1]

(४) जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की इच्छा कर, लेख लिखे या लिखने को अच्छा जाने ; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[2]

(५) जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की इच्छा कर अट्ठारहसरा, नौसरा, मुक्तावली, कनकावली आदि हार व कुण्डल आदि आभूषण धारण करे, करते को अच्छा समझे ; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[3]

(६) जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री को सम्भोग की इच्छा से शास्त्र पढ़ाए तथा पढ़ाते को अच्छा समझे ; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[4]

(७) जो साधु अपने गच्छ की साध्वी तथा अन्य गच्छ की साध्वी के साथ विहार करता हुआ कभी आगे-पीछे रहे, तब साध्वी के वियोग से दुःखित हो कर हथेली पर मुँह रख कर आर्त्तध्यान करे, करते को अच्छा समझे ; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[5]

इस प्रकार **निशीथ** उद्देशक छः, सात व आठ में अनेकानेक प्रायश्चित्त-विधान अब्रह्मचर्य के सम्बन्ध से लिखे गये हैं ।

---

१. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण वडियाए अंगादाणं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा, पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ।

—निशीथ, उ० ६, बो० ४ ।

२. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण वडियाए लेहं लिहइ, लेहं लिहावेइ, लेह वडियाए बहियाए गच्छइ, गच्छंतं वा, साइज्जइ ।

—वही, उ० ६, बो० १३ ।

३. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण वडियाए हाराणि वा, अद्धहाराणि वा, एकावली वा, मुत्तावली वा, कणगावली वा, रयणावली वा, कडगाणी वा, तुडियाणी वा, केउराणी वा, कुंडलाणी वा, मंउलाणी वा, मउडाणी वा, पलंबसुत्ताणी वा, सुवण्णसुत्ताणी वा करेइ करंतं साइज्जइ । एवं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ।

—वही, उ० ७, बो० ८,९ ।

४. जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुण वडियाए वाएइ, वायवायंतं वा साइज्जइ ।

—वही, उ० ७ बो० ८८ ।

५. जे भिक्खू सगणिज्जियाए वा, परगणिज्जियाए वा, निग्गंथीए सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जमाणे पुरओ गच्छमाणे पिट्ठओ रीयमाणे, उहतमाण संकप्पचिंतासोगसागरं संपविट्ठे करतल पल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए विहारं वा करेइ जाव कहं कहेइ, कहेतं वा साइज्जइ ।

—वही, उ० ८, बो० ११ ।

विनयपिटक के अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी प्रायश्चित्त-विधान

निशीथ सूत्र की शैली से ही **विनयपिटक** में अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी मुक्त चर्चाएँ मिलती हैं :

(१) जो भिक्षु भिक्षु-नियमों से युक्त होते हुए भी अन्ततः पशु से भी मैथुन-धर्म का सेवन करे, वह 'पाराजिक' होता है तथा भिक्षुओं के साथ रहने योग्य नहीं होता।[१]

(२) स्वप्न के अतिरिक्त जान-बूझ कर शुक्र-(वीर्य) मोचन करना 'संघादिसेस' है।[२]

(३) किसी भिक्षु का विकारयुक्त चित्त से किसी स्त्री के हाथ या वेणी को पकड़कर या किसी अंग को छूकर शरीर का स्पर्श करना 'संघादिसेस' है।[३]

(४) किसी भिक्षु का विकारयुक्त चित्त से किसी स्त्री से ऐसे अनुचित वाक्यों का कहना, जिनको कि कोई युवती से मैथुन के सम्बन्ध से कहता है, 'संघादिसेस' है।[४]

(५) किसी भिक्षु का वैकारिक चित्त से यह कहना कि सभी सेवाओं में सर्वश्रेष्ठ सेवा यह है कि तू मेरे जैसे सदाचारी, ब्रह्मचारी को संभोगिक सेवा दे; 'संघादिसेस' है।[५]

[संघादिसेस का तात्पर्य है, कुछ दिनों के लिए संघ द्वारा संघ से बहिष्कृत कर देना।]

(६) जो कोई साधु संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणियों को उपदेश दे; उसे 'पाचित्तिय' है।[६]

(७) सम्मति होने पर भी जो भिक्षु सूर्यास्त के बाद भिक्षुणियों को उपदेश दे; उसे 'पाचित्तिय' है।[७]

---

१. यो पन भिक्खु भिक्खूनं सिक्खासाजीवसमापन्नो सिक्खं अपच्चक्खाय दुब्बल्यं अनाविकत्वा मेथुनं धम्मं पटिसेवेय्य अन्तमसो तिरच्छानगताय पि, पाराजिको होति असंवासो ति।
—विनयपिटक, भिक्खु पात्तिमोक्ख, पाराजिक, १-१-२१।

२. स चेतनिका सुक्कविस्सट्ठि अञ्ञत्र सुपिनन्ता स दिसेसो ति।
—विनयपिटक, भिक्खु पात्तिमोक्ख, संघादिसेस, २-१-३।

३. यो पन भिक्खु ओतिण्णो विपरिणतेन चित्तेन मातुगामेन सद्धिं कायसंसग्गं समापज्जेय्य हत्थग्गाहं वा वेणिग्गाहं वा अञ्ञतरस्स वा अञ्ञतरस्स वा अङ्गस्स परामसनं, स दिसेसो ति।
—विनयपिटक, पाराजिक पाली, २-२-३७।

४. यो पन भिक्खु ओतिण्णो विपरिणतेन चित्तेन मातुगामं दुट्ठुल्लाहि वाचाहि ओभासेय्य यथा तं युवा युवतिं मेथुनुपसंहिताहि, स दिसेसो ति। —वही, २-३-५१।

५. यो पन भिक्खु ओतिण्णो विपरिणतेन चित्तेन मातुगामस्स सन्तिके अत्तकामपारि-चरियाय वण्णं भासेय्य—"एतदग्गं, भगिनि, पारिचरियानं या मादिसं सीलवन्तं कल्याणधम्मं ब्रह्मचारिं एतेन धम्मेन परिचरेय्या ति मेथुनुपसंहितेन', स दिसेसो ति।
—वही, २-४-५८।

६. विनयपिटक, पाचित्तिय २१।

७. वही, २२।

(८) जो कोई भिक्षु अतिरिक्त विशेष अवस्था के भिक्षुणी-आश्रम में जाकर भिक्षुणियों को उपदेश करे, तो उसे 'पाचित्तिय' है। [विशेष अवस्था से तात्पर्य है—भिक्षुणी का रुग्ण होना।][1]

(६) जो कोई भिक्षु भिक्षुणी के साथ अकेले एकान्त में बैठे ; उसे 'पाचित्तिय' है।[2]

निशीथ सूत्र में भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए ब्रह्मचर्य सम्बन्धी पृथक्-पृथक् प्रकरण नहीं हैं। भिक्षुओं के लिए जो विधान हैं, वे ही उलट कर भिक्षुणियों के लिए भी समझ लिए जाते हैं।

विनयपिटक में सभी प्रकार के दोषों के लिए **'भिक्खु पातिमोक्ख'** और **'भिक्खुणी पातिमोक्ख'** नाम से दो पृथक्-पृथक् प्रकरण हैं। **'भिक्खुणी पातिमोक्ख'** के कुछ विधान इस प्रकार हैं :

(१) कोई भिक्षुणी कामासक्त हो अन्ततः पशु से भी यौन-धर्म का सेवन कर लेती है, वह 'पाराजिका' होती है अर्थात् संघ से निकाल देने योग्य होती है।[3]

(२) जो कोई भिक्षुणी किसी पाराजिक दोषवाली भिक्खुणी को जानती हुई भी संघ को नहीं बताती, वह 'पाराजिका' है।[4]

(३) जो कोई भिक्षुणी आसक्ति-भाव से कामातुर पुरुष के हाथ पकड़ने व चद्दर का कोना पकड़ने का आनन्द ले ; उसके साथ खड़ी रहे, भाषण करे या अपने शरीर को उस पर छोड़े तो वह 'पाराजिका' होती है।[5]

भिक्षुणियाँ यदि दुराचारिणी, बदनाम, निन्दित बन भिक्षुणी-संघ के प्रति द्रोह करती हों और एक-दूसरे के दोषों को ढाँकती हुई बुरे संसर्ग में रहती हों, तो दूसरी भिक्षुणियाँ उन भिक्षुणिओं को ऐसा कहें—"भगिनिओ ! तुम सब दुराचारिणी, बदनाम, निन्दित बन, भिक्षुणी-संघ के प्रति द्रोह करती हो और एक-दूसरे के दोषों को छिपाती हुई बुरे संसर्ग में रहती हो। भगिनियों का संघ तो एक एकान्त शील और विवेक का प्रशंसक है।" यदि उनके ऐसे कहने पर वे भिक्षुणियाँ अपने दोषों को छोड़ देने के लिए न तैयार हों, तो वे तीन बार तक उनसे उन्हें छोड़ देने के लिए कहें। यदि तीन बार तक कहने पर वे उन्हें छोड़े दें, तो यह उनके लिए अच्छा है नहीं तो वे भिक्षुणियाँ भी 'संघादिसेस' हैं।[6]

---

१. विनयपिटक, पाचित्तिय २३।
२. वही, ३०।
३. वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख-पाराजिक १।
४. वही, ६।
५. वही, ८।
६. वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख संघादिसेस १२।

(१) जो भिक्षुणी प्रदीप-रहित रात्रि के अंधकार में अकेले पुरुष के साथ अकेली खड़ी रहे या बातचीत करे ; उसे 'पाचित्तिय' है ।[1]

(२) जो भिक्षुणी गुह्य-स्थान के रोम बनवाये ; उसे 'पाचित्तिय' है ।[2]

(३) जो भिक्षुणी अप्राकृतिक कर्म करे उसे 'पाचित्तिय' है ।[3]

(४) जो भिक्षुणी यौन-शुद्धि में दो अंगुलियों के दो पोर से अधिक काम में ले तो उसे 'पाचित्तिय' है ।[4]

प्रश्न हो सकता है, शास्त्र-निर्माताओं ने यह असामाजिक-सी आचार-संहिता इस स्पष्ट भाव-भाषा में क्यों लिख दी। यह निर्विवाद है कि लिखने वाले संकोच-मुक्त थे। इस विषय में संकोच-मुक्त दो ही प्रकार के व्यक्ति होते हैं—जो अधम होते हैं या जो परम उत्तम होते है ; जिनकी वृत्तियाँ इस विषय के आकर्षण-विकर्षण से रहित हो चुकी हैं। शास्त्र-निर्माता दूसरी कोटि के लोगों में से हैं। संकोच भी कभी-कभी अपूर्णता का द्योतक होता है। समवृत्ति वाले लोगों में मुक्तता स्वाभाविक होती है।

पौराणिक आख्यान है—तीन ऋषि एक बार किसी प्रयोजन से देव-सभा में पहुँचे हुए थे। वे इन्द्र के दाहिनी ओर ससम्मान बैठे हुए थे और सभा का सारा दृश्य उनके सामने था। देखते-देखते अप्सराओं का नृत्य आरम्भ हुआ। अप्सराओं की रूप-राशि को देखते ही कनिष्ठ ऋषि ने अपनी आँखें मूँद लीं और ध्यानस्थ हो गये। नृत्य करते-करते अप्सरायें मद विह्वल हो गईं और उनके देव-दूष्य इधर-उधर बिखर गये। इस अशिष्टता को देख मध्यम ऋषि आँखें मूँद कर ध्यानस्थ हो गये। अप्सराओं का नृत्य चालू था। देखते-देखते वे सर्वथा वस्त्र-विहीन होकर नाचने लगीं। ज्येष्ठ ऋषि ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। इन्द्र ने पूछा—"इस नृत्य को देखने में आपको तनिक भी संकोच नहीं हुआ, क्या कारण है?" ऋषि ने कहा—"मुझे तो इस नृत्य के उतार-चढ़ाव में कुछ अन्तर लगा ही नहीं। मैं तो आदि क्षण से लेकर अब तक अपनी सम स्थिति में हूँ।" इन्द्र ने कहा—"इन दो ऋषियों ने क्रमशः आँखें क्यों मूँद लीं?" ज्येष्ठ ऋषि ने कहा—"वे अभी साधना की सीढ़ियों पर हैं। मंजिल तक पहुँचने के बाद इनका भी संकोच मिट जाएगा।"

ठीक यही स्थिति प्रस्तुत प्रकरण के सम्बन्ध में सोची जा सकती है। सर्व साधारण को लगता है, ज्ञानियों ने इस विषय को इतना खोल कर क्यों लिखा, परन्तु ज्ञानियों के अपने मन में संकोच करने का कोई कारण भी तो शेष नहीं था तथा संघ-व्यवस्था के लिए यह आवश्यकता का प्रश्न भी था। देश के अधिकांश लोग भले होते हैं,

---

१. विनयपिटक, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाचित्तिय ११।
२. वही, २।
३. वही, ३।
४. वही, ५।

पर कुछ एक चोर-लुटेरे और व्यभिचारी आदि असामाजिक तत्त्व भी रहते हैं। राजकीय आचार-संहिता में यही तो मिलेगा न—अमुक प्रकार की चोरी करने वाले को यह दण्ड, अमुक प्रकार का व्यभिचार करने वाले को यह दण्ड। साधुओं का भी एक समाज होता है। सहस्रों के समाज में अनुपात से असाधुता के उदाहरण भी घटित होते हैं। उस चारित्र-शील साधु-समाज की संघीय आचार-संहिता में उक्त प्रकार के नियम अनावश्यक और अस्वाभाविक नहीं माने जा सकते।

प्रायश्चित्त-विधि

प्रायश्चित्त और प्रायश्चित्त करने के प्रकार, दोनों परम्पराओं में बहुत ही मनोवैज्ञानिक हैं। जैन-परम्परा में प्रायश्चित्त के मुख्यतया दस भेद हैं :

(१) **आलोयणा** (आलोचना)—**निवेदना तल्लक्षणं शुद्धिं यदर्हत्यतिचार जातं तदा-लोचना**—लगे दोष का गुरु के पास यथावत् निवेदन करना, आलोचना-प्रायश्चित्त है, उससे मानसिक-मलिनता का परिष्कार माना गया है।

(२) **पडिक्कमण** (प्रतिक्रमण)—**मिथ्या दुष्कृतं**। यह प्रायश्चित्त साधक स्वयं कर सकता है। इसका अभिप्राय है—मेरा पाप मिथ्या हो।

(३) **तदुभयं**—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों मिलकर 'तदुभयं' प्रायश्चित्त है।

(४) **विवेग** (विवेक)—**अशुद्ध भक्तादित्यागः**। आधाकर्म आदि अशुद्ध आहार का त्याग।

(५) **विउस्सग्ग** (व्युत्सर्ग)—कायोत्सर्ग। यह प्रायश्चित्त ध्यानादि से सम्पन्न होता है।

(६) **तव** (तपस्)—**निर्विकृतिकादि**। दूध, दही आदि विगय वस्तु का त्याग तथा अन्य प्रकार के तप।

(७) **छेय** (छेद)—**प्रव्रज्यापर्याय ह्रस्वीकरणम्**। दीक्षा-पर्याय को कुछ कम कर देना। उस प्रायश्चित्त से जितना समय कम किया गया है, उस अवधि में बने हुए छोटे साधु दीक्षा-पर्याय में उस दोषी साधु से बड़े हो जाते हैं।

(८) **मूल** (मूल)—**महाव्रतारोपणम्**। पुनर्दीक्षा।

(९) **अणवट्ठप्पा** (अनावस्थाप्य)—**कृततपसो व्रतारोपणम्**। तप विशेष के पश्चात् पुनर्दीक्षा।

(१०) **पारञ्चिय** (पाराञ्चिक)—**लिङ्गादिभेदम्**। इस प्रायश्चित्त में संघ-बहिष्कृत साधु एक अवधि-विशेष तक साधु-वेष परिवर्तित कर जन-जन के बीच अपनी आत्म-निन्दा करता है। उसके बाद ही उसकी पुनर्दीक्षा होती है।[1]

---

१. ठाणांग सूत्र, ठा० १०।

व्याख्या-ग्रन्थों में इन दसों प्रायश्चित्तों के विषय में भेद-प्रभेदात्मक विस्तृत व्याख्याएँ हैं। निशीथ सूत्र में मासिक और चातुर्मासिक प्रायश्चित्तों का ही विधान है। इनका सम्बन्ध ऊपर बताए गए सातवें प्रायश्चित्त 'छेद' से है। मासिक प्रायश्चित्त अर्थात् एक मास के संयम-पर्याय का छेद। 'छेद' प्रायश्चित्त छठे भेद 'तप' में भी बदल जाता है। इससे दोषी साधु संयम-पर्याय को छेद न कर तप-विशेष से अपनी शुद्धि करता है। दोष की तरतमता से मासिक प्रायश्चित्तों में गुरु और लघु दो-दो भेद हो जाते हैं।

विनयपिटक में समग्र दोषों को आठ भागों में बाँटा गया है :

(१) भिक्षु के लिए ४ दोष, भिक्षुणी के लिए ८ दोष 'पाराजिक' हैं।

(२) भिक्षु के लिए १३ दोष, भिक्षुणी के लिए १७ दोष 'संघादिसेस' हैं।

(३) भिक्षु के लिए २ दोष, 'अनियत' हैं।

(४) भिक्षु के लिए ३० दोष, भिक्षुणी के लिए ३० दोष, 'निसग्गिय पाचित्तिय' हैं।

(५) भिक्षु के लिए ९२ दोष, भिक्षुणी के लिए १६६ दोष 'पाचित्तिय' हैं।

(६) भिक्षु के लिए ४ दोष, भिक्षुणी के लिए ८ दोष, 'पाटिदेसनीय' हैं।

(७) भिक्षु के लिए ७५ बातें, भिक्षुणी के लिए ७५ बातें 'सेखिय' हैं।

(८) भिक्षु के लिए ७ बातें, भिक्षुणी के लिए ७ बातें 'अधिकरण-समथ' हैं।

दोष की तरतमता के अनुसार प्रायश्चित्तों का स्वरूप मृदु और कठोर है।

'पाराजिक' में भिक्षु सदा के लिए संघ से निकाल दिया जाता है।

'संघादिसेस' में कुछ अवधि के लिए दोषी भिक्षु-संघ से पृथक् कर दिया जाता है।

'अनियत' में संघ विश्वस्त प्रमाण से दोष निर्णय करता है और दोषी को प्रायश्चित्त कराता है।

'निस्सगिय पाचित्तिय' में दोषी भिक्षु-संघ या भिक्षु-विशेष के समक्ष दोष स्वीकार करता है और उसे छोड़ने को तत्पर होता है।

'पाचित्तिय' में भिक्षु आत्मालोचनपूर्वक प्रायश्चित्त करता है।

'पाटिदेसनीय' में दोषी भिक्षु-संघ के समक्ष दोष स्वीकार करता है और क्षमा-याचना भी करता है।

'सेखिय' में शिक्षा-पद हैं। उन व्यावहारिक शिक्षा-पदों का लंघन भी दोष है।

'अधिकरण समथ' में उत्पन्न कलह की शान्ति के आचार बतलाए गए हैं। उनका लंघन करना भी दोष है।

दोषी साधु प्रायश्चित्त कैसे करे, इस विषय में दोनों परम्पराओं के अपने-अपने प्रकार हैं। जैन-परम्परा के अनुसार प्रायश्चित्त कराने के अधिकारी आचार्य व गुरु हैं। वे बहुश्रुत व गाम्भीर्यादि अनेक गुणों के धारक होने चाहिए। एक साधु का प्रायश्चित्त वे दूसरे साधु

को बताने के अधिकारी नहीं होते। व्यवहार-सूत्र में बताया गया है—दोषी साधु अपने आचार्य व उपाध्याय के पास शल्य-रहित होकर आलोचना करे। आचार्य या उपाध्याय निकट न हों तो अपने गण के प्रायश्चित्त-वेत्ता साधु के पास वह आलोचना करे। यदि ऐसा भी सम्भव न हो तो अन्य गण के शास्त्रज्ञ साधु के पास वह आलोचना करे। ऐसा भी सम्भव न हो तो किसी बहुश्रुत पार्श्वस्थ के पास वह आलोचना करे। पार्श्वस्थ साधु का तात्पर्य है—जो साधु का वेष तो धारण किये रहता है, पर आचार का यथावत् पालन नहीं करता। ऐसा भी संयोग न हो तो ऐसे श्रावक के पास आलोचना करनी चाहिए, जो पहले साधु-जीवन में रह चुका हो और प्रायश्चित्त-विधि का ज्ञाता हो। ऐसा भी संयोग न हो तो किसी समभावी देवता के पास आलोचना करे। यह भी सम्भव न हो तो वह साधु शून्य अरण्य में चला जाये और पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर अरिहन्त व सिद्धों को नमस्कार करे, उनकी साक्षी ग्रहण कर तीन बार अपने दोष का उच्चारण करे और आत्म-निन्दा करता हुआ अपनी धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करे।[1]

जैन-विधि में व्यक्तिपरता और गोप्यता को जहाँ प्रधानता दी है, वहाँ बौद्ध-परम्परा में साधु-समुदाय के सामने प्रायश्चित्त ग्रहण का विधान किया गया है। वहाँ प्रायश्चित्त-विधि का व्यवस्थित रूप है :

प्रत्येक मास की कृष्ण-चतुर्दशी और पूर्णमासी को तत्रस्थ सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित होते हैं। बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को बताया ; अतः कोई निश्चित आचार्य नहीं होता। किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त किया जाता है। तदनन्तर **'पातिमोक्ख'** का वाचन होता है। प्रत्येक प्रकरण की पूर्ति में पूछा जाता है—'उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं ?' कोई भिक्षु खड़ा होकर तत्सम्बन्धी अपने किसी दोष की आलोचना करना चाहता है तो संघ उस पर विचार करता है और उसको शुद्धि कराता है। दूसरी बार फिर पूछा जाता है, 'उपस्थित सभी भिक्षु इन सब बातों में शुद्ध हैं ?' इस प्रकार तीन बार पूछ कर मान लिया जाता है, सब शुद्ध हैं। तदन्तर इसी क्रम से एक-एक कर आगे के प्रकरण पढ़े जाते हैं। इसी प्रकार भिक्षुणियाँ **'भिक्खुणी पातिमोक्ख'** का वाचन करती हैं।[2]

जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं की प्रायश्चित्त-विधियाँ पृथक्-पृथक् प्रकार की हैं, पर दोनों में ही मनोवैज्ञानिकता अवश्य है। प्रायश्चित्त करने वालों के लिए हृदय की पवित्रता और सरलता—दोनों ही विधियों में अपेक्षित मानी गई हैं।

---

१. व्यवहार-सूत्र, उ० १, बो० ३४ से ३६।

२. विनयपिटक, निदान

आचार-पक्ष

निशीथ और **विनयपिटक** के संविधानों से दोनों ही परम्पराओं की आचार-संहिता भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। दोनों के संयुक्त अध्ययन से ऐसा लगता है, आचार की ये दोनों सरिताएँ कहीं-कहीं एक-दूसरे के बहुत निकट हो जाती हैं तो कहीं एक-दूसरे से बहुत दूर। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह ; दोनों ही शास्त्रों में कठोरता से वर्जित किये गये हैं। इनके न्यूनाधिक सेवन पर प्रायश्चित्त भी न्यूनाधिक रूप से बताया गया है। कुल मिलाकर **निशीथ** के विधान अहिंसा, सत्य आदि के पालन की सूक्ष्मता तक पहुँचते हैं, **विनयपिटक** के विधान कुछ अर्थों में बहुत ही स्थूल और व्यावहारिक ही रह जाते हैं। दोनों परम्पराओं की आचार-संहिता में यह मौलिक अन्तर है ही। जैन-भिक्षु की अहिंसा पृथ्वी, पानी, वनस्पति, वायु और अग्नि तक भी अनिवार्य होकर पहुँचती है। **निशीथ** में पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा के सम्बन्ध से अनेक मासिक तथा चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के विधान मिलते हैं। **निशीथ** के विधि-विधानों में व्यावहारिक-पक्ष गौण और अहिंसा, सत्य आदि सैद्धान्तिक पक्ष प्रमुख हैं। **विनयपिटक** में सैद्धान्तिक पक्ष से भी अधिक संघ-व्यवस्था-रूप व्यावहारिक-पक्ष प्रमुख है।

जैन-परम्परा के अनुसार पानी-मात्र जीव है। साधु नदी, तालाब, वर्षा, कुएँ आदि के पानी का उपयोग नहीं करता। पानी-मात्र शस्त्रोपहत अर्थात् अचित्त (अजीव) होकर ही साधु के लिए व्यवहार्य बनता है। **विनयपिटक** में अहिंसा की दृष्टि केवल अनछाने पानी तक पहुँची है। वहाँ जान-बूझ कर प्राणि-युक्त (अनछाने) पानी पीने वाले भिक्षु को 'पाचित्तिय' दोष बताया गया है।[1] जैन-भिक्षु के लिए स्नान-मात्र वर्जित है।[2] वह अचित्त पानी से भी सर्व-स्नान और देश-स्नान नहीं करता। **विनयपिटक** में पन्द्रह दिनों से पूर्व स्नान करने को 'पाचित्तिय' कहा है। उसमें भी ग्रीष्म-ऋतु आदि अपवाद रूप हैं।[3] बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए नदी आदि में स्नान करने की भी व्यवस्थित आचार-संहिता है। तात्पर्य, पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के सम्बन्ध से जैनाचार और बौद्धाचार एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न रह जाते हैं।

वस्त्र के सम्बन्ध से **निशीथ सूत्र** में अपने लिए बनाये गये या खरीदे गये वस्त्र को कोई ग्रहण करे तो उसे 'लघु चतुर्मासिक' प्रायश्चित्त बताया गया है।[4] **विनयपिटक** की व्यवस्था है—कोई राजा, राजकर्मचारी या गृहस्थ धन देकर अपने दूत को भिक्षु के पास

---

१. विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय ६२।
२. दशवैकालिक सूत्र, अ० ६, गा० ६१ से ६४।
३. विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय ५७।
४. निशीथसूत्र, उ० १८, बो० ३५।

भेजे, वह दूत भिक्षु से आ कर कहे—'भन्ते ! आपके लिए यह चीवर का धन है, आप इसे ग्रहण करें ।' तब उस भिक्षु को दूत से कहना चाहिए—'आवुस ! हम चीवर के धन को नहीं लेते, समयानुसार चीवर ही लेते हैं ।' वह दूत किसी उपासक को चीवर ला कर देने के लिए वह धन दे दे तो भिक्षु को अधिक-से-अधिक तीन बार उसे चीवर की बात याद दिलानी चाहिए और कहना चाहिए—'उपासक ! मुझे चीवर की आवश्यकता है ।' इतने पर भी वह चीवर प्रदान न करे तो अधिक-से-अधिक पुनः तीन बार और उसके पास जा कर उसे याद दिलाने की दृष्टि से खड़ा रहना चाहिए । इतने तक वह उपासक चीवर प्रदान करे तो ठीक ; इससे अधिक प्रयत्न कर यदि भिक्षु चीवर को प्राप्त करे तो उसे 'निस्सग्गिय पाचित्तिय' है । उस भिक्षु का कर्तव्य है, वह उस अर्थदाता के पास जा कर कहे—'आयुष्यमान् ! तुम्हारा धन मेरे काम का नहीं हुआ । अपने धन को देखो, वह नष्ट न हो जाये ।'[1]

निशीथ का विधान है—कोई साधु आहार, पानी, औषधि आदि रात भर भी संगृहीत रखता है, तो उसे 'गुरु चातुर्मासिक' प्रायश्चित्त ।[2] **विनयपिटक** का विधान है—भिक्षुओ ! घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड आदि रोगी भिक्षुओं को सेवन करने योग्य पथ्य-भेषज्य को ग्रहण कर अधिक-से-अधिक सप्ताह भर रख कर, भोग कर लेना चाहिए । इसका अतिक्रमण करने पर उसे 'निस्सग्गिय पाचित्तिय' है ।[3] जैन-परम्परा में भिक्षु के लिए रात्रि-भोजन वर्जित है ।[4] **विनयपिटक** के अनुसार जो कोई भिक्षु विकाल (मध्याह्न के बाद) में खाद्य-भोजन खाये, उसे 'पाचित्तिय' है ।[5]

विशेष भोज्य-पदार्थों को मांग कर लेना जैन-परम्परा में निषिद्ध है । **विनयपिटक** में भी घी, मक्खन, तेल, दूध, दही आदि विशेष पदार्थों को भिक्षु माँग कर ले तो उसे 'पाचित्तिय' बताया है ।[6]

जैन-परम्परा के अनुसार साधु भोजन को भिक्षा-रूप से अपने पात्र में ग्रहण करता है और अपने उपाश्रय में आ कर या किसी उपयुक्त एकान्त स्थान में भोजन करता है । बौद्ध-परम्परा के अनुसार बौद्ध-भिक्षु आमन्त्रण पा कर गृहस्थ के घर भोजन के लिए जाता है ।

---

१. विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय १० ।
२. निशीथ सूत्र, उ० ११, बो० १७६-१८३ ।
३. विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, निस्सग्गिय पाचित्तिय २३ ।
४. दशवैकालिक सूत्र, अ० ४ ।
५. विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय ३७ ।
६. वही, ३९ ।

विनयपिटक के 'सेखिय' प्रकरण में भिक्षु-भिक्षुणी को गृहस्थ के घर में किस संयत गतिविधि से जाना व बैठना चाहिए, इस विषय में बहुत ही व्यवस्थित शिक्षा-विधान है। भोजन करने सम्बन्धी शिक्षा-पद रोचक और सभ्यता सूचक हैं। इस सम्बन्ध में भिक्षुणी की प्रतिज्ञाएँ हैं :

(१) ग्रास को बिना मुँह तक लाये मुख के द्वार को न खोलूँगी।
(२) भोजन करते समय सारे हाथ को मुँह में न डालूँगी।
(३) ग्रास पड़े हुए मुख से बात नहीं करूँगी।
(४) ग्रास उछाल-उछाल कर नहीं खाऊँगी।
(५) ग्रास को काट-काट कर नहीं खाऊँगी।
(६) गाल फुला-फुला कर नहीं खाऊँगी।
(७) हाथ झाड़-झाड़ कर नहीं खाऊँगी।
(८) जूठन बिखेर-बिखेर कर नही खाऊँगी।
(९) जीभ चटकार-चटकार कर नहीं खाऊँगी।
(१०) चप-चप करके नही खाऊँगी।[1]

ये प्रतिज्ञाएँ **'भिक्खु पातिमोक्ख'** में भिक्षुओं के लिए भी हैं। भिक्षुणियों के लिए लहसुन की वर्जना की गई है।[2]

दीक्षा-प्रसंग

दीक्षा किस वयोमान में दी जा सकती है, इस विषय से दोनों परम्पराओं के विधान बहुत ही भिन्न हैं। जैन-परम्परा में जन्म से आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र वाले की दीक्षा का विधान किया गया है।[3] इससे पूर्व दीक्षा देने वाले को प्रायश्चित्त कहा है। **विनयपिटक** का कथन है—यदि भिक्षु जानते हुए बीस वर्ष से कम उम्र वाले व्यक्ति को उपसम्पन्न (दीक्षित) करे, तो वह दीक्षित अदीक्षित है।[4] महावीर और बुद्ध लगभग एक ही युग व एक ही क्षेत्र में थे। दोनों ही श्रमण-संस्कृति की दो धाराओं के नायक थे। दीक्षा-वयोमान का यह मौलिक भेद अवश्य ही आश्चर्योत्पादक है। वयस्क दीक्षा और अवयस्क दीक्षा का प्रश्न उस समय भी समाज में रहा होगा। यदि ऐसा ही था तो एक संघ ने उसे मान्यता दी और एक संघ ने उसे मान्यता नहीं दी, इसका क्या कारण ?

---

१. विनयपिटक, भिक्खुणी पातिमोक्ख, सेखिय ४१-५०।
२. वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाचित्तिय १।
३. व्यवहार सूत्र, उ० १०, बो० २४।
४. विनयपिटक, भिक्ख पातिमोक्ख, पाचित्तिय ६५।

अल्प वयस्क की दीक्षा का विधान ही महावीर ने किया, यही नहीं, उन्होंने अतिमुक्तक कुमार को अल्पावस्था में दीक्षित भी किया। गणधर गौतम गोचरी करते हुए पोलासपुर नगर में घूम रहे थे। अकस्मात् अतिमुक्तक ने आ कर उनकी अँगुली पकड़ी और कहा—'मेरे यहाँ भिक्षा के लिए चलिए।' बाल-हठ कैसे टलता। गणधर गौतम ने उसके घर जा कर भिक्षा ली। भिक्षा ले कर मुड़े, तो बालक भी उनके साथ-साथ चल पड़ा। मार्ग में अतिमुक्तक ने पूछा—'भन्ते! आप कहाँ जा रहे हैं?' गणधर गौतम ने कहा—'परम शान्ति के उद्भावक भगवान् श्री महावीर के पास।' अतिमुक्तक ने कहा—'मुझे भी शान्ति चाहिए; मैं भी वहीं जाऊँगा।' इस प्रकार वह उद्यान में आया और यथाविधि महावीर के पास दीक्षित हुआ। उसी अतिमुक्तक भिक्षु ने एक बार प्रमादवश अपने पात्र से नदी में जल-क्रीड़ा की। स्थविर भिक्षुओं ने उसे डाँटा। महावीर ने उसे प्रायश्चित्त दे कर शुद्ध किया और कहा—'अतिमुक्तक अभी अज्ञ जैसा लगता है, किन्तु यह इसी जीवन में यथाक्रम कैवल्य व निर्वाण प्राप्त करेगा।'[1]

महावीर ने यह भी निरूपण किया है कि आठ वर्ष से कुछ अधिक वयोमान बालक उसी वय में कैवल्य और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इससे पूर्व साधुत्व, कैवल्य और मोक्ष तीनों ही अप्राप्य हैं।[2] दीक्षा ग्रहण में माता, पिता आदि की आज्ञा भी आवश्यक होती है।

बौद्ध-परम्परा के दीक्षा-सम्बन्धी विधानों का इतिहास और अभिप्राय **विनयपिटक** में भी मिल जाता है। राजगृह नगर में सत्तरह बालक परस्पर मित्र थे। उपालि उन सबमें मुखिया था। एक दिन उपालि के माता-पिता सोचने लगे—उपालि को किस मार्ग पर लगाना चाहिए, जिससे हमारी मृत्यु के बाद भी वह सुखी बना रहे। पहले उन्होंने सोचा—यदि लेखा सीख जाये तो वह सदा सुखी रह सकेगा। फिर उनके मन में आया—लेखा सीखने में तो उसकी अँगुलियाँ दुखेंगी। इस प्रकार अनेक विकल्प सोचे, पर कोई भी विकल्प निरापद नहीं लगा। अन्त में सोचा—ये शाक्यपुत्रीय श्रमण सुख ही सुख में रहते हैं। ये अच्छा भोजन करते हैं, अच्छे निवासों में रहते हैं। क्यों न उपालि भिक्षु बन कर इनके साथ रहे? हम मर भी जायेंगे, तो यह तो सदा सुखी ही रहेगा।

उपालि भी एक ओर बैठा इस वार्तालाप को सुन रहा था। वह तत्काल अपनी मित्र-मण्डली में गया और बोला—'आओ आर्यो! हम सब शाक्यपुत्रीय श्रमणों के पास प्रव्रजित हो सदा के लिए सुखी हो जायें।' सब सहमत हो गये। अन्त में माता-पिताओं ने भी सबकी समान रुचि देख कर सहर्ष उन्हें दीक्षित होने की आज्ञा दी। वे भिक्षुओं के पास आये

---

१. भगवती सूत्र, श० ५, उ० ४।
२. वही शतक ८, उ० १०।

और दीक्षित हो गये। दिन में वे सुख से रहते। रात को सबेरा होने से पूर्व ही भूख से व्याकुल हो कर वे रोते व कहते—'खिचड़ी दो! भात दो! खाना दो!!' तब भिक्षु ऐसा कहते थे—'ठहरो आवुसो! सबेरा होते ही यवागू (पतली खिचड़ी या दलिया) हो तो पीना, भात हो तो खाना, रोटी हो तो भोजन करना। यह सब न हो तो भिक्षा करके खाना।' इस प्रकार भिक्षु उन्हें समझाते, पर भूख की क्या दवा? वे तिलमिलाते और बिस्तरों पर इधर-उधर लुढ़कते।

एक दिन बुद्ध को इस बात का पता लगा। उन्होने भिक्षुओं को एकत्रित किया और कहा—'भिक्षुओ! बीस वर्ष से कम उम्र का पुरुष सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, साँप-बिच्छू आदि के कष्टों को सहने में असमर्थ होता है। कठोर दुरागत के वचनों और दुःखमय, तीव्र, खरी, कटु, प्रतिकूल, अप्रिय, प्राण हरने वाली उत्पन्न हुई शारीरिक पीड़ाओं को सहन न करने वाला होता है। भिक्षुओ! इन्हीं सब कारणों से मैं नियम करता हूँ कि बीस वर्ष से पूर्व किसी व्यक्ति को उपसम्पदा नहीं देनी चाहिए।'[1]

तब से भिक्षु बनाने का नियम बीस वर्ष का हो गया। पर समय-समय पर ऐसे प्रसंग आने लगे कि अन्त में बालकों को भी संघ-सम्बद्ध करने का अन्य मार्ग बुद्ध को निकालना पड़ा। वह था—श्रामणेर बनाना। एक बार घटना-विशेष पर नियम बना दिया गया—पन्द्रह वर्ष से कम आयु वाले बच्चे को श्रामणेर नहीं बनाना चाहिए। जो बनाएगा, उसे दुक्कट का दोष होगा।[2] पुनः एक प्रसंग ऐसा आया जिससे पन्द्रह वर्ष से कम आयु वाले बच्चे को भी श्रामणेर बनाने का विधान करना पड़ा।

आयुष्मान् आनन्द का एक श्रद्धालु परिवार महामारी में मर गया। केवल दो बच्चे बच गये। आनन्द को उनकी अनाथ अवस्था पर दया आई। उसने सारी स्थिति बुद्ध के पास रखी। बुद्ध ने कहा—'आनन्द! क्या वे बालक कौआ उड़ाने में समर्थ हैं?' आनन्द ने कहा—'हाँ, भगवन्! तब बुद्ध ने एकत्रित भिक्षुओं से कहा—'भिक्षुओ! कौआ उड़ाने में समर्थ पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के बच्चे को श्रामणेर बनाने की अनुमति देता हूँ।'[3]

राहुल को श्रामणेर प्रव्रज्या देने की घटना[4] बहुत ही रोचक है। उसी प्रसंग पर बुद्ध ने नियम बनाया—'भिक्षुओ! माता-पिता की अनुमति के बिना पुत्र को प्रव्रजित नहीं करना चाहिए। जो प्रव्रजित करेगा, उसे दुक्कट का दोष होगा।'[5]

---

१. विनयपिटक, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-६।
२. वही, १-३-७।
३. वही, १-३-८।
४. विस्तार के लिए देखिये—"भिक्षु संघ और उसका विस्तार" प्रकरण।
५. विनयपिटक, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-११।

उक्त प्रकरणों से जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं के दीक्षा-सम्बन्धी अभिमत प्रकट हो जाते हैं। महावीर ने आठ वर्ष से कुछ अधिक की अवस्था वाले बालक को दीक्षित करने का विधान किया है। बुद्ध ने काक उड़ाने में समर्थ बालक को श्रामणेर बनाने का विधान किया है। 'श्रामणेरता' भिक्षुत्व की ही एक पूर्वावस्था है। कुल मिला कर यह माना जा सकता है, धर्माचरण में बाल्यावस्था को दोनों ने ही सर्वथा बाधक नहीं माना है।

धर्म-संघ में स्त्रियों का स्थान

महावीर ने एक साथ चतुर्विध-संघ की स्थापना की। **विनयपिटक** के अनुसार बौद्ध धर्म-संघ में पहले-पहल भिक्षुणियों का स्थान नहीं था। वह स्थान कैसे बना, इसका **विनय-पिटक** में रोचक वर्णन है।

एक बार बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में रह रहे थे। उनकी मौसी प्रजापति गौतमी, उनके पास आई और बोली—'भन्ते ! अपने भिक्षु-संघ में स्त्रियों को भी स्थान दें !' बुद्ध ने कहा—'यह मुझे अच्छा नहीं लगता।' गौतमी ने दूसरी बार और तीसरी बार भी अपनी बात दोहराई, पर उसका परिणाम कुछ नहीं निकला।

कुछ दिनों बाद जब बुद्ध वैशाली में विहार कर रहे थे, गौतमी भिक्षुणी का वेष बना कर अनेक शाक्य-स्त्रियों के साथ आराम में पहुँची। आनन्द ने उसका यह स्वरूप देखा। दीक्षा-ग्रहण करने की आतुरता उसके प्रत्येक अवयव से टपक रही थी। आनन्द को दया आई। वह बुद्ध के पास पहुँचा और निवेदन किया—'भन्ते ! स्त्रियों को भिक्षु-संघ में स्थान दें।' क्रमशः तीन बार कहा, पर कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में कहा—'यह महा प्रजापति गौतमी है, जिसने मातृ-वियोग में भगवान् को दूध पिलाया है ; अतः इसे अवश्य प्रव्रज्या मिले।'

अन्त में बुद्ध ने आनन्द के अनुरोध को माना और कुछ अधिनियमों के साथ उसे स्थान देने की आज्ञा दी।[1]

---

१. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्खुणी स्कन्धक, १०-१-४।

परिशिष्ट-१

त्रिपिटकों में निगण्ठ व निगण्ठ नातपुत्त : मूल पालि

: १ :

सिंह सेनापति

तेन खो पन समयेन अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी सन्थागारे सन्निसिन्ना सन्निपतिता अनेकपरियायेन बुद्धस्स वण्णं भासन्ति, धम्मस्स वण्णं भासन्ति, सङ्घस्स वण्णं भासन्ति। तेन खो पन समयेन सीहो सेनापति निगण्ठसावको तस्सं परिसायं निसिन्नो होति। अथ खो सीहस्स सेनापतिस्स एतदहोसि—"निस्संसयं खो सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो भविस्सति तथा हिमे अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी सन्थागारे सन्निसिन्ना सन्निपतिता अनेकपरियायेन बुद्धस्स वण्णं भासन्ति, धम्मस्स वण्णं भासन्ति, सङ्घस्स वण्णं भासन्ति। यन्नूनाहं तं भगवन्तं दस्सनाय उपसङ्कमेय्यं अरहन्तं सम्मासम्बुद्ध" ति। अथ खो सीहो सेनापति येन निगण्ठो नाटपुत्तो तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नाटपुत्तं एतदवोच—"इच्छामहं, भन्ते, समणं गोतमं दस्सनाय उपसङ्कमितुं" ति। "किं पन त्वं, सीह, किरियवादो समानो अकिरियवादं समणं गोतमं दस्सनाय उपसङ्कमिस्ससि ? समणो हि, सीह, गोतमो अकिरियवादो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती" ति। अथ खो सीहस्स सेनापतिस्स यो अहोसि गमियाभिसङ्खारो भगवन्तं दस्सनाय, सो पटिप्पस्सम्भि। दुतियं पि खो सम्बहुल अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी सन्थागारे सन्निसिन्ना सन्निपतिता अनेकपरियायेन बुद्धस्स वण्णं भासन्ति, धम्मस्स वण्णं भासन्ति, सङ्घस्स वण्णं भासन्ति। दुतियं पि खो सीहस्स सेना-पतिस्स एतदहोसि—"निस्संसयं खो सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो भविस्सति, तथा हिमे अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी सन्थागारे सन्निसिन्ना सन्निपतिता अनेकपरियायेन बुद्धस्स वण्णं भासन्ति, धम्मस्स वण्णं भासन्ति, सङ्घस्स वण्णं भासन्ति। यन्नूनाहं तं भगवन्तं दस्सनाय उपसङ्कमेय्यं अरहन्तं सम्मासम्बुद्ध" ति। अथ खो सीहो सेनापति येन निगण्ठो नाटपुत्तो तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नाटपुत्तं एतदवोच—"इच्छामहं, भन्ते, समणं गोतमं दस्सनाय उपसङ्कमितुं" ति। "······समणो हि, सीह, गोतमो अकिरिया-वादो अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेति" ति। दुतियं पि खो सीहस्स सेनापतिस्स यो अहोसि गमियाभि-सङ्खारो भगवन्तं दस्सनाय, सो पटिप्पस्सम्भि। ततियं पि खो···अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी सन्थागारे सन्निसिन्ना सन्निपतिता अनेकपरियायेन

बुद्धस्स वण्णं भासन्ति, धम्मस्स वण्णं भासन्ति, सङ्घस्स वण्णं भासन्ति। ततियं पि खो सीहस्स सेनापतिस्स एतदहोसि···"निस्संसयं खो सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो भविस्सति, तथा हिमे···अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी सन्थागारे सन्निसिन्ना सन्निपतिता अनेक-परियायेन बुद्धस्स वण्णं भासन्ति, धम्मस्स वण्णं भासन्ति, सङ्घस्स वण्णं भासन्ति। किं हिमे करिस्सन्ति निगण्ठा अपलोकिता वा अनपलोकिता वा ? यन्नूनाहं अनपलोकेत्वा व निगण्ठे तं भगवन्तं दस्सनाय उपसङ्कमेय्यं अरहन्तं सम्मासम्बुद्ध" ति।

अथ खो सीहो सेनापति पञ्चमत्तेहि रथसतेहि दिवादिवस्स वेसालिया निय्यासि भगवन्तं दस्सनाय। यावतिका यानस्स भूमि, यानेन गन्त्वा याना पच्चोरोहित्वा पत्तिको व···येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो सीहो सेनापति भगवन्तं एतदवोच—"सुतं मेतं, भन्ते, 'अकिरियावादो समणो गोतमो अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। ये ते, भन्ते, एवमाहंसु 'अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति, कच्चि, ते, भन्ते, भगवतो वुत्तवादिनो, न च भगवन्तं अभूतेन अब्भाचिक्खन्ति, धम्मस्स च अनुधम्मं ब्याकरोन्ति, न च कोचि सहधम्मिको वादानुवादो गारय्हं ठानं आगच्छति ? अनब्भक्खातु-कामा हि मयं, भन्ते भगवन्तं" ति।

"अत्थि, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। "अत्थि, सीह, परि-यायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'किरियवादो समणो गोतमो किरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। "अत्थि, सीह, परियायो येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'उच्छेदवादो समणो गोतमो, उच्छेदाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। "अत्थि, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'जेगुच्छी समणो गोतमो, जेगुच्छिताय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। "अत्थि, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'वेनयिको समणो गोतमो, विनयाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। "अत्थि, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'तपस्सी समणो गोतमो, तपस्सिताय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। "अत्थि, सीह, परियायो, येन च परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'अपगब्भो समणो गोतमो, अपगब्भताय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति। "अत्थि, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'अस्सत्थो समणो गोतमो, अस्सासाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति ? अहं हि, सीह, अकिरियं

वदामि । कायदुच्चरितस्स वचीदुच्चरितस्स मनोदुच्चरितस्स; अनेकविहितानं'''सम्मा वदमानो वदेय्य—'अकिरियवादो समणो गोतमो, अकिरियाय धम्मं देसेति, तेन च सावके विनेती' ति।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'किरियवादो समणो गोतमो,'''''' ।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'उच्छेदवादो, समणो गोतमो,'''''' ।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'जेगुच्छी समणो गोतमो,'''''' ।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'वेनयिको समणो गोतमो,'''''' ।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—तपस्सी समणो गोतमो,'''''' ।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—अपगब्भो समणो गोतमो,'''''' ।

"कतमो च, सीह, परियायो, येन मं परियायेन सम्मा वदमानो वदेय्य—'अस्सासको समणो गोतमो,'''''' ।"

एवं वुत्तो सीहो सेनापति भगवन्तं एतदवोच—"अभिक्कन्तं, भन्ते,'''पे०'''उपासकं मं, भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति। "अनुविच्चकारं खो, सीह, करोहि; अनुविच्चकारो तुम्हादिसानं ञातमनुस्सानं साधु होती" ति। "इमिनापाहं, भन्ते, भगवतो भिय्योसोमत्ताय अत्तमनो अभिरद्धो, यं मं भगवा एवमाह—'अनुविच्चकारं खो, सीह, करोहि। अनुविच्चकारो तुम्हादिसानं ञातमनुस्सानं साधु होती' ति। मं हि भन्ते, अञ्ञतित्थिया सावकं लभित्वा केवलकप्पं वेसालिं पटाकं परिहरेय्युं—'सीहो खो अम्हाकं सेनापति सावकत्तं उपगतो' ति। अथ च पन मं भगवा एवमाह—'अनुविच्चकारं खो, सीह, करोहि। अनुविच्चकारो तुम्हादिसानं ञातमनुस्सानं साधु होती' ति। एसाहं, भन्ते, दुतियं पि भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसङ्घं च। उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति। "दीघरत्तं खो ते, सीह, निगण्ठानं ओपानभूतं कुलं, येन नेसं उपगतानं पिण्डकं दातब्बं मञ्ञेय्यासी" ति। "इमिनापाहं, भन्ते, भगवतो वचनेन भिय्योसोमत्ताय अत्तमनो अभिरद्धो, यं मं भगवा एवमाह—"दीघरत्तं खो ते, सीह, निगण्ठानं ओपानभूतं कुलं, येन नेसं उपगतानं पिण्डकं दातब्बं मञ्ञेय्यासी' ति। सुतं मेतं, भन्ते, 'समणो गोतमो एवमाह—मय्हमेव दानं दातब्बं, मय्हमेव सावकानं दानं दातब्बं, मय्हमेव दिन्नं महप्फलं, न अञ्ञेसं दिन्नं महप्फलं; मय्हमेव सावकानं दिन्नं महप्फलं, न अञ्ञेसं सावकानं

दिन्नं महप्फलं' ति। अथ च पन मं भगवा निगण्ठेसु पि दाने समादपेति। अपि च, भन्ते, मयमेत्थ कालं जानिस्साम। एसाहं, भन्ते, ततियं पि भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसङ्घं च। उपासकं मं, भन्ते, भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति।

अथ खो भगवा सीहस्स सेनापतिस्स अनुपुब्बिं कथं कथेसि सेय्यथीदं—दानकथं··· ···अपरप्पच्चयो सत्थुसासने भगवन्तं एतदवोच—"अधिवासेतु मे, भन्ते, भगवा स्वातनाय भत्तं सद्धिं भिक्खुसङ्घेना" ति। अधिवासेसि भगवा तुण्हीभावेन। अथ खो सीहो सेनापति भगवतो अधिवासनं विदित्वा उट्ठायासना भगवन्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा पक्कामि।

अथ खो सीहो सेनापति अञ्ञतरं पुरिसं आणापेसि—"गच्छ, भणे, पवत्तमंसं जानाही" ति। अथ खो सीहो सेनापति तस्सा रत्तिया अच्चयेन पणीतं खादनीयं भोजनीयं पटियादापेत्वा भगवतो कालं आरोचापेसि—"कालो, भन्ते, निट्ठितं भत्तं" ति। अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय येन सीहस्स सेनापतिस्स निवेसनं तेनुपसङ्कमि, उपसङ्कमित्वा पञ्ञत्ते आसने निसीदि सद्धिं भिक्खुसङ्घेन।

तेन खो पन समयेन सम्बहुला निगण्ठा वेसालियं रथिकाय रथिकं सिङ्घाटकेन सिङ्घाटकं बाहा पग्गय्ह कन्दन्ति—"अज्ज सीहेन सेनापतिना थूलं पसुं वधित्वा समणस्स गोतमस्स भत्तं कतं। तं समणो गोतमो जानं उद्दिस्सकतं मंसं परिभुञ्जति पटिच्चकम्मं" ति। अथ खो अञ्ञतरो पुरिसो येन सीहो सेनापति तेनुपसङ्कमि, उपसङ्कमित्वा सीहस्स सेनापतिस्स उपकण्णके आरोचेसि—"यग्घे भन्ते, जानेय्यासि! एते सम्बहुला निगण्ठा वेसालियं रथिकाय रथिकं सिङ्घाटकेन सिङ्घाटकं बाहा पग्गय्ह कन्दन्ति—'अज्ज सीहेन सेनापतिना थूलं पसुं वधित्वा समणस्स गोतमस्स भत्तं कतं। तं समणो गोतमो जानं उद्दिस्सकतं मंसं परिभुञ्जति पटिच्चकम्मं" ति। अलं अय्यो, दीघरत्तं पि ते आयस्मन्तो अवण्णकामा बुद्धस्स, अवण्णकामा धम्मस्स, अवण्णकामा संघस्स। न च पन ते आयस्मन्तने जिरिदन्ति तं भगवन्तं असता तुच्छा मुसा अभूतेन अब्भाचिक्खन्तं; न च मयं जीवितहेतु पि सञ्चिच्च पाणं जीविता वोरोपेय्यामा" ति। अथ खो सीहो सेनापति बुद्धप्पमुखं भिक्खुसङ्घं पणीतेन खादनीयेन भोजनीयेन सहत्था···सन्तप्पेत्वा सम्पवारेत्वा-भगवन्तं भुत्ताविं ओनीतपत्तपाणिं एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नं खो सीहं सेनापतिं भगवा धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा समादपेत्वा समुत्तेजेत्वा सम्पहंसेत्वा उट्ठायासना पक्कामि ति। अथ खो भगवा एतस्मिं निदाने एतस्मिं पकरणे धम्मिं कथं कत्वा भिक्खू आमन्तेसि—"न, भिक्खवे, जानं उद्दिस्सकतं मंसं परि-

भुञ्जितब्बं । यो परिभुञ्जेय्य आपत्ति दुक्कटस्स । अनुजानामि, भिक्खवे, तिकोटिपरिसुद्धं मच्छमंसं—अदिट्ठं असुतं अपरिसंकितं" ति ।[1]

एकं समयं भगवा वेसालियं विहरति महावने कूटागारसालायं । तेन खो पन समयेन सम्बहुला अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता लिच्छवी०······ ।

एकमन्तं निसिन्नं खो सीहं सेनापति भगवा धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा समादपेत्वा समुत्तेजेत्वा सम्पहंसेत्वा उट्ठायासना पक्कामी ति ।[2]

: २ :

गृहपति उपालि

एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा नालन्दायं विहरति पावारिकम्बवने । तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो नालन्दायं पटिवसति महतिया निगण्ठपरिसाय सद्धिं । अथ खो दीघतपस्सी निगण्ठो नालन्दायं पिण्डाय चरित्वा पच्छाभत्तं पिण्डपातपटिक्कन्तो येन पावारिकम्बवनं येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धिं सम्मोदि । सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं अट्ठासि । एकमन्तं ठितं खो दीघतपस्सिं निगण्ठं भगवा एतदवोच—"संविज्जन्ति खो, तपस्सी, आसनानि ; सचे आकङ्खसि निसीदा" ति । एवं वुत्ते दीघतपस्सी निगण्ठो अञ्ञतरं नीचं आसनं गहेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं निसिन्नं खो दीघतपस्सिं निगण्ठं भगवा एतदवोच—"कति पन, तपस्सि, निगण्ठो नातपुत्तो कम्मानि पञ्ञापेति पापस्स कम्मस्स किरियाय पापस्स कम्मस्स पवत्तिया" ति ?

" न खो, आवुसो गोतम, आचिण्णं निगण्ठस्स नातपुत्तस्स 'कम्मं, कम्मं' ति पञ्ञापेतुं ; 'दण्डं, दण्डं' ति खो, आवुसो गोतम, आचिण्णं निगण्ठस्स नातपुत्तस्स पञ्ञापेतुं" ति ।

"कति पन, तपस्सि, निगण्ठो नातपुत्तो दण्डानि पञ्ञापेति पापस्स कम्मस्स किरियाय पापस्स कम्मस्स पवत्तिया" ति ?

"तीणि खो, आवुसो गोतम, निगण्ठो नातपुत्तो दण्डानि पञ्ञापेति पापस्स कम्मस्स किरियाय पापस्स कम्मस्स पवत्तिया ति, सेय्यथीदं—कायदण्डं, वचीदण्डं, मनोदण्डं" ति ।

"किं पन, तपस्सि, अञ्ञदेव कायदण्डं, अञ्ञं वचीदण्डं, अञ्ञं मनोदण्डं" ति ?

"अञ्ञदेव, आवुसो गोतम, कायदण्डं, अञ्ञं वचीदण्डं, अञ्ञं मनोदण्डं" ति ।

"इमेसं पन, तपस्सि, तिण्णं दण्डानं एवं पटिविभत्तानं एवं पटिविसिट्ठानं कतमं दण्डं निगण्ठो नातपुत्तो महासावज्जतरं पञ्ञापेति पापस्स०···पवत्तिया, यदि वा कायदण्डं, यदि वा वचीदण्डं, यदि वा मनोदण्डं" ति ?

---

१. विनयपिटक, महावग्ग पालि, ६-१९ ; ३१-३५, पृ० २४८ से २५२ ।

२. सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, अट्ठकनिपात, महावग्गो, सीहसुत्तं, ८-२-२, पृ० २९३ से ३०० ।

"इमेसं खो, आवुसो गोतम, तिण्णं दण्डानं एवं पटिविभत्तानं एवं पटिविसिट्ठानं कायदण्डं निगण्ठो०…पवत्तिया, नो तथा वचीदण्डं, नो तथा मनोदण्डं" ति ।

"कायदण्डं ति, तपस्सि, वदेसि" ?

"कायदण्डं ति, आवुसो गोतम, वदामि" ।

"कायदण्डं ति, तपस्सि, वदेसि" ?

कायदण्डं ति, आवुसो गोतम, वदामि" ।

कायदण्डं ति, तपस्सि, वदेसि" ?

"कायदण्डं ति, आवुसो गोतम, वदामी" ति ।

इतिह भगवा दीघतपस्सि निगण्ठं इमस्मिं कथावत्थुस्मिं यावततियकं पतिट्ठापेसि । एवं वुत्ते, दीघतपस्सी निगण्ठो भगवन्तं एतदवोच—"त्वं पनावुसो गोतम, कति दण्डानि पञ्ञापेसि पापस्स०…पवत्तिया" ति ?

"न खो, तपस्सि, आचिण्णं तथागतस्स 'दण्डं, दण्डं' ति पञ्ञापेतुं ; 'कम्मं, कम्मं' ति खो, तपस्सि, आचिण्णं तथागतस्स पञ्ञापेतुं" ति ?

"त्वं पनावुसो गोतम, कति कम्मानि पञ्ञपेसि पापस्स०…पवत्तिया" ति ?

"तीणि खो अहं, तपस्सि, कम्मानि पञ्ञपेमि पापस्स०…पवत्तिया, सेय्यथीदं—कायकम्मं वचीकम्मं, मनोकम्मं" ति ।

"किं पनावुसो गोतम, अञ्ञदेव कायकम्मं, अञ्ञं वचीकम्मं, अञ्ञं मनोकम्मं" ति ?

"अञ्ञदेव, तपस्सि, कायकम्मं, अञ्ञ वचीकम्मं, अञ्ञ मनोकम्मं" ति ।

"इमेसं पनावुसो गोतम, तिण्णं कम्मानं एवं पटिविभत्तानं एवं पटिविसिट्ठानं कतमं कम्मं महासावज्जतरं पञ्ञपेसि पापस्स०…पवत्तिया, यदि वा कायकम्मं, यदि वा वचीकम्मं, यदि वा मनोकम्मं" ति ?

"इमेसं खो अहं, तपस्सि तिण्णं कम्मानं एवं पटिविभत्तानं एवं पटिविसिट्ठानं मनोकम्मं महासावज्जतरं पञ्ञपेमि पापस्स०…पवत्तिया, नो तथा कायकम्मं, नो तथा वची कम्मं" ति ।

"मनोकम्मं ति, आवुसो गोतम, वदेसि" ?

"मनोकम्मं ति, तपस्सि वदामि" ।

"मनोकम्मं ति, आवुसो गोतम, वदेसि" ?

"मनोकम्मं ति, तपस्सि, वदामि" ।

"मनोकम्मं ति, आवुसो गोतम, वदेसि" ?

"मनोकम्मं ति, तपस्सि, वदामो" ति ।

इतिह दीघतपस्सी निगण्ठो भगवन्तं इमस्मिं कथावत्थुस्मिं यावततियकं पतिट्ठापेत्वा उट्ठायासना येन निगण्ठो नातपुत्तो तेनुपसङ्कमि ।

तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो महतिया गिहिपरिसाय सद्धिं निसिन्नो होति बालकिनिया परिसाय उपालिपमुखाय । अद्दसा खो निगण्ठो नातपुत्तो दीघतपस्सिं निगण्ठं दूरतो व आगच्छन्तं ; दिस्वान दीघतपस्सिं निगण्ठं एतदवोच—"हन्द, कुतो नु त्वं, तपस्सि, आगच्छसि दिवा दिवस्सा" ति ?

"इतो हि खो अहं, भन्ते, आगच्छामि समणस्स गोतमस्स सन्तिका" ति ।

"अहु पन ते, तपस्सि, समणेन गोतमेन सद्धिं कोचिदेव कथासल्लापो" ति ?

"अहु खो मे, भन्ते, समणेन गोतमेन सद्धिं कोचिदेव कथासल्लापो" ति ।

"यथा कथं पन ते, तपस्सि, अहु समणेन गोतमेन सद्धिं कोचिदेव कथासल्लापो" ति ?

अथ खो दीघतपस्सी निगण्ठो यावतको अहोसि भगवता सद्धिं कथासल्लापो तं सब्बं निगण्ठस्स नातपुत्तस्स आरोचेसि । एवं वुत्ते, निगण्ठो नातपुत्तो दीघतपस्सिं निगण्ठं एतदवोच—"साधु साधु, तपस्सि ! यथा तं सुतवता सावकेन सम्मदेव सत्थुसासनं आजानन्तेन एवमेवं दीघतपस्सिना निगण्ठेन समणस्स गोतमस्स ब्याकतं । किं हि सोभति छवो मनोदण्डो इमस्स एवं ओळारिकस्स कायदण्डस्स उपनिधाय ! अथ खो कायदण्डो व महासावज्जतरो पापस्स कम्मस्स किरियाय पापस्स कम्मस्स पवत्तिया, नो तथा वचीदण्डो, नो तथा मनोदण्डो" ति ।

एवं वुत्ते, उपालि गहपति निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—साधु, साधु, भन्ते दीघतपस्सि ! यथा०···तथा मनोदण्डो। हन्द चाहं, भन्ते, गच्छामि समणस्स गोतमस्स इमं पि कथावत्थुस्मिं वादं आरोपेस्सामि । सचे मे समणो गोतमो तथा पतिट्ठहिस्सति यथा भदन्तेन तपस्सिना पतिट्ठापितं ; सेय्यथापि नाम बलवा पुरिसो दीघलोमिकं एळकं लोमेसु गहेत्वा आकड्ढेय्य परिकड्ढेय्य सम्परिकड्ढेय्य, एवमेवाहं समणं गोतमं वादेन वादं आकड्ढिस्सामि परिकड्ढिस्सामि सम्परिकड्ढिस्सामि । सेय्यथापि नाम बलवा सोण्डिकाकम्मकारो महन्तं सोण्डिकाकिलञ्जं गम्भीरे उदकरहदे पक्खिपित्वा कण्णे गहेत्वा आकड्ढेय्य परिकड्ढेय्य सम्परिकड्ढेय्य, एवमेवाहं समणं गोतमं वादेन वादं आकड्ढिस्सामि परिकड्ढिस्सामि सम्परिकड्ढिस्सामि । सेय्यथापि नाम बलवा सोण्डिकाधुत्तो वालं कण्णे गहेत्वा ओधुनेय्य निद्धुनेय्य निप्फोटेय्य, एवमेवाहं समणं गोतमं वादेन वादं ओधुनिस्सामि निद्धुनिस्सामि निप्फोटेस्सामि । सेय्यथापि नाम कुञ्जरो सट्ठिहायनो गम्भीरं पोक्खरणिं ओगाहेत्वा साणधोविकं नाम कीळितजातं कीळति, एवमेवाहं समणं गोतमं साणधोविकं मञ्ञे कीळितजातं कीळिस्सामि । हन्द चाहं, भन्ते, गच्छामि समणस्स गोतमस्स इमस्मिं कथावत्थुस्मिं वादं आरोपेस्सामी" ति ।

"गच्छ त्वं गहपति, समणस्स गोतमस्स इमस्मिं कथावत्थुस्मिं वादं आरोपेहि। अहं वा हि, गहपति, समणस्स, गोतमस्स वादं आरोपेय्य, दीघतपस्सी वा निगण्ठो, त्वं वा" ति।

एवं वुत्ते, दीघतपस्सी निगण्ठो निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—"न खो मेतं, भन्ते, रुच्चति यं उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेय्य। समणो हि, भन्ते, गोतमो मायावी आवट्टनिं मायं जानाति याय अञ्ञतित्थियानं सावके आवट्टेती" ति।

"अट्ठानं खो एतं, तपस्सि, अनवकासो यं उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगच्छेय्य। ठानं च खो एतं विज्जति यं समणो गोतमो उपालिस्स गहपतिस्स सावकत्तं उपगच्छेय्य। गच्छ, त्वं, गहपति, समणस्स गोतमस्स इमस्मिं कथावत्थुस्मिं वादं आरोपेहि। अहं वा हि, गहपति, समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेय्यं, दीघतपस्सी वा निगण्ठो, त्वं वा" ति।

दुतियं पि खो दीघतपस्सी…पे०…ततियं पि खो दीघतपस्सी निगण्ठो निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—"न खो मेतं, भन्ते, रुच्चति यं उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेय्य। समणो हि, भन्ते, गोतमो मायावी आवट्टनिं मायं जानाति अञ्ञतित्थियानं सावके आवट्टेती" ति।

"अट्ठानं खो एतं, तपस्सि, ०…त्वं, वा" ति।

"एवं, भन्ते" ति खो उपालि गहपति निगण्ठस्स नातपुत्तस्स पटिस्सुत्वा उट्ठायासना निगण्ठं नातपुत्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा येन पावारिकम्बवनं येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसंकमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो उपालि गहपति भगवन्तं एतदवोच—"आगमा नु ख्विध, भन्ते, दीघतपस्सी निगण्ठो" ति?

"आगमा ख्विध, गहपति, दीघतपस्सी निगण्ठो" ति।

"अहु खो पन ते, भन्ते दीघतपस्सिना निगण्ठेन सद्धिं कोचिदेव कथासल्लापो" ति।

"अहु खो मे, गहपति, दीघतपस्सिना०…कथासल्लापो" ति।

"यथा कथं पन ते, भन्ते, अहु, दीघतपस्सिना०…कथासल्लापो" ति?

अथ खो भगवा यावतको अहोसि दीघतपस्सिना निगण्ठेन सद्धिं कथासल्लापो तं सब्बं उपालिस्स गहपतिस्स आरोचेसि।

एवं वुत्ते, उपालि गहपति भगवन्तं एतदवोच—"साधु साधु, भन्ते तपस्सी! यथा०…मनोदण्डो" ति।

"सचे खो त्वं, गहपति, सच्चे पतिट्ठाय मन्तेय्यासि सिया नो एत्थ कथासल्लापो" ति।

"सच्चे अहं, भन्ते, पतिट्ठाय मन्तेस्सामि; होतु नो एत्थ कथासल्लापो" ति।

"तं किं मञ्ञसि, गहपति, इधस्स निगण्ठो आबाधिको दुक्खितो बाल्हगिलानो सीतोदकपटिक्खित्तो उण्होदकपटिसेवी। सो सीतोदकं अलभमानो कालङ्करेय्य। इमस्स पन, गहपति, निगण्ठो नातपुत्तो कत्थूपपत्तिं पञ्ञापेती" ति ?

"अत्थि, भन्ते, मनोसत्ता नाम देवा तत्थ सो उपपज्जति। "तं किस्स हेतु" ? असु हि, भन्ते, मनोपटिबद्धो कालङ्करोती" ति।

"मनसि करोहि, गहपति, मनसि करित्वा खो, गहपति, ब्याकरोहि। न खो ते सन्धियति पुरिमेन वा पच्छिमं, पच्छिमेन वा पुरिमं। भासिता खो पन ते, गहपति, ऐसा वाचा—"सच्चे अहं, भन्ते, पतिट्ठाय मन्तेस्सामि, होतु नो एत्थ कथासल्लापो" ति।

"किञ्चापि, भन्ते, भगवा एवमाह, अथ खो कायदण्डो व महासावज्जतरो पापस्स कम्मस्स किरियाय पापस्स कम्मस्स पवत्तिया, नो तथा वचीदण्डो, नो तथा मनोदण्डो" ति।

"तं किं मञ्ञसि, गहपति, इधस्स निगण्ठो नातपुत्तो चातुयामसंवरसंवुतो सब्बवारिवारितो सब्बवारियुतो सब्बवारिधुतो सब्बवारिफुटो। सो अभिक्कमन्तो पटिक्कमन्तो बहु खुद्दके पाणे सङ्घातं आपादेति। इमस्स पन, गहपति, निगण्ठो नातपुत्तो कं विपाकं पञ्ञापेती" ति ?

"असञ्चेतनिकं, भन्ते, निगण्ठो नातपुत्तो नो महासावज्जं पञ्ञापेती" ति।

"सचे पन, गहपति, चेतेती" ति ?

"महासावज्जं, भन्ते, होती" ति।

"चेतनं पन, गहपति निगण्ठो नातपुत्तो किस्मिं पञ्ञापेती" ति ?

"मनोदण्डस्मिं, भन्ते" ति।

"मनसि करोहि, गहपति,०......कथासल्लापो" ति।

"किञ्चापि, भन्ते,०......मनोदण्डो" ति।

"तं किं मञ्ञसि, गहपति, अयं नालन्दा इद्धा चेव फीता च बहुजना आकिण्णमनुस्सा" ति ?

"एवं भन्ते, अयं नालन्दा इद्धा चेव फीता च बहुजना आकिण्णमनुस्सा" ति।

"तं किं मञ्ञसि, गहपति, इध पुरिसो आगच्छेय्य उक्खित्तासिको। सो एवं वदेय्य—'अहं यावतिका इमिस्सा नालन्दाय पाणा ते एकेन खणेन एकेन मुहुत्तेन एकं मंसखलं एकं मंसपुञ्जं करिस्सामी' ति। तं किं मञ्ञसि, गहपति, पहोति नु खो सो पुरिसो यावतिका इमिस्सा नालन्दाय पाणा ते एकेन खणेन एकेन मुहुत्तेन एकं मंसखलं एकं मंसपुञ्जं कातुं" ति ?

"दस पि, भन्ते, पुरिसा, वीसं पि, भन्ते, पुरिसा, तिंसं पि, भन्ते, पुरिसा, चत्तारीसं पि, भन्ते, पुरिसा, पञ्ञासं पि, भन्ते, पुरिसा, नप्पहोन्ति यावतिका इमिस्सा नालन्दाय पाणा ते एकेन खणेन एकेन मुहुत्तेन एकं मंसखलं एकं मंसपुञ्जं कातुं। किं हि सोभति एको छवो पुरिसो" ति !

"तं किं मञ्ञसि, गहपति, इध आगच्छेय्य समणो वा ब्राह्मणो वा इद्धिमा चेतो-वसिप्पत्तो। सो एवं वदेय्य—'अहं इमं नालन्दं एकेन मनोपदोसेन भस्मं करिस्सामी' ति। तं किं मञ्ञसि, गहपति, पहोति नु खो सो समणो वा ब्राह्मणो वा इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो इमं नालन्दं एकेन मनोपदोसेन भस्मं कातुं" ति?

"दस पि, भन्ते, नालन्दा, वीसं पि नालन्दा, तिंसं पि नालन्दा, चत्तारीसं पि नालन्दा, पञ्ञासं पि नालन्दा पहोति सो समणो वा ब्राह्मणो वा इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो एकेन मनोपदोसेन भस्मं कातुं। किं हि सोभति एका छवा नालन्दा" ति!

"मनसि करोहि, गहपति,०···कथासल्लापो' " ति।

"किञ्चापि, भन्ते,०···मनोदण्डो" ति।

"तं किं मञ्ञसि, गहपति, सुतं ते दण्डकारञ्ञं कालिङ्गारञ्ञं मेज्झारञ्ञं मातङ्गारञ्ञं *अरञ्ञं अरञ्ञभूतं*" ति?

"एवं, भन्ते, सुतं मे दण्डकारञ्ञं०···अरञ्ञभूतं" ति।

"तं किं मञ्ञसि, गहपति, किन्ति ते सुतं केन तं दण्डकारञ्ञं०···अरञ्ञभूतं" ति?

"सुतं मेतं, भन्ते, इसीनं मनोपदोसेन तं दण्डकारञ्ञं०···अरञ्ञभूतं" ति।

"मनसि करोहि, गहपति,०···कथासल्लापो" ति।

"पुरिमेनेवाहं, भन्ते, ओपम्मेन भगवतो अत्तमनो अभिरद्धो। अपि चाहं इमानि भगवतो विचित्रानि पञ्हपटिभानानि सोतुकामो एवाहं भगवन्तं पच्चनीकं कातब्बं अमञ्ञिस्सं। अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते! सेय्यथापि, भन्ते, निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य, पटिच्छन्नं वा विवरेय्य, मूल्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य, अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य—चक्खुमन्तो रूपानि दक्खन्ती ति, एवमेवं भगवता अनेकपरियायेन धम्मो पकासितो। एसाहं, भन्ते, भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसङ्घं च। उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति।

"अनुविच्चकारं खो, गहपति, करोहि, अनुविच्चकारो तुम्हादिसानं ञातमनुस्सानं साधु होती" ति।

"इमिनापाहं, भन्ते, भगवतो भिय्योसो मत्ताय अत्तमनो अभिरद्धो यं मं भगवा एवमाह—'अनुविच्चकारं खो, गहपति, करोहि, अनुविच्चकारो तुम्हादिसानं ञातमनुस्सानं साधु होति' ति। मं हि, भंते, अञ्ञतित्थिया सावकं लभित्वा केवलकप्पं नालन्दं पटाकं परिहरेय्युं—'उपालि अम्हाकं गहपति सावकत्तं उपगतो' ति। अथ च पन मं भगवा एवमाह—'अनुविच्चकारं खो,०···होती' ति। एसाहं, भन्ते, दुतियं पि भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसङ्घं च। उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति।

"दीघरत्तं खो ते, गहपति, निगण्ठानं ओपानभूतं कुलं येन नेसं उपगतानं पिण्डकं दातब्बं मञ्ञेय्यासी" ति ।

"इमिनापाहं, भन्ते,०···एसाहं, भन्ते, ततियं पि०···सरणं गतं" ति ।

अथ खो भगवा उपालिस्स गहपतिस्स अनुपुब्बिं कथं कथेसि, सेय्यथीदं—दानकथं सीलकथं सग्गकथं, कामानं आदीनवं ओकारं सङ्किलेसं, नेक्खम्मे आनिसंसं पकासेसि । यदा भगवा अञ्ञासि उपालिं गहपतिं कल्लचित्तं मुदुचित्तं विनीवरणचित्तं, उदग्गचित्तं, पसन्नचित्तं, अथ या बुद्धानं सामुक्कंसिका धम्मदेसना तं पकासेसि—दुक्खं, समुदयं, निरोधं, मग्गं । सेय्यथापि नाम सुद्धं वत्थं अपगतकालकं सम्मदेव रजनं पटिग्गण्हेय्य एवमेव, उपालिस्स गहपतिस्स तस्मिं एव आसने विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उदपादि—'यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मं' ति । अथ खो उपालि गहपति दिट्ठधम्मो पत्तधम्मो विदितधम्मो परियोगाल्हधम्मो तिण्णविचिकिच्छो विगतकथङ्कथो वेसारज्जप्पत्तो अपरप्पच्चयो सत्थुसासने भगवन्तं एतदवोच—"हन्द च दानि मयं, भन्ते, गच्छाम, बहुकिच्चा मयं बहुकरणीया" ति ।

"यस्सदानि त्वं, गहपति, कालं मञ्ञसी" ति ।

अथ खो उपालि गहपति भगवतो भासितं अभिनन्दित्वा अनुमोदित्वा उट्ठायासना भगवन्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा येन सकं निवेसनं तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा दोवारिकं आमन्तेसि—"अज्जतग्गे, सम्म, दोवारिक, आवरामि द्वारं निगण्ठानं निगण्ठीनं, अनावटं द्वारं भगवतो भिक्खूनं भिक्खूनीनं उपासकानं उपासिकानं । सचे कोचि निगण्ठो आगच्छति तमेनं त्वं एवं वदेय्यासि—'तिट्ठ, भन्ते, मा पाविसि । अज्जतग्गे उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगतो । आवटं द्वारं निगण्ठानं निगण्ठीनं, अनावटं द्वारं भगवतो भिक्खूनं भिक्खूनीनं उपासकानं उपासिकानं । सचे ते, भन्ते, पिण्डकेन अत्थो, एत्थेव तिट्ठ, एत्थेव ते आहरिस्सन्ती", ति ।

"एवं, भन्ते" ति खो दोवारिको उपालिस्स गहपतिस्स पच्चस्सोसि ।

अस्सोसि खो दीघतपस्सी निगण्ठो—"उपालि किर गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगतो" ति । अथ खो दीघतपस्सी निगण्ठो येन निगण्ठो नातपुत्तो तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—"सुतं मेतं, भन्ते, उपालि किर गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगतो" ति ।

"अट्ठानं खो एतं, तपस्सि, अनवकासो यं उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगच्छेय्य । ठानं च खो एतं विज्जति यं समणो गोतमो उपालिस्स गहपतिस्स सावकत्तं उपगच्छेय्या" ति ।

दुतियं पि खो दीघतपस्सी निगण्ठो···पे०··· ततीयं पि खो दीघतपस्सी निगण्ठो निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—सुतं मेतं, भन्ते, उपालिस्स गहपतिस्स सावकत्तं उपगच्छेय्या ति ।

"हन्दाहं, भन्ते, गच्छामि याव जानामि यदि वा उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगतो यदि वा नो" ति।

"गच्छ त्वं, तपस्सि, जानाहि यदि वा०...नो" ति।

अथ खो दीघतपस्सी निगण्ठो येन उपालिस्स गहपतिस्स निवेसनं तेनुपसङ्कमि। अद्दसा खो दोवारिको दीघतपस्सिं निगण्ठं दूरतो व आगच्छन्तं। दिस्वान दीघतपस्सिं निगण्ठं एतदवोच—"तिट्ठ, भन्ते, मा पाविसि। अज्जतग्गे उपालि०......आहारिस्सन्ती" ति।

"न मे आवुसो, पिण्डकेन अत्थो" ति वत्वा ततो पटिनिवत्तित्वा येन निगण्ठो नातपुत्तो तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—"सच्चं एव खो, भन्ते, यं उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगतो। एतं खो ते अहं, भन्ते, नालत्थं न खो मे, भन्ते, रुच्चति यं उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेय्य। समणो हि, भन्ते, गोतमो मायावी आवट्टनिमायं जानाति याय अञ्ञतित्थियानं सावके आवट्टेती ति। आवट्टो खो ते, भन्ते, उपालि गहपति समणेन गोतमेन आवट्टनिया मायाया" ति।

"अट्ठानं खो एतं, तपस्सि,० ...उपगच्छेय्या ति। हन्द चाहं, तपस्सि, गच्छामि याव चाहं सामं येव जानामि यदि वा उपालि गहपति समणस्स गोतमस्स सावकत्तं उपगतो यदि वा नो ति।

अथ खो निगण्ठो नातपुत्तो महतिया निगण्ठपरिसाय सद्धिं येन उपालिस्स गहपतिस्स निवेसनं तेनुपसङ्कमि। अद्दसा खो दोवारिको निगण्ठं नातपुत्तं दूरतो व आगच्छन्तं। दिस्वान निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—"तिट्ठ, भन्ते, मा पाविसि। अज्जतग्गे उपालि०... आहरिस्सन्ती" ति।

"तेन हि, सम्म दोवारिक, येन उपालि गहपति तेनुपसङ्कम; उपसङ्कमित्वा उपालिं गहपतिं एवं वदेहि—निगण्ठो, भन्ते, नातपुत्तो महतिया निगण्ठपरिसाय सद्धिं बहिद्वारकोट्ठके ठितो; सो ते दस्सनकामो", ति।

"एवं, भन्ते" ति खो दोवारिको निगण्ठस्स नातपुत्तस्स पटिस्सुत्वा येन उपालि गहपति तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा उपालिं गहपतिं एतदवोच—"निगण्ठो, भन्ते, नातपुत्तो०...... दस्सनकामो" ति।

तेन हि, सम्म दोवारिक, मज्झिमाय द्वारसालाय आसनानि पञ्ञापेही" ति।

"एवं, भन्ते" ति खो दोवारिको उपालिस्स गहपतिस्स पटिस्सुत्वा मज्झिमाय द्वारसालाय आसनानि पञ्ञापेत्वा येन उपालि गहपति तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा उपालिं गहपतिं एतदवोच—"पञ्ञत्तानि खो, भन्ते, मज्झिमाय द्वारसालाय आसनानि। यस्सदानि कालं मञ्ञसी" ति।

अथ खो उपालि गहपति येन मज्झिमा द्वारसाला तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा यं तत्थ आसनं अग्गं च सेट्ठं च उत्तमं च पणीतं च तत्थ सामं निसीदित्वा दोवारिकं आमन्तेसि— "तेन हि, सम्म दोवारिक, येन निगण्ठो नातपुत्तो तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नातपुत्तं एवं वदेहि—'उपालि, भन्ते, गहपति एवमाह—पविस किर, भन्ते, सचे आकङ्खसी," ति।

"एवं, भन्ते" ति खो दोवारिको उपालिस्स गहपतिस्स पटिस्सुत्वा येन निगण्ठो नातपुत्तो०······आकङ्खसी" ति।

अथ खो निगण्ठो नातपुत्तो महतिया निगण्ठपरिसाय सद्धिं येन मज्झिमा द्वारसाला तेनुपसङ्कमि। अथ खो उपालि गहपति—यं सुदं पुब्बे यतो पस्सति निगण्ठं नातपुत्तं दूरतो व आगच्छन्तं दिस्वान ततो पच्चुग्गन्त्वा यं तत्थ आसनं अग्गं च सेट्ठं च उत्तमं च पणीतं च तं उत्तरासङ्गेन सम्मज्जित्वा परिग्गहेत्वा निसीदापेति सो—दानि यं तत्थ आसनं अग्गं च सेट्ठं च उत्तमं च पणीतं च तत्थ सामं निसीदित्वा निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—"संविज्जति खो, भन्ते, आसनानि ; सचे आकङ्खसि, निसीदा" ति। एवं वुत्ते, निगण्ठो नातपुत्तो उपालिं गहपतिं एतदवोच—"उम्मत्तोसि त्वं, गहपति, दत्तोसि त्वं, गहपति ! 'गच्छामहं, भन्ते, समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेस्सामी'' ति गन्त्वा महतासि वादसङ्घाटेन पटिमुक्को आगतो। सेय्यथापि, गहपति, पुरिसो अण्डहारको गन्त्वा उब्भतेहि अण्डेहि आगच्छेय्य, सेय्यथा वा पन गहपति पुरिसो, अक्खिकहारको गन्त्वा उब्भतेहि अक्खीहि आगच्छेय्य, एवमेव खो त्वं, गहपति, 'गच्छामहं, भन्ते, ०······आगतो। आवट्टोसि खो त्वं, गहपति, समणेन गोतमेन आवट्टनिया मायाया" ति।

"भद्दिका, भन्ते आवट्टनी माया ; कल्याणी, भन्ते, आवट्टनी माया ; पिया मे, भन्ते, ञातिसालोहिता इमाय आवट्टनिया आवट्टेय्युं ; पियानं पि मे अस्स ञातिसालोहितानं दीघरत्तं हिताय सुखाय ; सब्बे चे पि भन्ते खत्तिया इमाय आवट्टनिया आवट्टेय्युं सब्बेसानं पिस्स खत्तियानं दीघरत्तं हिताय सुखाय ; सब्बे चे पि भन्ते ब्राह्मणा··· पे०··· वेस्सा···· पे०··· सुद्दा इमाय आवट्टनिया आवट्टेय्युं सब्बेसानं पिस्स सुद्दानं दीघरत्तं हिताय सुखाय ; सदेवको चे पि, भन्ते लोको समारको सब्रह्मको सस्समणब्राह्मणी पजा सदेवमनुस्सा इमाय आवट्टनिया आवट्टेय्युं सदेवकस्स पिस्स लोकस्स समारकस्स सब्रह्मकस्स सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय दीघरत्तं हिताय सुखाया ति। तेन हि, भन्ते, उपमं ते करिस्सामि। उपमाय पिधेकच्चे विञ्ञू पुरिसा भासितस्स अत्थं आजानन्ति।

भूतपुब्बं, भन्ते, अञ्ञतरस्स ब्राह्मणस्स जिण्णस्स वुड्ढस्स महल्लकस्स दहरा माणविका पजापती अहोसि गब्भिनी उपविजञ्ञा। अथ खो, भन्ते, सा माणविका तं ब्राह्मणं एतदवोच—"गच्छ त्वं, ब्राह्मण, आपणा मक्कटच्छापकं किणित्वा आनेहि, यो मे कुमारकस्स

कीलापनको भविस्सती' ति । एवं वुत्ते, भन्ते, सो ब्राह्मणो तं माणविकं एतदवोच—'आगमेहि ताव, भोति, याव विजायति । सचे त्वं, भोति कुमारकं विजायिस्सासि, तस्सा ते अहं आपणा मक्कटच्छापकं किणित्वा आनेस्सामि, यो ते कुमारकस्स कीलापनको भविस्सति । सचे पन त्वं, भोति,०··· भविस्सती' ति । दुतियं पि खो, भन्ते, सा माणविका··· पे०··· ततियं पि खो, भन्ते, सा माणविका तं ब्राह्मणं एतदवोच—'गच्छ त्वं, ब्राह्मण, आपणा मक्कटच्छापकं किणित्वा आनेहि, यो मे कुमारकस्स कीलापनको भविस्सती' ति । अथ खो, भन्ते, सो ब्राह्मणो तस्सा माणविकाय सारत्तो पटिबद्धचित्तो आपणा मक्कटच्छापकं किणित्वा आनेत्वा तं माणविकं एतदवोच—'अयं ते, भोति, आपणा मक्कटच्छापको किणित्वा आनीतो, यो ते कुमारकस्स कीलापनको भविस्सती' ति । एवं वुत्ते, भन्ते, सा माणविका तं ब्राह्मणं एतदवोच—"गच्छ त्वं, ब्राह्मण, इम मक्कटच्छापकं आदाय येन रत्तपाणि रजतपुत्तो तेनुपसङ्कम; उपसङ्कमित्वा रत्तपाणिं रजकपुत्तं एवं वदेहि—इच्छामहं सम्म, रत्तपाणि, इमं मक्कटच्छापकं पीतावलेपनं नाम रङ्गजातं रजितं आकोटितपच्चाकोटितं उभतोभागविमट्ठं" ति ।

"अथ खो, भन्ते, सो ब्राह्मणो तस्सा माणविकाय सारत्तो पटिबद्धचित्तो तं मक्कटच्छापकं आदाय येन रत्तपाणि रजकपुत्तो तेनुपसङ्कमि ; उपसंकमित्वा रत्तपाणिं रजकपुत्तं एतदवोच—"इच्छामहं, रत्तपाणि, इमं०··· उभतोभागविमट्ठं" ति । एवं वुत्ते, भन्ते, रत्तपाणि रजकपुत्तो तं ब्राह्मणं एतदवोच—'अयं खो ते, भन्ते, मक्कटच्छापको रङ्गक्खमो हि खो, नो आकोटनक्खमो, नो विमज्जनक्खमो' ति । एवमेव खो, भन्ते, बालानं निगण्ठानं वादो रङ्गक्खमो हि खो बालानं नो पण्डितानं, नो अनुयोगक्खमो, नो विमज्जनक्खमो । अथ खो, भन्ते, सो ब्राह्मणो अपरेन समयेन नवं दुस्सयुगं आदाय येन रत्तपाणि रजकपुत्तो तेनुपसंकमि ; उपसंकमित्वा रत्तपाणिं रजकपुत्तं एतदवोच—'इच्छामहं सम्म, रत्तपाणि, इमं नवं दुस्सयुगं पीतावलेपनं०··· उभतोभागविमट्ठं" ति । एवं वुत्ते, भन्ते, रत्तपाणि रजकपुत्तो तं ब्राह्मणं एतदवोच—'इदं खो ते, भन्ते, नवं दुस्सयुगं रङ्गक्खमं चेव आकोटनक्खमं च विमज्जनक्खमं चा' ति । एवमेव खो, भन्ते, तस्स भगवतो वादो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स रङ्गक्खमो चेव पण्डितानं नो बालानं, अनुयोगक्खमो च विमज्जनक्खमो चा ति ।

"सराजिका खो, गहपति, परिसा एवं जानाति—'उपालि गहपति निगण्ठस्स नातपुत्तस्स सावको' ति । कस्स तं, गहपति, सावकं धारेमा" ति ?

एवं वुत्ते उपालि गहपति उट्ठायासना एकंसं उत्तरासङ्गं करित्वा येन भगवा तेनञ्जलिं पणामेत्वा निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोच—"तेन हि, भन्ते, सुणोहि यस्साहं सावको ति—

'धीरस्स विगतमोहस्स, पभिन्नखीलस्स विजितविजयस्स ।
अनीघस्स सुसमचित्तस्स, वुद्धसीलस्स साधुपञ्ञस्स ।
वेसमन्तरस्स विमलस्स, भगवतो तस्स सावकोहमस्मि ।।०···

"कदा सञ्ञूल्हा पन ते, गहपति, इमे समणस्स गोतमस्स वण्णा" ति ?

"सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि, तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा विचित्तं मालं गन्थेय्य ; एवमेव खो, भन्ते सो भगवा अनेकवण्णो अनेकसतवण्णो । को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सती" ति ?

अथ खो निगण्ठस्स नातपुत्तस्स भगवतो सक्कारं असहमानस्स तत्थेव उण्हं लोहितं मुखतो उग्गच्छी" ति ।[1]

: ३ :

अभय राजकुमार

एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा राजगहे विहरति वेलुवने कलन्दकनिवापे । अथ खो अभयो राजकुमारो येन निगण्ठो नातपुत्तो तेनुपसङ्कमि, उपसङ्कमित्वा निगण्ठ नातपुत्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं निसीन्नं खो अभयं राजकुमारो निगण्ठो नातपुत्तो एतदवोच—"एहि त्वं, राजकुमार, समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेहि । एवं ते कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुग्गच्छिस्सति—'अभयेन राजकुमारेन समणस्स गोतमस्स एवं महिद्धिकस्स एवं महानुभावस्स वादो आरोपितो" ति ।

"यथा कथं पनाहं, भन्ते, समणस्स गोतमस्स एवं महिद्धिकस्स एवं महानुभावस्स वादं आरोपेस्सामि" ति ?

"एहि त्वं, राजकुमार, येन समणो गोतमो तेनुपसङ्कम ; उपसङ्कमित्वा समणं गोतमं एवं वदेहि 'भासेय्य नु खो, भन्ते, तथागतो तं वाचं या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा' ति ? सचे ते समणो गोतमो एवं पुट्ठो एवं ब्याकरोति—'भासेय्य, राजकुमार, तथागतो तं वाचं या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा' ति, तमेनं त्वं एवं वदेय्यासि—'अथ किं चरहि ते, भन्ते, पुथुज्जनेन नानाकरणं ? पुथुज्जनो हि तं वाचं भासेय्य या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा" ति । सचे पन ते समणो गोतमो एवं पुट्ठो एवं ब्याकरोति—'न, राजकुमार, तथागतो तं वाचं भासेय्य या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा' ति, तमेनं त्वं एवं वदेय्यासि—'अथ किं चरहि ते, भन्ते, देवदत्तो ब्याकतो—आपायिको देवदत्तो, नेरयिको देवदत्तो, कप्पट्ठो देवदत्तो, अतेकिच्छो देवदत्तो ति ? ताय च पन ते वाचाय देवदत्तो कुपितो अहोसि अनत्तमनो' ति । इमं खो ते, राजकुमार, समणो गोतमो उभतोकोटिकं पञ्हं पुट्ठो समानो नेव सक्खिति उग्गिलितुं न सक्खिति ओगिलितुं । सेय्यथापि नाम पुरिसस्स अयोसिं-

---

१. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मज्झिमपण्णासकं, उपालिसुत्तं, ६-१ से २१; पृ० ४३ से ६७।

घाटकं कण्ठे विलग्गं, सो नेव सक्कुणेय्य उग्गिलितुं न सक्कुणेय्य ओगिलितुं ; एवमेव खो ते, राजकुमार, समणो गोतमो इमं उभतोकोटिकं पञ्हं पुट्ठो समानो नेव सक्खिति उग्गिलितं न सक्खिति ओगिलितुं" ति ।

"एवं, भन्ते" ति खो अभयो राजकुमारो निगण्ठस्स नातपुत्तस्स पटिस्सुत्वा उट्ठा॰ यासना निगण्ठं नातपुत्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि ।

एकमन्तं निसिन्नस्स खो अभयस्स राजकुमारस्स सुरियं उल्लोकेत्वा एतदहोसि—"*अकालो खो अज्ज भगवतो वादं आरोपेतुं । स्वे दानाहं सके निवेसने भगवतो वादं* आरोपेस्सामि" ति भगवन्तं एतदवोच—"अधिवासेतु मे, भन्ते, भगवा स्वातनाय अत्तचतुत्थो भत्तं" ति । अधिवासेसि भगवा तुण्हीभावेन । अथ खो अभयो राजकुमारो भगवतो अधिवासनं विदित्वा उट्ठायासना भगवन्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा पक्कामि । अथ खो भगवा तस्सा रत्तिया अच्चयेन पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय येन अभयस्स राजकुमारस्स निवेसनं तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा पञ्ञत्ते आसने निसीदि । अथ खो अभयो राजकुमारो भगवन्तं पणीतेन खादनीयेन भोजनीयेन सहत्था सन्तप्पेसि सम्पवारेसि । अथ खो अभयो राजकुमारो भगवन्तं भुत्ताविं ओनीतपत्तपाणिं अञ्ञतरं नीचं आसनं गहेत्वा एकमन्तं निसीदि ।

एकमन्तं निसिन्नो खो अभयो राजकुमारो भगवन्तं एतदवोच—"भासेय्य नु खो, भन्ते, तथागतो तं वाचं या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा" ति ?

"न ख्वेत्थ, राजकुमार, एकंसेना" ति ।

"एत्थ, भन्ते, अनस्सुं निगण्ठा" ति ।

"किं पन त्वं, राजकुमार, एवं वदेसि—'एत्थ, भन्ते, अनस्सु निगण्ठा" ति ?

"इधाहं, भन्ते, येन निगण्ठो नातपुत्तो तेनुपसंकमि, उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नातपुत्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदिं । एकमन्तं निसिन्नं खो मं, भन्ते, निगण्ठो नातपुत्तो एतदवोच—"एहि त्वं, राजकुमार, समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेहि । एवं ते कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुग्गच्छस्सति—अभयेन राजकुमारेन समणस्स गोतमस्स एवं महिद्धिकस्स एवं महानुभावस्स वादो आरोपितो' ति । एवं वुत्ते, अहं, भन्ते, निगण्ठं नातपुत्तं एतदवोचं—'यथा कथं पनाहं, भन्ते, समणस्स गोतमस्स एवं महिद्धिकस्स एवं महानुभावस्स वादं आरोपेस्सामी' ति ?

'एहि त्वं, राजकुमार, येन समणो गोतमो तेनुपसङ्कम' उपसङ्कमित्वा समणं गोतमं एवं वदेहि—भासेय्य नु खो, भन्ते, तथागतो तं वाचं या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा ति ? सचे ते समणो गोतमो एवं पुट्ठो एवं ब्याकरोति—भासेय्य, राजकुमार, तथागतो तं वाचं या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा ति, तमेनं त्वं एवं वदेय्यासि—अथ किं चरहि

ते, भन्ते, पुथुज्जनेन नानाकरणं ? पुथुज्जनो पि हि तं वाचं भासेय्य या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा ति। सचे पन ते समणो गोतमो एवं पुट्ठो एवं ब्याकरोति— न, राजकुमार, तथागतो तं वाचं भासेय्य या सा वाचा परेसं अप्पिया अमनापा ति, तमेनं त्वं एवं वदेय्यासि—अथ किं चरहि ते, भन्ते, देवदत्तो ब्याकतो—आपायिको देवदत्तो, नेरयिको देवदत्तो, कप्पट्ठो देवदत्तो, अतेकिच्छो देवदत्तो ति ? ताय च पन ते वाचाय देवदत्तो कुपितो अहोसि अनत्तमनो ति। इमं खो ते, राजकुमार, समणो गोतमो उभतोकोटिकं पञ्हं पुट्ठो समानो नेव सक्खिति उग्गिलितुं न सक्खिति ओगिलितुं। सेय्यथापि नाम पुरिसस्स अयोसिङ्घाटकं कण्ठे विलग्गं, सो नेव सक्कुणेय्य उग्गिलितुं न सक्कुणेय्य ओगिलितुं ; एवमेव खो ते, राजकुमार, समणो गोतमो इमं उभतोकोटिकं पञ्हं पुट्ठो समानो नेव सक्खिति उग्गिलितुं न सक्खिति ओगिलितुं" ति।

अनुकम्पाय अप्पियं पि भासेय्य

तेन खो पन समयेन दहरो कुमारो मन्दो उत्तानसेय्यको अभयस्स राजकुमारस्स अङ्के निसिन्नो होति। अथ खो भगवा अभयं राजकुमारं एतदवोच—"तं किं मञ्ञसि, राजकुमार, सचायं कुमारो तुय्हं वा पमादमन्वाय धातिया वा पमादमन्वाय वा कट्ठं वा कठलं वा मुखे आहरेय्य, किन्ति नं करेय्यासी" ति ?

"आहरेय्यस्साहं, भन्ते। सचे, भन्ते, न सक्कुणेय्यं आदिकेनेव आहतुं, वामेन हत्थेन सीसं परिग्गहेत्वा दक्खिणेन हत्थेन वङ्कङ्गुलिं करित्वा सलोहितं पि आहरेय्यं। तं किस्स हेतु ? अत्थि मे, भन्ते, कुमारे अनुकम्पा" ति।

"एवमेव खो, राजकुमार, यं तथागतो वाचं जानाति अभूतं अतच्छं अनत्थसंहितं सा च परेसं अप्पिया अमनापा, न तं तथागतो वाचं भासति। यं पि तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अनत्थसंहितं सा च परेसं अप्पिया अमनापा, तं पि तथागतो वाचं न भासति। यं च खो तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अत्थसंहितं सा च परेसं अप्पिया अमनापा, तत्र कालञ्ञू तथागतो होति तस्सा वाचाय वेय्याकरणाय। यं तथागतो वाचं जानाति अभूतं अतच्छं अनत्थसंहितं सा च परेसं पिया मनापा, न तं तथागतो वाचं भासति। यं पि तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अनत्थसंहितं सा च परेसं पिया मनापा तं पि तथागतो वाचं न भासति। यं च तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अत्थसंहितं सा च परेसं पिया मनापा, तत्र कालञ्ञू तथागतो होति तस्सा वाचाय वेय्याकरणाय। तं किस्स हेतु ? अत्थि, राजकुमार, तथागतस्स सत्तेसु अनुकम्पा" ति।

ठानसोवेतं तथागतं पटिभाति

"ये मे, भन्ते, खत्तियपण्डिता पि ब्राह्मणपण्डिता पि गहपति पण्डिता पि समणपण्डिता पि पञ्हं अभिसङ्खरित्वा तथागतं उपसङ्कमित्वा पुच्छन्ति, पुब्बेव नु खो, भन्ते, भगवतो चेतसो परिवितक्कितं होति 'ये मं उपसङ्कमित्वा एवं पुच्छिस्सन्ति तेसाहं एवं पुट्ठो एवं ब्याकरिस्सामी' ति, उदाहु ठानसोवेतं तथागतं पटिभाती" ति ?

"तेन हि, राजकुमार, तञ्ञेवेत्थ पटिपुच्छिस्सामि, यथा ते खमेय्य तथा नं ब्याकरेय्यासि। तं किं मञ्ञसि, राजकुमार, कुसलो त्वं रथस्स अङ्गपच्चङ्गानं" ति ?

"एवं, भन्ते, कुसलो अहं रथस्स अङ्गपच्चङ्गानं" ति।

"तं किं मञ्ञसि, राजकुमार, ये तं उपसङ्कमित्वा एवं पुच्छेय्युं—'किं नामिदं रथस्स अङ्गपच्चङ्ग" ति ? पुब्बेव नु खो ते एतं चेतसो परिवितक्कितं अस्स 'ये मं उपसङ्कमित्वा एवं पुच्छिस्सन्ति तेसाहं एवं पुट्ठो एवं ब्याकरिस्सामी' ति, उदाहु ठानसोवेतं पटिभासेय्या" ति ?

"अहं हि भन्ते, रथिको सञ्ञातो कुसलो रथस्स अङ्गपच्चङ्गानं ! सब्बानि मे रथस्स अङ्गपच्चङ्गानि सुविदितानि। ठानसोवेतं मं पटिभासेय्या" ति।

"एवमेव खो, राजकुमार, ये ते खत्तियपण्डिता पि ब्राह्मणपण्डिता पि गहपतिपण्डिता पि समणपण्डिता पि पञ्हं अभिसङ्खरित्वा तथागतं उपसङ्कमित्वा पुच्छन्ति, ठानसोवेतं तथागतं पटिभाति तं किस्स हेतु ? सा हि, राजकुमार, तथागतस्स धम्मधातु सुप्पटिविद्धा यस्सा धम्मधातुया सुप्पटिविद्धत्ता ठानसोवेतं तथागतं पटिभाती" ति।

एवं वुत्ते, अभयो राजकुमारो भगवन्तं एतदवोच—अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते···पे०···अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति।[1]

"पच्छिमे च भवे दानि गिरिब्बजपुरुत्तमे।
रञ्ञोहं बिम्बिसारस्स पुत्तो नामेन आभयो॥
"पापमित्तवसं गन्त्वा, निगण्ठेन विमोहितो।
पेसितो नाटपुत्तेन, बुद्धसेट्ठमुपेच्चहं॥
"पुच्छित्वा निपुणं पञ्हं, सुत्वा ब्याकरणुत्तमं।
पब्बजित्वान नचिरं, अरहत्तमपापुणिं॥
"कित्तयित्वा जिनवरं, कित्तितो होमि सब्बदा।
सुगन्धदेहवदनो, आसिं सुखसमप्पितो॥

१—सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मज्झिमपण्णासकं, अभयराजकुमार सुत्तं २-८-१ से ३, पृ० ६७ से ७१।

"तिक्खहासक्खुपञ्ञो, महापञ्ञो तथेवहं।
विचित्तपटिभानो च, तस्स कम्मस्स वाहसा ॥
"अभित्थवित्वा पदुमुत्तराहं, पसन्नचित्तो असमं सयम्भुं।
न गच्छिं कप्पानि अपायभूमिं, सतं सहस्सानि बलेन तस्स ॥"[1]

: ४ :

कर्म-चर्चा

निगण्ठाणं दुक्खनिज्जरावादो

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति देवदहं नाम सक्यानं निगमो। तत्र खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि—"भिक्खवो" ति। "भदन्ते" ति ते भिक्खू भगवतो पच्चस्सोसुं। भगवा एतदवोच—"सन्ति, भिक्खवे, एके समणब्राह्मणा एवंवादिनो एवंदिट्ठिनो—'यं किञ्चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा, सब्बं तं पुब्बेकतहेतु। इति पुराणानं कम्मानं तपसा ब्यन्तीभावा, नवानं कम्मानं अकरणा, आयतिं अनवस्सवो; आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो; कम्मक्खया दुक्खक्खयो; दुक्खक्खया वेदनाक्खयो; वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती' ति। एवंवादिनो, भिक्खवे, निगण्ठा। एवंवादाहं, भिक्खवे, निगण्ठे उपसङ्कमित्वा एवं वदामि—'सच्चं किर तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, एवंवादिनो एवंदिट्ठिनो—यं किञ्चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा, सब्बं तं पुब्बेकतहेतु···पे०···वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती' ति? ते च मे, भिक्खवे, निगण्ठा एवं पुट्ठा 'आमा' ति पटिजानन्ति। त्याहं एवं वदामि—'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—अहुवम्हे व मयं पुब्बे, न नाहुवम्हा' ति?

'नो हिदं आवुसो'।

'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—अकरम्हे व मयं पुब्बे पापकम्मं, न नाकरम्हा' ति?

'नो हिदं, आवुसो'।

'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—एवरूपं वा एवरूपं वा पापकम्मं अकरम्हा' ति?

'नो हिदं, आवुसो'।

१—सुत्तपिटके, खुद्दक निकाये थेरापदान पालि (२), भद्दियवग्गो, अभयत्थेरअपदानं, ५५-७-२१६ से २२१; पृ० १५५।

किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—एत्तकं वा दुक्खं निज्जिण्णं, एत्तकं वा दुक्खं निज्जीरेतब्बं, एत्तकम्हि वा दुक्खे निज्जिण्णे सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती' ति ?

'नो हिदं, आवुसो' ।

किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—दिट्ठेव धम्मे अकुसलानं धम्मानं पहानं, कुसलानं धम्मानं उपसम्पदं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो' ।

'इति किर तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, न जानाथ—अहुवम्हे व मयं पुब्बे न नाहुवम्हा ति,०···कुसलानं धम्मानं उपसम्पदं । एवं सन्ते आयस्मन्तानं निगण्ठानं न कल्लमस्स वेय्याकरणाय—यं किञ्चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा, सब्बं तं पुब्बेकतहेतु । इति पुराणानं कम्मानं तपसा ब्यन्तीभावा, नवानं कम्मानं अकरणा, आयतिं अनवस्सवो, आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो; कम्मक्खया दुक्खक्खयो ; दुक्खक्खया वेदनाक्खयो ; वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती' ति ।०··· ।

"सेय्यथापि, आवुसो निगण्ठा, पुरिसो सल्लेन विद्धो अस्स सविसेन गाल्हूपलेपनेन ; सो सल्लस्स पि वेधनहेतु दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियेय्य । तस्स मित्तामच्चा ञातिसालोहिता भिसक्कं सल्लकत्तं उपट्ठापेय्युं । तस्स सो भिसक्को सल्लकत्तो सत्थेन वणमुखं परिकन्तेय्य ; सो सत्थेन पि वणमुखस्स परिकन्तनहेतु दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियेय्य । तस्स सो भिसक्को सल्लकत्तो एसनिया सल्लं एसेय्य ; सो एसनिया पि सल्लस्स एसनाहेतु दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियेय्य । तस्स सो भिसक्को सल्लकत्तो सल्लं अब्बुहेय्य ; सो सल्लस्स पि अब्बुहनहेतु दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियेय्य । तस्स सो भिसक्को सल्लकत्तो अगदङ्गारं वणमुखे ओदहेय्य ; सो अगदङ्गारस्स पि वणमुखे ओदहनहेतु दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियेय्य । सो अपरेन समयेन रूल्हेन वणेन सञ्छविना अरोगो अस्स सुखी सेरी सयंवसी येनकामङ्गमो । तस्स एवमस्स—अहं खो पुब्बे सल्लेन विद्धो अहोसिं सविसेन गाल्हूपलेपनेन । सोहं सल्लस्स पि वेधनहेतु दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियिं ।०···। सोम्हि एतरहि रूल्हेन वणेन सञ्छविना अरोगो सुखी सेरी सयंवसी येनकामङ्गमो ति । एवमेव खो, आवुसो निगण्ठा, सचे तुम्हे जानेय्याथ—अहुवम्हे व मयं पुब्बे न नाहुवम्हा ति,०···। यस्मा च खो तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, न जानाथ—अहुवम्हे व मयं पुब्बे न नाहुवम्हा ति ।०···

"एवं वुत्ते, भिक्खवे, ते निगण्ठा मं एतदवोचुं—'निगण्ठो, आवुसो, नाटपुत्तो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी, अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति, चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं ति । सो एवमाह—अत्थि खो वो, आवुसो निगण्ठा, पुब्बे व पापकम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करकारिकाय निज्जीरेथ, यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता वाचाय संवुता मनसा संवुता तं आयतिं पापकम्मस्स अकरणं । इति

पुराणानं कम्मानं तपसा ब्यन्तीभावा, नवानं कम्मानं अकरणा, आयतिं अनवस्सवो ; आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो ; कम्मक्खया दुक्खक्खयो ; दुक्खक्खया वेदनाक्खयो ; वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती ति। तं च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च, तेन चम्हा अत्तमना' ति।

अफलो उपक्कमो अफलं पधानं

"एवं वुत्ते अहं, भिक्खवे ते निगण्ठे एतदवोचं—'पञ्च खो इमे, आवुसो निगण्ठा, धम्मा दिट्ठेव धम्मे द्विधाविपाका। कतमे पञ्च ? सद्धा, रुचि, अनुस्सवो, आकारपरिवितक्को, दिट्ठिनिज्झानक्खन्ति—इमे खो, आवुसो निगण्ठा, पञ्च धम्मा दिट्ठेव धम्मे द्विधाविपाका। तत्रायस्मन्तानं निगण्ठानं का अतीतंसे सत्थरि सद्धा का रुचि को अनुस्सवो को आकारपरिवितक्को का दिट्ठिनिज्झानक्खन्ती' ति। एवंवादी खो अहं, भिक्खवे, निगण्ठेसु न किञ्चि सहधम्मिकं वादपटिहारं समनुपस्सामि।

"पुन च पराहं, भिक्खवे, ते निगण्ठे एवं वदामि—'तं किं मञ्ञथ, आवुसो निगण्ठा, यस्मिं वो समये तिब्बो उपक्कमो होति तिब्बं पधानं, तिब्बा तस्मिं समये ओपक्कमिका दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियेथ ; यस्मिं पन वो समये न तिब्बो उपक्कमो होति न तिब्बं पधानं, न तिब्बा तस्मिं समये ओपक्कमिका दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियेथा' ति ?

'यस्मिं नो, आवुसो गोतम, समये तिब्बो उपक्कमो होति तिब्बं पधानं, तिब्बा तस्मिं समये ओपक्कमिका दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियाम ; यस्मिं पन नो समये न तिब्बो उपक्कमो होति न तिब्बं पधानं, न तिब्बा तस्मिं समये ओपक्कमिका दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियामा' ति।

'इति किर, आवुसो निगण्ठा, यस्मिं वो समये तिब्बो उपक्कमो······वेदना वेदियेथ। एवं सन्ते आयस्मन्तानं निगण्ठानं न कल्लमस्स वेय्याकरणाय—यं किञ्चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा, सब्बं तं पुब्बेकतहेतु···पे०···वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती ति। सचे, आवुसो निगण्ठा, यस्मिं वो समये तिब्बो उपक्कमो०······भविस्सती ति। यस्मा च खो, आवुसो निगण्ठा, यस्मिं वो समये तिब्बो उपक्कमो०······वेदना वेदयमाना अविज्जा अञ्ञाणा सम्मोहा विपच्चेथ—यं किञ्चायं पुरिसपुग्गलो पटिसंवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं पुब्बेकतहेतु···पे०··· वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती' ति। एवंवादी पि खो अहं, भिक्खवे, निगण्ठेसु न किञ्चि सहधम्मिकं वादपटिहारं समनुपस्सामि।

"पुन च पराहं, भिक्खवे, ते निगण्ठे एवं वदामि—'तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, यमिदं कम्मं दिट्ठधम्मवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा सम्परायवेदनीयं होतु ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'यं पनिदं कम्मं सम्परायवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा दिट्ठधम्मवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, यमिदं कम्मं सुखवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा दुक्खवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'यं पनिदं कम्मं दुक्खवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा सुखवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, यमिदं कम्मं परिपक्कवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा अपरिपक्कवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति।

'नो हिदं, आवुसो'।

'यं पनिदं कम्मं अपरिपक्कवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा परिपक्कवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, यमिदं कम्मं बहुवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा अप्पवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'यं पनिदं कम्मं अप्पवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा बहुवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, यमिदं कम्मं सवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा अवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति।

'नो हिदं, आवुसो'।

'यं पनिदं कम्मं अवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा सवेदनीयं होतू ति लब्भमेतं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'इति किर, आवुसो निगण्ठा, यमिदं कम्मं दिट्ठधम्मवेदनीयं तं उपक्कमेन वा पधानेन वा सम्परायवेदनीयं होतू ति अलब्भमेतं, यं पनिदं०......."एवं सन्ते आयस्मन्तानं निगण्ठानं अफलो उपक्कमो होति, अफलं पधानं'।

"एवंवादी, भिक्खवे, निगण्ठा। एवंवादीनं, भिक्खवे, निगण्ठानं दस सहधम्मिका वादानुवादा गारय्हं ठानं आगच्छन्ति।

"सचे, भिक्खवे, सत्ता पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, निगण्ठा पुब्बे दुक्कटकम्मकारिनो यं एतरहि एवरूपा दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियन्ति। सचे, भिक्खवे, सत्ता इस्सरनिम्मानहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, निगण्ठा पापकेन इस्सरेन निम्मिता यं एतरहि एवरूपा दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियन्ति। सचे, भिक्खवे, सत्ता सङ्गतिभावहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, निगण्ठा पापसङ्गतिका यं एतरहि एवरूपा दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियन्ति। सचे, भिक्खवे, सत्ता अभिजातिहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, निगण्ठा पापाभिजातिका यं एतरहि एवरूपा दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियन्ति। सचे, भिक्खवे, सत्ता दिट्ठधम्मूपक्कमहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, निगण्ठा एवरूपा दिट्ठधम्मूपक्कमा यं एतरहि एवरूपा दुक्खा तिब्बा कटुका वेदना वेदियन्ति।

"सचे, भिक्खवे, सत्ता पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, गारय्हा निगण्ठा; नो चे सत्ता पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, गारय्हा निगण्ठा। सचे, भिक्खवे, सत्ता इस्सर-निम्मानहेतु०...एवंवादी, भिक्खवे, निगण्ठा। एवंवादीनं, भिक्खवे, निगण्ठानं इमे दस सहधम्मिका वादानुवादा गारय्हं ठानं आगच्छन्ति। एवं खो, भिक्खवे, अफलो उपक्कमो होति, अफलं पधानं।

सफलो उपक्कमो सफलं पधानं

"कथं च, भिक्खवे, सफलो उपक्कमो होति, सफलं पधानं? इध, भिक्खवे, भिक्खु न हेव अनद्धभूतं अत्तानं दुक्खेन अद्धभावेति, धम्मिकं च सुखं न परिच्चजति, तस्मिं च सुखे अनधिमुच्छितो होति। सो एवं पजानाति—'इमस्स खो मे दुक्खनिदानस्स सङ्खारं पदहतो सङ्खारप्पधाना विरागो होति, इमस्स पन मे दुक्खनिदानस्स अज्झुपेक्खतो उपेक्खं भावयतो विरागो होती' ति।०...

'सेय्यथापि, भिक्खवे, पुरिसो इत्थिया सारत्तो पटिबद्धचित्तो तिब्बच्छन्दो तिब्बापेक्खो। सो तं इत्थिं पस्सेय्य अञ्ञेन पुरिसेन सद्धिं सन्तिट्ठन्तिं सल्लपन्तिं सञ्जग्घन्तिं संहसन्तिं। तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, अपि नु तस्स पुरिसस्स अमुं इत्थिं दिस्वा अञ्ञेन पुरिसेन सद्धिं सन्तिट्ठन्तिं सल्लपन्तिं सञ्जग्घन्तिं संहसन्तिं उप्पज्जेय्युं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा" ति?

"एवं भन्ते"।

"तं किस्स हेतु"?

"अमु हि, भन्ते, पुरिसो अमुस्सा इत्थिया सारत्तो०...।

"अथ खो, भिक्खवे, तस्स पुरिसस्स एवमस्स—'अहं खो अमुस्सा इत्थिया सारत्तो०··· यन्नूनाहं यो मे अमुस्सा इत्थिया छन्दरागो तं पजहेय्यं' ति। सो यो अमुस्सा इत्थिया छन्दरागो तं पजहेय्य। सो तं इत्थिं पस्सेय्य अपरेन समयेन अञ्ञेन पुरिसेन सद्धिं सन्तिट्ठन्तिं सल्लपन्तिं सञ्जग्घन्तिं संहसन्तिं। तं किं मञ्ञथ, भिक्खवे, अपि नु तस्स पुरिसस्स अमुं इत्थिं दिस्वा अञ्ञेन०···संहसन्तिं उप्पज्जेय्युं सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा" ति?

"नो हेतं, भन्ते"।

"तं किस्स हेतु"?

"असु हि, भन्ते, पुरिसो अमुस्सा इत्थिया वीतरागो। तस्मा तं इत्थिं दिस्वा०·······।

"एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु न हेव अनद्धभूतं अत्तानं दुक्खेन अद्धभावेति। ०······

"पुन च परं, भिक्खवे, भिक्खु इति पटिसञ्चिक्खति—'यथासुखं खो मे विहरतो अकुसला धम्मा अभिवड्ढन्ति, कुसला धम्मा परिहायन्ति; दुक्खाय पन मे अत्तानं पदहतो अकुसला धम्मा परिहायन्ति, कुसला धम्मा अभिवड्ढन्ति। यन्नूनाहं दुक्खाय अत्तानं पदहेय्यं' ति। सो दुक्खाय अत्तानं पदहति। तस्स दुक्खाय अत्तानं पदहतो अकुसला धम्मा परिहायन्ति कुसला धम्मा अभिवड्ढन्ति। सो न अपरेन समयेन दुक्खाय अत्तानं पदहति। तं किस्स हेतु? यस्स हि सो, भिक्खवे, भिक्खु अत्थाय दुक्खाय अत्तानं पदहेय्य स्वास्स अत्थो अभिनिप्फन्नो होति। तस्मा न अपरेन समयेन दुक्खाय अत्तानं पदहति। सेय्यथापि, भिक्खवे, उसुकारो तेजनं द्वीसु अलातेसु आतापेति परितापेति उजुं करोति कम्मनियं। यतो खो, भिक्खवे, उसुकारस्स तेजनं द्वीसु अलातेसु आतापितं होति०··· ···न सो तं अपरेन समयेन उसुकारो तेजनं द्वीसु अलातेसु आतापेति०······तं किस्स हेतु? यस्स हि सो, भिक्खवे, अत्थाय उसुकारो तेजनं द्वीसु अलातेसु आतापेय्य०···स्वास्स अत्थो अभिनिप्फन्नो होति। तस्मा न अपरेन समयेन उसुकारो तेजनं द्वीसु अलातेसु आतापेति०···एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु इति पटिसञ्चिक्खति—'यथासुखं खो मे विहरतो अकुसला धम्मा अभिवड्ढन्ति०··· स्वास्स अत्थो अभिनिप्फन्नो होति। तस्मा न अपरेन समयेन दुक्खाय अत्तानं पदहति। एवं पि, भिक्खवे, सफलो उपक्कमो होति, सफलं पधानं।०···

"सचे, भिक्खवे, सत्ता पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, तथागतो पुब्बे सुकतकम्मकारी यं एतरहि एवरूपा अनासवा सुखा वेदना वेदेति। सचे, भिक्खवे, सत्ता इस्सरनिम्मानहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, तथागतो भद्दकेन इस्सरेन निम्मितो यं एतरहि एवरूपा अनासवा सुखा वेदना वेदेति। सचे, भिक्खवे, सत्ता सङ्गतिभावहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, तथागतो कल्याणसङ्गतिको यं एतरहि एवरूपा अनासवा सुखा वेदना वेदेति। सचे भिक्खवे, सत्ता अभिजातिहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति; अद्धा, भिक्खवे, तथागतो कल्याणभिजातिको यं एतरहि एवरूपा अनासवा

सुखा वेदना वेदेति । सचे, भिक्खवे, सत्ता दिट्ठधम्मूपक्कमहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति ; अद्धा, भिक्खवे, तथागतो कल्याणदिट्ठधम्मूपक्कमो यं एतरहि एवरूपा अनासवा सुखा वेदना वेदेति ।

"सचे, भिक्खवे, सत्ता पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो ; नो चे सत्ता पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो । सचे, भिक्खवे, सत्ता इस्सरनिम्मानहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो ; नो चे सत्ता इस्सरनिम्मानहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो । सचे, भिक्खवे, सत्ता सङ्गतिभावहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो ; नो चे सत्ता सङ्गतिभावहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो । सचे, भिक्खवे, सत्ता अभिजातिहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो ; नो चे सत्ता अभिजातिहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो । सचे, भिक्खवे, सत्ता दिट्ठधम्मूपक्कमहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो ; नो चे सत्ता दिट्ठधम्मूपक्कमहेतु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति, पासंसो तथागतो । एवंवादी, भिक्खवे, तथागता । एवंवादीनं; भिक्खवे, तथागतानं इमे दस सहधम्मिका पासंसट्ठाना आगच्छन्ती' ति ।

इदमवोच भगवा । अत्तमना ते भिक्खू भगवतो भासितं अभिनन्दुं ति ।[1]

: ५ :

निर्ग्रन्थों का तप

अप्पस्सादा कामा बहुदुक्खा

एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं निग्रोधारामे । अथ खो महानामो सक्को येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि । ०······

"एकमिदाहं, महानाम, समयं राजगहे विहरामि गिज्झकूटे पब्बते । तेन खो पन समयेन सम्बहुला निगण्ठा इसिगिलिपस्से काळसिलायं उब्भट्ठका होन्ति आसनपटिक्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिब्बा खरा कटुका वेदना वेदयन्ति । अथ ख्वाहं, महानाम, सायन्ह-समयं पटिसल्लाना वुट्ठितो येन इसिगिलिपस्से काळसिला येन ते निगण्ठा तेनुपसङ्कमिं ; उपसङ्कमित्वा ते निगण्ठे एतदवोचं—'किन्नु तुम्हे, आवुसो, निगण्ठा उब्भट्ठका आसनपटि-क्खित्ता, ओपक्कमिका दुक्खा तिब्बा खरा कटुका वेदना वेदयथा' ति ? एवं वुत्ते, महानाम, ते निगण्ठा मं एतदवोचुं—'निगण्ठो, आवुसो, नातपुत्तो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं

1. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, उपरिपण्णासकं, देवदह सुत्तं, ३-१-१ से ४, पृ० १ से २० ।

आणदस्सनं पटिजानाति—चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं ति। सो एवमाह—अत्थि खो वो, निगण्ठा, पुब्बे पापकम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करकारिकाय निज्जीरेथ ; यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता वाचाय संवुता मनसा संवुता तं आयतिं पापस्स कम्मस्स अकरणं ; इति पुराणानं कम्मानं तपसा ब्यन्तिभावा, नवानं कम्मानं अकरणा, आयतिं अनवस्सवो, आयतिं अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खयो वेदनाक्खयो, वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सती ति। तं च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च, तेन चम्हं अत्तमना' ति।

"एवं वुत्ते, अहं, महानाम, ते निगण्ठे एतदवोचं—'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—अहुवम्हे व मयं पुब्बे न नाहुवम्हा' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—अकरम्हे व मयं पुब्बे पापकम्म न नाकरम्हा' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—एवरूपं वा एवरूपं वा पापकम्मं अकरम्हा' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—एत्तकं वा दुक्खं निज्जिण्णं, एत्तकं वा दुक्खं निज्जीरेतब्बं, एत्तकम्हि वा दुक्खे निज्जिणे सब्बं दुक्खं निज्जिणं भविस्सती' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'किं पन तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, जानाथ—दिट्ठेव धम्मे अकुसलानं धम्मानं पहानं, कुसलानं धम्मानं उपसम्पदं' ति ?

'नो हिदं आवुसो'।

'इति किर तुम्हे, आवुसो निगण्ठा, न जानाथ—अहुवम्हे व मयं पुब्बे न नाहुवम्हा ति, न जानाथ—अकरम्हे व मयं पुब्बे पापकम्म न नाकरम्हा ति, न जानाथ—एवरूपं वा एवरूपं वा पापकम्मं अकरम्हा ति, न जानाथ—एत्तकं वा दुक्खं निज्जिण्णं, एत्तकं वा दुक्खं निज्जिरेतब्बं एत्तकम्हि वा दुक्खे निज्जिण्णे सब्बं दुक्खं निज्जिणं भविस्सती ति, न जानाथ—दिट्ठेव धम्मे अकुसलानं धम्मानं पहानं, कुसलानं धम्मानं उपसम्पदं। एवं सन्ते, आवुसो निगण्ठा, ये लोके लुद्दा लोहितपाणिनो कुरूरकम्मन्ता मनुस्सेसु पच्चाजाता ते निगण्ठेसु पब्बजन्ती' ति।

"न खो, आवुसो गोतम, सुखेन सुखं अधिगन्तब्बं, दुक्खेन खो सुखं अधिगन्तब्बं ; सुखेन चावुसो गोतम, सुखं अधिगन्तब्बं अभविस्स, राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो सुखं अधिगच्छेय्य, राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो सुखविहारितरो आयस्मता गोतमेना' ति।

'अद्धायस्मन्तेहि निगण्ठेहि सहसा अप्पटिसङ्खा वाचा भासिता—न खो, आवुसो गोतम, सुखेन सुखं अधिगन्तब्बं, दुक्खेन खो सुखं अधिगन्तब्बं ; सुखेन चावुसो गोतम, सुखं अधिगन्तब्बं अभविस्स, राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो सुखं अधिगच्छेय्य, राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो सुखविहारितरो आयस्मता गोतमेना ति। अपि च अहमेव तत्थ पटिपुच्छितब्बो—को नु खो आयस्मन्तानं सुखविहारितरो राजा वा मागधो सेनियो बिम्बिसारो आयस्मा वा गोतमो' ति ?

'अद्धावुसो गोतमो, अम्हेहि सहसा अप्पटिसङ्खा वाचा भासिता न खो, आवुसो गोतमो, सुखेन सुखं अधिगन्तब्बं, दुक्खेन खो सुखं अधिगन्तब्बं ; सुखेन चावुसो गोतम, सुखं अधिगन्तब्बं अभविस्स, राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो सुखं अधिगच्छेय्य, राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो सुखविहारितरो आयस्मता गोतमेना ति। अपि च तिट्ठतेतं, इदानि पि मयं आयस्मन्तं गोतमं पुच्छाम—को नु खो आयस्मन्तानं सुखविहारितरो राजा वा मागधो सेनियो बिम्बिसारो आयस्मा वा गोतमो' ति ?

'तेन हावुसो निगण्ठा, तुम्हे व तत्थ पटिपुच्छिस्सामि, यथा वो खमेय्य तथा नं ब्याकरेय्याथ। तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, पहोति राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो, अनिञ्जमानो कायेन, अभासमानो वाचं, सत्त रत्तिन्दिवानि एकन्तसुखं पटिसंवेदी विहरितुं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, पहोति राजा मागधो सेनियो बिम्बिसारो, अनिञ्जमानो कायेन, अभासमानो वाचं, छ रत्तिन्दिवानि…पे०…पञ्च रत्तिन्दिवानि…चत्तारि रत्तिन्दिवानि…तीणि रत्तिन्दिवानि…द्वे रत्तिन्दिवानि…एकं रत्तिन्दिवं एकन्तसुखं पटिसंवेदी विहरितुं' ति ?

'नो हिदं, आवुसो'।

'अहं खो, आवुसो निगण्ठा, पहोमि अनिञ्जमानो कायेन, अभासमानो वाचं, एकं रत्तिन्दिवं एकन्तसुखं पटिसंवेदी विहरितुं। अहं खो, आवुसो निगण्ठा, पहोमि अनिञ्जमानो कायेन, अभासमानो वाचं, द्वे रत्तिन्दिवानि…तीणि रत्तिन्दिवानि…चत्तारि रत्तिन्दिवानि…पञ्च रत्तिन्दिवानि…छ रत्तिन्दिवानि…सत्त रत्तिन्दिवानि एकन्तसुखं पटिसंवेदी विहरितुं। तं किं मञ्ञथावुसो निगण्ठा, एवं सन्ते को सुखविहारितरो राजा वा मागधो सेनियो बिम्बिसारो अहं वा' ति ?

'एवं सन्ते आयस्मा व गोतमो सुखविहारितरो रञ्ञा मागधेन सेनियेन बिम्बिसारेना' ति।

इदमवोच भगवा। अत्तमनो महानामो सक्को भगवतो भासितं अभिनन्दी ति।[1]

---

१. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मूलपण्णासकं, चूलदुक्खक्खन्धसुत्तं, १४-२, २; पृ० १२६-१३१।

: ६ :

असिबन्धकपुत्र ग्रामणी

एकं समयं भगवा नालन्दायं विहरति पावारिकम्बवने। अथ खो असिबन्धकपुत्तो गामणि निगण्ठसावको येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नं खो असिबन्धकपुत्तं गामणिं भगवा एतदवोच—"कथं नु खो, गामणि, निगण्ठो नाटपुत्तो सावकानं धम्मं देसेती" ति ?

"एवं खो, भन्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो सावकानं धम्मं देसेति—'यो कोचि पाणं अतिपातेति सब्बो सो आपायिको नेरयिको, यो कोचि अदिन्नं आदियति सब्बो सो आपायिको नेरयिको, यो कोचि कामेसु मिच्छा चरति सब्बो सो आपायिको नेरयिको, यो कोचि मुसा भणति सब्बो सो आपायिको नेरयिको। यंबहुलं यंबहुलं विहरति तेन तेन नीयती' ति। एवं खो, भन्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो सावकानं धम्मं देसेती" ति।

"यंबहुलं यंबहुलं च, गामणि, विहरति तेन तेन नीयति', एवं सन्ते न कोचि आपायिको नेरयिको भविस्सति, यथा निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स वचनं।

"तं किं मञ्ञसि, गामणि, यो सो पुरिसो पाणातिपाती रत्तिया वा दिवसस्स वा समयासमयं उपादाय, कतमो बहुतरो समयो यं वा सो पाणमतिपातेति यं वा सो पाणं नातिपातेती" ति ?

"यो सो, भन्ते, पुरिसो पाणातिपाती रत्तिया वा दिवसस्स वा समयासमयं उपादाय, अप्पतरो सो समयो यं सो पाणमतिपातेति, अथ खो स्वेव बहुतरो समयो यं सो पाणं नातिपातेती" ति।

"यंबहुलं यंबहुलं च, गामणि,०··· । यो सो पुरिसो अदिन्नादायी रत्तिया वा दिवसस्स वा समयासमयं उपादाय,०··· ।

"यंबहुलं यंबहुलं च,०··· गामणि,—यो सो पुरिसो कामेसुमिच्छाचारी रत्तिया वा दिवसस्स वा समयासमयं उपादाय,०··· ।

"यंबहुलं यंबहुलं च, गामणि,०··· यो सो पुरिसो मुसावादी रत्तिया वा दिवसस्स वा समयासमयं उपादाय,०··· ।

"इध, गामणि, एकच्चो सत्था एवंवादी होति एवंदिट्ठि—'यो कोचि पाणमतिपातेति सब्बो सो आपायिको नेरयिको, यो कोचि अदिन्नं आदियति सब्बो सो आपायिको नेरयिको, यो कोचि कामेसु मिच्छा चरति सब्बो सो आपायिको नेरयिको, यो कोचि मुसा भणति सब्बो सो आपायिको नेरयिको' ति। तस्मिं खो पन, गामणि, सत्थरि सावको अभिप्पसन्नो होति। तस्स एवं होति—'मय्हं खो सत्था एवंवादी एवंदिट्ठि—यो कोचि पाणमतिपातेति

सब्बो सो आपायिको नेरयिको ति। अत्थि खो पन मया पाणो अतिपातितो अहम्पम्हि आपायिको नेरयिको ति दिट्ठिं पटिलभति। तं, गामणि, वाचं अप्पहाय तं चित्तं अप्पहाय तं दिट्ठिं अप्पटिनिस्सज्जित्वा यथाभतं निक्खित्तो एवं निरये। मय्हं खो सत्था एवंवादी एवंदिट्ठि—यो कोचि अदिन्नं अदियति०···। मय्हं खो सत्था एवंवादी एवंदिट्ठि—यो कोचि कामेसु मिच्छा चरति सब्बो०···। मय्हं खो सत्था एवंवादी एवंदिट्ठी—यो कोचि मुसा भणति०···।

"इध पन, गामणि, तथागतो लोके उपपज्जति अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा। सो अनेकपरियायेन पाणातिपातं गरहति विगरहति' 'पाणातिपाता विरमथा' ति चाह। अदिन्नादानं गरहति विगरहति 'अदिन्नादाना विरमथा' ति चाह। कामेसुमिच्छाचारं गरहति विगरहति 'कामेसुमिच्छाचारा विरमथा' ति चाह। मुसावादं गरहति विगरहति 'मुसावादा विरमथा' ति चाह। तस्मिं खो पन गामणि, सत्थरि सावको अभिप्पसन्नो होति। सो इति पटिसञ्चिक्खति—'भगवा खो अनेकपरियायेन पाणातिपातं गरहति विगरहति, पाणातिपाता विरमथा ति चाह। अत्थि खो पन मया पाणो अतिपातितो यावतको वा तावतको वा···, तं न सुट्ठु, तं न साधु। अहं चेव खो पन तप्पच्चया विप्पटिसारी अस्सं। न मेतं पापं कम्मं अकतं भविस्सती' ति। सो इति पटिसङ्खाय तं चेव पाणातिपातं पजहति। आयतिं च पाणातिपाता पटिविरतो होति। एवमेतस्स पापस्स कम्मस्स पहानं होति। एवमेतस्स पापस्स कम्मस्स समतिक्कमो होति।

'भगवा खो अनेकपरियायेन अदिन्नादानं'०···।

'भगवा खो पन अनेकपरियायेन कामेसुमिच्छाचारं०···।

'भगवा खो पन अनेकपरियायेन मुसावादं०···।

"सो पाणातिपातं पहाय पाणातिपाता पटिविरतो होति। अदिन्नादानं पहाय अदिन्नादाना पटिविरतो होति। कामेसुमिच्छाचारं पहाय कामेसुमिच्छाचारा पटिविरतो होति। मुसावादं पहाय मुसावादा पटिविरतो होति। पिसुणं वाचं पहाय पिसुणाय वाचाय पटिविरतो होति। फरुसं वाचं पहाय फरुसाय वाचाय पटिविरतो होति। सम्फप्पलापं पहाय सम्फप्पलापा पटिविरतो होति। अभिज्झं पहाय अनभिज्झालु होति। ब्यापादप्पदोसं पहाय अब्यापन्नचित्तो होति। मिच्छादिट्ठिं पहाय सम्मादिट्ठिको होति।

"स खो सो, गामणि, अरियसावको एवं विगताभिज्झो विगतब्यापादो असम्मूळ्हो सम्पजानो पटिस्सतो मेत्तासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति, तथा दुतियं, तथा ततियं, तथा चतुत्थं। इति उद्धमधो तिरियं सब्बधि सब्बत्तताय सब्बावन्तं लोकं मेत्तासहगतेन चेतसा विपुलेन महग्गतेन अप्पमाणेन अवेरेन अब्यापज्जेन फरित्वा विहरति। सेय्यथापि,

गामणि, बलवा सङ्खधमो अप्पकसिरेनेव चतुद्दिसा विञ्ञापेय्य ; एवमेव खो, गामणि, एवं भाविताय मेत्ताय चेतोविमुत्तिया एवं बहुलीकताय यं पमाणकतं कम्मं, न तं तत्रावसिस्सति न तं तत्रावतिट्ठति।

"स खो सो, गामणि, अरियसावको एवं विगताभिज्झो विगतब्यापादो असम्मूळ्हो सम्पजानो पटिस्सतो करुणासहगतेन चेतसा... पे०... मुदितासहगतेन चेतसा... पे०... उपेक्खासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति, तथा दुतियं, तथा ततियं, तथा चतुत्थं।०..."

एवं वुत्ते, असिबन्धकपुत्तो गामणि भगवन्तं एतदवोच—"अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते... पे०... उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति।[1]

: ७ :

नालन्दा में दुर्भिक्ष

एकं समयं भगवा कोसलेसु चारिकं चरमानो महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं येन नालन्दा तदवसरि। तत्र सुदं भगवा नालन्दायं विहरति पावारिकम्बवने।

तेन खो पन समयेन नालन्दा दुब्भिक्खा होति द्वीहितिका सेतट्ठिका सलाकावुत्ता। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नाटपुत्तो नालन्दायं पटिवसति महतिया निगण्ठपरिसाय सद्धिं। अथ खो असिबन्धकपुत्तो गामणि निगण्ठसावको येन निगण्ठो नाटपुत्तो तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा निगण्ठं नाटपुत्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नं खो असिबन्धकपुत्तं गामणि निगण्ठो नातपुत्तो एतदवोच—"एहि त्वं, गामणि, समणस्स गोतमस्स वादं आरोपेहि। एवं ते कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुग्गच्छिस्सति—'असिबन्धकपुत्तेन गामणिना समणस्स गोतमस्स एवंमहिद्धिकस्स एवंमहानुभावस्स वादो आरोपितो" ति।

"कथं पनाहं, भन्ते, समणस्स गोतमस्स एवंमहिद्धिकस्स एवंमहानुभावस्स वादं आरोपेस्सामी" ति?

"एहि त्वं, गामणि, येन समणो गोतमो तेनुपसङ्कम ; उपसङ्कमित्वा समणं गोतमं एवं वदेहि—'ननु, भन्ते भगवा अनेक परियायेन कुलानं अनुद्दयं वण्णेति, अनुरक्खं वण्णेति, अनुकम्पं वण्णेती' ति? सचे खो, गामणि, समणो गोतमो एवं पुट्ठो एवं ब्याकरोति—'एवं गामणि, तथागतो अनेकपरियायेन कुलानं अनुद्दयं वण्णेति, अनुरक्खं वण्णेति, अनुकम्पं

---

१. सुत्तपिटके, संयुत्तनिकाय पालि, सलायतनवग्गो, गामणिसंयुत्तं संखधमसुत्त, ४२-८-८, पृ० २८१-८५।

वण्णेती' ति, तमेनं त्वं एवं वदेय्यासि—'अथ किञ्चरहि, भन्ते, भगवा दुब्भिक्खे द्वीहितिके सेतट्ठिके सलाकावुत्ते महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं चारिकं चरति ? उच्छेदाय भगवा कुलानं पटिपन्नो, अनयाय भगवा कुलानं पटिपन्नो, उपघाताय भगवा कुलानं पटिपन्नो' ति ! इमं खो ते, गामणि, समणो गोतमो उभतोकोटिकं पञ्हं पुट्ठो नेव सक्खति उग्गिलितुं नेव सक्खति ओगिलितुं" ति । "एवं, भन्ते" ति खो असिबन्धकपुत्तो गामणि निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स पटिस्सुत्वा उट्ठायासना निगण्ठं नाटपुत्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं निसिन्नो खो असिबन्धकपुत्तो गामणि भगवन्तं एतदवोच—

"ननु, भन्ते, भगवा अनेकपरियायेन कुलानं अनुद्दयं वण्णेति, अनुरक्खं वण्णेति, अनुकम्पं वण्णेती" ति ?

"एवं, गामणि, तथागतो अनेकपरियायेन कुलानं अनुद्दयं वण्णेति, अनुरक्खं वण्णेति, अनुकम्पं वण्णेती" ति ।

"अथ किञ्चरहि, भन्ते, भगवा दुब्भिक्खे द्वीहितिके सेतट्ठिके सलाकावुत्ते महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं चारिकं चरति ? उच्छेदाय भगवा कुलानं पटिपन्नो, अनयाय भगवा कुलानं पटिपन्नो, उपघाताय भगवा कुलानं पटिपन्नो" ति ।

"इतो सो, गामणि, एकनवुतिकप्पे यमहं अनुस्सरामि, नाभिजानामि किञ्चि कुलं पक्कभिक्खानुप्पदानमत्तेन उपहतपुब्बं । अथ खो यानि तानि कुलानि अड्ढानि महद्धनानि महाभोगानि पहूतजातरूपरजतानि पहूतवित्तूपकरणानि पहूतधनधञ्ञानि, सब्बानि तानि दानसम्भूतानि चेव सच्चसम्भूतानि च सामञ्ञसम्भूतानि च । अट्ठ खो, गामणि, हेतू, अट्ठ पच्चया कुलानं उपघाताय । राजतो वा कुलानि उपघातं गच्छन्ति, चोरतो वा कुलानि उपघातं गच्छन्ति, अग्गितो वा कुलानि उपघातं गच्छन्ति, उदकतो वा कुलानि उपघातं गच्छन्ति, निहितं वा ठाना विगच्छति, दुप्पयुत्ता वा कम्मन्ता विपज्जन्ति, कुले वा कुलङ्गारो ति उप्पज्जति यो ते भोगे विकिरति विधमति विद्धंसेति, अनिच्चता येव अट्ठमी ति । इमे खो, गामणि, अट्ठ हेतू, अट्ठ पच्चया कुलानं उपघाताय । इमेसु खो, गामणि, अट्ठसु हेतूसु अट्ठसु पच्चयेसु संविज्जमानेसु यो मं एवं वदेय्य—'उच्छेदाय भगवा कुलानं पटिपन्नो, अनयाय भगवा कुलानं पटिपन्नो, उपघाताय भगवा कुलानं पटिपन्नो' ति, तं, गामणि, वाचं, अप्पहाय तं चित्तं अप्पहाय तं दिट्ठिं अप्पटिनिस्सज्जित्वा यथाभतं निक्खित्तो एवं निरये" ति । एवं वुत्ते, असिबन्धकपुत्तो गामणि भगवन्तं एतदवोच—"अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते···पे०···उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति ।[1]

---

1. सुत्तपिटके, संयुत्तनिकाय पालि, सळायतनवग्गो, गामणिसंयुत्तं, कुलसुत्त, ४२-१-९, पृ० २८५-८७ ।

: ८ :

चित्र गृहपति

तेन खो पन समयेन निगण्ठो नाटपुत्तो मच्छिकासण्डं अनुप्पत्तो होति महतिया निगण्ठ-परिसाय सद्धिं। अस्सोसि खो चित्तो गहपति—"निगण्ठो किर नाटपुत्तो मच्छिकासण्डं अनुप्पत्तो महतिया निगण्ठपरिसाय सद्धिं" ति। अथ खो चित्तो गहपति सम्बहुलेहि उपासकेहि सद्धिं येन निगण्ठो नाटपुत्तो तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा निगण्ठेन नाटपुत्तेन सद्धिं सम्मोदि। सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नं खो चित्तं गहपतिं निगण्ठो नाटपुत्तो एतदवोच—सद्दहसि त्वं, गहपति, समणस्स गोतमस्स—अत्थि अवितक्को अविचारो समाधि, अत्थि वितक्कविचारानं निरोधो" ति ?

"न ख्वाहं, एत्थ, भन्ते, भगवतो सद्धाय गच्छामि। अत्थि अवितक्को अविचारो समाधि, अत्थि वितक्कविचारानं निरोधो" ति।

एवं वुत्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो उल्लोकेत्वा एतदवोच—"इदं भवन्तो पस्सन्तु, याव उजुको चायं चित्तो गहपति, याव असठो चायं चित्तो गहपति, याव अमायावी चायं चित्तो गहपति, वातं वा सो जालेन बाधेतब्बं मञ्ञेय्य, यो वितक्कविचारे निरोधेतब्बं मञ्ञेय्य, सकमुट्ठिना वा सो गङ्गाय सोतं आवारेतब्बं मञ्ञेय्य, यो वितक्कविचारे निरोधेतब्ब मञ्ञेय्या" ति।

"तं किं मञ्ञसि, भन्ते, कतमं नु खो पणीततरं—ञाणं वा सद्धा वा" ति ?

"सद्धाय खो, गहपति, ञाणं येन पणीततरं" ति।

"अहं खो, भन्ते, यावदेव आकङ्खामि, विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरामि। अहं खो, भन्ते, यावदेव आकङ्खामि, वितक्कविचारानं वूपसमा···पे०···दुतिय झानं उपसम्पज्ज विहरामि। अहं खो, भन्ते, यावदेव आकङ्खामि, पीतिया न विरागा···पे०···ततियं झानं उपसम्पज्ज विहरामि। अहं खो, भन्ते, यावदेव आकङ्खामि, सुखस्स च पहाना···पे०···चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरामि। न सो ख्वाहं, भन्ते, एवं जानन्तो एवं पस्सन्तो कस्स अञ्ञस्स समणस्स वा ब्राह्मणस्स वा सद्धाय गमिस्सामि। अत्थि अवितक्को अविचारो समाधि, अत्थि वितक्कविचारानं निरोधो" ति।

एवं वुत्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो सकं परिसं अपलोकेत्वा एतदवोच—"इदं भवन्तो पस्सन्तु, याव अनुजुको चायं चित्तो गहपति, याव सठो चायं चित्तो गहपति, याव मायावी चायं चित्तो गहपती" ति।

इदानेव खो ते मयं, भन्ते, भासितं—'एवं आजाजानाम इदं भवन्तो पस्सन्तु, याव

उजुको चायं चित्तो गहपति, याव असठो चायं चित्तो गहपति, याव अमायावी चायं चित्तो गहपती' ति। इदानेव च पन मयं, भन्ते, भासितं—'एवं आजानाथ भवन्तो यावानुजुको, याव अनुजुको चायं चित्तो गहपति, याव सठो चायं चित्तो गहपति, याव मायावी चायं गहपती' ति। सचे ते, भन्ते, पुरिमं सच्चं, पच्छिमं ते मिच्छा। सचे पन ते, भन्ते, पुरिमं मिच्छा, पच्छिमं ते सच्चं। इमे खो पन, भन्ते, दस सहधम्मिका पञ्हा आगच्छन्ति। यदा नेसं अत्थं आजानेय्यासि, अथ मं पटिहरेय्यासि सद्धिं निगण्ठपरिसाय। एको पञ्हो एको उद्देसो एकं वेय्याकरणं। द्वे पञ्हा द्वे उद्देसा द्वे वेय्याकरणानि। तयो पञ्हा तयो उद्देसा तीणि वेय्याकरणानि। चत्तारो पञ्हा चत्तारो उद्देसा चत्तारि वेय्याकरणानि। पञ्च पञ्हा पञ्च उद्देसा पञ्च वेय्याकरणानि। छ पञ्हा छ उद्देसा छ वेय्याकरणानि। सत्त पञ्हा सत्त उद्देसा सत्त वेय्याकरणानि। अट्ठ पञ्हा अट्ठ उद्देसा अट्ठ वेय्याकरणानि। नव पञ्हा नव उद्देसा नव वेय्याकरणानि। दस पञ्हा दस उद्देसा दस वेय्याकरणानी" ति।

अथ खो चित्तो गहपति निगण्ठं नाटपुत्तं इमे दस सहधम्मिके पञ्हे आपुच्छित्वा उट्ठायासना पक्कामी ति।[1]

: ६ :

कुतूहलशाला सुत्त

अथ खो वच्छगोत्तो परिब्बाजको येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धिं सम्मोदि। सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो वच्छगोत्तो परिब्बाजको भगवन्तं एतदवोच—

"पुरिमानि भो गोतम, दिवसानि पुरिमतरानि सम्बहुलानं नानातित्थियानं समण-ब्राह्मणानं परिब्बाजकानं कुतूहलसालायं सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयमन्तराकथा उदपादि—'अयं खो पूरणो कस्सपो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स। सो पि सावकं अब्भतीतं कालङ्कतं उपपत्तीसु ब्याकरोति—'असु अमुत्र उपपन्नो, असु अमुत्र उपपन्नो' ति। यो पिस्स सावको उत्तमपुरिसो परमपुरिसो परमपत्तिपत्तो तं पि सावकं अब्भतीतं कालङ्कतं उपपत्तीसु ब्याकरोति—'असु अमुत्र उपपन्नो, असु अमुत्र उपपन्नो' ति।

"अयं पि खो मक्खलि गोसालो···पे०···अयं पि खो निगण्ठो नाटपुत्तो···अयं पि खो सञ्चयो बेलट्ठपुत्तो···अयं पि खो पकुधो कच्चानो···अयं पि खो अजितो केसकम्बलो सङ्घी चेव गणी च०······।

1. सुत्तपिटके, संयुत्तनिकाय पालि, सलायतनवग्गो, चित्तसंयुत्तं, निगण्ठ नाटपुत्तसुत्तं, ४१-८-८, पृ० २६५-६६।

७२

"अयं पि खो समणो गोतमो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स। सो पि सावकं अब्भतीतं कालङ्कतं उपपत्तीसु ब्याकरोति—'असु अमुत्र उपपन्नो, असु अमुत्र उपपन्नो' ति। यो पिस्स सावको उत्तमपुरिसो परमपुरिसो परमपत्तिपत्तो तं च सावकं अब्भतीतं कालङ्कतं उपपत्तीसु न ब्याकरोति—'असु अमुत्र उपपन्नो, असु अमुत्र उपपन्नो' ति। अपि च खो नं एवं ब्याकरोति—अच्छेच्छि तण्हं, विवत्तयि संयोजनं, सम्मा मानाभिसमया अन्तमकासि दुक्खस्सा' ति। तस्स मय्हं, भो गोतम, अहु देव कङ्खा अहु विचिकिच्छा—'कथं नाम समणस्स गोतमस्स धम्मो अभिञ्ञेय्यो' " ति?

"अलं हि ते, वच्छ, कङ्खितुं, अलं विचिकिच्छितुं कङ्खनीये च पन ते ठाने विचिकिच्छा उप्पन्ना। सउपादानस्स ख्वाहं, वच्छ, उपपत्तिं पञ्ञापेमि नो अनुपादानस्स। सेय्यथापि, वच्छ, अग्गि सउपादानो जलति, नो अनुपादानो; एवमेव ख्वाहं, वच्छ, सउपादानस्स उपपत्तिं पञ्ञापेमि, नो अनुपादानस्सा" ति।

"यस्मिं, भो गोतम, समये अच्चि वातेन खित्ता दूरं पि गच्छति, इमस्स पन भवं गोतमो किं उपादानस्मिं पञ्ञापेती" ति?

"यस्मिं खो, वच्छ, समये अच्चि वातेन खित्ता दूरं पि गच्छति, तमहं वातूपादानं पञ्ञापेमि। वातो हिस्स, वच्छ, तस्मिं समये उपादानं होती" ति।

"यस्मिं च पन, भो गोतम, समये इमं च कायं निक्खिपति सत्तो च अञ्ञतरं कायं अनुपपन्नो होति, इमस्स पन भवं गोतमो किं उपादानस्मिं पञ्ञापेती" ति?

"यस्मिं खो, वच्छ, समये इमं च कायं निक्खिपति सत्तो च अञ्ञतरं कायं अनुपपन्नो होति, तमहं तण्हूपादानं वदामि। तण्हा हिस्स, वच्छ, तस्मिं समये उपादानं होती" ति।[1]

: १० :

अभयलिच्छवी

एकं समयं आयस्मा आनन्दो वेसालियं विहरति महावने कूटागारसालायं। अथ खो अभयो च लिच्छवि पण्डितकुमारको च लिच्छवि येनायस्मा आनन्दो तेनुपसङ्कमिंसु; उपसङ्कमित्वा आयस्मन्तं आनन्दं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदिंसु। एकमन्तं निसिन्नो खो अभयो लिच्छवि आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच—"निगण्ठो, भन्ते, नाटपुत्तो सब्बञ्ञू

---

१. सुत्तपिटके, संयुत्तनिकाय पालि, सळायतनवग्गो, अब्याकतसंयुत्तं, कुतूहलसालासुत्तं, ४४-१-९ : पृ० ३४१-४२।

सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति—'चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं' ति। सो पुराणानं कम्मानं तपसा ब्यन्तीभावं पञ्ञापेति नवानं कम्मानं अकरणा सेतुघातं। इति कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया, वेदनाक्खयो, वेदनाक्खया सब्बं दुक्खं निज्जिण्णं भविस्सति—एवमेतिस्सा सन्दिट्ठिकाय निज्जराय विसुद्धिया समतिक्कमो होति। इध, भन्ते, भगवा किमाहा" ति?

"तिस्सो खो इमा, अभय, निज्जरा विसुद्धियो तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन सम्मदक्खाता सत्तानं विसुद्धिया सोकपरिदेवानं समतिक्कमाय दुक्खदोमनस्सानं अत्थङ्गमाय ञायस्स अधिगमाय निब्बानस्स सच्छिकिरियाय। कतमा तिस्सो? इध, अभय, भिक्खु सीलवा होति…पे०…समादाय सिक्खति सिक्खापदेसु। सो नवं च कम्मं न करोति, पुराणं च कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्तीकरोति। सन्दिट्ठिका निज्जरा अकालिका एहिपस्सिका ओपनेय्यिका पच्चत्तं वेदितब्बा विञ्ञूही ति।

"स खो सो, अभय, भिक्खु एवं सीलसम्पन्नो विविच्चेव कामेहि…पे०…चतुत्थं झानं उपसम्पज्ज विहरति। सो नवं च कम्मं न करोति, पुराणं च कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्तीकरोति। सन्दिट्ठिका निज्जरा अकालिका एहिपस्सिका ओपनेय्यिका पच्चत्तं वेदितब्बा विञ्ञूही ति।

"स खो सो, अभय, भिक्खु एवं समाधिसम्पन्नो आसवानं खया अनासवं चेतोविमुत्तिं पञ्ञाविमुत्तिं दिट्ठेव धम्मे सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा उपसम्पज्ज विहरति। सो नवं च कम्मं न करोति, पुराणं च कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्तीकरोति। सन्दिट्ठिका निज्जरा अकालिका एहिपस्सिका ओपनेय्यिका पच्चत्तं वेदितब्बा विञ्ञूही ति। इमा खो, अभय, तिस्सो निज्जरा विसुद्धियो तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन सम्मदक्खाता सत्तानं विसुद्धिया सोकपरिदेवानं समतिक्कमाय दुक्खदोमनस्सानं अत्थङ्गमाय ञायस्स अधिगमाय निब्बानस्स सच्छिकिरियाया" ति।

एवं वुत्ते पण्डितकुमारको लिच्छवि अभयं लिच्छविं एतदवोच—"किं पन त्वं, सम्म अभय, आयस्मतो आनन्दस्स सुभासितं सुभासिततो नाब्भनुमोदसी" ति?

"क्याहं, सम्म पण्डितकुमारक आयस्मतो आनन्दस्स सुभासितं सुभासिततो नाब्भनुमोदिस्सामि! मुद्धा पि तस्स विपतेय्य यो आयस्मतो आनन्दस्स सुभासितं सुभासिततो नाब्भनुमोदेय्या" ति।[1]

---

1. सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, तिकनिपात, आनन्दवग्गो, निगण्ठसुत्तं, ३-८-४, पृ० २०५।

: ११ :

लोकसान्त-अनन्त

१. अथ खो द्वे लोकायतिका ब्राह्मणा येन भगवा तेनुपसङ्कमिंसु ; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धिं सम्मोदिंसु । सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदिंसु । एकमन्तं निसिन्ना खो ते ब्राह्मणा भगवन्तं एतदवोचुं—

२. "पूरणो, भो गोतम, कस्सपो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति—'चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं' ति । सो एवमाह—'अहं अनन्तेन ञाणेन अनन्तं लोकं जानं पस्सं विहरामी' ति । अयं पि, भो गोतम, निगण्ठो नाटपुत्तो सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति—'चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं' ति । सो एवमाह—'अहं अनन्तेन ञाणेन अनन्तं लोकं जानं पस्सं विहरामी' ति । इमेसं, भो गोतम उभिन्नं ञाणवादानं उभिन्नं अञ्ञमञ्ञं विपच्चनीकवादानं को सच्चं आह को मुसा" ति ?

३. "अलं, ब्राह्मणा ! तिट्ठतेतं—'इमेसं उभिन्नं ञाणवादानं उभिन्न अञ्ञमञ्ञं विपच्चनीकवादानं को सच्चं आह को मुसा' ति । धम्मं वो, ब्राह्मणा, देसेस्सामि, तं सुणाथ, साधुकं मनसिकरोथ ; भासिस्सामी" ति । "एवं, भो" ति खो ते ब्राह्मणा भगवतो पच्चस्सोसुं । भगवा एतदवोच[1]………।

: १२ :

वप्प—जैन श्रावक

एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं निग्रोधारामे । अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठसावको येनायस्मा महामोग्गल्लानो तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा आयस्मन्तं महामोग्गल्लानं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं निसिन्नं खो वप्पं सक्कं निगण्ठसावकं आयस्मा महामोग्गल्लानो एतदवोच—

"इधस्स, वप्प, कायेन संवुतो वाचाय संवुतो मनसा संवुतो अविज्जाविरागा विज्जुप्पादा । पस्ससि नो त्वं, वप्प, तं ठानं यतोनिदानं पुरिसं दुक्खवेदनिया आसवा अस्सवेय्युं अभिसम्परायं" ति ?

---

१. सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, नवक-निपातो, महावग्गो, लोकायतिकसुत्तं, ९-४-७ ; पृ० ९६-९७ ।

"पस्सामहं, भन्ते, तं ठानं। इधस्स, भन्ते, पुब्बे पापकम्मं कतं अविपक्कविपाकं। ततोनिदानं पुरिसं दुक्खवेदनिया आसवा अस्सवेय्युं अभिसंपरायं" ति।

अयं चेव खो पन आयस्मतो महामोग्गल्लानस्स वप्पेन सक्केन निगण्ठसावकेन सद्धिं अन्तराकथा विप्पकता होति; अथ खो भगवा सायन्हसमयं पटिसल्लाना वुट्ठितो येन उपट्ठानसाला तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा पञ्ञत्ते आसने निसीदि। निसज्ज खो भगवा आयस्मन्तं महामोग्गल्लानं एतदवोच—

"काय नुत्थ, मोग्गल्लान, एतरहि कथाय सन्निसिन्ना; का च पन वो अन्तराकथा विप्पकता" ति?

इधाहं, भन्ते, वप्पं सक्कं निगण्ठसावकं एतदवोचं—'इधस्स, वप्प, कायेन०·········अभिसंपरायं' ति? एवं वुत्ते, भन्ते, वप्पो सक्को निगण्ठसावको मं एतदवोच—'पस्सामहं, भन्ते०,······अभिसंपरायं' ति। अय खो नो, भन्ते, वप्पेन सक्केन निगण्ठसावकेन सद्धिं अन्तराकथा विप्पकता; अथ भगवा अनुप्पत्तो" ति।

अथ खो भगवा वप्पं सक्कं निगण्ठसावकं एतदवोच—"सचे मे त्वं, वप्प अनुञ्ञेय्यं चेव अनुजानेय्यासि, पटिक्कोसितब्बं च पटिक्कोसेय्यासि, यस्स च मे भासितस्स अत्थं न जानेय्यासि ममेवेत्थ उत्तरि पटिपुच्छेय्यासि—'इदं, भन्ते, कथं, इमस्स को अत्थो' ति सिया नो एत्थ कथासल्लापो" ति।

अनुञ्ञेय्यं चेवाहं, भन्ते, भगवतो अनुजानिस्सामि, पटिक्कोसितब्बं च पटिक्कोसिस्सामि, यस्स चाहं भगवतो भासितस्स अत्थं न जानिस्सामि भगवन्तंयेवेत्थ उत्तरि पटिपुच्छिस्सामि—'इदं भन्ते, कथं, इमस्स को अत्थो' ति? होतु नो एत्थ कथासल्लापो" ति।

"तं किं मञ्ञसि, वप्प, ये कायसमारम्भपच्चया उप्पज्जन्ति आसवा विघातपरिळाहा, कायसमारम्भा पटिविरतस्स एवंस ते आसवा विघातपरिळाहा न होन्ति। सो नवं च कम्मं न करोति, पुराणं च कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्तीकरोति, सन्दिट्ठिका निज्जरा अकालिका एहिपस्सिका ओपनेय्यिका पच्चत्तं वेदितब्बा विञ्ञूहि। पस्ससि नो त्वं, वप्प, तं ठानं यतोनिदानं पुरिसं दुक्खवेदनिया आसवा अस्सवेय्युं अभिसम्परायं" ति?

"नो हेतं भन्ते"।

"तं किं मञ्ञसि, वप्प, ये वचीसमारम्भपच्चया उप्पज्जन्ति आसवा०·········अभिसम्परायं" ति?

"नो हेतं, भन्ते"।

"तं किं मञ्ञसि, वप्प, ये मनोसमारम्भपच्चया उप्पज्जन्ति आसवा०······अभिसम्परायं" ति?

"नो हेतं, भन्ते"।

"तं किं मञ्ञसि, वप्प, ये अविज्जापच्चया उप्पज्जन्ति आसवा०···अभिसम्परायं" ति ?

"नो हेतं, भन्ते" ।

"एवं सम्मा विमुत्तचित्तस्स खो, वप्प, भिक्खुनो छ सततविहारा अधिगता होन्ति । सो चक्खुना रूपं दिस्वा नेव सुमनो होति न दुम्मनो ; उपेक्खको विहरति सतो सम्पजानो । सोतेन सद्दं सुत्वा···पे०···घानेन गन्धं घायित्वा···पे०···जिव्हाय रसं सायित्वा···पे०··· कायेन फोट्ठब्बं फुसित्वा···पे०···मनसा धम्मं विञ्ञाय नेव सुमनो होति न दुम्मनो ; उपेक्खको विहरति सतो सम्पजानो । सो कायपरियन्तिकं वेदनं वेदियमानो 'कायपरियन्तिकं वेदनं वेदियामी' ति पजानाति ; जीवितपरियन्तिकं वेदनं वेदियमानो 'जीवितपरियन्तिकं वेदनं वेदियामी' ति पजानाति, 'कायस्स भेदा उद्धं जीवितपरियादाना इधेव सब्बवेदयितानि अनभिनन्दितानि सीती भविस्सन्ती' ति पजानाति ।

सेय्यथापि, वप्प, थूणं पटिच्च छाया पञ्ञायति । अथ पुरिसो आगच्छेय्य कुदाल-पिटकं आदाय । सो तं थूणं मूले छिन्देय्य ; मूले छिन्दित्वा पलिखणेय्य ; पलिखणित्वा मूलानि उद्धरेय्य, अन्तमसो उसीरनालिमत्तानि' पि । सो तं थूणं खण्डाखण्डिकं छिन्देय्य । खण्डाखण्डिकं छेत्वा फालेय्य । फालेत्वा सकलिकं सकलिकं करेय्य । सकलिकं सकलिकं कत्वा वातातपे विसोसेय्य । वातातपे विसोसेत्वा अग्गिना डहेय्य । अग्गिना डहेत्वा मसिं करेय्य । मसिं करित्वा महावाते वा ओफुणेय्य नदिया वा सीघसोताय पवाहेय्य । एवं हिस्स, वप्प, या थूणं पटिच्च छाया सा उच्छिन्नमूला तालावत्थुकता अनभावङ्कता आयतिं अनुप्पादधम्मा ।

"एवमेव खो, वप्प, एवं सम्मा विमुत्तचित्तस्स भिक्खुनो छ सतत विहारा०······ पजानाति" ।

एवं वुत्ते वप्पो सक्को निगण्ठसावको भगवन्तं एतदवोच—"सेय्यथापि, भन्ते, पुरिसो उदयत्थिको अस्सपणियं पोसेय्य । सो उदयं चेव नाधिगच्छेय्य, उत्तरिं च किलमथस्स विघातस्स भागी अस्स । एवमेव खो अहं, भन्ते, उदयत्थिको बाले निगण्ठे पयिरुपासिं । स्वाहं उदयं चेव नाधिगच्छिं, उत्तरिं च किलमथस्स विघातस्स भागी अहोसिं । एसाहं, भन्ते, अज्जतग्गे यो मे बालेसु निगण्ठेसु पसादो तं महावाते वा ओफुणामि नदिया वा सीघसोताय पवाहेमि । अभिक्कन्तं, भन्ते···पे०···उपासकं मं, भन्ते, भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति ।[1]

---

1. सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, चतुक्कनिपात, महावग्गो, वप्पसुत्तं, ४-२०-५ ; पृ० २१०-२१३ ।

: १३ :

सकुल उदायी

सततं समितं सब्बञ्ञुता

एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा राजगहे विहरति वेलुवने कलन्दकनिवापे । तेन खो पन समयेन सकुलुदायी परिब्बाजको मोरनिवापे परिब्बाजकारामे पटिवसति महतिया परिब्बाजकपरिसाय सद्धिं । अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं०···पच्छा पि सवनाय । यदाहं, भन्ते, इमं परिसं अनुपसङ्कन्तो होमि अथायं परिसा अनेकविहितं तिरच्छानकथं कथेन्ती निसिन्ना होति ; यदा च खो अहं, भन्ते, इमं परिसं उपसङ्कन्तो होमि अथायं परिसा ममञ्ञेव मुखं उल्लोकेन्ती निसिन्ना होति—'यं नो समणो उदायी धम्मं भासिस्सति तं सोस्सामा' ति ; यदा पन, भन्ते भगवा इमं परिसं उपसङ्कन्तो होति अथाहं चेव अयं च परिसा भगवतो मुखं उल्लोकेन्ता निसिन्ना होम—'यं नो भगवा धम्मं भासिस्सति तं सोस्सामा'' ति ।

"तेनहुदायि, तं एवेत्थ पटिभातु यथा मं पटिभासेय्यासि" ।

''पुरिमानि, भन्ते, दिवसानि पुरिमतरानि सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानमानो चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं ति । सो मया पुब्बन्तं आरब्भ पञ्हं पुट्ठो समानो अञ्ञेनञ्ञं पटिचरि, बहिद्धा कथं अपनामेसि, कोपं च दोसं च अप्पच्चयं च पात्वाकासि । तस्स मय्हं, भन्ते, भगवन्तं येव आरब्भ सति उदपादि—'अहो नून भगवा, अहो नून सुगतो ! यो इमेसं धम्मानं सुकुसलो" ति ।

"को पन सो, उदायि सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी०···पात्वाकासी" ति ?

निगण्ठो, भन्ते, नातपुत्तो" ति ।

पुब्बन्तापरन्तपञ्हविस्सज्जने समत्थो

यो खो, उदायि, अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरेय्य, सेय्यथीदं—एकं पि जातिं द्वे पि जातियो···पे०···इति साकारं सउद्देसं अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरेय्य, सो वा मं पुब्बन्तं आरब्भ पञ्हं पुच्छेय्य ; सो वा मे पुब्बन्तं आरब्भ पञ्हस्स वेय्याकरणेन चित्तं आराधेय्य, तस्स वाहं पुब्बन्तं आरब्भ पञ्हस्स वेय्याकरणेन चित्तं आराधेय्यं ।

"यो खो, उदायि, दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्त-मानुसकेन सत्ते पस्सेय्य चवमाने उपपज्जमाने हीने पणीते सुवण्णे दुब्बण्णे, सुगते दुग्गते यथाकम्मूपगे सत्ते पजानेय्य, सो वा मं अपरन्तं आरब्भ०······वाहं अपरन्तं आरब्भ०···मे अपरन्तं आरब्भ···०वाहं अपरन्तं आरब्भ०······आराधेय्यं ।

"अपि च, उदायि, तिट्ठतु पुब्बन्तो, तिट्ठतु अपरन्तो। धम्मं ते देसेस्सामि—इमस्मिं सति इदं होति, इमस्सुप्पादा इदं उप्पज्जति ; इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झती" ति।[1] ०"...

: १४ :

निर्वाण-संवाद (१)

नातपुत्ते कालङ्कते भिन्ना निगण्ठा

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति सामगामे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नातपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति—"न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं इमं धम्मविनयं आजानिस्ससि ! मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो। सहितं मे, असहितं ते।। पुरेवचनीयं पच्छा अवच, पच्छावचनीयं पुरे अवच। अधिचिण्णं ते विपरावत्तं। आरोपितो ते वादो। निग्गहितोसि, चर वादप्पमोक्खाय ; निब्बेठेहि वा सचे पहोसी" ति। वधो येव खो मञ्ञे निगण्ठेसु नातपुत्तियेसु वत्तति। ये पि निगण्ठस्स नातपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना ते पि निगण्ठेसु नातपुत्तियेसु निब्बिन्नरूपा विरत्तरूपा पटिवानरूपा यथा तं दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानिके अनुपसमसंवत्तनिके असम्मासम्बुद्धप्पवेदिते भिन्नथूपे अप्पटिसरणे।

अथ खो चुन्दो समणुद्देसो पावायं वस्सं वुत्थो येन सामगामो येनायस्मा आनन्दो तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा आयस्मन्तं आनन्दं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो चुन्दो समणुद्देसो आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच—"निगण्ठो, भन्ते, नातपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता"'पे०"' भिन्नथूपे अप्पटिसरणे" ति। एवं वुत्ते, आयस्मा आनन्दो चुन्दं समणुद्देसं एतदवोच— "अत्थि खो इदं, आवुसो चुन्द, कथापाभतं भगवन्तं दस्सनाय। आयाम, आवुसो चुन्द, येन भगवा तेनुपसङ्कमिस्साम ; उपसङ्कमित्वा एतमत्थं भगवतो आरोचेस्सामा" ति। "एवं, भन्ते" ति खो चुन्दो समणुद्देसो आयस्मतो आनन्दस्स पच्चस्सोसि।

अथ खो आयस्मा च आनन्दो चुन्दो च समणुद्देसो येन भगवा तेनुपसङ्कमिंसु ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदिंसु। एकमन्तं निसिन्नो खो आयस्मा

---

[1] सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मज्झिमपण्णासकं, चूलसकुलुदायिसुत्तं, २९-१-२ ; पृ० २५५-५७।

आनन्दो भगवन्तं एतदवोच—"अयं, भन्ते, चुन्दो समणुद्देसो एवमाह—'निगण्ठो, भन्ते, नातपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता···पे०···भिन्नथूपे अप्पटिसरणे" ति। तस्स मय्हं, भन्ते, एवं होति—'माहेव भगवतो अच्चयेन सङ्घे विवादो उप्पज्जि; स्वास्स विवादो बहुजनाहिताय बहुजनासुखाय बहुनो जनस्स अनत्थाय अहिताय दुक्खाय देवमनुस्सानं" ति।[1]

: १५ :

निर्वाण-संवाद (२)

निगण्ठो नाटपुत्तो कालङ्कतो

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सक्केसु विहरती वेधञ्ञा नाम सक्या तेसं अम्बवने पासादे। तेन खो पन समयेन निगण्ठो नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति—"न त्वं इम धम्मविनयं आजानासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं इम धम्मविनयं आजानिस्ससि? मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो। सहितं मे, असहितं ते। पुरेवचनीयं पच्छा अवच, पच्छा-वचनीयं पुरे अवच। अधिच्चिण्णं ते विपरावत्तं। आरोपितो ते वादो। निग्गहितो त्वमसि। चर वादप्पमोक्खाय। निब्बेठेहि वा सचे पहोसी" ति। वधो एव खो मञ्ञे निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु वत्तति। ये पि निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना ते पि निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु निब्बिन्नरूपा विरत्तरूपा पटिवानरूपा—यथा तं दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानिके अनुपसमसंवत्तनिके असम्मासम्बुद्धप्पवेदिते भिन्नथूपे अप्पटिसरणे।

अथ खो चुन्दो समणुद्देसो पावायं वस्संवुट्ठो येन सामगामो येनायस्मा आनन्दो तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा आयस्मन्तं आनन्दं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो चुन्दो समणुद्देसो आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच—"निगण्ठो, भन्ते, नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता······पे०··· भिन्नथूपे अप्पटिसरणे" ति।

एवं वुत्ते, आयस्मा आनन्दो चुन्दं समणुद्देसं एतदवोच—"अत्थि खो इदं, आवुसो चुन्द, कथापाभतं भगवन्तं दस्सनाय। आयामावुसो चुन्द, येन भगवा तेनुपसङ्कमिस्साम;

---

1. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, उपरिपण्णासकं, सामगामसुत्तं ३-४-१ ; पृ० ३७-३८।

उपसङ्कमित्वा एतमत्थं भगवतो आरोचेस्सामा" ति। "एवं, भन्ते" ति खो चुन्दो समणुद्देसो आयस्मतो आनन्दस्स पच्चस्सोसि।

अथ खो आयस्मा च आनन्दो चुन्दो च समणुद्देसो येन भगवा तेनुपसङ्कमिंसु; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदिंसु। एकमन्तं निसिन्नो खो आयस्मा आनन्दो भगवन्तं एतदवोच—"अयं, भन्ते, चुन्दो समणुद्देसो एवमाह—निगण्ठो, भन्ते, नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा……पे०…… भिन्नथूपे अप्पटिसरणे" ति।[1]

: १६ :

निर्वाण-चर्चा

सारिपुत्तो अनुञ्ञातो धम्मिया कथाय

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा मल्लेसु चारिकं चरमानो महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं पञ्चमत्तेहि भिक्खुसतेहि येन पावा नाम मल्लानं नगरं तदवसरि। तत्र सुदं भगवा पावायं विहरति चुन्दस्स कम्मारपुत्तस्स अम्बवने।

तेन खो पन समयेन पावेय्यकानं उब्भतकं नाम नवं सन्थागारं अचिरकारितं होति अनज्झावुट्ठं समणेन वा ब्राह्मणेन वा केनचि वा मनुस्सभूतेन। अस्सोसुं खो पावेय्यका मल्ला—"भगवा किर मल्लेसु चारिकं चरमानो महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं पञ्चमत्तेहि भिक्खुसतेहि पावं अनुप्पत्तो पावायं विहरति चुन्दस्स कम्मारपुत्तस्स अम्बवने" ति। अथ खो पावेय्यका मल्ला येन भगवा तेनुपसङ्कमिंसु, उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदिंसु। एकमन्तं निसिन्ना खो पावेय्यका मल्ला भगवन्तं एतदवोचुं—"इध, भन्ते, पावेय्यकानं मल्लानं उब्भतकं नाम नवं सन्थागारं अचिरकारितं होति अनज्झावुट्ठं समणेन वा ब्राह्मणेन वा केनचि वा मनुस्सभूतेन। तं च, खो, भन्ते, भगवा पठमं परिभुञ्जतु। भगवता पठमं परिभुत्तं पच्छा पावेय्यका मल्ला परिभुञ्जिस्सन्ति। तदस्स पावेय्यकानं मल्लानं दीघरत्तं हिताय सुखाया" ति। अधिवासेसि खो भगवा तुण्हीभावेन।

अथ खो पावेय्यका मल्ला भगवतो अधिवासनं विदित्वा उट्ठायासना भगवन्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा येन सन्थागारं तेनुपसङ्कमिंसु, उपसंकमित्वा सब्बसन्थरिं सन्थागारं सन्थरित्वा भगवतो आसनानि पञ्ञापेत्वा उदकमणिकं पतिट्ठपेत्वा तेलप्पदीपं आरोपेत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमिंसु; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं अट्ठंसु। एकमन्तं

---

१. सुत्तपिटके, दीघनिकाय पालि, पाथिकवग्गो, पासादिक सुत्तं, ३-६-१; पृ० ९१-९२।

ठिता खो ते पावेय्यका मल्ला भगवन्तं एतदवोचुं—"सब्बसन्थरिसन्थतं, भन्ते, सन्थागारं। भगवतो आसनानि पञ्ञत्तानि, उदकमणिको पतिट्ठापितो, तेलपदीपो आरोपितो। यस्स दानि, भन्ते, भगवा कालं मञ्ञती" ति।

अथ खो भगवा निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय सद्धिं भिक्खुसङ्घेन येन सन्थागारं तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा पादे पक्खालेत्वा सन्थागारं पविसित्वा मज्झिमं थम्भं निस्साय पुरत्थाभिमुखो निसीदि०।.........। अथ खो भगवा पावेय्यके मल्ले बहुदेव रत्तिं धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा समादपेत्वा समुत्तेजेत्वा सम्पहंसेत्वा उय्योजेसि—"अभिक्कन्ता खो, वासेट्ठा, रत्ति। यस्स दानि तुम्हे कालं मञ्ञथा" ति। "एवं, भन्ते" ति खो पावेय्यका मल्ला भगवतो पटिस्सुत्वा उट्ठायासना भगवन्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा पक्कमिंसु।

अथ खो भगवा अचिरपक्कन्तेसु पावेय्यकेसु मल्लेसु तुण्हीभूतं तुण्हीभूतं भिक्खुसङ्घं अनुविलोकेत्वा आयस्मन्तं सारिपुत्तं आमन्तेसि—"विगतथिनमिद्धो खो, सारिपुत्त, भिक्खुसङ्घो। पटिभातु तं, सारिपुत्त, भिक्खुनं धम्मी कथा। पिट्ठि मे आगिलायति। तमहं आयमिस्सामी" ति। "एवं, भन्ते" ति खो आयस्मा सारिपुत्तो भगवतो पच्चस्सोसि। अथ खो भगवा चतुग्गुणं सङ्घाटिं पञ्ञापेत्वा दक्खिणेन पस्सेन सीहसेय्यं कप्पेसि, पादे पादं अच्चाधाय, सतो सम्पजानो, उट्ठानसञ्ञं मनसि करित्वा।

निगण्ठा भिन्ना भण्डनजाता

तेन खो पन समयेन निगण्ठो नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना अञ्ञमञ्ञं मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति—"न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि। किं त्वं इमं धम्मविनयं आजानिस्ससि! मिच्छापटिपन्नो त्वमसि, अहमसि सम्मापटिपन्नो। सहितं मे, असहितं ते। पुरेवचनीयं पच्छा अवच, पच्छावचनीयं पुरे अवच। अधिचिण्णं ते विपरावत्तं। आरोपितो ते वादो। निग्गहितो त्वमसि। चर वादप्पमोक्खाय। निब्बेठेहि वा सचे पहोसी" ति। वधो येव खो मञ्ञे निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु वत्तति। ये पि निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना ते पि निगण्ठेसु नाटपुत्तियेसु निब्बिन्नरूपा विरत्तरूपा पटिवानरूपा—यथा तं दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानिके अनुपसमसंवत्तनिके असम्मासम्बुद्धप्पवेदिते भिन्नथूपे अप्पटिसरणे।

अथ खो आयस्मा सारिपुत्तो भिक्खू आमन्तेसि—"निगण्ठो, आवुसो, नाटपुत्तो पावायं अधुनाकालङ्कतो। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता......पे०......भिन्नथूपे अप्पटिसरणे"।

तत्थ सब्बेहेव सङ्गायितब्बं

"एवञ्हेतं, आवुसो, होति दुरक्खाते धम्मविनये दुप्पवेदिते अनिय्यानिके अनुपसम-संवत्तनिके असम्मासम्बुद्धप्पवेदिते। अयं खो पनावुसो, अम्हाकं भगवता धम्मो स्वाक्खातो सुप्पवेदितो निय्यानिको उपसमसंवत्तनिको सम्मासम्बुद्धप्पवेदितो, तत्थ सब्बेहेव सङ्गायितब्बं, न विवदितब्बं, यथयिदं ब्रह्मचरियं अद्धनियं अस्स चिरट्ठितिकं, तदस्स बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। कतमो चावुसो, अम्हाकं भगवता धम्मो स्वाक्खातो सुप्पवेदितो निय्यानिको उपसमसंवत्तनिको सम्मासम्बुद्धप्पवेदितो, यत्थ सब्बेहेव सङ्गायितब्बं, न विवदितब्बं, यथयिदं ब्रह्मचरियं अद्धनियं अस्स चिरट्ठितिकं, तदस्स बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं ?......"[1]

: १७ :

निगण्ठ नातपुत्त की मृत्यु का कारण

ननु अयं नातपुत्तो नालन्दावासिको। सो कस्मा पावायं कालकतो ? ति। सो किर उपालिना गाहापतिना पटिविद्धसच्चेन दसहि गाथाहि भासिते बुद्ध गुणे सुत्वा उण्हं लोहितं छड्डेसि। अथ नं अफासुकं गहेत्वा पावं अगमंसु। सो तत्थ कालं अकासि।[2]

: १८ :

दिव्यशक्ति प्रदर्शन

तेन खो पन समयेन राजगहकस्स सेट्ठिस्स महग्घस्स चन्दनस्स चन्दनगण्ठि उप्पन्ना होति। अथ खो राजगहकस्स सेट्ठिस्स एतदहोसि—"यन्नूनाहं इमाय चन्दनगण्ठिया पत्तं लेखापेय्यं। लेखं च मे परिभोगं भविस्सति, पत्तं च दानं दस्सामी" ति। अथ खो राजगहको सेट्ठि ताय चन्दनगण्ठिया पत्तं लिखापेत्वा सिक्काय उड्डित्वा वेलग्गे आलगेत्वा वेलुपरम्पराय बन्धित्वा एवमाह—"यो समणो वा ब्राह्मणो वा अरहा चेव इद्धिमा च दिन्नञ्ञेव पत्तं ओहरतू" ति। अथ खो पूरणो कस्सपो येन राजगहको सेट्ठि तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा राजगहकं सेट्ठिं एतदवोच—"अहं हि, गहपति, अरहा चेव इद्धिमा च, देहि मे पत्तं" ति। "सचे, भन्ते, आयस्मा अरहा चेव इद्धिमा च दिन्नञ्ञेव पत्तं ओहरतू" ति।

---

१. सुत्तपिटके, दीघनिकाय पालि, पाथिकवग्गो, संगीतिसुत्तं, ३-१०-१, २, ३ ; पृ० १६६-१६८।
२. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, सामगामसुत्त वण्णना (आई० बी० होर्नेर द्वारा सम्पादित), खण्ड ४, पृ० ३४।

अथ खो मक्खलि गोसालो···अजितो केसकम्बलो···पकुधो कच्चायनो···सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो··· निगण्ठो नातपुत्तो येन राजगहको सेट्ठि तेनुपसङ्कमि, उपसङ्कमित्वा राजगहकं सेट्ठिं एत-दवोच—"अहं हि, गहपति, अरहा चेव इद्धिमा च, देहि मे पत्त" ति। "सचे, भन्ते, आयस्मा अरहा चेव इद्धिमा च, दिन्नञ्ञेव पत्तं ओहरतू" ति।

तेन खो पन समयेन आयस्मा च महामोग्गल्लानो आयस्मा च पिण्डोलभारद्वाजो पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय राजगहं पिण्डाय पविसिंसु। अथ खो आयस्मा पिण्डोलभारद्वाजो आयस्मन्तं महामोग्गल्लानं एतदवोच—"आयस्मा खो महामोग्गल्लानो अरहा चेव इद्धिमा च। गच्छावुसो, मोगल्लान, एतं पत्तं ओहर। तुय्हेसो पत्तो" ति। "आयस्मा पि खो पिण्डोलभारद्वाजो अरहा चेव इद्धिमा च। गच्छावुसो, भारद्वाज, एतं पत्तं ओहर। तुय्हेसो पत्तो" ति। अथ खो आयस्मा पिण्डोलभारद्वाजो वेहासं अब्भुग्गन्त्वा तं पत्तं गहेत्वा तिक्खत्तुं राजगहं अनुपरियायि।

तेन खो पन समयेन राजगहको सेट्ठि सपुत्तदारो सके निवेसने ठितो होति पञ्जलिको नमस्समानो—इधेव, भन्ते, अय्यो भारद्वाजो अम्हाकं निवेसने पतिट्ठातू ति। अथ खो आयस्मा पिण्डोलभारद्वाजो राजगहकस्स सेट्ठिस्स निवेसने पतिट्ठासि। अथ खो राजगहको सेट्ठि आयस्मतो पिण्डोलभारद्वाजस्स हत्थतो पत्तं गहेत्वा महग्घस्स खादनीयस्स पूरेत्वा आयस्मतो पिण्डोलभारद्वाजस्स अदासि। अथ खो आयस्मा पिण्डोलभारद्वाजो तं पत्तं गहेत्वा आरामं अगमासि। अस्सोसुं खो मनुस्सा—अय्येन किर पिण्डोलभारद्वाजेन राजगहकस्स सेट्ठिस्स पत्तो ओहारितो ति। ते च मनुस्सा उच्चासद्दा महासद्दा आयस्मन्तं पिण्डोलभारद्वाजं पिट्ठितो पिट्ठितो अनुबन्धिंसु।

अस्सोसि खो भगवा उच्चासद्दं, महासद्दं; सुत्वान आयस्मन्तं आनन्दं आमन्तेसि—"किं नु खो सो, आनन्द, उच्चासद्दो महासद्दो" ति? "आयस्मता, भन्ते, पिण्डोलभारद्वाजेन राजगहकस्स सेट्ठिस्स पत्तो ओहारितो। अस्सोसुं खो, भन्ते, मनुस्सा—अय्येन किर पिण्डो-लभारद्वाजेन राजगहकस्स सेट्ठिस्स पत्तो ओहारितो ति। ते च, भन्ते, मनुस्सा उच्चासद्दा महासद्दा आयस्मन्तं पिण्डोलभारद्वाजं पिट्ठितो पिट्ठितो अनुबन्धा। सो एसो, भन्ते, भगवा उच्चासद्दो महासद्दो" ति। अथ खो भगवा एतस्मिं निदाने एतस्मिं पकरणे भिक्खुसङ्घं सन्निपातापेत्वा आयस्मन्तं पिण्डोलभारद्वाजं पटिपुच्छि—"सच्चं किर तया, भारद्वाज, राजगहकस्स सेट्ठिस्स पत्तो ओहारितो" ति? "सच्चं भगवा" ति। विगरहि बुद्धो भगवा—"अननुच्छविकं, भारद्वाज, अननुलोमिकं अप्पतिरूपं अस्सामणकं अकप्पियं अकरणीयं। कथं हि नाम त्वं, भारद्वाज, छवस्स दारुपत्तस्स कारणा गिहीनं उत्तरिमनुस्सधम्मं इद्धिपाटिहारियं दस्सेस्ससि। सेय्यथापि, भारद्वाज, मातुगामो छवस्स मासकरूपस्स कारणा कोपिनं दस्सेति, एवमेव खो तया, भारद्वाज, छवस्स दारुपत्तस्स कारणा गिहीनं उत्तरिमनुस्सधम्मं इद्धि-

पाटिहारियं दस्सितं । नेतं, भारद्वाज, अप्पसन्नानं वा पसादाय, पसन्नानं वा भिय्योभावाय। अथ ख्वेतं, भारद्वाज, अप्पसन्नानं चेव अप्पसादाय पसन्नानं च एकच्चानं अञ्ञथत्ताया" ति । अथ खो भगवा पिण्डोलभारद्वाजं अनेकपरियायेन विगरहित्वा, दुब्भरताय दुप्पोसताय महिच्छताय असन्तुट्ठिताय सङ्गणिकाय कोसज्जस्स अवण्णं भासित्वा अनेकपरियायेन सुभरताय सुपोसताय अप्पिच्छस्स सन्तुट्ठस्स सल्लेखस्स धुतस्स पासादिकस्स अपचयस्स विरियारम्भस्स वण्णं भासित्वा, भिक्खूनं तदनुच्छविकं तदनुलोमिकं धम्मिं कथं कत्वा भिक्खू आमन्तेसि—

"न भिक्खवे, गिहीनं उत्तरिमनुस्सधम्मं इद्धिपाटिहारियं दस्सेतब्बं । यो दस्सेय्य, आपत्ति दुक्कटस्स । भिन्दथेतं भिक्खवे, दारुपत्तं, सकलिकं सकलिकं कत्वा, भिक्खूनं अञ्जनुपपिसनं देथ । न च, भिक्खवे, दारुपत्तो धारेतब्बो । यो धारेय्य, आपत्ति दुक्कटस्सा" ति ।

..."न, भिक्खवे, सोवण्णमयो पत्तो धारेतब्बो...पे०...न रूपियमयो पत्तो धारेतब्बो... न मणिमयो पत्तो धारेतब्बो......न वेलुरियमयो पत्तो धारेतब्बो......न फलिकमयो पत्तो धारेतब्बो...न कंसमयो पत्तो धारेतब्बो,..."न काचमयो पत्तो धारेतब्बो...न तिपुमयो पत्तो धारेतब्बो...न सीसमयो पत्तो धारेतब्बो...न तम्बलोहमयो पत्तो धारेतब्बो । यो धारेय्य, आपत्ति दुक्कटस्स । अनुजानामि, भिक्खवे, द्वे पत्ते—अयोपत्तं, मत्तिकापत्तं" ति ।[1]

: २२ :

श्रामण्य फल

अञ्ञतिथिया

एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा राजगहे विहरति जीवकस्स कोमारभच्चस्स अम्बवने महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं अड्ढतेलसेहि भिक्खुसतेहि । तेन खो पन समयेन राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो तदहुपोसथे पन्नरसे कोमुदिया चातुमासिनिया पुण्णाय पुण्णमाय रत्तिया राजामच्चपरिवुतो उपरिपासादवरगतो निसिन्नो होति । अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो तदहुपोसथे उदानं उदानेसि—"रमणीया वत भो दोसिना रत्ति, अभिरूपा वत भो दोसिना रत्ति, दस्सनीया वत भो दोसिना रत्ति, पासादिका वत भो दोसिना रत्ति, लक्खञ्ञा वत भो दोसिना रत्ति ! कं नु ख्वज्ज, समणं वा ब्राह्मणं वा पयिरुपासेय्याम, यं नो पयिरुपासतो चित्तं पसीदेय्या" ति ?

1. विनयपिटके, चुल्लवग्ग पालि, खुद्दकवत्थुक्खन्धकं, पिण्डोलभारद्वाजपत्तवत्थु, ५-५-१० ; पृ० १९९-२०१ ।

एवं वुत्ते, अञ्ञतरो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच—"अयं, देव, पूरणो कस्सपो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो, वयोअनुप्पत्तो। तं देवो पूरणं कस्सपं पयिरुपासतु। अप्पेव नाम देवस्स पूरणं कस्सपं पयिरुपासतो चित्तं पसीदेय्या" ति। एवं वुत्तो, राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो तुण्ही अहोसि।

अञ्ञतरो पि खो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच—"अयं, देव, मक्खलि गोसालो सङ्घी॰ ......।

अञ्ञतरो पि खो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच—"अयं, देव, अजितो केसकम्बलो सङ्घी॰ ......।

अञ्ञतरो पि खो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच—"अयं, देव, पकुधो कच्चायनो सङ्घी॰ ......।

अञ्ञतरो पि खो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच—"अयं, देव, सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो सङ्घी॰ ......।

अञ्ञतरो पि खो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच—"अयं, देव, निगण्ठो नाटपुत्तो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च, ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो। तं देवो निगण्ठं नातपुत्तं पयिरुपासतु। अप्पेव नाम देवस्स निगण्ठं नाटपुत्तं पयिरुपासतो चित्तं पसीदेय्या" ति। एवं वुत्ते, राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो तुण्ही अहोसि।

राजा जीवकम्बवने भगवन्तं उपसङ्कमि

तेन खो पन समयेन जीवको कोमारभच्चो रञ्ञो मागधस्स अजातसत्तुस्स वेदेहिपुत्तस्स अविदूरे तुण्हीभूतो निसिन्नो होति। अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो जीवकं कोमारभच्चं एतदवोच—"त्वं पन, सम्म जीवक, किं तुण्ही" ति?

"अयं, देव, भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो अम्हाकं अम्बवने विहरति महता भिक्खुसङ्घेन सद्धिं अड्ढतेलसेहि भिक्खुसतेहि। तं खो पन भगवन्तं एवं कल्याणो कित्तिसद्दो अब्भुग्गतो—'इति पि सो भगवा, अरहं, सम्मासम्बुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो, सुगतो, लोकविदू, अनुत्तरो, पुरिसदम्मसारथि, सत्था देवमनुस्सानं, बुद्धो, भगवा' ति। तं देवो भगवन्तं पयिरुपासतु। अप्पेव नाम देवस्स भगवन्तं पयिरुपासतो चित्तं पसीदेय्या" ति।

"तेन हि, सम्म जीवक, हत्थियानानि कप्पापेही" ति। "एवं, देवा" ति खो जीवको कोमारभच्चो रञ्ञो मागधस्स अजातसत्तुस्स वेदेहिपुत्तस्स पटिस्सुणित्वा पञ्चमत्तानि हत्थि-निकासतानि कप्पापेत्वा रञ्ञो च आरोहणीयं नागं, रञ्ञो मागधस्स अजातसत्तुस्स

वेदेहिपुत्तस्स पटिवेदेसि—"कप्पितानि खो ते, देव, हत्थियानानि। यस्सदानि कालं मञ्ञसी" ति।

अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो पञ्चसु हत्थिनिकासतेसु पच्चेका इत्थियो आरोपेत्वा, आरोहणीयं नागं अभिरुहित्वा, उक्कासु धारियमानासु, राजगहम्हा निय्यासि महच्चा राजानुभावेन ; येन जीवकस्स कोमारभच्चस्स अम्बवनं तेन पाय्यासि।

अथ खो रञ्ञो मागधस्स अजातसत्तुस्स वेदेहिपुत्तस्स अविदूरे अम्बवनस्स अहुदेव भयं, अहु छम्भितत्तं, अहु लोमहंसो। अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो भीतो संविग्गो लोमहट्ठजातो जीवकं कोमारभच्चं एतदवोच—"कच्चि मं, सम्म जीवक, न वञ्चेसि ? कच्चि मं, सम्म जीवक, न पलम्भेसि ? कच्चि मं, सम्म जीवक, न पच्चत्थिकानं देसि ? कथं हि नाम ताव महतो भिक्खुसङ्घस्स अड्ढतेलसानं भिक्खुसतानं नेव खिपितसद्दो भविस्सति न उक्कासितसद्दो न निग्घोसो" ति !

"मा भायि, महाराज ; मा भायि, महाराज। न ते, देव, वञ्चेमि। न तं, देव, पलम्भामि। न तं, देव, पच्चत्थिकानं देमि। अभिक्कम, महाराज, अभिक्कम, महाराज। एते मण्डलमाले दीपा झायन्ती" ति।

अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो यावतिका नागस्स भूमि नागेन गन्त्वा, नागा पच्चोरोहित्वा, पत्तिको व येन मण्डलमालस्स द्वारं तेनुपसङ्कमि, उपसङ्कमित्वा जीवकं कोमारभच्चं एतदवोच—"कहं पन, सम्म जीवक, भगवा" ति ?

"एसो, महाराज, भगवा ; एसो, महाराज, भगवा मज्झिमं थम्भं निस्साय पुरत्थाभिमुखो निसिन्नो, पुरक्खतो भिक्खुसङ्घस्सा" ति।

अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा एकमन्तं अट्ठासि। एकमन्तं ठितो खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो तुण्हीभूतं भिक्खुसङ्घं अनुविलोकेत्वा रहदमिव विप्पसन्नं, उदानं उदानेसि—"इमिना मे उपसमेन उदयभद्दो कुमारो समन्नागतो होतु येनेतरहि उपसमेन भिक्खुसङ्घो समन्नागतो" ति।

"अगमा खो त्वं, महाराज, यथापेमं" ति।

"पियो मे, भन्ते, उदयभद्दो कुमारो। इमिना मे, भन्ते, उपसमेन उदयभद्दो कुमारो समन्नागतो होतु येनेतरहि उपसमेन भिक्खुसङ्घो समन्नागतो" ति।

अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो भगवन्तं अभिवादेत्वा, भिक्खुसङ्घस्स अञ्जलिं पणामेत्वा, एकमन्तं निसीदि। एकमन्त निसिन्नो खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो भगवन्तं एतदवोच—"पुच्छेय्यामहं, भन्ते, भगवन्तं किञ्चिदेव देसं, सचे मे भगवा ओकासं करोति पञ्हस्स वेय्याकरणाया" ति।

"पुच्छ, महाराज, यदाकङ्खसी" ति।

सामञ्ञफलपुच्छा

"यथा नु खो इमानि, भन्ते, पुथुसिप्पायतनानि, सेय्यथिदं—हत्थारोहा अस्सारोहा रथिका धनुग्गहा चेलका चलका पिण्डदायका उग्गा राजपुत्ता पक्खन्दिनो महानागा सूरा चम्मयोधिनो दासिकपुत्ता आलारिका कप्पका न्हापका सूदा मालाकारा रजका पेसकार, नलकारा कुम्भकारा गणका मुद्दिका, यानि वा पनञ्ञानि पि एवंगतानि पुथुसिप्पायतनानि, ते दिट्ठेव धम्मे सन्दिट्ठिकं सिप्पफलं उपजीवन्ति; ते तेन अत्तानं सुखेन्ति पीणेन्ति, मातापितरो सुखेन्ति पीणेन्ति, पुत्तदारं सुखेन्ति पीणेन्ति, मित्तामच्चे सुखेन्ति पीणेन्ति, समणब्राह्मणेसु उद्धग्गिकं दक्खिणं पतिट्ठपेन्ति सोवग्गिकं सुखविपाकं सग्गसंवत्तनिकं। सक्का नु खो, भन्ते, एवमेव दिट्ठेव धम्मे सन्दिट्ठिकं सामञ्ञफलं पञ्ञपेतुं" ति?

छ तित्थियवादा

"अभिजानासि नो त्वं, महाराज, इमं पञ्हं अञ्ञे समणब्राह्मणे पुच्छिता" ति?

"अभिजानामहं, भन्ते, इमं पञ्हं अञ्ञे समणब्राह्मणे पुच्छिता" ति।

"यथा कथं पन ते, महाराज, ब्याकरिंसु, सचे ते अगरु भासस्सू" ति।

"न खो मे, भन्ते, गरु, यत्थस्स भगवा निसिन्नो, भगवन्तरूपो वा" ति।

"तेन हि, महाराज, भासस्सू" ति।

पूरणकस्सपवादो

"एकमिदाहं, भन्ते, समयं येन पूरणो कस्सपो तेनुपसङ्कमिं; उपसङ्कमित्वा पूरणेन कस्सपेन सद्धिं सम्मोदिं। सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदिं। एकमन्तं निसिन्नो खो अहं, भन्ते, पूरणं कस्सपं एतदवोचं—'यथा नु खो इमानि, भो कस्सप, पुथुसिप्पायतनानि,०·······।

"एवं वुत्ते, भन्ते, पूरणो कस्सपो मं एतदवोच—'करोतो खो, महाराज, कारयतो छिन्दतो छेदापयतो पचतो पाचापयतो०·······।

इत्थं खो मे, भन्ते, पूरणो कस्सपो सन्दिट्ठिकं सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो अकिरियं ब्याकासि। सेय्यथापि भन्ते, अम्बं वा पुट्ठो लबुजं ब्याकरेय्य, लबुजं वा पुट्ठो अम्बं ब्याकरेय्य; एवमेव खो मे, भन्ते, पूरणो कस्सपो सन्दिट्ठिकं सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो अकिरियं ब्याकासि। तस्स मय्हं, भन्ते, एतदहोसि—'कथं हि नाम मादिसो समणं वा ब्राह्मणं वा विजिते वसन्तं अपसादेतब्बं मञ्ञेय्या' ति। सो खो अहं, भन्ते, पूरणस्स कस्सपस्स भासितं नेव अभिनन्दिं नप्पटिक्कोसिं। अनभिनन्दित्वा अप्पटिक्कोसित्वा अनत्तमनो, अनत्तमनवाचं अनिच्छारेत्वा, तमेव वाचं अनुग्गण्हन्तो अनिक्कुज्जन्तो उट्ठायासना पक्कमिं।"

मक्खलिगोसालवादो

"एकमिदाहं, भन्ते, समयं येन मक्खलि गोसालो०……।

अजितकेसकम्बलवादो

"एकमिदाहं, भन्ते, समयं येन अजितो केसकम्बलो०……।

पकुधकच्चायनवादो

"एकमिदाहं, भन्ते, समयंयेन पकुधो कच्चायनो०……।

निगण्ठनाटपुत्तवादो

"एकमिदाहं, भन्ते, समयं येन निगण्ठो नाटपुत्तो तेनुपसङ्कमिं ; उपसङ्कमित्वा निगण्ठेन नाटपुत्तेन सद्धिं सम्मोदिं। सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदिं। एकमन्तं निसिन्नो खो अहं, भन्ते, निगण्ठं नाटपुत्तं एतदवोचं—'यथा नु खो इमानि, भो अग्गिवेस्सन, पुथुसिप्पायतनानि…पे०…सक्का नु खो, भो अग्गिवेस्सन, एवमेव दिट्ठेव धम्मे सन्दिट्ठिकं सामञ्ञफलं पञ्ञपेतुं' ति ?

"एवं वुत्ते, भन्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो मं एतदवोच—'इध, महाराज, निगण्ठो चातुयामसंवरसंवुतो होति। कथं च, महाराज, निगण्ठो चातुयामसंवरसंवुतो होति ? इध, महाराज, निगण्ठो सब्बवारिवारितो च होति, सब्बवारियुत्तो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो च। एवं खो, महाराज, निगण्ठो चातुयामसंवरसंवुतो होति। यतो खो, महाराज, निगण्ठो एवं चातुयामसंवरसंवुतो होति ; अयं वुच्चति, महाराज, निगण्ठो गतत्तो च यतत्तो च ठितत्तो चा' ति।

"इत्थं खो मे, भन्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो सन्दिट्ठिकं सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो चातुयामसंवरं ब्याकासि। सेय्यथापि, भन्ते, अम्बं वा पुट्ठो लबुजं ब्याकरेय्य, लबुजं वा पुट्ठो अम्बं ब्याकरेय्य ; एवमेव खो मे, भन्ते, निगण्ठो नाटपुत्तो सन्दिट्ठिकं सामञ्ञफलं पुट्ठो समानो चातुयामसंवरं ब्याकासि। तस्स मय्हं, भन्ते, एतदहोसि—'कथं हि नाम मादिसो समणं वा ब्राह्मणं वा विजिते वसन्तं अपसादेतब्बं मञ्ञेय्या' ति। सो खो अहं, भन्ते, निगण्ठस्स नाटपुत्तस्स भासितं नेव अभिनन्दिं नप्पटिक्कोसिं। अनभिनन्दित्वा अप्पटिक्कोसित्वा अनत्तमनो, अनत्तमनवाचं अनिच्छारेत्वा, तमेव वाचं अनुग्गण्हन्तो अनिक्कुज्जन्तो, उट्ठायासना पक्कमिं।

सञ्जयबेलट्ठपुत्तवादो

"एकमिदाहं, भन्ते, समयं येन सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो०……।

बुद्धवादो

पठमसन्दिट्ठिकसामञ्ञफलं

"सोहं, भन्ते, भगवन्तं पि पुच्छामि—'यथा नु खो इमानि, भन्ते, पुथुसिप्पायतनानि०····।

अजातसत्तुउपासकत्तपटिवेदना

एवं वुत्ते, राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो भगवन्तं एतदवोच—"अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते। सेय्यथापि, भन्ते, निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य, पटिच्छन्नं वा विवरेय्य, मूल्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य, अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य चक्खुमन्तो रूपानि दक्खन्ती ति ; एवमेवं, भन्ते, भगवता अनेकपरियायेन धम्मो पकासितो। एसाहं, भन्ते, भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसङ्घं च। उपासकं मं भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं। अच्चयो मं, भन्ते, अच्चगमा यथाबालं यथामूल्हं यथाअकुसलं, योहं पितरं धम्मिकं धम्मराजानं इस्सरियकारणा जीविता वोरोपेसिं। तस्स मे, भन्ते, भगवा अच्चयं अच्चयतो पटिग्गण्हातु आयतिं संवराया" ति।

"तग्घ त्वं, महाराज, अच्चयो अच्चगमा यथाबालं यथामूल्हं यथाअकुसलं, यं त्वं पितरं धम्मिकं धम्मराजानं जीविता वोरोपेसि। यतो च खो त्वं, महाराज, अच्चयं अच्चयतो दिस्वा यथाधम्मं पटिकरोसि, तं ते मयं पटिग्गण्हाम। वुद्धिहेसा, महाराज, अरियस्स विनये यो अच्चयं अच्चयतो दिस्वा यथाधम्मं पटिकरोति, आयतिं संवरं आपज्जती" ति।

एवं वुत्ते, राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो भगवन्तं एतदवोच—"हन्द च दानि मयं, भन्ते, गच्छाम। बहुकिच्चा मयं बहुकरणीया" ति।

"यस्सदानि, त्वं, महाराज, कालं मञ्ञसी" ति।

अथ खो राजा मागधो अजातसत्तु वेदेहिपुत्तो भगवतो भासितं अभिनन्दित्वा अनुमोदित्वा उट्ठायासना भगवन्तं अभिवादेत्वा पदक्खिणं कत्वा पक्कामि।

अथ खो भगवा अचिरपक्कन्तस्स रञ्ञो मागधस्स अजातसत्तुस्स वेदेहिपुत्तस्स भिक्खू आमन्तेसि—"खतायं, भिक्खवे, राजा। उपहतायं, भिक्खवे, राजा। सचायं, भिक्खवे, राजा पितरं धम्मिकं धम्मराजानं जीविता न वोरोपेस्सथ, इमस्मिं येव आसने विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उप्पज्जिस्सथा" ति। इदमवोच भगवा। अत्तमना ते भिक्खू भगवतो भासितं अभिनन्दुं ति।[1]

---

१. सुत्तपिटके, दीघनिकाय पालि, सीलक्खन्धवग्गो, सामञ्ञफलसुत्तं, १-२-१ से ६। पृ० ४१ से ७५।

: २३ :

बुद्ध : धर्माचार्यों में कनिष्ठ

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे। अथ खो राजा पसेनदि कोसलो येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धि सम्मोदि। सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो राजा पसेनदि कोसलो भगवन्तं एतदवोच—"भवं पि नो गोतमो अनुत्तरं सम्मासम्बोधि अभिसम्बुद्धो ति पटिजानाती" ति?

यं हि तं, महाराज, सम्मा वदमानो वदेय्य 'अनुत्तरं सम्मासम्बोधि अभिसम्बुद्धो' ति, ममेव तं सम्मा वदमानो वदेय्य। अहं हि, महाराज, अनुत्तरं सम्मासम्बोधि अभिसम्बुद्धो" ति।

"ये पि ते, भो गोतम, समणब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया आता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं—पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, निगण्ठो नाटपुत्तो, सञ्जयो वेलट्ठपुत्तो, पकुधो कच्चायनो, अजितो केसकम्बलो; ते पि मया 'अनुत्तरं सम्मासम्बोधि अभिसम्बुद्धो ति पटिजानाथा' ति पुट्ठा समाना अनुत्तरं सम्मासम्बोधि अभिसम्बुद्धो ति न पटिजानन्ति; किं पन भवं गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जाया" ति?

"चत्तारो खो मे, महाराज, दहरा ति न उञ्ञातब्बा, दहरा ति न परिभोतब्बा। कतमे चत्तारो? खत्तियो खो, महाराज, दहरो ति न उञ्ञातब्बो, दहरो ति न परिभोतब्बो। उरगो खो महाराज, दहरो ति न उञ्ञातब्बो, दहरो ति न परिभोतब्बो। अग्गि खो, महाराज, दहरो ति न उञ्ञातब्बो, दहरो ति न परिभोतब्बो। भिक्खु, खो, महाराज, दहरो ति न उञ्ञातब्बो, दहरो ति न परिभोतब्बो। इमे खो, महाराज, चत्तारो दहरा ति न उञ्ञातब्बा, दहरा ति न परिभोतब्बा" ति।

इदमवोच भगवा। इदं वत्वान सुगतो अथापरं एतदवोच सत्था—

"खत्तियं जातिसम्पन्नं, अभिजातं यसस्सिनं।
दहरो ति नावजानेय्य, न नं परिभवे नरो॥
"ठानं हि सो मनुजिन्दो, रज्जं लद्धान खत्तियो।
सो कुद्धो राजदण्डेन, तस्मिं पक्कमते भुसं।
तस्मा तं परिवज्जेय्य, रक्खं जीवितमत्तनो॥
"गामे वा यदि वा रञ्ञे, यत्थ पस्से भुजङ्गमं।
दहरो ति नावजानेय्य, न नं परिभवे नरो॥

"उच्चावचेहि वण्णेहि, उरगो चरति तेजसी।
सो आसज्ज डंसे बालं, नरं नारिं च एकदा।
तस्मा तं परिवज्जेय्य, रक्खं जीवितमत्तनो॥
"पहूतभक्खं जालिनं, पावकं कण्हवत्तनिं।
दहरो ति नावजानेय्य, न नं परिभवे नरो॥
"लद्धा हि सो उपादानं, महा हुत्वान पावको।
सो आसज्ज डहे बालं, नरं नारिं च एकदा।
तस्मा तं परिवज्जेय्य, रक्खं जीवितमत्तनो॥
"वनं यदग्गि डहति, पावको कण्हवत्तनी।
जायन्ति तत्थ पारोहा, अहोरत्तानमच्चये॥
"यञ्च खो सीलसम्पन्नो, भिक्खु डहति तेजसा।
न तस्स पुत्ता पसवो, दायादा विन्दरे धनं।
अनपच्चा अदायादा, तालावत्थू भवन्ति ते॥
"तस्मा हि पण्डितो पोसो, सम्पस्सं अत्थमत्तनो।
भुजङ्गमं पावकं च, खत्तियं च यसस्सिनं।
भिक्खुं च सीलसम्पन्नं, सम्मदेव समाचरे" ति॥

एवं वुत्ते, राजा पसेनदि कोसलो भगवन्तं एतदवोच—"अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते! सेय्यथापि भन्ते, निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य पटिच्छन्नं वा विवरेय्य मूळ्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य—चक्खुमन्तो रूपानि दक्खन्ती ति; एवमेवं भगवता अनेकपरियायेन धम्मो पकासितो। एसाहं, भन्ते, भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसङ्घं च। उपासकं मं, भन्ते, भगवा धारेतु अज्जतग्गे पाणुपेतं सरणं गतं" ति।[1]

: २४ :

सभिय परिव्राजक

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा राजगहे विहरति वेळुवने कलन्दकनिवापे। तेन खो पन समयेन सभियस्स परिब्बाजकस्स पुराणसालोहिताय देवताय पञ्हा उद्दिट्ठा होन्ति—"यो

---

१. सुत्तपिटके, संयुत्तनिकाय पालि, सगाथवग्गो, कोसलसंयुत्तं, दहरसुत्तं, ३-१-१ से ४ पृ० ६७-६६।

ते, सभिय, समणो वा ब्राह्मणो वा इमे पञ्हे पुट्ठो ब्याकरोति तस्स सन्तिके ब्रह्मचरियं चरेय्यासी" ति।

अथ खो सभियो परिब्बाजको तस्सा देवताय सन्तिके ते पञ्हे उग्गहेत्वा ये ते समणब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं—पूरणो कस्सपो मक्खलिगोसालो अजितो केसकम्बलो पकुधो कच्चानो सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो निगण्ठो नाटपुत्तो, ते उपसङ्कमित्वा ते पञ्हे पुच्छति। ते सभियेन परिब्बाजकेन पञ्हे पुट्ठा न सम्पायन्ति; असम्पायन्ता कोपं च दोसं च अप्पच्चयं च पातुकरोन्ति। अपि च सभियंयेव परिब्बाजकं पटिपुच्छन्ति।

अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—"ये खो ते भोन्तो समणब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथीदं—पूरणो कस्सपो···पे०···निगण्ठो नाटपुत्तो, ते मया पञ्हे पुट्ठा न सम्पायन्ति, असम्पायन्ता कोपं च दोसं च अप्पच्चयं च पातुकरोन्ति; अपि च मञ्ञेवेत्थ पटिपुच्छन्ति। यन्नूनाहं हीनायावत्तित्वा कामे परिभुञ्जेय्यं" ति।

अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—"अयं पि खो समणो गोतमो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स; यन्नूनाहं समणं गोतमं उपसङ्कमित्वा इमे पञ्हे पुच्छेय्यं" ति।

अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—"ये पि खो ते भोन्तो समणब्राह्मणा जिण्णा वुड्ढा महल्लका अद्धगता वयोअनुप्पत्ता थेरा रत्तञ्ञू चिरपब्बजिता सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स सेय्यथीदं—पूरणो कस्सपो··· पे०···निगण्ठो नाटपुत्तो, ते पि मया पञ्हे पुट्ठा न सम्पायन्ति, असम्पायन्ता कोपं च दोसं च अप्पच्चयं च पातुकरोन्ति, अपि च मञ्ञेवेत्थ पटिपुच्छन्ति; किं पन मे समणो गोतमो इमे पञ्हे पुट्ठो ब्याकरिस्सति! समणो हि गोतमो दहरो चेव जातिया नवो च पब्बज्जाया" ति।

अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—"समणो खो दहरो ति न उञ्ञातब्बो न परिभोतब्बो। दहरो पि चेस समणो गोतमो महिद्धिको होति महानुभावो, यन्नूनाहं समणं गोतमं उपसङ्कमित्वा इमे पञ्हे पुच्छेय्यं" ति।

अथ खो सभियो परिब्बाजको येन राजगहं तेन चारिकं पक्कामि। अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन राजगहं वेलुवनं कलन्दकनिवापो, येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धिं सम्मोदि। सम्मोदनीयं कथं साराणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो सभियो परिब्बाजको भगवन्तं गाथाय अज्झभासि—

"कङ्खी वेचिकिच्छी आगमं, (इति सभियो)
पञ्हे पुच्छितुं अभिकङ्खमानो।
तेसन्तकरो भवाहि पञ्हे मे पुट्ठो,
अनुपुब्बं अनुधम्मं ब्याकरोहि मे" ॥
"दूरतो आगतोसि सभिय, (इति भगवा)
पञ्हे पुच्छितुं अभिकङ्खमानो।
तेसन्तकरो भवामि पञ्हे ते पुट्ठो,
अनुपुब्बं अनुधम्मं ब्याकरोमि ते ॥
"पुच्छ मं सभिय पञ्हं,
यं किञ्चि मनसिच्छसि।
तस्स तस्सेव पञ्हस्स,
अहं अन्तं करोमि ते" ति ॥

अथ खो सभियस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—"अच्छरियं वत, भो, अब्भुतं वत, भो ! यं वताहं अञ्ञेसु समणब्राह्मणेसु ओकासकम्ममत्तं पि नालत्थं तं मे इदं समणेन गोतमेन ओकासकम्मं कतं" ति। अत्तमनो पमुदितो उदग्गो पीतिसोमनस्सजातो भगवन्तं पञ्हं अपुच्छि—

"किं पत्तिनमाहु भिक्खुनं, (इति सभियो) ०······ ११२

अथ खो सभियो परिब्बाजको भगवतो भासितं अभिनन्दित्वा अनुमोदित्वा अत्तमनो पमुदितो उदग्गो पीतिसोमनस्सजातो उट्ठायासना एकंसं उत्तरासङ्गं करित्वा येन भगवा तेनञ्जलिं पणामेत्वा भगवन्तं सम्मुखा सारुप्पाहि गाथाहि अभित्थवि—

"यानि च तीणि यानि च सट्ठि,०······ १३७

अथ खो सभियो परिब्बाजको भगवतो पादेसु सिरसा निपतित्वा भगवन्तं एतदवोच—"अभिक्कन्तं, भन्ते···पे०···एसाहं भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खुसङ्घं च; लभेय्याहं, भन्ते, भगवतो सन्तिके पब्बज्जं, लभेय्यं उपसम्पदं" ति।

"यो खो, सभिय, अञ्ञतित्थियपुब्बो इमस्मिं धम्मविनये आकङ्खति पब्बज्जं आकङ्खति उपसम्पदं, सो चत्तारो मासे परिवसति; चतुन्नं मासानं अच्चयेन आरद्धचित्ता भिक्खू पब्बाजेन्ति उपसम्पादेन्ति भिक्खुभावाय। अपि च मेत्थ पुग्गलवेमत्तता विदिता" ति ॥

"सचे, भन्ते, अञ्ञतित्थियपुब्बा इमस्मिं धम्मविनये आकङ्खन्ता पब्बज्जं आकङ्खन्ता उपसम्पदं चत्तारो मासे परिवसन्ति, चतुन्नं मासानं अच्चयेन आरद्धचित्ता भिक्खू पब्बाजेन्ति उपसम्पादेन्ति भिक्खुभावाय, अहं चत्तारि वस्सानि परिवसिस्सामि; चतुन्नं वस्सानं अच्चयेन आरद्धचित्ता भिक्खू पब्बाजेन्तु उपसम्पादेन्तु भिक्खुभावाय।" ति। अलत्थ खो

सभियो परिब्बाजको भगवतो सन्तिके पब्बज्जं अलत्थ उपसम्पदं···पे०···अञ्ञतरो खो पनायस्मा सभियो अरहतं अहोसी ति ।[1]

: २५ :

सुभद्र परिव्राजक

तेन खो पन समयेन सुभद्दो नाम परिब्बाजको कुसिनारायं पटिवसति । अस्सोसि खो सुभद्दो परिब्बाजको—"अज्ज किर रत्तिया पच्छिमे यामे समणस्स गोतमस्स परिनिब्बानं भविस्सती" ति । अथ खो सुभद्दस्स परिब्बाजकस्स एतदहोसि—"सुतं खो पन मेतं परिब्बाजकानं वुड्ढानं महल्लकानं आचरियपाचरियानं भासमानानं—'कदाचि करहचि तथागता लोके उप्पज्जन्ति अरहन्तो सम्मासम्बुद्धा' ति । अज्जेव रत्तिया पच्छिमे यामे समणस्स गोतमस्स परिनिब्बानं भविस्सति । अत्थि च मे अयं कङ्खाधम्मो उप्पन्नो—'एवं पसन्नो अहं समणे गोतमे । पहोति मे समणो गोतमो तथा धम्मं देसेतुं यथाहं इमं कङ्खाधम्मं पजहेय्यं' " ति । अथ खो सुभद्दो परिब्बाजको येन उपवत्तनं मल्लानं सालवनं येनायस्मा आनन्दो तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच—'सुतं मेतं''''''० । साधाहं, भो आनन्द, लभेय्यं समणं गोतमं दस्सनाया" ति । एवं वुत्ते, आयस्मा आनन्दो सुभद्दो परिब्बाजकं एतदवोच—"अलं आवुसो सुभद्द, मा तथागतं विहेठेसि । किलन्तो भगवा" ति । दुतियं पि खो सुभद्दो परिब्बाजको···पे०···ततियं पि खो सुभद्दो परिब्बाजको आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच०······ ।

अस्सोसि खो भगवा आयस्मतो आनन्दस्स सुभद्देन परिब्बाजकेन सद्धिं इमं कथासल्लापं । अथ खो भगवा आयस्मन्तं आनन्दं आमन्तेसि—"अलं, आनन्द, मा सुभद्दं वारेसि । लभतं, आनन्द, सुभद्दो तथागतं दस्सनाय । यं किञ्चि मं सुभद्दो पुच्छिस्सति सब्बं तं अञ्ञापेक्खो व पुच्छिस्सति, नो विहेसापेक्खो । यं चस्साहं पुट्ठो ब्याकरिस्सामि, तं खिप्पमेव न आजानिस्सती" ति । अथ खो आयस्मा आनन्दो सुभद्दं परिब्बाजकं एतदवोच—"गच्छावुसो सुभद्द, करोति ते भगवा ओकासं" ति । अथ खो सुभद्दो परिब्बाजको येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धिं सम्मोदि । सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं निसिन्नो खो सुभद्दो परिब्बाजको भगवन्तं एतदवोच—"येमे, भो गोतम समणब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स, सेय्यथिदं—पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकम्बलो, पकुधो कच्चायनो,

---

१. सुत्तपिटके, खुद्दकनिकाये, सुत्तनिपात पालि, महावग्गो, सभियसुत्तं, ३-६ ; पृ० ३४४-५३ ।

संजयो बेलट्ठपुत्तो, निगण्ठो नाटपुत्तो, सब्बेते सकाय पटिञ्ञाय अब्भञ्ञिंसु, सब्बेव न अब्भञ्ञिंसु उदाहु एकच्चे अब्भञ्ञिंसु एकच्चे न अब्भञ्ञिंसु" ति ।

"अलं, सुभद्द, तिट्ठतेतं—सब्बेते सकाय पटिञ्ञाय अब्भञ्ञिंसु, सब्बेव न अब्भञ्ञिंसु, उदाहु एकच्चे अब्भञ्ञिंसु एकच्चे न अब्भञ्ञिंसू ति । धम्मं ते, सुभद्द, देसेस्सामि, तं सुणाहि, साधुकं मनसिकरोहि, भासिस्सामी" ति ।

"एवं, भन्ते" ति खो सुभद्दो परिब्बाजको भगवतो पच्चस्सोसि । भगवा एतदवोच—

"यस्मिं खो, सुभद्द धम्मविनये अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो न उपलब्भति, समणो पि तत्थ न उपलब्भति । दुतियो पि तत्थ समणो न उपलब्भति । ततियो पि तत्थ समणो न उपलब्भति । चतुत्थो पि तत्थ समणो न उपलब्भति । यस्मिं च खो, सुभद्द, धम्मविनये अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो उपलब्भति, समणो पि तत्थ उपलब्भति । दुतियो पि तत्थ समणो उपलब्भति । ततियो पि तत्थ समणो उपलब्भति । चतुत्थो पि तत्थ समणो उपलब्भति । इमस्मिं खो, सुभद्द, धम्मविनये अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो उपलब्भति । इधेव, सुभद्द, समणो; इध दुतियो समणो, इध ततियो समणो, इध चतुत्थो समणो । सुञ्ञा परप्पवादा समणेभि अञ्ञेहि । इमे च, सुभद्द, भिक्खू सम्मा विहरेय्युं, असुञ्ञो लोको अरहन्तेहि अस्सा" ति ।

एकूनतिंसो वयसा सुभद्द,
यं पब्बजिं किंकुसलानुएसी ।
वस्सानि पञ्ञास समाधिकानि,
यतो अहं पब्बजितो सुभद्द ।
ञायस्स धम्मस्स पदेसवत्ती,
इतो बहिद्धा समणो पि नत्थि ॥

···एवं वुत्ते, सुभद्दो परिब्बाजको भगवन्तं एतदवोच—"अभिक्कन्तं, भन्ते, अभिक्कन्तं, भन्ते ! सेय्यथापि, भन्ते, निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य, पटिच्छन्नं वा विवरेय्य, मूळ्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य, अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य, चक्खुमन्तो रूपानि दक्खन्ती ति ; एवमेवं भगवता अनेकपरियायेन धम्मो पकासितो । एसाहं, भन्ते, भगवन्तं सरणं गच्छामि धम्मं च भिक्खु सङ्घं च । लभेय्याहं, भन्ते, भगवतो सन्तिके पब्बज्जं लभेय्यं उपसम्पदं" ति ।[1]···

---

१. सुत्तपिटके, दीघनिकाय पालि, महावग्गो, महापरिनिब्बान सुत्त, सुभद्दपरिब्बाजकवत्थु, ३-२३-८५-८८ ; पृ० ११५-१७ ।

: २६ :

राजगृह में सातों धर्मनायक

गणाचरियेसु को सावकसक्कतो

एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा राजगहे विहरति वेलुवने कलन्दकनिवापे । तेन खो पन समयेन सम्बहुला अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता परिब्बाजका मोरनिवापे परिब्बाजकारामे पटिवसन्ति, सेय्यथीदं—अन्नभारो वरधरो सकुलुदायी च परिब्बाजको अञ्ञे च अभिञ्ञाता अभिञ्ञाता परिब्बाजका । अथ खो भगवा पुब्बण्हसमयं निवासेत्वा पत्तचीवरमादाय राजगहं पिण्डाय पाविसि । अथ खो भगवतो एतदहोसि—"अतिप्पगो खो ताव राजगहे पिण्डाय चरितुं । यन्नूनाहं येन मोरनिवापो परिब्बाजकारामो येन सकुलुदायी परिब्बाजको तेनुपसङ्कमेय्यं" ति । अथ खो भगवा येन मोरनिवापो परिब्बाजकारामो तेनुपसङ्कमि । तेन खो पन समयेन सकुलुदायी परिब्बाजको महतिया परिब्बाजकपरिसाय सद्धिं निसिन्नो होति उन्नादिनिया उच्चासद्दमहासद्दाय अनेकविहितं तिरच्छानकथं कथेन्तिया, सेय्यथीदं—राजकथं०··· इतिभवाभवकथं इति वा । अद्दसा खो सकुलुदायी परिब्बाजको भगवन्तं दूरतो व आगच्छन्तं । दिस्वान सकं परिसं सण्ठपेसि—"अप्पसद्दा भोन्तो होन्तु ; मा भोन्तो सद्दमकत्थ । अयं समणो गोतमो आगच्छति ; अप्पसद्दकामो खो पन सो आयस्मा अप्पसद्दस्स वण्णवादी । अप्पेव नाम अप्पसद्दं परिसं विदित्वा उपसङ्कमितब्बं मञ्ञेय्या" ति । अथ खो ते परिब्बाजका तुण्ही अहेसुं । अथ खो भगवा येन सकुलुदायी परिब्बाजको तेनुपसङ्कमि । अथ खो सकुलुदायी परिब्बाजको भगवन्तं एतदवोच—"एतु खो, भन्ते, भगवा । स्वागतं, भन्ते, भगवतो । चिरस्सं खो, भन्ते, भगवा इमं परियायमकासि यदिदं इधागमनाय । निसीदतु, भन्ते, भगवा ; इदमासनं पञ्ञत्तं" ति । निसीदि भगवा पञ्ञत्ते आसने । सकुलुदायी पि खो परिब्बाजको अञ्ञतरं नीचं आसनं गहेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं निसिन्नं खो सकुलुदायिं परिब्बाजकं भगवा एतदवोच—

"कायनुत्थ, उदायि, एतरहि कथाय सन्निसिन्ना, का च पन वो अन्तराकथा विप्पकता" ति ?

"तिट्ठतेसा, भन्ते, कथा याय मयं एतरहि कथाय सन्निसिन्ना । नेसा, भन्ते, कथा भगवतो दुल्लभा भविस्सति पच्छा पि सवनाय । पुरिमानि, भन्ते, दिवसानि पुरिमतरानि नानातित्थियानं समणब्राह्मणानं कुतूहलसालायं सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयमन्तराकथा उदपादि—'लाभा वत, भो, अङ्गमगधानं, सुलद्धलाभा वत, भो, अङ्गमगधानं ! तत्रिमे समणब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता बहुजनस्स राजगहं वस्सावासं ओसटा । अयं पि खो पूरणो कस्सपो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च

आतो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स ; सो पि राजगहं वस्सावासं ओसटो। अयं पि खो मक्खलि गोसालो…पे०…अजितो केसकम्बलो…पकुधो कच्चायनो……सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो…निगण्ठो नातपुत्तो सङ्घी चेव०…वस्सावासं ओसटो। अयं पि खो समणो गोतमो सङ्घी चेव०…वस्सावासं ओसटो। को नु खो इमेसं भवतं समणब्राह्मणानं सङ्घीनं गणीनं गणाचरियानं ञातानं यसस्सीनं तित्थकरानं साधुसम्मतानं बहुजनस्स सावकानं सक्कतो गरुकतो मानितो पूजितो, कं च पन सावका सक्कत्वा गरुं कत्वा उपनिस्साय विहरन्ती' ति ?

"तत्रेकच्चे एवमाहंसु—'अयं खो पूरणो कस्सपो सङ्घी चेव०…बहुजनस्स ; सो च खो सावकानं न सक्कतो न गरुकतो न मानितो न पूजितो, न च पन पूरणं कस्सपं सावका सक्कत्वा गरुं कत्वा उपनिस्साय विहरन्ति। भूतपुब्बं पूरणो कस्सपो अनेकसताय परिसाय धम्मं देसेति। तत्रञ्ञतरो पूरणस्स कस्सपस्स सावको सद्दमकासि—मा भोन्तो पूरणं कस्सपं एतमत्थं पुच्छित्थ, नेसो एतं जानाति ; मयमेतं जानाम, अम्हे एतमत्थं पुच्छथ ; मयमेतं भवन्तानं ब्याकरिस्सामा ति। भूतपुब्बं पूरणो कस्सपो बाहा पग्गय्ह कन्दन्तो न लभति—अप्पसद्दा भोन्तो होन्तु, मा भोन्तो सद्दमकत्थ। नेते, भवन्ते, पुच्छन्ति, अम्हे एते पुच्छन्ति ; मयमेतेसं ब्याकरिस्सामा ति। बहु खो पन पूरणस्स कस्सपस्स सावका वादं आरोपेत्वा अपक्कन्ता—न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि, अहं इमं धम्मविनयं आजानामि, किं त्वं इमं धम्मविनयं आजानिस्ससि, मिच्छा पटिपन्नो त्वमसि, अहमस्मि सम्मापटिपन्नो, सहितं मे, असहितं ते, पुरेवचनीयं पच्छा अवच, पच्छावचनीयं पुरे अवच, अधिचिण्णं ते विपरावत्तं, आरोपितो ते वादो, निग्गहितोसि, चर वादप्पमोक्खाय निब्बेठेहि वा सचे पहोसी ति। इति पूरणो कस्सपो सावकानं न सक्कतो०…उपनिस्साय विहरन्ति। अक्कुट्ठो च पन पूरणो कस्सपो धम्मक्कोसेना' ति।

"एकच्चे एवमाहंसु—'अयं पि खो मक्खलि गोसालो…पे०…अजितो केसकम्बलो…पकुधो कच्चायनो…सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो…निगण्ठो नातपुत्तो सङ्घी चेव०…धम्मक्कोसेना' ति।

"एकच्चे एवमाहंसु—'अयं पि खो समणो गोतमो सङ्घी चेव०…सावकानं सक्कतो गरुकतो मानितो पूजितो, समणं च पन गोतमं सावका सक्कत्वा गरुं कत्वा उपनिस्साय विहरन्ति। भूतपुब्बं समणो गोतमो अनेकसताय परिसाय धम्मं देसेति। तत्रञ्ञतरो समणस्स गोतमस्स सावको उक्कासि। तमेनाञ्ञतरो ब्रह्मचारी जन्नुकेन घट्टेसि—अप्पसद्दो आयस्मा होतु, मायस्मा सद्दमकासि, सत्था नो भगवा धम्मं देसेती' ति। यस्मिं समये समणो गोतमो अनेकसताय परिसाय धम्मं देसेति, नेव तस्मिं समये समणस्स गोतमस्स सावकानं खिपितसद्दो वा होति उक्कासितसद्दो वा। तमेनं महाजनकायो पच्चासीसमानरूपो पच्चुपट्ठितो होति—यं नो भगवा धम्मं भासिस्सति तं नो सोस्सामा ति। सेय्यथापि नाम पुरिसो

चातुम्महापथे खुद्दमधुं अनेलकं पीळेय्य । तमेनं महाजनकायो पच्चासीसमानरूपो पच्चुपट्ठितो अस्स । एवमेव यस्मिं समये समणो गोतमो अनेकसताय परिसाय धम्मं देसेति, नेव तस्मिं समये समणस्स गोतमस्स सावकानं खिपितसद्दो वा होति उक्कासितसद्दो वा । तमेनं महाजनकायो पच्चासीसमानरूपो पच्चुपट्ठितो होति—'यं नो भगवा धम्मं भासिस्सति तं नो सोस्सामा' ति । ये पि समणस्स गोतमस्स सावका सब्रह्मचारीहि सम्पयोजेत्वा सिक्खं पच्चक्खाय हीनायावत्तन्ति ते पि सत्थु चेव वण्णवादिनो होन्ति, धम्मस्स च वण्णवादिनो होन्ति, सङ्घस्स च वण्णवादिनो होन्ति, अत्तगरहिनो येव होन्ति अनञ्ञगरहिनो, मयमेवम्हा अलक्खिका मयं अप्पपुञ्ञा ते मयं एवं स्वाक्खाते धम्मविनये पब्बजित्वा नासक्खिम्हा यावजीवं परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं चरितुं ति । ते आरामिकभूता वा उपासकभूता वा पञ्चसिक्खापदे समादाय वत्तन्ति । इति समणो गोतमो सावकानं सक्कतो०'''विहरन्ती'' ति ।[1]

: २७ :

निगण्ठ उपोसथ

एवं मे सुतं । एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति पुब्बारामे मिगारमातुपासादे । अथ खो विसाखा मिगारमाता तदहुपोसथे येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं निसिन्नं खो विसाखं मिगारमातरं भगवा एतदवोच—"हन्द कुतो नु त्वं, विसाखे, आगच्छसि दिवा दिवस्सा" ति ?

"उपोसथाहं, भन्ते, अज्ज उपवसामी" ति ।

"तयो खोमे, विसाखे, उपोसथा । कतमे तयो ? गोपालकुपोसथो, निगण्ठुपोसथो, अरियुपोसथो । कथं च, विसाखे, गोपालकुपोसथो होति ? सेय्यथापि, विसाखे, गोपालको सायन्हसमये सामिकानं गावो निय्यातेत्वा इति पटिसञ्चिक्खति—'अज्ज खो गावो अमुकस्मिं च अमुकस्मिं च पदेसे चरिंसु, अमुकस्मिं च अमुकस्मिं च पदेसे पानीयानि पिविंसु ; स्वे दानि गावो अमुकस्मिं च अमुकस्मिं च पदेसे चरिस्सन्ति, अमुकस्मिं च अमुकस्मिं च पदेसे पानीयानि पिविस्सन्ती' ति ; एवमेव खो, विसाखे, इधेकच्चो उपोसथिको इति पटिसञ्चिक्खति—'अहं स्वज्ज इदं चिदं च खादनीयं खादिं, इदं चिदं च भोजनीयं भुञ्जिं ; स्वे दानाहं इदं चिदं च खादनीयं खादिस्सामि, इदं चिदं च भोजनीयं भुञ्जिस्सामी' ति । सो तेन अभिज्झासहगतेन चेतसा दिवसं अतिनामेति । एवं विसाखे, गोपालकुपोसथो होति । एवं

---

१. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मज्झिमपण्णासकं, महासकुलुदायिसुत्तं, २७-१ ; पृ० २२४ से २८ ।

उपवुत्थो खो, विसाखे, गोपालकुपोसथो न महप्फलो होति न महानिसंसो न महाजुतिको न महाविप्फारो ।

"कथं च, विसाखे, निगण्ठुपोसथो होति ? अत्थि, विसाखे, निगण्ठा नाम समणजातिका । ते सावकं एवं समादपेन्ति—'एहि त्वं' अम्भो पुरिस, ये पुरत्थिमाय दिसाय पाणा परं योजनसतं तेसु दण्डं निक्खिपाहि ; ये पच्छिमाय दिसाय पाणा परं योजनसतं तेसु दण्डं निक्खिपाहि ; ये उत्तराय दिसाय पाणा परं योजनसतं तेसु दण्डं निक्खिपाहि ; ये दक्खिणाय दिसाय पाणा परं योजनसतं तेसु दण्डं निक्खिपाही' ति । इति एकच्चानं पाणानं अनुद्दयाय अनुकम्पाय समादपेन्ति, एकच्चानं पाणानं नानुद्दयाय नानुकम्पाय समादपेन्ति । ते तदहुपोसथे सावकं एवं समादपेन्ति—'एहि त्वं, अम्भो, पुरिस, सब्बचेलानि निक्खिपित्वा एवं वदेहि—नाहं क्वचनि कस्सचि किञ्चनतस्मिं, न च मम क्वचनि कत्थचि किञ्चनतत्थी ति । जानन्ति खो पनस्स मातापितरो—'अयं अम्हाकं पुत्तो' ति ; सो पि जानाति—'इमे मय्हं मातापितरो' ति । जानाति खो पनस्स पुत्तदारो—'अयं मय्हं भत्ता' ति ; सो पि जानाति—'अयं मय्हं पुत्तदारो' ति । जानन्ति खो पनस्स दासकम्मकरपोरिसा—'अयं अम्हाकं अय्यो' ति ; सो पि जानाति—'इमे मय्हं दासकम्मकरपोरिसा' ति । इति यस्मिं समये सच्चे समादपेतब्बा मुसावादे तस्मिं समये समादपेन्ति । इदं तस्स मुसावादस्मिं वदामि । सो तस्सा रत्तिया अच्चयेन भोगे अदिन्नं येव परिभुञ्जति । इदं तस्स अदिन्नादानस्मिं वदामि । एवं खो, विसाखे, निगण्ठुपोसथो होति । एवं उपवुत्थो खो, विसाखे, निगण्ठुपोसथो न महप्फलो होति न महानिसंसो न महाजुतिको न महाविप्फारो ।

"कथं च, विसाखे, अरियुपोसथो होति ? उपक्किलिट्ठस्स, विसाखे, चित्तस्स उपक्कमेन परियोदपना होति । कथं च, विसाखे, उपक्किलिट्ठस्स चित्तस्स उपक्कमेन परियोदपना होति ? इध, विसाखे, अरियसावको तथागतं अनुस्सरति—'इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा' ति । तस्स तथागतं अनुस्सरतो चित्तं पसीदति, पामोज्जं उप्पज्जति । ये चित्तस्स उपक्किलेसा ते पहीयन्ति, सेय्यथापि, विसाखे, उपक्किलिट्ठस्स सीसस्स उपक्कमेन परियोदपना होति ।[1]......

: २८ :

छः अभिजातियों में निर्ग्रन्थ

एकं समयं भगवा राजगहे विहरति गिज्झकूटे पब्बते । अथ खो आयस्मा आनन्दो येन भगवा तेनुपसङ्कमि ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि । एकमन्तं

---

१. सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, तिकनिपात, महावग्गो, उपोसथसुत्तं, ३-७-१० ; पृ० १९०-९१ ।

निसिन्नो खो आयस्मा आनन्दो भगवन्तं एतदवोच—"पूरणेन, भन्ते, कस्सपेन छल-भिजातियो पञ्ञत्ता—तण्हाभिजाति पञ्ञत्ता, नीलाभिजाति पञ्ञत्ता, लोहिताभिजाति पञ्ञत्ता, हलिद्दाभिजाति पञ्ञत्ता, सुक्काभिजाति पञ्ञत्ता, परमसुक्काभिजाति पञ्ञत्ता।

"तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन तण्हाभिजाति पञ्ञत्ता, ओरब्भिका सूकरिका साकुणिका मागविका लुद्दा मच्छघातका चोरा चोरघातका बन्धनागारिका ये वा पनञ्ञे पि केचि कुरूरकम्मन्ता।

"तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन नीलाभिजाति पञ्ञत्ता, भिक्खू कण्टकवुत्तिका ये वा पनञ्ञे पि केचि कम्मवादा किरियवादा।

"तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन लोहिताभिजाति पञ्ञत्ता, निगण्ठा एकसाटका।

"तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन हलिद्दाभिजाति पञ्ञत्ता, गिही ओदातवसना अचेलक-सावका।

"तत्रिदं, भन्ते, पूरणेन कस्सपेन सुक्काभिजाति पञ्ञत्ता, आजीवका आजीवकिनियो।[१]

: २६ :

सच्चक निगण्ठपुत्र

सच्चकस्स पञ्हो

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा वेसालियं विहरति महावने कूटागारसालायं। तेन खो पन समयेन भगवा पुब्बण्हसमयं सुनिवत्थो होति पत्तचीवरमादाय वेसालिं पिण्डाय पविसितु-कामो। अथ खो सच्चको निगण्ठपुत्तो जङ्घाविहारं अनुचङ्कममानो येन अनुविचरमानो महावनं कूटागारसाला तेनुपसङ्कमि। अद्दसा खो आयस्मा आनन्दो सच्चकं निगण्ठपुत्तं दूरतो व आगच्छन्तं। दिस्वान भगवन्तं एतदवोच—"अयं, भन्ते, सच्चको निगण्ठपुत्तो आगच्छति भस्सप्पवादको पण्डितवादो साधुसम्मतो बहुजनस्स। एसो खो, भन्ते, अवण्णकामो बुद्धस्स, अवण्णकामो धम्मस्स, अवण्णकामो सङ्घस्स। साधु, भन्ते, भगवा मुहुत्तं निसीदतु अनुकम्पं उपादाया" ति। निसीदि भगवा पञ्ञत्ते आसने। अथ खो सच्चको निगण्ठपुत्तो येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धिं सम्मोदि, सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो सच्चको निगण्ठपुत्तो भगवन्तं एतदवोच—०···

---

१. सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, छक्क-निपाता, महावग्गो, छलभिजातिसुत्तं, ६-६-३; पृ० ९३-९४।

सच्चकस्स भगवति सद्धा

एवं वुत्ते, सच्चको निगण्ठपुत्तो भगवन्तं एतदवोच—"अच्छरियं, भो गोतम, अब्भुतं, भो गोतम ! यावञ्चिदं भोतो गोतमस्स एवं आसज्ज आसज्ज वुच्चमानस्स, उपनीतेहि वचनप्पथेहि समुदाचरियमानस्स, छविवण्णो चेव परियोदायति, मुखवण्णो च विप्पसीदति, यथा तं अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स। अभिजानामहं, भो गोतम, पूरणं कस्सपं वादेन वादं समारभिता। सो पि मया वादेन वादं समारद्धो अञ्ञेनञ्ञं पटिचरि, बहिद्धा कथं अपनामेसि, कोपं च दोसं च अप्पच्चयं च पात्वाकासि। भोतो पन गोतमस्स एवं०…अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स। अभिजानामहं, भो गोतम, मक्खलिं गोसालं…पे०…अजितं केसकम्बलं… पकुधं कच्चायनं…सञ्जयं बेलट्ठपुत्तं…निगण्ठं नाटपुत्तं वादेन वादं समारभिता। सो पि मया वादेन०…अप्पच्चयं च पात्वाकासि। भोतो पन गोतमस्स एवं०…बहुकिच्चा मयं, बहुकरणीया" ति।

"यस्स दानि त्वं, अग्गिवेस्सन, कालं मञ्ञसी" ति।

अथ खो सच्चको निगण्ठपुत्तो भगवतो भासितं अभिनन्दित्वा अनुमोदित्वा उट्ठायासना पक्कामी ति।[1]

: ३० :

अनाश्वासिक ब्रह्मचर्यवास

चत्तारो अब्रह्मचरियवासा

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा कोसम्बियं विहरति घोसितारामे। तेन खो पन समयेन सन्दको परिब्बाजको पिलक्खगुहायं पटिवसति महतिया परिब्बाजकपरिसाय सद्धिं पञ्चमत्तेहि परिब्बाजकसतेहि। अथ खो आयस्मा आनन्दो सायण्हसमयं पटिसल्लाना वुट्ठितो भिक्खू आमन्तेसि—"आयामावुसो, येन देवकतसोब्भो तेनुपसङ्कमिस्साम गुहादस्सनाया" ति। "एवमावुसो" ति खो ते भिक्खू आयस्मतो आनन्दस्स पच्चस्सोसुं। अथ खो आयस्मा आनन्दो सम्बहुलेहि भिक्खूहि सद्धिं येन देवकतसोब्भो तेनुपसङ्कमि। तेन खो पन समयेन सन्दको परिब्बाजको महतिया परिब्बाजकपरिसाय सद्धिं निसिन्नो होति उन्नादिनिया उच्चासद्दमहासद्दाय अनेकविहितं तिरच्छानकथं कथेन्तिया, सेय्यथीदं—राजकथं चोरकथं महामत्तकथं सेनाकथं भयकथं युद्धकथं अन्नकथं पानकथं वत्थकथं

---

१. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मूलपण्णासकं, महासच्चकसुत्तं, ३६-१-१ से ३६-५-३५ ; पृ० २९१-३०९।

सयनकथं मालाकथं गन्धकथं ञातिकथं यानकथं गामकथं निगमकथं नगरकथं जनपदकथं इत्थिकथं सूरकथं विसिखाकथं कुम्भट्ठानकथं पुब्बपेतकथं नानत्तकथं लोकक्खायिकं समुद्दक्खायिकं इतिभवाभवकथं इति वा। अद्दसा खो सन्दको परिब्बाजको आयस्मन्तं आनन्दं दूरतो व आगच्छन्तं। दिस्वान सकं परिसं सण्ठपेसि—"अप्पसद्दा भोन्तो होन्तु, मा भोन्तो सद्दमकत्थ ; अयं समणस्स गोतमस्स सावको आगच्छति समणो आनन्दो। यावता—खो पन समणस्स गोतमस्स सावका कोसम्बियं पटिवसन्ति, अयं तेसं अञ्ञतरो समणो आनन्दो। अप्पसद्दकामा खो पन ते आयस्मन्तो अप्पसद्दविनीता अप्पसद्दस्स वण्णवादिनो ; अप्पेव नाम अप्पसद्दं परिसं विदित्वा उपसङ्कमितब्बं मञ्ञेय्या" ति। अथ खो ते परिब्बाजका तुण्ही अहेसुं।

अथ खो आयस्मा आनन्दो येन सन्दको परिब्बाजको तेनुपसङ्कमि। अथ खो सन्दको परिब्बाजको आयस्मन्तं आनन्दं एतदवोच—"एतु खो भवं आनन्दो, स्वागतं भोतो आनन्दस्स। चिरस्सं खो भवं आनन्दो इमं परियायमकासि यदिदं इधागमनाय। निसीदतु भवं आनन्दो, इदमासनं पञ्ञत्तं" ति। निसीदि खो आयस्मा आनन्दो पञ्ञत्ते आसने। सन्दको पि खो परिब्बाजको अञ्ञतरं नीचं आसनं गहेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नं खो सन्दकं परिब्बाजकं आयस्मा आनन्दो एतदवोच—"कायनुत्थ, सन्दक, एतरहि कथाय सन्निसिन्ना, का च पन वो अन्तराकथा विप्पकथा" ति ?

तिट्ठतेसा, भो आनन्द, कथा याय मयं एतरहि कथाय सन्निसिन्ना। नेसा भोतो आनन्दस्स कथा दुल्लभा भविस्सति पच्छा पि सवनाय। साधु वत भवन्तं येन आनन्दं पटिभातु सके आचरियके धम्मिकथा" ति।

"तेन हि, सन्दक ; सुणाहि, साधुकं मनसि करोहि ; भासिस्सामी" ति।

"एवं भो" ति खो सन्दको परिब्बाजको आयस्मतो आनन्दस्स पच्चस्सोसि। आयस्मा आनन्दो एतदवोच—"चत्तारोमे, सन्दक, तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन अब्रह्मचरियवासा अक्खाता चत्तारि च अनस्सासिकानि ब्रह्मचरियानि अक्खातानि, यत्थ विञ्ञू पुरिसो ससक्कं ब्रह्मचरियं न वसेय्य, वसन्तो च नाराधेय्य ञायं धम्मं कुसलं" ति।

कतमे पन ते, भो आनन्द, तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन चत्तारो अब्रह्मचरियवासा, अक्खाता, यत्थ विञ्ञू०……कुसलं" ति।

"इध, सन्दक, एकच्चो सत्था एवंवादी होति एवंदिट्ठी—'नत्थि दिन्नं, नत्थि यिट्ठं, नत्थि हुतं,०……।

"पुन च परं, सन्दक, इधेकच्चो सत्था एवंवादी होति एवंदिट्ठी—'करोतो कारयतो०……।

"पुन च परं, सन्दक, इधेकच्चो सत्था एवंवादी होति एवंदिट्ठी—'नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो०''' ।

"पुन च परं, सन्दक, इधेकच्चो सत्था एवंवादी होति एवंदिट्ठी—सत्तिमे काया अकटा अकटविधा०'''

"इमे खो ते सन्दक, तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन चत्तारो अब्रह्मचरियवासा अक्खाता यत्थ०''' कुसलं" ति ।

चत्तारि अनस्सासिकानि ब्रह्मचरियानि

"अच्छरियं, भो आनन्द, अब्भुतं, भो आनन्द ! यावञ्चिदं तेन भगवता०''' अब्रह्मचरियवासा व समाना 'अब्रह्मचरियवासा' ति अक्खाता यत्थ०'''कुसलं ति । कतमानि पन तानि, भो आनन्द, तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन चत्तारि अनस्सासिकानि ब्रह्मचरियानि अक्खातानि यत्थ०'''कुसलं" ति ?

"इध, सन्दक, एकच्चो सत्था सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति—'चरतो च मे तिट्ठतो च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं' ति । सो सुञ्ञं पि अगारं पविसति, पिण्डं पि न लभति, कुक्कुरो पि डसति, चण्डेन पि हत्थिना समागच्छति, चण्डेन पि अस्सेन समागच्छति, चण्डेन पि गोणेन समागच्छति, इत्थिया पि पुरिसस्स पि नामं पि गोत्तं पि पुच्छति, गामस्स पि निगमस्स पि नामं पि मग्गं पि पुच्छति ; सो 'किमिदं' ति पुट्ठो समानो 'सुञ्ञं मे अगारं पविसितब्बं अहोसि', तेन पाविसिं ; 'पिण्डं मे अलद्धब्बं अहोसि', तेन नालत्थं ; कुक्कुरेन डंसितब्बं अहोसि, तेनम्हि दट्ठो ; चण्डेन हत्थिना समागन्तब्बं अहोसि, तेन समागमिं ; चण्डेन अस्सेन समागन्तब्बं अहोसि, तेन समागमिं ; चण्डेन गोणेन समागन्तब्बं अहोसि, तेन समागमिं ; इत्थिया पि पुरिसस्स पि नामं पि गोत्तं पि पुच्छितब्बं अहोसि, तेन पुच्छिं ; गामस्स पि निगमस्स पि नामं पि मग्गं पि पुच्छितब्बं अहोसि, तेन पुच्छिं ति । तत्र, सन्दक, विञ्ञू पुरिसो इति पटिसञ्चिक्खति—अयं खो भवं सत्था सब्बञ्ञू सब्बदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति''''पे०'''गामस्स पि निगमस्स पि नामं पि मग्गं पि पुच्छितब्बं अहोसि, तेन पुच्छिं ति । सो 'अनस्सासिकं इदं ब्रह्मचरियं' ति—इति विदित्वा तस्मा ब्रह्मचरिया निब्बिज्ज पक्कमति । इदं खो, सन्दक, तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन पठमं अनस्सासिकं ब्रह्मचरियं अक्खातं यत्थ विञ्ञू०'''कुसलं ।

०''''''"इमानि खो, सन्दक, तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन चत्तारि अनस्सासिकानि ब्रह्मचरियानि अक्खातानि यत्थ विञ्ञू०'''कुसलं" ति ।[1]

---

१. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मज्झिमपण्णासकं, सन्दक सुत्तं, २६-१-२; पृ० २१७-२२० ।

: २१ :

विभिन्न मतों के देव

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा राजगहे विहरति वेलुवने कलन्दकनिवापे। अथ खो सम्बहुला नानातित्थियसावका देवपुत्ता असमो च सहलि च नीको च आकोटको च वेगब्भरि च माणवगारियो च अभिक्कन्ताय रत्तिया अभिक्कन्तवण्णा केवलकप्पं वेलुवनं ओभासेत्वा येन भगवा तेनुपसङ्कमिंसु ; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं अट्ठंसु। एकमन्तं ठितो खो असमो देवपुत्तो पूरणं कस्सपं आरब्भ भगवतो सन्तिके इमं गाथं अभासि—

"इध छिन्दितमारिते, हतजानीसु कस्सपो।
न पापं समनुपस्सति, पुञ्ञं वा पन अत्तनो।
स वे विस्सासमाचिक्खि, सत्था अरहति माननं" ति॥

अथ खो सहलि देवपुत्तो मक्खलि गोसालं आरब्भ भगवतो सन्तिके इमं गाथं अभासि—

"तपोजिगुच्छाय सुसंवुतत्तो,
वाचं पहाय कलहं जनेन।
समो सवज्जा विरतो सच्चवादी,
न हि नून तादिसं करोति पापं" ति॥

अथ खो नीको देवपुत्तो निगण्ठं नाटपुत्तं आरब्भ भगवतो सन्तिके इमं गाथं अभासि—

"जेगुच्छी निपको भिक्खु, चातुयामसुसंवुतो।
दिट्ठं सुतं च आचिक्खं, न हि नून किब्बिसी सिया" ति॥

अथ खो आकोटको देवपुत्तो नानातित्थिये आरब्भ भगवतो सन्तिके इमं गाथं अभासि—

"पकुधको कातियानो निगण्ठो,
ये चापिमे मक्खलिपूरणासे।
गणस्स सत्थारो सामञ्ञप्पत्ता,
न हि नून ते सप्पुरिसेहि दूरे" ति॥

अथ खो वेगब्भरि देवपुत्तो आकोटकं देवपुत्तं गाथाय पच्चभासि—

"सहाचरितेन छवो सिगालो,
न कोत्थुको सीहसमो कदाचि।
नग्गो मुसावादी गणस्स सत्था,
सङ्कस्सराचारो न सतं सरिक्खो" ति॥

अथ खो मारो पापिमा वेगब्भरि देवपुत्तं अन्वाविसित्वा भगवतो सन्तिके इमं गाथं अभासि—

"तपोजिगुच्छाय आयुत्ता, पालयं पविवेकियं।
रूपे च ये निविट्ठासे, देवलोकाभिनन्दिनो।
ते वे सम्मानुसासन्ति, परलोकाय मातिया" ति।

अथ खो भगवा, 'मारो अयं पापिमा' इति विदित्वा, मारं पापिमन्तं गाथाय पच्चभासि—

"ये केचि रूपा इध वा हुरं वा,
ये चन्तलिक्खस्मिं पभासवण्णा।
सब्बे व ते ते नमुचिप्पसत्था,
आमिसं व मच्छानं वधाय खित्ता" ति॥[1]

: ३२ :

पिंगल कोच्छ ब्राह्मण

पञ्च सारत्थिका पुग्गला

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे। अथ खो पिङ्गलकोच्छो ब्राह्मणो येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवता सद्धिं सम्मोदि। सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो पिङ्गलकोच्छो ब्राह्मणो भगवन्तं एतदवोच—"येमे, भो गोतम, समणब्राह्मणा सङ्घिनो गणिनो गणाचरिया ञाता यसस्सिनो तित्थकरा साधुसम्मता, बहुजनस्स, सेय्यथीदं—पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, अजितो केसकम्बलो, पकुधो कच्चायनो, सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो, निगण्ठो नाटपुत्तो, सब्बेते सकाय पटिञ्ञाय अब्भञ्ञंसु सब्बे व नाब्भञ्ञंसु, उदाहु एकच्चे अब्भञ्ञंसु एकच्चे नाब्भञ्ञंसू" ति?

"अलं, ब्राह्मण, तिट्ठतेतं—सब्बेते सकाय पटिञ्ञाय अब्भञ्ञंसु सब्बे व नाब्भञ्ञंसु, उदाहु एकच्चे अब्भञ्ञंसु एकच्चे नाब्भञ्ञंसू ति। धम्मं ते, ब्राह्मण, देसेस्सामि, तं सुणाहि, साधुकं मनसि करोहि; भासिस्सामी" ति।

"एवं, भो" ति खो पिङ्गलकोच्छो ब्राह्मणो भगवतो पच्चस्सोसि। भगवा एतदवोच[2]—०......

---

१. सुत्तपिटके, संयुत्तनिकाय पालि, सगाथवग्गो, देवपुत्तसंयुत्तं, नानातित्थियसावकसुत्तं, २-३०-४४-४५; पृ० ६४-६५।

२. सुत्तपिटके, मज्झिमनिकाय पालि, मूलपण्णासकं, चूलसारोपमसुत्तं, ३०-१-१; पृ० २४८।

: ३३ :

जटिल सुत्त

एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति पुब्बारामे मिगारमातुपासादे। तेन खो पन समयेन भगवा सायन्हसमयं पटिसल्लाना वुट्ठितो बहिद्वारकोट्ठके निसिन्नो होति। अथ खो राजा पसेनदि कोसलो येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि।

तेन खो पन समयेन सत्त च जटिला सत्त च निगण्ठा सत्त च अचेलका सत्त च एकसाटका सत्त च परिब्बाजका परूल्हकच्छनखलोमा खारिविविधमादाय भगवतो अविदूरे अतिक्कमन्ति। अथ खो राजा पसेनदि कोसलो उट्ठायासना एकंसं उत्तरासङ्गं करित्वा दक्खिणजाणुमण्डलं पठवियं निहन्त्वा येन ते सत्त च जटिला सत्त च निगण्ठा०······। तेनञ्जलिं पणामेत्वा तिक्खत्तुं नामं सावेसि—"राजाहं, भन्ते, पसेनदि कोसलो···पे०··· राजाहं, भन्ते, पसेनदि कोसलो" ति।

अथ खो राजा पसेनदि कोसलो अचिरपक्कन्तेसु तेसु सत्तसु च जटिलेसु सत्तसु च निगण्ठेसु०······। येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा०···एतदवोच—"ये ते, भन्ते, लोके अरहन्तो वा अरहत्तमग्गं वा समापन्ना एते तेसं अञ्ञतरा" ति।

"दुज्जानं खो एतं, महाराज, तया गिहिना कामभोगिना पुत्तसम्बाधसयनं अज्झावसन्तेन कासिकचन्दनं पच्चनुभोन्तेन मालागन्धविलेपनं धारयन्तेन जातरूपरजतं सादियन्तेन—'इमे वा अरहन्तो, इमे वा अरहत्तमग्गं समापन्ना' ति।

"संवासेन खो, महाराज, सीलं वेदितब्बं। तं च खो दीघेन अद्धुना, न इत्तरं; मनसिकरोता, नो अमनसिकरोता; पञ्ञवता, नो दुप्पञ्ञेन। संवोहारेन खो,०···। आपदासु खो,०···साकच्छाय खो,०···।

"अच्छरियं, भन्ते, अब्भुतं भन्ते! यावसुभासितमिदं, भन्ते, भगवता—'दुज्जानं खो एतं,०···।

"एते, भन्ते, मम पुरिसा चरा ओचरका जनपदं ओचरित्वा आगच्छन्ति। तेहि पठमं ओचिण्णं अहं पच्छा ओसापयिस्सामि। इदानि ते, भन्ते, तं रजोजल्लं पवाहेत्वा सुन्हाता सुविलित्ता कप्पितकेसमस्सू ओदातवत्था पञ्चहि कामगुणेहि समप्पिता समङ्गीभूता परिचारेस्सन्ती" ति।

अथ खो भगवा एतमत्थं विदित्वा तायं वेलायं इमा गाथायो अभासि—

"न वण्णरूपेन नरो सुजानो,
न विस्ससे इत्तरदस्सनेन।
सुसञ्ञतानं हि वियञ्जनेन,
असञ्ञता लोकमिमं चरन्ति॥
"पतिरूपको मत्तिकाकुण्डलो व,
लोहड्ढमासो व सुवण्णछन्नो।
चरन्ति लोके परिवारछन्ना,
अन्तो असुद्धा बहि सोभमाना" ति।[1]

: ३४ :

धम्मिक सुत्त

एवं मे सुतं। एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे। अथ खो धम्मिको उपासको पञ्चहि उपासकसतेहि सद्धिं येन भगवा तेनुपसङ्कमि; उपसङ्कमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो धम्मिको उपासको भगवन्तं गाथाहि अज्झभासि—

"पुच्छामि तं गोतम भूरिपञ्ञ,
कथङ्करो सावको साधु होति।
यो वा अगारा अनगारमेति,
अगारिनो वा पनुपासकासे॥
०..."ये केचिमे तित्थिया वादसीला,
आजीवका वा यदि वा निगण्ठा।
पञ्ञाय तं नातितरन्ति सब्बे,
ठितो वजन्तं विय सीघगामिं॥[2]

महाबोधि कुमार

किं नु दण्डं किं अजिनं किं छत्तं किं उपाहनं
किं अंकुसं च पत्तं च संघाटिं चापि ब्राह्मण
तरमानरूपो गण्हासि किं नु पत्थयसे दिसं॥१॥
द्वादसेतानि वस्सानि वुसितानि तवन्तिके,
नाभिजानामि सोनेन पिंगलेन अभिनिकूजितं॥२॥

---

१. सुत्तपिटके, संयुत्तनिकाय पालि, सगाथवग्गो, कोसलसंयुत्तं, सत्तजटिलसुत्तं, ३-११-२७ से ३०; पृ० ७६-७८।

२. सुत्तपिटके, खुद्दकनिकाये, सुत्तनिपात पालि, चूलवग्गो, धम्मिकसुत्तं, २-१४-१५६ से १६१; पृ० ३२३-३२४।

स्वायं दिसो व नदति सुक्खट्ठं विधंसयं
तव सुत्वा समरिस्स वीतसद्धस्स मम पति ॥३॥
अहु एस कतो दोसो, यथा भाससि ब्राह्मण,
एस भिय्यो पसीदामि, वस ब्राह्मण मा गम ॥४॥
सब्बसेतो पुरे आसि, ततोपि सबलो अहु ।
सब्बलोहितको दानि, कालो पक्कितुं मम ॥५॥
अब्भन्तरं पुरे आसि ततो मज्झे ततो बहि
पुरा निद्धमना होति सयं एव वजं अहं ॥६॥
वीतसद्धं न सेवेय्य उदपानं व अनोदकं
सचे पि नं अनुखणे वारि कद्दमगन्धिकं ॥७॥
पसन्नं एव सेवेय्य, अपसन्नं विवज्जये
पसन्नं पयिरुपासेय्य, रहदं व उदकत्थिको ॥८॥
भजे भजन्तं पुरिसं अभजन्तं न भाजये,
असप्पुरिसधम्मोसो यो भजन्तं न भाजति ॥९॥
यो भजन्तं न भजति सेवमानं न सेवति
स वे मनुस्सपापिट्ठो मिगो साखस्सितो यथा ॥१०॥
अच्चाभिक्खणसंसग्गा असमोसरणेन च
एतेन मित्ता जीरन्ति अकाले याचनाय च ॥११॥
तस्मा नाभिक्खणं गच्छे न च गच्छे चिराचिरं
कालेन याचं याचेय्य एवं मित्ता न जीररे ॥१२॥
अतिचिरंनिवासेन पियो भवति अप्पियो
आमंत खो तं गच्छाम पुरा ते होम अप्पिया ॥१३॥
एवं चे याचमानानं अञ्जलिं नावबुज्झसि
परिचारकानं सतानं वचनं न करोसि नो
एवं तं अभियाचाम, पुन कयिरासि परियायं ॥१४॥
एवञ्चे नो विहरतं अन्तरायो न हेस्सति
तुय्हं चापि महाराज मय्हं च रट्ठवड्ढन ।
अप्पेव नाम पस्सेम अहोरत्तानमच्चये ॥१५॥
उदीरणा चे संगत्या भावायमनुवत्तति
अकामा अकरणीयं वा करणीयं वापि कुब्बति
अकामकरणीयस्मिं कुविध पापेन लिप्पति ॥१६॥

सो चे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥१७॥
अत्तनो चेहि वादस्स अपराधं विजानिय
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादोहि तादिसो ॥१८॥
इस्सरो सब्बलोकस्स सचे कप्पेति जीवितं
इद्धिब्यसनभावञ्च कम्मं कल्याणपापकं
निद्देसकारी पुरिसो इस्सरो तेन लिप्पति ॥१९॥
स चे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥२०॥
अत्तनो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ॥२१॥
सचे पुब्बेकतहेतु सुखदुक्खं निगच्छति,
पोराणकं कतं पापं तं एसो मुच्चते इणं,
पोराणकं इणमोक्खो, क्विध पापेन लिप्पति ॥२२॥
सोचे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको
भोतो च वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥२३॥
अत्तनो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ॥२४॥
चतुन्नं एव उपादाय रूपं सम्भोति पाणिनं
यतो च रूपं सम्भोति तत्थेव अनुपगच्छति ॥२५॥
इधेव जीवति जीवो पेच्च पेच्च विनस्सति,
उच्छिज्जति अयं लोको ये बाला ये च पण्डिता
उच्छिज्जमाने लोकस्मिं क्विध पापेन लिप्पति ॥२६॥
सोचे अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥२७॥
अत्तनो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ॥२८॥
आहु खत्तविदा लोके बाला पण्डितमानिनो
मातरं पितरं हञ्ञे अथो जेट्ठं पि भातरं
हनेय्य पुत्ते च दारे च अत्थो चे तादिसो सिया ॥२९॥

यस्स रुक्खस्स छायाय निसीदेय्य सयेय्य वा
न तस्स साखं भञ्जेय्य, मित्तदूभी हि पापको ॥३०॥
अथ अत्थे समुप्पन्ने समूलं अपि अब्बहे
अत्थो मे सम्बलेनापि सुहतो वानरो मया ॥३१॥
लोके अत्थो च धम्मो च कल्याणो न च पापको
भोतो चे वचनं सच्चं सुहतो वानरो मया ॥३२॥
भोतो चे हि वादस्स अपराधं विजानिय
न मं त्वं गरहेय्यासि, भोतो वादो हि तादिसो ॥३३॥
अहेतुवादो पुरिसो यो च इस्सरकुत्तिको
पुब्बेकती च उच्छेदो यो च खत्तविधो नरो,
एते असप्पुरिसा लोके बाला पण्डितमानिनो,
करेय्य तादिसो पापं अथो अञ्ञं पि कारये,
असप्पुरिससंसग्गो दुक्खन्तो कटुकुद्रयो ॥३४-३५॥
उरब्भरूपेन बाकासु पुब्बे
असंकितो अजयूथं उपेति,
हन्त्वा उराणिं अजियं अजं च
चित्रासयित्वा येन कामं पलेति ॥३६॥
तथाविधेके समणब्राह्मणासे
छदनं कत्वा वञ्चयन्ती मनुस्से
अनासका थण्डिलसेय्यका च
रजोजल्लं उक्कुटिकप्पधानं
परियायभत्तं च अपानकत्तं
पापाचरा अरहन्तो वदाना ॥३७॥
एते असप्पुरिसा लोके बाला पण्डितमानिनो,
करेय्य तादिसो पापं अथो अञ्ञंपि कारये,
असप्पुरिससंसग्गो दुक्खन्तो कटुकुद्रयो ॥३८॥
याहु नत्थि विरियं ति हेतुञ्च अपवदन्ति
[ये] परकारं अत्तकारञ्च
ये तुच्छं समवण्णयुं,
एते असप्पुरिसा लोके बाला पण्डितमानिनो,
करेय्य तादिसो पापं अथो अञ्ञंपि कारये,
असप्पुरिससंसग्गो दुक्खन्तो कटुकुद्रयो ॥३९-४०॥

सचे हि विरियं नास्स कम्मं कल्याणपापकं
न भरे वड्ढकिं राजा न पि यन्तानि कारये ॥४१॥

यस्मा च विरियं अत्थि कम्मं कल्याणपापकं
तस्मा यन्तानि कारेन्ति राजा भरति वड्ढकिं ॥४२॥

यदि वस्ससतं देवो न वस्से न हिमं पते
उच्छिज्जेय्य अयं लोको विनस्सेय्य अयं पजा ॥४३॥

यस्मा च वस्सती देवो हिमं चानुफुसीयति
तस्मा सस्सानि पच्चन्ति रट्ठं च पल्लते चिरं ॥४४॥

गवं चे तरमानानं जिम्हं गच्छति पुंगवो
सब्बा ता जिम्हं गच्छन्ति नेत्ते जिम्हगते सति ॥४५॥

एवमेवं मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो
सो चे अधम्मं चरति पगेव इतरा पजा
सब्बं रट्ठं दुक्खं सेति राजा चे होति अधम्मिको ॥४६॥

गवं चे तरमानानं उजुं गच्छति पुंगवो
सब्बा ता उजुं गच्छन्ति नेत्ते उजुगते सति ॥४७॥

एवमेव मनुस्सेसु यो होति सेट्ठसम्मतो
सो चेपि धम्मं चरति पगेव इतरा पजा,
सब्बं रट्ठं सुखं सेति राजा चे होति धम्मिको ॥४८॥

महारुक्खस्स फलिनो आमं छिन्दन्ति यो फलं
रसं चस्स न जानाति बीजं चस्स विनस्सति ॥४९॥

महारुक्खूपमं रट्ठं अधम्मेन यो पसासति
रसं चस्स न जानाति रट्ठं चस्स विनस्सति ॥५०॥

महारुक्खस्स फलिनो पक्कं छिन्दति यो फलं
रसं चस्स विजानाति बीजं चस्स न नस्सति ॥५१॥

महारुक्खूपमं रट्ठं धम्मेन यो पसासति
रसं चस्स विजानाति रट्ठं चस्स न नस्सति ॥५२॥

यो च राजा जनपदं अधम्मेन पसासति
सब्बोसधीहि सो राजा विरुद्धो होति खत्तियो ॥५३॥

तथेव नेगमे हिंसं ये युत्ता कयविक्कये
ओजदानबलीकारे स कोसेन विरुज्झति ॥५४॥

पहारवरखेतञ्ञू संगामे कतनिस्समे
उस्सिते हिंसयं राजा स बलेन विरुज्झति ॥५५॥
तत्थेव इसयो हिंसं सञ्ञते ब्रह्मचारयो
अधम्मचारी खत्तियो सो सगेन विरुज्झति ॥५६॥
यो च राजा अधम्मट्ठो भरियं हन्ति अदूसिकं
लुद्दं पसवते ठानं पुत्तेहि च विरुज्झति ॥५७॥
धम्मं चरे जनपदे नेगमेसु बलेसु च
इसयो च न हिंसेय्य पुत्तदारे समं चरे ॥५८॥
स तादिसो भूमिपति रट्ठपालो अकोधनो
सामन्ते सम्पकम्पेति इन्दो व असुराधिपो ॥५९॥[1]

: ३६ :

मयूर और काक

अदस्सनेन मोरस्स, सिखिनो मञ्जुभाणिनो ।
काकं तत्थ अपूजेसुं, मंसेन च फलेन च ॥
यदा च सरसम्पन्नो, मोरो बावेरुमागमा ।
अथ लाभो च सक्कारो, वायसस्स अहायथ ॥
याव नुप्पज्जती बुद्धो, धम्मराजा पभङ्करो ।
ताव अञ्ञे अपूजेसुं, पुथू समणब्राह्मणे ॥
यदा च सरसम्पन्नो, बुद्धो धम्मं अदेसयि ।
अथ लाभो च सक्कारो, तित्थियानं अहायथा ति ॥[2]

: ३७ :

मांसाहार चर्चा

हन्त्वा छेत्वा वधित्वा च, देति दानं असञ्ञतो ।
एदिसं भत्तं भुञ्जमानो, स पापमुपलिम्पति ॥
पुत्तदारं पि चे हन्त्वा, देति दानं असञ्ञतो ।
भुञ्जमानो पि सप्पञ्ञो, न पापमुपलिम्पती ति ॥[3]

१–जातक, पंचम खण्ड, महाबोधि जातक, पृ० ३१७-३२७ ।

२–सुत्तपिटके, खुद्दकनिकाये, जातकपालि, 'पठमो भागो', चतुक्कनिपातो, बावेरु जातक, ४-३३९-१५३ से १५६ ; पृ० १०४ ।

३–सुत्तपिटके, खुद्दकनिकाये, जातकपालि 'पठमो भागो', दुकनिपातो, तेलोवाद जातक, २-२४६ १९२-१९३ ; पृ० ६४ ।

: ३८ :

चार प्रकार के लोग

"चत्तारोमे, भिक्खवे, पुग्गला सन्तो संविज्जमाना लोकस्मिं। कतमे चत्तारो? इध भिक्खवे, एकच्चो पुग्गलो अत्तन्तपो होति अत्तपरितापरितापनानुयोगमनुयुत्तो। इध, पन,, भिक्खवे, एकच्चो पुग्गलो परन्तपो होति परपरितापनानुयोगमनुयुत्तो। इध पन, भिक्खवे, एकच्चो पुग्गलो अत्तन्तपो च होति अत्तपरितापनानुयोगमनुयुत्तो, परन्तपो च परपरितापनानुयोगमनुयुत्तो। इध पन, भिक्खवे, एकच्चो पुग्गलो नेवत्तन्तपो होति नात्तपरितापनानुयोगमनुयुत्तो न परन्तपो न परपरितापनानुयोगमनुयुत्तो। सो नेव अत्तन्तपो न परन्तपो दिट्ठेव धम्मे निच्छातो निब्बुतो सीतीभूतो सुखप्पटिसंवेदी ब्रह्मभूतेन अत्तना विहरति।

"कथं च, भिक्खवे, पुग्गलो अत्तन्तपो होति अत्तपरितापनानुयोगमनुयुत्तो? इध, भिक्खवे, एकच्चो अचेलको होति मुत्ताचारो हत्थापलेखनो नएहिभद्दन्तिको नतिट्ठभद्दन्तिको नाभिहटं न उद्दिस्सकतं न निमन्तनं सादियति। सो न कुम्भिमुखा पटिग्गण्हाति, न कलोपिमुखा पटिग्गण्हाति, न एलकमन्तरं न दण्डमन्तरं न मुसलमन्तरं न द्विन्नं भुञ्जमानानं न गब्भिनिया न पायमानाय न पुरिसन्तरगताय न सङ्कित्तीसु न यत्थ सा उपट्ठितो होति न यत्थ मक्खिका सण्डसण्डचारिनी न मच्छं न मंसं न सुरं न मेरयं न थुसोदकं पिवति। सो एकागारिको वा होति एकालोपिको द्वागारिको वा होति द्वालोपिको...पे०...सत्तागारिको वा होति सत्तालोपिको; एकिस्सा पि दत्तिया यापेति द्वीहि पि दत्तीहि यापेति...पे०...सत्तहि पि दत्तीहि यापेति; एकाहिकं पि आहारं आहारेति द्वाहिकं पि आहारं आहारेति...पे०...सत्ताहिकं पि आहारं आहारेति। इति एवरूपं अड्ढमासिकं पि परियायभत्तभोजनानुयोगमनुयुत्तो विहरति। सो साकभक्खो पि होति सामाकभक्खो पि होति नीवारभक्खो पि होति दद्दुलभक्खो पि होति हटभक्खो पि होति कणभक्खो पि होति आचामभक्खो पि होति पिञ्ञाकभक्खो पि होति तिणभक्खो पि होति गोमयभक्खो पि होति; वनमूलफलाहारो पि यापेति पवत्तफलभोजी। सो साणानि पि धारेति मसाणानि पि धारेति छवदुस्सानि पि धारेति पंसुकूलानि पि धारेति तिरीटानि पि धारेति अजिनं पि धारेति अजिनक्खिपं पि धारेति कुसचीरं पि धारेति वाकचीरं पि धारेति फलकचीरं पि धारेति केसकम्बलं पि धारेति वालकम्बलं पि धारेति उलूकपक्खं पि धारेति; केसमस्सुलोचको पि होति केसमस्सुलोचनानुयोगमनुयुत्तो; उब्भट्ठको पि होति आसनप्पटिक्खित्तो; उक्कुटिको पि होति उक्कुटिकप्पधानमनुयुत्तो; कण्टकापस्सयिको पि होति कण्टकापस्सये सेय्यं कप्पेति; सायततियकं पि उदकोरोहनानुयोगमनुयुत्तो विहरति। इति एवरूपं अनेकविहितं कायस्स आतापनपरितापनानुयोगमनुयुत्तो विहरति। एवं खो, भिक्खवे, पुग्गलो अत्तन्तपो होति अत्तपरितापनानुयोगमनुयुत्तो।"[1]

१—सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, चतुक्कनिपातो, महावग्गो, अत्तन्तपसुत्तं, ४-२०-८; पृ० २१६-२०।

: ४१ :

निर्ग्रन्थों के पाँच दोष

"पञ्चहि, भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो आजीवको यथाभतं निक्खित्तो एवं निरये। कतमेहि पञ्चहि? पाणातिपाती होति, अदिन्नादायी होति, अब्रह्मचारी होति, मुसावादी होति, सुरामेरयमज्जपमादट्ठायी होति। इमेहि खो, भिक्खवे, पञ्चहि धम्मेहि समन्नागतो आजीवको यथाभतं निक्खित्तो एवं निरये" ति।

"पञ्चहि, भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो निगण्ठो···मुण्डसावको···जटिलको··· परिब्बाजको··· मागण्डिको··· तेदण्डिको···आरुद्धको··· गोतमको···देवधम्मिको यथाभतं निक्खित्तो एवं निरये। कतमेहि पञ्चहि? पाणातिपाती होति, अदिन्नादायी होति··· पे०···सुरामेरयमज्जपमादट्ठायी होति। इमेहि खो, भिक्खवे, पञ्चेहि धम्मेहि समन्नागतो देवधम्मिको यथाभतं निक्खित्तो एवं निरये" ति।[1]

: ४२ :

मिलिन्द प्रश्न

अतीते किर कस्सपस्स भगवतो सासने वत्तमाने गङ्गाय समीपे एकस्मिं आवासे महा-भिक्खुसङ्घो पटिवसति। तत्थ वत्तसीलसम्पन्ना भिक्खू पातो'व उट्ठाय यट्ठिसमज्जनियो आदाय बुद्ध-गुणे आवज्जन्ता अङ्गणं सम्मज्जित्वा कचवरब्यूहं करोन्ति॥

अथे'को भिक्खु एकं सामणेरं, 'एहि सामणेर, इमं कचवरं छड्डेही'—ति आह। सो असुणन्तो विय गच्छति। सो दुतियम्पि ततियम्पि आमन्तियमानो असुणन्तो विय गच्छते'व। ततो सो भिक्खु दुब्बचो वता'यं सामणेरो'ति कुद्धो सम्मज्जनिदण्डेन पहारं अदासि। ततो सो रोदन्तो भयेन कचवरं छड्डेन्तो इमिना'हं कचवरछड्डुनपुञ्ञकम्मेन यावा'हं निब्बानं पापुणामि एत्थ'न्तरे निब्बत्तनिब्बतट्ठाने मज्झन्तिकसुरियो विय महेसक्खो महातेजो भवेय्यं' ति पठमपत्थनं पट्ठपेसि॥

कचवरं छड्डेत्वा नहान'त्थाय गङ्गातित्थं गतो गङ्गाय ऊमिवेगं गग्गरायमानं दिस्वा,—'यावा'हं निब्बानं पापुणामि एत्थ'न्तरे निब्बत्तनिब्बत्तट्ठाने अयं ऊमिवेगो विय ठानुप्पत्तिकपटिभानो भवेय्यं अक्खयपटिभानो'ति दुतियम्पि पत्थनं पट्ठपेसी॥

१—सुत्तपिटके, अंगुत्तरनिकाय पालि, पंचकनिपातो, सिक्खापदपेय्यालं, आजीवकसुत्तं, ५-२८-८-१७ ; पृ०

सो पि भिक्खु सम्मज्जनिसालाय सम्मज्जनिं ठपेत्वा नहान'त्थाय गङ्गातित्थं गच्छन्तो सामणेरस्स पत्थनं सुत्वा—एस मया पयोजितो ति ताव एवं पत्थेसि। मय्हं किं न सम्मिज्झिस्सती' ति चिन्तेत्वा—यावा'हं निब्बाणं पापुणामि एत्थन्तरे निब्बत्तनिब्बत्तट्ठाने अयं गङ्गा-ऊमिवेगो विय अक्खयपटिभानो भवेय्यं, इमिना पुच्छितपुच्छितं सब्बं पञ्हपटिभानं विजटेतुं निब्बेठेतुं समत्थो भवेय्यं' ति पत्थनं पट्ठपेसि ॥

ते उभो पि देवेसु च मनुस्सेसु च संसरन्ता एकं बुद्धन्तरं खेपेसुं। अथ अम्हाकं भगवता पि यथा मोग्गलिपुत्ततिस्सत्थेरो दिस्सति, एवमे'ते पि दिस्सन्ति, मम परिनिब्बानतो पञ्च-वस्ससते अतिक्कन्ते एते उप्पज्जिस्सन्ति। यं मया सुखुमं कत्वा देसितं धम्मविनयं, तं एते पञ्हपुच्छनं ओपम्मयुत्तिवसेन निज्जटं निग्गुम्बं कत्वा विभजिस्सन्ती' ति निद्दिट्ठा ॥

तेसु सामणेरो जम्बुदीपे सागलनगरे मिलिन्दो नाम राजा अहोसि, पण्डितो ब्यत्तो मेधावी पटिबलो अतीता'नागतपच्चुप्पन्नानं समन्तयोगविधानकियानं करणकाले निसम्मकारी होति। बहूनि च'स्स सत्थानि उग्गहितानि होन्ति ; सेय्यथी'दं, सुति सम्मुति संख्या योगो नीति विसेसिका गणिका गन्धब्बा तिकिच्छा धनुब्बेदा पुराणा इतिहासा जोतिसा माया हेतु मन्तना युद्धा छन्दसा मुद्दा वचनेन एकूनवीसति। वितण्डवादी दुरासदो दुप्पसहो पुथुतित्थकरानं अग्गम'क्खायति। सकल-जम्बुदीपे मिलिन्देन रञ्ञा समो कोचि ना' होसि, यदि' दं थामेन जवेन सूरेन पञ्ञाय अड्ढो महद्धनो महाभोगो अनन्तबलवाहनो ॥

अथे'कदिवसं मिलिन्दो राजा अनन्तबलवाहनं चतुरङ्गिनिं बलग्गसेनाब्यूहं। दस्सन-कम्यताय नगरा निक्खमित्वा बहिनगरे सेनागणनं कारेत्वा सो राजा भस्सप्पवादको लोकायत वितण्डजनसल्लापप्पवत्तकोतूहलो सुरियं ओलोकेत्वा अमच्चे आमन्तेसि, बहु ताव दिवसा' वसेसो ; किं करिस्साम इदाने'व नगरं पविसित्वा ? अत्थि कोपि पण्डितो समणो वा ब्राह्मणो वा सङ्घी गणी गणाचरियो, अपि अरहन्तं सम्मासम्बुद्धं पटिजानमानो, यो मया सद्धिं सल्लपितुं सक्कोति कङ्खं पटिविनोदेतुं' ति ॥

एवं वुत्ते पञ्चसता योनका राजानं मिलिन्दं एतदवोचुं—अत्थि महाराज छ सत्थारो—पूरणो कस्सपो, मक्खलि गोसालो, निगण्ठो नातपुत्तो, सञ्जयो बेलट्ठपुत्तो, अजितो केसकम्बली पकुधो कच्चायनो। ते सङ्घिनो गणिनो गणाचरियका ञाता यसस्सिनो तित्थकरा, साधु-सम्मता बहुजनस्स, गच्छ त्वं महाराज ते पञ्हं पुच्छस्सु, कङ्खं पटिविनोदयिस्सू'ति ॥[1]

*

१—मिलिन्दपञ्हो, बाहिर कथा, पृ० २-५ ।

परिशिष्ट-२

जैन पारिभाषिक शब्द-कोश

अंग—देखें, द्वादशांगी।

अकल्पनीय—सदोष।

अकेवली—केवलज्ञान-प्राप्ति से पूर्व की अवस्था।

अक्षीण महानसिक लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। प्राप्त अन्न को जब तक तपस्वी स्वयं न खा ले, तब तक उस अन्न से शतशः व सहस्रशः व्यक्तियों को भी तृप्त किया जा सकता है।

अगुरुलघु—न बड़ापन और न छोटापन।

अघाती कर्म—आत्मा के ज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों का घात न करने वाले कर्म अघाती कहलाते हैं। वे चार हैं—(१) वेदनीय, (२) आयुष्य, (३) नाम और (४) गोत्र। देखें, *घातीकर्म।*

अचित्त—निर्जीव पदार्थ।

अचेलक—वस्त्र-रहित। अल्प वस्त्र।

अच्युत—बारहवाँ स्वर्ग। देखें, देव।

अट्ठम तप—तीन दिन का उपवास, तेला।

अणुव्रत—हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का यथाशक्ति एकदेशीय परित्याग। यह शील गृहस्थ श्रावकों का है।

अतिचार—व्रत-भंग के लिए सामग्री संयोजित करना अथवा एक देश से व्रत खण्डित करना।

अतिशय—सामान्यतया मनुष्य में होने वाली असाधारण विशेषताओं से भी अत्यधिक विशिष्टता।

अनगारधर्म—अपवाद-रहित स्वीकृत व्रत-चर्या।

अध्यवसाय—विचार।

अनशन—यावज्जीवन के लिए चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना।

अनिर्हारिम—देखें, पादोपगमन।

अनीक—सेना और सेनापति। युद्ध-प्रसंग पर इन्हें गन्धर्व-नर्तक आदि बन कर लड़ना पड़ता है।

अन्तराय कर्म—जो कर्म उदय में आने पर प्राप्त होने वाले लाभ आदि में बाधा डालते हैं।

अपवर्तन—कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग—फलनिमित्तक शक्ति में हानि।

अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना—मृत्यु के समय कषायों का उपशमन कर शरीर-मूर्च्छा से दूर हो कर किया जाने वाला अनशन।

अप्रतिकर्म—अनशन में उठना, बैठना, सोना, चलना आदि शारीरिक क्रियाओं का अभाव। यह पादोपगमन अनशन में होता है।

अभिगम—साधु के स्थान में प्रविष्ट होते ही श्रावक द्वारा आचरण करने योग्य पाँच विषय। वे हैं—(१) सचित्त द्रव्यों का त्याग, (२) अचित्त द्रव्यों को मर्यादित करना, (३) उत्तरासंग करना, (४) साधु दृष्टिगोचर होते ही करबद्ध होना और (५) मन को एकाग्र करना।

अभिग्रह—विशेष प्रतिज्ञा।

अभिजाति—परिणाम।

अरिहन्त—राग-द्वेष रूप शत्रुओं के विजेता व विशिष्ट महिमा-सम्पन्न पुरुष।

अर्थागम—शास्त्रों का अर्थरूप।

अर्हत्—देखें, अरिहन्त।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानना।

अवसर्पिणी काल—कालचक्र का वह विभाग, जिसमें प्राणियों के संहनन और संस्थान क्रमशः हीन होते जाते हैं, आयु और अवगाहना घटती जाती है तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम का ह्रास होता जाता है। इस समय में पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी हीन होते जाते हैं। शुभ भाव घटते हैं और अशुभ भाव बढ़ते जाते हैं। इसके छः आरा—विभाग हैं : (१) सुषम-सुषम, (२) सुषम, (३) सुषम-दुःषम, (४) दुःषम-सुषम, (५) दुःषम और (६) दुःषम-दुःषम।

अवस्वापिनी—गहरी नींद।

असंख्यप्रदेशी—वस्तु के अविभाज्य अंश को प्रदेश कहते हैं। जिसमें ऐसे प्रदेशों की संख्या असंख्य हो, वह असंख्यप्रदेशी कहलाता है। प्रत्येक जीव असंख्यप्रदेशी होता है।

आकाशातिपाती—विद्या या पाद-लेप से आकाश-गमन करने की शक्ति अथवा आकाश से रजत आदि इष्ट या अनिष्ट पदार्थ-वर्षा की दिव्य शक्ति।

आगारधर्म—अपवाद-सहित स्वीकृत व्रत-चर्या।

आचार-धर्म-प्रणिधि—बाह्य वेष-भूषा की प्रधान रूप से व्यवस्था।

आतापना—ग्रीष्म, शीत आदि से शरीर को तापित करना।

आत्म-रक्षक—इन्द्र के अंग-रक्षक। इन्हें प्रतिक्षण सन्नद्ध होकर इन्द्र की रक्षा के लिए प्रस्तुत रहना होता है।

आमर्षौषध लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। अमृत-स्नान से जैसे रोग समाप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार तपस्वी के संस्पर्श मात्र से रोग समाप्त हो जाते हैं।

आयंबिल वर्द्धमान तप—जिस तप में रंधा हुआ या भुना हुआ अन्न पानी में भिगो कर केवल एक बार ही खाया जाता है, उसे आयंबिल कहते हैं। इस तप को क्रमशः बढ़ाते जाना। एक आयंबिल के बाद एक उपवास, दो आयंबिल के बाद उपवास, तीन आयंबिल के बाद उपवास, इस प्रकार क्रमशः सौ आयंबिल तक बढ़ाना और बीच-बीच में उपवास करना। इस तप में २४ वर्ष, ३ महीने और २० दिन का समय लगता है।

आरा—विभाग।

आरोप्य—बौद्धों का स्वर्ग।

आर्त्तध्यान—प्रिय के वियोग एवं अप्रिय के संयोग में चिन्तित रहना।

आशातना—गुरुजनों पर मिथ्या आक्षेप करना, उनकी अवज्ञा करना या उनसे अपने आप को बड़ा मानना।

आश्रव—कर्म को आकर्षित करने वाले आत्म-परिणाम। कर्मागमन का द्वार।

इच्छा परिमाण व्रत—श्रावक का पाँचवाँ व्रत, जिसमें वह परिग्रह का परिमाण करता है।

ईर्या—देखें, समिति।

उत्तर गुण—मूल गुण की रक्षा के लिए की जाने वाली प्रवृत्तियाँ। साधु के लिए पिण्ड-विशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा, अभिग्रह आदि। श्रावक के लिए दिशाव्रत आदि।

उत्तरासंग—उत्तरीय।

उत्सर्पिणी—कालचक्र का वह विभाग, जिसमें प्राणियों के संहनन और संस्थान क्रमशः अधिकाधिक शुभ होते जाते हैं, आयु और अवगाहना बढ़ती जाती है तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की वृद्धि होती जाती है। इस समय में प्राणियों की तरह पुद्‌गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी क्रमशः शुभ होते जाते हैं। अशुभतम भाव अशुभतर, अशुभ, शुभ, शुभतर होते हुए शुभतम होते जाते हैं। अवसर्पिणी काल में क्रमशः ह्रास होते हुए हीनतम अवस्था आ जाती है और इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए क्रमशः उच्चतम अवस्था आ जाती है।

उत्सूत्र प्ररूपणा—यथार्थता के विरुद्ध कथन करना।

उदीरणा—निश्चित समय से पूर्व ही कर्मों का उदय।

उद्वर्तन—कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग—फलनिमित्तक शक्ति में वृद्धि।

उपयोग—चेतना का व्यापार—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान पाँच हैं—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि, (४) मनः पर्यव और (५) केवल।

उपांग—अंगों के विषयों को स्पष्ट करने के लिए श्रुतकेवली या पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचे गये आगम। इनकी संख्या बारह है—(१) औपपातिक, (२) राजप्रश्नीय, (३) जीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) सूर्य प्रज्ञप्ति, (६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, (७) चन्द्र प्रज्ञप्ति, (८) निरयावलिका, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूलिका और (१२) वृष्णिदशा।

ऋजुजड़—सरल, किन्तु तात्पर्य नहीं समझने वाला।

ऋजुप्राज्ञ—सरल और बुद्धिमान्। संकेत मात्र से हार्द तक पहुँचने वाला।

एक अहोरात्र प्रतिमा—साधु द्वारा चौविहार षष्ठोपवास में ग्राम के बाहर प्रलम्बभुज होकर कायोत्सर्ग करना।

एक रात्रि प्रतिमा—साधु द्वारा एक चौविहार अष्टम भक्त में जिनमुद्रा (दोनों पैरों के बीच चार अँगुल का अन्तर रखते हुए सम अवस्था में खड़े रहना), प्रलम्ब बाहु, अनिमिष नयन, एक पुद्गल निरुद्ध दृष्टि और झुके हुए बदन से एक रात तक ग्रामादि के बाहर कायोत्सर्ग करना। विशिष्ट संहनन, धृति, महासत्त्व से युक्त भावितात्मा गुरु द्वारा अनुज्ञात होकर ही इस प्रतिमा को स्वीकार कर सकता है।

एक साटिका—बीच से बिना सिला हुआ पट (साटिका), जो बोलते समय यतना के लिए जैन-श्रावकों द्वारा प्रयुक्त होता था।

एकादशांगी—देखें, द्वादशांगी। एकादशांगी में दृष्टिवाद सम्मिलित नहीं है।

एकावली तप—विशेष आकार की कल्पना से किया जाने वाला एक प्रकार का तप। इसका क्रम यंत्र के अनुसार चलता है। एक परिपाटी (क्रम) में १ वर्ष २ महीने और २ दिन का समय लगता है। चार परिपाटी होती हैं। कुल समय ४ वर्ष ८ महीने और ८ दिन का लगता है। पहली परिपाटी के पारणे में विकृति का वर्जन आवश्यक नहीं होता। दूसरी में विकृति-वर्जन, तीसरी में लेप-त्याग और चौथी में आयंबिल आवश्यक होता है। (चित्र परिशिष्ट-२ के अन्त में देखें)

औद्देशिक—परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्त्र अथवा मकान।

औत्पातिकी बुद्धि—अदृष्ट, अश्रुत व अनालोचित ही पदार्थों को सहसा ग्रहण कर कार्यरूप में परिणत करने वाली बुद्धि।

कनकावली तप—स्वर्ण-मणियों के भूषण विशेष के आकार की कल्पना से किया जाने वाला तप। इसका क्रम यंत्र के अनुसार चलता है। एक परिपाटी (क्रम) में १ वर्ष ५

महीने और १२ दिन लगते हैं। पहली परिपाटी में पारणे में विकृति-वर्जन आवश्यक नहीं है। दूसरी में विकृति का त्याग, तीसरी में लेप का त्याग और चौथे में आयंबिल किया जाता है। (चित्र परिशिष्ट-२ के अन्त में देखें)

करण—कृत, कारित और अनुमोदनरूप योग-व्यापार।

कर्म—आत्मा की सत् एवं असत् प्रवृत्तियों के द्वारा आकृष्ट एवं कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल विशेष।

कल्प—विधि, आचार।

कल्प वृक्ष—वे वृक्ष, जिनके द्वारा भूख-प्यास का शमन, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व अग्नि के अभाव की पूर्ति, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद के साधनों की उपलब्धि सहज होती है।

कार्मिकी बुद्धि—सतत अभ्यास और विचार से विस्तार प्राप्त होने वाली बुद्धि।

किल्विषिक—वे देव जो अन्त्यज समान हैं।

कुत्रिकापण—तीनों लोकों में मिलने वाले जीव-अजीव सभी पदार्थ जहाँ मिलते हों, उसे कुत्रिकापण कहते हैं। इस दुकान पर साधारण व्यक्ति से जिसका मूल्य पाँच रुपया लिया जाता था, इभ्य-श्रेष्ठी आदि से उसी का मूल्य सहस्र रुपया और चक्रवर्ती आदि से लाख रुपया लिया जाता था। दुकान का मालिक किसी व्यन्तर को सिद्ध कर लेता था। वही व्यन्तर वस्तुओं की व्यवस्था कर देता था। पर अन्य लोगों का कहना है कि ये दुकानें वणिक्-रहित रहती थीं। व्यन्तर ही उन्हें चलाते थे और द्रव्य का मूल्य भी वे ही स्वीकार करते थे।

क्षीर समुद्र—जम्बूद्वीप को आवेष्टित करने वाला पाँचवाँ समुद्र, जिसमें दीक्षा-ग्रहण के समय तीर्थङ्करों के लुंचित-केश इन्द्र द्वारा विसर्जित किये जाते हैं।

खादिम—मेवा आदि खाद्य पदार्थ।

गच्छ—साधुओं का समुदाय।

गण—कुल का समुदाय—दो आचार्यों के शिष्य-समूह।

गणधर—लोकोत्तर ज्ञान-दर्शन आदि गुणों के गण (समूह) को धारण करने वाले तीर्थङ्करों के प्रधान शिष्य, जो उनकी वाणी का सूत्र रूप में संकलन करते हैं।

गणिपिटक—द्वादशांगी आचार्य के श्रुत की मंजूषा होती है; अतः उसे गणिपिटक भी कहा जाता है।

गाथापति—गृहपति—विशाल ऋद्धि-सम्पन्न परिवार का स्वामी। वह व्यक्ति जिसके यहाँ कृषि और व्यवसाय—दोनों कार्य होते हैं।

गुणरत्न (रत्न) संवत्सर तप—जिस तप में विशेष निर्जरा (गुण) की रचना (उत्पत्ति) होती

है या जिस तप में निर्जरा रूप विशेष रत्नों से वार्षिक समय बीतता है। इस क्रम में तपो दिन एक वर्ष से कुछ अधिक होते हैं; अतः संवत्सर कहलाता है। इसके क्रम में प्रथम मास में एकान्तर उपवास; द्वितीय मास में षष्ठ भक्त; इस प्रकार क्रमशः बढ़ते हुए सोलहवें महीने में सोलह-सोलह का तप किया जाता है। तपः-काल में दिन में उत्कुटुकासन से सूर्याभिमुख होकर आतापना ली जाती है और रात में वीरासन से वस्त्र-रहित रहा जाता है। तप में १३ मास ७ दिन लगते हैं और इस अवधि में ७३ दिन पारणे के होते हैं। (चित्र परिशिष्ट-२ के अन्त में देखें)

गुणव्रत—श्रावक के बारह व्रतों में से छठा, सातवाँ और आठवाँ गुणव्रत कहलाता है। देखें, बारह व्रत।

गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त—प्रायश्चित्त का एक प्रकार, जिसमें चार महीने की साधु-पर्याय का छेद—अल्पीकरण होता है।

गुरु मासिक प्रायश्चित्त—प्रायश्चित्त का एक प्रकार, जिसमें एक महीने की साधु-पर्याय का छेद—अल्पीकरण होता है।

गुरुलघु—छोटापन और बड़ापन।

ग्रैवेयक—देखें, देव।

गोचरी—जैन मुनियों का विधिवत् आहार-याचन। भिक्षाटन। माधुकरी।

गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च-नीच शब्दों से अभिहित किया जाये। जाति, कुल, बल, रूप, तपस्या, श्रुत, लाभ, ऐश्वर्य आदि का अहं न करना उच्च गोत्र कर्म-बन्ध के निमित्त बनता है और इनका अहं नीच गोत्र कर्म-बन्ध का निमित्त बनता है।

ग्यारह प्रतिमा—उपासकों के अभिग्रह विशेष ग्यारह प्रतिमाएँ कहलाते हैं। उनके माध्यम से उपासक क्रमशः आत्माभिमुख होता है। ये क्रमशः इस प्रकार हैं :

(१) दर्शन प्रतिमा—समय १ मास। धर्म में पूर्णतः रुचि होना। सम्यक्त्व को विशुद्ध रखते हुए उसके दोषों का वर्जन करना।

(२) व्रत महिमा—समय २ मास। पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत को स्वीकार करना तथा पौषधोपवास करना।

(३) सामायक प्रतिमा—समय ३ मास। सामायक और देशावकाशिक व्रत स्वीकार करना।

(४) पोषध प्रतिमा—समय ४ मास। अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पोषध करना।

(५) कायोत्सर्ग प्रतिमा—समय ५ मास। रात्रि को कायोत्सर्ग करना। स्नान न

करना, रात्रि-भोजन न करना, धोती की लांग न लगाना, दिन में ब्रह्मचारी रहना और रात में अब्रह्मचर्य का परिमाण करना।

(६) ब्रह्मचर्य प्रतिमा—समय ६ मास। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन।

(७) सचित्त प्रतिमा—समय ७ मास। सचित्त आहार का परित्याग।

(८) आरम्भ प्रतिमा—समय ८ मास। स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करना।

(९) प्रेष्य प्रतिमा—समय ९ मास। नौकर आदि अन्य जनों से भी आरम्भ-समारम्भ न करवाना।

(१०) उद्दिष्ट वर्जन प्रतिमा—समय १० मास। उद्दिष्ट भोजन का परित्याग। इस अवधि में उपासक केशों का क्षुर से मुण्डन करता है या शिखा धारण करता है। घर से सम्बन्धित प्रश्न किये जाने पर "मैं जानता हूँ या नहीं" इन्हीं दो वाक्यों से अधिक नहीं बोलता।

(११) श्रमण भूत प्रतिमा—समय ११ मास। इस अवधि में उपासक क्षुर से मुण्डन या लोच करता है। साधु का आचार, वेष एवं भण्डोपकरण धारण करता है। केवल ज्ञातिवर्ग से उसका प्रेम-बन्धन नहीं टूटता; अतः वह भिक्षा के लिए ज्ञातिजनों में ही जाता है।

अगली प्रतिमाओं में पूर्व प्रतिमाओं का प्रत्याख्यान तद्वत् आवश्यक है।

घातीकर्म—जैन-धर्म के अनुसार संसार परिभ्रमण के हेतु कर्म हैं। मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से जब आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है तब जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश होते हैं, उसी प्रदेश में रहे हुए अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्‌गल आत्मा के साथ क्षीर-नीरवत् सम्बन्धित होते हैं। उन पुद्‌गलों को कर्म कहा जाता है। कर्म घाती और अघाती मुख्यतः दो भागों में विभक्त होते हैं। आत्मा के ज्ञान आदि स्वाभाविक गुणों का घात करने वाले कर्म घाती कहलाते हैं। वे चार हैं: (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) मोहनीय और (४) अन्तराय।

चक्ररत्न—चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में पहला रत्न। इसकी धार स्वर्णमय होती है, आरे लोहिताक्ष रत्न के होते हैं और नाभि वज्ररत्नमय होती है। सर्वाकार परिपूर्ण और दिव्य होता है। जिस दिशा में यह चल पड़ता है, चक्रवर्ती की सेना उसकी अनुगामिनी होती है। एक दिन में जहाँ जाकर वह रुकता है, योजन का वही मान होता है। चक्र के प्रभाव से बहुत सारे राजा बिना युद्ध किये ही और कुछ राजा युद्ध कर चक्रवर्ती के अनुगामी हो जाते हैं।

चक्रवर्ती—चक्ररत्न का धारक व अपने युग का सर्वोत्तम श्लाघ्य पुरुष। प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में तिरसठ शलाका पुरुष होते हैं—चौबीस तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती,

नौ-नौ वासुदेव, बलदेव और नौ प्रतिवासुदेव। चक्रवर्ती भरत क्षेत्र के छह खण्ड का एक मात्र अधिपति—प्रशासक होता है। चक्रवर्ती के चौदह रत्न होते हैं—(१) चक्र, (२) छत्र, (३) दण्ड, (४) असि, (५) मणि, (६) काकिणी, (७) चर्म, (८) सेनापति, (९) गाथापति, (१०) वर्धकी, (११) पुरोहित, (१२) स्त्री, (१३) अश्व और (१४) गज। नव निधियाँ भी होती हैं।

चच्चर—जहाँ चार से अधिक मार्ग मिलते हैं।

चतुर्गति—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव आदि भवों में आत्म की संसृति।

चतुर्दशपूर्व—उत्पाद, अग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद, ज्ञान प्रवाद, सत्य प्रवाद, आत्म प्रवाद, कर्म प्रवाद, प्रत्याख्यान प्रवाद, विद्या प्रवाद, कल्याण, प्राणावाय, क्रिया-विशाल, लोकबिन्दुसार। ये चौदह पूर्व दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के अन्तर्गत हैं।

चरम—अन्तिम।

चातुर्याम—चार महाव्रत। प्रथम तीर्थङ्कर और अन्तिम तीर्थङ्कर के अतिरिक्त मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के समय पाँच महाव्रतों का समावेश चार महाव्रतों में होता है।

चारण ऋद्धिधर—देखें, जंघाचारण, विद्याचारण।

चारित्र—आत्म-विशुद्धि के लिए किया जाने वाला प्रकृष्ट उपष्टम्भ।

चौदह रत्न—देखें, चक्रवर्ती।

चौदह विद्या—षडंग (१–शिक्षा, २–कल्प, ३–व्याकरण, ४–छन्द, ५–ज्योतिष और ६–निरुक्त), चार वेद (१–ऋग्, २–यजु, ३–साम और ४–अथर्व), (११) मीमांसा, (१२) आन्वीक्षिकी, (१३) धर्मशास्त्र और (१४) पुराण।

चौबीसी—अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी में होने वाले चौबीस तीर्थङ्कर।

छट्ठ(षष्ठ)(म) तप—दो दिन का उपवास, बेला।

छद्मस्थ—घातीकर्म के उदय को छद्म कहते हैं। इस अवस्था में स्थित आत्मा छद्मस्थ कहलाती है। जब तक आत्मा को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वह छद्मस्थ ही कहलाती है।

जंघाचारण लब्धि—अष्टम (तेला) तप करने वाले भिक्षु को यह दिव्य शक्ति प्राप्त हो सकती है। जंघा से सम्बन्धित किसी एक व्यापार से तिर्यक् दिशा की एक ही उड़ान में वह तेरहवें रुचकवर द्वीप तक पहुँच सकता है। पुनः लौटता हुआ वह एक कदम आठवें नन्दीश्वर द्वीप पर रख कर दूसरे द्वीप में जम्बूद्वीप के उसी स्थान पर पहुँच सकता है; जहाँ से कि वह चला था। यदि वह उड़ान ऊर्ध्व दिशा की हो तो एक ही छलांग में वह मेरुपर्वत के पाण्डुक उद्यान तक पहुँच सकता है और लौटते समय एक कदम नन्दनवन में रख कर दूसरे कदम में जहाँ से चला था, वहीं पहुँच सकता है।

जम्बूद्वीप—असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप को समुद्र और समुद्र को द्वीप घेरे हुए है। जम्बूद्वीप उन सबके मध्य में है। यह पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण एक-एक लाख योजन है। इसमें सात वर्षक्षेत्र हैं—(१) भरत, (२) हैमवत, (३) हरि, (४) विदेह, (५) रम्यक् (६) हैरण्यवत और (७) ऐरावत। भरत दक्षिण में, ऐरावत उत्तर में और विदेह (महाविदेह) पूर्व व पश्चिम में है।

जल्लौषध लब्धि—तपस्या विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। तपस्वी के कानों, आँखों और शरीर के मैल से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

जातिस्मरण ज्ञान—पूर्व-जन्म की स्मृति कराने वाला ज्ञान। इस ज्ञान के बल पर व्यक्ति एक से नौ पूर्व-जन्मों को जान सकता है। एक मान्यता के अनुसार नौ सौ भव तक भी जान सकता है।

जिन—राग-द्वेष-रूप शत्रुओं को जीतने वाली आत्मा। अर्हत्, तीर्थङ्कर आदि इसके पर्याय-वाची हैं।

जिनकल्पिक—गच्छ से असम्बद्ध हो कर उत्कृष्ट चारित्र-साधना के लिए प्रयत्नशील होना। यह आचार जिन-तीर्थङ्करों के आचार के सदृश कठोर होता है; अतः जिनकल्प कहा जाता है। इसमें साधक अरण्य आदि एकान्त स्थान में एकाकी रहता है। रोग आदि के उपशमन के लिए प्रयत्न नहीं करता। शीत, ग्रीष्म आदि प्राकृतिक कष्टों से विचलित नहीं होता। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च आदि के उपसर्गों से भीत हो कर अपना मार्ग नहीं बदलता। अभिग्रहपूर्वक भिक्षा लेता है और अहर्निश ध्यान व कायोत्सर्ग में लीन रहता है। यह साधना विशेष संहननयुक्त साधक के द्वारा विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न होने के अनन्तर ही की जा सकती है।

जिन-मार्ग—जिन द्वारा प्ररूपित धर्म।

जीताचार—पारम्परिक आचार।

जीव—पंचेन्द्रिय प्राणी।

जृम्भक—ये देव स्वेच्छाचारी होते हैं। सदैव प्रमोद युक्त, अत्यन्त क्रीड़ाशील, रतियुक्त और कुशीलरत रहते हैं। जिस व्यक्ति पर क्रुद्ध हो जाते हैं, उसका अपयश करते हैं और जो इनको तुष्ट रखता है, उसको यश प्रदान करते हैं। ये दस प्रकार के होते हैं—(१) अन्न जृम्भक, (२) पान जृम्भक, (३) वस्त्र जृम्भक, (४) गृह जृम्भक, (५) शयन जृम्भक, (६) पुष्प जृम्भक, (७) फल जृम्भक, (८) पुष्प-फल जृम्भक, (९) विद्याजृम्भक और (१०) अव्यक्त जृम्भक। भोजन आदि में अभाव और सद्भाव करना, अल्पता और अधिकता करना, सरसता और नीरसता करना; जृम्भक देवों का कार्य होता है। दीर्घ वैताढ्य, चित्र, विचित्र, यमक, समक और काञ्चन पर्वतों में इनका निवास रहता

है और एक पल्योपम की स्थिति है। लोकपालों की आज्ञानुसार ये त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न, सायं) जम्बूद्वीप में फेरी लगाते हैं और अन्न, पानी, वस्त्र, सुवर्णादि धातु, मकान, पुष्प, फल, विद्या व सर्वसाधारण वस्तुओं की रक्षा करते हैं। ये व्यन्तर हैं।

ज्योतिष्क—देखें, देव।

ज्ञान—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के सामान्य धर्मों को गौण कर केवल विशेष धर्मों को ग्रहण करना।

ज्ञानावरणीय कर्म—आत्मा के ज्ञान गुण (वस्तु के विशेष अवबोध) को आच्छादित करने वाला कर्म।

तत्त्व—हार्द।

तमःप्रभा—देखें, नरक।

तालपुट विष—ताली बजाने में जितना समय लगता है, उतने ही समय में प्राणनाश करने वाला विष।

तिर्यक् गति—तिर्यञ्च गति।

तीर्थङ्कर—तीर्थ का प्रवर्तन करने वाले आप्त पुरुष।

तीर्थङ्कर गोत्र नामकर्म—जिस नाम कर्म के उदय से जीव तीर्थङ्कर रूप में उत्पन्न होता है।

तीर्थ—जिससे संसार समुद्र तैरा जा सके। तीर्थङ्करों का उपदेश, उसको धारण करने वाले गणधर व ज्ञान, दर्शन, चारित्र को धारण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका रूप चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा जाता है। तीर्थङ्कर केवलज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर ही उपदेश करते हैं और उससे प्रेरित हो कर भव्य जन साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ बनते हैं।

तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा—साधु द्वारा सात दिन तक चौविहार एकान्तर उपवास; गोदुहासन, वीरासन या आम्रकुब्जासन (आम्र-फल की तरह वक्राकार स्थिति में बैठना) से ग्रामादि से बाहर कायोत्सर्ग करना।

तेजोलेश्या—उष्णता-प्रधान एक संहारक शक्ति (लब्धि) विशेष। यह शक्ति विशेष तप से ही प्राप्त की जा सकती है। छह महीने तक निरन्तर छठ-छठ तप करे। पारणे में नाखून-सहित मुट्ठी भर उड़द के बाकुले और केवल चुल्लू भर पानी ग्रहण करे। आतापना भूमि में सूर्य के सम्मुख ऊर्ध्वमुखी हो कर आतापना ले। इस अनुष्ठान के अनन्तर तेजोलेश्या प्राप्त होती है। जब वह अप्रयोगकाल में होती है, 'संक्षिप्त' कहलाती है और प्रयोग-काल में 'विपुल' (विस्तीर्ण) कहलाती है। इस शक्ति के बल पर व्यक्ति (१) अंग, (२) बंग, (३) मगध, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वत्स, (८) कौत्स, (९) पाठ, (१०) लाट, (११) वज्र, (१२) मौलि, (१३) काशी, (१४)

कौशल, (१५) अबाध, (१६) संभुत्तर आदि सोलह देशों की घात, वध, उच्छेद तथा भस्म करने में समर्थ हो सकता है। तेजोलेश्या के प्रतिघात के लिए जिस शक्ति का प्रयोग किया जाता है, उसे शीत तेजोलेश्या कहा जाता है।

त्रायस्त्रिंश—गुरु-स्थानीय देव।

त्रिदण्डी तापस—मन, वचन और काय रूप तीनों दण्डों से दण्डित होने वाला तापस।

दर्शन—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के सामान्य धर्मों को गौण कर केवल विशेष धर्मों को ग्रहण करना।

दशम तप—चार दिन का उपवास, चोला।

दिक्कुमारियाँ—तीर्थङ्करों का प्रसूति-कर्म करने वाली देवियाँ। इनकी संख्या ५६ होती है। इनके आवास भी भिन्न-भिन्न होते हैं। आठ अधोलोक में, आठ ऊर्ध्वलोक—मेरुपर्वत पर, आठ पूर्व रुचकाद्रि पर, आठ दक्षिण रुचकाद्रि पर, आठ पश्चिम रुचकाद्रि पर, आठ उत्तर रुचकाद्रि पर, चार विदिशा के रुचक पर्वत पर और चार रुचक द्वीप पर रहती हैं।

दिग्विरति व्रत—यह जैन-श्रावक का छठा व्रत है। इसमें श्रावक दस दिशाओं में मर्यादा उपरान्त गमनागमन करने का त्याग करता है।

दिशाचर—पथ-भ्रष्ट (पतित) शिष्य।

दुःषम-सुषम—अवसर्पिणी काल का चौथा आरा, जिसमें दुःख की अधिकता और सुख की अल्पता होती है।

देव—औपपातिक प्राणी। ये चार प्रकार के होते हैं—१–भुवनपति, २–व्यन्तर, ३–ज्योतिष्क और ४–वैमानिक।

१–भुवनपति—रत्नप्रभा की मोटाई में बारह अन्तर हैं। पहले दो खाली हैं। शेष दस में रहने वाले (१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) सुपर्णकुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) दिक्कुमार, (९) वायुकुमार और (१०) स्तनितकुमार देव। ये बालक की तरह मनोरम क्रान्ति से युक्त हैं; अतः इनके नाम के साथ कुमार शब्द संयुक्त है। इनके आवास भुवन कहलाते हैं; अतः ये देव भुवनपति हैं।

२–व्यन्तर—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व आदि।

३–ज्योतिष्क—चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा।

४–वैमानिक—वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं—(१) कल्पोपपन्न और (२) कल्पातीत। कल्प का तात्पर्य है—समुदान, सन्निवेश, विमान जितनी फैली हुई पृथ्वी, आचार; इन्द्र सामानिक आदि के रूप में बन्धी हुई व्यवस्थित

मर्यादा। वे बारह हैं—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्म, (६) लांतक, (७) शुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत।

सौधर्म और ईशान मेरुपर्वत से डेढ़ रज्जू ऊपर क्रमशः दक्षिण और उत्तर में समानान्तर हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र भी सौधर्म और ईशान के ऊर्ध्व भाग में समानान्तर हैं। ब्रह्म, लातंक, शुक्र और सहस्रार उनके ऊपर क्रमशः एक-एक हैं। आनत और प्राणत दोनों समानान्तर हैं। आरण व अच्युत भी उनके ऊपर समानान्तर हैं।

कल्पोपपन्न देवों का आयु-परिमाण इस प्रकार है :

(१) जघन्य एक पल्योपम व उत्कृष्ट दो सागरोपम,
(२) जघन्य साधिक एक पल्योपम व उत्कृष्ट साधिक दो सागर,
(३) जघन्य दो सागर व उत्कृष्ट सात सागर,
(४) जघन्य साधिक दो सागर व उत्कृष्ट साधिक सात सागर,
(५) जघन्य सात सागर व उत्कृष्ट दस सागर,
(६) जघन्य दस सागर व उत्कृष्ट चौदह सागर,
(७) जघन्य चौदह सागर व उत्कृष्ट सतरह सागर,
(८) जघन्य सतरह सागर व उत्कृष्ट अठारह सागर,
(९) जघन्य अठारह सागर व उत्कृष्ट उन्नीस सागर,
(१०) जघन्य उन्नीस सागर व उत्कृष्ट बीस सागर,
(११) जघन्य बीस सागर व उत्कृष्ट इक्कीस सागर,
(१२) जघन्य इक्कीस सागर व उत्कृष्ट बाईस सागर।

कल्पातीत का तात्पर्य है—जहाँ छोटे-बड़े का भेद-भाव नहीं है। सभी अहमिन्द्र हैं। वे दो भागों में विभक्त हैं : १—ग्रैवेयक और २—अनुत्तर। आगमों के अनुसार लोक का आकार पैर फैलाये स्थित मनुष्य की तरह है। ग्रैवेयक का स्थान ग्रीवा—गर्दन के पास है; अतः उन्हें ग्रैवेयक कहा जाता है। वे नौ हैं : (१) भद्र, (२) सुभद्र, (३) सुजात, (४) सौमनस, (५) प्रियदर्शन, (६) सुदर्शन, (७) अमोघ, (८) सुप्रतिबुद्ध और (९) यशोधर। इनके तीन त्रिक हैं और प्रत्येक त्रिक में तीन स्वर्ग हैं। २—अनुत्तर—स्वर्ग के सब विमानों में ये श्रेष्ठ हैं; अतः इन्हें अनुत्तर कहा जाता है। इनकी संख्या पाँच है : (१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित और (५) सर्वार्थसिद्ध। चार चारों दिशाओं में हैं और सर्वार्थसिद्ध उन सब के बीच में है।

१२ स्वर्ग कल्पोपपन्न के और १४ स्वर्ग कल्पातीत के हैं। इनकी कुल संख्या २६ है। सब में ही उत्तरोत्तर सात बातों की वृद्धि और चार बातों की हीनता है। सात बातें इस प्रकार हैं :

(१) स्थिति—आयुष्य।

(२) प्रभाव—रुष्ट हो कर दुःख देना, अनुग्रहशील हो कर सुख पहुँचाना, अणिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ और बलपूर्वक दूसरों से काम करवाना—चारों ही प्रकार का यह प्रभाव उत्तरोत्तर अधिक है, किन्तु कषाय मन्दता के कारण वे उसका उपयोग नहीं करते हैं।

(३) सुख—इन्द्रियों द्वारा इष्ट विषयों का अनुभव रूप सुख।

(४) द्युति—शरीर और वस्त्राभूषणों की कान्ति।

(५) लेश्या विशुद्धि—परिणामों की पवित्रता।

(६) इन्द्रिय-विषय—इष्ट शब्द-रूप आदि इन्द्रियज-विषयों को दूर से ग्रहण करने की शक्ति।

(७) अवधि—अवधि व विभंग-ज्ञान से जानने की शक्ति।

चार बातें इस प्रकार हैं, जो क्रमशः हीन होती जाती हैं :

(१) गति—गमन करने की शक्ति एवं प्रवृत्ति। उत्तरोत्तर महानुभावता, उदासीनता और गम्भीरता अधिक है।

(२) शरीर-अवगाहना—शरीर की ऊँचाई।

(३) परिवार—विमान तथा सामानिक आदि देव-देवियों का परिवार।

(४) अभिमान—स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, विभूति एवं आयु का अहंकार।

देवाधि देव—देखें, अरिहन्त।

देशव्रती—व्रतों का सर्वरूपेण नहीं, अपितु किसी अंश में पालन करने वाला।

द्रव्यलिंगी—केवल बाह्य वेष-भूषा।

द्वादश प्रतिमा—देखें, भिक्षु प्रतिमा।

द्वादशांगी—तीर्थङ्करों की वाणी का गणधरों द्वारा ग्रन्थ रूप में होने वाला संकलन अंग कहलाता है। वे संख्या में बारह होते हैं, अतः उस सम्पूर्ण संकलन को द्वादशांगी कहा जाता है। पुरुष के शरीर में जिस प्रकार मुख्य रूप से दो पैर, दो जंघाएँ, दो उरु, दो गात्रार्द्ध (पार्श्व), दो बाहु, एक गर्दन और एक मस्तक होता है ; उसी प्रकार श्रुत-रूप पुरुष के भी बारह अंग हैं। उनके नाम हैं : (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) विवाहप्रज्ञप्ति (भगवती), (६) ज्ञाताधर्मकथांग,

(७) उपासकदशांग, (८) अन्तकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपातिक, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक श्रुत और (१२) दृष्टिवाद।

द्वितीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा—साधु द्वारा सात दिन तक चौविहार एकान्तर उपवास, उत्कुटुक, लगण्डशायी (केवल सिर और एड़ियों का पृथ्वी पर स्पर्श हो, इस प्रकार पीठ के बल लेटना) या दण्डायत (सीधे दण्डे की तरह लेटना) होकर ग्रामादि से बाहर कायोत्सर्ग करना।

द्वि मासिकी से सप्त मासिकी प्रतिमा—साधु द्वारा दो मास, तीन मास, चार मास, पाँच मास, छह मास, सात मास तक आहार-पानी की क्रमशः दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात दत्ति ग्रहण करने की प्रतिज्ञा।

नन्दीश्वर द्वीप—जम्बूद्वीप से आठवाँ द्वीप।

नमोत्थूणं—अरिहन्त और सिद्ध की स्तुति।

नरक—अधोलोक के वे स्थान, जहाँ घोर पापाचरण करने वाले जीव अपने पापों का फल भोगने के लिए उत्पन्न होते हैं। नरक सात हैं—

(१) रत्न प्रभा—कृष्णवर्ण भयंकर रत्नों से पूर्ण,

(२) शर्करा प्रभा—भाले, बरछी आदि से भी अधिक तीक्ष्ण कंकरों से परिपूर्ण,

(३) बालुका प्रभा—भड़भूजे की भाड़ की उष्ण बालू से भी अधिक उष्ण बालू।

(४) पंक प्रभा—रक्त, मांस और पीव जैसे कीचड़ से व्याप्त।

(५) धूम्र प्रभा—राई, मिर्च के धुएँ से भी अधिक खारे धुएँ से परिपूर्ण।

(६) तमः प्रभा—घोर अन्धकार से परिपूर्ण।

(७) महातमः प्रभा—घोरातिघोर अन्धकार से परिपूर्ण।

नागेन्द्र—भुवनपति देवों की एक निकाय का स्वामी। देखें, देव।

निकाचित—जिन कर्मों का फल बन्ध के अनुसार निश्चित ही भोगा जाता है। यह सब करणों के अयोग्य की अवस्था है।

नित्यपिण्ड—प्रतिदिन एक घर से आहार लेना।

निदान—देखें, शल्य के अन्तर्गत निदान शल्य।

निर्ग्रन्थ प्रवचन—तीर्थङ्कर प्रणीत जैन-आगम।

निर्जरा—तपस्या के द्वारा कर्म-मल के उच्छेद से होने वाली आत्म-उज्ज्वलता।

निर्हारिम—देखें, पादोपगमन।

निह्नव—तीर्थङ्करों द्वारा प्रणीत सिद्धान्तों का अपलापक।

नैरयिक भाव—नरक की पर्याय।

पंचमुष्टिक लुंचन—मस्तक को पाँच भागों में विभक्त कर लुंचन करना।

पाँच दिव्य—केवलियों के आहार-ग्रहण करने के समय प्रकट होने वाली पाँच विभूतियाँ। (१) नाना रत्न, (२) वस्त्र, (३) गन्धोदक, (४) फूलों की वर्षा और (५) देवताओं द्वारा दिव्य घोष।

पण्डित मरण—सर्वव्रत दशा में समाधि मरण।

पदानुसारी लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। इसके अनुसार आदि, मध्य या अन्त के किसी एक पद्य की श्रुति या शप्ति मात्र से समग्र ग्रन्थ का अवबोध हो जाता है।

परीषह—साधु-जीवन में विविध प्रकार से होने वाले शारीरिक कष्ट।

पर्याय—पदार्थों का बदलता हुआ स्वरूप।

पल्योपम—एक दिन से सात दिन की आयु वाले उत्तर कुरु में पैदा हुए यौगलिकों के केशों के असंख्य खण्ड कर एक योजन प्रमाण गहरा, लम्बा व चौड़ा कुँआ ठसाठस भरा जाये। वह इतना दबा कर भरा जाये, जिससे अग्नि उसे जला न सके, पानी भीतर घुस न सके और चक्रवर्ती की सारी सेना भी उस पर से गुजर जाये तो भी वह अंश मात्र लचक न खाये। हर सौ वर्ष पश्चात् उस कुँए में से एक केश-खण्ड निकाला जाये। जितने समय में वह कुँआ खाली होगा, उतने समय को पल्योपम कहा जायेगा।

पादोपगमन—अनशन का वह प्रकार, जिसमें साधु द्वारा दूसरों की सेवाओं का और स्वयं की चेष्टाओं का त्याग कर पादप-वृक्ष की तरह निश्चेष्ट हो कर रहना। इसमें चारों आहारों का त्याग आवश्यक है। यह दो प्रकार का है—(१) निर्हारिम और (२) अनिर्हारिम।

(१) निर्हारिम—जो साधु उपाश्रय में पादोपगमन अनशन करते हैं, मृत्यूपरान्त उनका शव संस्कार के लिए उपाश्रय से बाहर लाया जाता है; अतः वह देह-त्याग निर्हारिम कहलाता है। निर्हार का तात्पर्य है—बाहर निकालना।

(२) अनिर्हारिम—जो साधु अरण्य में ही पादोपगमन पूर्वक देह-त्याग करते हैं, उनका शव संस्कार के लिए कहीं बाहर नहीं ले जाया जाता; अतः वह देह-त्याग अनिर्हारिम कहलाता है।

पाप—अशुभ कर्म। उपचार से पाप के हेतु भी पाप कहलाते हैं।

पारिणामिकी बुद्धि—दीर्घकालीन अनुभवों के आधार पर प्राप्त होने वाली बुद्धि।

पार्श्वस्थ—केवल साधु का वेष धारण किये रहना, पर आचार का यथावत् पालन नहीं करना।

पार्श्वनाथ-संतानीय—भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के।

पुण्य—शुभ कर्म। उपचार से जिस निमित्त से पुण्य-बन्ध होता है, वह भी पुण्य कहा जाता है।

पौषध (उपवास)—एक अहोरात्र के लिए चारों प्रकार के आहार और पाप पूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग।

प्रज्ञप्ति आदि विद्या—(१) प्रज्ञप्ति, (२) रोहिणी, (३) वज्रशृंखला, (४) कुलिशांकुशा, (५) चक्रेश्वरी, (६) नरदत्ता, (७) काली, (८) महाकाली, (९) गौरी, (१०) गान्धारी, (११) सर्वास्त्रमहाज्वाला, (१२) मानवी, (१३) वैरोट्या, (१४) अच्छुप्ता, (१५) मानसी और (१६) महामानसिका—ये सोलह विद्या देवियाँ हैं।

प्रतिचोदना—मत से प्रतिकूल वचन।

प्रतिसारणा—मत से प्रतिकूल सिद्धान्त का स्मरण।

प्रत्याख्यान—त्याग करना।

प्रत्युपचार—तिरस्कार।

प्रथम सप्त अहोरात्र प्रतिमा—साधु द्वारा सात दिन तक चौविहार एकान्तर उपवास; उत्तानक या किसी पार्श्व से शयन या पलथी लगा कर ग्रामादि से बाहर कायोत्सर्ग करना।

प्रवचन-प्रभावना—नाना प्रयत्नों से धर्म-शासन की प्रभावना करना।

प्रवर्तिनी—आचार्य द्वारा निर्दिष्ट वैयावृत्य आदि धार्मिक कार्यों में साध्वी-समाज को प्रवृत्त करने वाली साध्वी।

प्रवृत्त परिहार (पारिवृत्त्य परिहार)—शरीरान्तर प्रवेश।

प्रवृत्ति वादुक—समाचारों को प्राप्त करने वाला विशेष कर्मकर पुरुष।

प्राण—द्वीन्द्रिय (लट, अलसिया आदि), त्रीन्द्रिय (जूँ, चींटी आदि) और चतुरिन्द्रिय (टीड, पतंग, भ्रमर आदि) प्राणी। जीव का पर्यायवाची शब्द।

प्राणत—दसवाँ स्वर्ग। देखें, देव।

प्रायश्चित्त—साधना में लगे दूषण की विशुद्धि के लिए हृदय से पश्चात्ताप करना। यह दस प्रकार से किया जाता है।

(१) आलोचना—लगे दोष को गुरु या रत्नाधिक के समक्ष यथावत् निवेदन करना।

(२) प्रतिक्रमण—सहसा लगे दोषों के लिए साधक द्वारा स्वतः प्रायश्चित्त करते हुए कहना—मेरा पाप मिथ्या हो।

(३) तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमण।

(४) विवेक—अनजान में आधाकर्म दोष से युक्त आहार आदि आ जाये तो ज्ञात होते ही उसे उपभोग में न लेकर उसका त्याग कर देना।

(५) कायोत्सर्ग—एकाग्र होकर शरीर की ममता का त्याग।

(६) तप—अनशन आदि बाह्य तप।

(७) छेद—दीक्षा-पर्याय को कम करना। इस प्रायश्चित्त के अनुसार जितना समय कम किया जाता है, उस अवधि में दीक्षित छोटे साधु दीक्षा पर्याय में उस दोषी साधु से बड़े हो जाते हैं।

(८) मूल—पुनर्दीक्षा।

(९) अनवस्थाप्य—तप विशेष के पश्चात् पुनर्दीक्षा।

(१०) पारञ्चिक—संघ-बहिष्कृत साधु द्वारा एक अवधि विशेष तक साधु-वेष परिवर्तित कर जन-जन के बीच अपनी आत्म-निन्दा करना।

प्रीतिदान—शुभ संवाद लाने वाले कर्मकर को दिया जाने वाला दान।

बन्ध—आत्मा के साथ कर्म-पुद्‌गलों का घनिष्ठ सम्बन्ध।

बलदेव—वासुदेव के ज्येष्ठ बिमातृ बन्धु। प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में नौ-नौ होते हैं। इनकी माता चार स्वप्न देखती है। वासुदेव की मृत्यु के बाद दीक्षा लेकर घोर तपस्या आदि के द्वारा आत्म-साधना करते हैं। कुछ मोक्ष जाते हैं और कुछ स्वर्गगामी होते हैं।

बादर काय योग—स्थूल कायिक प्रवृत्ति।

बादर मन योग—स्थूल मानसिक प्रवृत्ति।

बादर वचन योग—स्थूल वाचिक प्रवृत्ति।

बाल तपस्वी—अज्ञान पूर्वक तप का अनुष्ठान करने वाला।

बालमरण—अज्ञान दशा—अविरत दशा में मृत्यु।

बेला—दो दिन का उपवास।

ब्रह्मलोक—पाँचवाँ स्वर्ग। देखें, देव।

भक्त-प्रत्याख्यान—उपद्रव होने पर या न होने पर भी जीवन-पर्यन्त तीन या चार आहार का त्याग।

भद्र प्रतिमा—ध्यानपूर्वक तप करने का एक प्रकार। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा की ओर मुख कर क्रमशः प्रत्येक दिशा में चार-चार प्रहर तक ध्यान करना। यह प्रतिमा दो दिन की होती है।

भवसिद्धिक—मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता वाले जीव।

भव्य—देखें, भवसिद्धिक।

भाव—मौलिक स्वरूप। विचार।

भावितात्मा—संयम में लीन शुद्ध आत्मा।

भिक्षु प्रतिमा—साधुओं द्वारा अभिग्रह विशेष से तप का आचरण। ये प्रतिमाएँ बारह होती हैं। पहली प्रतिमा का समय एक मास का है। दूसरी का समय दो मास, तीसरी का तीन मास, चौथी का चार मास, पाँचवीं का पाँच मास, छठी का छह मास, सातवीं का सात मास, आठवीं, नवीं, दसवीं का एक-एक सप्ताह, ग्यारहवीं का एक अहोरात्र और बारहवीं का समय एक रात्रि का है। पहली प्रतिमा में आहार-पानी की एक-एक दत्ति, दूसरी में दो-दो दत्ति, तीसरी में तीन-तीन दत्ति, चौथी में चार-चार दत्ति, पाँचवीं में पाँच-पाँच दत्ति, छठी में छह-छह दत्ति, सातवीं में सात-सात दत्ति, आठवीं, नवीं और दसवीं में चौविहार एकान्तर और पारणे में आयंबिल, ग्यारहवीं में चौविहार छट्ठतप और बारहवीं में अट्ठमतप आवश्यक है। आठवीं, नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं प्रतिमा का विस्तृत विवेचन देखें, क्रमशः प्रथम सप्त अहोरात्र प्रतिमा, द्वितीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा, तृतीय सप्त अहोरात्र प्रतिमा, एक अहोरात्र प्रतिमा, एक रात्रि प्रतिमा में। इन प्रतिमाओं के अवलम्बन में साधु अपने शरीर के ममत्व को सर्वथा छोड़ देता है और केवल आत्मिक अलख की ओर ही अग्रसर रहता है। दैन्य-भाव का परिहार करते हुए देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्गों को समभाव से सहता है।

भुवनपति—देखें, देव।

भूत—वृक्ष आदि प्राणी। जीव का पर्यायवाची शब्द।

मंख—चित्र-फलक हाथ में रख कर आजीविका चलाने वाले भिक्षाचर।

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान।

मनःपर्यव—मनोवर्गणा के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान।

मन्थु—बेर आदि फल का चूर्ण।

महाकल्प—काल विशेष। महाकल्प का परिमाण भगवती सूत्र में इस प्रकार है—गंगा नदी पाँच सौ योजन लम्बी, आधा योजन विस्तृत तथा गहराई में भी पाँच सौ धनुष है। ऐसी सात गंगाओं की एक महागंगा, सात महागंगाओं की एक सादीन गंगा, सात सादीन गंगाओं की एक मृत्यु गंगा, सात मृत्यु गंगाओं की एक लोहित गंगा, सात लोहित गंगाओं की एक अवंती गंगा, सात अवंती गंगाओं की एक परमावंती गंगा; इस प्रकार पूर्वापर सब मिला कर एक लाख सतरह हजार छह सौ उन्चास गंगा नदियाँ होती हैं। इन गंगा नदियों के बालू-कण दो प्रकार के होते हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। सूक्ष्म का यहाँ प्रयोजन नहीं है। बादर कणों में से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक कण निकाला जाये। इस क्रम से उपर्युक्त गंगा-समुदय जितने समय में रिक्त होता है, उस समय को मानस-सर प्रमाण कहा जाता है। इस प्रकार के तीन लाख मानस-सर प्रमाणों का एक महाकल्प होता है। चौरासी लाख महाकल्पों का एक महामानस होता

है। मानस-सर के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन भेद हैं। मज्झिमनिकाय, सन्दक सुत्तन्त, २-३-६ में चौरासी हजार महाकल्प का परिमाण अन्य प्रकार से दिया गया है।

महानिर्ग्रन्थ—तीर्थङ्कर।

महाभद्र प्रतिमा—ध्यानपूर्वक तप करने का एक प्रकार। चारों ही दिशाओं में क्रमशः एक-एक अहोरात्र तक कायोत्सर्ग करना।

महाप्रतिमा तप—देखें, एक रात्रि प्रतिमा।

महाविदेह क्षेत्र—देखें, जम्बूद्वीप।

महाव्रत—हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का मनसा, वाचा, कर्मणा जीवन-पर्यन्त परित्याग। हिंसा आदि को पूर्ण त्याग किये जाने से इन्हें महाव्रत कहा जाता है। गृहस्थवास का त्याग कर साधना में प्रवृत्त होने वालों का यह शील है।

महासिंह निष्क्रीडित तप—तप करने का एक प्रकार। सिंह गमन करता हुआ जैसे पीछे मुड़ कर देखता है; उसी प्रकार तप करते हुए आगे बढ़ना और साथ ही पीछे किया हुआ तप भी करना। यह महा और लघु दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत क्रम में अधिकाधिक सोलह दिन का तप होता है और फिर उसी क्रम से उतार होता है। समग्र तप में १ वर्ष ६ महीने और १८ दिन लगते हैं। इस तप की भी चार परिपाटी होती है। इसका क्रम यंत्र के अनुसार चलता है।

(—चित्र परिशिष्ट-२ के अन्त में देखें।)

माण्डलिक राजा—एक मण्डल का अधिपति राजा।

मानुषोत्तर पर्वत—जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवण समुद्र है, लवण समुद्र को घेरे हुए घातकीखण्ड है, घातकीखण्ड द्वीप को घेरे हुए कालोदधि है और कालोदधि को घेरे हुए पुष्कर द्वीप है। पुष्कर द्वीप के मध्योमध्य मानुषोत्तर पर्वत है, जो द्वीप को दो भागों में विभक्त करता है। मनुष्य-लोक एवं समय-क्षेत्र की सीमारेखा भी यही पर्वत बनता है। इस पर्वत के बाहर जंघाचारण, विद्याचारण साधुओं के अतिरिक्त कोई भी मनुष्य देव-शक्ति के अवलम्बन बिना नहीं जा सकता।

मार्ग—ज्ञानादिरूप मोक्ष-मार्ग।

मासिकी भिक्षु-प्रतिमा—साधु द्वारा एक महीने तक एक दत्ति (आहार-पानी के ग्रहण से सम्बन्धित विधि विशेष) आहार और एक दत्ति पानी ग्रहण करने की प्रतिज्ञा।

मिथ्यात्व—तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा।

मिथ्यादर्शन शल्य—देखें, शल्य।

मूल गुण—वे व्रत, जो चारित्ररूप वृक्ष के मूल (जड़) के समान होते हैं। साधु के लिए पाँच महाव्रत और श्रावक के लिए पाँच अणुव्रत मूल गुण हैं।

मेरुपर्वत की चूलिका—जम्बूद्वीप के मध्य भाग में एक लाख योजन समुन्नत व स्वर्ण-कान्तिमय पर्वत है। इसी पर्वत के ऊपर चालीस योजन की चूलिका—चोटी है। इसी पर्वत पर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक नामक चार वन हैं। भद्रशाल वन धरती के बराबर पर्वत को घेरे हुए है। पाँच सौ योजन ऊपर नन्दन वन है, जहाँ क्रीडा करने के लिए देवता भी आया करते हैं। बासठ हजार पाँच सौ योजन ऊपर सौमनस वन है। चूलिका के चारों ओर फैला हुआ पाण्डुक वन है। उसी वन में स्वर्णमय चार शिलायें हैं, जिन पर तीर्थङ्करों के जन्म-महोत्सव होते हैं।

मोक्ष—सर्वथा कर्म-क्षय के अनन्तर आत्मा का अपने स्वरूप में अधिष्ठान।

यवमध्यचन्द्र प्रतिमा—शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर, चन्द्रकला की वृद्धि-हानि के अनुसार दत्ति की वृद्धि-हानि से यवाकृति में सम्पन्न होने वाली एक मास की प्रतिज्ञा। उदाहरणार्थ—शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति, द्वितीया को दो दत्ति और इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ति। कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को चौदह दत्ति और इस प्रकार क्रमशः एक-एक दत्ति घटाते हुए चतुर्दशी को केवल एक दत्ति ही खाना। अमावस्या को उपवास रखना।

योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति।

योजन—चार क्रोश परिमित भू-भाग। चक्रवर्ती भरत ने दिग्विजय के लिए जब प्रस्थान किया तो चक्ररत्न सेना के आगे-आगे चल रहा था। पहले दिन जितनी भूमि का अवगाहन कर वह रुक गया, उतने प्रदेश को तब से योजन की संज्ञा दी गई।

यौगलिक—मानव सभ्यता से पूर्व की सभ्यता जिसमें मनुष्य युगल रूप जन्म लेता है। वे 'यौगलिक' कहलाते हैं। उनकी आवश्यक सामग्रियों की पूर्ति कल्प-वृक्ष द्वारा होती है।

रजोहरण—जैन मुनियों का एक उपकरण, जो कि भूमि-प्रमार्जन आदि कामों में आता है।

राष्ट्रिय—वह प्राधिकारी, जिसकी नियुक्ति प्रान्त की देख-रेख व सार-सम्भाल के लिए की जाती है।

रुचकवर द्वीप—जम्बूद्वीप से तेरहवाँ द्वीप।

लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त—प्रायश्चित्त का एक प्रकार, जिसमें तपस्या आदि के माध्यम से दोष का शोधन किया जाता है।

लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप—तप करने का एक प्रकार। सिंह गमन करता हुआ जैसे पीछे मुड़ कर देखता है, उसी प्रकार तप करते हुए आगे बढ़ना और साथ ही पीछे किया हुआ तप भी करना। यह लघु और महा दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत क्रम में अधिकाधिक नौ दिन की तपस्या होती है और फिर उसी क्रम से तप का उतार होता है। समग्र तप में

६ महीने और ७ दिन का समय लगता है। इस तप की भी चार परिपाटी होती है। इसका क्रम यंत्र के अनुसार चलता है। (—चित्र परिशिष्ट-२ के अन्त में देखें।)

लब्धि—आत्मा की विशुद्धि से प्राप्त होने वाली विशिष्ट शक्ति।

लब्धिधर—विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न।

लांतक—छठा स्वर्ग। देखें, देव।

लेश्या—योगवर्गणा के अन्तर्गत पुद्गलों की सहायता से होने वाला आत्म-परिणाम।

लोक—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव की अवस्थिति।

लोकपाल—सीमा के संरक्षक। प्रत्येक इन्द्र के चार-चार होते हैं। ये महर्द्धिक होते हैं और अनेक देव-देवियों का प्रभुत्व करते हैं।

लोकान्तिक—पाँचवें ब्रह्मस्वर्ग में छह प्रतर हैं। मकानों में जैसे मंजिल होती हैं, वैसे हो स्वर्गों में प्रतर होते हैं। तीसरे अरिष्ट प्रतर के पास दक्षिण दिशा में त्रसनाड़ी के भीतर चार दिशाओं में और चार ही विदिशाओं में आठ कृष्ण राजियाँ हैं। लोकान्तिक देवों के यहीं नौ विमान हैं। आठ विमान आठ कृष्ण राजियों में हैं और एक उनके मध्य भाग में है। उनके नाम हैं: (१) अर्ची, (२) अर्चिमाल, (३) वैरोचन, (४) प्रभंकर, (५) चन्द्राभ, (६) सूर्याभ, (७) शुक्राभ, (८) सुप्रतिष्ठ, (९) रिष्टाभ (मध्यवर्ती)। लोक के अन्त में रहने के कारण ये लोकान्तिक कहलाते हैं। विषय-वासना से ये प्रायः मुक्त रहते हैं; अतः देवर्षि भी कहे जाते हैं। अपनी प्राचीन-परम्परा के अनुसार तीर्थङ्करों को दीक्षा के अवसर पर ये ही प्रेरित करते हैं।

वक्रजड़—शिक्षित किये जाने पर भी अनेक कुतर्कों द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने वाला तथा वक्रता के कारण छलपूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी मूर्खता को चतुरता के रूप में प्रदर्शित करने वाला।

वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा—कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर, चन्द्रकला की हानि-वृद्धि के अनुसार, दत्ति की हानि-वृद्धि से वज्राकृति में सम्पन्न होने वाली एक मास की प्रतिज्ञा। इसके प्रारम्भ में १५ दत्ति और फिर क्रमशः घटाते हुए अमावस्या को एक दत्ति। शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को दो और फिर क्रमशः एक-एक बढ़ाते हुए चतुर्दशी को १५ दत्ति और पूर्णिमा को उपवास।

वर्षीदान—तीर्थङ्करों द्वारा एक वर्ष तक प्रतिदिन दिया जाने वाला दान।

वासुदेव—पूर्वभव में किये गये निश्चित निदान के अनुसार नरक या स्वर्ग से आकर वासुदेव के रूप में अवतरित होते हैं। प्रत्येक अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल में ये नौ-नौ होते हैं। उनके गर्भ में आने पर माता सात स्वप्न देखती है। शरीर का वर्ण कृष्ण होता है

भरत क्षेत्र के तीन खण्डों के एकमात्र अधिपति—प्रशासक होते हैं। प्रतिवासुदेव को मार कर ही त्रिखण्डाधिपति होते हैं। इनके सात रत्न होते हैं : (१) सुदर्शन-चक्र, (२) अमोघ खड्ग, (३) कौमोदकी गदा, (४) धनुष्य अमोघ बाण, (५) गरुड़ध्वज रथ, (६) पुष्प-माला और (७) कौस्तुभमणि।

विकुर्वण लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। इसके अनुसार नाना रूप बनाये जा सकते हैं। शरीर को धागे की तरह इतना सूक्ष्म बनाया जा सकता है कि वह सूई के छेद में से भी निकल सके। शरीर को इतना ऊँचा बनाया जा सकता है कि मेरुपर्वत भी उसके घुटनों तक रह जाये। शरीर को वायु से भी अधिक हल्का और वज्र से भी भारी बनाया जा सकता है। जल पर स्थल की तरह और स्थल पर जल की तरह उन्मज्जन-निमज्जन किया जा सकता है। छिद्र की तरह पर्वत के बीच से बिना रुकावट निकला जा सकता है और पवन की तरह सर्वत्र अदृश्य बना जा सकता है। एक ही समय में अनेक प्रकार के रूपों से लोक को भरा जा सकता है। स्वतन्त्र व अतिक्रूर प्राणियों को वश में किया जा सकता है।

विजय अनुत्तर विमान—देखें, देव।

विद्याचरण लब्धि—षष्ठ (बेला) तप करने वाले भिक्षु को यह दिव्य शक्ति प्राप्त हो सकती है। श्रुत-विहित ईषत् उपष्टम्भ से दो उड़ान में आठवें नन्दीश्वर द्वीप तक पहुँचा जा सकता है। पहली उड़ान में मानुषोत्तर पर्वत तक जाया जा सकता है। वापस लौटते समय एक ही उड़ान में मूल स्थान पर पहुँचा जा सकता है। इसी प्रकार ऊर्ध्व दिशा की दो उड़ान में मेरु तक और लौटते समय एक ही उड़ान में प्रस्थान-स्थान तक पहुँचा जा सकता है।

विप्रुडौषध लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। तपस्वी के मल-मूत्र भी दिव्य औषधि का काम करते हैं।

विभंग ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, केवल आत्मा के द्वारा रूपी द्रव्यों को जानना अवधि ज्ञान है। मिथ्यात्वी का यही ज्ञान विभंग कहलाता है।

विराधक—गृहीत व्रतों का पूर्ण रूप से आराधन नहीं करने वाला। अपने दुष्कृत्यों का प्रायश्चित्त करने से पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हो जाने वाला।

वैनयिकी बुद्धि—गुरुओं की सेवा-शुश्रूषा व विनय से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

वैमानिक—देखें, देव।

वैयावृत्त्य—आचार्य, उपाध्याय, शैक्ष, ग्लान, तपस्वी, स्थविर, साधर्मिक, कुल, गण और संघ की आहार आदि से सेवा करना।

वैश्रवण—कुबेर।

व्यन्तर—देखें, देव।

शतपाक तेल—विविध ओषधियों से भावित शत बार पकाया गया अथवा जिसको पकाने में शत स्वर्ण-मुद्राओं का व्यय हुआ हो।

शय्यातर—साधु जिस व्यक्ति के मकान में सोते हैं, वह शय्यातर कहलाता है।

शल्य—जिससे पीड़ा हो। वह तीन प्रकार का है :

(१) माया शल्य—कपट-भाव रखना। अतिचार की माया पूर्वक आलोचना करना या गुरु के समक्ष अन्य रूप से निवेदन करना, दूसरे पर झूठा आरोप लगाना।

(२) निदान शल्य—राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देख कर या सुन कर मन में यह अध्यवसाय करना कि मेरे द्वारा आचीर्ण ब्रह्मचर्य, तप आदि अनुष्ठानों के फल-स्वरूप मुझे भी ये ऋद्धियाँ प्राप्त हों।

(३) मिथ्यादर्शन शल्य—विपरीत श्रद्धा का होना।

शिक्षाव्रत—बार-बार सेवन करने योग्य अभ्यास प्रधान व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं। ये चार हैं : (१) सामायिक व्रत, (२) देशावकाशिक व्रत, (३) पौषधोपवास व्रत और (४) अतिथि संविभाग व्रत।

शुक्ल ध्यान—निर्मल प्रणिधान—समाधि-अवस्था। इसके चार प्रकार हैं : (१) पृथक्त्व वितर्क सविचार, (२) एकत्व वितर्क सविचार, (३) सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और (४) समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति।

शेषकाल—चातुर्मास के अतिरिक्त का समय।

शैलेशी अवस्था—चौदहवें गुणस्थान में जब मन, वचन और काय योग का निरोध हो जाता है, तब उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। इसमें ध्यान की पराकाष्ठा के कारण मेरु सदृश निष्प्रकम्पता व निश्चलता आती है।

श्रीदेवी—चक्रवर्ती की अग्रमहिषी। कद में चक्रवर्ती से केवल चार अँगुल छोटी होती है एवं सदा नवयौवना रहती है। इसके स्पर्शमात्र से रोगोपशान्ति हो जाती है। इसके सन्तान नहीं होती।

श्रुत ज्ञान—शब्द, संकेत आदि द्रव्य श्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में सक्षम मति ज्ञान।

श्रुत भक्ति—श्रद्धावनत श्रुत ज्ञान का अनवद्य प्रसार व उसके प्रति होने वाली जन-अरुचि को दूर करना।

श्लेष्मौषध लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। इसके अनुसार तपस्वी का श्लेष्म यदि कोढ़ी के शरीर पर भी मला जाये तो उसका कोढ़ समाप्त हो जाता है और शरीर स्वर्ण-वर्ण हो जाता है।

षड् आवश्यक—सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए आत्मा द्वारा करने योग्य क्रिया को आवश्यक कहा जाता है। वे छह हैं :

(१) सामायक—समभाव से रहना, सब के साथ आत्मतुल्य व्यवहार करना।

(२) चतुर्विंशस्तव—चौबीस तीर्थङ्करों के गुणों का भक्तिपूर्वक उत्कीर्तन करना।

(३) वन्दना—मन, वचन और शरीर का वह प्रशस्त व्यापार, जिसके द्वारा पूज्यजनों के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता है।

(४) प्रतिक्रमण—प्रमादवश शुभ योग से अशुभ योग की ओर प्रवृत्त हो जाने पर पुनः शुभ योग की ओर अग्रसर होना। इसी प्रकार अशुभ योग से निवृत्त होकर उत्तरोत्तर शुभ योग की ओर प्रवृत्त होना। संक्षेप में—अपने दोषों की आलोचना।

(५) कायोत्सर्ग—एकाग्र होकर शरीर की ममता का त्याग करना।

(६) प्रत्याख्यान—किसी एक अवधि के लिए पदार्थ-विशेष का त्याग।

संक्रमण—सजातीय प्रकृतियों का परस्पर में परिवर्तन।

संघ—गण का समुदय—दो से अधिक आचार्यों के शिष्य-समूह।

संज्ञी गर्भ—मनुष्य-गर्भावास। आजीविकों का एक पारिभाषिक शब्द।

संथारा—अन्तिम समय में आहार आदि का परिहार।

संभिन्नश्रोतृ लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति। इसके अनुसार किसी एक ही इन्द्रिय से पाँचों ही इन्द्रियों के विषयों को युगपत् ग्रहण किया जा सकता है। चक्रवर्ती की सेना के कोलाहल में शंख, भेरी आदि विभिन्न वाद्यों के शोर-गुल में भी सभी ध्वनियों को पृथक्-पृथक् पहचाना जा सकता है।

संयूथ निकाय—अनन्त जीवों का समुदाय। आजीविकों का एक पारिभाषिक शब्द।

संलेखना—शारीरिक तथा मानसिक एकाग्रता से कषायादि का शमन करते हुए तपस्या करना।

संवर—कर्म ग्रहण करने वाले आत्म-परिणामों का निरोध।

संस्थान—आकार विशेष।

संहनन—शरीर की अस्थियों का दृढ़ बन्धन, शारीरिक बल।

सचेलक—वस्त्र-सहित। बहुमूल्य वस्त्र-सहित।

सत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि व वायु के प्राणी। जीव का पर्यायवाची शब्द।

सन्निवेश—उपनगर।

सप्त सप्तमिक प्रतिमा—यह प्रतिमा उन्चास दिन तक होती है। इसमें सात-सात दिन के सप्तक होते हैं। पहले सप्तक में प्रतिदिन एक-एक दत्ति अन्न-पानी एवं क्रमशः सातवें सप्तक में प्रतिदिन सात-सात दत्ति अन्न-पानी के ग्रहण के साथ कायोत्सर्ग किया जाता है।

सप्रतिकर्म—अनशन में उठना, बैठना, सोना, चलना आदि शारीरिक क्रियाओं का होना। यह क्रिया भक्त-प्रत्याख्यान अनशन में होती है।

समय—काल का सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश।

समवसरण—तीर्थङ्कर-परिषद् अथवा वह स्थान जहाँ तीर्थङ्कर का उपदेश होता है।

समाचारी—साधुओं की अवश्य करणीय क्रियाएँ व व्यवहार।

समाधि-दान—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, शैक्ष, ग्लान, तपस्वी, मुनियों का आवश्यक कार्य सम्पादन कर उन्हें चैतसिक स्वास्थ्य का लाभ पहुँचाना।

समाधि-मरण—श्रुत-चारित्र-धर्म में स्थित रहते हुए निर्मोह भाव में मृत्यु।

समिति—संयम के अनुकूल प्रवृत्ति को समिति कहते हैं, वे पाँच हैं—(१) ईर्या, (२) भाषा, (३) एषणा, (४) आदान-निक्षेप और (५) उत्सर्ग।

(१) ईर्या—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की अभिवृद्धि के निमित्त युग परिमाण भूमि को देखते हुए तथा स्वाध्याय व इन्द्रियों के विषयों का वर्जन करते हुए चलना।

(२) भाषा—भाषा-दोषों का परिहार करते हुए, पाप-रहित एवं सत्य, हित, मित और असंदिग्ध बोलना।

(३) एषणा—गवेषणा, ग्रहण और ग्रास-सम्बन्धी एषणा के दोषों का वर्जन करते हुए आहार-पानी आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट आदि औपग्रहिक उपधि का अन्वेषण।

(४) आदान-निक्षेप—वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को सावधानी पूर्वक लेना व रखना।

(५) उत्सर्ग—मल, मूत्र, खेल, थूँक, कफ आदि का विधिपूर्वक-पूर्वदृष्ट एवं प्रमार्जित निर्जीव भूमि पर विसर्जन करना।

समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति—शुक्ल ध्यान का चतुर्थ चरण, जिसमें समस्त क्रियाओं का निरोध होता है। देखें, शुक्ल ध्यान।

सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा।

सम्यक्त्वी—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा से सम्पन्न।

सम्यक् दृष्टि—पारमार्थिक पदार्थों पर यथार्थ श्रद्धा रखने वाला।

सम्यग् दर्शन—सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा।

सर्वतोभद्र प्रतिमा—सर्वतोभद्र प्रतिमा की दो विधियों का उल्लेख मिलता है। एक विधि के अनुसार क्रमशः दशों दिशाओं की ओर अभिमुख होकर एक-एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है। भगवान् महावीर ने इसे ही किया था, ऐसा उल्लेख मिलता है। दूसरी विधि के अनुसार लघु और महा दो भेद होते हैं।

१—लघु सर्वतोभद्र प्रतिमा—अंकों की स्थापना का वह प्रकार जिसमें सब ओर से समान योग आता है, उसे सर्वतोभद्र कहा जाता है। इस तप का उपवास से आरम्भ होता है और क्रमशः बढ़ते हुए द्वादश भक्त तक पहुँच जाता है। दूसरे क्रम में मध्य के अंक को आदि अंक मान कर चला जाता है और पाँच खण्डों में उसे पूरा किया जाता है। आगे यही क्रम चलता है। एक परिपाटी का कालमान ३ महीने १० दिन है। चार परिपाटियाँ होती हैं। इसका क्रम यन्त्र के अनुसार चलता है।

लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

२—महा सर्वतोभद्र प्रतिमा—इस तप का आरम्भ उपवास से होता है और क्रमशः बढ़ते हुए षोडश भक्त तक पहुँच जाता है। बढ़ने का इसका क्रम भी सर्वतोभद्र की तरह ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि लघु में उत्कृष्ट तप द्वादश भक्त है और इसमें षोडश भक्त। एक परिपाटी का कालमान १ वर्ष १ महीना और १० दिन है। चार परिपाटियाँ होती हैं। इसका क्रम यन्त्र के अनुसार चलता है।

महासर्वतोभद्र प्रतिमा

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४

सर्वार्थसिद्ध—देखें, देव ।

सर्वौषध लब्धि—तपस्या-विशेष से प्राप्त होने वाली एक दिव्य शक्ति । वर्षा का बरसता हुआ व नदी का बहता हुआ पानी और पवन तपस्वी के शरीर से संस्पृष्ट होकर रोग-नाशक व विष संहारक हो जाते हैं । विष-मिश्रित पदार्थ यदि उनके पात्र या मुँह में आता है तो वह भी निर्विष हो जाता है । उनकी वाणी की स्मृति भी महाविष के शमन की हेतु बनती है । उनके नख, केश, दाँत आदि शरीरज वस्तुएँ भी दिव्य औषधि का काम करती हैं ।

सहस्रपाक तेल—नाना औषधियों से भावित सहस्र बार पकाया गया अथवा जिसको पकाने में सहस्र स्वर्ण-मुद्राओं का व्यय हुआ हो ।

सहस्रारकल्प—आठवाँ स्वर्ग । देखें, देव ।

सागरोपम (सागर)—पल्योपम की दस कोटि-कोटि से एक सागरोपम (सागर) होता है । देखें, पल्योपम ।

साधर्मिक—समान धर्मी ।

सामानिक—सामानिक देव आयु आदि से इन्द्र के समान होते हैं । केवल इनमें इन्द्रत्व नहीं होता । इन्द्र के लिए सामानिक देव अमात्य, माता-पिता व गुरु आदि की तरह पूज्य होते हैं ।

सामायिक चारित्र—सर्वथा सावद्य-योगों की विरति ।

सावद्य—पाप-सहित ।

सिद्ध—कर्मों का निर्मूल नाश कर जन्म-मरण से मुक्त होने वाली आत्मा ।

सिद्धि—सर्व कर्मों की क्षय से प्राप्त होने वाली अवस्था ।

सुषम-दुःषम—अवसर्पिणी काल का तीसरा आरा, जिसमें सुख के साथ कुछ दुःख भी होता है ।

सुषम—अवसर्पिणी काल का दूसरा आरा, जिसमें पहले आरे से सुख में कुछ न्यूनता आरम्भ होती है ।

सुषम-सुषम—अवसर्पिणी काल का पहला आरा, जिसमें सब प्रकार के सुख ही सुख होते हैं ।

सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति—शुक्ल ध्यान का तृतीय चरण, जिसमें सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय देकर दूसरे बाकी के योगों का निरोध होता है । देखें, शुक्ल ध्यान ।

सूत्र—आगम-शास्त्र ।

सूत्रागम—मूल आगम-शास्त्र ।

सौधर्म—पहला स्वर्ग । देखें, देव ।

स्नातक—बोधिसत्व ।

स्थविर—साधना से स्खलित होते हुए साधुओं को पुनः उसमें स्थिर करने वाले । स्थविर तीन प्रकार के होते हैं : १–प्रव्रज्या स्थविर, २–जाति स्थविर और ३–श्रुत स्थविर ।

१–प्रव्रज्या स्थविर—जिन्हें प्रव्रजित हुए बीस वर्ष हो गये हों ।

२–जाति स्थविर—जिनका वय साठ वर्ष का हो गया हो ।

३–श्रुत स्थविर—जिन्होंने स्थानांग, समवायांग आदि का विधिवत् ज्ञान प्राप्त कर लिया हो ।

स्थविर कल्पिक—गच्छ में रहते हुए साधना करना । तप और प्रवचन की प्रभावना करना । शिष्यों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र आदि गुणों की वृद्धि करना । वृद्धावस्था में जंघाबल क्षीण हो जाने पर आहार और उपधि के दोषों का परिहार करते हुए एक ही स्थान में रहना ।

स्थावर—हित की प्रवृत्ति और अहित की निवृत्ति के लिए गमन करने में असमर्थ प्राणी ।

स्थितिपतित—पुत्र-जन्म के अवसर पर कुल क्रम के अनुसार मनाया जाने वाला दस दिन का महोत्सव ।

स्वादिम—सुपारी, इलायची आदि मुखवास पदार्थ ।

हल्ला—गोवालिका लता के तृण की समानाकृति का कीट विशेष ।

*

चित्र-१

पृ० ६२०

एकावली तप

की परिभाषा से सम्बन्धित
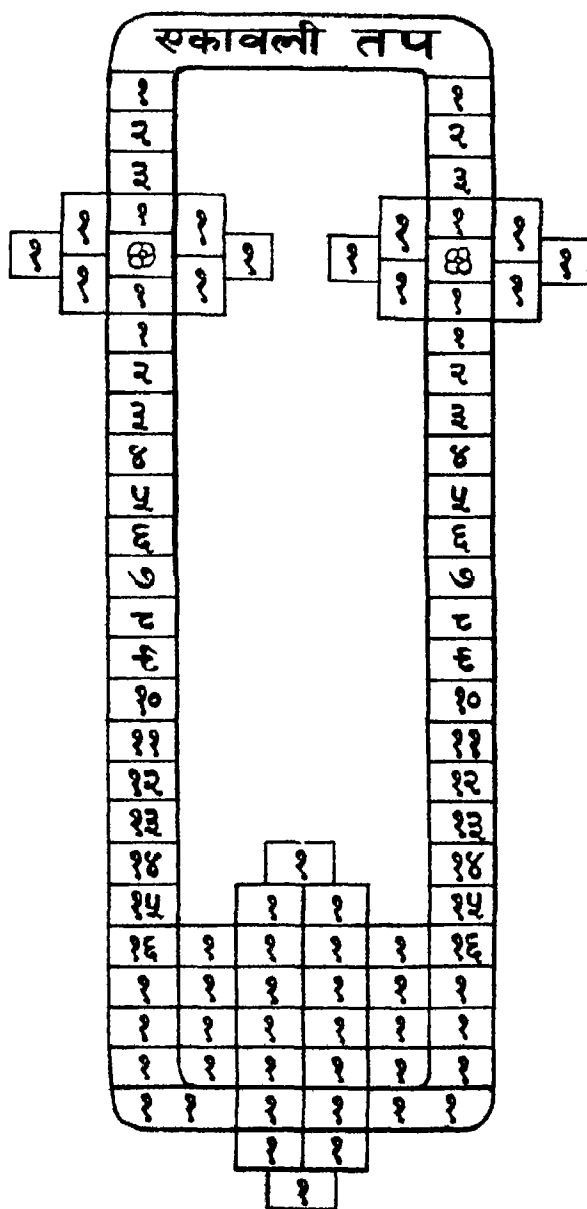
चित्र-२

पृ० ६२०

कनकावली तप

की परिभाषा से सम्बन्धित
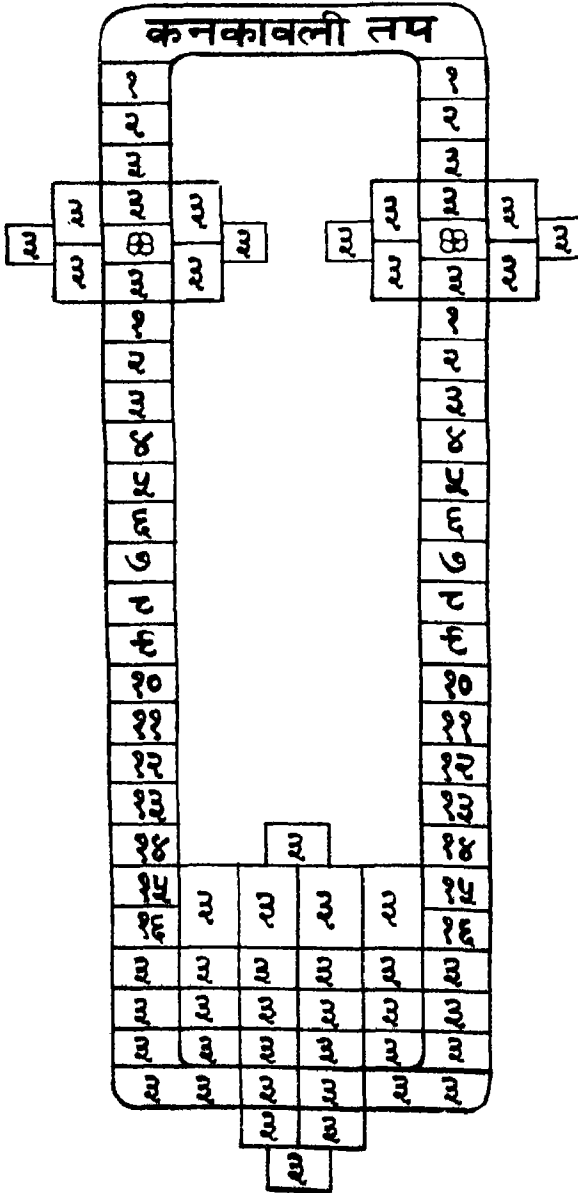
चित्र-३

पृ० ६२१

गुणरत्न (रयण) संवत्सर तप

की परिभाषा से सम्बन्धित

१६ १६
१५ १५
१४ १४
१३ १३
१२ १२
११ ११ ११
१० १० १०
९ ९ ९
८ ८ ८
७ ७ ७
६ ६ ६ ६
५ ५ ५ ५ ५
४ ४ ४ ४ ४ ४
३ ३ ३ ३ ३ ३ ३ ३
२ २ २ २ २ २ २ २ २ २
१ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
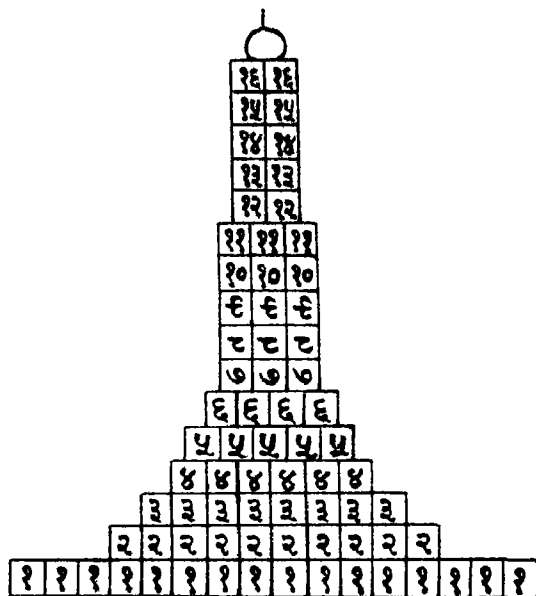
चित्र-४

पृ० ६३५

महासिंह निष्क्रीड़ित तप

की परिभाषा से सम्बन्धित

महासिंहनिष्क्रीड़िततप

१ २ १ ३ २ ४ ३ ५ ४ ६ ५ ७ ६ ८ ७ ९ ८ १० ९ ११ १० १२ ११ १३ १२ १४ १३ १५ १४ १६ १५
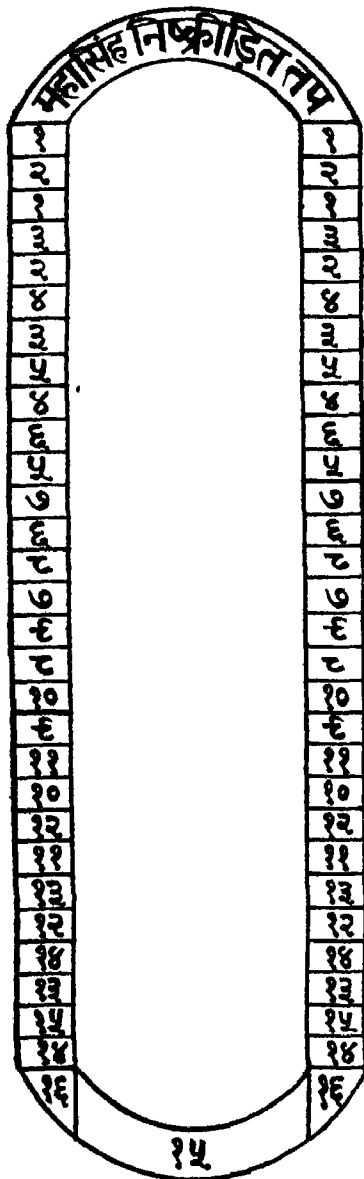
चित्र-५

पृ० ६३७

लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप

की परिभाषा से सम्बन्धित
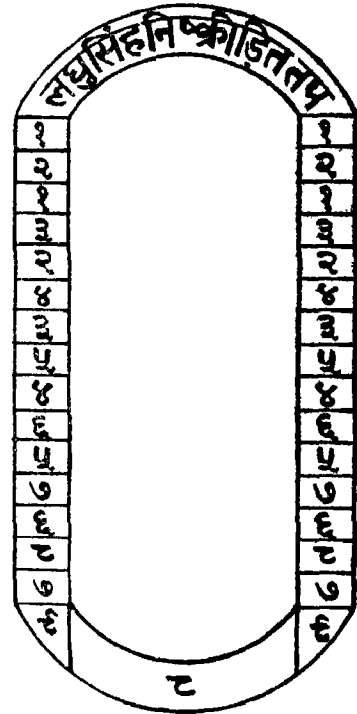
परिशिष्ट-३

बौद्ध पारिभाषिक शब्द-कोश

अकुशल धर्म—सदैव बुरा फल उत्पन्न करने वाले धर्म, पाप कर्म ।

अग्निशाला—पानी गर्म करने का घर ।

अधिकरण समथ—उत्पन्न कलह की शान्ति के लिए बतलाये गए आचार का लंघन भी दोष है ।

अधिष्ठान पारमिता—जिस प्रकार पर्वत सब दिशाओं से प्रचण्ड हवा के झोंके लगने पर भी न कांपता है, न हिलता है और अपने स्थान पर स्थिर रहता है, उसी प्रकार अपने अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय) में सर्वतोभावेन सुस्थिर रहना ।

अध्वनिक—चिरस्थायी ।

अनवसव—विपाक-रहित ।

अनागामी—फिर जन्म न लेने वाला । काम-राग (इन्द्रिय-लिप्सा) और प्रतिघ (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की भावना) को सर्वथा समाप्त कर योगावचर भिक्षु अनागामी हो जाता है । यहाँ से मर कर ब्रह्मलोक में पैदा होता है और वहीं से अर्हत् हो जाता है ।

अनाश्वासिक—मन को सन्तोष न देने वाला ।

अनियत—भिक्षु किसी श्रद्धालु उपासिका के साथ एकान्त में पाराजिक, संघादिसेस और पाचित्तिय—तीन दोषों में से किसी एक दोष के लिए उसके समक्ष प्रस्ताव रखता है । संघ के समक्ष सारा घटना-वृत्त प्रकट होने पर दोषी भिक्षु का, श्रद्धालु उपासिका के कथन पर, दोष का निर्णय किया जाता है और उसे प्रायश्चित्त करवाया जाता है । वह अपराध तीनों में नियत न होने पर अनियत कहा जाता है ।

अनुप्रज्ञप्ति—सम्बोधन ।

अनुशासनीय प्रातिहार्य—भिक्षु ऐसा अनुशासन करता है—ऐसा विचारो, ऐसा मत विचारो ; मन में ऐसा करो, ऐसा मत करो ; इसे छोड़ दो, इसे स्वीकार कर लो ।

अनुश्रव—श्रुति ।

अनुश्रावण—ज्ञप्ति करने के अनन्तर संघ से कहना—जिसे स्वीकार हो, वह मौन रहे ; जिसे स्वीकार न हो, वह अपनी भावना व्यक्त करे ।

अपायिक—दुर्गति में जाने वाला ।

अभिजाति—जन्म ।

अभिज्ञा—दिव्य शक्ति । अभिज्ञा मूलतः दो प्रकार की है—(१) लौकिक और (२) लोकोत्तर । लौकिक अभिज्ञाएँ पाँच और लोकोत्तर अभिज्ञा एक है :

(१) ऋद्धिविध—अधिष्ठान ऋद्धि (एक होकर बहुत होना, बहुत होकर एक होना), विकुर्वण ऋद्धि (साधारण रूप को छोड़ कर कुमार का रूप या नाग का रूप

दिखलाना, नाना प्रकार के सेना-व्यूहों को दिखलाना आदि), मनोमय ऋद्धि (मनोमय शरीर बनाना), ज्ञान-विस्फार ऋद्धि, समाधि-विस्फार ऋद्धि (ज्ञान और समाधि की उत्पत्ति से पहले, पीछे या उसी क्षण ज्ञान के या समाधि के अनुभाव से उत्पन्न हुई विशेष शक्ति), आर्य ऋद्धि (प्रतिकूल आदि में अप्रतिकूल संज्ञी होकर विहार करना), कर्म विपाकज ऋद्धि (पक्षी आदि का आकाश में जाना आदि), पुण्यवान् की ऋद्धि (चक्रवर्ती आदि का आकाश से जाना), विद्यामय ऋद्धि (विद्याधर आदि का आकाश से जाना), सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि (उस उस काम में सम्यक्-प्रयोग से उस-उस काम का सिद्ध होना)—ये दस ऋद्धियाँ हैं, इनको प्राप्त करके भिक्षु एक होकर बहुत होता है, बहुत होकर एक होता है, प्रकट होता है, अन्तर्धान होता है। तिरः कुड्य—अन्तर्धान हो दीवार के आर-पार जाता है, तिरःप्राकार--अन्तर्धान हो प्राकार के पार जाता है, तिरः पर्वत—पांशु या पत्थर के पर्वत के पार जाता है, आकाश में होने के समान बिना टकराये जाता है, जल की भाँति पृथ्वी में गोता लगाता है, पृथ्वी की भाँति जल पर चलता है, पाँखों वाले पक्षी की तरह आकाश में पालथी मारे जाता है, महातेजस्वी सूर्य और चन्द्र को भी हाथ से छूता है और मलता है, ब्रह्मलोकों को भी अपने शरीर के बल से वश में करता है, दूर को पास करता है, पास को दूर करता है, थोड़े को बहुत करता है, बहुत को थोड़ा करता है, मधुर को अमधुर करता है, अमधुर को मधुर आदि भी, जो-जो चाहता है, ऋद्धिमान् को सब सिद्ध होता है। यहीं स्थिति आलोक को बढ़ा कर उस ब्रह्मा के रूप को देखता है और यहीं स्थिति उनके शब्द को सुनता है तथा चित्त को भली प्रकार जानता है। शरीर के तौर पर चित्त को परिणत करता है और चित्त के तौर पर शरीर को परिणत करता है।

(२) दिव्य-श्रोत्र-धातु—विशुद्ध अमानुष दिव्य श्रोत्र धातु अर्थात् देवताओं के समान कर्णेन्द्रिय से दूर व समीप के देवों और मनुष्यों के शब्दों को सुन सकता है। इस अभिज्ञा को प्राप्त करने वाला भिक्षु यदि ब्रह्मलोक तक भी शंख, भेरी, नगाड़ों आदि के शब्द में एक शोर होता है, तो भी अलग करके व्यवस्थापन की इच्छा होने पर 'यह शंख का शब्द है' 'भेरी का शब्द है', ऐसा व्यवस्थापन कर सकता है।

(३) चेतोपर्य-ज्ञान—दूसरे प्राणियों के चित्त को अपने चित्त द्वारा जानता है। सराग चित्त होने पर सराग-चित्त है, ऐसा जानता है। वीतराग चित्त, सद्वेष-चित्त, वीतद्वेष-चित्त, समोह-चित्त, वीतमोह-चित्त, विक्षिप्त-चित्त, संक्षिप्त-चित्त

महद्गत-चित्त, अमहद्गत-चित्त, स-उत्तर-चित्त, अनुत्तर-चित्त, समाहित (एकाग्र) चित्त, असमाहित-चित्त, विमुक्त-चित्त और अमुक्त-चित्त होने पर वैसा जानता है।

(४) पूर्वनिवासानुस्मृति-ज्ञान—अनेक प्रकार के पूर्व-जन्मों का अनुस्मरण करता है। एक जन्म को भी, दो जन्म को भी यावत् सौ, हजार, सौ हजार·········अनेक संवर्त-कल्पों को भी अनेक विवर्त-कल्पों को भी, अनेक संवर्त-विवर्त-कल्पों को भी स्मरण करता है। तब मैं अमुक स्थान अर्थात् भव, योनि, गति, विज्ञान की स्थिति, सत्त्वों के रहने के स्थान या सत्त्व-समूह में था। इस नाम का, इस गोत्र का, इस आयु का, इस आहार का, अमुक प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव करने वाला व इतनी आयु वाला था। वहाँ से च्युत होकर अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ। वहाँ नाम आदि······था। वहाँ से च्युत हो अब यहाँ अमुक क्षत्रिय या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। तैर्थिक (दूसरे मतावलम्बी) चालीस कल्पों तक, प्रकृति-श्रावक (अग्र-श्रावक और महाश्रावक को छोड़ कर), सौ या हजार कल्पों तक, महाश्रावक (अस्सी) लाख कल्पों तक, अग्र श्रावक (दो) एक असंख्य लाख कल्पों को, प्रत्येक-बुद्ध दो असंख्य लाख कल्पों को और बुद्ध बिना परिच्छेद ही पूर्व-जन्मों का अनुस्मरण करते हैं।

(५) च्यूतोत्पादन-ज्ञान—विशुद्ध अमानुष दिव्य चक्षु से मरते, उत्पन्न होते, हीन अवस्था में आये, अच्छी अवस्था में आये, अच्छे वर्ण वाले, बुरे वर्ण वाले, अच्छी गति को प्राप्त, बुरी गति को प्राप्त, अपने-अपने कर्मों के अनुसार अवस्था को प्राप्त, प्राणियों को जान लेता है। वे प्राणी शरीर से दुराचरण, वचन से दुराचरण और मन से दुराचरण करते हुए, साधु पुरुषों की निन्दा करते थे, मिथ्यादृष्टि रखते थे, मिथ्यादृष्टि वाले काम करते थे। (अब) वह मरने के बाद नरक और दुर्गति को प्राप्त हुए हैं और वह (दूसरे) प्राणी शरीर, वचन और मन से सदाचार करते, साधुजनों की प्रशंसा करते, सम्यक्-दृष्टि वाले, सम्यग्-दृष्टि के अनुकूल आचरण करते थे, अब अच्छी गति और स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं—इस तरह शुद्ध अलौकिक दिव्य चक्षु से······जान लेता है।

(६) आस्रव-क्षय—आस्रव-क्षय से आस्रव-रहित चित्त-विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जान कर साक्षात्कार कर प्राप्त कर विहरता है।

अर्हत्—भिक्षु रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य और अविद्या के बन्धन को काट गिराता है और अर्हत् हो जाता है। उसके सभी क्लेश दूर हो जाते हैं और सभी आस्रव क्षीण हो जाते हैं। शरीर-पात के अनन्तर उसका आवागमन सदा के लिए समाप्त हो जाता है, जीवनस्रोत सदा के लिए सूख जाता है और दुःख का अन्त हो जाता है। वह जीवन-मुक्त व परम-पद की अवस्था होती है।

अविचीर्ण—न किया हुआ।

अवितर्क-विचार-समाधि—जो वितर्क मात्र में ही दोष को देख, विचार में (दोष को) न देख केवल वितर्क का प्रहाण मात्र चाहता हुआ प्रथम ध्यान को लाँघता है, वह अवितर्क-विचार मात्र समाधि को पाता है। चार ध्यानों में द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ ध्यानों की एकाग्रता अवितर्क-विचार-समाधि है।

अवीचि नरक—आठ महान् नरकों में से सबसे नीचे का नरक; जहाँ सौ योजन के घेरे में प्रचण्ड आग धधकती रहती है।

अव्याकृत—अनिर्वचनीय।

अष्टाङ्गिक मार्ग—(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि।

आकाशानन्त्यायतन—चार अरूप ब्रह्मलोक में से पहला।

आकिंचन्यायतन—चार अरूप ब्रह्मलोक में से पहला।

आचार्यक—धर्म।

आजानीय—उत्तम जाति का।

आदेशना प्रातिहार्य—व्याख्या-चमत्कार। इसके अनुसार दूसरे के मानसिक संकल्पों को अपने चित्त से जान कर प्रकट किया जा सकता है।

आनन्तर्य कर्म—(१) मातृ-हत्या, (२) पितृ-हत्या, (३) अर्हत्-हत्या, (४) बुद्ध के शरीर से लहू बहा देना और (५) संघ में विग्रह उत्पन्न करना; ये पाँच पाप आनन्तर्य कर्म कहलाते हैं। इनके अनुष्ठान से मनुष्य उस जन्म में कदापि क्षीणाश्रव होकर मुक्त नहीं हो सकता।

आनुपूर्वी कथा—क्रमानुसार कही जाने वाली कथा। इसके अनुसार दान, शील व स्वर्ग की कथा कही जाती है। भोगों के दुष्परिणाम बतलाये जाते हैं तथा क्लेश-त्याग और निष्कामता का माहात्म्य प्रकाशित किया जाता है।

आपत्ति—दोष-दण्ड।

आर्यसत्य—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदाय,—दुःख का कारण, (३) दुःख-निरोध—दुःख का नाश (४) दुःख-निरोध गामिनी प्रतिपदा—दुःख-नाश का उपाय।

आस्रव—चित्त-मल। ये चार हैं—काम, भव, दृष्टि और अविद्या।

आस्सासप्त—आश्वासन प्रद।

इन्द्रकील—शत्रु के आक्रमण को रोकने के लिए नगरद्वार के समीप दृढ़ व विशाल प्रस्तर या लौह-स्तम्भ।

इल्कामा—बर्मी संवत् ।

उत्तर कुरु—चार द्वीपों में एक द्वीप ।

उत्तर-मनुष्य-धर्म—दिव्य शक्ति ।

उदान—आनन्दोल्लास से सन्तों के मुँह से निकली हुई वाक्यावलि ।

उन्नीस विद्याएँ—(१) श्रुति, (२) स्मृति, (३) साँख्य, (४) योग, (५) न्याय, (६) वैशेषिक, (७) गणित, (८) संगीत, (९) वैद्यक, (१०) चारों वेद, (११) सभी पुराण, (१२) इतिहास, (१३) ज्योतिष, (१४) मंत्र-विद्या, (१५) तर्क, (१६) तंत्र, (१७) युद्ध-विद्या, (१८) छन्द और (१९) सामुद्रिक ।

उपपारमिता—साधन में दृढ़ संकल्प होकर बाह्य वस्तुओं का परित्याग करना । उपपारमिता दस होती हैं ।

उपशम संवर्तनिक—शान्ति-प्रापक ।

उपसम्पदा—श्रामणेर द्वारा धर्म को अच्छी तरह समझ लिये जाने पर उपसम्पदा-संस्कार किया जाता है । संघ के एकत्रित होने पर उपसम्पदा-प्रार्थी श्रामणेर वहाँ उपस्थित होता है। संघ के बीच उसकी परीक्षा होती है । उत्तीर्ण होने पर उसे संघ में सम्मिलित कर लिया जाता है । तब से वह भिक्षु कहलाता है और उसे प्रातिमोक्ष के अन्तर्गत दो सौ सत्ताईस नियमों का पालन करना होता है । बीस वर्ष की आयु के बाद ही कोई उपसम्पदा हो सकती है ।

उपस्थान-शाला—सभा-गृह ।

उपस्थाक—सहचर सेवक ।

उपेक्षा—संसार के प्रति अनासक्त-भाव ।

उपेक्षा पारमिता—जिस प्रकार पृथ्वी प्रसन्नता और अप्रसन्नता से विरहित होकर अपने पर फेंके जाने वाले शुचि-अशुचि पदार्थों की उपेक्षा करती है, उसी प्रकार सदैव सुख-दुःख के प्रति तुल्यता की भावना रखते हुए उपेक्षा की चरम सीमा के अन्त तक पहुँचना ।

उपोसथ—उपासक किसी विशेष दिन स्वच्छ कपड़े पहिन किसी बौद्ध विहार में जाता है। घुटने टेक कर भिक्षु से प्रार्थना करता है—भन्ते ! मैं तीन शरण के साथ आठ उपोसथ शील की याचना करता हूँ । अनुग्रह कर आप मुझे प्रदान करें । वह उपासक क्रमशः तीन बार अपनी प्रार्थना को दुहराता है । भिक्षु एक-एक शील कहता हुआ रुकता जाता है और उपासक उसे दुहराता जाता है । उपासक समग्र दिन को विहार में रह कर, शीलों का पालन करता हुआ, पवित्र विचारों के चिन्तन में ही व्यतीत करता है । कितने ही उपासक जीवन-पर्यन्त आठ शीलों का पालन करते हैं । वे आठ शील इस प्रकार हैं :

(१) प्राणातिपात से विरत होकर रहूँगा,

(२) अदत्तादान से विरत होकर रहूँगा,

(३) काम-भावना से विरत होकर रहूँगा,

(४) मृषावाद से विरत होकर रहूँगा,

(५) मादक द्रव्यों के सेवन से विरत होकर रहूँगा,

(६) विकाल भोजन से विरत होकर रहूँगा,

(७) नृत्य, गीत, वाद्य, अश्लील हाव-भाव तथा माला, गंध, उबटन के प्रयोग से, शरीर विभूषा से विरत होकर रहूँगा और

(८) उच्चासन और सजी-धजी शय्या से विरत होकर रहूँगा।

उपोसथागार—उपोसथ करने की शाला।

ऋद्धिपाद (चार)—सिद्धियों के प्राप्त करने के चार उपाय—छन्द (छन्द से प्राप्त समाधि), विरिय (वीर्य से प्राप्त समाधि), चित्त (चित्त से प्राप्त समाधि), वीमंसा (विमर्ष से प्राप्त समाधि)।

ऋद्धि प्रातिहार्य—योग-बल से नाना चमत्कारिक प्रयोग करना। इसके अनुसार भिक्षु एक होता हुआ भी अनेक रूप बना सकता है। और अनेक होकर एक रूप भी बन सकता है। चाहे जहाँ आविर्भूत हो सकता है और तिरोहित भी हो सकता है। बिना टकराए दीवाल, प्राकार और पर्वत के आर-पार भी जा सकता है, जैसे कि कोई आकाश में जा रहा हो। थल में जल की तरह गोते लगा सकता है। जल-तल पर थल की तरह चल सकता है। आकाश में भी पक्षी की तरह पलथी मारे ही उड़ सकता है। तेजस्वी सूर्य व चन्द्र को हाथ से छू सकता है तथा उन्हें मल सकता है और ब्रह्मलोक तक सशरीर पहुँच सकता है।

औपपातिक—देवता और नरक के जीव।

कथावस्तु—विवाद।

करुणा—संसार के सभी जीवों के प्रति करुणा-भाव।

कल्प—असंख्य वर्षों का एक काल-मान। ये चार प्रकार के है—(१) संवर्त कल्प, (२) संवर्त स्थायी कल्प, (३) विवर्त कल्प और (४) विवर्त स्थायी कल्प। संवर्त कल्प में प्रलय और विवर्त कल्प में सृष्टि का क्रम उत्तरोत्तर चलता है। देवों के आयुष्य आदि कल्प के द्वारा मापे जाते हैं। एक योजन लम्बा, चौड़ा और गहरा गड्ढा सरसों के दानों से भरने के पश्चात् प्रति सौ वर्ष में एक दाना निकालने पर जब सारा गड्ढा खाली होता है, तब जितना काल व्यतीत होता है, उससे भी कल्प का काल-मान बड़ा है।

कप्पिय कुटिया—भण्डार।

काय स्मृति—भिक्षु अरण्य, वृक्षमूल या शून्यागार में बैठता है। आसन मार काया को सीधा रखता है। स्मृतिपूर्वक श्वास लेता है और स्मृतिपूर्वक ही श्वास छोड़ता है। दीर्घ श्वास लेते समय और छोड़ते समय उसे पूर्ण अनुभूति होती है। ह्रस्व श्वास लेते समय और छोड़ते समय भी उसे पूर्ण अनुभूति रहती है। सारी काया की स्थिति को अनुभव करते हुए श्वास लेने और छोड़ने की प्रक्रिया का अभ्यास करता है। कायिक संस्कारों (क्रियाओं) को रोक कर श्वास लेने और छोड़ने का अभ्यास करता है। इस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर और संयम युक्त हो विहार करते समय उसके लोभपूर्ण स्वर नष्ट हो जाते हैं। चित्त अभ्यन्तर में ही स्थित होता है, एकाग्र होता है और समाहित होता है।

कार्षापण—उस समय का सिक्का।

कुतूहलशाला—वह स्थान, जहाँ विभिन्न मतावलम्बी एकत्र होकर धर्म-चर्चा करते हैं और जिसे सभी उपस्थित मनुष्य कौतूहल पूर्वक सुनते हैं।

कुशल धर्म—दस शोभन नैतिक संस्कार, जो भले कार्यों के अनुष्ठान के प्रत्येक क्षण में विद्यमान रहते हैं। पुण्य कर्म।

क्लेश—चित्त-मल।

क्रियावादी—जो क्रिया का ही उपदेश करता है।

क्षान्ति पारमिता—जिस प्रकार पृथ्वी अपने पर फैंकी जाने वाली शुद्ध, अशुद्ध, सभी वस्तुओं को सहती है, क्रोध नहीं करती ; प्रसन्नमना ही रहती है ; उसी प्रकार मान-अपमान सहते हुए क्षान्ति की सीमा के अन्त तक पहुँचना।

क्षीणाश्रव—जिनमें वासनाएँ क्षीण हों। यह अर्हत् की ही अवस्था है।

गमिक—प्रस्थान करने वाले भिक्षु।

घटिकार—महाब्रह्मा।

चक्ररत्न—चक्रवर्ती के सात रत्नों में पहला रत्न, जो सहस्र अरों का, नाभि नेमि से युक्त, सर्वाकार परिपूर्ण और दिव्य होता है। जिस दिशा में वह चल पड़ता है, चक्रवर्ती की सेना उसकी अनुगामिनी हो जाती है। जहाँ वह रुकता है, वहीं सेना का पड़ाव होता है। चक्र प्रभाव से बिना युद्ध किये ही राजा अनुयायी बनते जाते हैं और चक्रवर्ती उन्हें पंचशील का उपदेश देता है।

चतुर्मधुर स्नान—चार मधुर चीज हैं—घी, मक्खन, मधु और चीनी—इनमें स्नान।

चक्रवर्ती—(१) चक्र रत्न, (२) हस्ति रत्न, (३) अश्व रत्न, (४) मणि रत्न, (५) स्त्री रत्न, (६) गृहपति रत्न, (७) परिणायक[1] रत्न ; इन सात रत्नों और (१) परम

१—मज्झिमनिकाय २-५-१ तथा ३-३-६ और सुत्तनिपात, महावग्ग, सेलसुत्त के अनुसार चक्रवर्ती का सातवाँ रत्न परिणायकरत्न है और दीघनिकाय, महापदान तथा चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त के अनुसार सातवाँ रत्न पुत्ररत्न है।

सौन्दर्य, (२) दीर्घायुता, (३) नीरोगतकता, (४) ब्राह्मण, गृहपतियों की प्रियता इन चार ऋद्धियों से युक्त महानुभाव।

चक्रवाल—समस्त ब्रह्माण्ड में असंख्य चक्रवाल होते हैं। एक चक्रवाल एक जगत् के रूप में होता है, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई १२,०३,४५० योजन तथा परिमण्डल (घेरा) ३६,१०,३५० योजन होता है। प्रत्येक चक्रवाल की मोटाई २,४०,००० योजन होती है तथा चारों ओर से ४,८०,००० योजन मोटाई वाले पानी के घेरे से आधारित है। पानी के चारों ओर ९,६०,००० योजन मोटाई वाले वायु का घेरा है। प्रत्येक चक्रवाल के मध्य में सिनेरू नामक पर्वत है, जिसकी ऊँचाई १,६८,००० योजन है। इसका आधा भाग समुद्र के अन्दर होता है और आधा ऊपर। सिनेरू के चारों ओर ७ पर्वत मालाएँ हैं—(१) युगन्धर, (२) ईसधर, (३) करविका, (४) सुदस्सन, (५) नेमिधर, (६) विनतक और अस्सकण्ण। इन पर्वतों पर महाराज देव और उनके अनुचर यक्षों का निवास है। चक्रवाल के अन्दर हिमवान पर्वत है, जो १०० योजन ऊँचा है तथा ८४,००० शिखरों वाला है। चक्रवाल-शिला चक्रवाल को घेरे हुए है। प्रत्येक चक्रवाल में एक चन्द्र और एक सूर्य होता है। जिनका विस्तार क्रमशः ४९ तथा ५० योजन है। प्रत्येक चक्रवाल में त्रयस्त्रिंश भवन, असुर भवन तथा अवीचिमहानिरय हैं। जम्बूद्वीप, अपरगोयान, पूर्व विदेह तथा उत्तर कुरु—चार महाद्वीप हैं तथा प्रत्येक महाद्वीप ५०० छोटे द्वीपों के द्वारा घेरा हुआ है। चक्रवालों के बीच लोकान्तरिक निरय हैं। सूर्य का प्रकाश केवल एक चक्रवाल को प्रकाशित करता है; बुद्ध के तेज से समस्त चक्रवाल प्रकाशित हो सकते हैं।

चातुर्द्वीपिक—चार द्वीपों वाली सारी पृथ्वी पर एक ही समय बरसने वाला मेघ।

चातुर्महाराजिक देवता—(१) धृतराष्ट्र, (२) विरूढ़, (३) विरूपाक्ष और (४) वैश्रवण चातुर्महाराजिक देव कहलाते हैं। मनुष्यों के पचास वर्ष के तुल्य चातुर्महाराजिक देवों का एक अहोरात्र होता है। उस अहोरात्र से तीस अहोरात्र का एक मास, बारह मास का एक वर्ष और पाँच सौ वर्ष का उनका आयुष्य होता है। ये देवेन्द्र शक्र के अधीन होते हैं।

चातुर्याम—महावीर का चार प्रकार का सिद्धान्त। इसके अनुसार :—

(१) निर्ग्रन्थ जल के व्यवहार का वारण करता है।

(२) निर्ग्रन्थ सभी पापों का वारण करता है।

(३) निर्ग्रन्थ सभी पापों के वारण से धुतपाप हो जाता है।

(४) निर्ग्रन्थ सभी पापों के वारण में लगा रहता है।

—**दीघनिकाय**, सामञ्ञफल सुत्त, १-२

दीघनिकाय, उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त के अनुसार चातुर्याम इस प्रकार है :

(१) जीव-हिंसा न करना, न करवाना और न उसमें सहमत होना।

(२) चोरी न करना, न करवाना और न उसमें सहमत होना।

(३) झूठ न बोलना, न बुलवाना और न उसमें सहमत होना।

(४) पाँच प्रकार के काम-भोगों में प्रवृत्त न होना, न प्रवृत्त करना और न उसमें सहमत होना।

चार द्वीप—सुमेर पर्वत के चारों ओर के चार द्वीप। पूर्व में पूर्व विदेह, पश्चिम में अपर गोयान, उत्तर में उत्तर कुरु और दक्षिण में जम्बूद्वीप।

चारिका—धर्मोपदेश के लिए गमन करना। चारिका दो प्रकार की होती है—(१) त्वरित चारिका और (२) अत्वरित चारिका। दूर बोधनीय मनुष्य को लक्ष्य कर उसके बोध के लिए सहसा गमन 'त्वरित चारिका' है और ग्राम, निगम के क्रम से प्रतिदिन योजन, अर्ध योजन मार्ग का अवगाहन करते हुए, पिण्डचार करते हुए लोकानुग्रह से गमन करना 'अत्वरित चारिका' है।

चीवर—भिक्षु का काषाय-वस्त्र जो कई टुकड़ों को एक साथ जोड़ कर तैयार किया जाता है। विनय के अनुसार भिक्षु के लिए तीन चीवर धारण करने का विधान है :

(१) अन्तरवासक—कटि से नीचे पहिनने का वस्त्र, जो लुंगी की तरह लपेटा जाता है।

(२) उत्तरासंग—पाँच हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा वस्त्र, जो शरीर के ऊपरी भाग में चद्दर की तरह लपेटा जाता है।

(३) संघाटी—इसकी लम्बाई-चौड़ाई उत्तरासंग की तरह होती है, किन्तु यह दुहरी सिली रहती है। यह कन्धे पर तह लगा कर रखी जाती है। ठण्ड लगने पर या अन्य किसी विशेष प्रसंग पर इसका उपयोग किया जाता है।

चैत्य-गर्भ—देव-स्थान का मुख्य भाग।

छन्द—राग।

जंघा-विहार—टहलना।

जन्ताघर—स्नानागार।

जम्बूद्वीप—दस हजार योजन विस्तीर्ण भू-भाग, जिसमें चार हजार योजन प्रदेश जल से भरा है ; अतः समुद्र कहलाता है। तीन हजार योजन में मनुष्य बसते हैं। शेष तीन हजार योजन में चौरासी हजार कूटों से शोभित चारों ओर बहती हुई पाँच सौ नदियों से विचित्र पाँच सौ योजन समुन्नत हिमवान् (हिमालय) है।

जाति-संग्रह—अपने परिजनों को प्रतिबुद्ध करने का उपक्रम।

ज्ञान-दर्शन—तत्त्व-साक्षात्कार।

ज्ञप्ति—सूचना। किसी कार्य के पूर्व संघ को विधिवत् सूचित करना—यदि संघ उचित समझे तो ऐसा करे।

तावतिंस (त्रयस्त्रिंश) देवता—इनका अधिपति देवेन्द्र शक्र होता है। मनुष्यों के पचास वर्ष के बराबर एक अहोरात्र होता है। ऐसे तीस अहोरात्र का एक मास, बारह मास का एक वर्ष होता है। ऐसे वर्ष से हजार दिव्य वर्षों का उनका आयुष्य होता है।

तुषित् देवता—तुषित् देव-भवन में बोधिसत्त्व रहते हैं। यहाँ से च्युत होकर वे संसार में उत्पन्न होते हैं और बुद्धत्व की प्राप्ति कर परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं। मनुष्यों के चार सौ वर्षों के समान इनका एक अहोरात्र होता है। तीस अहोरात्र का एक मास और बारह मास का एक वर्ष। ऐसे चार हजार दिव्य वर्षों का उनका आयुष्य होता है।

थुल्लच्चय—बड़ा अपराध।

दाक्षिणेय—परलोक में विश्वास कर के देने योग्य दान दक्षिणा कहा जाता है। जो उस दक्षिणा को पाने योग्य है, वह दाक्षिणेय है।

दशबल—(१) उचित को उचित और अनुचित को अनुचित के तौर पर ठीक से जानना, (२) भूत, वर्तमान, भविष्यत के किये हुए कर्मों के विपाक को स्थान और कारण के साथ ठीक से जानना, (३) सर्वत्र गामिनी प्रतिपदा को ठीक से जानना, (४) अनेक धातु (ब्रह्माण्ड), नाना धातु वाले लोकों को ठीक से जानना, (५) नाना विचार वाले प्राणियों को ठीक से जानना, (६) दूसरे प्राणियों की इन्द्रियों की प्रबलता और दुर्बलता को ठीक से जानना, (७) ध्यान, विमोक्ष, समाधि, समापत्ति के संक्लेश (मल), व्यवधान (निर्मलकरण) और उत्थान को ठीक से जानना, (८) पूर्व-जन्मों की बातों को ठीक से जानना, (९) अलौकिक विशुद्ध, दिव्य चक्षु से प्राणियों को उत्पन्न होते, मरते, स्वर्ग लोक में जाते हुए देखना, (१०) आश्रवों के क्षय से आश्रव रहित चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा की विमुक्ति का साक्षात्कार।

दशसहस्र ब्रह्माण्ड—वे दस हजार चक्रवाल जो जातिक्षेत्र रूप बुद्धक्षेत्र हैं।

दान पारमिता—पानी के घड़े को उलट दिये जाने पर जिस प्रकार वह बिल्कुल खाली हो जाता है; उसी प्रकार धन, यश, पुत्र, पत्नी व शरीर आदि का भी कुछ चिन्तन न करते हुए आने वाले याचक को इच्छित वस्तुएँ प्रदान करना।

दिव्य चक्षु—एकाग्र, शुद्ध, निर्मल, निष्पाप, क्लेश-रहित, मृदु, मनोरम और निश्चल चित्त को पा कर प्राणियों के जन्म-मृत्यु के विषय में जानने के लिए अपने चित्त को लगाना।

दीर्घ भाणक—दीघनिकाय कण्ठस्थ करने वाले प्राचीन आचार्य ।

दुक्कट का दोष—दुष्कृत का दोष ।

देशना—अपराध स्वीकार ।

द्रोण—अनाज नापने के लिए प्राचीन काल में प्रयुक्त माप । यह नालि से बड़ा होता है । ४ प्रस्थ=१ कुडव और ४ कुडव=१ द्रोण होता है ।[1] एक प्रस्थ करीब पाव भर माना गया है[2] ; अतः एक द्रोण करीब ४ सेर के बराबर होना चाहिए ।

धर्म—धर्म और दर्शन के बारे में भिन्न-भिन्न स्थानों पर, भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेश । इन्हें सूत्र भी कहा जाता है ।

धर्म कथिक—धर्मोपदेशक ।

धर्मचक्र-प्रवर्तन—भगवान् बुद्ध ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को जो सर्वप्रथम उपदेश दिया था, वह धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र कहा जाता है ।

धर्म चक्षु—धर्म ज्ञान ।

धर्मता—विशेषता ।

धर्मधातु—मन का विषय ।

धर्म पर्याय—उपदेश ।

धर्म-विनय—मत ।

धारणा—अनुश्रावण के अनन्तर संघ को मौन देख कर कहना—"संघ को स्वीकार है ; अतः मौन है, मैं ऐसा अवधारण करता हूँ ।"

धुतवादी—त्यागमय रहन-सहन वाला । धुत होता है, धोये क्लेश वाला व्यक्ति अथवा क्लेशों को धुनने वाला धर्म । जो धुतांग से अपने क्लेशों को धुन डालता है और दूसरों को धुतांग के लिए उपदेश करता है, वह धुत और धुतवादी कहलाता है । धुतांग १३ हैं :

(१) पांशुकूलिकाङ्ग—सड़क, श्मशान, कूड़ा-करकट के ढेरों और जहाँ कहीं भी धूल (पांशु) के ऊपर पड़े हुए चिथड़ों से बने चीवरों को पहिनने की प्रतिज्ञा ।

(२) त्रैचीवरिकाङ्ग—केवल तीन चीवर—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरवासक को धारण करने की प्रतिज्ञा ।

(३) पिण्डपातिकाङ्ग—भिक्षा से ही जीविका करने की प्रतिज्ञा ।

१–आचार्य हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि कोश, ३।५५० ।
२–A. P. Buddhadatta Mahathera, Concise Pali-English Dictionary, pp. 154-170.

(४) सापदान चारिकाङ्ग—बीच में घर छोड़े बिना एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक भिक्षा करने की प्रतिज्ञा।

(५) एकासनिकाङ्ग—एक ही बार भोजन करने की प्रतिज्ञा।

(६) पात्रपिण्डिकाङ्ग—दूसरे पात्र का इन्कार कर केवल एक ही पात्र में पड़ा पिण्ड ग्रहण करने की प्रतिज्ञा।

(७) खलुपच्छाभत्तिकाङ्ग—एक बार भोजन समाप्त करने के बाद खलु नामक पक्षी की तरह पश्चात्-प्राप्त भोजन ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा।

(८) आरण्यकाङ्ग—अरण्य में वास करने की प्रतिज्ञा।

(९) वृक्षमूलिकाङ्ग—वृक्ष के नीचे रहने की प्रतिज्ञा।

(१०) अभ्यवकाशिकाङ्ग—खुले मैदान में रहने की प्रतिज्ञा।

(११) श्मशानिकाङ्ग—श्मशान में रहने की प्रतिज्ञा।

(१२) यथासंस्थिकाङ्ग—जो भी बिछाया गया हो, वह यथासंस्थित है। "यह तेरे लिए है" इस प्रकार पहले उद्देश्य करके बिछाये गये शयनासन को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा।

(१३) नैसद्याकाङ्ग—बिना लेटे, सोने और आराम करने की प्रतिज्ञा।

ध्यान (चार)—प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ; ये पाँच अंग हैं। ध्येय (वस्तु) में चित्त का दृढ़ प्रवेश वितर्क कहलाता है। यह मन को ध्येय से बाहर नहीं जाने देने वाली मनोवृत्ति है। प्रीति का अर्थ है—मानसिक आनन्द। काम, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य, विचिकित्सा ; इन पाँच नीवरणों को अपने में नष्ट हुए देख प्रमोद उत्पन्न होता है और प्रमोद से प्रीति उत्पन्न होती है। सुख का तात्पर्य है—कायिक सौख्य ; प्रीति से शरीर शान्त हो जाता है और इससे सुख उत्पन्न होता है। एकाग्रता का अर्थ है—समाधि। इस प्रकार काम-रहितता, अकुशल धर्मों से विरहितता, सवितर्क, सविचार और विवेक से उत्पन्न प्रीति-सुख से प्रथम ध्यान प्राप्त होता है।

द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार ; इन दो अंगों का अभाव होता है। इनके अभाव से आभ्यन्तरिक प्रसाद व चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। द्वितीय ध्यान में श्रद्धा की प्रबलता तथा प्रीति, सुख और एकाग्रता की प्रधानता बनी रहती है।

तृतीय ध्यान में तीसरे अंग प्रीति का भी अभाव होता है। इसमें सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है। सुख की भावना साधक के चित्त में विक्षेप उत्पन्न नहीं करती है। चित्त में विशेष शान्ति तथा समाधान का उदय होता है।

चतुर्थ ध्यान में चतुर्थ अंग का भी अभाव होता है। एकाग्रता के साथ उपेक्षा और स्मृति ; ये दो मनोवृत्तियाँ होती हैं। इसमें शारीरिक सुख-दुःख का सर्वथा त्याग तथा राग-द्वेष से विरहितता होती है। इस सर्वोत्तम ध्यान में सुख-दुःख के त्याग से व सौमनस्य-दौर्मनस्य के अस्त हो जाने पर चित्त सर्वथा निर्मल तथा विशुद्ध बन जाता है।

नालि—अनाज नापने के लिए प्राचीन काल में प्रयुक्त माप, जो कि वर्तमान के डेढ़ सेर के बराबर होता था।[1]

निदान—कारण।

निर्माणरति देवता—ये देवता अपनी इच्छा से अपने भिन्न-भिन्न रूप बदलते रहते हैं। इसी में उन्हें आनन्द मिलता है। मनुष्यों के आठ सौ वर्ष के समान इनका एक अहोरात्र होता है। तीस अहोरात्र का एक मास और बारह मास का एक वर्ष। ऐसे आठ हजार दिव्य वर्षों का उनका आयुष्य होता है।

निस्सग्गिय पाचित्तिय—अपराध का प्रतिकार संघ, बहुत से भिक्षु या एक भिक्षु के समक्ष स्वीकार कर उसे छोड़ देने पर हो जाता है।

नेगम—नगर-सेठ की तरह का एक अवैतनिक राजकीय पद, जो सम्भवतः श्रेष्ठी से उच्च होता है।

नैर्याणिक—दुःख से पार करने वाला।

नेवसंज्ञानासंज्ञायतन—चार अरूप ब्रह्मलोक में से चौथा।

नैष्कर्म्य पारमिता—कारागार में चिरकाल तक रहने वाला व्यक्ति कारागार के प्रति स्नेह नहीं रखता और न वहाँ रहने के लिए ही उत्कण्ठित रहता है ; उसी प्रकार सब योनियों (भवों) को कारागार समझना, उनसे ऊब कर उन्हें छोड़ने की इच्छा करना।

पंचशील—(१) प्राणातिपात से विरत रहूँगा, (२) अदत्तादान से विरत रहूँगा, (३) अब्रह्मचर्य से विरत रहूँगा, (४) मृषावाद से विरत रहूँगा और (५) मादक द्रव्यों के सेवन से विरत रहूँगा।

पटिभान—विचित्र प्रश्नों का व्याख्यान।

परनिर्मित वशवर्ती देवता—इनके निवास-स्थान पर मार का आधिपत्य है। मनुष्यों के सोलह सौ वर्ष के समान इनका एक अहोरात्र होता है। तीस अहोरात्र का एक मास और बारह मास का एक वर्ष। ऐसे सोलह हजार दिव्य वर्षों का उनका आयुष्य होता है।

परमार्थ पारमिता—साधना में पूर्ण रूपेण दृढ़ संकल्प होना। प्राणोत्सर्ग भले ही हो जाये, किन्तु संकल्प से विचलित न होना। परमार्थ पारमिता दस होती हैं।

१—बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५५२।

परिवेण—वह स्थान, जहाँ भिक्षु एकत्रित होकर पठन-पाठन करते हैं। यह स्थान चारों ओर से घिरा हुआ होता है और बीच में एक आँगन होता है।

पाँच महात्याग—धन, अंग, जीवन, सन्तान व भार्या का त्याग।

पाँच महाविलोकन—तुषित् लोक में रहते हुए बोधिसत्त्व द्वारा अपने जन्म सम्बन्धी समय, द्वीप, देश, कुल, माता तथा उसके आयु-परिमाण के बारे में सोचना।

पांसुकूलिक—चीथड़ों से बने चीवरों को पहनने की प्रतिज्ञा वाला।

पाचित्तिय—आत्मालोचन पूर्वक प्रायश्चित्त करना।

पाटिदेसनीय—दोषी भिक्षु संघ से निवेदन करता है—"मैंने निन्दनीय व अयुक्त कार्य किया है। मैं उसके लिए क्षमा याचना करता हूँ।"

पारमिता—साधना के लिए दृढ़ संकल्प होकर बैठना, जिसमें अपने शरीर की सार-सम्भाल का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है। पारमिता दस होती हैं।

पाराजिक—भारी अपराध किये जाने पर भिक्षु को सदा के लिए संघ से निकाल दिया जाना।

पिण्डपात—भिक्षु अपना पात्र लेकर गृहस्थ के द्वार पर खड़ा हो जाता है। उस समय वह दृष्टि नीचे किये और शान्त भाव से रहता है। घर का कोई व्यक्ति भिक्षा ला कर पात्र में रख देता है और वह झुक कर भिक्षु को प्रणाम करता है। भिक्षु आशीर्वाद देकर आगे बढ़ जाता है। पात्र जब पूर्ण हो जाता है तो भिक्षु अपने स्थान पर लौट आता है। निमंत्रण दे कर परोसा गया भोजन भी पिण्डपात के अन्तर्गत है।

पिण्डपातिक—माधुकरी वृत्ति वाला।

पुद्गल—व्यक्ति।

पूर्व लक्षण—गृह-त्याग के पूर्व उद्यान-यात्रा को जाते हुए बोधिसत्त्व को प्रव्रज्यार्थ प्रेरित करने के लिए सहम्पति ब्रह्मा द्वारा वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित को उपस्थित करना।

पृथग् जन—साधारण जन, जो कि आर्य अवस्था को प्राप्त न हुआ हो। मुक्ति-मार्ग की वे आठ आर्य अवस्थाएँ हैं—स्रोतापन्न मार्ग तथा फल, सकृदागामी मार्ग तथा फल, अनागामि मार्ग तथा फल, अर्हत् मार्ग तथा फल।

प्रज्ञप्ति—विधान।

प्रज्ञा—शून्यता का पूर्ण ज्ञान। अविद्या का नाश।

प्रज्ञा पारमिता—जिस प्रकार भिक्षु उत्तम, मध्यम तथा अधम कुलों में से किसी कुल को बिना छोड़े, भिक्षा माँगते हुए अपना निर्वाह करता है, उसी प्रकार पण्डित-जनों से सर्वदा प्रश्न पूछते हुए प्रज्ञा की सीमा के अन्त तक पहुँचना।

प्रतीत्य समुत्पाद—सापेक्ष कारणतावाद। प्रतीत्य—किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, समुत्पाद—अन्य वस्तु की उत्पत्ति। किसी वस्तु के उत्पन्न होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति। (१) रूप, (२) वेदना, (३) संज्ञा, (४) संस्कार और (५) विज्ञान—ये पाँच उपादान स्कन्ध हैं।

प्रतिपदा—मार्ग, ज्ञान।

प्रतिसंविद्-प्राप्त—प्रतिसम्भिदा प्राप्त—प्रभेदगत ज्ञान प्रतिसम्भिदा है। ये चार हैं :

(१) अर्थ-प्रतिसम्भिदा—हेतुफल अथवा जो कुछ प्रत्यय से उत्पन्न है, निर्वाण, कहे गये का अर्थ, विपाक और क्रिया—ये पाँच धर्म 'अर्थ' कहलाते हैं। उस अर्थ का प्रत्यवेक्षण करने वाले का उस अर्थ में प्रभेदगत ज्ञान अर्थ-प्रतिसम्भिदा है।

(२) धर्म-प्रतिसम्भिदा—जो कोई फल को उत्पन्न करने वाला हेतु, आर्य-मार्ग, भाषित, कुशल, अकुशल—इन पाँचों को 'धर्म' कहा जाता है। उस धर्म का प्रत्यवेक्षण करने वाले का उस धर्म का प्रभेदगत ज्ञान धर्मप्रतिसम्भिदा है।

(३) निरुक्ति-प्रतिसम्भिदा—उस अर्थ और उस धर्म में जो स्वभाव निरुक्ति है, अव्यभिचारी व्यवहार है, उसके अभिलाप में, उसके कहने में, बोलने में, उस कहे गये, बोले गये को सुन कर ही, यह स्वभाव निरुक्ति है, यह स्वभाव निरुक्ति नहीं है—ऐसे उस धर्म-निरुक्ति के नाम से कही जाने वाली स्वभाव निरुक्ति मागधी सब सत्त्वों की मूल भाषा में प्रभेदगत ज्ञान निरुक्ति-प्रतिसम्भिदा है। निरुक्ति-प्रतिसम्भिदा प्राप्त स्पर्श, वेदना आदि ऐसे वचन को सुन कर ही वह स्वभाव निरुक्ति है, जानता है। स्पर्श, वेदना—ऐसे आदि को, वह स्वभाव निरुक्ति नहीं है।

(४) प्रतिभान-प्रतिसम्भिदा—सब (विषयों) में ज्ञान को आलम्बन करके प्रत्यवेक्षण करने वाले के ज्ञान का आलम्बन ज्ञान है या यथोक्त उन ज्ञानों में गोचर और कृत्य आदि के अनुसार विस्तार से ज्ञान, प्रतिभान-प्रतिसम्भिदा है।

प्रत्यन्त—सीमान्त।

प्रत्यय—भिक्षुओं के लिए ग्राह्य वस्तुएँ। (१) चीवर, (२) पिण्डपात, (३) शयनासन और (४) ग्लान प्रत्यय ; भिक्षुओं को इन्हीं चार प्रत्ययों की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक बुद्ध—जिसे सब तत्त्व स्वतः परिस्फुटित होते हैं। जिसे तत्त्व-शिक्षा पाने के लिए किसी गुरु की परतंत्रता आवश्यक नहीं होती।

प्रातिमोक्ष—विनयपिटक के अन्तर्गत भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुनी पातिमोक्ख शीर्षक से दो स्वतन्त्र प्रकरण हैं। इनमें क्रमशः दो सौ सत्ताईस और तीन सौ ग्यारह नियम हैं। मास की प्रत्येक कृष्ण चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को वहाँ रहने वाले सभी भिक्षु-संघ के उपोसथागार में एकत्रित होते हैं और प्रातिमोक्ष के नियमों की आवृत्ति करते हैं।

प्रातिहार्य—चमत्कार ।

बल (पाँच)—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा ।

बुद्ध-कोलाहल—सर्वज्ञ बुद्ध के उत्पन्न होने के सहस्र वर्ष पूर्व लोकपाल देवताओं द्वारा लोक में यह उद्घोष करते हुए घूमना—'आज से सहस्र वर्ष बीतने पर लोक में बुद्ध उत्पन्न होंगे ।'

बुद्ध-बीज—भविष्य में बुद्ध होने वाला ।

बुद्धश्री—बुद्धातिशय ।

बुद्धान्तर—एक बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद से दूसरे बुद्ध के होने तक का बीच का समय ।

बोधिवृक्ष—बोध-गया का प्रसिद्ध पीपल-वृक्ष, जिसके नीचे गौतम बुद्ध ने परम सम्बोधि प्राप्त की थी ।

बोधिमण्ड—बोध-गया के बुद्ध-मन्दिर का अहाता ।

बोधिसत्त्व—अनेक जन्मों के परिश्रम से पुण्य और ज्ञान का इतना संचय करने वाला, जिसका बुद्ध होना निश्चय होता ।

बोध्यांग (सात)—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा ।

ब्रह्मचर्य फल—बुद्ध-धर्म ।

ब्रह्मदण्ड—जिस भिक्षु को ब्रह्मदण्ड दिया जाता है, वह अन्य भिक्षुओं के साथ अपनी इच्छानुसार बोल सकता है, पर अन्य भिक्षु न उसके साथ बोल सकते हैं, न उसे उपदेश कर सकते हैं और न उसका अनुशासन कर सकते हैं ।

ब्रह्मचर्य-वास—प्रव्रज्या ।

ब्रह्म विहार—मैत्री, कर मुदिता और उपेक्षा भावना ।

ब्रह्मलोक—सभी लोकों में श्रेष्ठ । इसमें निवास करने वाले ब्रह्मा होते हैं ।

भक्तच्छेद—भोजन न मिलना ।

भवाग्र—ध्यान-योग का साधक अपने ध्यान के बल पर स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करता है । ऐसी गति से वह ऐसे एक बिन्दु पर पहुँचता है, जहाँ जगत् की समाप्ति हो जाती है । यही बिन्दु भवाग्र कहलाता है ।

भिन्नस्तूप—नींव-रहित ।

मध्यम प्रतिपदा—दो अन्तों—काम्य वस्तुओं में अत्यधिक लीनता और अत्यधिक वैराग्य से शरीर को कष्ट देना—के बीच का मार्ग ।

मनोमय लोक—देव लोक ।

महा अभिज्ञा धारिका—देखें, अभिज्ञा ।

महागोचर—आराम के निकट सघन बस्ती वाला ।

महाब्रह्मा—ब्रह्मलोक वासी देवों में एक असंख्य कल्प के आयुष्य वाले देव। देखें, ब्रह्मलोक।

महाभिनिष्क्रमण—बोधिसत्त्व का प्रव्रज्या के लिए घर से प्रस्थान करना।

मार—अनेक अर्थों में प्रयुक्त। सामान्यतया मार का अर्थ मृत्यु है। मार का अर्थ क्लेश भी है, जिसके वश में होने से मनुष्य मृत्युमय संसार को प्राप्त होता है। वशवर्ती लोक के देवपुत्र का नाम भी मार है, जो अपने आपको कामावचर लोक का अधिपति मानता था। जो कोई भी काम-भोगों को छोड़ कर साधना करता, उसको वह अपना शत्रु समझता और साधना-पथ से उसे विचलित करने का प्रयत्न करता।

मुदिता—सन्तोष।

मैत्री—सभी के प्रति मित्र-भाव।

मैत्री चेतो विमुक्ति—'सारे प्राणी वैर-रहित, व्यापाद रहित, सुखपूर्वक अपना परिहरण करें।' इस प्रकार मैत्री चित्त की विमुक्ति होती है।

मैत्री पारमिता—जिस प्रकार पानी पापी और पुण्यात्मा, दोनों को ही समान रूप से शीतलता पहुँचाता है और दोनों के ही मैल को धो डालता है, उसी प्रकार हितैषी और अहितैषी, दोनों के प्रति समान भाव से मैत्री-भावना का विस्तार करना।

मैत्री सहगत चित्त—मैत्री से समन्नागत (युक्त) चित्त।

यष्टि—लम्बाई का माप। २० यष्टि=१ वृषभ, ८० वृषभ=१ गावुत, ४ गावुत=१ योजन।

याम देवता—मनुष्यों के दो सौ वर्षों के बराबर एक अहोरात्र है। ऐसे तीस अहोरात्र का एक मास और बारह मास का एक वर्ष। ऐसे दो हजार दिव्य वर्षों का उनका आयुष्य होता है।

योजन—दो मील।

लोकधातु—ब्रह्माण्ड।

वशवर्ती—परनिर्मित वशवर्ती देव-भवन के देव-पुत्र।

वर्षिक शाटिका—वर्षा में वस्त्र समय पर न सूखने के कारण वर्षा तक के लिए लुंगी के तौर पर लिया जाने वाला वस्त्र।

विज्ञानन्त्यायतन—चार अरूप ब्रह्मलोक में से दूसरा।

विदर्शना या विपश्यना—प्रज्ञा या सत्य का ज्ञान जो कि संस्कृत वस्तुओं की अनित्यता, दुःखता या अनात्मता के बोध से होता है।

विद्या (तीन)—पुब्बेनुवासानिस्सति ञाण (पूर्व जन्मों को जानने का ज्ञान), चुतूपपात ञाण (मृत्यु तथा जन्म को जानने का ज्ञान), आसवक्खय ञाण (चित्त मलों के क्षय का ज्ञान)—ये तीन त्रिविद्या कहलाती हैं।

विनय—वह शास्त्र, जिसमें भिक्षु-भिक्षुणियों के नियम का विशद रूप से संकलन किया गया है।

विमुक्ति—मुक्ति।

विश्वकर्मा—तावतिंश निवासी वह देव, जो देवों में निर्माण-कार्य करने वाला होता है और समय-समय पर शक्र के आदेशानुसार वह बुद्ध की सेवा में निर्माण-कार्यार्थ उपस्थित होता है।

विहार—भिक्षुओं का विश्राम-स्थान।

वीर्य पारमिता—जिस प्रकार मृगराज सिंह बैठते, खड़े होते, चलते सदैव निरालस, उद्योगी तथा दृढ़मनस्क होता है, उसी प्रकार सब योनियों में दृढ़ उद्योगी होकर वीर्य की सीमा के अन्त तक पहुँचना।

व्याकरण—भविष्य वाणी।

व्यापाद—द्रोह।

शिक्षापद—भिक्षु-नियम।

शील—हिंसा आदि समग्र गर्हित कर्मों से पूर्णतः विरति। काय-शुद्धि।

शील पारमिता—चमरी जिस प्रकार अपने जीवन की परवाह न करते हुए अपनी पूँछ की ही सुरक्षा करती है; उसी प्रकार जीवन की भी परवाह न करते हुए शील की सुरक्षा के लिए ही प्रणबद्ध होना।

शैक्ष्य—अर्हत् फल को छोड़ शेष चार मार्गों तथा तीन फलों को प्राप्त व्यक्ति शैक्ष्य कहे जाते हैं; क्योंकि अभी उन्हें सीखना बाकी है। जो अर्हत् फल को प्राप्त हैं, वे ही अशैक्ष्य हैं।

शौण्डिक कर्मकर—शराब बनाने वाला।

श्रमण परिष्कार—भिक्षु द्वारा ग्राह्य चार प्रकार के पदार्थ: (१) चीवर-वस्त्र, (२) पिण्डपात—भिक्षान्न, (३) शयनासन—घर और (४) ग्लान-प्रत्यय-भैषज्य—रोगी के लिए पथ्य व औषधि।

श्रामणेर—प्रव्रजित हो, कषाय-वस्त्र धारण करना। इस अवस्था में बौद्ध-साहित्य का अध्ययन करवाया जाता है। साधक को गुरु के उपपात में रह कर (१) प्राणातिपात-विरति, (२) अदत्त-विरति, (३) अब्रह्मचर्य-विरति, (४) मृषावाद-विरति, (५) मादक द्रव्य-विरति, (६) विकाल भोजन-विरति, (७) नृत्य-संगीत-वाद्य व अश्लील हाव-भाव-विरति, (८) माला-गन्ध-विलेपन आदि की विरति, (९) उच्चासन-विरति और (१०) स्वर्ण-रजत-विरति; इन दस शीलों का व्रत लेना होता है।

संगति—भवितव्यता।

संघाट—जाल ।

संघादिसेस—अपराध की परिशुद्धि के लिए दोषी भिक्षु का संघ द्वारा कुछ समय के लिए संघ से बहिष्कृत किया जाना ।

संज्ञा—इन्द्रिय और विषय के एक साथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के बाद 'यह असुक विषय है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है, उसे संज्ञा कहते हैं ।

संज्ञा-वेदयित-निरोध—इस समाधि में संज्ञा और वेदना का अभाव होता है। संज्ञा-वेदयित-निरोध को समापन्न हुए भिक्षु को यह नहीं होता—"मैं संज्ञा-वेदयित-निरोध को समापन्न होऊँगा", "मैं संज्ञा-वेदयित-निरोध को समापन्न हो रहा हूँ", या "मैं, संज्ञा-वेदयित-निरोध को समापन्न हुआ।" उसका चित्त पहले से ही इस प्रकार अभ्यस्त होता है कि वह उस स्थिति को पहुँच जाता है। इस समाधि में पहले वचन-संस्कार निरुद्ध होता है, फिर काय-संस्कार और फिर बाद में चित्त-संस्कार ।

संतुषित—तुषित देव-भवन के देव-पुत्र ।

संस्थागार—सभा-भवन ।

सकृदागामी—एक बार आने वाला । स्रोतापन्न भिक्षु उत्साहित होकर काम-राग (इन्द्रिय-लिप्सा) और प्रतिघ (दूसरे के प्रति अनिष्ट करने की भावना)—इन दो बन्धनों पर विजय पा कर मुक्ति-मार्ग में आरूढ हो जाता है। इस भूमि में आस्रव-क्षय (क्लेशों का नाश) करना प्रधान कार्य रहता है। यदि वह इस जन्म में अर्हत् नहीं होता तो अधिक-से-अधिक एक बार और जन्म लेता है ।

सत्य पारमिता—जिस प्रकार शुक्र तारा किसी भी ऋतु में अपने मार्ग का अतिक्रमण नहीं करता, उसी प्रकार सौ-सौ संकट आने पर व धन आदि का प्रलोभन होने पर भी सत्य से विचलित न होना ।

सन्निपात—गोष्ठी ।

सब्रह्मचारी—गुरु-भाई । एक शासन में प्रव्रजित श्रमण ।

समाधि—एक ही आलम्बन पर मन और मानसिक व्यापारों को समान रूप से तथा सम्यक् रूप से नियोजित करना । चित्त-शुद्धि ।

समाधि-भावना—जिसे भावित करने पर इसी जन्म में बोधि प्राप्त होती है ।

सम्बोधि—बुद्धत्व ।

सम्यक् सम्बुद्ध-प्रवेदित—बुद्ध द्वारा जाना गया ।

सर्वार्थक महामात्य—निजी सचिव ।

सल्लेख वृत्ति—त्याग वृत्ति । भगवान् द्वारा बताये हुए भी निमित्त, अवभास, परिकथा की विज्ञप्तियों को नहीं करते हुए अल्पेच्छता आदि गुणों के ही सहारे जान जाने का समय

आने पर भी अवभास आदि के बिना मिले हुए प्रत्ययों का प्रतिसेवन करता है, यह परम सल्लेख वृत्ति है।

निमित्त कहते हैं—शयनासन के लिए भूमि ठीक-ठाक आदि करने वाले को—"भन्ते, क्या किया जा रहा है ? कौन करवा रहा है ?" गृहस्थों द्वारा कहने पर "कोई नहीं" उत्तर देना अथवा जो कुछ दूसरा भी इस प्रकार का निमित्त करना।

अवभास कहते हैं "उपासको, तुम लोग कहाँ रहते हो ?"

"प्रासाद में भन्ते !"

"किन्तु उपासको ! भिक्षु लोगों को प्रासाद नहीं चाहिए ?" इस प्रकार कहना अथवा जो कुछ दूसरा भी ऐसा अवभास करना।

परिकथा कहते हैं "भिक्षु संघ के लिए शयनासन की दिक्कत है।" कहना, या जो दूसरी भी इस तरह की पर्याय-कथा है।

सहम्पति ब्रह्मा—एक महाब्रह्मा जिसके निवेदन पर बुद्ध ने धर्म का प्रवर्तन किया। अनेकों प्रसंगों पर सहम्पति ब्रह्मा ने बुद्ध के दर्शन किये थे। काश्यप बुद्ध के समय में वह सहक नाम का भिक्षु था और श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रियों की साधना से ब्रह्मलोक में महाब्रह्मा के रूप में उत्पन्न हुआ।

सांदृष्टिक—दृष्ट (संदृष्ट) अर्थात् दर्शन, संदृष्ट के योग्य सांदृष्टिक है। लोकोत्तर धर्म दिखाई देते हुए ही संसार-चक्र के भव को रोकता है ; इसलिए वह सांदृष्टिक कहलाता है।

सु-आख्यात—अच्छी तरह से कहा गया।

सुनिर्मित—निर्माणरति देव-भवन के देव-पुत्र।

सु-प्रवेदित—अच्छी तरह से साक्षात्कार किया गया।

सुयाम—याम देव-भवन के देव-पुत्र।

सेखिय—शिक्षापद, जिनका लंघन भी दोष है।

स्त्यान मृद्ध—शरीर और मन का आलस्य।

स्थविर—भिक्षु होने के दस वर्ष बाद स्थविर और बीस वर्ष बाद महास्थविर होता है।

स्मृति सम्प्रजन्य—चेतना व अनुभव।

स्रोतापत्ति—धारा में आ जाना। निर्वाण के मार्ग में आरूढ़ हो जाना, जहाँ से गिरने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। योग-साधना करने वाला भिक्षु जब सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्शक, इन तीन बन्धनों को तोड़ देता है, तब वह स्रोतापन्न कहा जाता है। स्रोतापन्न व्यक्ति अधिक-से-अधिक सात बार जन्म लेकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

परिशिष्ट-४

प्रयुक्त-ग्रन्थ

आगम-साहित्य

१—**अणुत्तरोववाइयदसांग सूत्र :** (जैन आगम) : सं० एम०सी० मोदी, प्र० गुर्जर ग्रन्थ-रत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९३२

२—**अणुत्तरोववाइयदसांग सूत्र :** अभयदेवसूरि की वृत्ति सहित, प्र० आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १९२१

३—**अन्तकृद्दशांग सत्र** (जैन आगम) : सं० एम० सी० मोदी, प्र० गुर्जर ग्रन्थ-रत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९३२

४—**अन्तकृद्दशांग सूत्र :** अभयदेव सूरि कृत वृत्ति, प्र० जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९३३

५—**आचारांग चूर्णि :** जिनदास गणि, प्र० ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, १९४१

६—**आचारांग सूत्र** (जैन आगम) : शीलांकाचार्य कृत वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति, सूरत, १९३५

७—**आचारांग सूत्र** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० मुनि सौभाग्यमल, सं० वसन्तीलाल नलवाया, प्र० जैन साहित्य समिति, उज्जैन, १९५०

८—**आदि पुराण :** आचार्य जिनसेन, सं० पण्डित पन्नालाल जैन, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३

९—**आवश्यक चूर्णि** (२ भाग) : रचयिता जिनदास गणि, प्र० ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, १९२८

१०—**आवश्यक निर्युक्ति :** आचार्य भद्रबाहु मलयगिरि वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति, बम्बई, १९२८

११—**आवश्यक निर्युक्ति :** आचार्य भद्रबाहु हारिभद्रीय वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६

१२—**आवश्यक निर्युक्ति दीपिका** (३ भाग) : माणिक्यशेखर, सूरत, १९३९

१३—**उत्तर पुराण :** आचार्य गुणभद्र, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५४

१४—**उत्तराध्ययन सूत्र** (जैन आगम) : सं० व प्र० प्रो० आर० डी० वाडेकर, एन० वी० वैद्य, पूना, १९५४

१५—**उत्तराध्ययन सूत्र** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० आत्मारामजी महाराज, प्र० जैन शास्त्रमाला, लाहौर, १९२९

१६—**उत्तराध्ययन सूत्र :** नेमिचन्द्र कृत वृत्ति सहित, बम्बई, १९३७

१७—**उत्तराध्ययन सूत्र** : भावविजयजी कृत टीका, प्र० आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर

१८—**उत्तराध्ययन सूत्र** (४ भाग) : लक्ष्मीवल्लभ कृत टीका, अनु० पं० हीरालाल हंसराज, प्र० मणिबाई राजकरण, अहमदाबाद, १९३५

१९—**उपदेश प्रासाद** (चार खण्ड) : लक्ष्मीविजय सूरि, प्र० जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९१४-१९२३

२०—**उपदेश माला** (सटीक) : धर्मदास गणि, टीकाकार रामविजय गणि, प्र० हीरालाल हंसराज; जामनगर, १९३४

२१—**उपासकदशांग सूत्र** (जैन आगम) : सं० व अनु० (अंग्रेजी) एन० ए० गोरे, प्र० ओरियन्टल बुक एजेन्सी, पूना, १९५३

२२—**उववाई सुत्त** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० मुनि उमेशचन्द्रजी 'अणु', प्र० अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म० प्र०), १९६३

२३—**ऋषि मण्डल वृत्ति** : धर्मघोष सूरि (शुभवर्द्धन गणि संस्कृत टीका व शास्त्री हरिशंकर कालीदास कृत गुजराती अनुवाद सहित), प्र० श्री जैन विद्याशाला, डोशीवाडानी पोल, अहमदाबाद, १९०१

२४—**औपपातिक (उववाई) सूत्र** (जैन आगम) : अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९३७

२५—**कल्प सूत्र** (जैन आगम) : प्र० साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १९४१

२६—**कल्प सूत्र** (बंगला अनुवाद) : अनु० डा० बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, प्र० कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता

२७—**कल्प सूत्र—कल्पद्रुम कलिका** वृत्ति सहित (हिन्दी अनुवाद) : प्र० कोटा छबड़ा का जैन श्वे० संघ, १९३३

२८—**कल्प सूत्र कल्पलता व्याख्या** : प्र० वेलजी शिवजी कंपनी, दाणा बन्दर, बम्बई, १९१८

२९—**कल्प सूत्र कल्पार्थ बोधिनी व्याख्या** सहित : सं० बुद्धिसागर गणि, प्र० जिनदत्त सूरि ज्ञान भण्डार, बम्बई, १९४२

३०—**कल्प सूत्रार्थ प्रबोधिनी** : राजेन्द्र सूरि, प्र० राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला, १९३३

३१—**कल्प सूत्र—बालावबोध** : बुद्धविजय

३२—**कहावली** : भद्रेश्वर, सं० डॉ० यू० पी० शाह, प्र० गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, बड़ौदा

३३—**गोम्मट सार** : नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्तचक्रवर्ती, पाढम निवासी पं० मनोहरलाल कृत वृत्ति, प्र० श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, १९१३

३४—**चउपन्न महापुरिस चरियं** : शीलाचार्य

३५—जिन कल्प सूत्र : सं० साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद, १९४१

३६—जम्बूद्वीप पण्णत्ति सूत्र (जैन आगम) : शान्तिचन्द्र गणि विहित वृत्ति सहित, (भाग १, २), प्र० देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९२०

३७—जयधवला-वृत्ति (कषायपाहुड) : वीरसेनाचार्य, सं० पं० मूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्र० भा० दि० जैन संघ, मथुरा, १९६१

३८—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र (जैन आगम) : अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, सं० आचार्य चन्द्रसागर सूरि, प्र० सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, १९५१

३९—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र (हिन्दी अनुवाद सहित) : सं० पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्र० श्री तिलोकरत्न स्था० जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, अहमदाबाद, १९६४

४०—तत्त्वार्थ भाष्य : उमास्वाति, प्र० रायचन्द जैन शास्त्रमाला, हीराबाग, बम्बई, १९०६

४१—तपागच्छ पट्टावली : धर्मसागर गणि, सं० पं० कल्याणविजयजी, भावनगर, १९४०

४२—तित्थोगाली पइन्नय (जैन ग्रन्थ) : अप्रकाशित

४३—तिलोयपण्णत्ति : आचार्य यतिवृषभ, सं० हीरालाल जैन व ए० एन० उपाध्ये, प्र० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९५१

४४—त्रिलोकसार : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, अनु० पं० टोडरमलजी, प्र० हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, १९११

४५—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम् : आचार्य हेमचन्द्र, प्र० जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९०६-१३

४६—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (गुजराती अनुवाद) (४ भाग) : आचार्य हेमचन्द्र, प्र० जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर

४७—दर्शन सार : देवसेनाचार्य, सं० पं० नाथूराम 'प्रेमी', प्र० जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२०

४८—दशवैकालिक सूत्र (जैन आगम) : वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी, प्र० जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, १९६३

४९—दशवैकालिक चूर्णि : अगस्त्यसिंह, प्र० प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद

५०—दशवैकालिक चूर्णि : श्री जिनदास गणि महत्तर, प्र० देवचन्द लालभाई जवेरी, सूरत, १९३३

५१—दशाश्रुतस्कन्ध (जैन आगम) : सं० व अनु० आत्मारामजी महाराज, प्र० जैन शास्त्र-माला, लाहौर, १९३६

५२—धर्मरत्न प्रकरण : श्री शान्ति सूरि, प्र० आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, १९२५

५३—निरयावलियाओ (जैन आगम) : सं० ए० एस० गोपाणी, वी० जे० चोकसी, प्र० सम्भूभाई जगसी शाह, प्र० गुर्जर ग्रन्थ-रत्न कार्यालय, अहमदाबाद, १९२७

५४—**निरयावलियाओ** (जैन आगम) : चन्द्रसूरि, संस्कृत टीका सहित, प्र० आगमोदय समिति, सूरत, १९२१

५५—**निरयावलिका** (सुन्दर बोधि व्याख्या तथा हिन्दी-गुर्जर भाषानुवाद सहित) : घासीलालजी महाराज, प्र० अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, सौराष्ट्र, १९६०

५६—**निशीथ सूत्र** (जैन आगम) : सभाष्य चूर्णि सहित : सं० उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि, मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल', प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६०

५७—**पंचकल्प-भाष्य** : सङ्घदास गणि

५८—**पंच वस्तुक** : आचार्य हरिभद्र सूरि, प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९२७

५९—**परिशिष्ट पर्व** : आचार्य हेमचन्द्र, सं० सेठ हरगोविन्ददास, प्र० जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, १९५७

६०—**परिशिष्ट पर्व** : आचार्य हेमचन्द्र, सं० डॉ० हर्मन जेकोबी, प्र० एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता, १९३२

६१—**भगवती सूत्र** (जैन आगम) : अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९३७

६२—**भगवती सूत्र** (गुजराती अनुवाद सहित) : सं० और अनु० पं० बेचरदास दोशी, भगवानदास हरखचन्द दोशी, जिनागम प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, १९२२-३१

६३—**भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति** (२ भाग) : शुभशील गणि, प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, १९३२

६४—**भाव संग्रह** : आचार्य देवसेन, सं० पन्नालाल सोनी, प्र० माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२१

६५—**महावीर चरियं** : गुणचन्द्र, प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत

६६—**महावीर चरियं** : नेमिचन्द्र, प्र० आत्माराम सभा, भावनगर, १९२६

६७—**महावीर स्वामी नो संयम धर्म** (सूत्रकृतांग नो छायानुवाद) : अनु० गोपालदास जीवाभाई पटेल, प्र० नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, १९३५

६८—**वंगचूलिया** (जैन पइन्ना ग्रन्थ) : यशोभद्र, प्र० मड़यता, फलौदि, मारवाड़, १९२३

६९—**विचार श्रेणी** : आचार्य मेरुतुंग, प्र० जैन साहित्य संशोधक (पत्रिका), पूना, मई १९२५

७०—**विविध तीर्थकल्प** : आचार्य जिनप्रभ सूरि, सं० जिनविजय मुनि, प्र० भारतीय विद्यापीठ, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक १०, शान्तिनिकेतन, बंगाल, १९३४

७१—**विशेषावश्यक भाष्य** (सटीक) : जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, वृत्तिकार—कोट्याचार्य, प्र० ऋषभदेव केशरीमल श्वे० संस्था, रतलाम, १९३६-३७

७२—**विशेष आवश्यक भाष्य** (सटीक गुजराती अनुवाद) : अनु० चुन्नीलाल हुकमचन्द, प्र० आगमोदय समिति, बम्बई, १९२३

७३—**व्यवहार सूत्र सभाष्य** (जैन आगम) : मलयगिरि वृत्ति सहित, सं० मुनि माणेक, प्र० वकील त्रिकमलाल अगरचन्द, अहमदाबाद, १९२८

७४—**षट्खण्डागम** (धवला टीका) : आचार्य वीरसेन, सं० हीरालाल जैन, प्र० सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द, अमरावती (बरार), १९४१-५७

७५—**समवायांग सूत्र** (जैन आगम) : अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, सं० मास्टर नगीनदास नेमचन्द, प्र० सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, कान्तीलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, १९३८

७६—**सूत्रकृतांग सूत्र** (जैन आगम) : शीलांकाचार्य वृत्ति सहित, सं० पन्यासप्रवर श्रीचन्द्रसागर गणि, प्र० श्री गौडीजी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढी, बम्बई, १९४९

७७—**सूत्रकृतांग सूत्र** (सटीक हिन्दी अनुवाद सहित) : अनु० पं० अम्बिकादत्त ओझा, व्याकरणाचार्य, प्र० श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट, १९३८

७८—**सूत्रकृतांग सूत्र** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० सूत्रागम प्रकाशन समिति, गुड़गाँव (केण्ट), पंजाब, १९६१

७९—**सेन प्रश्न** (प्रश्न रत्नाकराभिध : श्रीसेन प्रश्न) : संग्रहकर्त्ता—श्री शुभविजय गणि, प्र० देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई, १९१८

८०—**सौभाग्यपंचम्यादि पर्वकथा संग्रह** : क्षमाकल्याणकोपाध्याय, प्र० हिन्दी जैनागम प्रकाशक सुमति कार्यालय, कोटा, १९३३

८१—**स्थानांग सूत्र** (जैन आगम) : अभयदेव सूरि वृत्ति सहित, प्र० आगमोदय समिति, सूरत, १९२०

८२—**स्थानांग-समवायांग** (गुजराती अनुवाद) : अनु० दलसुख मालवणिया, प्र० गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९५५

८३—**हरिवंश पुराण** : जिनसेन सूरि, सं० पं० पन्नालाल जैन, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६३

८४—*Antagaddasāo* . Tr. by L. D. Barnett, London, 1907

८५—*Āvasyaka Erzeulang* (German Translation of *Āvasyaka kathā*) : Tr. by Ernst Leumann, Leipzig, 1897

८६—*Gaina Sutras*, part I (*Ācharānga Sūtra & Kalpa Sūtra*) : Tr. by Dr. Hermann Jacobi, Pub. Sacred Books of the East series, vol. XXII, Orford, 1884

८७—*Gaina Sutras*, Part II (*Sūtrakritang Sūtra & Uttarādhyayana Sūtra*) : Tr. by Dr. Hermann Jacobi, Sacred Books of the East series, vol. XLV, Oxford, 1899

८८—*Trisastisalākapurusacaritra* (4vol.) : Tr. by H.M. Johnson, Pub. by Gaekvad Oriental Series, Baroda, 1930

८९—*Uvāsagdasāo* (2 Parts) : Tr. 4. Ed. by A. F. Rudolf Hoernle, Pub. Bibliotheca Indica, Calcutta, 1888-1890

त्रिपिटक-साहित्य

९०—**अंगुत्तर निकाय** (हिन्दी अनुवाद) (भाग १, २) : अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७-१९६३

९१—**अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा (मनोरथपूरणी)** : आचार्य बुद्धघोष, सं० हर्मन कोप, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी के लिए ल्युभाक एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९२४-१९५६

९२— **अंगुत्तर निकाय पालि** (त्रिपिटक) (४ खण्ड) : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९६०

९३—**अनागत-वंश** : सं० मेनयेफ, प्र० जर्नल ऑफ पालि टेक्स्ट सोसायटी, १८८६

९४- **अपदान पालि (खुद्दक निकाय** खण्ड ६, ७ के अन्तर्गत) (त्रिपिटक) (२ खण्ड) : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

९५—**अवदान कल्पलता** (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ) (२ खण्ड) : क्षेमेन्द्र सं० शरत्चन्द्रदास और पं० हरिमोहन विद्याभूषण, प्र० बिब्लिओथेका इण्डिका, कलकत्ता, १८८८

९६—**अवदान-शतकम्** (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-१९) : सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८

९७—**इतिवुत्तक पालि** : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

९८—**इतिवुत्तक** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५५

९९—**उदान अट्ठकथा (परमत्थदीपनी)** : आचार्य धम्मपाल, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९२६

१००—उदान पालि : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

१०१—उदान (हिन्दी अनुवाद) : अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३८

१०२—गिल्गिट मैनुस्क्रिप्ट्स (विनयवस्तु) (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ) (३ खण्ड) : सं० डॉ० नलिनाक्ष दत्त, प्रो० डी० एम० भट्टाचार्य तथा विद्यावारिधि पं० शिवनाथ शर्मा, श्रीनगर, काश्मीर १९४२

१०३—जातकट्ठकथा पालि (प्रथम भाग) : आचार्य बुद्धघोष, सं० भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० भारती ज्ञानपीठ, बनारस, १९५१

१०४—जातकट्ठकथा (७ खण्ड) : आचार्य बुद्धघोष, सं० वी० फाउसबोल, लन्दन १८७७-१८९७

१०५—जातक (अट्ठकथा सहित हिन्दी अनुवाद) (खण्ड १ से ६) : अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग १९५६

१०६—जातक पालि (त्रिपिटक) : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

१०७—थेरगाथा पालि (परमत्थदीपनी) (२ खण्ड) : आचार्य धम्मपाल, सं० एफ० एल० वुडवार्ड, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी के लिए ल्युभ्राक एण्ड कम्पनी, लन्दन १९४०-१९५९

१०८—थेरगाथा पालि (त्रिपिटक) (खुद्दक निकाय खण्ड २ के अन्तर्गत) : भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

१०९—थेरगाथा (हिन्दी अनुवाद) : अनु० भिक्षु धर्मरत्न, एम० ए०, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५५

११०—थेरीगाथा अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) : आचार्य धम्मपाल, सं० ई० मूलर, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८९३

१११—थेरीगाथा पालि (त्रिपिटक) (खुद्दक निकाय खण्ड २ के अन्तर्गत) : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

११२—थेरीगाथा (हिन्दी अनुवाद) : अनु० भरतसिंह उपाध्याय, प्र० सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली, १९५०

११३—दिव्यावदान (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-२०) : सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०

११४—**दीघनिकाय अट्ठकथा (सुमंगलविलासिनी)** (३ खण्ड) : आचार्य बुद्धघोष, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन १८८६-१९३२

११५—**दीघनिकाय पालि** (त्रिपिटक) (३ खण्ड) : सं० भिक्षु जगदीश कास्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५८

११६—**दीघनिकाय** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३६

११७—**दीपवंश** (सिलोनी पालि ग्रन्थ) : सं० और अनु० ओल्डनबर्ग, प्र० विलियम्स एण्ड नोर्गेट, लन्दन, १८७९

११८—**धम्मपद अट्ठकथा** (५ खण्ड) : आचार्य बुद्धघोष, सं० एच० सी नॉरमन, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९०६-१९१५

११९—**धम्मपद पालि** : सं० भिक्षु जगदीश कास्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

१२०—**धम्मपद** (कथाओं सहित हिन्दी अनुवाद) : अनु० त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, एम० ए०, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौड़ी गली, वाराणसी-१, (द्वितीय संस्करण), १९५९

१२१—**पेटावत्थु अट्ठकथा** : सं० ई० हार्डी, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९०१

१२२—**बुद्धचरित** (हिन्दी अनुवाद सहित) (२ भाग) : अश्वघोष, सं० और अनु० सूर्य-नारायण चौधरी, प्र० संस्कृत भवन, कठौतिया, जिला—पुर्णिया, बिहार १९४३-१९५३

१२३—**भगवान् बुद्ध ना पचास धर्म संवादो (मज्झिम निकाय** का गुजराती अनुवाद) : अनु० धर्मानन्द कौसम्बी, प्र० गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९५१

१२४—**मंजुश्री मूलकल्प** (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ) : सं० टी० गणपति शास्त्री, प्र० त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज, त्रिवेन्द्रम, १९२७

१२५—**मज्झिम निकाय अट्ठकथा (पपञ्चसूदनी)** (५ खण्ड) : आचार्य बुद्धघोष, सं० आई० बी० हॉरनर, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी के लिए आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२२-१९३८

१२६—**मज्झिम निकाय पालि** (त्रिपिटक) (३ खण्ड) : सं० भिक्षु जगदीश कास्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५८

१२७—**मज्झिम निकाय** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३३

१२८—**महायान सूत्र संग्रह** (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-१७) : सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६१

१२९—**महावंश** (सिलोनी पालि ग्रन्थ) : सं० गाइगर, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९१२

१३०—**महावंश** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५६

१३१—**महावस्तु** (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ) (३ खण्ड) : सं० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-१८९७

१३२—**मिलिन्द पञ्हो** (पालि) : सं० आर० डी० वडेकर, प्र० बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई, १९४०

१३३—**मिलिन्द प्रश्न** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, प्र०

१३४—**विनयपिटक अट्ठकथा (समन्तपासादिका**) (७ खण्ड) : आचार्य बुद्धघोष, सं० जे० टाकाकुसु, मकोटो नगाई, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९४७

१३५—**विनयपिटक अट्ठकथा (समन्तपासादिका)** (२ भाग) : प्र० सं० डॉ० नथमल टाटिया, सं० वीरबल शर्मा, प्र० नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, १९६५

१३६—**विनयपिटक पालि** (त्रिपिटक) (५ खण्ड) : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५६

१३७—**विनयपिटक** (हिन्दी अनुवाद) : अनु० राहुल सांकृत्यायन, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९३५

१३८—**ललित-विस्तर** (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-१) : सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८

१३९—**संयुत्तनिकाय अट्ठकथा (सारत्थपकासिनी)** : आचार्य बुद्धघोष, सं० एफ० एल० वुडवार्ड, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९२९-१९३७

१४०—**संयुत्तनिकाय पालि** (त्रिपिटक) (४ खण्ड) : सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

१४१—**संयुत्तनिकाय** (हिन्दी अनुवाद) (भाग १,२) : अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप, त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५४

१४२—**सद्धर्मपुण्डरीक सूत्रम्** (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-६) : सं० डॉ० पी० एल० वैद्य, प्र० मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६१

१४३—**सुत्तनिपात अट्ठकथा (परमत्थजोतिका)** (२ खण्ड) : आचार्य बुद्धघोष, प्र० पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९१६-१९१८

१४४—**सुत्तनिपात पालि** (त्रिपिटक) (**खुद्दक निकाय** खण्ड १ के अन्तर्गत) : सं० भिक्षु

जगदीश काश्यप, प्र० पालि प्रकाशन मण्डल, नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य, १९५९

१४५—**सुत्तनिपात** (हिन्दी अनुवाद सहित) : अनु० भिक्षु धर्मरत्न, एम० ए०, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, (द्वितीय संस्करण), १९६०

१४६—*The Book of Discipline* (Eng. Tr. of *Vinaya Pitaka*) (5 vols.) : Tr. by I. B. Horner, Pub. for Pali Text Society by Luzac & Co. London, (Second edition), 1949-52

१४७—*The Book of Gradual Sayings* (Eng. Tr. of *Anguttara Nikaya*) (Vols. I, II & V) : Tr. by F. L. Woodward ; (vols. III & IV) : Tr. by E.M. Hare, Pub. for Pali Text Society by Luzac & Co., London (Second edition), 1951-55

१४८—*The Book of Kindred Sayings* (Eng. Tr. of *Samyutta Nikāya*) (Vols. I & II) Tr. by Mrs. Rhys Davids ; (Vols. III, IV & V) : Tr. by F. L. Woodward, Pub. for Pāli Text Society by Luzac & Co., London, (Second edition), 1950-56

१४९—*Buddhism in Translation* (Eng. Tr. of selected chapters of Buddhist scriptures) : Tr. by Henry Clarke Warren, Ed. by Charles Rockwel Leumann, Pub. Harward Oriental Series, Cambridge Mass. Harward University, 1953

१५०—*Buddhist Legends* (Eng. Tr. of *Dhammapada-Atthakathā*) (3 Vols.), Tr. by E. W. Burlinghame, Pub. Hardward Oriental Series, Cambridge Massachusetts Hardward University, 1921

१५१—*Buddhist Mahayāna Texts* (Eng. Tr. of *Amitayrudhyana `Sutra* & other Mahayāna Sutras) : Tr. by F. Max Müller & J. Takakusu, Pub. Sacred Books of the East Series, Vol. XLIX, Part II, Oxford, 1894.

१५२—*Buddhist Suttas* (Eng. Tr. of seven important Buddhist suttas) : Tr. by T. W. Rhys Davids, Pub. Sacred Books of the East Series, Vol. XI, Oxford, 1900

१५३—*Dhammapada* (Eng. Tr.) Tr. by F. Max Müller. Sacred Books of the East Series, Vol. X, part I, Oxford, 1881

१५४—*Dhammapada* (With Accompanying Narratives) (Tran. from the Chinese) : Tr. by Samual Beal, Pub. Susil Gupta (India) Ltd., Calcutta-12, (Second edition), 1952

१५५—*Dialogues of the Buddha* (Eng. Tr. of *Digha Nikāya* (3 vols.) : Tr. by T. W. Rhys Davids & C. A. F. Rhys Davids, Pub. Sacred Books of the Buddhists Series, Vol. II to IV, Oxford, London, 1899-1921.

१५६—*Dipavamsa* (Eng. Tr. with Pali Text) : Ed. & Tr. by H. Oldenberg, London & Edinburgh, 1879

१५७—*Further Dialogues of the Buddha* (Eng. Tr. of *Majjhimanikaya*) (2 vols.): Tr. by Lord Chalmers, Pub. Sacred Books of the Buddhists Series, Vol V, VI, London, 1926-1927

१५८—*Jataka* (Eng. Trans.) (7 vols.) : Tr. under the Editorship of E. B. Cowell, Cambridge, 1895-1913

१५९—*Mahavamsa* (Eng. Trans.) : Tr. by W. Geiger, assisted by Mabel Haynes Bode, Pub. Pali Text Society, London, 1912

१६०—*Mahavastu* (Eng. Trans.) (3 Vols.) : Tr. by J. J. Jones, Pub. Sacred Books of the Buddhists Series, Vol. XXVII, Luzac & Co., London, 1952-1956

१६१—*Psalms of Brethern* (Eng. Trans. of *Therigatha*) : Tr. by Mrs. Rhys Davids, London, 1913

१६२—*Psalms of Sisters* (Eng. Trans. of *Therigatha*) : Tr. by Mrs. Rhys Davids, London, 1909

१६३—*The Questions of King Milinda* (Eng. Tr. of *Milindapanho*) : Tr. by T. W. Rhys Davids, Pub. Sacred Books of the East Series, Vol. XXXV, XXXVI, Oxford, 1890-94

१६४—*Sutta Nipāta* (Eng. Trans.) : Tr. by V. Fausboll, Pub. Sacred Books of the East Series, Vol. X, Part II, Oxford, 1890

१६५—*Verses of Uplift* (Eng. Tr. of *Udana*) : Tr. by F. L. Woodward, Pub. Sacred Books of the Buddhists Series, London, 1935

१६६—*Vinaya Texts.* (Eng. Tr. of *Vinaya Pitaka*) (3 Vols.) : Tr. by T. W. Rhys Davids and H. Oldenberg, Pub. Sacred Books of the East Series, Vols. XIII, XVII & XX, Oxford, 1881-1885.

इतर साहित्य

१६७—**अजातशत्रु** : जयशंकर प्रसाद, प्र० भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद (२१ वां संस्करण), १९६५

१३८—**अनुत्तरोपपातिक दशा : एक अध्ययन** : पं० बेचरदास दोशी, सं० विजयमुनि शास्त्री, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

१६९—**अभिधान चिन्तामणि नाममाला,** स्वोपज्ञवृत्ति सहित : आचार्य हेमचन्द्र, सं० विजय-धर्म सूरि, प्र० यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, बनारस और भावनगर, १९१५

१७०—**अभिधान राजेन्द्र** (७ भाग) : आचार्य विजय राजेन्द्र सूरि, रतलाम, १९१३-३४

१७१—**अशोक** : यदुनन्दन कपूर, आगरा, १९६२

१७२—**अशोक के धर्म लेख** (मूल व अनुवाद) : जनार्दन भट्ट, इलाहाबाद

१७३—**अशोक के धर्म लेख** : सं० जनार्दन भट्ट, प्र० पब्लिकेशन्स डिविजन, सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली, १९५७

१७४— **अष्टाध्यायी** : पाणिनी

१७५—**अहिंसा पर्यवेक्षण** : मुनि श्री नगराजजी, प्र० साहित्य निकेतन, दिल्ली, १९६१

१७६—**आगम युग का जैन दर्शन** : दलसुख मालवणिया, प्र० सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६६

१७७—**आचार्य बुद्धघोष** : भिक्षु धर्मरक्षित, प्र० महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६

१७८—**आदर्श बौद्ध महिलाएँ** : कुमारी विद्यावती "मालविका", प्र० भारतीय महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५६

१७९—**आर्य संस्कृति के मूलाधार** : आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्र० शारदा मन्दिर, बनारस, १९४७

१८०—**उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास** : डा० नलिनाक्ष दत्त तथा कृष्णदत्त वाजपेयी, प्र० उत्तर प्रदेश सरकार प्रकाशन ब्यूरो, लखनऊ, १९५६

१८१—**उत्तर हिन्दुस्तानमां जैन धर्म** (गुजराती अनुवाद) : ले० व अनु० चिमनलाल जेचन्द शाह, प्र० लॉगमैन्स ग्रीन एण्ड कं०, लन्दन, १९३७

१८२—**कथा सरित्सागर** : सोमदेव, अनु० केदारनाथ शर्मा 'सारस्वत', प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६०

१८३—**गुप्त साम्राज्य का इतिहास** : डॉ० वासुदेव उपाध्याय, प्र० इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५२

१८४—**चार तीर्थंकर** : पं० सुखलालजी, प्र० जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस, १९५४

१८५—**जैन साहित्य और इतिहास** : नाथूराम प्रेमी, प्र० हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५८

१८६—**जैन सिद्धान्त दीपिका** : आचार्य श्री तुलसी, प्र० आदर्श साहित्य संघ, चूरू, १९५२

१८७—**जैनागम शब्द संग्रह** (गुजराती) : शतावधानी पं० मुनि श्री रत्नचन्द्रजी, प्र० संघवी गुलाबचन्द जसराज, श्री लीमड़ी (काठियावाड़), १९२६

१८८—**तत्त्वसमुच्चय** : डा० हीरालाल जैन, प्र० भारत जैन महामण्डल, वर्धा, १९५२

१८९—**तीर्थङ्कर महावीर** (२ भाग) : आचार्य विजयेन्द्र सूरि, प्र० काशीनाथ सराफ, यशोधर्म मन्दिर, बम्बई, १९६०

१९०—**तीर्थङ्कर वर्धमान** : श्रीचन्द रामपुरिया, प्र० हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया, कलकत्ता, १९५३

१९१—**दर्शन और चिन्तन** : पं० सुखलालजी, प्र० पं० सुखलाजजी सन्मान समिति, अहमदाबाद, १९५७

१९२—**दर्शन-दिग्दर्शन** : राहुल सांकृत्यायन, प्र० किताब महल, इलाहाबाद, (तृतीय संस्करण), १९६१

१९३—**धर्म और दर्शन** : डॉ० बलदेव उपाध्याय, एम० ए० साहित्याचार्य, प्र० शारदा मन्दिर, बनारस, १९४५

१९४—**नरकेसरी** (गुजराती) : जयभिक्खु, प्र० जीवनमणि सद्वाचन माला ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६२

१९५—**पाइअसद्दमहण्णवो** : कर्त्ता—पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द शेठ, सं० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० दलसुखभाई मालवणिया, प्र० प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५ (द्वितीय संस्करण), १९६३

१९६—**पाणिनिकालीन भारतवर्ष** : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र० मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५६

१९७—**पातञ्जल योगदर्शन** : महर्षि पतञ्जलि, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर, (तृतीय संस्करण), १९५६

१९८—**पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म** : धर्मानन्द कोसम्बी, अनु० श्रीपाद जोशी, प्र० हेमचन्द्र मोदी पुस्तकमाला ट्रस्ट, बम्बई, १९५७

१९९—**पालि साहित्य का इतिहास** : भरतसिंह उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, (द्वितीय संस्करण), प्रयाग, १९६३

२००—**प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध** : श्रीमज्जयाचार्य, प्र० ओसवाल प्रेस, कलकत्ता

२०१—**प्रश्नोपनिषद्** : शाङ्कर भाष्य, प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर, (छठा संस्करण), १९५३

२०२—**प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** : डॉ० रीचर्ड पिशेल, अनु० डॉ० हेमचन्द्र जोशी, प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६०

२०३—**प्राकृत साहित्य का इतिहास** : डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१

२०४—**प्राचीन भारत** ; गंगाप्रसाद मेहता

२०५—**प्राचीन भारत :** सी० एम० श्रीनिवासचारी रामस्वामी आयंगर, इलाहाबाद, १६५०

२०६—**प्राचीन भारत का इतिहास :** डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्र० मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, (तृतीय संस्करण), १९६२

२०७—**प्राचीन भारतवर्ष** (गुजराती), (खण्ड १-२) : डॉ० त्रिभुवनदास लेहरचन्द शाह, प्र० शशिकान्त एण्ड कं०, बड़ौदा, १९३५-३६

२०८—**बुद्ध और बौद्ध साधक :** भरतसिंह उपाध्याय, प्र० सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, दिल्ली, १९५०

२०६—**बुद्धकालीन भारतीय भूगोल :** डा० भरतसिंह उपाध्याय, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १६६२

२१०—**बुद्ध चरित :** धर्मानन्द कोसम्बी, प्र० नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद, १६३७

२११—**बुद्धचर्या :** राहुल सांकृत्यायन, प्र० शिवप्रसाद गुप्त, सेवा उपवन, काशी, १६३२

२१२—**बुद्ध पूर्व भारत का इतिहास :** डा० श्यामबिहारी मिश्र और शुकराजबिहारी मिश्र, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

२१३—**बुद्ध लीला :** धर्मानन्द कोसम्बी, प्र० गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, (चतुर्थ आवृत्ति, १६५६

२१४—**बृहत्कथाकोष :** आचार्य हरिषेण, सं० ए० एन० उपाध्ये, प्र० सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १६४३

२१५—**बृहत्कथामञ्जरी :** क्षेमेन्द्र

२१६—**बौद्धकालीन भारत :** जनार्दन भट्ट, प्र० साहित्य रत्नमाला कार्यालय, काशी, १६२६

२१७—**बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष** ('आजकल' का वार्षिक अङ्क) : प्र० पब्लिकेशन्स डिविजन, ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली, १६६०

२१८—**बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास :** डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, प्र० हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १६६३

२१६—**बौद्ध धर्म दर्शन :** आचार्य नरेन्द्रदेव, प्र० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६५६

२२०—**बौद्ध पर्व** (मराठी ग्रन्थ)

२२१—**बौद्ध संघनो परिचय :** धर्मानन्द कोसम्बी, प्र० गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद, १६२५

२२२—**बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक :** परशुराम चतुर्वेदी, प्र० साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद, १६५८

२२३—**ब्रह्माण्ड पुराण :** प्र० नन्दलाल मोर, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता

२२४—**भगवान् बुद्ध** : धर्मानन्द कोसम्बी, प्र० साहित्य अकादमी, राजकमल पब्लिकेशन्स, बम्बई, १९५६

२२५—**भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास** (खण्ड २) : मुनि श्री ज्ञानसुन्दरजी, प्र० रत्न प्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला, १९४३

२२६—**भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध** : कामता प्रसाद जैन, प्र० मूलचन्द किशनदास कापड़िया, जैन विजय प्रिंटिंग प्रेस, सूरत, १९२६

२२७—**भरत-मुक्ति** (हिन्दी काव्य) : कवयिता आचार्य श्री तुलसी, सं० मुनि श्री सागरमलजी 'श्रमण', मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम', प्र० आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६३

२२८—**भागवत पुराण** : प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर

२२९—**भारत का बृहत् इतिहास** : श्रीनेत्र पाण्डे, (चतुर्थ संस्करण)

२३०—**भारत के प्राचीन राजवंश** : महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, पं० नाथूराम 'प्रेमी', हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२७

२३१—**भारतीय इतिहास : एक दृष्टि** : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९५७

२३२—**भारतीय इतिहास की भूमिका** : डा० राजबली पाण्डे, प्र० मलहोत्रा ब्रदर्स, दिल्ली, १९४९

२३३—**भारतीय प्राचीन लिपिमाला** : रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, प्र० राजपूताना म्यूजियम, अजमेर, १९१८

२३४—**भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास** : डा० सत्यकेतु विद्यालंकार

२३५—**भाव भास्कर काव्यम्** : मुनि श्री धनराजजी, प्र० आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९६१

२३६—**भ्रमविध्वंसनम्** : जयाचार्य, प्र० ओसवाल प्रेस, कलकत्ता, १९२३

२३७—**मत्स्य पुराण** : प्र० नन्दलाल मोर, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता, १९५८

२३८—**महाभाष्य** : महर्षि पतञ्जलि, सं० भार्गव शास्त्री, प्र० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९५१

२३९—**महावीर कथा** (गुजरात) : गोपालदास जीवाभाई पटेल, प्र० गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९४१

२४०—**मृच्छकटिक** : शूद्रक, सं० गोडबोले, प्र० बम्बई संस्कृत सिरीज, नं० ५२, बम्बई, १८९६

२४१—**वायु पुराण** : प्र० मनसुखराय मोर, ५ क्लाइव रो, कलकत्ता, १९५९

२४२—**विष्णु पुराण** : प्र० गीता प्रेस, गोरखपुर

२४३—**वीर-निर्वाण सम्वत् और जैन काल-गणना** : मुनि कल्याणविजयजी, प्र० क० वि० शास्त्र समिति, जालौर (मारवाड़), १६२०

२४४—**वैजयन्ती कोष** : सं० गुस्ताफ ओपेर्ट, मद्रास, १८६३

२४५—**वैशाली** : विजयेन्द्र सूरि, प्र० यशोधर्म मन्दिर, बम्बई, १६५८

२४६—**शान्तसुधारस भावना** : आचार्य विनयविजयजी, प्र० जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १६३७

२४७—**श्रमण भगवान् महावीर** : मुनि कल्याणविजयजी, प्र० क० वि० शास्त्र संग्राहक समिति, जालौर, १६४१

२४८—**स्वप्नवासवदत्ता** : (संस्कृत नाटक) : भास, सं० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, १६१३

२४६—**हिन्दू सभ्यता** : डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी, अनु० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र० राजकमल पब्लिकेशन्स, बम्बई, १६५५

२५०—*Ancient Coins & Measures of Ceylon* : Rhys Davids

२५१—*Age of Nandas and Mauryas* : Ed. K. A. Nikantha Shastri, Pub. Motilal Banarsidass, Benaras, 1952

२५२—*The Age of Imperial Unity* (The History and Culture of Indian People, Vol. II) : Ed. Radhakumud Mukherjee, Pub. Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1960

२५३—*An Advanced History of India* : R. C. Majumdar, H. C. Ray chaudhuri, K. K. Dutta, Pub. Macmillan & Co., London, 2nd Edition, 1950

२५४—*Ancient India* : E. J. Rapson, 1922

२५५—*Ancient Indian Historical Tradition* : E. J. Pargiter, Pub. Motilal Banarsidass, Delhi (New Edition), 1962

२५६—*Archaeological Survey of Western India* : Bühler

२५७—*Asoka* : D. R. Bhandarkar, Pub. S. Chand & Co., Delhi, 1923

२५८—*Asoka* : Vincent A. Smith, Ed. Sir William Wilson Hunter, Pub. S. Chand & Co., Delhi, (Indian reprint of Second Edition), 1959

२५६—*Buddha : His Life, His Teachings, His order* : Manmath Nath Shastri, Pub. Society for the Resuscitation of Indian Literature, Calcutta (Second edition), 1910

२६०—*Buddhism* : T. W. Rhys Davids, Pub. Home University Library, London, 1912

२६१—*Buddhist India* : T. W. Rhys Davids, Pub. T. Fisher Unwin, London, 1903.

२६२—*The Cambridge History of India* : Ed. E. J. Rapson, Pub. Cambridge University Press, 1921, Indian Reprint, Pub. S. Chand & Co., Delhi, 1955.

२६३—*Chandragupta Maurya and His Times* : Dr. Radha Kumud Mukharjee, Pub. Rajkamal Publications, Bombay, 1952

२६४—*Chronological Problems* : Dr. Shantilal Shah, Pub. The author, Bonn, Germany, 1934.

२६५—*Chronology of Ancient India* : Dr. Sita Nath Pradhan, Calcutta, 1927

२६६—*Corporate Life in Ancient India* : Dr. R. C. Majumdar, Calcutta, 1918

२६७—*Corpus Inscriptionum Indicarum* (Vol. III) : J. F. Fleet, Calcutta, 1888

२६८—*Der Buddhismus* : Prof. Kern, Pub. O. Schulge, Leipzig, 1883

२६९—*Dictionary of Pali Proper Names* (2 Vols.) : Dr. G. P. Malala Sekera, Pub. Pali Text Society, London, 1960

२७०—*Early Buddhist Monachism* : S. K. Dutta

२७१—*Early History of India* : Dr. Vincent A. Smith, Oxford, 4th Edition, 1924

२७२—*Encyclopaedia of Buddhism* : Dr. G. P. Malala Sekera, Pub. Govt. of Ceylon, 1963

२७३—*Encyclopaedia of Religion and Ethics* : Ed. Hasting, Edinburgh, 1908-1926

२७४—*Epitome of Jainism* : Purana Chandra Nahar and Krishna Chandra Ghosh, Pub. Gulab Kumari Library, Calcutta, 1919

२७५—*Gautam the Man* : Mrs. Rhys Davids, Pub. Luzac & Co., London

२७६—*Grammatik Der Prakrit Sprachan* : Richard Pischel, Strassburg, 1900

२७७—*Hindu Polity* : Dr. K. P. Jayaswal, Pub. Banglore Printing and Publishing Co., Banglore, 1955

२७८—*Hindus* : Ward

२७९—*The History and Doctrines of the Ajivakas* : Dr. A. L. Basham, Pub. Luzac & Co., London, 1957

२८०—*History of Buddhism in India* : Tarnath, Tr. into German by A. Schiefner, St. Petersburg, 1869

२८१—*History of Buddhist Thought* : Edward J. Thomas, London, 1933

२८२—*Indiche Paeleographic* : Buhler

२८३—*Indological Studies* : B. C. Law, Vol. I & II, Pub. Indian Research Institute, Calcutta, 1950-52 ; Vol. III, Pub. Ganga Nath Jha Research Institute, Allahabad, 1954

२८४—*Inscriptions of Asoka* : Hultsch

२८५—*The Jinist Studies* : Dr. Otto Stein, Ed. Jina Vijaya Muni with the Co-operation of Dr. A. S. Gopani, Pub. Jain Sahitya Samsodhaka Pratisthana, Ahmedabad, 1948

२८६—*Life and Work of Buddhaghosha* : B. C. Law, Pub. Thacker Spink & Co., Calcutta & Simla, 1923

२८७—*Life of Buddha & Early History of His Order* (Described from Tibetan Works) : Tr. W. Woodvillae Rockhill, Pub. Trubner's Oriental Series, London, 1907

२८८—*Life of Buddha* : E. J. Thomas, Pub. Routledge & Kegen Paul Private Ltd., London, 1956

२८९—*Life or Legend of Gautama* : P. Bigandet, 4th Edition, 1911

२९०—*Miscellaneous Essays* : C. T. Colebrooke, London, 1873

२९१—*Outline of Jain Philosophy* : J. L. Jaini, Pub. Cambridge University Press, 1916

२९२—*Oxford History of India* : V. A. Smith, Oxford.

२९३—*The Political History of Ancient India* : H. C. Raichudhuri, Pub, Calcutta University, 6th Edition, 1953

२९४—*The Practical Sanskrit English Dictionary* (3 Vols.) : Prin. V.S. Apte, Ed. P. K. Gode & C. G. Curve, Pub. Prasad Prakashan, Poona, 1957

२९५—*Prasnopanishada* : Tr. F. Max Muller, Pub. Sacred Books of the East Series, Vol. XV, Oxford

२९६—*Pre-Buddhistic Indian Philosophy* : B. M. Barua, Calcutta

२९७—*The Purana Text of the Dynasties of the Kali-Age* : F. E. Pargiter, Oxford University Press, 1913

२९८—*The Religion of India* : E. W. Hopkins, Pub. Grinn & Co., Boston, U.S.A., 1895 (Hand Books on the History of Religions, Vol. I, Ed. Morris Jestrow)

२९९—*Sakya* : Mrs. Rhys Davids

३००—*Studies in Jainism* : Dr. Hermann Jacobi, Ed. Jina Vijaya Muni, Pub. Jain Sahitya Samsodhaka Karyalaya, Ahmedabad, 1946

३०१—*Studies in the Origins of Buddhism* : G. C. Pande

३०२—*Studies in Manjushrimulakalpa* : Dr. K. P. Jayaswal

३०३—*Synchronismes Chinois* : Tchang

पत्र-पत्रिकाएँ, अभिनन्दन ग्रन्थ आदि

३०४—**अनेकान्त** (द्विमासिक) : प्र० वीर सेवा मण्डल, दिल्ली

३०५—**आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ** : प्र० आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली, १९६२

३०६—**जैन भारती** (साप्ताहिक पत्रिका), प्र० जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता

३०७—**जैन सत्य प्रकाश** (पत्रिका)

३०८—**प्रबुद्ध कर्णाटक** (कन्नड त्रैमासिक पत्रिका)

३०९—**भारतीय विद्या** (शोध पत्रिका), प्र० भारतीय विद्या भवन, बम्बई

३१०—**भिक्षु स्मृति ग्रन्थ** : प्र० जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, १९६२

३११—**वीर** (पाक्षिक पत्रिका) : प्र० अखिल भारतीय दिगम्बर जैन परिषद्, दिल्ली

३१२—**श्रमण** (मासिक पत्रिका) : प्र० पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी

३१३—**हिन्दुस्तान** (दैनिक), दिल्ली

३१४—*B. C. Law Commemoration Volume*, Calcutta, 1945

३१५—*Indian Antiquary*, Bombay

३१६—*Indian Epheminis*

३१७—*Indian Historical Quarterly*, Calcutta

३१८—*Journal of Asiatic Society, Baptist Mission*, Calcutta

३१९—*Journal of Bihar & Orissa Research Society*, Patna, Bihar

३२०—*Journal of Pali Text Society*, London

३२१—*Journal of Royal Asiatic Society*, Bengal

३२२—*Journal of Royal Asiatic Society*, Great Britain : Pub. Trubner & Co., London

३२३—*Mahavira Commomeration Volume* (Vol. I) : Pub. Mahavira Jaina Society, Agra, 1948-49

३२४--*Leitschrift der Dautschen Morgenlaudischan Gesellschaft*

•

शब्दानुक्रम

आ

ए

छ

थ

ध

भ

म

य

ल

ह

*

शुद्धि तथा आपूरक पत्र

[प्रेसकापी एवं प्रूफ की अशुद्धियों के शुद्धिपत्रक के साथ आपूरक और सर्वथा नये अंश भी दे दिए गए हैं।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२५	बड्ढ०	बुड्ढ०
८	११	बेधर	बेघर
१२	१३	धम	धर्म
१३	२८	Vol. XIV	Vol. XLV
१४	१४	यत्र-यत्र	यत्र-तत्र
१४	२६	सिलों	सिलोगं
१७	२२	मक्खली पुत्र	मंखलिपुत्र
१७	२३	Gf.	Cf.
१८	१३	मल्लशेखर	मललशेखर
२१	१३	S H.	×
२१	२८	S.H.	×
२१	१६	हुए।"	हुए।
२३	१७	S H. वैश्यायन	×
२५	१	मंखलिपुत्र	"मंखलिपुत्र
२५	३	बैठा।"	बैठा।
२५	५	उस	'उस
२७	१२	कुम्भकारायण	कुम्भकारापण
२७	१३	ध्रव	ध्रुव
२७	१५	उचित है।"	अनुचित है।"
२६	१८	कुम्भकारायण	कुम्भकारापण
३०	२५	समघान	समाधान
३२	२४	धर्म-प्रज्ञति	धर्म-प्रज्ञप्ति
३३	६	व्रत—साधना	व्रत-साधना
३६	१	धर्मचार्य	धर्माचार्य
३७	२३	मलययिरि	मलयगिरि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८	१०	केश का	केश की
३८	१३	जेतवन	जेतवन
३८	२६	P. 286	P. 265
३९	२२	Malālā sekara	Malala sekera
४०	१०	व्याखाएं	व्याख्याएं
४०	११	Paoper,	Proper
४१	३	'मंखलि'	'मक्खलि'
४१	२७	मस्करं	मस्कर
४३	११	वर्ण दृष्टि से	वर्ण की दृष्टि से
४५	१८	पुराने	पुरावे
४५	३१	Ilaid	Ibid
४६	२२	स्थपनाओं	स्थापनाओं
४७	७	विद्यामान	विद्यमान
४८	२६	कालगणी	कालूगणी
४९	१८	event	events
४९	३५	farmer	former
४९	३६	XXVII-XXVII	XXVII-XXVIII
५०	२४	on	in
५०	२६	XLU	XLV
५०	३१	Trairāsikawatam	Trairāsikamatam
५०	३३	XLU	XLV
५१	२१	S.B.E.	—Quoted from S.B.E.
५१	२२	सांस्कृत्यायन	सांकृत्यायन
५१	२४	बौक्क	बौद्ध
५२	२६	रथमूसल०	रथमुशल०
५२	३०	क पीठिका	की पूर्वपीठिका
५३	२७	यह हैं	यह है
५४	५	जिलों	जिले
५४	१४	परम्रागत	परम्परागत
५४	२६	प०	पृ०
५५	१०	रथमूसल०	रथमुशल०
५५	१२	उद्धत	उद्धृत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६	६	तित्थगाली	तित्थोगाली
५६	१५	आसावधानी	असावधानी
५६	२३	रयिणं	रयणि
५७	१२	तत्थ	तथ्य
५७	१४	० म्यभय	० न्यमय
५७	१५	नव षष्टिश्च	नवषष्टिश्च
५७	२१	० सुत्त०	० सत्तु०
५७	३२	समभिसिञ्चिसं	समभिसिञ्चिसु
५८	३	५६२ वर्ष	१६२ वर्ष
५८	१८	समनुसासिसं	समनुसासिसु
५९	१९	करिस्समि	करिस्सामि
५९	२५	सुतोह्यसौ	सुरो ह्यसौ
५९	२७	अह्योऽमुष्मात्	अह्नोऽमुष्मात्
६२	३१	1,103.	XIII, pp. 240-246
६३	२४	1,103.	XIII, p. 246
६४	१६	धर्माचायो	धर्माचार्यो
६५	२३	वष	वर्ष
६५	२८	नवें	नवम्बर
६६	२८	संधी	संघी
६६	२९	रत्तस्सू	रत्तञ्ञू
६८	३१	काल-ग ना	काल-गणना
७०	२९	अन्तर्गगत	अन्तर्गत
७१	२३	अजातशत्रु नो	अजातसत्तुनो
७१	२५	के अन्तर्गत	प्रकरण के अन्तर्गत
७१	२९	गोशाले	गोशालक
७३	६	Advanceed	Advanced
७३	३३-३४	Vikrama, the	Vikrama and not his accession, and as this event according to the Jains, does not coincide with the foundation of era of 58 B.C. attributed to Vikrama, the

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७४	३५	बोध-लाभ	बोधि-लाभ
७६	७	विश्स्वत	विश्वस्त
७६	११	-क्रम के	-क्रम की
७८	४	असुख लिए	असुख के लिए
७८	१३	वेघञ्ञा	वेघञ्ञा
७८	१६	निगठों	निगंठों
७६	७	कुम्मार	कम्मार
७६	१८	वाशिष्टो	वाशिष्ठो
८१	३	द्वधीभाव	द्वैधीभाव
८३	५	गोशालक	गोशाल
८४	३	पूर्णकाश्यप	पूरण काश्यप
८४	२३	उपसोथ	उपोसथ
८४	२६	थेर रत्तञ्ञ	थेरा रत्तञ्ञू
८५	१८	वगधराज	मगधराज
८८	४	तित्योद्वार	तित्योद्धार
८६	८	पट्टी	गट्टी
८६	६	च्यिय	च्चिय
८६	११	तेस्म १३, वरिम-	तेरस १३ वरिम,
८६	२५	चंदगुत्ता	चंदगुत्ता
६१	३१	कल्कि	कक्की
६२	१२	१४६६	१७६६
६२	२४	-गनणा	-गणना
६४	१३	भूलें	भूलें
६४	२६	has	had
६५	२६	उदायन	उदयन
६६	५	रिपंजय	रिपुंजय
६६	१३	रिपजय	रिपुंजय
६६	३४	उदायन	उदयन
६७	८	रज्य	राज्य
६७	२१	निरामित्र	निरमित्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९८	११	४५-४५ वर्ष से कुछ अधिक होता है।	४५-४५ वर्ष होता है।
९८	१२	४५×६=२७० वर्ष से अधिक होता है।	४५-४५×६=२७३ वर्ष होता है।
१०१	६	ओर	और
१०२	१६	निर्माण	निर्वाण
१०२	२५	Ray Choudhuri	Raychaudhuri
१०३	१०	निर्माण	निर्वाण
१०३	१०	महावीर-निर्माण	महावीर-निर्वाण
१०३	२५	बिम्बसार	बिम्बिसार
१०४	१३	Ray Choudhuri	Raychaudhuri
१०६	५	बसे	वसे
१०७	८	जागनिक	नांगनिक
१०७	११	Palacographie	Palæographie
१०७	२८	पुष्पमित्र	पुष्यमित्र
१०७	३०	पुष्पमित्र	पुष्यमित्र
१०८	१०	नन्दी	नन्दों
१०८	२८	तस्यानन्तरो	तस्याप्यनन्तरो
१०८	२९	महापल:	महाबल:
१०८	३२	तस्य···मानवा: ॥	तस्याप्यन्यतम: सख्य: पाणिनिर्नाम माणवा:॥
१०८	३३	पटल ३,	पटल ५३,
१११	१२	३२	३१
१११	१४	अजातशत्र २७ ५५४	अजातशत्रु २४ ५५१
१११	१७	४७०	४८०
१११	२०	महापद्मदन्द	महापद्मनन्द
१२१	१३	Sāngha	Sanghe
१२२	१८	संघ	संघे
१२२	२३	भहीयिते	महीयिते
१२२	२३	सिलाथम	सिलाथमे

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२२	२३	सिलाथम	सिलाथमे
१२३	२८	where	were
१२४	११	मौद्गलायन	मौद्गल्यायन
१२४	३१	अपभ्रंस	अपभ्रंश
१२५	२	डा० ब्यूलर	डा० बुह्लर
१२५	१८	डा० मैक्सम्यूलर	डा० मैक्स म्यूलर
१३५	१६	निदान[2]	निदान[1]
१३५	१७	है ।[3]	है ।[2]
१३६	१०	बुद्ध-दोनों	बुद्ध—दोनों
१३६	१८	भारत	भरत
१३८	२६	सन्ति के	सन्तिके
१४०	६	उपयुक्त	उपर्युक्त
१४२	६	चौवह्	चौदह्
१४५	१४	लेख-बांस	लेख—बांस
१४७	२५	महासमान्त	महासामन्त
१४७	२७	वैजन्ती	वैजयन्ती
१५१	३	परित्राण	परिमाण
१५१	१६	युक्त	मुक्त
१५२	३	शयनागर	शयनागार
१५२	२५	ब्राह्मण्ड	ब्रह्माण्ड
१५३	१६	पिराये	पिरोये
१५५	१	कास	काल
१५५	३	कन्धक	कन्थक
१५५	३१	इक्ष्वकु	इक्ष्वाकु
१५६	२६	श्रवण-धर्म	श्रमण-धर्म
१५७	८	दैवत्त	दैवज्ञ
१५७	२५	महालीपों	महाद्वीपों
१६३	१५	देव, पुत्र	देव-पुत्र
१६४	७	निर्माण	निर्वाण
१६४	६	कुशी	कुशा
१६६	१३	आकार	आकर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६६	१६	मंधु	मंधु
१६६	२४	आचरांग	आचारांग
१७३	३०	विशेषतो	विसेसतो
१७४	३०	कनकाम	कनकाभ
१७५	१०	पतन	पत्तन
१७५	२३	में	मैं
१८०	७	लौटने	लोटने
१८०	११	रमरण	रमण
१८०	२२	चंटने	चूंटने
१८३	२०	बर्तना	बर्तन
१८५	६	दुबुद्धि	दुर्बुद्धि
१८५	२५	शविर	शिविर
१९२	१०	ओर	और
१९४	४	भिक्षुनियाँ	भिक्षुणियाँ
१९६	६	प्रव्रजित	प्रव्रजित
१९८	२२	चन्दनवाला	चन्दनबाला
१९९	२७	रिवत्तओ	खित्तओ
२०१	२४	केवलसान	केवलज्ञान
२०१	३०	चर्णि	चूर्णि
२०४	२	वे	ने
२०५	१	बद्धञ्जलि	बद्धाञ्जलि
२०५	१३	विस्मत	विस्मित
२०५	१४	विशला	त्रिशला
२०६	१४	सहस्त्रों	सहस्रों
२०६	१६	तथा	अर्थात्
२०६	२५	अगमन	आगमन
२०७	१	प्राणाति पाप	० पात
२०७	६	हस्व	ह्रस्व
२११	६	ध्रव	ध्रुव
२११	१५	गुरु-	अगुरु-
२२०	५	इशान	ईशान

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२४	१	रहा	रहे
२२६	१६	उपयृक्त	उपर्युक्त
२४५	१४	उलहनों	उलाहनों
२४७	२	मुर्ख	मूर्ख
२५३	३०	थूलकोण्ति	थूलकोण्णित
२५६	२	सिंह निक्रीड़ित	सिंह निष्क्रीड़ित
२६२	३	चुलिणीप्पिया	चूलिणीप्पिया
२६४	१५	तपस्वी	तापस
२६६	१	पयु॰	पर्यु॰
२८१	६	भोंगने	भीगने
२६०	२२	वहाँ	वह
२६२	२७	मुणा	मुना
२६३	२	जेतवतन	जेतवन
२६३	८	और	ओर
२६४	१६	थी	थीं
२६६	३	समुज्जवल	समुज्ज्वल
३०४	२६	जाते	आते
३०६	६	कोणिक	कूणिक
३११	२१	कातार	कातर
३१४	२८	करने	न करने
३१५	१२	पेटावत्थु	पेतवत्थु
३१७	२१	चल	चलें
३१७	२३	पयु॰	पर्यु॰
३१६	७	समवसरण	समवशरण
३१६	३०	र्ग	वर्ग
३२०	२३	चरिय	चरियं
३२१	१	समवसरण	समवशरण
३२३	२०	अनाथपिडण्क	अनाथपिण्डिक
३२३	२८	सम्यग्दर्शन पुण्यात्मा	सम्यग्दृष्टिपुण्यात्मा
३२५	२६	Derprakrit	Der Prakrit
३२६	८	मजुमदार	मजूमदार

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२६	२४	तंबोलिया	तंबोलिया[१]
३२६	३२	कुणिक भूपस्य	कुणिकभूपस्य
३२८	२७	Vo. III	Vol. II
३२९	२	०कष्टक	०कण्टक
३३०	१२	भंभसार पुत्र	भंभसारपुत्र
३३३	१५	है।[४]	है।"[४]
३४२	८	कूणिता भवदंगुलि:	कूणिताऽभवदंगुलि:
३४२	२८	त्रिशष्टि	त्रिषष्टि
३४४	२१	५७ सहस्र पदातिकों	५७ करोड़ पदातिकों
३४६	२२	(१) सन्निपात०	(१) वज्जी सन्निपात०
३४६	३१	Buddha Ghosa	Buddhaghosa
३५०	२४	तम:प्रभाव	तम:प्रभा
३५१	२२	३।३६।	३।३६।)
३५१	२५	देवदूत सुत्त	देवदत्त सुत्त
३५१	३०	बोधनी	बोधिनी
३५२	२३	अभयस्सणाणत्तं	अभयस्स णाणत्तं
३५७	१२	की।	कीं।
३५७	१७	०चर्या	०चर्चा
३६५	२८	प्रष्टुं	स्प्रष्टुं
३७१	१०	'संज्ञा राजन्य'	संज्ञा 'राजन्य'
३७१	२४	उल्लिखत	उल्लिखित
३७४	७	तो	×
३७८	२४	रवीणे	खीणे
३७८	२९	विभावेम णे	विभावेमाणे
३७८	३५	तृतीयमिद	तृतीयमिदम्
३८०	२९	स्वाम्यचे	स्वाम्यूचे
३८२	९	दिख	दीख
३८५	५	भू सागर	भूसागार
३८८	३०	२४	२५
३८९	५	०तन	०यतन
३८९	६	०ययतन	०यायतन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८६	१०	०यतन	०यायतन
४०१	१०	२२	२२—४५
४०१	११	४५	×
४०२	२४	और १७	और १८
४०२	२५	३४, ३५, ३६	३५, ३६, ३७
४०२	२६	३७, ३८, ४०	३८, ३९, ४१
४०३	१९	उद्धत	उद्धृत
४०३	२६	मलाल०	मलल०
४०३	३०	संयुक्तनकाय	संयुत्तनिकाय
४०३	३१	Vol. XIV	Vol. XLV
४०४	९	१३, ७ और २२	१३, ८ और ३०
४०६	८	मुना	सुना
४०७	१०	महावग्ग, भैवज्य	महावग्ग, भैषज्य
४०८	३१	रू० ६	अ० ६
४१२	७	पाभर	पामर
४१२	२४	विस्मृत की	विस्मृत को
४१४	९	ऐता	ऐसा
४१६	५	विगत् मोह	विगतमोह
४१६	१६	साहित्य मैं	साहित्य में
४१६	२६	मनोद्वन्द	मनोद्वन्द्व
४१७	५	—यथार्थ	यथार्थ
४२०	३०	—क्षान्ति	-क्षान्ति
४२३	१०	बातें करते हुए	बातें करती हुई
		हास्य-विनोद करते हुए	हास्य-विनोद करती हुई
४२४	२	अस्रव	आश्रव
४२९	२७	अदि नं	अदिन्नं
४२९	२८	नुपुञ्जति	नुपुञ्अति
४२९	३०	५।१८।१७९	५।
४३४	१३	०विभुक्ति	०विमुक्ति
४३६	२३	०विक्खं भेणं	०विक्खंभेणं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४४०	२१	ही	×
४४३	२४	आलय	आश्रय
४५८	२८	जिण्ण	जिण्णा
४५८	२८	रत्तञ्भू	,रत्तञ्भू
४६०	१	तमन्य	तन्मय
४६४	१	ब्रह्मा	ब्रह्म
४६८	२४	नन्द, वत्स, कृश-सांकृत्य	नन्द वत्स, कृश सांकृत्य
४७०	१३	सर्वस्त्र	सवस्त्र
४७१	२२	reyer	refer
४७१	२३	lazmen	laymen
४७३	३०	XIV	XLV
४७६	७	अनि०	अग्नि०
४८०	२८	भोले	भोल
४९१	२५	उपयुक्त	उपर्युक्त
४९२	१८	पेरों	परों
४९८	१६	लोंग	लोग
५००	२६	कहना में	कहना है
५०१	२५	वर्धकि	वर्धकी
५०५	१	कालम	कालाम
५०५	८	में	मैं
५०७	५	लंचन	लुंचन
५१०	७–८	०चतुदशपूर्वविदिभः	चतुर्दशपूर्वविद्भिः
५११	१५	नियु०	निर्यु ०
५११	२६	Nisheda	Nishedha
५१२	१४	चातुर्नासिक	चातुर्मासिक
५१२	१८	नियु०	निर्यु०
५१२	२०	जाता	जाता है
५१५	२०	तीखासी	तीरवासी
५१५	३०	निर्मल	निर्मूल
५१६	१०	प्रव्रतंकों	प्रवर्तकों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२२	१९	भिक्ख	भिक्खु
५२३	८	पाते मोक्ख	पातिमोक्ख
५२६	६	संधा०	संघा०
५२६	११	निस०	निस्स०
५२७	२८	विधियाँ	विधियों
५२९	२५	पाचित्तिय १०	निस्सग्गिय पाचित्तिय १०
५३०	३	सम्यता	सभ्यता

—oo—

लेखक की कृतियाँ

हिन्दी

१—आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन
२—अहिंसा विवेक
३—नैतिक विज्ञान
४—अहिंसा पर्यवेक्षण
५—अणुव्रत जीवन दर्शन
६—जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान
७—अहिंसा के अंचल में
८—आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी
९—अणु से पूर्ण की ओर
१०—अणुव्रत विचार
११—आचार्य श्री तुलसी : एक अध्ययन
१२—नवीन समाज-व्यवस्था में दान और दया
१३—प्रेरणा दीप
१४—सर्वधर्म सद्भाव
१५—तेरापंथ दिग्दर्शन
१६—अणुव्रत दिग्दर्शन
१७—अणुव्रत क्रान्ति के बढ़ते चरण
१८—अणुव्रत-आन्दोलन और विद्यार्थी वर्ग
१९—अणुव्रत दृष्टि
२०—अणुव्रत आन्दोलन
२१—युग प्रवर्तक भगवान् महावीर
२२—युगधर्म तेरापंथ
२३—बाल-दीक्षा : एक विवेचन
२४—मर्यादा महोत्सव : इतिहास और परिचय
२५—महावीर और बुद्ध की समसामयिकता
२६—मंजिल की ओर
२७—तेरापंथ शासन प्रणाली

२८—सत्य मंजिल : समीक्षा राह

२९—मन के द्वन्द्व : शब्दों की कारा

३०—यथार्थ के परिपार्श्व में

संस्कृत

३१—भिक्षु चरित्रम्

३२—माथेरान सुषमा

३३—भक्तेरुक्तय:

३४—आशु काव्यानि

३५—नीति नीलोत्पलानि

३६—ललितांग चरित्रम्

अंग्रेजी

1. Theory of Relativity and Syadyad
2. Jain philosophy & Modern Science
3. Glimpses of Anuvrat
4. Glimpses of Terapanth
5. Strides of Anuvrat Movement
6. The Anuvrat Ideology
7. Light of Inspiration
8. Pity and Charity in the New Pattern of Society
9. A Pen-Sketch of Acharya Shri Tulsi
10. Contemporaniety and Chronology of Mahavira and Buddha